॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीमदुमास्वामिविरचितम्

तत्त्वार्थसूत्रम् अपरनाम मोक्षशास्त्रम्

तस्योपरि भाषाप्रश्नोत्तरटीका

तत्त्वार्थमञ्जूषा

(द्वितीय खण्ड)

संकलनकर्त्री

आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी

प्रकाशक

धर्मोदय साहित्य प्रकाशन

सागर (म. प्र.)

तत्त्वार्थसूत्रम् : श्रीमद् उमास्वामिविरचितम्
तस्योपरि भाषाप्रश्नोत्तर टीका
तत्त्वार्थमञ्जूषा (द्वितीय खण्ड)

संकलन : आर्यिका श्री 105 विज्ञानमती माता जी

सम्पादक : डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

संस्करण : द्वितीय, मार्च 2012

आवृत्ति : 1100 प्रतियाँ

संकल्पना : निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर

प्राप्ति स्थान : **धर्मोदय साहित्य प्रकाशन**
जैन मंदिर के पास, बाहुबली कॉलोनी
सागर (म. प्र.) 094249-51771

मुद्रक : विकास आफसेट, भोपाल

सम्पादकीय

गृद्धपिच्छाचार्य अपरनाम गणीन्द्र **उमा स्वामी** मुनीश्वर द्वारा रचित **तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र** जिनागम का अत्यन्त लोकप्रिय, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक शास्त्र है। इसे जैनधर्म और जैनदर्शन का निर्विवाद प्रतिनिधि ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है। जैनों की दोनों - दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में यह समान रूप से समादरणीय है। सुविज्ञ भी और सर्वथा अनभिज्ञ भी - दोनों ही जन इसके माहात्म्य से अभिभूत हैं। इसके मात्र पाठ या श्रवण का फल एक उपवास बताया गया है तभी तो 'संस्कृत' के अनभ्यासी जन भी परमुख से इसके पाठ का श्रवण कर पुण्य के भागी बन सन्तोष का अनुभव करते हैं।

प्रथमानुयोग के अलावा तीन अनुयोगों - करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग की सभी महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं/मान्यताओं का अतिव्यवस्थित रूप से सूक्ष्म निदर्शन कराने वाला यह सिद्धान्तग्रन्थ अद्वितीय है। तत्त्वार्थसूत्र के दस अध्यायों में मात्र ३५७ सूत्र हैं। सबसे लघु सूत्र एक दो शब्दों के हैं और अधिकांश पाँच-सात शब्दों से अधिक दीर्घ नहीं हैं। मान्यता है कि संस्कृत भाषा में सूत्रशैली में रचित यह **प्रथम जैन सूत्रग्रन्थ** है।

आचार्य उमा स्वामी का समय ई. सन् की दूसरी शताब्दी माना जाता है। ये कुन्दकुन्दान्वय में हुए हैं और कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तराधिकारी भी हैं। इनकी एकमात्र रचना **तत्त्वार्थसूत्र** है जो किसी आसन्नभव्य की जिज्ञासा के समाधान में रची गई है। इसके प्रथम चार अध्यायों में जीव तत्त्व का, पंचम अध्याय में अजीवतत्त्व का, छठे और सातवें अध्यायों में आस्रव तत्त्व का, आठवें अध्याय में बन्ध तत्त्व का और नवम अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्वों का और अन्तिम दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का सम्यक् विवेचन है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का वर्ण्य विषय जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से सम्बद्ध है। **डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य** ने इसे 'जैन सिद्धान्त की कुञ्जी' कहा है और षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द साहित्य को 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनेक सूत्रों की रचना का स्रोत माना है। उन्होंने गृद्धपिच्छाचार्य को 'श्रुतधरपरम्परा के बहुज्ञ आचार्य' के रूप में स्थापित किया है क्योंकि अनेक विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत कर 'गागर में सागर' भर देने की कला सूत्रकार ने निदर्शित की है।

इस सूत्र ग्रन्थ पर आज तक अनेक भाष्य, वृत्ति और टीकाएँ लिखी गई हैं और अभी भी लिखी जा रही हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशकार ने कोश के द्वितीय भाग के पृष्ठ ३५५-५६ पर सोलह प्रमुख टीकाओं का उल्लेख किया है जो दिगम्बराचार्यों द्वारा लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणि और हरिभद्रसूरि की टीकाएँ भी उल्लेखनीय हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अतिप्रसिद्ध टीका ग्रन्थों में देवनन्दि पूज्यपादकृत तत्त्वार्थवृत्ति अपरनाम **सर्वार्थसिद्धि**, भट्ट अकलंकदेव विरचित **तत्त्वार्थ राजवार्तिक** और आचार्य विद्यानन्दी विरचित **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक** अपनी प्राचीनता, प्रामाणिकता, विषय गाम्भीर्य और विस्तारादि गुणों के लिए श्रेष्ठ टीकाएँ मानी जाती हैं। परन्तु अध्ययन/स्वाध्याय में सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीकाओं का ही प्रचलन है। श्लोकवार्तिक टीका अपनी क्लिष्टता के कारण स्वाध्याय का ग्रन्थ नहीं बन पाई है।

संस्कृत भाषा का पठन-पाठन अब बिरले ही करते हैं और ये सारी टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं। आज इन संस्कृत टीकाओं के हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध हैं पर वे भी सामान्य जन की समझ से परे हैं विषय की गम्भीरता और भाषा-शैली की जटिलता के कारण। प्रस्तुत कृति उन सब दुर्गमताओं को परे हटाकर सुगमता का मार्ग निर्मित करने का एक सुष्ठु प्रयत्न है जिसमें विविध ग्रन्थों की भीनी-भीनी महक है जो मन और बुद्धि को सुवासित करती है।

प्रस्तुत **तत्त्वार्थ मञ्जूषा** प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से तत्त्वार्थसूत्र की अनेक टीकाओं और जैनवाङ्मय के विविध ग्रन्थों से संकलित उद्धरण सुमनों का मोहक स्तवक है। इस महत्त्वपूर्ण कृति की उद्भावना का हेतु संकलनकर्त्री माताजी **पूज्य आर्यिका विज्ञानमती जी** ने अपने **स्वकथ्य** में स्पष्ट किया है। एक जिज्ञासु स्वाध्यायी के निवेदन पर पूज्य बड़े माताजी **आर्यिका विशालमती माताजी** की प्रेरणा से पूज्य आर्यिका विज्ञानमतीजी इस कृति के संकलन में संलग्न हुई थीं। एक दशक से भी अधिक अवधि के अध्यवसाय का सुपरिणाम है यह कृति। खेद है कि आज इसके प्रकाशन के अवसर पर वह प्रेरक अपनी प्रेरणा के फल को देखने हेतु हमारे बीच उपस्थित नहीं है। अल्पकालीन अस्वस्थता में ही वे वर्ष १९९६ में दिवंगता हुईं। उस पुनीत आत्मा को शत-शत नमन।

पूज्य **आर्यिका विज्ञानमती माताजी** ने अपनी अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और उसके फलस्वरूप प्रकट हुए क्षयोपशम से इस श्रमसाध्य और समयसाध्य विशाल दुष्कर कार्य को सम्यक् रीत्या सम्पन्न किया है। ग्रन्थ संकेत-सूची देखकर ही कार्य की जटिलता और विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है कि इन प्रश्नोत्तरों के लेखन के लिए पूज्य माताजी ने शताधिक ग्रन्थों का कितना गहन अध्ययन-पारायण किया है। पूज्य माताजी ने प्रत्येक प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर प्रस्तुत किया है और ग्रन्थ का सन्दर्भ भी दिया है। एक-एक सूत्र पर अनेक प्रश्न बनाये हैं। किसी-किसी सूत्र पर तो सौ से भी अधिक प्रश्नोत्तर संकलित हैं। ग्रन्थों के मूल उद्धरणों को प्रस्तुत करने के बाद भी आवश्यक समझ कतिपय पादटिप्पण दिये हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए तालिकाएँ भी निर्मित की गई हैं, ऐसी कुल तालिकाएँ ५५ हैं। **प्रथम खण्ड** में एक से चार अध्यायों के मूल सूत्र, उनका अन्वयार्थ, अर्थ और सूत्ररचना का प्रयोजन स्पष्ट करने के बाद तत्सूत्र सम्बन्धी सभी सम्भावित प्रश्नों और उनके उत्तरों का सुष्ठु संकलन है। प्रत्येक अध्याय के पूर्व संक्षेप में सूत्रों का विषय-क्रम उल्लिखित हुआ है। प्रथम चार अध्यायों – जिनमें मात्र जीवतत्त्व का विवेचन है- के कुल प्रश्नोत्तरों की संख्या २१०९ है। सूत्र में संक्षिप्तीकृत विषय प्रश्नोत्तरों के माध्यम से विस्तार से स्पष्ट किया गया है जिससे अनेक जिज्ञासाओं का स्वत: समाधान हो जाता है।

प्रस्तुत **द्वितीय खण्ड** में पाँचवें से दसवें अध्याय के सूत्रों से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर संकलित हैं। इन प्रश्नोत्तरों की कुल संख्या २९३३ है। प्रस्तुतीकरण की पद्धति प्रथम खण्ड की भाँति ही है। पहले मूल सूत्र फिर उसका अन्वयार्थ, फिर अर्थ, अनन्तर सम्बन्धित प्रश्नोत्तर।

ग्रन्थ की प्रकृति को देखते हुए इसे तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी जिज्ञासा-समाधान कोश की संज्ञा भी दी जा सकती है। निश्चय ही, पूज्य माताजी की यह कृति स्वाध्यायियों की सराहना का विषय बनेगी। अपने दीक्षाकाल

से अद्यावधि पर्यन्त पूज्य आर्यिकाश्री ने अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना के फलस्वरूप जो वैदुष्य प्राप्त किया है, निश्चित ही वह उनके असाधारण आत्मबल का परिचायक है। मैं तो यह मानता हूँ कि यह इनके तपश्चरण का ही प्रभाव है कि इनके ज्ञान में आश्चर्यजनक वृद्धि हो रही है। मैं पूज्य आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

संघस्थ **आर्यिकाश्री आदित्यमती माताजी** ने अपनी दीक्षा गुरु पूज्य बड़े माताजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय व एक साथ दीक्षित पाँच आर्यिकाओं का अतिसंक्षिप्त पद्यात्मक परिचय लिखा है तथा '**कृति के सन्दर्भ में**' लेख के माध्यम से बहुमूल्य किन्तु अतिगोपनीय 'मञ्जूषा' को प्रकाश में लाने की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत गम्भीर सिद्धान्तग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन का भार मुझ अल्पज्ञ पर डाल कर आर्यिका संघ ने जो अनुग्रह मुझ पर किया है और फलस्वरूप जिनवाणी की सेवा का जो अवसर मुझे प्रदान किया है, उसके लिए मैं पूज्य आर्यिका विज्ञानमती माताजी व उनके संघस्थ सभी आर्यिकाओं का चिरकृतज्ञ हूँ। मुझमें कार्य-निष्पादन की वैसी क्षमता नहीं, जो कुछ सम्भव हुआ है उसमें गुरुकृपा की ही प्रधानता है। मैं पूज्य माताजी व संघस्थ आर्यिकावृन्द के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ और अपेक्षा करता हूँ कि संघ के माध्यम से जिनवाणी के हार्द को प्रस्तुत करने वाली ऐसी प्रामाणिक रचनाओं की प्रस्तुति का क्रम बना रहे।

ग्रन्थ के प्रकाशन में **श्री दिगम्बर जैन समाज, पॉण्डिचेरी** ने पूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान कर जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में अपनी महती निष्ठा प्रकट की है। पूज्य आर्यिका संघ का सन् २००५ का वर्षायोग विशेष प्रभावनापूर्वक पॉण्डिचेरी में सम्पन्न हुआ था

संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहनों – ब्र. कंचनदीदी, ब्र. कुमकुम आदि ने पत्रों के माध्यम से व दूरभाष पर निर्देश भेज कर मेरे कार्य को सरल किया है, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

ग्रन्थ के सुन्दर, निर्दोष एवं सुसंयोजित कम्प्यूटरीकरण हेतु **निधि कम्प्यूटर्स** के **डॉ. क्षेमंकर** को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। स्वच्छ एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस** के कर्मचारी धन्यवादार्ह हैं।

पुनः, इन सभी श्रमशील पुण्यात्माओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ और अपने प्रमाद एवं अज्ञान से ग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन में रही कमियों के लिए सविनय क्षमा चाहता हूँ। विद्वद्गण सौहार्द भाव से ग्रन्थ की कमियों से मुझे अवगत कराने का कष्ट करेंगे तो उनकी महती अनुकम्पा होगी- **को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे**।

विनीत

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

'अविरल', ५४-५५, इन्द्रा विहार

न्यू पावर हाउस रोड, जोधपुर

मोक्ष सप्तमी

२० अगस्त, २००७

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

स्वकथ्य

भगवान महावीर स्वामी की दिव्य देशना से प्राप्त श्रुत की परम्परा लगभग छब्बीस सौ वर्षों से अविरल चली आ रही है। भगवान की दिव्यध्वनि को प्रथम गणधर परमपूज्य गौतम स्वामी ने द्वादशांग में गूँथा था। उसके पश्चात् भगवन्त धरसेन स्वामी, भूतबली और पुष्पदन्त स्वामी, आचार्य कुन्दकुन्द देव, आचार्य उमा स्वामी और आचार्य पूज्यपाद आदि सूरीश्वरों ने अनेक ग्रंथों में लिपिबद्ध किया। उन्हीं ग्रन्थों में से परम आदरणीय, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, द्वादशांग के सारभूत चारों अनुयोगों को अपने में समेटे हुए, मोक्षमार्ग के प्रारंभ से मुक्ति की मंजिल तक पहुँचने का वर्णन जिसमें सूत्रात्मक रूप से कहा गया है, ऐसा एक ग्रन्थ है उमा स्वामी आचार्य प्रणीत **तत्त्वार्थसूत्र** कहा जाता है कि जैन आगम ग्रन्थों में संस्कृत भाषा में सर्व प्रथम इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यह ग्रन्थ सूत्रात्मक है। सूत्र का लक्षण बताते हुए कहा है :

अल्पाक्षरं असंदिग्धं, सारवद् विश्वतो मुखं।
अस्तोभमनवद्यं च, सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥१॥
संज्ञा च परिभाषा च, विधिर्नियम एव च।
अतिदेशो अधिकारश्च, षट्विधं सूत्रलक्षणम् ॥२॥

तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र के उपर्युक्त सभी लक्षण अच्छी तरह से घटित होते हैं। इस ग्रन्थ पर पूर्व में अनेक आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं। उनमें से आचार्य समंतभद्र स्वामी कृत **गंधहस्ति महाभाष्य** आज अनुपलब्ध है। उपलब्ध टीकाओं में आचार्य पूज्यपाद स्वामी की सर्वार्थसिद्धि, आ. अकलंकदेव की तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) और आ. विद्यानंद स्वामी कृत श्लोकवार्तिक टीका मुख्य हैं। ये सब टीकाएँ संस्कृत भाषा में हैं और पूर्ण गंभीरता के साथ लिखी गई हैं। अतः सामान्य व्यक्तियों को बहुत क्लिष्ट लगती हैं। उन्हें इनका अर्थ समझना बहुत कठिन लगता है। यद्यपि इन सबका हिन्दी अनुवाद हो चुका है तथापि इनकी अनूदित हिन्दी को समझना भी अल्पबुद्धियों के लिए साध्य नहीं है। मैंने भी इन ग्रन्थों का अवलोकन किया, मुझे आर्यिकाश्री **(स्व.) विशालमती माताजी** ने भी पढ़ाया, लेकिन मैं उन्हें अच्छी तरह से नहीं समझ पाई तो मुझे लगा कि 'तत्त्वार्थ सूत्र' संबंधी विषय का, अनेक ग्रंथों के आधार पर सरल प्रश्न-उत्तर के रूप में संग्रह किया जावे, जिससे मेरे जैसे अल्पबुद्धि जिज्ञासु भी 'श्लोकवार्तिक' आदि को कुछ अंशों में समझ पावें और इन महान् ग्रंथों के प्रति उनका आकर्षण बढ़े, उनमें भी इतना आत्मविश्वास उत्पन्न हो कि हम भी **तत्त्वार्थ वार्तिक, सर्वार्थसिद्धि** जैसे महान् ग्रन्थों को समझ सकते हैं, इसी बहाने उपयोग विशेष रूप से श्रुत की आराधना में लगा रहेगा तथा पूर्व में परम पूज्य आचार्यों ने अपनी साधना के समय में से समय निकालकर हम सबका जो उपकार किया है, उनके प्रति हम भी कुछ कर्त्तव्य निभा कर कृतज्ञता अभिव्यक्त कर सकेंगे, अस्तु।

मुझे बचपन से ही इस सूत्रराज **तत्त्वार्थसूत्र** पर अतिभक्ति एवं गाढ़ श्रद्धा है। एक दिन, दशलक्षण पर्व में सूत्रराज की पूजा होनी थी। वहाँ जितने लोग उपस्थित थे उनमें से कोई भी सूत्रराज का शुद्धवाचन करना नहीं जानता था, इसलिए सभी पाठ करने के लिए एक दूसरे को प्रेरित कर रहे थे। मैं भी वहीं खड़ी थी। यह सब देखकर मेरे मन में ठेस लगी। मैंने उसी समय सोच लिया कि मैं तत्त्वार्थसूत्र अवश्य पढ़ूँगी। पुण्ययोग से कुछ ही दिन पश्चात् नगर में परम पूज्य आचार्यकल्प श्री सन्मतिसागर जी महाराज का आगमन हुआ। उनके संघ में परम पूज्या आर्यिकाश्री चन्द्रमती माताजी भी थे। वे सबको पढ़ाते थे। मैं भी उनके पास पहुँच गई। पढ़ाने हेतु निवेदन किया। उन्होंने मुझे (सार्थ) भक्तामर स्तोत्र पढ़ाया और बाद में विहार का समय निकट होने से सूत्रराज का मात्र वाचन ही सिखाया। मैं वाचन सीखकर भी बहुत प्रसन्न थी। मुझे गौरव था कि मैंने एक आर्यिकाश्री से **तत्त्वार्थसूत्र** का वाचन सीखा है, लेकिन उसका अर्थ तो मुझे आता ही नहीं है, इसका दु:ख भी हमेशा बना रहता था। वर्ष- दर-वर्ष गुजरते चले गये, लेकिन ऐसा मौका नहीं आया कि मुझे **तत्त्वार्थसूत्र** का अर्थ पढ़ने को मिलता। इसमें मैं अपना प्रमाद ही मुख्य मानती हूँ। आखिर अवसर आया। परमपूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के द्वितीय शिष्य आचार्यकल्प श्री विवेकसागरजी महाराज का चातुर्मास हुआ। उनके संघ में आदरणीया तीन ब्रह्मचारिणी बहनें थीं। वर्षायोग के लगभग २-२$\frac{१}{२}$ माह निकल गये, मैंने उनसे कुछ भी नहीं लिया, मात्र प्रवचन सुने। आखिर योग आ ही गया। **ब्र. कुसुमदीदी** ने **तत्त्वार्थसूत्र** की कक्षा प्रारंभ की। मैंने भी उसमें भाग लिया। मैंने जैसे-तैसे परिस्थितियों का सामना करते हुए अर्थ सहित **तत्त्वार्थ सूत्र** पढ़ ही लिया। पढ़ ही लिया नहीं वरन् मेरा जीवन ही वैराग्य की ओर मुड़ गया। तब से मुझे हमेशा लगता था कि मेरे जीवन-उत्थान का मूल स्रोत जो **तत्त्वार्थसूत्र** ग्रन्थ है, उसके सम्बन्ध में मुझे कुछ ऐसा काम करना चाहिए जिससे जन-जन इसके पास पहुँच सके। आर्यिका व्रत ग्रहण करने के बाद मैंने बहुत बार श्रावकों को पढ़ाने का भी प्रयास किया लेकिन मुझ में इतनी बुद्धि कहाँ कि मैं किसी को अच्छी तरह पढ़ा सकूँ, अस्तु।

एक दिन सागर नगर में एक महिला ने आर्यिकाश्री विशालमती माताजी से निवेदन किया कि माता जी! आप **तत्त्वार्थसूत्र** पर कुछ छोटे-छोटे प्रश्न-उत्तर लिख दीजिए ताकि हम लोग भी तत्त्वार्थ सूत्र के बारे में कुछ जान सकें। आर्यिकाश्री ने मुझे कहा - ''मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता है। यह काम आप कर लो, हो जायेगा।'' मैंने उनके आशीर्वाद से जिनेन्द्रदेव एवं गुरुओं को नमस्कार कर कार्य शुरू कर दिया। छोटे-छोटे प्रश्नोत्तरों का संकलन प्रारंभ कर दिया, लेकिन संतुष्टि नहीं हो रही थी, इसलिए प्रश्न तथा उनके उत्तर विस्तृत होते जा रहे थे। बीच-बीच में आर्यिकाश्री के स्वास्थ्य, विहार आदि के कारण कार्य मन्द पड़ जाता। इस प्रकार इस कार्य को सम्पन्न होने में ११-१२ वर्ष लग गये। इसके सम्पन्न होने में **संत शिरोमणि आचार्य गुरुवर विद्यासागर जी महाराज** का आशीर्वाद ही कारण है। उन्होंने सन् १९९३ में जबलपुर में मेरी पहली कॉपी के कुछ पृष्ठों को देख कर संकेत रूप में कुछ निर्देशन दिये और आशीर्वाद भी दिया तभी से मुझे विश्वास हो गया था कि काम निश्चित रूप से पूरा हो जायेगा। उसी गुरुकृपा से आज यह पूर्णता को प्राप्त हो रहा है। उनके चरणों में मेरा सिद्ध आदि भक्तिपूर्वक त्रिकाल नमोस्तु.....।

इस महत् कार्य के पूरा होने में दूसरा कारण है (स्व.) **आर्यिका श्री विशालमती माताजी** के द्वारा समय-समय पर दिये गये निर्देशन एवं प्रोत्साहन। उनको मेरा सविनय वंदन। तीसरा कारण है- नसीराबाद के दो चातुर्मासों में **बेला बहिन** के द्वारा नगर के बाहर से आवश्यक शास्त्रों को उपलब्ध करवाना तथा **समाज के द्वारा योग्य वैयावृत्ति** । चौथा कारण है वे **संघस्थ बहिनें** जिन्होंने मुझे सभी अध्यायों के प्रमाणों को मिलाने के लिए तीर्थराज सम्मेदशिखर पुस्तकालय में जाकर और जो शास्त्र पुस्तकालय में नहीं थे उनको अन्य पुस्तकालयों से मंगवाकर और कई दिनों तक स्वयं मेरे साथ घंटों बैठकर अनुपम सहयोग दिया। शायद यह भी एक कारण रहा कि उनके पुण्य में इतनी वृद्धि हो गई कि उन्होंने उस शाश्वत सिद्धक्षेत्र में ही आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिये। और अंतिम कारण हैं पंडितजी **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी** जिन्होंने मेरे लिखे ऐसे अक्षर जिनको पढ़ना भी कठिन लगता है, कोई प्रश्न आगे लिखा है तो कोई पीछे, कहीं कागज के टुकड़े पर प्रश्न लिखकर चिपकाया है तो कहीं संकेत चिह्न लगाकर प्रश्न लिखे हैं, अर्थात् बहुत उलझी हुई कॉपियों से भी इतना सुन्दर सम्पादन करके सभी प्रश्न-उत्तरों को क्रमश: यथास्थान नियोजित कर स्वाध्याय के लिए सरल बना दिया है। मुझे तो लगता है कि पंडितजी जिनवाणी की इतनी नि:स्वार्थ सेवा करते हैं, उसके फल में शीघ्र ही केवलज्योति को प्राप्त करेंगे।

परम पूज्य **मुनिश्री क्षमासागर जी महाराज** ने भी एक बार कॉपियों का अवलोकन करके मुझे आवश्यक निर्देशन दिये, मैं उनको भी नहीं भूल सकती, उनको बारम्बार नमोस्तु.....। और भी अनेक लोगों ने इस कार्य के पूर्ण होने में परोक्ष-प्रत्यक्ष सहयोग दिया है। उन सबके दु:खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, उनको बोधि और समाधि की प्राप्ति हो, उनके प्रति मेरी यही भावना है।

श्री धवला, जयधवला, तत्त्वार्थवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति, वरांगचरित्र, भगवती आराधना, महापुराण, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश आदि शताधिक ग्रंथों की सहायता से ही यह विशाल कार्य सरलता से पूर्ण हुआ है। अधिकांश पादटिप्पण (फुटनोट) परम पूज्य महाकवि **आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज** की **तत्त्वार्थ दीपिका** एवं **संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज** के विचारों के अनुसार लिखे गये हैं। सभी ग्रन्थों, ग्रन्थकर्त्ताओं, टीकाकारों, भाषानुवादकों और सम्पादकों के प्रति भी मेरी यथायोग्य विनय। शुभं भूयात् –

– आर्यिका विज्ञानमती

कृति के संदर्भ में.....

परम पूज्य १०८ दिगम्बर जैनाचार्य **श्री ज्ञानसागर जी महाराज** के द्वितीय शिष्य **आचार्यकल्प श्री १०८ विवेकसागर जी महाराज** की शिष्या परमपूज्य **आर्यिकाश्री विज्ञानमती माताजी** को **तत्त्वार्थ मञ्जूषा** का लेखनकार्य करते हुए मैंने तब से देखा है जब से मैंने सच्चे धर्म का स्वरूप समझा है। उस समय मैं जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से भी पूर्णत: अनभिज्ञ थी, क्योंकि न मैंने कभी स्वाध्याय किया था, न कभी साधु-सम्पर्क में रही थी और न ही घर में ऐसा माहौल था। जब मैंने मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिए आर्यिका-संघ में प्रवेश किया, तब भी मुझे 'तत्त्वार्थ-सूत्र' के संबंध में विशेष जानकारी नहीं थी। बस, इतना जानती थी कि आर्यिकाश्री बड़े-बड़े (धवला, जयधवला, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि) ग्रन्थों का अवलोकन करके कुछ नोट करती रहती हैं और कहीं-कहीं पर पूज्य बड़े माताजी पूज्य आर्यिका श्री विशालमती माताजी से चर्चा भी करती रहती हैं। मैं प्रतिदिन इस प्रकार देखती रहती लेकिन देखने के बाद भी मन में कभी ऐसा विचार नहीं आया कि मैं पूज्य आर्यिकाश्री से पूछ लूँ कि आप पूरे दिन क्या करती रहती हैं और पूज्य बड़े माताजी से क्या पूछती रहती हैं।

इसी बीच नियति का एक जोर का झटका लगा और पूज्य आर्यिका श्री विशालमती माताजी की अस्वस्थता से आकस्मिक सल्लेखना हो गयी, जिससे पूज्य आर्यिकाश्री के मन के साथ-साथ इस कार्य को भी भारी क्षति पहुँची। तथापि पूज्य आर्यिका विज्ञानमती माताजी अपने अदम्य साहस एवं अद्‌भुत धैर्य के साथ संघ का संचालन करते हुए पूज्य बड़े माताजी से प्रेरित कार्य को दृढ़ता और स्वयं की सूझ-बूझ से पूर्ण करने में संलग्न रहीं।

दस अध्यायों की एक-एक प्रति बनकर पूरी हो चुकी थी। दूसरी प्रति नियोजित करने का कार्य चल रहा था, तभी एक दिन ओबेदुल्ला गंज (भोपाल, म.प्र.) में मैंने पूज्य माताजी से कहा कि मेरा पुराण का स्वाध्याय पूरा हो गया है, अब कौनसा पुराण पढ़ूँ ? तब आपने मुझसे कहा कि पुराण ग्रन्थ ही पढ़ती रहोगी या कोई सिद्धान्त-ग्रन्थ भी पढ़ोगी ? तब मैंने आपसे पूछा कि आप ही बता दीजिए, मैं कौनसे ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ करूँ जो मेरी समझ में आ सके। तब पूज्य आर्यिकाश्री ने कहा – तुम मेरी तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रश्नोत्तर वाली कॉपी पढ़ो और पढ़कर मुझे भी सुनाओ। मैंने पहले अध्याय की कॉपी पढ़ी और पूज्य आर्यिकाश्री को सुनायी। मुझे बहुत अच्छा लगा। मेरा मन कॉपी छोड़ने को नहीं हो रहा था, ऐसा लगता था कि सभी कॉपियाँ एक साथ पढ़ लूँ..... इस प्रकार **तत्त्वार्थमञ्जूषा** के प्रति मेरा आकर्षण बढ़ता गया। जब २-३ कॉपियाँ पढ़ीं तो ऐसा लगा कि यह संकलन ग्रन्थ रूप में प्रकाशित होकर प्रत्येक विद्वान् एवं 'तत्त्वार्थ' के जिज्ञासु को पढ़ने को मिलना चाहिए। इन कॉपियों को पढ़कर जब मुझ जैसी अनभिज्ञ को भी सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, धवलादि ग्रन्थों को पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई है तो फिर विद्वानों के लिए तो क्या कह सकते हैं।

एक दिन भूमिका बनाकर मैंने धीरे से पूज्य आर्यिकाश्री से पूछा – यह कब तक निकलेगी ? तो पूज्य आर्यिकाश्री बोलीं-अभी तो बहुत काम है और क्या करना है प्रकाशन करवाकर ? मैंने तो यह लेखन अपने शुभोपयोग के लिए किया है। सुनकर अवाक् रह गई मैं। सोचा, सत्य है महान् आत्माएँ ख्याति, पूजा, लाभ,

प्रतिष्ठा से दूर रहकर आत्मसाधना के लिए अपनी प्रवृत्तियाँ करते हैं। तभी तो इतना महत् कार्य और प्रकाशन के भाव भी नहीं। उस समय तो मैंने मौन धारण कर लिया किन्तु इस प्रसंग से मेरी श्रद्धा पूज्य आर्यिकाश्री के प्रति और पुष्ट हो गई।

मेरी जिज्ञासा को देखते हुए पूज्य आर्यिकाश्री ने, उसमें जो अनेक ग्रन्थों से उद्धरण लिये हैं, उनका मिलान करने के लिए मुझे कहा। इस कार्य को करने हेतु मुझे विशालकाय लगभग ६०-७० ग्रन्थों के अवलोकन करने का सौभाग्य मिला और तभी से मुझे सिद्धान्त भी कुछ-कुछ समझ में आने लगा। इस अवधि में बार-बार मेरे मन में ये विचार भी आते रहते कि भले ही पूज्य आर्यिकाश्री की इच्छा नहीं है किन्तु हम जैसे अल्पबुद्धि वालों के लिए इसका प्रकाशन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र में वर्षायोग के दौरान मिलान का कार्य भी पूरा हो गया। एक दिन मैंने साहस करके पूज्य आर्यिकाश्री से निवेदन किया कि माताजी! **तत्त्वार्थ-मञ्जूषा** का सम्पादन किससे करवाना है, क्योंकि बहुत बार कई लोगों ने पूज्य माताजी से प्रकाशन हेतु कॉपियाँ मांगी थीं परन्तु माताजी ने इस सम्बंध में कोई रुचि नहीं दिखायी। अब भी उनका वही उत्तर था कि वेष्टन में बाँधकर किसी जिनालय में या ग्रन्थालय में रख दो, अपने को क्या करना है। तब संघस्थ हम सभी ने सोचा, क्या करें ? किसके पास भेजें ? किससे पूछें ? कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे। तभी बात-बात में एक दिन पूज्य आर्यिकाश्री की नयी सोच सामने आई कि एक-एक कॉपी विद्वानों को दे देंगे तो वे भी शुभोपयोग में लगेंगे। जैसे ही उनकी यह सोच हमारी समझ में आई तो हमने दसों अध्यायों की वे अव्यवस्थित कॉपियाँ इकट्ठी करके रख लीं और **शील मञ्जूषा** का सम्पादन करने वाले पण्डितजी **डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी** के पास भिजवा दीं क्योंकि 'शील-मञ्जूषा' का आपके द्वारा किया हुआ सम्पादन सभी को बहुत अच्छा लगा था।

जिन स्थितियों में कॉपियाँ भिजवाई गई थीं तब उनकी प्रेसकॉपी बनाने का अवसर भी नहीं था, पाण्डुलिपि बन नहीं पायी थी अत: सम्पादक पण्डितजी को बहुत श्रम करना पड़ा है। श्रमनिष्ठ पण्डितजी की मेहनत रंग लाई और ग्रन्थ का पहला खण्ड फरवरी २००५ में प्रकाशित हुआ। अब यह दूसरा खण्ड प्रकाशित होकर आपके हाथों में पहुँच रहा है। पण्डितजी सा., जिन्होंने संघस्थ हम सभी की भावनाओं का आदर करते हुए सम्पादन का शुभ कार्य किया है, प्रशंसा के तो पात्र हैं ही, श्रुत की नि:स्वार्थ सेवा करने वाले वे निश्चित ही कुछ भवों में कैवल्य ज्योति को प्राप्त करें, ऐसी हमारी भावना है। साथ ही **निधि कम्प्यूटर्स** और **प्रेस** के सहयोगियों को भी जिनेन्द्र भगवान का मार्ग हमेशा-हमेशा मिलता रहे और गुरुओं के आशीष से उनका जीवन इस लोक, परलोक में सुख-शांति से बीते। **श्री दि. जैन समाज, पॉण्डिचेरी** ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ सहयोग किया है, गुरुओं के आशीर्वाद से उन्हें भविष्य में भी जिनवाणी की ऐसी सेवा करने का सौभाग्य मिलता रहे, यही कामना है।

इति शुभम्।

गुरुचरणानुरागी

आर्यिका आदित्यमती

पूज्य १०५ आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी
(संक्षिप्त परिचय)

स जातो येन जातेन याति धर्मं समुन्नतिम्।
अस्मिन् असारसंसारे मृतः को वा न जायते॥

'रत्नगर्भा वसुन्धरा', किन्तु वसुन्धरा जन्म देती है 'जड़' रत्नों को और कोमलाङ्गी, ममतामूर्ति नारी जन्म देती है 'चेतन' रत्नों को जिनसे घर-आंगन ही नहीं, ग्राम, नगर, प्रान्त, देश तक जगमगा उठते हैं। नारी अपने विविध रूपों में माँ, बहिन, पुत्री, पत्नी, वधू के रूप में सदैव पुरुष की प्रेरणा स्रोत रही है। पर सर्वाधिक प्रभावशाली और चिर स्मरणीय रूप में उसका 'माँ' का स्वरूप सर्वोपरि है। कहा भी है- 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

माँ ही शिशु को गर्भ से संस्कारित करती है और उसे अपनी इच्छानुसार ढाल सकती है, वह चाहे तो उसे लोकपूज्य बनने में सहायक हो सकती है और चाहे तो लोकनिन्द्य बनने में भी। ऐसा ही एक विलक्षण लोकपूज्य व्यक्तित्व हमारे बीच है जिनकी माँ ने उन्हें गर्भावस्था में ही समता, संयम, त्याग, परोपकार और वात्सल्य की शिक्षा दी और सिखाया कि 'संसार में जीव अकेला ही आता है और अकेला ही विदा होता है।' 'सुख-दुःख का भोक्ता जीव स्वयं है।' ऐसी शिक्षाओं से संस्कृत उस व्यक्तित्व का वर्तमान में नाम है **आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी** जो विगत दो दशक से आर्यिका व्रतों का निर्दोष रूप से पालन करते हुए स्व-पर कल्याण में निरत हैं।

ममतामयी माँ ने शैशवास्था में 'लीला' में जो बीज-वपन किया, बाल्यावस्था में वह देवदर्शन और साधु-समागम के माध्यम से पल्लवित हुआ। एक दिन श्रीमन्दिरजी में जब आप पूज्य **आर्यिका १०५ चन्द्रमती माताजी** के दर्शन कर रही थीं, तब आप शायद चौदह वर्ष की रही होंगी, एक महिला दर्शनार्थी ने माताजी से पूछा कि 'माताजी ! स्त्रीवेद का छेद कैसे हो सकता है ?' तो उनका उत्तर था ''आर्यिका के व्रत अंगीकार करने से ही स्त्रीलिंग का छेद हो सकता है।'' यह उत्तर सुनकर लीला ने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि मैं भी आर्यिका के व्रत अवश्य ग्रहण करूंगी।

समय निकलता गया, परिस्थितिवश अठारह वर्ष की अवस्था में एक सजातीय संभ्रान्त युवक से लीला का शुभ लग्न सम्पन्न हुआ किन्तु दाम्पत्य जीवन में आप अनुरक्त न हो सकीं और ससुराल में कुछ रूढ़ परम्पराओं को मानने से आपने स्पष्ट मना कर दिया। आपने नयी वधू होकर भी अपने बड़े बुजुर्गों के सामने दृढ़ता पूर्वक यह निवेदन किया कि ''मैं सच्चे देवशास्त्र गुरु के अलावा धार्मिक मान्यता से किसी अन्य को नमस्कार नहीं कर सकती।''

आपके तीव्र पुण्योदय से तभी आपके गृहनगर - भीण्डर में परम तपस्वी **मुनिराज १०८ श्री विवेकसागर जी** का वर्षायोग स्थापित हुआ। वर्षायोग में 'तीन लोक मण्डल विधान' का आयोजन हुआ। संघस्थ **ब्रह्मचारिणी कुसुम दीदी** ने तीन लोक की रचना समझाई। तभी आपने ठान लिया कि 'मुझे घर में नहीं रहना है।' वैराग्य का अंकुरण तो पहले से ही था, उसे सिंचित किया इस मण्डल विधान ने और इसमें खाद रूप सामग्री डाली 'तत्त्वार्थ सूत्र' ग्रन्थ के अध्ययन ने। पूज्य महाराजश्री और उनकी संघस्था ब्र. कुसुम दीदी से लीला बहुत प्रभावित हुईं और मन-ही-मन उनके अधिकाधिक सान्निध्य का सपना संजोने लगी।

परम पूज्य मुनिश्री विवेकसागर जी महाराज का यह वर्षायोग-सान्निध्य 'लीला' की दृढ़ता को और पुष्ट कर गया। मानों मुनिश्री कह गये हों - ''लीला ! घबराना नहीं, तुम आ जाना जब चाहो, मेरा आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ है।''

तपस्वी सन्तों का आशीर्वाद निष्फल नहीं जाता, पूज्य विवेकसागर जी महाराज कठोर तपस्वी थे- उनका आशीर्वाद फलना ही था। 'लीला' गृहत्याग को तत्पर हो गई। घर, परिवार और समाज के सदस्यों ने आपको बहुत समझाने और घर में अटकाने का प्रयत्न किया परन्तु आपके सच्चे वैराग्य के सम्मुख सबका प्रयास बौना साबित हुआ। पूज्य मुनिश्री के सान्निध्य में एक ग्रन्थ पद्मनन्दि-पंचविंशतिका का विमोचन समारोह आयोजित था भानपुरा में। भीण्डर से कुछ भक्तजन इस समारोह में सम्मिलित हुए थे आपभी उनमें से एक थीं। पर आप समारोह में ही नहीं संघ में सम्मिलित होने की नीयत से आई थीं अत: भीण्डर नहीं लौटी। एक बार नहीं कई बार आपके परिजन आपको लेने के लिए आये पर आप मौन धारण कर लेती थीं- उनसे बात भी नहीं करती थी और महामंत्र के जाप में संलग्न हो जाती थी। विवश हो, परिजन हताश हो गये और उन्होंने संघ में ठहरने की स्वीकृति दे दी। तब से मुनिश्री का संघ ही आपका स्थायी निवास हो गया जहाँ प्यासे को भरपूर पानी मिला और आपने उसका पूर्णतया पान किया।

कुछ माह बाद ही संघस्था ब्र. कुसुम दीदी की आर्यिका दीक्षा हुई, वे अब आर्यिका १०५ विशालमती जी हो गईं। इस दीक्षा के अवसर पर ही आपने यथाशीघ्र आर्यिका के व्रत ग्रहण करने का मन-ही-मन संकल्प किया और योग्य अवसर पाकर गुरुदेव से आर्यिका दीक्षा प्रदान करने हेतु निवेदन किया। गुरुदेव ने आपकी पात्रता की परीक्षा तो पहले कर ही ली थी- कूकनवाली ग्राम में २ फरवरी, १९८५ को आपकी आर्यिका दीक्षा सम्पन्न हुई। आप **'लीला दीदी' से आर्यिका विज्ञानमती** हुईं। आर्यिका विशालमती जी को सहयोगिनी मिली तो आपको उनके रूप में सच्चा मार्गदर्शक। गुरु के मार्गदर्शन में दोनों साथ रहतीं, अनवरत ध्यान-अध्ययन में संलग्न रहतीं और आगमानुकूल कठोर चर्या में उद्यत रहतीं। तभी काल का एक झोंका ऐसा आया कि आपकी दीक्षा के डेढ़ वर्ष बाद ही गुरुदेव की समाधि हो गई।

गुरुदेव के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन का अभाव हो गया परन्तु उनके द्वारा प्रदत्त शिक्षा, दीक्षा और

अनुशासन के नियमों से दीक्षित जीवन की प्रगति में कोई बाधा नहीं आई। पूज्य आर्यिका विशालमती जी ने बखूबी संघ का भार अपने सिर लिया। आपने उनके साथ ग्यारह वर्षायोग सम्पन्न किये। इन ग्यारह वर्षों में गहन अध्ययन-अध्यापन के माध्यम से आपके ज्ञान में प्रौढ़ता आई, तर्कणा शक्ति प्रखर हुई दर्शन एवं न्याय शास्त्रों के ठोस अध्ययन से। इसी बीच एक संघर्षपूर्ण परिस्थिति और सामने आई।

१९८६ के किशनगढ़ वर्षायोग में और उसके बाद भी यानी लगभग सात माह तक आप रोगग्रस्त रहीं किन्तु बहुत बीमारी की दशा भी आपके परिणामों में शिथिलता या संक्लेश उत्पन्न करने का साहस नहीं कर सकी। शरीर की उपेक्षा और आत्मकल्याण की भावना से तभी आपने नियम लिया कि मैं आहार में तीन रस से ज्यादा ग्रहण नहीं करूंगी। वह नियम अब 'यम' रूप बन चुका है।

आर्यिका संघ में धर्माराधना व्यवस्थित चल रही थी। अध्ययन-अध्यापन की गतिविधियाँ चरम पर थीं तभी काल ने एक और प्रहार किया। पूज्य आर्यिका श्री विशालमती माताजी की समाधि हो गई। अब तो ज्येष्ठ होने के नाते संघ का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आप पर आ पड़ा। पर आप विचलित नहीं हुईं। अपने ज्ञानबल से आपने परिस्थितियों की समीक्षा की जिससे आप में धैर्य और साहस का संचार हुआ। अभी संघ में एक बड़ा काम और सम्पन्न होना था- नब्बे वर्षीय **आर्यिका विद्युत्मती माताजी** सल्लेखना समाधि की साधना कर रही थीं। आपने लगभग १७ माह तक नसीराबाद में रह कर बड़े साहस से आगम-निर्देशानुसार उनकी सल्लेखना करवाई। इस निर्दोष सल्लेखना के साक्षी लोगों की प्रतिक्रिया थी कि धन्य हैं आर्यिका विज्ञानमती जी जिन्होंने वयोवृद्ध आर्यिका विद्युत्मती माताजी की ठीक उसी तरह सेवा-शुश्रूषा की जिस तरह २५ वर्ष पूर्व आचार्य विद्यासागर जी ने अपने दीक्षा-शिक्षा गुरुदेव पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज की की थी।

अब नवीन परिस्थिति सामने थी ! साथ में कोई आर्यिका नहीं रही और एकाकी रहना आगम में निषिद्ध है। क्या किया जाय ? आपने संकल्प किया कि जब तक अकेली रहूंगी तब तक आहार में केवल दो रस ही ग्रहण करूंगी - यह संकल्प आज भी बना हुआ है। धन्य हैं पूज्य माताजी, आगम ही जिनके चक्षु हैं, आगमोक्त चर्या में आपने कभी शिथिलता नहीं आने दी। तभी आपको नेमावर सिद्धक्षेत्र में आचार्यश्री के दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ। उसके बाद आष्टा और केसली के वर्षायोग[१] के बाद कुण्डलपुर में परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के दर्शन किये और उन्हीं के आशीर्वाद से तीर्थराज सम्मेदशिखर जी की यात्रा हेतु प्रस्थान किया। सम्मेदशिखर जी के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा ने न जाने कैसी प्रेरणा दी आपको कि ग्रीष्म ऋतु और अन्तरायजन्य विषमताओं के बावजूद आप प्रतिदिन चालीस किलोमीटर चलकर मात्र ३१ दिनों में वहाँ पहुँची। ३ जुलाई २००१ को मधुवन में प्रवेश किया और

१. आर्यिका सिद्धान्तमतीजी के साथ

४ जुलाई को तीर्थराज की प्रथम वन्दना की। वहीं वर्षायोग की स्थापना हुई। सम्मेदशिखर जी का यह वर्षायोग उग्रसाधना और गहन अध्ययन पूर्वक सानन्द सम्पन्न हुआ।

अनन्त सिद्धों की निर्वाणभूमि पर परम पूजनीया आर्यिका माताजी के माध्यम से संसार-शरीर-भोगों से विरक्त पाँच ब्रह्मचारिणी बहनों ने आर्यिका के व्रत अंगीकार किये। पूजनीया आर्यिकाश्री ने उन्हें विधिवत् आर्यिका दीक्षा दी। दीक्षानन्तर सबने पर्वतराज की वन्दना की। चार-पाँच दिन बाद ही वहाँ से विहार कर पंचतीर्थों की यात्रा १५-२० दिन में सानन्द सोत्साह सम्पन्न कर बुन्देलखण्ड की ओर विहार किया। बुन्देलखण्ड के आहार जी, पपोराजी, खजुराहो, द्रोणगिरिजी आदि १९ तीर्थों की वन्दना की। कुल चालीस दिनों में १२०० कि.मी. की यात्रा परम पूज्य आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागरजी महाराज के दर्शनार्थ नेमावर पहुँच कर पूर्ण हुई। आचार्यश्री के दर्शन करके गर्मी की तपन में भी शीतलता की अनुभूति हुई।

आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी अपने छोटे से संघ सहित महती धर्म प्रभावना करती हुई दक्षिण में बाहुबली क्षेत्र की ओर विहार कर रही हैं। इस वर्ष का वर्षायोग करमाला (सोलापुर-महाराष्ट-) में सम्पन्न हो रहा है।

पूज्य आर्यिकाश्री का जीवन प्रेरणा का स्रोत है और 'जहाँ चाह वहाँ राह' का निदर्शक है। वैवाहिक जीवन के बन्धनों से अत्यल्प समय में ही निकल कर आपने यही चरितार्थ किया है कि मन में उमंग, उत्साह और सच्चा वैराग्य हो तो सभी बन्धन छोटे हैं, कोई अवरोधक नहीं बन सकता। ख्याति, पूजा-प्रतिष्ठा से दूर रह कर आप अध्ययन और ध्यान को ही प्रमुखता देती हैं। आगमोक्त विशुद्ध चर्या ही आपका लक्ष्य है और इस दिशा में आप स्वयं के लिए बड़ी निर्मम हैं।

बस, यही कामना है कि आप आरोग्यपूर्ण दीर्घायु प्राप्त करें जिससे आपके माध्यम से रुचिशील जिज्ञासु जन स्वकल्याण में प्रवृत्त होकर मानव-पर्याय को सार्थक कर सकें।

धन्य है आपका जीवन जो आप
स्व-पर कल्याण में निरत हैं।
धन्य है हमारा जीवन जो हम
आपके चरणों में समर्पित हैं॥

पूज्य आर्यिकाश्री विज्ञानमती माताजी के चरण-कमलों में कोटिश: वन्दामि, वन्दामि, वन्दामि।

- आर्यिका आदित्यमती
संघस्था

आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी : जीवन-झाँकी

पूर्वनाम	:	लीला
पिताश्री	:	बालूलाल जी
माता	:	श्रीमती कमला जी
जन्मतिथि	:	मिति आश्विन शुक्ला पंचमी, सन् १९६३
जन्मस्थान	:	भीण्डर (उदयपुर-राजस्थान)
लौकिक शिक्षा	:	हाई स्कूल
परिणय	:	भीण्डर में ही, १८ वर्ष की आयु में, सन् १९८१
गृह त्याग	:	परिणय के १८ माह बाद
प्रतिमा धारण	:	अलोध में ५ प्रतिमा, कुचामन में ९ प्रतिमा के व्रत
आर्यिका दीक्षा तिथि	:	२ फरवरी १९८५, कूकनवाली (कुचामन सिटी-राजस्थान)
दीक्षागुरु	:	परम पूज्य आचार्यकल्प श्री विवेकसागर जी मुनिराज
रुचियाँ	:	स्वाध्याय, तप-त्याग, चिन्तन-मनन, लेखन
विशिष्टता	:	मधुर, गम्भीर पौराणिक शैली में प्रवचन
कृतियाँ	:	तत्त्वार्थसूत्र विधान, चौंसठ ऋद्धि विधान, सम्मेदशिखर विधान शीलमञ्जूषा, तत्त्वार्थ मञ्जूषा, संस्कार मञ्जूषा, भोगोपभोग परिमाण विधि, दोहा शतक, गुरु स्तुति, कल्पद्रुम मण्डल विधान
दीक्षित शिष्याएँ	:	आर्यिका वृषभमती, आर्यिका आदित्यमती, आर्यिका पवित्रमती आर्यिका गरिमामती, आर्यिका सम्भवमती।
वर्षायोग स्थल	:	१९८५ गुरुदेव के साथ मारोठ, *१९८६ मदनगंज-किशनगढ़ १९८७ अजमेर, १९८८ सिंगोली, १९८९ रामगंजमण्डी १९९० शाहपुर, १९९१ रहली, १९९२ कटंगी, १९९३ हरदा १९९४ नीमच, १९९५ बिजौलिया, १९९६ केकड़ी, १९९७ नसीराबाद १९९८ नसीराबाद , १९९९ आष्टा, २००० केसली २००१ सम्मेदशिखर जी, २००२ आरौन, २००३ मालथौन २००४ करमाला, २००५ पॉण्डिचेरी, २००६ श्रीरामपुर

* १९८६ से १९९६ तक आर्यिका विशालमती जी के साथ।

संघस्थ आर्यिकावृन्द*

१. आर्यिका वृषभमती जी :

शाहपुरी की गलियाँ छोड़ीं, विषयों से मुँह मोड़ा है,
गुरु-माता जैसी बनने को, योगों से मन जोड़ा है।
विज्ञानमती से सम्मेद-शिखर में, दीक्षा ले वृष धारा है,
बनी माधुरी **वृषभमतीजी** इनको नमन हमारा है॥

२. आर्यिका आदित्यमती जी :

'विशालमती' 'संतोष' बहिन को, देख अर्चना ने सोचा,
'रहली' में मैं रह ली अब तो, मोक्षमार्ग ही है चोखा।
सम्मेद-शिखर में भेद-ज्ञान से, **'विज्ञान'** मात की शरण गही,
चतु: भगिनी संघ दीक्षा लीनी, **आदित्यमती** जी नाम सही॥

३. आर्यिका पवित्रमती जी :

संध्या 'रहली' सम्मेदशिखर में, राग-रंग को छोड़ गयी,
रत्नत्रय को धारण करके, निज से नाता जोड़ गयी।
तन-मन पवित्र किया है इनने, दीक्षा लेकर माता से,
पवित्रमती जी नाम दिया है, **विज्ञानमती** भव-त्राता ने॥

४. आर्यिका गरिमामती जी :

मात-पिता की प्यारी बेटी, सीमा उनने नाम दिया,
भव को सीमित करने इनने, संयम पथ को धार लिया।
कर्रापुर में प्रभु-दर्शन कर, भोगों से मुख मोड़ लिया,
सम्मेदशिखर में **विज्ञानमती** ने, **गरिमामती** शुभ नाम दिया॥

५. आर्यिका संभवमती जी :

मात-पिता की छोटी बिटिया, माँ की छोटी शिष्या है,
'रहली' तज सम्मेद-शिखर में, धारी इनने दीक्षा है।
लौकिक ज्योति तजकर इनने, निज की ज्योति जगाई है,
संभवमती ने **विज्ञानमती** से, रत्नत्रय-निधि पाई है॥

* ये पाँचों दीक्षाएँ एक साथ १८ नवम्बर २००१ को तीर्थराज सम्मेदशिखर जी में संपन्न हुई थीं।

ग्रन्थ संकेत सूची

क्र.सं.	संकेत	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकर्त्ता
१.	अ. प.	अंग पण्णत्ति/अधि.सं./गाथा संख्या	आचार्य शुभचन्द्र
२.	अ.श्रा.	अमितगति श्रावकाचार/अधि सं./गाथा संख्या	आचार्य अमितगति
३.	आ.अ.	आत्मानुशासन/अधि सं./गाथा संख्या	आचार्य गुणभद्र
४.	आप्त. प.	आप्तपरीक्षा/गाथा संख्या	आचार्य श्रीमद्विद्यानंद स्वामी
५.	आप्त. प.टी.	आप्तपरीक्षा टीका/गाथा संख्या	स्वोपज्ञ
६.	आ.प.	आलाप पद्धति/सूत्र संख्या	आचार्य श्रीमद् देवसेन
७.	आ. सा.	आचारसार/अध्याय संख्या/गाथा संख्या	आचार्य श्री वीरनन्दी सिद्धांतचक्रवर्ती
८.	आरा.सा.	आराधनासार/अध्याय संख्या/गाथा संख्या	आचार्य श्री देवसेन
९.	आ.सा.सा.	आराधनासारसमुच्चय/गाथा संख्या	श्री रविचन्द्राचार्य
१०.	इ.उ.	इष्टोपदेश/गाथा संख्या	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
११.	उ.श्रा.	उमास्वामी श्रावकाचार/अध्याय संख्या/ गाथा संख्या	आचार्य उमा स्वामी
१२.	क. प्र.	कर्म प्रकृति/गाथा संख्या	आचार्य श्री नेमिचन्द्र
१३.	का.अ.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा संख्या	आचार्य कार्तिकेय स्वामी
१४.	कु.का.	कुरल काव्य	एलाचार्य अपरनाम कुन्दकुन्द
१५.	क्ष.सा.	क्षपणासार/गाथा संख्या	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती
१६.	गु.श्रा.	गुणभद्र श्रावकाचार/अध्याय संख्या/ गाथा संख्या	आचार्य गुणभद्र स्वामी
१७.	गो.क.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/गाथा संख्या	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती
१८.	गो.क.जी.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/जीवप्रबोधिनीटीका/ गाथा संख्या	केशव वर्णी
१९.	गो.जी.	गोम्मटसार जीवकाण्ड/गाथा संख्या	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती
२०.	गो.जी.जी.	गोम्मटसार जीवकाण्ड/जीवप्रबोधिनीटीका/ गाथा संख्या	केशव वर्णी
२१.	चन्द्र चा.	चन्द्रप्रभ चरित्र/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य सकलकीर्ति

२२.	चा.भ.	चारित्र भक्ति/छन्द संख्या	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
२३.	चा.पा.	चारित्र पाहुड/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
२४.	चा.सा.	चारित्रसार/पृष्ठ संख्या	मुनि चामुण्डराय
२५.	ज.प.	जम्बूद्वीप पण्णत्ति/गाथा संख्या	जीवविजय गणी
२६.	ज.ध.	जयधवल/पुस्तक संख्या/पृष्ठ संख्या	आचार्य वीरसेन स्वामी
२७.	ज्ञा.	ज्ञानार्णव/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य शुभचन्द्र
२८.	त.अ.	तत्त्वानुशासन/गाथा संख्या	आचार्य समन्तभद्र
२९.	त.दी.	तत्त्वार्थदीपिका	आचार्य ज्ञानसागर
३०.	त.सा.	तत्त्वार्थसार/अध्याय सं./गाथा संख्या	आ. अमृतचंद्र स्वामी
३१.	तत्त्व सा.	तत्त्वसार/गाथा संख्या	आचार्य देवसेन
३२.	त.सू.	तत्त्वार्थ सूत्र/अध्याय सं./सूत्र संख्या	आचार्य उमा स्वामी
३३.	त.वि.सा.	तत्त्व विचारसार/अध्याय सं./गाथा संख्या	आचार्य वसुनंदी
३४.	ति.प.	तिलोयपण्णत्ति/महाधिकार/गाथा संख्या	आचार्य यतिवृषभ
३५.	त्रि.सा.	त्रिलोकसार/गाथा संख्या	आचार्य नेमिचन्द्र
३६.	द.पा.	दर्शन पाहुड़/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
३७.	द्र.सं.	द्रव्य संग्रह/गाथा संख्या	आचार्य श्री नेमिचन्द्र
३८.	द्वा.त्रि.	द्वात्रिंशतिका/श्लोक संख्या	आचार्य अमितगति
३९.	ध.पु.	धवला/पुस्तक संख्या/पृष्ठ संख्या	आचार्य वीरसेन स्वामी
४०.	धर्मा.	धर्मामृत/कथा	आचार्य नयसेन
४१.	न.च.	नयचक्र/गाथा संख्या	आचार्य माइल्ल धवल
४२.	न.च.प्रा.	नयचक्र प्राकृत/गाथा संख्या	आचार्य माइल्ल धवल
४३.	न.च.स.	नयचक्र संस्कृत/गाथा संख्या	आचार्य देवसेन
४४.	न.भ.	नन्दीश्वर भक्ति/श्लोक संख्या	आ. पूज्यपाद स्वामी
४५.	नि.सा.	नियमसार/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
४६.	नि.सा.टी.	नियमसार टीका/गाथा संख्या	मुनि पद्मप्रभ मलधारीदेव
४७.	न्या.दी.	न्यायदीपिका/अधिकार संख्या	श्रीमदभिनवधर्मभूषणयति
४८.	न्या.वि.	न्याय विनिश्चय	आचार्य अकलंक देव

४९.	पं.का.	पंचास्तिकाय/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
५०.	पं.का.ता.	पंचास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा संख्या	आचार्य जयसेन स्वामी
५१.	पं.का.ता.प्रक्षे.	पंचास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/प्रक्षेपक गा. सं.	आचार्य जयसेन स्वामी
५२.	पं.का.स.	पंचास्तिकाय/समय व्याख्या/गाथा संख्या	आचार्य अमृतचंद्र स्वामी
५३.	पं.सं.	पंचसंग्रह/अधिकार/गाथा संख्या	अज्ञात
५४.	पं.सं. प्राकृत	पंचसंग्रह प्राकृत/अधिकार/गाथा संख्या	अज्ञात
५५.	पं.सं. संस्कृत	पंचसंग्रह संस्कृत/अधिकार/गाथा संख्या	आचार्य अमितगति
५६.	प.पं.	पद्मनन्दि पंचविंशतिका/अधि.सं./गाथा सं.	आचार्य पद्मनंदी
५७.	प.प्र.टी.	परमात्म प्रकाश टीका/अधि.सं./गाथा सं. /क्षेपकगाथा	आचार्य ब्रह्मदेव सूरि
५८.	प.प्र.	परमात्म प्रकाश	आचार्य योगेन्दु देव
५९.	प.प्र.टी.	परमात्म प्रकाश/टीका	आचार्य ब्रह्मदेव सूरि
६०.	प.पु.	पद्मपुराण/पर्व संख्या/श्लोक संख्या	आ.रविषेण स्वामी
६१.	प.मु.	परीक्षामुख/अधिकार संख्या/सूत्र संख्या	आचार्य माणिक्यनंदी
६२.	पा.पु.	पाण्डव पुराण/सर्ग संख्या/श्लोक संख्या	आचार्य शुभचन्द्र
६३.	पा.प्र.	पाक्षिक प्रतिक्रमण	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
६४.	पार्श्व पु.	पार्श्वपुराण/सर्ग संख्या/श्लोक संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
६५.	पु.सि.	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय/गाथा संख्या	आचार्य अमृतचंद स्वामी
६६.	पू.श्रा.	पूज्यपाद श्रावकाचार/अध्याय संख्या/श्लोक संख्या	
६७.	प्र.ल.	प्रमालक्ष्म	
६८.	प्र.सा.	प्रवचनसार/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
६९.	प्र.सा.त.	प्रवचनसार/गाथा संख्या/तत्त्वप्रदीपिका	आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी
७०.	प्र.सा.ता.	प्रवचनसार/गाथा संख्या/तात्पर्यवृत्ति	आचार्य जयसेन स्वामी
७१.	प्र.श्रा.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार/अधि.सं./श्लोक सं.	भट्टारक सकलकीर्ति
७२.	प्रा.चू.	प्रायश्चित्त चूलिका	
७३.	बृ.द्र.सं.टी.	वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका/गाथा संख्या	आचार्य ब्रह्मदेव सूरि
७४.	बा.अ.	बारस अणुवेक्खा/गाथा संख्या	आ.कुन्दकुन्द स्वामी

७५.	भ.आ.	भगवती आराधना/गाथा संख्या	आचार्य शिवार्य
७६.	भ.आ.वि.	भगवती आराधना/विजयोदयटीका/गा.सं.	अपराजित सूरि
७७.	भा.पा.	भाव पाहुड/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
७८.	म.क.	मरणकण्डिका/गाथा संख्या	आचार्य अमितगति
७९.	म.पु.	महापुराण/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य जिनसेन स्वामी
८०.	महा.पु.	महावीरपुराण/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
८१.	मल्लि पु.	मल्लिनाथ पुराण/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
८२.	मू.	मूलाचार/गाथा संख्या	आचार्य वट्टकेर
८३.	मू.आ.	मूलाचार/आचारवृत्ति/गाथा संख्या	आ. सिद्धांतचक्रवर्ती वसुनन्दी
८४.	मू.प्र.	मूलाचार प्रदीप/गाथा संख्या	आ.सकलकीर्ति
८५.	मो.पा.	मोक्ष पाहुड/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
८६.	य.ति.च.	यशस्तिलक चम्पू/आश्वास संख्या/गाथा संख्या	सोमदेव सूरि
८७.	यो.सा.	योगसार/अधिकार सं./गाथा संख्या	श्रीमद् अमितगति आचार्य
८८.	र.क.श्रा.	रत्नकरण्डक श्रावकाचार/गाथा संख्या	आचार्य समंतभद्र स्वामी
८९.	र.सा.	रयणसार/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
९०.	रा.वा.	राजवार्तिक/उसी सूत्रकी वार्तिक संख्या	आचार्य अकलंकदेव
९१.	रा.वा.	राजवार्तिक/अध्याय संख्या/सूत्र संख्या	आचार्य अकलंक देव
९२.	रा.वा.उ.	राजवार्तिक/उसी सूत्र की उत्थानिका (सूत्र प्रारंभ होने के पहले का प्रकरण)	आचार्य अकलंक देव
९३.	ल.सा.	लब्धिसार/गाथा संख्या	आ. नेमिचन्द्र स्वामी
९४.	स.सूत्र	सन्मति सूत्र	सिद्धसेनाचार्य
९५.	स.कौ.	सम्यक्त्व कौमुदी/अध्याय/श्लोक संख्या	अज्ञात
९६.	स.त.	समाधितंत्र/गाथा संख्या	आचार्य पूज्यपाद
९७.	सर्वा	सर्वार्थसिद्धि/वार्तिक संख्या	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
९८.	स.सा.	समयसार/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
९९.	स.सा.आ.	समयसार/गाथा संख्या/आत्मख्याति टीका	आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी
१००.	स.सा.क.	समयसार कलश/कलश संख्या	आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी

१०१.	स.सा.ता.	समयसार/गाथा संख्या/तात्पर्यवृत्ति	आचार्य जयसेन स्वामी
१०२.	सि.भ.	सिद्धभक्ति/छन्द संख्या	आचार्य पूज्यपाद
१०३.	सि.वि.	सिद्धि विनिश्चय	आचार्य अकलंक भट्ट
१०४.	सि.सा.दी.	सिद्धांतसार दीपक/अधिकार सं./गाथा सं.	भट्टारक सकलकीर्ति
१०५.	सि.सा.सं.	सिद्धांतसारसंग्रह	नरेन्द्रसेनाचार्य
१०६.	सु.वो.त.वृ.	सुखवोधा टीका/तत्त्वार्थवृत्ति/पृ. सं.	मुनि भास्करनंदी
१०७.	सु.र.सं.	सुभाषित रत्नसंदोह/अधिकार सं./गा.सं.	आचार्य अमितगति
१०८.	सू.मु.	सूक्ति मुक्तावली/अध्याय सं./श्लोक सं.	आचार्य सोमप्रभ
१०९.	स्वयंभू.	स्वयंभूस्तोत्र/श्लोक सं./गाथा सं.	आचार्य समंतभद्र स्वामी
११०.	शा.पु.	शान्तिनाथ पुराण/सर्ग सं./गाथा संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
१११.	शा.सा.स.	शास्त्रसार समुच्चय/सूत्र संख्या	आचार्य श्री माघनन्दी
११२.	श्लो.वा.	श्लोकवार्तिक/पुस्तक सं./पृ. संख्या	आचार्य विद्यानंदी
११३.	श्रु.भ.	श्रुत भक्ति/गाथा सं.	आचार्य पूज्यपाद
११४.	हरि.पु.	हरिवंश पुराण/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य जिनसेन
११५.	वर्द्ध.चा.	वर्द्धमान चरित्र	असगकवि
११६.	व.चा.	वरांगचरित्र/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य जटासिंहनन्दी
११७.	वसु.श्रा.	वसुनन्दिश्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दी
११८.	वी.व.च.	वीरवर्द्धमान चरित्र/सर्ग सं./श्लोक संख्या	आचार्य सकलकीर्ति

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः !

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः॥

अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम्॥

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं **'तत्त्वार्थ-मंजूषा'** नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य **आर्यिकाश्रीविज्ञानमती संकलितं** विरचितं इदं शास्त्रं। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।

मङ्गलं भगवान् **वीरो,** मङ्गलं **गौतमो** गणी।
मङ्गलं **कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु** मङ्गलम्॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्॥

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

॥ श्रीमहावीराय नमः ॥ ॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥ ॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

श्री उमास्वामिविरचितम्

तत्त्वार्थसूत्रम्

तस्योपरि **पूज्य १०५ आर्यिका विज्ञानमती** संकलित

भाषा प्रश्नोत्तर संग्रह

तत्त्वार्थमञ्जूषा

卐 मंगलाचरण 卐

'महावीर' को नमन करूँ, 'ज्ञान' 'विवेक' उर लाय।
शारद 'विशाल' वन्दन करौं 'विद्या' आशिष पाय॥

गृद्धपिच्छ आचार्यकृत, गहन ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ'।
'मञ्जूषा' संग्रह करूँ, होय सरल गूढ़ार्थ॥

卐 मंगलाचरण 卐

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : पंचम अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : ४२ कुल प्रश्न : ४२७

- १ से ५वें सूत्र तक जीवादि पाँच द्रव्यों के नाम एवं विशेषता बताई गई है।
- ६ठे सूत्र में द्रव्यों की संख्या का कथन है।
- ७वें सूत्र में इन द्रव्यों का निष्क्रियत्व कहा है।
- ८वें से ११वें सूत्र तक द्रव्यों के प्रदेश बताये गये हैं।
- १२वें से १५वें सूत्र तक द्रव्यों के रहने का स्थान बताया गया है।
- १६वें सूत्र में जीव के प्रदेशों की विशेषता बताई गई है।
- १७वें सूत्र से २२वें सूत्र तक द्रव्यों के उपकार बताये गये हैं।
- २३वें-२४वें सूत्र में पुद्गल का लक्षण एवं पर्यायें कही गई हैं।
- २५वें सूत्र में पुद्गल के भेदप्रभेद कहे गये हैं।
- २६वें से २८वें सूत्र तक अणु एवं स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण बताया गया है।
- २९वें एवं ३०वें सूत्र में द्रव्य का लक्षण कहा है।
- ३१वें सूत्र में नित्यत्व का लक्षण है।
- ३२वें सूत्र में विरोधी दो धर्मों की सिद्धि कही है।
- ३३वें से ३७वें सूत्र तक पुद्गलों के परस्पर बंध का कारण कहा है।
- ३८वें सूत्र में पुनः द्रव्य का लक्षण कहा है।
- ३९वें-४०वें सूत्र में काल द्रव्य का वर्णन है।
- ४१वें-४२वें सूत्र में गुण एवं परिणाम का लक्षण कहा है।

द्रव्य :

अजीव तत्त्व के सम्बन्ध में कहते हैं-

अजीवकाया धर्माधर्माकाश - पुद्गलाः ॥१॥

अजीव-काया-धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गलाः।

(धर्माधर्माकाशपुद्गलाः) धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल (अजीव-काया) अजीव और कायवान हैं।

अर्थ - धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अजीव हैं और कायवान हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : चार अध्यायों में जीव तत्त्व का निरूपण करने के अनन्तर अजीव तत्त्व के विभाग (विशेष लक्षण) आदि में पड़े हुए विवाद की निवृत्ति के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(श्लो. ६/१)**

इस समय सम्यग्दर्शन के विषय भाव से उपक्षिप्त (वर्णित) जीवादि पदार्थों में अजीव पदार्थ का विचार प्राप्त है, अतः अजीव द्रव्य के भेद और नाम का कथन करने के लिए आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है क्योंकि आस्रव आदि का वर्णन अजीव पूर्वक ही होता है। **(रा.वा. १ उ.)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'अजीवाः' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : कोई सबको जीवात्मक ही स्वीकार करते हैं, उनके प्रति धर्मादिकों में अजीवपने का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र में 'अजीवाः' पद का ग्रहण किया है। **(श्लो. ६/२)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'काय' पद का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'काय' पद का ग्रहण प्रदेशों या अवयवों की बहुतायत को सूचित करने के लिए है। मुख्य रूप से धर्मादि द्रव्यों के न रहने पर भी श्रोतृजन को सुखपूर्वक ज्ञान कराने के लिए द्रव्य परमाणु की अवगाहना मात्र से (एक परमाणु के द्वारा रोके गये आकाशप्रदेश के माप से) बुद्धि के द्वारा 'प्रदिष्यते इति प्रदेशाः' उनमें भेद किये जाते हैं, वे प्रदेश हैं, प्रदेश ही अवयव हैं, वह प्रदेशावयव है। उनके बहुत्व का ज्ञान कराने के लिए काय शब्द है। **(रा.वा. ८)**

धर्मादिक द्रव्यों के बहुत प्रदेश हैं, इसका ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'काय' शब्द दिया है। **(सर्वा. ५२७)**

४. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों में कायत्व क्यों है ?

उत्तर : जैसे - औदारिक शरीर नाम कर्म के उदय के वश (कारण) से पुद्गलों का संचय करने के कारण काय कहलाता है, उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्यों के भी अनादि पारिणामिक प्रदेशों के संचय होने

से कायत्व है। काय अर्थात् शरीर के समान ये बहुत प्रदेशों के धारक हैं। **(रा.वा. ७)** इस कारण जिनेश्वरदेव ने इनको 'काय' कहा है। **(बृ.द्र.सं. २४ टी.)**

५. प्रश्न : आगे सूत्र असंख्येया .....॥८॥ से ही इनके बहुप्रदेशत्व की सिद्धि है अत : यहाँ 'काय' शब्द व्यर्थ है ?

उत्तर : (१) यह ठीक है। फिर भी इस कथन के होने पर उस सूत्र से प्रदेशों के विषय में यह निश्चय किया जाता है कि इन धर्मादिक द्रव्यों के प्रदेश असंख्यात हैं, न संख्यात हैं और न अनन्त।

(२) काल द्रव्य में प्रदेशों का प्रचय नहीं है यह ज्ञान कराने के लिए इस सूत्र में 'काय' पद का ग्रहण किया है। **(सर्वा. ५२७)** (क) काय शब्द के ग्रहण से पाँचों अस्तिकायों में प्रदेशबहुत्व की सिद्धि हो जाने पर भी उत्तर वचन की अवधारणा के लिए यह सूत्र उपयोगी होता है। उनके प्रदेश असंख्यात हैं, न संख्यात हैं, न अनन्त है और अवधारणा विधिपूर्वक ही होती है। संख्यात और अनन्त प्रदेशों की जब सत्ता होगी तभी असंख्यात ही प्रदेश है। संख्यात और अनन्त नहीं, यह निर्धारण हो सकता है।

(ख) काल के प्रदेशत्व का निषेध करने के लिए 'काय' शब्द का ग्रहण किया गया है, जैसे- अणु एकप्रदेश स्वरूप है, दो, तीन आदि प्रदेश उसके नहीं हैं इसलिए उसे अप्रदेश कहते हैं, उसी प्रकार कालाणु भी एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी है। **(रा.वा. १५-१६)**

६. प्रश्न : धर्म द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्मास्तिकाय रस-रहित है, वर्ण रहित है, गन्ध रहित है, शब्द रहित है, स्पर्श रहित है, समस्त लोक में व्याप्त है, अखण्ड प्रदेशी होने से स्पृष्ट है- परस्पर प्रदेश व्यवधान रहित होने से निरन्तर है, विस्तृत है और असंख्यात प्रदेशी है। वह धर्मास्तिकाय अपने अनन्त अगुरुलघु गुणों के द्वारा निरन्तर परिणमन करता रहता है, स्वयं गतिक्रिया से युक्त जीव और पुद्गलों की गतिक्रिया का कारण है और स्वयं अकार्य रूप है। जिस प्रकार लोक में जल मछलियों के गमन करने में अनुग्रह करता है उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल द्रव्य के गमन करने में अनुग्रह करता है। **(पं. का. ८३-८५)**

अन्य द्रव्यों में असम्भव गतिरूप परिणत सम्पूर्ण जीव-पुद्गलों के एक समय में समान रूप से गमन में हेतु रूप विशेष गुण से ही विद्यमान धर्म द्रव्य का निश्चय किया जाता है। **(प्र.सा.ता. १४३-४४)**

गमन में परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है- जैसे मछलियों को गमन में जल सहकारी है। गमन न करते हुए (ठहरे हुए) पुद्गल व जीवों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता है। **(द्र.सं.१७)**

७. प्रश्न : अधर्म द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : इसी प्रकार (उपर्युक्त लक्षण वाला ही) अधर्म द्रव्य भी जानना चाहिए लेकिन अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गल द्रव्य की स्थिति करने में अनुग्रह करता है। **(प.का. ८६)**

ठहरे हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है। जैसे छाया यात्रियों को ठहरने में सहकारी है। गमन करते हुए जीव-पुद्गलों को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है। **(द्र.सं. १८)**

अपने हेतु से (उपादान कारण से) स्थित रहने वाले जीव तथा पुद्गलों की स्थिति में जो कारण है वह अधर्म द्रव्य है। जैसे- ग्रीष्म के समय मार्ग में चलने वाले थके पथिकों को ठहरने में शीतल छाया निमित्त है। (यह द्रव्य प्रेरक निमित्त न होकर सहकारी निमित्त है) **(आ.सा. ३/२१)** अन्य द्रव्यों के असम्भव, गति रूप परिणत सम्पूर्ण जीव-पुद्गलों की एक समय में समान रूप से स्थिति में हेतु रूप से ही विद्यमान अधर्म द्रव्य का निश्चय किया जाता है। **(प्र.सा.ता. १३३-३४)**

८. प्रश्न : आकाश द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्य द्रव्यों के असम्भव (नहीं पाये जाने वाले) सभी द्रव्यों को साधारण-समान रूप से अवगाह-हेतुत्व रूप विशेषगुण से ही विद्यमान आकाश का निश्चय किया जाता है। **(प्र.सा.ता. १४३-४४)**

पदार्थों के अवगाह का जो कारण है, वह आकाश है। आकाश स्थित है, नित्य है, चौकोर है (चारों ओर से समान घनाकार रूप है) तथा अनन्तानन्तप्रदेशी है। **(आ.सा. ३/२४)**

जीवादि द्रव्यों को अवकाश (रहने का स्थान) देने की योग्यता जिस द्रव्य में है उसको श्री जिनेन्द्र भगवान ने आकाश द्रव्य कहा है। **(द्र.सं. १९)** जिसमें जीवादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों के साथ पृथक-पृथक रूप से रहते हैं, प्रकाशित होते हैं वा आत्मीय पर्यायों की मर्यादा से जो स्वयं प्रकाशित होता है वह आकाश है।

अथवा - अवकाश देता है वह आकाश है। **(रा.वा. २१-२२)** जो चेतन रहित, अमूर्त्त, सर्व द्रव्यों को अवगाह देने वाला सर्व व्यापी है- उसको जिनेन्द्र भगवान ने आकाश द्रव्य कहा है। **(न.च.वृ. ९७)**

९. प्रश्न : पुद्गल किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैसे-भा-प्रभा को करने वाला भास्कर है। इस प्रकार भासन रूप अर्थ को अन्त: प्रविष्ट कर भास्कर संज्ञा सार्थक है। उसी प्रकार जो भेद से, संघात से और भेद-संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हों वे पुद्गल कहलाते हैं। अथवा - पूरण-गलन रूप सार्थक नाम वाला पुद्गल है। **(रा.वा.२४)**

पुरुष के द्वारा निगला जाता है इसलिए पुद्गल कहलाता है। पुमान् पुरुष को जीव कहते है। पुरुष (जीव) के द्वारा शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय रूप उपकरण आदि के रूप में निगला जाता है वा ग्रहण किया जाता है अत: उसे पुद्गल कहते हैं। **(रा.वा. २६)**

१०. प्रश्न : परमाणु में पूरण-गलन स्वभाव नहीं है, इसलिए परमाणु को पुद्गल नहीं कह सकते हैं ?

उत्तर : (१) ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि गुण की अपेक्षा परमाणु में पूरण-गलन की सिद्धि है। परमाणु भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त है। एक गुण रूपादि से परिणत परमाणु भी दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण रूप से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और उसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त रूप से हानि को भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार गुण की अपेक्षा परमाणु में भी पूरण-गलन क्रिया की उत्पत्ति होने से उसे पुद्गल मानने में कोई विरोध नहीं है। अथवा-

(२) भूत में पूरण-गलन स्वभाव था, भविष्यत् में होगा इसलिए शक्ति की अपेक्षा परमाणु में पूरण-गलन की उपचार कल्पना है अत: शक्ति की अपेक्षा परमाणु में पुद्गल का उपचार किया जाता है।

(३) परमाणु भी स्कन्ध दशा में जीवों के द्वारा निगले जाते हैं इसलिए भी परमाणु पुद्गल है। **(रा.वा. २५-२६)**

११. प्रश्न : परमाणु स्कन्ध की तरह स्पर्शादि के द्वारा पूरण-गलन करते हैं इसलिए पुद्गल है तो द्व्यणुक आदि में पुद्गलपना कैसे घटित होता है ?

उत्तर : द्व्यणुक आदि प्रदेशों के पूरण-गलन रूप के द्वारा अन्य परमाणुओं को प्राप्त करते हैं, प्राप्त करेंगे और पहले प्राप्त कर चुके हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्व्यणुक आदि में भी पुद्गलपना घटित होता है। **(गो.जी.जी. ५६४)**

१२. प्रश्न : संसार में पुद्गल कौन-कौन हैं ?

उत्तर : स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द रूप इन्द्रियविषय, स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप द्रव्येन्द्रियाँ, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण रूप शरीर, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म, विचित्र पर्यायों की उत्पत्ति के हेतुभूत अनन्त-अनन्ताणुक वर्गणाएँ, अनन्त असंख्याताणुक वर्गणाएँ और द्विअणुकस्कन्ध तक की अनन्त संख्याताणुक वर्गणाएँ तथा परमाणु और अन्य जो कुछ मूर्त्त हो वह सब पुद्गल के भेद जानना चाहिए। **(पं.का. ८२ ता.)**

१३. प्रश्न : इन द्रव्यों की धर्म-अधर्म आदि संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : इन द्रव्यों की धर्म-अधर्म आदि संज्ञा सामायिकी जाननी चाहिए। यथाकाल अभिव्यक्त ज्ञान, दर्शन आदि अतिशय के प्रकाशक अर्हंत के द्वारा अवबोधित किया गया है अर्थ का सार जिसमें ऐसे अनादिनिधन अर्हत् प्रवचन में धर्म-अधर्म आदि संज्ञायें रूढ़ जाननी चाहिए। अथवा - ये संज्ञाएँ क्रिया निमित्तक भी हैं। जैसे - स्वयं क्रियापरिणामियों के साचिव्य सहायकपने को धारण करने वाला होने से धर्म है। **(रा.वा. १७-१९)**

१४. प्रश्न : सूत्र में धर्म द्रव्य का सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : प्रशस्त अभिधान होने से धर्म शब्द को आदि में ग्रहण किया है। लोक में यह धर्म शब्द प्रशंसनीय अर्थ में है। अत: धर्म द्रव्य का ग्रहण आदि में किया गया है। **(रा.वा. २८)**

१५. प्रश्न : सूत्र में धर्म द्रव्य के निकट अधर्म द्रव्य का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : लोक-व्यवस्था का हेतु होने से धर्म के बाद अधर्म द्रव्य का ग्रहण किया है। पंचास्तिकाय और काल जिसमें रहते हैं उसको लोक कहते हैं। अधर्म द्रव्य के द्वारा ही लोक की पुरुषाकार आकृति की व्यवस्था बनती है, विविध-अवस्था, व्यवस्था, विविध सन्निवेश वेत्रासन आदि की आकृति की व्यवस्था होती है। अधोलोक-वेत्रासन, मध्यलोक झल्लरी और ऊर्ध्व-लोक मृदंग के आकार है। इस लोक की व्यवस्था का हेतु अधर्म द्रव्य है। क्योंकि अधर्मास्तिकाय द्रव्य के नहीं होने पर गतिमान द्रव्य के गतिविषयक नियम का अभाव हो जायेगा। यदि अधर्म द्रव्य नहीं माना जाता तो गतिमान जीव और पुद्गल समस्त आकाश (अलोकाकाश) में पहुँच जाते, अत: लोक का कोई आकार ही नहीं बन पाता अत: धर्म द्रव्य के निकट अधर्म द्रव्य को ग्रहण किया है। **(रा.वा. २९)**

अथवा - धर्मास्तिकाय का प्रतिपक्षी अधर्मद्रव्य है क्योंकि धर्म गमन में सहायक होता है और अधर्म द्रव्य उसमें विपरीत जीव एवं पुद्गल की स्थिति में कारण है अत: धर्म द्रव्य का प्रतिपक्षी होने से धर्म के बाद अधर्म को ग्रहण किया है। **(रा.वा. ३०)**

१६. प्रश्न : धर्म-अधर्म के बाद आकाश का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : धर्म और अधर्म के द्वारा लोक और अलोक रूप में आकाश का परिच्छेद (ज्ञान) किया जाता है। जहाँ तक धर्म और अधर्म द्रव्य है वह लोकाकाश और इससे भिन्न अलोकाकाश है अत: धर्म और अधर्म के बाद आकाश को ग्रहण किया है। **(रा.वा. ३१)**

अथवा - अमूर्त्तत्व की अपेक्षा साधर्म्य होने से धर्म-अधर्म के समीप आकाश का ग्रहण किया है। जैसे- रूप, रस आदि रहित होने से धर्म-अधर्म द्रव्य अमूर्त्त हैं वैसे ही आकाश भी रूपादि रहित होने से अमूर्त्त है अत: धर्म-अधर्म के समीप आकाश को ग्रहण किया है। **(रा.वा. ३२)**

१७. प्रश्न : आकाश के समीप 'पुद्गल' का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : आकाश में पुद्गल अवकाश पाते हैं अत: आकाश के समीप पुद्गल का उल्लेख किया है। **(रा.वा. ३३)**

१८. प्रश्न : धर्मादि द्रव्य का आधार होने से आकाश को सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि लोक की रचना अनादिकाल से है, इसलिए इसमें यह नियम नहीं है कि लोक की रचना में आकाश आधार है और अन्य द्रव्य आधेय हैं किन्तु लोक की रचना का क्रम अनादिसिद्ध है अत: आकाश आधार नहीं है क्योंकि आदिमान कुण्ड और बदरीफल आदि में ही आधार-आधेय भाव देखा जाता है। **(रा.वा. ३४)**

१९. प्रश्न : यदि ऐसा है तो आर्ष से विरोध आयेगा ?

उत्तर : नहीं आयेगा, क्योंकि यदि आधार-आधेय भाव का सर्वथा निषेध किया जाता है तो आर्ष के साथ विरोध आता है, स्याद्वाद में विरोध नहीं है। आकाश एवं धर्मादि द्रव्यों में कथंचित् आधार-आधेय भाव है एवं कथंचित् नहीं है।

द्रव्यार्थिक नय एवं एवंभूत नय की अपेक्षा इनमें आधार-आधेय भाव नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता एवं पर्यायार्थिक नय की गौणता से कथन किया जाता है तो प्रतिनियत अनादि पारिणामिक द्रव्यार्थिक नय से आकाशादि छहों द्रव्यों में आधार-आधेय भाव का अभाव है। द्रव्यार्थिक नय को गौण करें और पर्यायार्थिक नय की मुख्यता से वर्णन किया जाता है तो छहों द्रव्यों में आदिमत्व की उत्पत्ति होने से आकाश और इन द्रव्यों में आधार-आधेय भाव हो जाता है अत: पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आकाशादिक में आधार-आधेय भाव ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में कहा है, इसलिए आधार-आधेय भाव में कोई विरोध नहीं है।

अथवा - व्यवहार नय की अपेक्षा आकाश को आधार और अन्य द्रव्य को आधेय कहते ही हैं- क्योंकि अनादि पारिणामिक लोक की रचना इसी प्रकार की है तथा सर्व द्रव्य अपने आपमें ही प्रतिष्ठित हैं। **(रा.वा. ३५)**

२०. प्रश्न : यदि आकाश एवं धर्मादि में आधार-आधेय भाव माना जायेगा तो आकाश के भी आधार मानना पड़ेगा एवं ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आयेगा ?

उत्तर : व्यवहार में तनुवातवलय का आकाश को आधार मान लेने पर भी आकाश के अन्य आधार की कल्पना करके अनवस्था दूषण नहीं आ सकता- क्योंकि आकाश सर्वगत और अनन्त है। जो सर्वगत और अनन्त है उसका सर्वत्र सान्निध्य होने से ''उसका भी अन्य आधार उसका भी अन्य आधार'' इस प्रकार के व्यवहार का अभाव होने से अनवस्था दोष नहीं आ सकता है। परिशेष न्याय से असर्वगत, सान्त, मूर्तिमान, सावयव और ऐन्द्रियिक विषय वाले पदार्थों में ही आधार-आधेय कल्पना से अनवस्था दोष आ सकता है- उससे विपरीत लक्षण वाले अनन्त आकाश में अनवस्था दोष नहीं है। यदि सर्वगतादि पदार्थों में भी अनवस्था दोष देखा जाता है तो उदाहरण देकर समझाना चाहिए। परन्तु सर्वगत पदार्थों में आधार-आधेय कल्पना मानने पर भी अनवस्था दोष नहीं आ सकता- इसलिए आकाश को आधार मानने पर अनवस्था दोष की कल्पना छोड़ देनी चाहिए। **(रा.वा. ३५)**

२१. प्रश्न : अलोकाकाश में जीवादि द्रव्यों के अवकाश का अभाव होने से अलोकाकाश को आकाश नहीं कहना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि अलोकाकाश में अवगाही द्रव्यों का अभाव होने पर भी अवकाश देने का सामर्थ्य पाया जाता है। जैसे- अतिदूर भविष्यत् काल में वर्तमान काल में उसकी प्राप्ति की योग्यता के कारण ही भविष्यत् काल का व्यपदेश होता है। उसी प्रकार अलोकाकाश, अवगाही द्रव्य के अभाव होने पर भी अवगाहन शक्ति के अविरुद्ध (अभाव नहीं) है इसलिए अलोकाकाश भी

अवकाशदान के योग्य होने से आकाश कहा जाता है अथवा क्रियानिमित्तत्व होने पर भी रूढ़ि विशेष बल के लाभ से गो शब्द के समान अवकाशदान के अभाव में भी अलोकाकाश आकाश कहा जाता है। **(रा.वा. २३)**

२२. प्रश्न : सूत्र में काल द्रव्य का कथन क्यों नहीं किया ?

उत्तर : काल द्रव्य बहुप्रदेशी नहीं होने से सूत्र में उसका कथन नहीं किया है, उसका कथन आगे करेंगे। **(रा.वा. ३६)**

२३. प्रश्न : इस सूत्र में कौन-सा समास है ?

उत्तर : इस सूत्र में विशेषण-विशेष्य समास है। किन्हीं दो पदार्थों में असम्बन्ध होने पर किसी एक स्थान में उनका सम्बन्ध बतलाने के लिए विशेषण-विशेष्य समास होता है। जिस प्रकार 'नील कमल' इसमें व्यभिचार (असम्बन्ध) पाया जाता है उसी प्रकार 'अजीवकाय' शब्द में भी व्यभिचार पाया जाता है क्योंकि काय जीवद्रव्य में और अजीव काल में भी पाया जाता है। यहाँ पर नील कमल के समान काल द्रव्य अजीव है लेकिन काय नहीं है, जीव द्रव्य काय है लेकिन अजीव नहीं अत: काय अजीव को छोड़कर जीव में और अजीव काय को छोड़कर काल में पाया जाता है इसलिए अजीव और काय में व्यभिचार होने के कारण यहाँ पर विशेषण-विशेष्य समास हो जाता है। **(रा.वा. १)**

२४. प्रश्न : 'न जीव: अजीव:' अत: अजीव कहने से अभाव मात्र का प्रसंग आता है जैसे- न भाव: अभाव: ?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि अभाव में भी भावान्तर का ज्ञान होता है। जैसे- 'यह घोड़ा नहीं है' ऐसा कहने पर केवल अभाव का ही ज्ञान नहीं होता है किन्तु 'नञ् समास में असदृश' अन्य का अधिकरण होने से अर्थ की गति होती है इसलिए अनश्व कहने से घोड़े के निषेध के साथ ही समान उदर, पूंछ आदि लक्षण वाले घोड़े सरीखे अन्य प्राणी गधा आदि का प्रत्यय (ज्ञान) होता है; उसी प्रकार यहाँ भी जीव नहीं है, ऐसा कहने पर निषेधात्मक जीव के अभाव का ही सिर्फ ज्ञान नहीं होता अपितु जीव से भिन्न अनुपयोग (अचेतन) आत्मक धर्म-अधर्म पुद्गलादि द्रव्य दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान होता हैं अर्थात् जीव नहीं है धर्मादिक अजीव है। **(रा.वा. ६)**

२५. प्रश्न : ''धर्माधर्माकाशपुद्गला:'' सूत्र में बहुवचन क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में **'धर्माधर्माकाश पुद्गला:'** यह बहुवचन स्वातन्त्र्य की प्रतिपत्ति के लिए है। इनकी स्वतन्त्रता यह है कि ये स्वयं गति और स्थिति रूप से परिणत जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में स्वयं निमित्त होते हैं- पर प्रत्यय के आधीन इनकी प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् जीव और पुद्गल की प्रेरणा से परिणमन नहीं करते हैं। यह भी नहीं कहना चाहिए कि बाह्य द्रव्य-क्षेत्रादि के निमित्त से परिणामी द्रव्य का परिणमन होता है क्योंकि गति आदि में परिणत जीव और पुद्गल गति आदि उपकार में धर्मादि की प्रेरणा नहीं करते। **(रा.वा. २७)**

द्रव्यों का कथन करते हैं-

द्रव्याणि ॥२॥

अर्थ - उपर्युक्त धर्मादि द्रव्य हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यहाँ कोई पूछता है कि ''सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य''[१] इस सूत्र में द्रव्य कहे हैं, वे द्रव्य कौन-कौन से हैं ? इस सूत्र के द्वारा उन द्रव्यों का कथन किया गया है। **(रा.वा. उ. २)**

२. प्रश्न : द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्व (उपादान) और पर प्रत्ययों (कारणों) से होने वाले उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों को जो प्राप्त होते हैं वा पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किये जाते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। **(रा.वा.१)**

द्रव्य शब्द में 'द्रु' धातु है जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है। इससे द्रव्य शब्द का व्युत्पत्ति रूप अर्थ इस प्रकार हुआ कि जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। **(सर्वा. ५२९)**

उत्पाद और विनाश रूप नाना पर्यायों के निरन्तर होने पर भी सान्ततिक द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा द्रवण और गमन के कारण द्रव्य कहलाते हैं। **(रा.वा. १)**

निरन्तर परिवर्तनशील होते हुए भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जिसकी निरन्तर प्रतीति होती रहती है वह द्रव्य है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : परप्रत्यय और स्वप्रत्यय किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप बाह्य कारण पर-प्रत्यय कहलाते हैं। तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति स्व-प्रत्यय है। बाह्य कारणों के रहने पर भी यदि द्रव्य में स्वयं उस पर्याय की योग्यता न हो तो वह पर्यायान्तर को प्राप्त नहीं हो सकता। अत: स्वप्रत्यय ही समर्थ कारण है। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : द्रव्य अपनी योग्यता से परिणमन करते हैं अत: बाह्य निमित्त की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : स्व और पर दोनों कारण मिलकर ही पदार्थों के उत्पाद और व्यय में कारण होते हैं, एक के भी अभाव में उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते। जैसे पकने योग्य उड़द यदि बोरे में पड़ा हुआ है तो भी पाक नहीं हो सकता और यदि घोटक (नहीं पकने योग्य) उड़द बटलोई में उबलते हुए पानी में भी डाला जाय तो भी वह नहीं पक सकता। अत: उभय हेतुक उत्पाद-व्यय है। **(रा.वा. १)**

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १-२९

अथवा - इव अर्थ में निपातित द्रव्य शब्द **'द्रव्यं भवे'** इस व्याकरण सूत्र से द्रव्य शब्द को इवार्थ (इव अर्थ में) निपातित जानना चाहिए। जैसे- 'द्रु' के समान होता है वह 'द्रव्य' है। 'द्रु' से दारु शब्द बनता है। बिना गाँठ की लकड़ी को दारु कहते हैं। जैसे बिना गाँठ की सीधी लकड़ी बढ़ई आदि के निमित्त से टेबिल कुर्सी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है उसी प्रकार स्वयं परिणमन करने में समर्थ, पाषाण खोदने से जैसे पानी निकलता है, वैसे अभिन्न कर्तृकरण द्रव्य भी बाह्य और अन्तरंग कारणों के कारण उपनीत अपनी-अपनी पर्यायों को प्राप्त होता रहता है, उसी प्रकार दारु के समान पर्याय रूप अनेक प्रकार के आकारों को प्राप्त होता है परन्तु सर्वथा नाश को प्राप्त नहीं होता है वह द्रव्य कहलाता है। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य मानने में क्या हानि है ?

उत्तर : यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जैसे-दण्ड के सम्बन्ध से पूर्व देवदत्त अपनी जाति आदि से युक्त प्रसिद्ध है और देवदत्त के सम्बन्ध के पहले दंड अपनी गोलाई-लम्बाई आदि के द्वारा प्रसिद्ध है अत: उन दोनों दण्ड-दण्डी का सम्बन्ध युक्त है। परन्तु दण्ड और दण्डी के समान द्रव्यत्व सम्बन्ध के पहले न तो द्रव्य ही प्रसिद्ध है और न द्रव्यत्व ही उपलब्ध है। यदि द्रव्य के सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य प्रसिद्ध है तो द्रव्यत्व के सम्बन्ध की कल्पना निरर्थक हो जाती है। द्रव्यत्व भी द्रव्य के सम्बन्ध के पहले उपलब्ध नहीं है। अत: दोनों जब सम्बन्ध के पहले असत् हैं तो उनके सम्बन्ध की कल्पना ही निरर्थक है।

द्रव्य के साथ सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य और द्रव्यत्व का अस्तित्व भी मान लिया जाय परन्तु जब उन दोनों में पृथक्-पृथक् शक्ति नहीं है तब मिलकर भी स्वप्रत्ययोत्पादक शक्ति नहीं आ सकती। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् दर्शनशक्ति रहित होने से दो जन्मान्धों को एक साथ मिला देने पर रूपावलोकन शक्ति उत्पन्न नहीं होती। उसी प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व में द्रव्य प्रत्ययाभिधान शक्ति की उत्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव होने पर, उनका सम्बन्ध होने पर भी द्रव्यत्व का व्यवहार नहीं हो सकता। यदि द्रव्यत्व के सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य में द्रव्यत्व है तो द्रव्यत्व की कल्पना करना या द्रव्यत्व का सम्बन्ध मानना व्यर्थ ही होगा, उसी प्रकार द्रव्यत्व भी द्रव्य समवाय के पहले द्रव्यत्व ही है, द्रव्य प्रत्यय के अभिधान का निमित्त नहीं है। द्रव्य के साथ द्रव्यत्व के सम्बन्ध की निरर्थक कल्पना न हो इसलिए पृथक् अनुपलम्भ (पृथक्-पृथक् नहीं दिखने वाले) द्रव्य और द्रव्यत्व का सम्बन्ध होने पर भी वैसी सामर्थ्य नहीं है। इसलिए हम मानते हैं कि द्रव्यत्व के योग से द्रव्य नहीं है, अपितु अपने-अपने गुण और पर्यायों को प्राप्त होता है इसलिए द्रव्य है। **(रा.वा. ३)**

६. प्रश्न : जो गुणों को प्राप्त हो या गुणों के द्वारा प्राप्त हो उन्हें द्रव्य कहते हैं, द्रव्य का इस प्रकार विग्रह करने पर भी उपर्युक्त दोष आयेगा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद के बन जाने से द्रव्य इस संज्ञा की सिद्धि हो जाती है। गुण और द्रव्य ये एक दूसरे को छोड़कर नहीं पाये जाते, इसलिए तो इनमें अभेद है। तथा संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद होने से इनमें भेद हैं। **(सर्वा. ५२९)**

७. प्रश्न : सूत्र में 'द्रव्याणि' बहुवचन क्यों दिया है ?

उत्तर : धर्म, अधर्म आदि द्रव्य बहुत हैं इसलिए इनके समानाधिकार का ज्ञान कराने के लिए 'द्रव्याणि' बहुवचन का प्रयोग किया है। धर्म-अधर्म आदि ही द्रव्य हैं, इनको छोड़कर अन्य कोई द्रव्य नहीं हैं। **(रा. वा. १३)**

८. प्रश्न : समानाधिकरण के कारण बहुवचन किया है तो पुल्लिंग होना चाहिए क्योंकि पहले सूत्र में 'अजीवकाया:' पुल्लिंग है ?

उत्तर : यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि 'द्रव्य' शब्द नित्य नपुंसक लिङ्ग है इसलिए वह अपने लिंग को नहीं छोड़ता। अत: धर्मादि के साथ 'द्रव्याणि' का समानाधिकरण होने पर भी पुल्लिंग का प्रयोग नहीं किया है। **(रा.वा. १४)**

और भी द्रव्य बताते हैं-

जीवाश्च ॥३॥

जीवा: च।

अर्थ - जीव भी द्रव्य हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : निकट होने से धर्म, अधर्म आदि चार द्रव्यों के ही द्रव्यत्व का व्यपदेश होने से इनके सिवाय भी द्रव्य है उसे बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३)**

यद्यपि आगे **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** इस सूत्रगत द्रव्य के लक्षण से ही धर्मादि में द्रव्यता सिद्ध हो जाती है तथापि यहाँ द्रव्यों की गिनती के नियम के लिए ही इस सूत्र को कहा है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल द्रव्य जीव और काल के साथ मिलकर छह द्रव्य होते हैं, इनसे अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। इस नियम के प्रारम्भ के लिए यह सूत्र कहा है।

अथवा - इस सूत्र से अन्यवादी द्वारा कल्पित दिशा, आकाश, काल, वायु, मन, पृथ्वी आदि द्रव्यों की संख्या है उनकी भी निवृत्ति हो जाती है। **(रा.वा. ३)**

२. प्रश्न : इस सूत्र से अन्यवादियों द्वारा कल्पित तत्त्व की निवृत्ति कैसे होती है ?

उत्तर : अन्य मतावलम्बी दिशा, आकाश, काल, पृथ्वी आदि नौ द्रव्य मानते हैं। उनका इन्हीं द्रव्यों में अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे-रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले होने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन का पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है। चक्षु आदि के द्वारा वायु और मन नहीं दिखते इसलिए उनमें रूप नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उनमें रूप अनुमानसिद्ध है। जैसे- वायु रूप वाली है क्योंकि उसमें घटादि के समान स्पर्श पाया जाता है। जो स्पर्श वाला होता है वह रूप वाला भी अवश्य होता है। **(रा. वा. ३)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'जीवा:' बहुवचन क्यों दिया है ?

उत्तर : जीवों की विविधता का सूचन करने के लिए 'जीवा:' बहुवचन किया है। संसारी और मुक्त जीव विविध प्रकार के हैं। संसारी जीव भी गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणास्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान, सूक्ष्म-बादर आदि जीवस्थान की अपेक्षा विविध प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव भी एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात और अनन्त समय सिद्ध पर्याय के आश्रय से तथा मुक्ति-प्राप्ति के कारण-भूत शरीर के आकार की अनुविधायी स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, अवगाहन आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : 'द्रव्याणि जीवा:' सूत्र बनाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से 'च' का प्रयोग नहीं होने से सूत्र लघु बन जाता ?

उत्तर : यद्यपि 'द्रव्याणि जीवा:' ऐसा एक योग करने पर 'च' शब्द नहीं होने के कारण लघु सूत्र तो होता परन्तु इससे जीवों का ही प्रसंग होता और ऐसा होने पर जीव ही द्रव्य कहे जा सकते, धर्मादि नहीं। अत: अनिष्ट का प्रसंग आता है।

(दूसरी बात) 'द्रव्याणि जीवा:' यह सूत्र बनाने में द्रव्यों की सिद्धि के प्रयत्न का अभाव होने से जीवों की द्रव्य संज्ञा होगी, अजीवों की नहीं, अत: 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' ऐसे पृथक्-पृथक् सूत्र का ग्रहण करना न्याय ही है और ऐसे दो सूत्र बनाकर उसमें 'च' शब्द का ग्रहण करना अर्थवान होता है। **(रा.वा.५-८)**

५. प्रश्न : क्या जीवत्व के सम्बन्ध से जीव है ?

उत्तर : नहीं, जीवत्व नामक अपर सामान्य के सम्बन्ध से जीव है, जीव स्वत: सिद्ध नहीं है, यह मत ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य है ऐसा मानने में जो दोष दिये गये हैं वे दोष यहाँ लागू हो जाते हैं। **(देखें - रा.वा. ५/२) अथवा-**

अनवस्था और प्रतिज्ञाहानि दोष आते हैं।

अनवस्था एवं प्रतिज्ञाहानि दोष-

१. जो जीवत्व के सम्बन्ध से जीव है, ऐसी कल्पना करते हैं- उनसे मैं पूछता हूँ कि जीवत्व में किसके सम्बन्ध से जीवत्व है, यदि जीवत्व में अन्य के सम्बन्ध से जीवत्व मानते हैं तो अनवस्था दोष आता है। यदि इस अनवस्था दोष के भय से जीवत्व को स्वत: सिद्ध मानते हैं तो 'अर्थान्तर के सम्बन्ध से सर्वत्र प्रत्यय होता है' इस प्रतिज्ञा की हानि होती है अत: जिस प्रकार जीवत्व स्वत: सिद्ध है वैसे जीव को भी स्वत: सिद्ध मान लेना चाहिए।

२. यदि दीपक के समान जीव में स्वत: जीवत्व मानते हो तो 'जीव' में स्वत: प्रत्यय मानने में संतोष क्यों नहीं है। जीव और जीवत्व में पदार्थान्तरत्व (भिन्नत्व) नहीं है क्योंकि इनमें भिन्नत्व सिद्ध नहीं है, यदि

जीव और जीवत्व में भिन्नत्व होगा तो धर्मसङ्कर (भिन्न पदार्थ का धर्म भिन्न पदार्थ के धर्म में) आयेगा। परन्तु जीव और जीवत्व में पदार्थान्तर नहीं है। क्योंकि वह स्वत: असिद्ध है। **अथवा-**

३. एक पदार्थ का धर्म यदि अन्य पदार्थ में आरोपित नहीं होता है तो तुम्हारी प्रतिज्ञा की हानि होती है क्योंकि सत्ता का 'सत्प्रत्ययहेतुत्वलक्षण' धर्म द्रव्य, गुण और कर्म में नहीं जायेगा परन्तु तुम्हारे मत से सत्ता के योग से सत्त्व गुण कर्म और द्रव्य में आते हैं। यदि सत्ता का सम्बन्ध होने पर भी द्रव्यादि में सत्प्रत्यय हेतुता नहीं है किन्तु सत्ता में ही है तो फिर सत्प्रत्यय से रहित होने से द्रव्य, गुण और कर्म को खरविषाण के समान 'सत्' ही नहीं कह सकेंगे। अत: यह सिद्ध हुआ कि 'जीवत्व' के योग से जीव नहीं है अपितु जीवनक्रिया से उपलक्षित द्रव्यविशेष में 'जीव' यह संज्ञा अनादि पारिणामिकी और स्वभावभूत है। **(रा.वा. १-२)**

पूर्वोक्त द्रव्यों की विशेषता कहते हैं-

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।४ ।।

नित्य-अवस्थितानि-अरूपाणि।

ये द्रव्य **(नित्य)** नित्य **(अवस्थितानि)** अवस्थित और **(अरूपाणि)** अरूपी हैं।

अर्थ - ये द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं।

१. प्रश्न : नित्य किसे कहते है ?

उत्तर : नित्य शब्द का अर्थ ध्रौव्य है। 'ने ध्रुवे' नि धातु ध्रुव अर्थ में है इसलिए 'नित्य' शब्द का अर्थ ध्रौव्य जानना चाहिए। **अथवा** - जिस भाव से पदार्थ उपलक्षित है उसका उसी रूप से रहना द्रव्य है। द्रव्य के भाव का नाश नहीं होना ही नित्यत्व है, धर्मादि द्रव्य जिन-जिन गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व आदि विशेष लक्षणों से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षण से युक्त है, उन-उन स्वभावों का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कभी नाश नहीं होता। इसी तद्भावाव्यय को नित्य कहते हैं। **(रा.वा. १-२)** द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गति हेतुत्व आदि रूप विशेष लक्षणों को ग्रहण करने वाले और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अस्तित्व आदि रूप सामान्य लक्षण को ग्रहण करने वाले ये छहों द्रव्य कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होते इसलिए नित्य हैं। इसे आगे **तद्भावाव्ययं नित्यम्** (५-३१) सूत्र में कहेंगे। **(सर्वा. ५३३)**

२. प्रश्न : अवस्थित किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्मादि छहों द्रव्य कभी भी छह (इस) संख्या का उल्लंघन नहीं करते, इसलिए ये अवस्थित कहे जाते हैं। **(सर्वा. ५३३)** ये धर्मादि छहों द्रव्य कभी अपनी छह संख्या का उल्लंघन नहीं करते (न तो कभी सात होते हैं और न कभी पाँच) अत: अवस्थित हैं। **अथवा-** धर्म, अधर्म, अलोकाकाश और एक जीव में तुल्य असंख्यात प्रदेश है। अलोकाकाश के अनन्त और पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश बताये गए हैं, उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती, वैसे ही अवस्थित रहते हैं इसलिए अवस्थित कहे जाते हैं। **(रा.वा.३)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'अवस्थित' वचन नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'नित्य' पद से ही अवस्थित की सिद्धि होती है।

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि धर्मादि द्रव्यों के गत्युपग्रह, स्थित्युपग्रह, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, मूर्त्तिमत्त्व, अमूर्त्तिमत्त्व आदि अनेक लक्षण वाले अनेक परिणमन होते हैं, अत: नित्य के बाद भी अवस्थित वचन का कथन किया है। इससे जाना जाता है कि धर्मादि द्रव्य गति-उपग्रह आदि रूप से अनेक रूप परिणमन करने पर भी कभी धर्म, अधर्म, आकाश और काल में मूर्त्तिमत्त्व, उपयोगत्व परिणाम नहीं होते। जीव में अचेतनत्व और पुद्गल में अमूर्त्तत्व नहीं आ सकते इसलिए सर्व द्रव्य नित्य होते हुए भी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करते, इस कथन को सूचित करने के लिए अवस्थित वचन का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : जो अवस्थित हैं वे अनेक रूप परिणमन कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर : इस कथन में कोई विरोध नहीं है क्योंकि उभय नय का सद्भाव है। धर्मादि सर्व द्रव्यों में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की गौण-मुख्य विवक्षा से अनेक प्रकार का परिणमन बन जाता है स्थिति, उत्पत्ति और ध्रौव्यत्व एक साथ रहते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य और अवस्थित हैं और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा परिणमन होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

अथवा- 'नित्य' शब्द अवस्थित का विशेषण जाना जाता है। जैसे गमनागमन आदि अनेक क्रियाओं के करते रहने पर भी सतत प्रजल्प बकवास करने के कारण देवदत्त में 'नित्य बकवास करता है' यह व्यवहार कर दिया जाता है उसी प्रकार बाह्य अभ्यन्तर कारणों से उत्पाद-व्यय होने पर भी धर्मादि पदार्थ कभी अपने अमूर्त्तत्त्व स्वभाव को नहीं छोड़ते अत: इन्हें नित्य अवस्थित कहते हैं। **(रा.वा. ५-६)**

५. प्रश्न : वृत्ति (अपर शास्त्र) में अवस्थित धर्मादि अपनी पंचत्व की संख्या को कभी नहीं छोड़ते, यह कथन होने से षट् द्रव्य के उपदेश का व्याघात होता है ?

उत्तर : वृत्ति के कथन से षट् द्रव्य का व्याघात होता है, ऐसा कहने वाले ने सूत्रकार के अभिप्राय को नहीं समझा क्योंकि वृत्तिकार के अभिप्राय से वृत्ति में 'कालश्च' सूत्र से निर्दिष्ट होने वाले काल-द्रव्य का लक्षण आगे करेंगे, उसकी अपेक्षा न करके पाँच का निर्देश किया गया है। अत: वृत्ति में पाँच संख्या होते हुए भी छह द्रव्य के उपदेश का व्याघात नहीं होता है। **(रा.वा. ९)**

६. प्रश्न : सूत्र में 'अरूपी' विशेषण क्यों दिया गया है ?

उत्तर : सूत्र में 'अरूपी' विशेषण द्रव्य के स्वतत्त्व का ज्ञान कराने के लिए दिया है **अथवा-**

रूपादि का निषेध करके धर्मादिक के अमूर्त्तत्व स्वभाव की सूचना करने के लिए है। नहीं है रूप जिसके वह अरूप कहलाता है। रूप के निषेध से रूप के अविनाभावी रस, गन्ध, स्पर्शादि का भी निषेध जानना चाहिए। अरूपी का अर्थ अमूर्त्तिक है। **(रा.वा. ८)**

उपर्युक्त सूत्र में अपवाद कहते हैं-

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

(पुद्गलाः) पुद्गल द्रव्य (रूपिणः) रूपी होते हैं।

अर्थ - पुद्गल द्रव्य रूपी है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जैसे सर्व द्रव्यों का 'नित्यावस्थितानि' यह साधारण लक्षण है उसी प्रकार अरूपत्व भी सर्व द्रव्यों को प्राप्त हो जायेगा। इस अपवाद को दूर करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ५)**

२. प्रश्न : रूपादि एवं मूर्त्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बा, चौड़ा आदि आकृतियों को रूपादि कहते हैं और उन रूप रसादि और गोल, चौकोरादि संस्थान (आकृति) रूप जिसका परिणमन है उसे मूर्त्ति कहते हैं।

अथवा - रूप शब्द से आँखों के द्वारा ग्रहण करने योग्य रूप नामक पुद्गल के गुणविशेष को ग्रहण करना चाहिए। **(रा. वा. २-३)**

३. प्रश्न : क्या पुद्गल में मात्र रूप कहने से रसादि का ग्रहण नहीं होता ?

उत्तर : पुद्गल को रूपी कहने से रसादि का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि रस, गन्ध और स्पर्श का रूप के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः रूप के कहने से रसादि का ग्रहण हो ही जाता है। **(रा.वा.४)**

४. प्रश्न : पुद्गल से रूपादि भिन्न हैं या अभिन्न ?

उत्तर : पुद्गल से रूपादि कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न। यद्यपि पुद्गल द्रव्य से भिन्न रूप नहीं हैं, पुद्गल का ही परिणमन होने से द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा रूप पुद्गल से भिन्न उपलब्ध नहीं है तथापि पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से रूप का नाश होने पर भी पुद्गल द्रव्य अवस्थित रहता है। क्योंकि रूपादि तो उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। जैसे- आम का हरा रूप नष्ट हो गया और पीत वर्ण की उत्पत्ति हो गई परन्तु पुद्गल द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है, रूपादि गुण आदिमान् हैं और पुद्गल द्रव्य अनादि है। द्रव्य अन्वयी है, सर्व पर्यायों में रहता है, रूपादि गुण व्यतिरेकी हैं, (द्रव्य की सब पर्यायों में नहीं रहते), रूपादि गुण वचनविज्ञान के हेतु हैं और पुद्गल वचनागोचर है, इत्यादि कारणों से रूपादि गुण पुद्गल द्रव्य से कथंचित् भिन्न है (एवं कथंचित् अभिन्न)। **(रा.वा. ५)**

५. प्रश्न : सूत्र में 'पुद्गलाः' बहुवचन क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'पुद्गलाः' इस बहुवचन के ग्रहण करने का प्रयोजन है पुद्गल के भेदों का

प्रतिपादन। अत: परमाणु और स्कन्ध आदि के भेद से पुद्गल अनेक प्रकार के हैं। उनकी सूचना देने के लिए 'पुद्गला:' यहाँ बहुवचन किया है। **(रा.वा. ७)**

६. प्रश्न : सूत्र में दिये गये रूप शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : यद्यपि रूप शब्द के स्वभाव, अभ्यास, श्रुति, महाभूत, गुण, मूर्त्ति आदि अनेक अर्थ हैं, परन्तु यहाँ शास्त्रानुसार 'मूर्त्ति' अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अर्हंत कथित और गणधर रचित शास्त्र-अनुसार रूपी द्रव्य अर्थात् मूर्त्तिमान् द्रव्य ग्रहण करना चाहिए। इसलिए यहाँ पुद्गल मूर्त्तिक है, इस अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। **(रा.वा. १)**

द्रव्यों की संख्या कहते हैं-

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥

आ-आकाशात्-एक-द्रव्याणि।

(आ-आकाशात्) आकाश पर्यन्त (एक द्रव्याणि) एक-एक द्रव्य हैं।

अर्थ - आकाश पर्यन्त एक-एक द्रव्य हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : क्या पुद्गल के समान धर्म-अधर्म आदि द्रव्य भी प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं ? ऐसी आशंका होने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ६)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'आङ्' का ग्रहण किस अर्थ में है ?

उत्तर : सूत्र में 'आङ्' पद का अर्थ अभिविधि है। अभिविधि का अर्थ है अभिव्याप्ति, उस अभिव्याप्ति के अर्थ में यहाँ 'आङ्' का प्रयोग किया गया है। इससे आकाश के भी एक द्रव्यत्व का कथन हो जाता है। 'अजीवकाया:' इस सूत्र की आनुपूर्वी का आश्रय लेकर यह सूत्र कहा गया है इसलिये इससे धर्म, अधर्म और आकाश को ग्रहण करना चाहिए। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : धर्मादि छह द्रव्य प्रसिद्ध हैं अत: सूत्र में दिया गया 'द्रव्याणि' पद निरर्थक है ?

उत्तर : सूत्र में 'द्रव्याणि' पद निरर्थक नहीं है क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा एकत्व का ख्यापन करने के लिए द्रव्य पद दिया गया है। केवल 'एकैकं' कहने से यह पता नहीं चलता कि ये किस अपेक्षा से एक कहे जा रहे हैं, द्रव्य की अपेक्षा या क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अत: असंदिग्ध रूप से द्रव्य की अपेक्षा का सूचन करने के लिए 'द्रव्य' पद देना सार्थक ही है। **(रा.वा. ६)**

४. प्रश्न : इन द्रव्यों में एकानेकता (एक-अनेक) किस अपेक्षा से है ?

उत्तर : गति, स्थिति आदि परिणाम वाले विविध जीव-पुद्गलों की गति आदि में निमित्त होने

से भाव की अपेक्षा, प्रदेश भेद से क्षेत्र की अपेक्षा तथा काल-भेद से काल की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य में अनेकत्व होने पर भी धर्मादि द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा अखण्ड एक-एक ही द्रव्य हैं। अवगाही अनेक द्रव्यों की अनेक प्रकार की अवगाहना के निमित्त से भाव की अपेक्षा और प्रदेश से क्षेत्र की अपेक्षा आकाश में अनन्तता होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा आकाश एक ही है।

जीव और पुद्गल की तरह धर्म, अधर्म और आकाश अनेक नहीं हैं और न जीव और पुद्गल धर्म, अधर्म आकाश की तरह एक हैं। **(रा.वा. ६)**

५. प्रश्न : यदि जीव और पुद्गल को भी धर्मादि के समान एक माना जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि जीव और पुद्गल को धर्म-अधर्म और आकाश के समान एक-एक द्रव्य माना जाएगा तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले क्रिया-कारक का और इष्ट अनुमान सिद्ध संसार-मोक्ष की क्रिया के विस्तार का विरोध आयेगा। अर्थात् अखण्ड एक द्रव्य के न तो क्रिया, कारक का भेद होगा अर्थात् सबकी क्रिया एक सी होगी। यह चटाई पर बैठा है, वृक्ष से पत्ते गिर रहे हैं, इत्यादि भेद नहीं होगा और न संसार और मोक्ष की क्रिया का विस्तार रहेगा। **(रा.वा. ६)**

धर्मादि द्रव्यों की विशेषता कहते हैं-

निष्क्रियाणि च ॥७॥

अर्थ - ये द्रव्य निष्क्रिय हैं।

१. प्रश्न : क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाह्य और अभ्यन्तर दोनों कारणों से होने वाली देश से देशान्तर की प्राप्ति में कारणभूत द्रव्य की पर्याय विशेष को क्रिया कहते हैं। **(रा.वा.१)** अन्तरंग एवं बहिरंग निमित्त से उत्पन्न होने वाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है वह क्रिया कहलाती है। **(सर्वा. ५३९)** देशान्तर प्राप्ति का हेतु ऐसी जो परिस्पन्द रूप पर्याय है, वह क्रिया है। **(प.का. ९८)**

२. प्रश्न : क्रिया में बाह्य एवं अभ्यन्तर कारण क्या हैं ?

उत्तर : अभ्यन्तर कारण-क्रिया परिणाम शक्ति युक्त द्रव्य अभ्यन्तर (उपादान) कहलाता है।

बाह्य कारण - नोदन (चोट मारना), अभिघात (टुकड़े करना) आदि की अपेक्षा से उत्पद्यमान द्रव्य की पर्याय विशेष को बाह्य कारण कहते हैं। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : कौन-कौन से द्रव्य सक्रिय एवं कौन-कौन से निष्क्रिय हैं ?

उत्तर : आकाश, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं काल द्रव्य निष्क्रिय हैं तथा बहिरंग साधन के साथ

रहने वाले जीव सक्रिय हैं, बहिरंग साधन के साथ रहने वाले पुद्गल सक्रिय हैं। जीव पुद्गलों की सहायता से एवं पुद्गल काल द्रव्य के कारण क्रियावान होते हैं। **(पं. का.स. ९८)**

गति, स्थिति और अवगाह ये तीन क्रियाएँ जीव और पुद्गल में ही होती हैं। धर्म, अधर्म, आकाश में क्रिया नहीं होती है क्योंकि न तो ये अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थान में जाते हैं और न इनके प्रदेशों में ही चलन होता है। किन्तु ये धर्मादि द्रव्य गति आदि क्रियाओं में मुख्य साधक होते हैं। **(गो.जी.जी. ५६६)**

४. प्रश्न : जीव-पुद्गलों की सक्रियता का बहिरंग कारण क्या है ?

उत्तर : जीवों के सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म के संचय रूप पुद्गल है इसलिए जीव पुद्गल करण वाले हैं, उसके अभाव के कारण सिद्धों के निष्क्रियपना है। **(पं. का. स. ९८)** जीवों ने क्रिया रहित निर्विकार शुद्धात्मा के अनुभव की भावना से गिरकर अपने मन, वचन, काय की हलन-चलन क्रिया की परिणतियों से जो द्रव्य-कर्म या नोकर्म पुद्गल एकत्र किये हैं वे ही जीवों की क्रिया में कारण होते हैं। **(पं.का.ता. ९८)**

पुद्गलों के सक्रियपने का बहिरंग साधन परिणाम निष्पादक (उत्पन्न करने वाला) काल है इसलिए पुद्गल काल करण वाले हैं। कर्मादि की भाँति काल का अभाव नहीं होता, इसलिए सिद्धों की भाँति (जिस प्रकार सिद्धों के निष्क्रियपना है, उस प्रकार) पुद्गलों के निष्क्रियपना नहीं है। पुद्गलों के स्कन्ध और परमाणु इन दो प्रकार के पुद्गलों के परिणमन होने में बाहरी कारण कालाणुरूप द्रव्य है, उनके निमित्त से ये क्रियावान होते हैं। **(पं.का. ता. ९८)**

५. प्रश्न : क्या जीव-पुद्गलों में क्रिया का अभाव नहीं होता है ?

उत्तर : कर्म-नोकर्म के अभाव से सिद्धों के निष्क्रियपना है। जीव जो शुद्धात्मानुभव की भावना के बल से कर्मों का क्षयकर तथा सर्व द्रव्यकर्म और नोकर्म पुद्गलों का अभाव करके सिद्ध हो जाते हैं और तब वे क्रियारहित हो जाते हैं, ऐसा पुद्गलों में नहीं होता है, क्योंकि काल जो वर्णादि से रहित अमूर्त्तिक है सो सदा ही विद्यमान रहता है। उसके निमित्त से पुद्गल यथासम्भव क्रिया करते रहते हैं। **(पं.का.ता. ९८)**

६. प्रश्न : जीव-पुद्गलों की क्रिया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : जीव-पुद्गलों में दो प्रकार की क्रिया होती है-

(१) स्वभाव क्रिया (२) विभाव क्रिया।

जीवों की स्वभाव क्रिया सिद्धिगमन है और विभाव क्रिया छह दिशा में गमन है। पुद्गलों की स्वभाव क्रिया परमाणु की गति है और विभाव क्रिया द्वि अणुकादि स्कन्धों की गति है। **(नि.सा.टी. १८४)**

७. प्रश्न : क्रिया के लक्षण में उभयनिमित्त आदि विशेषण क्यों दिये हैं ?

उत्तर : उभय (अभ्यन्तर-बाह्य) निमित्त विशेषण द्रव्य के स्वभाव की निवृत्ति के लिए है, क्योंकि क्रिया द्रव्य का सदा वर्तमान स्वभाव नहीं है, यदि क्रिया द्रव्य का स्वभाव होगा तो परिणामी द्रव्य के निरन्तर क्रियत्व का प्रसंग आयेगा।

पर्याय विशेषण अर्थान्तर की निवृत्ति के लिए है अर्थात् क्रिया द्रव्य से भिन्न नहीं है। अपितु क्रिया परिणामी द्रव्य की पर्याय है, इस बात को सूचित करने के लिए पर्याय विशेषण दिया है। यदि क्रिया द्रव्य से अर्थान्तरभूत हो तो द्रव्य में निश्चलत्व का प्रसंग आएगा। देशान्तर विशेषण ज्ञानादि या रूपादि गुणों की व्यावृत्ति के लिए दिया है। **(रा.वा. १)**

८. प्रश्न : निष्क्रिय धर्मादि द्रव्यों के उत्पाद कैसे हो सकता है क्योंकि क्रियापूर्वक ही घटादि में उत्पाद देखा जाता है ?

उत्तर : निष्क्रिय होने से धर्मादि द्रव्यों में उत्पादादि का अभाव कहना उचित नहीं है क्योंकि अन्यथा उपपत्ति है, क्रिया निमित्तक उत्पाद का अभाव होने पर भी इन धर्मादि में अन्यथा (अन्य प्रकार का) उत्पाद होता है। उत्पाद दो प्रकार का है-

(१) स्वनिमित्तक (२) परप्रत्यय।

स्वनिमित्तक - आगम प्रमाण से स्वीकृत अनन्त अगुरुलघु गुणों की अपेक्षा द्रव्यों में षट् स्थान पतित वृद्धि और हानि से सभी द्रव्यों में स्वाभाविक उत्पाद-व्यय होता है यह स्वनिमित्तक उत्पाद है।

परप्रत्यय - पर प्रत्यय भी उत्पाद-व्यय अश्वादि की गति, स्थिति और अवगाहन में निमित्त होने से होते हैं। उन पदार्थों में प्रतिक्षण परिणमन होता है अत: उनकी अपेक्षा उनके हेतुत्व में भी भिन्नता होती है। अत: परप्रत्यय की अपेक्षा से भी धर्म-अधर्म आदि में उत्पाद-व्यय का व्यवहार होता है। **(रा.वा.३)**

९. प्रश्न : निष्क्रिय धर्मादि द्रव्य जीवादि की गति में कारण कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : निष्क्रिय धर्मादि गति में कारण नहीं होते ऐसा नहीं कहना क्योंकि यह द्रव्य इन्द्रिय के समान बलाधान मात्र है। जैसे- रूप देखने की इच्छा करने वाले आत्मा की रूप की उपलब्धि में चक्षु इन्द्रिय बलाधायक मात्र इष्ट है। इन्द्रियान्तर में उपयुक्त आत्मा को वह स्वयं प्रेरणा नहीं करती। जैसे आयु के क्षय हो जाने पर आत्मा के शरीर से निकल जाने पर शरीर में विद्यमान भी इन्द्रियाँ रूपादि की उपलब्धि में समर्थ नहीं होतीं। अत: ज्ञात होता है कि आत्मा में ही रूपादि को जानने की शक्ति है, इन्द्रियाँ तो मात्र बलाधायक होती हैं, उसी प्रकार स्वयं गति, स्थिति और अवगाहन रूप से परिणमन करने वाले जीव और पुद्गलों के गति, स्थिति आदि में धर्म, अधर्म आदि द्रव्य बलाधान मात्रत्व से विवक्षित है वा निमित्त मात्र है, वे स्वयं क्रिया नहीं करते हैं। **(रा.वा. ४)**

१०. प्रश्न : ये धर्मादि द्रव्य स्वयं क्रिया क्यों नहीं करते ?

उत्तर : जिस प्रकार आकाश अपने द्रव्य-सामर्थ्य से गमन नहीं करने पर भी सभी द्रव्यों से सम्बद्ध और सर्वगत कहलाता है, ऐसा सामर्थ्य अन्य द्रव्य में नहीं है। उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों को निष्क्रिय

होने पर भी जीव पुद्गलादि की गति, स्थिति आदि के प्रति असाधारण बलाधानमात्र (निमित्त) जानना चाहिए। **(रा.वा.५)**

११. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द अभिहित धर्मादि द्रव्यों के सम्बन्ध के लिए है। धर्म, अधर्म आदि में निष्क्रियत्व का नियम होने से ही जीव और पुद्गलों के स्व-पर-प्रत्यय सक्रियता सिद्ध हो जाती है। **(रा.वा.६)**

१२. प्रश्न : क्या इन द्रव्यों में एकान्त से उत्पाद-व्यय होता है ?

उत्तर : द्रव्यों में उत्पाद-अनुत्पाद, व्यय-अव्यय देखे जाते हैं। पर्यायार्थिक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से सभी पदार्थ उत्पाद और व्यय से शून्य हैं, निष्क्रिय हैं और नित्य हैं। द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हैं, सक्रिय हैं और अनित्य हैं; इस प्रकार इनमें अनेकान्त समझना चाहिए। **(रा.वा. २५)**

द्रव्यों के प्रदेश :

धर्म-अधर्म और एक जीव के प्रदेशों की संख्या कहते हैं-

असंख्येया: प्रदेशा: धर्माऽधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

असंख्येया: प्रदेशा: धर्म-अधर्म-एक-जीवानाम्।

(धर्माधर्मैकजीवानां) धर्म, अधर्म और एक जीव के (असंख्येया: प्रदेशा:) असंख्यात प्रदेश होते हैं।

अर्थ - धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : 'अजीवकाया...' इस सूत्र में काय शब्द के ग्रहण करने पर प्रदेशों के अस्तित्व मात्र का ज्ञान होता है, प्रदेशों की इयत्ता (परिमाण) की अवधारणा नहीं होती इसलिए उनकी संख्या का निर्धारण करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ.८)**

२. प्रश्न : असंख्येय किसे कहते हैं ?

उत्तर : संख्या विशेष से अतीतत्व होने से वे असंख्येय हैं। संख्यान, संख्या और गणना ये एकार्थवाची हैं। स्वलक्षण से परस्पर विशेष्य-विशेष हैं, संख्या का विशेष संख्या विशेष है और संख्या को अतिक्रान्त असंख्येय है, जो गिनती की सीमा को पार कर गये हैं, जो किसी के द्वारा गिने नहीं जा सकते हैं, उनको असंख्येय कहते हैं। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : यदि संख्या किसी के द्वारा नहीं जानी जाती है तो सर्वज्ञत्व का अभाव हो जायेगा?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना क्योंकि जैसे सर्वज्ञ अनन्त को अनन्त रूप से जानता है तो सर्वज्ञत्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार वह असंख्यात को असंख्यात रूप से जानता है इसलिए सर्वज्ञत्व की हानि नहीं होती। सर्वज्ञ प्रभु यथार्थ जानने वाले होने से अन्य रूप से अवस्थित वस्तु को अन्यथा रूप से नहीं जानते। **(रा.वा.२)**

४. प्रश्न : यहाँ कौन से असंख्यात को ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : पदार्थ के परिज्ञान में संख्या का मान संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से तीन प्रकार का है। यहाँ पर अजघन्योत्कृष्ट असंख्यात लेना चाहिए। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : ''असंख्येयप्रदेशा: धर्माधर्मैकजीवा:'' ऐसा लघु सूत्र बनाना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उत्तर सूत्र के साथ भेद करने का सम्बन्ध है। 'प्रदेशा:' यह शब्द उत्तर सूत्र के साथ सम्बन्ध रखता है। यदि **'असंख्येय-प्रदेशा:'** ऐसा द्रव्य प्रधान निर्देश करते तो प्रदेश पद गौण हो जाता और आगे के सूत्र के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता तथा प्रत्येक सूत्र के साथ प्रदेश ग्रहण करने पर सूत्र बड़ा हो जाता इसलिए 'असंख्येया: प्रदेशा:' यह पद पृथक् ग्रहण किया है। **(रा.वा. ९)**

६. प्रश्न : एक अखण्ड द्रव्य की प्रदेश कल्पना उपचार से होती है और उपचार मिथ्या होता है अत: धर्मादि में असंख्यात प्रदेश नहीं मानना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि मुख्य क्षेत्र के विभाग से मुख्य ही क्षेत्र का विभाग है क्योंकि घट के द्वारा आकाश का जो क्षेत्र अवगाहित किया जाता है वही आकाश अन्य घटादि के द्वारा अवगाहित नहीं किया जाता, क्योंकि दोनों के प्रदेश पृथक्-पृथक् हैं। यदि प्रदेशभिन्नता न होती तो वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता था, अत: द्रव्य अविभागी होकर भी प्रदेश से शून्य नहीं है। **(रा.वा. ५)**

७. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों के मुख्य प्रदेशों की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : प्रत्यक्षत्व होने से घटादि के प्रदेशों की अवधारणा स्वत: हो सकती है परन्तु धर्मादि द्रव्य अत्यन्त परोक्ष होने से उनके मुख्य भी प्रदेशों का स्वत: अवधारित होना शक्य नहीं है। गौण प्रदेश होने से स्वत: नहीं जाने जाते, ऐसी बात नहीं है। परोक्ष होने से परमाणु के नाप से उनका व्यवहार किया जाता है। **अथवा**-आगम प्रमाण से जाना जाता है। युगपत् सकल पदार्थों को जानने वाले ज्ञान से युक्त अर्हन्त के द्वारा कथित, गणधर के द्वारा अनुस्मृत वचन से रचित और उन गणधर के शिष्य-प्रशिष्यों की प्रज्ञारूपी लहरों की परम्परा से प्राप्त श्रुतनामक आगम है, उस श्रुत-प्रमाण से धर्म, अधर्म और आकाश के क्षेत्रप्रदेश मुख्य हैं। **अथवा -**

जीव के प्रदेश चल और अचल दोनों प्रकार के होते हैं इस प्रकार आगम कथित प्रमाण से धर्मादि में मुख्य ही प्रदेश जानने चाहिए, गौण नहीं। **अथवा** - इन्द्रिय, परिणाम, वचन से भी जीवादि के मुख्य प्रदेशों की सिद्धि है। आगम में वीर्यान्तराय और मति श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम तथा अंगोपाङ्ग नामकर्म के उदय में उत्सेधाङ्गुलके असंख्यात वें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्म-प्रदेशों में चक्षु आदि इन्द्रिय पर्याय की प्राप्ति बताई गई है तथा प्रतिविशिष्ट प्रदेशत्व होने से परस्पर स्थान संक्रमण से साक्षात् प्रदेश जाने जाते हैं। इसलिए आगम-प्रमाण से जाना जाता है कि जीवादि के मुख्य ही प्रदेश हैं, गौण नहीं।

द्रव्यों की प्रतिनियत स्थानों में स्थिति बताई जाने से भी ज्ञात होता है कि आकाश आदि के मुख्य ही प्रदेश हैं। यहाँ अन्य आकाशप्रदेशों में पाटलिपुत्र है और मथुरा अन्य प्रदेशों में है अत: आकाश प्रदेश नाना हैं। **अथवा** - एक परमाणु सम्पूर्ण आकाश से सम्बन्ध को प्राप्त होता है कि नहीं ? यदि एक परमाणु सम्पूर्ण आकाश से सम्बन्ध को प्राप्त होता है तो स्पष्टत: निर्दोष रूप से सिद्ध होता है कि आकाश के मुख्य प्रदेश हैं। **(रा.वा. १४-१९)**

८. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों के प्रदेशों में एकत्व है या अनेकत्व ?

उत्तर : पुरुष के समान धर्मादि द्रव्यों में एक-अनेक प्रदेशत्व के प्रति अनेकान्त है। जैसे - आत्मा के सामान्य पुरुष-शरीर की दृष्टि से प्रदेशों में एकत्व है और उसी पुरुष के ही सिर, पीठ, उदर, हाथ, पैर, अंगुलि, अंगुलि का पर्व, नाक आदि अंग-उपाङ्ग, रूप पर्याय की दृष्टि से प्रदेशों में अनेकत्व है। **अथवा-**

पुरुष द्रव्य की दृष्टि से एकत्व होने पर भी अपनी पुरुषत्व जाति का त्याग न करके पावक (पकाने वाला), लावक (काटने वाला) आदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पुरुष में अनेकत्व भी है। **अथवा -**

पिता, पुत्र, भाई, भानजा, चाचा, मामा आदि पर्यायों की दृष्टि से भी अनेकता है। **अथवा -**

पञ्चेन्द्रिय, आरोग्य, मेधावी, पटु, कुशल, सुशीलत्वादि व्यवहारों में कारणभूत पर्यायों की दृष्टि से अनेकता है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और जीवों के आत्मीय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकप्रदेशत्व है और प्रतिनियत प्रदेशपर्यायों की अपेक्षा से अनेक प्रदेशत्व है। इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व में अनेकान्त है। **(रा.वा. २१)**

९. प्रश्न : आत्मा के प्रदेशों में प्रदेशभेद है या नहीं ?

उत्तर : अनादि काल से संसारी जीव कर्मबन्धन से आबद्ध है। अत: उस बन्धन की अपेक्षा उस बन्धन का अनुविधायी होने से संसारी जीव अवयव सहित है और संसारी जीव के प्रदेशत्व है। शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो आत्मा उपयोगस्वभावी और अखण्ड है अत: शुद्ध नय की अपेक्षा आत्मा में प्रदेशभेद नहीं है, व्यवहार नय की अपेक्षा प्रदेश भेद होते हुए भी आत्मा में निश्चय नय की अपेक्षा प्रदेशभेद नहीं है। **(रा.वा. २२)**

१०. प्रश्न : जीव के कितने प्रकार के प्रदेश होते हैं ?

उत्तर : जीव के दो प्रकार के प्रदेश होते हैं-

(१) चल प्रदेश (२) अचल प्रदेश।

चल प्रदेश - व्यायाम के समय या दु:ख, क्रोध, परिताप के उद्रेक से परिणत होने के समय सर्व जीवों के उपर्युक्त आठ प्रदेशों को छोड़कर शेष सर्व प्रदेश अस्थित (चल) होते हैं। जीवप्रदेशों के उथल-पुथल रूप परिस्पन्दन को अस्थित कहते हैं

अचल प्रदेश - भवान्तर परिणमन के समय, सुख-दु:खादि के अनुभव में तथा क्रोधादि परिणाम दशा में जीव के प्रदेशों की उथल-पुथल रूप परिस्पन्दन की अप्रवृत्ति को स्थित प्रदेश कहते हैं। **(रा.वा.१६)**

११. प्रश्न : किन-किन द्रव्यों के चल-अचल प्रदेश होते हैं ?

उत्तर : सर्व जीवों के आठ मध्य प्रदेश सदा निरपवाद रूप से स्थित ही रहते हैं। अयोग केवली और सिद्धों के सर्वप्रदेश अचल ही रहते हैं। शेष जीवों के प्रदेश चल और अचल दोनों प्रकार के होते हैं। **(रा.वा. १६)** मुक्त जीव, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल के प्रदेश अचल हैं। विग्रहगति में रूपी (संसारी) जीवों के प्रदेश चल ही होते हैं। अयोग-केवली अवस्था में प्रदेश अचल ही होते हैं। शेष जीवों के आठ प्रदेश अचल और शेष प्रदेश चल होते हैं। पुद्गल द्रव्य में परमाणु और द्व्यणुक आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध चलित होते हैं। अन्तिम महास्कन्ध में प्रदेश चल, अचल हैं। क्योंकि उसमें कोई भाग चल है और कोई भाग अचल है। **(गो.जी.जी. ५९२-९३)**

१२. प्रश्न : धर्म, अधर्म एवं जीव द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं ?

उत्तर : लोकाकाश के प्रदेश, धर्मद्रव्य के प्रदेश, अधर्मद्रव्य के प्रदेश और एक-एक जीवद्रव्य के प्रदेश संख्या की दृष्टि से समान ही हैं क्योंकि प्रत्येक जगत्श्रेणि के घन प्रमाण है। **(गो.जी.जी. ५९१)**

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। **(त.सू ५/८)**

धर्म और अधर्म द्रव्य के अवस्थित-स्थायी रूप से लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशता है। जीव के व्यवहार से शरीर के बराबर आकार वाला होने पर भी निश्चय से लोकाकाश प्रमाण असंख्यात-प्रदेशता है। **(प्र.सा.ता. १३५)**

१३. प्रश्न : प्रदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक परमाणु से आविष्ट (घिरे हुए) आकाश को आकाशप्रदेश नाम से कहा जाता है और वह सभी परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है। **(प्र.सा.ता. १४०)** आकाश के जितने क्षेत्र को एक परमाणु रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। वह दूर और निकट व्यवहार में कारण होता है। **(गो.जी.जी. ५७३)**

आकाश के प्रदेश कहते हैं-

आकाशस्यानन्ता: ॥९॥

आकाशस्य - अनन्ता:।

(आकाशस्य) आकाश के (अनन्ता:) अनन्त प्रदेश हैं।

अर्थ - आकाश के अनन्त प्रदेश हैं।

१. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि ये आकाश के प्रदेश हैं ?

उत्तर : पूर्व में कहे गये "**असंख्येया**.....॥८॥" सूत्र की निकटता से 'प्रदेशा:' पद का सम्बन्ध यहाँ हो जाता है। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : आकाश द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ?

उत्तर : जीवराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण सिद्ध राशि है, सिद्धों से अनन्त गुणी निगोद राशि है। इससे अनन्त गुणी पुद्गल राशि है। इससे अनन्तगुणे काल के समय हैं। इनसे भी अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। **(त.सू. ५/९)**

३. प्रश्न : आकाश के अनन्त प्रदेश हैं, यह किस प्रमाण से सिद्ध है ?

उत्तर : जो वस्तु जिस रूप से व्यवस्थित है उसको उसी रूप से जानना प्रमाण वा स्वभाव होने से जिस प्रकार प्रमाण संख्यात-असंख्यात को संख्यात-असंख्यात रूप से जानता है उसी प्रकार अनन्त को (आकाश के अनन्त प्रदेशों को) अनन्त रूप से जानता है। इसमें कोई विरोध नहीं है इसलिए आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं, यह बहुत अच्छा कहा गया है। **(श्लो. ६/९६)**

(सर्वज्ञ भगवान का अतिशयशाली क्षायिक ज्ञान अनन्तानन्त है। उस क्षायिक अतिशयशाली अनन्त ज्ञान के द्वारा अनन्त का अनन्त रूप से ही साक्षात् ज्ञान हो जाता है। अन्य लोग सर्वज्ञ के उपदेश से तथा अनुमान से अनन्त प्रदेशी आकाश का ज्ञान कर लेते हैं) अत: आगम, अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण से आकाश के अनन्त प्रदेशों के परिमाण का ज्ञान हो जाता है। **(श्लो. ६/९६)**

पुद्गल के प्रदेश बताते हैं-

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

संख्येया-असंख्येया: च पुद्गलानाम्।

(पुद्गलानां) पुद्गलों के (संख्येयासंख्येयाश्च) संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं।

अर्थ - पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अमूर्त्तिक धर्मादि द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या का परिमाण कह दिया गया, अब मूर्त्तिक पुद्गलों के प्रदेशों का परिमाण जानने योग्य है, उसको बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १०)**

२. प्रश्न : पुद्गल द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ?

उत्तर : पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। किसी दो अणु आदि पुद्गल द्रव्य के संख्यात प्रदेश हैं, किसी के असंख्यात प्रदेश हैं और किसी पुद्गल के अनन्त प्रदेश हैं। **(रा.वा.१)**

यहाँ अनन्त सामान्य होने से अनन्तानन्त का भी अनन्त में ही अन्तर्भाव हो जाता है अत: सूत्र में अनन्त का ग्रहण किया है। **(रा.वा. २)** योगीश्वरों ने पुद्गलद्रव्य के एक प्रदेश को आदि ले संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रदेश कहे हैं। **(ज्ञा. ६/४४)**

३. प्रश्न : असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में अनन्तप्रदेशी पुद्गल स्कन्ध कैसे रह सकता है?

उत्तर : सूक्ष्म भाव से परिणत परमाणु एक-एक आकाशप्रदेश पर अनन्तानन्त अवस्थित है अत: पुद्गलों के सूक्ष्म परिणमन और आकाश की अवगाहना शक्ति के कारण अनन्तानन्त पुद्गलों के स्कन्ध का भी अवगाह हो जाता है। जैसे- संकुचित चम्पा की कली में सूक्ष्म रूप से बहुत से गन्ध के अवयव रहते हैं और जब वे फैलते हैं, विस्तरित होते हैं, स्थूल प्रचय परिणाम से बाहर निकलते है तब सब दिशाओं को व्याप्त कर लेते हैं, ऐसा देखा जाता है। **अथवा -**

जैसे कि अल्प कण्डा या लकड़ी में जो प्रचय विशेष अवगाढ़ (सूक्ष्म रूप से एक क्षेत्र में स्थित) हैं वे ही पुद्गल अग्नि से जलने पर धूम के रूप में सारे दिग्मण्डल में व्याप्त होकर फैल जाते हैं, ऐसा देखा जाता है। उसी प्रकार संकोच-विस्तार रूप परिणमन होने से अल्प लोकाकाश में भी अनन्तानन्त जीव-पुद्गलों का अवस्थान हो जाता है। **(रा.वा. ३-६)**

अणु के प्रदेश कहते हैं-

नाणो: ॥११॥

न - अणो:।

(अणो:) अणु के प्रदेश (न) नहीं होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : 'पुद्गलों के' ऐसा अविशेष वचन होने से परमाणु के भी प्रदेशत्व का प्रसङ्ग होने पर, उसका निषेध करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ११)** पूर्व सूत्र में **'पुद्गलानां'** यह सामान्य वचन कहा है। इससे परमाणु के भी प्रदेशों का प्रसंग प्राप्त होता है अत: उसका निषेध करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ५४६)**

२. प्रश्न : परमाणु के प्रदेश क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर : अणु प्रदेश मात्र है। जैसे- आकाश का एक प्रदेश अन्य प्रदेश रूप न होने से अप्रदेशी है, उसी प्रकार परमाणु के भी प्रदेशमात्र होने से अन्य प्रदेश नहीं हैं। परमाणु से छोटी कोई वस्तु ही नहीं है जिससे परमाणु के प्रदेशों का भेद किया जावे। अत: स्वयं में आदि-अन्त परिमाण वाला होने से परमाणु अप्रदेशी है। **(रा.वा. १-२)**

३. प्रश्न : अणु को अणु क्यों कहते हैं ?

उत्तर : इसका 'अणु' यह सार्थक नाम भी है। जैसे- प्रदीपन करने के कारण प्रदीप की संज्ञा सार्थक है, उसी तरह 'अणु' अर्थात् सूक्ष्म होने से 'अणु' संज्ञा भी सार्थक है। यदि अणु के भी प्रदेश प्रचय होगा तो फिर वह अणु ही नहीं कहलाएगा, उसके प्रदेश ही अणु कहे जायेंगे। **(रा.वा.३)**

४. प्रश्न : अणु के प्रदेश नहीं होते हैं अत: उसका अभाव कहना चाहिए ?

उत्तर : ऐसी आशंका उचित नहीं है क्योंकि अणु प्रदेशमात्र है, गधे के सींग के समान अप्रदेशी नहीं है। आदि, मध्य और अन्त का अभाव होते हुए भी विज्ञान का अभाव नहीं है, उसी प्रकार परमाणु के भी आदि, मध्य और अन्त का व्यपदेश न होने पर भी परमाणु का अभाव नहीं है। परमाणु के अस्तित्व की सिद्धि आगे करेंगे। **(रा.वा. ५)**

द्रव्यों का आधार :

लोकाकाशेऽवगाह: ॥१२॥

लोकाकाशे - अवगाह:।

इन द्रव्यों का (अवगाह:) अवगाह (लोकाकाशे) लोकाकाश में है।

अर्थ - इन सभी द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में है।

१. प्रश्न : धर्मादि द्रव्य कहाँ रहते हैं ?

उत्तर : धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल एवं काल द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं।

२. प्रश्न : लोकाकाश का आकार कैसा है ?

उत्तर : तीनों लोकों में अधोलोक तो पुरुष की जंघा और नितम्ब के समान है, मध्यलोक कटि (कमर) के समान, चौथे माहेन्द्र स्वर्ग का अन्त मध्य अर्थात् नाभि के समान, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर नामक पाँचवाँ-छठा स्वर्ग छाती के समान, तेरहवाँ-चौदहवाँ स्वर्ग भुजा के समान, पन्द्रहवाँ-सोलहवाँ स्वर्ग स्कन्ध के समान, नौ ग्रैवेयक ग्रीवा के तुल्य, नौ अनुदिश ठोड़ी के समान, पंच अनुत्तर विमान मुख के समान एवं सिद्ध-क्षेत्र ललाट के समान है और जहाँ सिद्ध जीवों का निवास है ऐसा आकाश प्रदेश मस्तक के समान

है।[१] **(हरि. पु. ४/२९-३१)**

यह लोक तालवृक्ष के आकारवाला है। **(ध. ४।११)**

आकाश घनाकार चौकोर है। **(आ.सा. ३/२४)**

कमर पर हाथ रख कर और पैर फैलाकर अचल-स्थिर खड़े हुए मनुष्य का जो आकार है उसी आकार को यह लोक धारण करता है। **(हरि. पु. ४/८)**

तीनों लोकों में से अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत्रासन के सदृश है और मध्यलोक का आकार खड़े किये हुए आधे मृदंग के ऊर्ध्वभाग के समान है। ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुए मृदंग के सदृश है। **(ति.प. १/१३७-३८)**

३. प्रश्न : पुद्गलों का वर्णन है अत: निकटतम होने से लोकाकाश में पुद्गलों का ही अवगाह होगा ?

उत्तर : यद्यपि पुद्गलों का प्रकरण है फिर भी यहाँ पर समुदाय की अपेक्षा से वर्णन है अत: समुदित धर्मादि सर्वद्रव्यों की अपेक्षा से कथन है इसलिए अनन्तर होने से पुद्गल का ही ग्रहण हो, ऐसा नहीं है तथा धर्म-अधर्म, पुद्गल, जीव आदि पृथक् क्षेत्र में भी नहीं हैं अत: सर्व द्रव्यों का आधार लोकाकाश सिद्ध होता है। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है तो आकाश का आधार क्या है ?

उत्तर : आकाश स्वप्रतिष्ठित है। अपने आप में इसकी प्रतिष्ठा है इसलिए आकाश स्वप्रतिष्ठ कहलाता है। आकाश स्वयं ही आधार है और स्वयं ही आधेय है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि आकाश द्रव्य से अधिक प्रमाण वाले द्रव्यान्तर के आधार का अभाव है। आकाश द्रव्य से अधिक प्रमाण वाला दूसरा द्रव्य नहीं है, जिसमें आकाश द्रव्य आधेय होवे। अत: सर्वत: अन्तरहित इस आकाश के अधिकरणान्तर का अभाव होने से आकाश स्वप्रतिष्ठ है ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा. २-३)**

५. प्रश्न : आकाश का आधार मान लें तो क्या हानि है ?

उत्तर : आकाश द्रव्य का अन्य आधार मानने पर उसका अन्य आधार, फिर उसका अन्य तथा फिर उसका भी अन्य आधार मानना पड़ेगा जिससे अनवस्था दोष आयेगा। **(रा.वा.४)**

६. प्रश्न : यदि आकाश स्वप्रतिष्ठित है तो धर्मादि द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठित होने चाहिए ?

उत्तर : धर्मादि द्रव्यों का अधिकरण (आधार) आकाश है, यह व्यवहार नय की अपेक्षा कहा जाता है। एवंभूत नय की अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। कहा भी है- आप कहाँ रहते हैं ? अपने

१. मिस्र देश के गिरजे में बने हुए महास्तूप से यह लोकाकाश का आकार किंचित् समानता रखता प्रतीत होता है। (ज.प. २४ प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन)

में **(सर्वा. ५४९)**। एवंभूत नय की दृष्टि से देखा जाय तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही है अत: इनमें आधार भाव का अभाव है। **(रा.वा. ५)**

७. प्रश्न : असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, असंख्यात काल द्रव्य आदि कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर : भगवान उत्तर देते हैं- एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश, एक गूढ़ रस की शीशी में बहुत सा स्वर्ण, राख से भरे घड़े में सूई और ऊँटनी का दूध समा जाता है, इत्यादि दृष्टान्तों से विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्य प्रदेशी लोक में भी अनन्त जीव, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य, प्रत्येक लोकाकाश प्रमाण धर्म और अधर्म दो द्रव्य इन सबके अवगाह में विरोध नहीं आता है। तथा यदि इस प्रकार की अवगाहनशक्ति न हो तो लोक के असंख्य प्रदेशों में असंख्य परमाणुओं का ही समावेश होता है और ऐसा होने पर जिस प्रकार शुद्ध-निश्चयनय से शक्ति रूप से सब जीव निरावरण और शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव युक्त हैं उसी प्रकार व्यक्ति रूप से व्यवहार नय से भी हो जाते। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम दोनों प्रकार से उसमें विरोध है। **(वृ. द्र. सं. टी. २०)**

८. प्रश्न : यदि सर्व द्रव्य परमार्थ से स्वप्रतिष्ठित हैं तो वायु का आधार आकाश है, जल का आधार वायु है, सब जीवों का आधार पृथिवी है, धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है, इत्यादि अन्योन्य आधार-आधेय भाव का व्याघात होगा ?

उत्तर : ऐसी आशंका उचित नहीं है क्योंकि व्यवहार नय से उसकी सिद्धि होती है। यह सर्व अन्योन्य आधारत्व व्यवहार नय वक्तव्य बल (कहने की शक्ति) के लाभ से सिद्ध होते हैं। अत: आकाश में वायु का आधार व्यवहार नय से है। क्योंकि अन्य आधार की कल्पना करने पर अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आता है। परमार्थ से तो आकाश के समान वायु आदि भी अपने आप में ही अवस्थित हैं। **(रा.वा. ६)**

९. प्रश्न : वायु आदि अपने आप में कैसे अवस्थित हैं ?

उत्तर : क्रिया से आविष्ट कर्तृ-कर्म आधार के समान वायु आदि अपने आप में रहते हैं। आस्ते-गच्छति, बैठा है, जाता है इत्यादि क्रिया कर्तृसमवायिनी क्रिया है। ओदन पकाता है, कुशूल भेदता है, कर्म समवायिनी क्रिया है। जैसे- व्यवहार नय से आस्ते, गच्छति आदि कर्तृसमवायिनी क्रियाओं का कर्त्ता और ओदन को पकाता है, घड़े को फोड़ता है, आदि कर्म समवायिनी क्रियाओं का आधार कर्म माना जाता है, तथा क्रिया-आविष्ट (युक्त) कर्त्ता और कर्म का आधार आसनादि और बटलोई समझी जाती है उसी प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा क्रिया का अधिकरण द्रव्य है और क्रियाविष्ट द्रव्य का अधिकरण द्रव्यान्तर है, परन्तु परमार्थ से एवंभूत नय की अपेक्षा से क्रिया का आधार क्रिया ही है। अर्थात् क्रिया अपने स्वरूप में ही है और द्रव्य अपने स्वरूप में, इसी प्रकार सभी द्रव्य स्वाधार हैं तथा धर्मादि का लोकाकाश में अवगाह व्यवहार नय से कहा जाता है, निश्चय नय से सर्व द्रव्यों का स्वात्मा ही अधिकरण है। **(रा.वा. ७)**

१०. प्रश्न : आधार कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : आधार तीन प्रकार के होते हैं-

(१) औपश्लेषिक आधार (२) वैषयिक आधार (३) अभिव्यापक आधार।

औपश्लेषिक आधार का उदाहरण चटाई है अर्थात् चटाई पर बालक सोता है।

वैषयिक आधार - आकाश में पदार्थ स्थित हैं, यहाँ आकाश वैषयिक आधार है।

अभिव्यापक आधार - तिलों में तेल, यहाँ अभिव्यापक आधार है। **(गो.जी.जी. ५८३)**

११. प्रश्न : लोक में कुण्डे में बेर के समान पूर्वोत्तर कालभावी पदार्थों में आधार-आधेय-भाव देखा जाता है परन्तु आकाश और धर्मादि पूर्वोत्तरकालभावी नहीं हैं अत: उनमें आधार-आधेय भाव कैसे हो सकता है ?

उत्तर : जिस प्रकार कुण्डे और बेर में और आधार-आधेय भाव मानने पर पूर्वापर-कालता और युतसिद्धि है उस तरह आकाश और धर्मादि में आधार-आधेय भाव होने पर भी पूर्वापरता और युतसिद्धि नहीं है क्योंकि शरीर में हाथ के समान अयुतसिद्ध में भी आधार-आधेय भाव देखा जाता है, जैसे- हाथ और शरीर आदि में आधार-आधेय भाव होने पर भी न तो इनमें पूर्वापर काल है और न युतसिद्धि ही है, क्योंकि शरीर और हाथ ये दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं और अयुतसिद्ध हैं। इसी प्रकार आकाश और धर्मादि द्रव्य अनादि पारिणामिक हैं तथा एक साथ उत्पन्न हैं। इनमें कोई पहले का और कोई बाद का नहीं है अत: पूर्वापर भाव न होने पर भी आधार-आधेय भाव मानने में कोई विरोध नहीं है। **अथवा -**

इसमें अनेकान्त है। यह ऐकान्तिक नियम भी नहीं है कि युतसिद्ध के ही आधार-आधेय भाव होता है, अयुतसिद्ध के नहीं। क्योंकि स्तम्भ और सार जैसे अयुतसिद्ध और कुण्डे और बेर जैसे-युतसिद्ध दोनों पदार्थों में ही आधार-आधेय भाव देखा जाता है इसलिए यह एकान्त से उलाहना नहीं है क्योंकि इसमें अनेकान्त है। **(रा.वा. ८-९)**

१२. प्रश्न : लोक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ पुण्य और पाप का फल देखा जाता है, वह लोक है वा जिसमें पुण्य और पाप रूप कर्मों का सुख-दु:ख रूप फल देखा जाता है वह लोक है। इस व्युत्पत्ति में लोक का अर्थ हुआ आत्मा/ अथवा- जो देखता है, वह लोक है। जो 'लोके' अर्थात् जो देखे जाने वाले पदार्थों को देखता है, जानता है, प्राप्त करता है, वह लोक है। **(रा.वा. १०-११)**

जो अनन्त अलोकाकाश के मध्य में स्थित है तथा जहाँ बन्ध और मोक्ष का फल भोगा जाता है उसे लोक कहते हैं। **(हरि.पु. २/११०)**

जन्म, जरा और मरण से व्याप्त संसार लोक कहलाता है। **(रा.वा. ४/२४)**

जीवादि छह पदार्थों का जो समूह है उसे लोक कहते हैं। **(बा.अ. ३९)**

छद्मस्थ अवस्था में मतिश्रुतज्ञान की अपेक्षा लोक देखा गया है, अवधिज्ञान के द्वारा मर्यादा रूप से आलोकित किया जाता है, मन:पर्यय ज्ञान की अपेक्षा कुछ उससे भी विशेष और केवलज्ञान की अपेक्षा सम्पूर्ण रूप से देखा गया इसलिए वह लोक कहा जाता है। **(मू. ५४२ आ.)**

१३. प्रश्न : लोक का उपर्युक्त लक्षण बनाने पर तो जीव के अलावा शेष द्रव्यों में अलोकत्व की सिद्धि है जिससे 'छह द्रव्यों का समूह लोक है' इस आर्षवचन के साथ विरोध आता है ?

उत्तर : यद्यपि उपर्युक्त दोनों प्रकार की (लोक की) व्युत्पत्तियों में जीव को ही लोक संज्ञा प्राप्त होती है, तथापि न तो अन्य द्रव्यों को अलोक कहा जाएगा और न 'छह द्रव्यों का समूह लोक है' इस सिद्धान्त का विरोध ही होगा क्योंकि रूढ़ि में क्रिया व्युत्पत्ति का निमित्त मात्र होती है, जैसे- 'गच्छतीति गौ' ऐसी व्युत्पत्ति करने पर भी न तो सभी चलने वाले गौ बन जाते हैं और न बैठी हुई गाय 'अगौ' गौत्व से रहित हो जाती है। इसी प्रकार 'लोकनात् लोक:' ऐसी लोक शब्द की व्युत्पत्ति करने पर भी धर्म-अधर्मादि द्रव्यों का लोकत्व नष्ट नहीं होता। **अथवा -**

'लोक्यते' देखा जाता है वह लोक है, ऐसी व्युत्पत्ति करने पर अप्रतिहत अनन्त केवलदर्शन वाले सर्वज्ञ के द्वारा जो देखा जाता है, वह लोक है, इससे धर्मादि द्रव्यों के भी लोकत्व सिद्ध होता है क्योंकि धर्मादिक द्रव्य भी सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा देखे जाते हैं। **(रा.वा. १२-१३)**

१४. प्रश्न : आत्मा के अलोकत्व का प्रसंग आता है क्योंकि आत्मा जिसको देखता है, वह लोक है ?

उत्तर : ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि आत्मा स्वयं अपना अवलोकन करता है अत: उसके लोकत्व सिद्ध है। जैसे सर्वज्ञ भगवान बाह्य पदार्थों का अवलोकन करते हैं, वैसे अपने स्वरूप का भी लोकन करते हैं, यदि सर्वज्ञ अपने स्वरूप का अवलोकन नहीं करेंगे तो स्वस्वरूप का अवलोकन नहीं करने से वे सर्वज्ञ कैसे बनेंगे ? आत्मा को नहीं जानने वाले वे फिर बाह्य पदार्थों को भी कैसे जान सकते है। जैसे घटादि स्वस्वरूप को नहीं देखते इसलिए पर-पदार्थों को भी नहीं देख सकते, उन्हीं घटादि की तरह स्वस्वरूप को नहीं देखने वाले सर्वज्ञ या आत्मा पर-पदार्थों को भी नहीं देख सकते अत: उनके सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व का अभाव हो जाएगा। **(रा.वा. १४)**

१५. प्रश्न : आकाश कितने भागों में विभक्त है ?

उत्तर : आकाश दो भागों में विभक्त है-

(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश। **(सर्वा.)**

१६. प्रश्न : अलोकाकाश किसे कहते हैं ?

उत्तर : लोक के बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है। **(रा.वा. १८)**

जिसके अपने प्रदेश भी अनन्त हैं तथा जो अन्य द्रव्यों से रहित है वह अलोकाकाश कहलाता है। यतश्च उसमें जीवाजीवात्मक अन्य पदार्थ नहीं दिखाई देते हैं इसलिए वह अलोकाकाश इस नाम से प्रसिद्ध है। **(हरि. पु. ४/१-२)**

लोक के बाहर जो शुद्ध आकाश मात्र है उसे अलोक कहते हैं। **(पं. का. ता. ८७)**

१७. प्रश्न : इसे लोक क्यों कहते हैं ?

उत्तर : उस अलोकाकाश के मध्य में असंख्यात प्रदेशी तथा लोकाकाश से मिश्रित अनादि लोक स्थित है। काल द्रव्य तथा अपने अवान्तर विस्तार से सहित अन्य समस्त पंचास्तिकाय यतश्च इसमें दिखाई देते हैं इसलिए यह लोक कहलाता है। **(हरि. पु. ४/४-५)**

१८. प्रश्न : लोक कितने प्रकार का है ?

उत्तर : देश के भेद से क्षेत्र (लोक) तीन प्रकार का है-

(१) ऊर्ध्व लोक (२) अधो लोक (३) मध्य लोक।

ऊर्ध्वलोक - मन्दराचल की चूलिका से ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है।

अधोलोक - मन्दराचल के मूल से नीचे का क्षेत्र अधोलोक है।

मध्यलोक - मन्दराचल से परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्रमाण मध्यलोक है। **(ध. ४/९)**

१९. प्रश्न : अधोलोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : सात रज्जु सुमेरु पर्वत के नीचे (अधोलोक) है। चित्रा पृथ्वी के अधोभाग से लेकर द्वितीय पृथिवी के अन्त तक एक रज्जु समाप्त होता है। इसके आगे तृतीय पृथ्वी के अन्त तक द्वितीय रज्जु, चतुर्थ पृथ्वी के अन्त तक तृतीय रज्जु, पंचम पृथ्वी के अन्त तक चतुर्थ रज्जु, षष्ठ पृथ्वी के अन्त तक पंचम रज्जु, सप्तम पृथ्वी के अन्त तक षष्ठ रज्जु और लोक के अन्त तक सप्तम रज्जु समाप्त होता है। अर्थात् चित्रा पृथ्वी के नीचे छह रज्जु की लम्बाई तक सात पृथिवियाँ और उसके नीचे एक रज्जु के विस्तार में निगोद तथा वातवलय है। **(हरि. पु. ४/११-१३)**

२०. प्रश्न : मध्य लोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : मध्य लोक की ऊँचाई एक लाख योजन प्रमाण है। **(ति.प. १/१५१)**

लोक में मेरु के तलभाग से उसकी चोटी पर्यन्त १,००,००० योजन ऊँचा और एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त मध्यलोक है। **(हरि.पु. ५ सर्ग के आधार से)**

२१. प्रश्न : ऊर्ध्व लोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : चित्रा पृथ्वी के ऊपर ऐशान स्वर्ग तक डेढ़ रज्जु, उसके आगे माहेन्द्र स्वर्ग के अन्त तक

फिर डेढ़ रज्जु फिर कापिष्ठ स्वर्ग तक एक रज्जु, तदनन्तर सहस्रार स्वर्ग तक एक रज्जु, उसके आगे आरण-अच्युत स्वर्ग तक एक रज्जु और उसके ऊपर ऊर्ध्व लोक के अन्त तक एक रज्जु इस प्रकार कुल सप्त रज्जु समाप्त होता है। **(हरि. पु. ४/१४-१६)**

ऊर्ध्व लोक की ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजु प्रमाण है। **(ति.प. १/१५१)**

२२. प्रश्न : यह लोक किसके द्वारा बनाया गया है ?

उत्तर : यह लोक अनादिनिधन है, किसी भी विशिष्ट पुरुष द्वारा न रचा गया है, न नष्ट होता है, न धारण किया जाता है और न रक्षा किया जाता है। **(वृ. द्र. सं. २० टी.)**

२३. प्रश्न : लोक सात राजू के घनप्रमाण (३४३ घनराजू) कैसे हो जाता है ?

उत्तर : जो सर्व आकाश के मध्य भाग में स्थित है, चौदह राजू आयाम वाला है, दोनों दिशाओं के अर्थात् पूर्व और पश्चिम दिशा के मूल, अर्धभाग, त्रि-चतुर्भाग और चरमभाग में यथाक्रम से सात, एक, पाँच और एक राजू विस्तार वाला है, तथा सर्वत्र सात राजू मोटा है, वृद्धि और हानि के द्वारा जिसके दोनों प्रान्त-भाग स्थित हैं, चौदह राजू लम्बी एक राजू के वर्ग प्रमाण मुख वाली लोकनाली जिसके गर्भ में है, ऐसा यह पिंडरूप किया गया लोक सात राजू के घन प्रमाण अर्थात् ७×७×७ = ३४३ घन राजू है। **(ध. ४/१९-२०)**

२४. प्रश्न : लोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : अपने विस्तार की अपेक्षा अधोलोक नीचे सात रज्जु प्रमाण है, फिर क्रम-क्रम से प्रदेशों में हानि होते-होते मध्यम लोक के यहाँ एक रज्जु विस्तृत रह जाता है। इसके ऊपर प्रदेश वृद्धि होते-होते ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के समीप पाँच रज्जु प्रमाण है। तदनन्तर उसके आगे प्रदेशहानि होते-होते लोक के अन्त में एक रज्जु प्रमाण विस्तृत रह जाता है। तीनों लोकों की लम्बाई चौदह रज्जु प्रमाण है। **(हरि. पु. ४/९-१०)**

लोक का विस्तार ३४३ घन राजू प्रमाण है। दक्षिण और उत्तर भाग में लोक का आयाम जगश्रेणी (सात राजू) प्रमाण है। पूर्व और पश्चिम भाग में भूमि और मुख का व्यास सात, एक, पाँच और एक राजू है। **(ति.पं. १/१४९)**

नोट - अधोलोक का घनफल १९६ घन राजू एवं ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घन राजू प्रमाण है।

२५. प्रश्न : धर्म एवं अधर्म द्रव्य को न माना जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि धर्मास्तिकाय का सद्भाव नहीं माना जाय तो जीव और पुद्गल की गति के नियम का हेतु नहीं रहने से लोकाकाश का विभाग नहीं बन सकेगा तथा अधर्मास्तिकाय का सद्भाव नहीं माना

जाय तो स्थिति के नियम का हेतु नहीं रहने से जीव और पुद्गल की स्थिति का अभाव होता है जिससे लोकाकाश का विभाग नहीं बन सकता। **(श्लो. ५/११५)**

२६. प्रश्न : अखण्ड आकाश के लोकाकाश एवं अलोकाकाश, ये दो भेद किस कारण से होते हैं ?

उत्तर : धर्म एवं अधर्म द्रव्य के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से आकाश के दो विभाग होते हैं, अर्थात् धर्म, अधर्म द्रव्य जहाँ तक पाये जाते हैं वह असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश और इससे बाहर अनन्त अलोकाकाश है। **(सर्वा. ५४९)**

धर्म और अधर्म द्रव्य का अवस्थान बताते हैं-

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

धर्म-अधर्मयोः कृत्स्ने।

(धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म का अवगाहन (कृत्स्ने) समग्र लोकाकाश में है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : लोकाकाश में अवध्रियमाण जीवादि पदार्थों के अवस्थान भेद की सम्भावना होने से विशेष प्रतिपत्ति के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १३)** लोकाकाश में जितने द्रव्य बताये हैं उनके अवस्थान में भेद हो सकता है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य के अवस्थान विशेष का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५५०)**

२. प्रश्न : धर्म और अधर्म द्रव्य कहाँ रहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार घर के एक कोने में घट रहता है वैसे लोकाकाश के एकदेश में धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं हैं अपितु तिलों में तेल के समान सर्व लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं। इसलिए निरवशेष व्याप्ति का प्रदर्शन कराने के लिए सूत्र में कृत्स्न वचन का ग्रहण किया है। क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य निरन्तर सारे लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : धर्म, अधर्म आदि के प्रदेश परस्पर अविरोध रूप से एक स्थान में कैसे रहते हैं ?

उत्तर : अमूर्त्तिक होने से धर्म, अधर्म और आकाश के प्रदेशों में परस्पर विरोध नहीं है। जब मूर्त्तिमान् जल, भस्म, रेत आदि पदार्थ बिना विरोध के एक स्थान में रह सकते हैं तब इन अमूर्त्तिक द्रव्यों की एकत्र स्थिति में तो कहना ही क्या। अर्थात्- जैसे पानी से भरे हुए घट में चीनी-रेत-भस्म-लोहे के काँटे आदि प्रवेश कर जाते हैं वैसे ही परस्पर विरोध रहित जीवादि अनन्त पदार्थ लोकाकाश में रह जाते हैं। इसलिए अमूर्त्तिक होने से इन धर्मादि के प्रदेशों का परस्पर एक स्थान में रहने में कोई विरोध नहीं है।

इनका अनादि सम्बन्ध पारिणामिक स्वरूप होने से भी कोई विरोध नहीं है अर्थात् मूर्त्तिक पदार्थों

के समान धर्मादि पदार्थों का आकाशप्रदेशों के साथ आदि सम्बन्ध नहीं है, अपितु इनका पारिणामिक सम्बन्ध है अत: इनमें परस्पर प्रदेशों का अविरोध सिद्ध है। **(रा.वा. २-३)**

४. प्रश्न : यदि धर्म-अधर्म द्रव्यों को लोकाकाश के एक प्रदेश में ही मान लैं तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि लोकाकाश के एक प्रदेश में ठहर रहे धर्म-अधर्म द्रव्य पूरे लोकाकाश में स्थित पदार्थों की गति और स्थिति करा देंगे तो एक कोने में बैठकर अलोकाकाश में भी पदार्थों का गमन एवं स्थिति करा देंगे। ऐसी दशा में अलोकाकाश में भी जीवादि पदार्थों का अस्तित्व मानना पड़ेगा तथा अलोकाकाश में जीवादि द्रव्यों का अस्तित्व मानने पर लोक-अलोक का विभाग नहीं बन सकता है अत: धर्म-अधर्म द्रव्यों को लोकाकाश के एकदेश में स्वीकार नहीं करना चाहिए, सम्पूर्ण लोकाकाश में ही स्वीकार करना चाहिए। **(श्लो. ६/११५ के आधार से)**

५. प्रश्न : धर्म और अधर्म द्रव्य को सर्व लोक में व्याप्त क्यों कहा है ?

उत्तर : यद्यपि जीव-पुद्गलों में गति-स्थिति की आरम्भ शक्ति स्व की है तथापि धर्म-अधर्म द्रव्य सहायक होते हैं। क्योंकि धर्मद्रव्य के बिना जीव-पुद्गलों का गमन एवं अधर्म द्रव्य के बिना उनकी स्थिति नहीं होती और जीव एवं पुद्गल सारे लोकाकाश में हैं अत: उनके गमन और स्थिति में उपकारक कारण धर्म और अधर्म द्रव्य को भी सर्वगत होना चाहिए क्योंकि धर्मद्रव्य–अधर्मद्रव्य नहीं होंगे तो जीव और पुद्गलों की गति-स्थिति नहीं हो सकेगी, धर्म और अधर्म द्रव्य को सर्वव्यापी कहा है। **(रा.वा. ५/१७-१)**

पुद्गल के अवगाह विशेष को बताते हैं-

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

(पुद्गलानां) पुद्गलों का अवगाह (एकप्रदेशादिषु) एक प्रदेश आदि में (भाज्य:) विकल्प से होता है।

अर्थ - पुद्गलों का अवगाह एक प्रदेश को आदि लेकर भजनीय है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : धर्मादि द्रव्यों से विपरीत मूर्त्तिमान पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशों के अवगाहन विशेष का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. १४)**

२. प्रश्न : मूर्त्तिमान अनेक परमाणु एक प्रदेश में कैसे रहते हैं ?

उत्तर : प्रचय विशेष, सूक्ष्म परिणमन और आकाश की अवगाहन शक्ति के कारण एकत्र अवस्थान हो जाता है।

जैसे - एक कमरे में अविरोध रूप से अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है फिर भी उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता नष्ट नहीं होती है उसी प्रकार एक प्रदेश में अनन्त स्कन्ध अति सूक्ष्म परिणमन के कारण स्वभाव में साङ्कर्य हुए बिना ही रह सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। **अथवा** - द्रव्य का स्वभाव तर्कणा के योग्य नहीं है। क्योंकि द्रव्यों के स्वभाव प्रतिनियत होते हैं। उनके स्वभाव में ऐसा हो, ऐसा न हो, ऐसा तर्क नहीं चलता। जैसे- अग्नि का स्वभाव जलाने, पकाने आदि का है और तृण आदि का स्वभाव जलने, पकने आदि का है। इनके स्वभाव में कोई तर्क नहीं चलता, उसी प्रकार पुद्गलादि के मूर्त्तिमान द्रव्य होने पर भी अनेक स्कन्धों का एक आकाशप्रदेश में अवगाहन-स्वभाव के कारण अवस्थान होने में कोई विरोध नहीं है **अथवा-** आर्षप्रणीत आगम होने से सूक्ष्म निगोदिया जीवों के अवस्थान के समान एक प्रदेश में अनेक स्कन्ध रह जाते हैं। जैसे- सर्वज्ञ प्रणीत आगम के अनुसार एक निगोद शरीर में साधारण आहार, जीवन-मरण और श्वासोच्छ्वास होने से साधारण संज्ञा वाले अनन्त निगोदिया जीवों का अवस्थान बताया है, इसलिए साधारण यह अन्वर्थ संज्ञा आगम प्रमाण से जानी जाती है, उसी प्रकार आगम में यह भी बताया है कि यह सारा लोकाकाश सर्वत: अनन्तानन्त विविध सूक्ष्म और बादर पुद्गलकायों से ठसाठस भरा हुआ है। अत: आगम प्रमाण से इनका भी अवस्थान समझना चाहिए। **(रा.वा. ३-६)**

३. प्रश्न : आर्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा जिसके अर्थ का सार प्रकट किया गया है, गणधरों ने जिसके वचनों का अनुस्मरण करके जिसकी रचना की है अर्थात् अङ्गों में विभक्त किया है तथा आरातीय आचार्यों के शिष्य-प्रतिशिष्यों के प्रबन्ध से विच्छेद के बिना अविच्छिन्न रूप से जिसकी सन्तान-परम्परा चली आ रही है, उन निर्दोष ग्रन्थों को आर्ष कहते है। **(रा.वा. ६)**

४. प्रश्न : आकाश में पुद्गलों का अवगाह किस प्रकार होता है ?

उत्तर : एक परमाणु का एक ही आकाशप्रदेश में अवगाह है। दो पुद्गल परमाणु यदि परस्पर बद्ध हैं तो एक प्रदेश में, और यदि अबद्ध हैं तो दो प्रदेशों में उनका अवगाह होता है। उसी प्रकार बद्ध तीन परमाणु की और अबद्ध तीन परमाणु की अवस्था में एक, दो एवं तीन प्रदेशों में उनका अवगाह होता है, इसी प्रकार बन्ध विशेष के कारण संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्धों का लोकाकाश के एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशों में अवगाह जानना चाहिए। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि लोकाकाश के प्रदेशों में पुद्गलों के स्कन्ध रहते हैं ?

उत्तर : **'लोकाकाशेऽवगाह:'** इस सूत्र में दिये गये 'अवगाह' शब्द की यहाँ अनुवृत्ति कर लेने पर जाना जाता है कि लोकाकाश के प्रदेशों पर पुद्गलों के स्कन्ध रहते हैं। **(श्लो. ६/११६)**

जीवों का अवगाह बताते हैं-

असंख्येय-भागादिषु जीवानाम् ।।१५ ।।

(जीवानां) जीवों का अवगाह (असंख्येयभागादिषु) असंख्येय भाग आदि में है।

अर्थ - जीवों का अवगाह आकाश के असंख्येय, एक भाग आदि में है।

१. प्रश्न : सूत्र में 'असंख्येयभागादिषु' क्यों कहा है ?

उत्तर : अवयव से विग्रह समुदाय-समास के लिए है। जैसे- असंख्येय भागों में से एक भाग असंख्येय भाग है, असंख्येय भाग है आदि में जिसके उसको असंख्येय भागादि कहते हैं। उन असंख्येय भागों में अवस्थान होने से 'असंख्येयभागादिषु' ऐसा कहा है। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : किसके असंख्यातवें भाग में जीव रहता है ?

उत्तर : लोकाकाश का प्रकरण होने से लोकाकाश का सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। **'लोकाकाशेऽवगाहः'** इस सूत्र से लोक के असंख्यातवें भाग में जीव रहता है। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : जीवों का अवगाह कितने प्रदेशों में होता है ?

उत्तर : लोकाकाश असंख्येय प्रदेशी है तथा उसमें असंख्यात का भाग देने पर लोक का असंख्यातवाँ भाग आता है। उसमें एक जीव रहता है तथा दो, तीन आदि असंख्येय भागों में तथा सम्पूर्ण लोक में जीवों का अवगाहन है। नाना जीवों का अवगाह क्षेत्र तो सर्वलोक है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : सभी जीव लोक के असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग में रहते हैं तो उनकी अवगाहना में कोई विशेषताएँ नहीं होगी ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सभी जीव लोक के असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग में रहते हैं, असंख्यात के भी असंख्यात विकल्प होने से अजघन्योत्कृष्ट असंख्यात के भी असंख्यात विकल्प हैं अर्थात् एक हजार से लेकर निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे तक हजार के बहुत विकल्प हैं, उसी प्रकार असंख्यात के असंख्यात भेद होते हैं अत: जीवों की अवगाहना में भी भेद सिद्ध हो जाता है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है तो अनन्तानन्त जीव लोकाकाश में कैसे समा सकते हैं ?

उत्तर : ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें बादर जीव सप्रतिघात (दूसरे से रुकने वाले और दूसरों को रोकने वाले) शरीर से युक्त हैं। परन्तु सूक्ष्म जीवों का सूक्ष्म परिणमन होने के कारण सशरीरी होने पर भी न तो बादर जीवों के द्वारा उनका प्रतिघात होता है और न वे एक-दूसरे का व्याघात करते हैं अत: अप्रतिघात शरीर वाले हैं इसलिए जहाँ एक सूक्ष्म निगोदिया जीव रहता है वहीं अनन्तानन्त साधारण सूक्ष्म शरीर वाले जीव रहते हैं। बादर मनुष्य आदि के

शरीर में भी संस्वेदज आदि अनेक सम्मूर्च्छन जीव रहते हैं अत: प्रति शरीर में बहुत जीवों का अवस्थान होने से अवगाह (थोड़े प्रदेशों में बहुत से जीवों के रहने) में विरोध नहीं है। **(रा.वा. ५)**

६. प्रश्न : सशरीरी आत्मा अप्रतिघाती कैसे हो सकता है ?

उत्तर : सशरीरी आत्मा अप्रतिघाती है यह बात तो अनुभव सिद्ध है, क्योंकि बालाग्र कोटि मात्र छिद्र रहित, घनबहल लोह से निर्मित भित्तितल वाले वज्रमय कपाट से युक्त और बाहर चारों तरफ जिसमें वज्र का लेप किया गया है ऐसे मकान से मृतक देवदत्त का जीव मूर्त्तिमान् ज्ञानावरण आदि कर्म, तैजस-कार्मण शरीर का सम्बन्ध होने पर भी घर को बिना भेदे ही निकल जाता है और उस कमरे में कहीं भी छेद या दरार नहीं पड़ती, उसी प्रकार सूक्ष्म निगोदिया जीवों का शरीर भी अप्रतिघाती समझना चाहिए। **(रा.वा. ५)**

जीव के संकोच-विस्तार को कहते हैं-

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

(प्रदीपवत्) दीपक के समान (प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां) प्रदेशों का संकोच-विस्तार होने से (जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रह जाता है)।

अर्थ - दीपक के समान आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार होने के कारण जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रह जाता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि एक जीव के लोकाकाश तुल्य असंख्यात प्रदेश हैं तो उसका लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में अवस्थान कैसे हो सकता है ? उसे भी सारे लोक में व्याप्त होकर रहना चाहिए, ऐसी आशंका का समाधान करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १६)**

२. प्रश्न : अमूर्त्तिक जीव के प्रदेशों का संकोच-विस्तार किस कारण होता है ?

उत्तर : अमूर्त्त स्वभाव वाला भी आत्मा अनादि सम्बन्ध के प्रति एकत्व होने से कथञ्चित् मूर्त्तता को धारण किये हुए है और लोकाकाश के बराबर इसके प्रदेश हैं, फिर भी जब यह कार्मण शरीर के कारण ग्रहण किये गये सूक्ष्म शरीर में रहता है तब इसके प्रदेशों का शुष्क चर्म के समान संकोचन होकर प्रदेशों का संहार हो जाता है। जब कार्मण शरीर के कारण बादर शरीर में रहता है तब जल में तैल के समान प्रदेशों का फैलाव होकर विसर्पण हो जाता है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : जीव लोक के असंख्येयादि प्रदेशों में किस प्रकार रहता है ?

उत्तर : संकोच-विस्तार के कारण जीव दीपक के समान लोक के असंख्येय आदि भागों में रहता है। जैसे- निरावरण आकाश प्रदेश में रखे हुए दीपक का प्रकाश बहुप्रदेशव्यापी होने पर भी सिकोरा,

मानिका और कमरे आदि आवरण के कारण सिकोरा आदि परिमाण वाला हो जाता है अर्थात् निरावरण आकाश प्रदेश में बहुत दूर तक व्याप्त होकर रहने वाला भी दीपक का प्रकाश सकोरा आदि आवरण में संकुचित होकर जहाँ रखा गया है उसी प्रमाण होता है, उसी प्रकार संहार और विसर्प स्वभाव होने के कारण दीपक के समान आत्मा के भी असंख्येय एक भाग आदि में परिछिन्न वृत्ति जानना चाहिए। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : जीव में संकोच-विस्तार हो सकता है अत: वह पुद्गल के समान एक प्रदेश में क्यों नहीं रह सकता है ?

उत्तर : संसारी आत्मा का संकोच-विस्तार शरीर-प्राप्ति के अनुसार होता है और सबसे छोटा शरीर भी घनाङ्गुल के असंख्येय भाग प्रमाण है, एक प्रदेश का शरीर नहीं हो सकता है अत: आत्मा का पुद्गल के समान एक प्रदेश आदि में अवगाह नहीं हो सकता है। **(रा.वा. ८)**

५. प्रश्न : संसारी आत्मा के शरीर होता है अत: एक प्रदेश में अवगाहन नहीं है, परन्तु मुक्तात्मा के तो शरीर नहीं है अत: उसका तो एक प्रदेश में अवगाहन होना चाहिए?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि यद्यपि मुक्तात्माओं के वर्तमान शरीर नहीं है, तथापि जिस शरीर से आत्मा मुक्ति को प्राप्त होता है, उस शरीर से कुछ कम आकार में आत्मप्रदेशों की रचना रह जाती है न तो उस अन्तिम शरीर के कुछ कम आकार से घटती है और न बढ़ती है क्योंकि मुक्त अवस्था में संहार और विसर्पण का कारण कर्म नहीं है। अत: मुक्तात्माओं की पुद्गल की तरह एक आदि प्रदेशों में वृत्ति नहीं मानी जा सकती है। **(रा.वा. ९)**

६. प्रश्न : दीपक को ढकने वाले पात्र आदि के हटा लेने पर दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार देह का अभाव हो जाने से सिद्धों की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण होनी चाहिए ?

उत्तर : दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित होता है। किन्तु जीव का लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशों का लोकप्रमाण विस्तार स्वभाव नहीं है। जीव के प्रदेश पहले लोकप्रमाण फैले हों फिर आवरण हुआ, ऐसा भी नहीं है क्योंकि जीव के प्रदेश तो अनादि काल से सन्तान रूप चले आये शरीर के आवरण सहित ही रहते हैं। इस कारण जीव के प्रदेशों का संहार नहीं होता तथा विस्तार व संहार शरीर नामकर्म के आधीन ही है, जीव का स्वभाव नहीं है; इस कारण जीव के शरीर का अभाव होने पर प्रदेशों का विस्तार नहीं होता। इस विषय में उदाहरण देते हैं-

जैसे- किसी मनुष्य की मुट्ठी में चार हाथ लम्बा वस्त्र बँधा है। अब वह वस्त्र मुट्ठी खोल देने पर पुरुष के अभाव में संकोच तथा विस्तार नहीं करता, जैसा उस पुरुष ने छोड़ा, वैसा ही रहता है अथवा - गीली मिट्टी का बर्तन बनते समय तो संकोच और विस्तार को प्राप्त होता है किन्तु जब सूख जाता है तब

जल का अभाव होने से संकोच व विस्तार को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार मुक्त जीव में (प्रदेशों का) भी पुरुष स्थानभूत अथवा - जल के स्थानभूत शरीर के अभाव में संकोच-विस्तार नहीं होता। **(वृ.द्र.सं. १४ टी.)**

७. प्रश्न : आत्मा को सर्वव्यापी मान लें तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि आत्मा व्यापक है तो इसे सर्वत्र सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अत: जीव अपने शरीर के बराबर है। **(का.अ. १७७)**

यदि आत्मा सर्वगत होता तो उसके क्रिया का अभाव हो जाने के कारण पुण्य व पाप के ही कर्तृत्व का अभाव हो जाता और पुण्य व पाप के अभाव से संसार व मोक्ष इन दोनों की भी कोई योजना न बन सकती, क्योंकि पुण्य-पाप पूर्वक ही संसार होता है और उनके अभाव से मोक्ष। **(रा.वा. १/१०)**

८. प्रश्न : संहार-विसर्प स्वभाव वाला होने से आत्मा के भी दीपक के समान अनित्यत्व का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर : संहार-विसर्प स्वभाव वाला होने से आत्मा के भी अनित्यत्व की आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैनों को यह इष्ट है कि आत्मा कार्मण-शरीरजन्य प्रदेश-संहार और विसर्पण रूप पर्याय की दृष्टि से अनित्य है ही। **अथवा-**

यह हमको इष्ट भी है कि संकोच-विस्तार स्वभाव वाला भी दीपक रूपी द्रव्य सामान्य की दृष्टि से नित्य है। उसी प्रकार आत्मा भी सामान्य दृष्टि से नित्य है, अत: दीपक का दृष्टान्त बाधक नहीं है। **(रा.वा. ३)**

९. प्रश्न : प्रदीपादि के समान प्रदेशों का संकोच-विस्तार होने से संसारी आत्मा के घटादि के समान छेदन-भेदन आदि के द्वारा प्रदेशों के विशरण होने का प्रसंग आयेगा और आत्मप्रदेशों का विशरण होने से आत्मशून्यता का भी प्रसङ्ग आयेगा ?

उत्तर : यह शंका समुचित नहीं है क्योंकि बन्ध की दृष्टि से कार्माणादि शरीर के साथ आत्मा का एकत्व होने पर भी लक्षणभेद से भिन्नता को प्राप्त आत्मा अपने निजी अमूर्त्त स्वभाव को नहीं छोड़ता अत: घटादि के समान आत्मप्रदेशों का विशरण नहीं है। **अथवा -** अनेकान्त होने से आत्मप्रदेशों का विशरण नहीं होता। जो एकान्त से आत्मा को संकोच-विस्तार वाली और सावयवी मानते हैं, उनके प्रति यह उपालम्भ दे सकते हैं। **अथवा -**

अणु के समान आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार अकारणपूर्वक है। जिसके अवयव कारणों से उत्पन्न होते हैं उसके अवयवों का विशरण होता है क्योंकि 'अवयूयन्ते' विशरण होते हैं उन्हें अवयव कहते हैं, जैसे कि अनेक तन्तुओं के संघात से उत्पन्न हुए कपड़े के तन्तु आदि का विशरण होने पर विनाश हो जाता है परन्तु आत्मा के प्रदेश अन्य द्रव्य के संघात से उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि वे अकारण पूर्वक हैं

अर्थात् आत्मप्रदेशों का संघात बिना कारण है। जिस प्रकार अणु के प्रदेश अन्य द्रव्यसंघात पूर्वक नहीं हैं अत: वह अवयव विश्लेष से अनित्यता को प्राप्त नहीं होता है किन्तु अन्य परमाणु के संयोग से उनमें अनित्यता आती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेश अन्य द्रव्यसंघात पूर्वक नहीं हैं अत: प्रदेशवान् होने से सावयव होकर भी आत्मा अवयवविश्लेष से अनित्यता को प्राप्त नहीं होता, केवल गति आदि पर्याय की दृष्टि से ही अनित्य हो सकता है। **(रा.वा. ४-६)**

१०. प्रश्न : आत्मा में संकोच-विस्तार किस अपेक्षा से है ?

उत्तर : अनादि पारिणामिक चैतन्य जीवद्रव्य उपयोग आदि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से न तो प्रदेशों का संहार होता है और न विस्तार ही होता है और न द्रव्य दृष्टि से आत्मा में सावयवपना ही है। हाँ, प्रतिनियत सूक्ष्म-बादर शरीर को उत्पन्न करने वाले निर्माण नामकर्म के उदय रूप पर्याय की विवक्षा से कथञ्चित् आत्मा संकोच-विस्तार वाला भी है और इसी प्रकार अनादि कर्मबन्ध रूपी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कथञ्चित् आत्मा सावयवी भी है। **(रा.वा. ५)**

११. प्रश्न : आकाश के समान अमूर्त्त स्वभावी आत्मा के प्रदेशों में संकोच-विस्तार कैसे सम्भव है ?

उत्तर : ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अनुमान और आगम प्रमाण से आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार सिद्ध है। **(श्लो. ६/१२३)**

१२. प्रश्न : आत्मा का संकोच-विस्तार किस अनुमान प्रमाण से सिद्ध है ?

उत्तर : बालक के छोटे शरीर में व्याप्त आत्मा कुछ वर्षों पश्चात् कुमार अवस्था में बड़े शरीर में व्याप्त हुआ प्रतीत होता है, स्थूल शरीर में व्याप्त आत्मा का रुग्ण या वृद्ध अवस्था में कृश शरीर हो जाने पर व्यापक रूप से संवेदन होता हुआ प्रतीत होता है। तथा शिशु अवस्था का और कुमार अवस्था का जीव भिन्न-भिन्न भी नहीं है क्योंकि जो मैं बालक था वही मैं अब युवा हूँ; मेरा मोटा शरीर अब कृश हो गया है ऐसा एकत्व का ज्ञान कराने वाला प्रत्यभिज्ञान भी हो रहा है, वह भ्रांत भी नहीं है क्योंकि बाधक प्रमाणों का अभाव है। अत: अनुमान प्रमाण से आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार सिद्ध है। **(श्लो. ६/१२३)**

१३. प्रश्न : आत्मा का संकोच-विस्तार किस आगम से सिद्ध है ?

उत्तर : सर्वज्ञ भगवान से प्रतिपादित सिद्धान्त में संसारी जीवों के प्रदेशों में संकोच-विस्तार का कथन किया गया है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाने गये अर्थ का प्रतिपादक आगम अप्रामाणिक नहीं हो सकता है क्योंकि बाधक प्रमाणों के अभाव में उसका अच्छा निर्णय हो चुका है। अत: आगम प्रमाण से भी आत्म-प्रदेशों का संकोच-विस्तार सिद्ध है। **(श्लो. ६/१२३)**

१४. प्रश्न : देश, संस्थान आदि की अपेक्षा परस्पर अभेद होने से धर्मादि द्रव्यों को एक ही मानना चाहिए ?

उत्तर : धर्मादि द्रव्यों के एकत्व के कथन से उनमें भिन्नता सिद्ध है अत: वे एक नहीं हैं। जिस कारण से धर्मादि द्रव्यों के देश संस्थानादि में अभिन्नता होने से एकत्व (एकपने) का प्रश्न किया है उसी कारण उनकी भिन्नता स्वयंसिद्ध है। जब वे भिन्न-भिन्न हैं तभी तो उनमें अमुक-अमुक दृष्टियों से एकत्व की सम्भावना की गई है, नानात्व (अनेकपने) के नहीं होने पर एकत्व की सिद्धि भी नहीं होती, क्योंकि एक के अविशेषता (एकत्व) नहीं होती अर्थात् एक होने पर संस्थानादि के एकत्व का प्रश्न भी नहीं उठता। अथवा- जैसे-रूप-रसादि का देश-काल आदि एकत्व होने पर भी नानात्व है, वैसे ही धर्मादि के भी देश-कालादि की अपेक्षा एकत्व होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा नानात्व है। **(रा.वा. ११)**

१५. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश होने के कारण संकर होने से अभेद प्राप्त होगा ?

उत्तर : नहीं ! क्योंकि परस्पर अत्यन्त संश्लेष सम्बन्ध हो जाने पर भी वे अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते इसलिए उनमें अभेद नहीं होता। कहा भी है-

छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, तथापि सदा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। **(पं.का. ७)**

द्रव्यकृत उपकार

धर्म और अधर्म द्रव्य का लक्षण कहते हैं-

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार: ॥१७॥

गति-स्थिति-उपग्रहौ धर्म-अधर्मयो:- उपकार: ॥

(गतिस्थित्युपग्रहौ) गति और स्थिति रूप सहायता करना (धर्माधर्मयो:) धर्म और अधर्म द्रव्य का (उपकार:) उपकार है।

अर्थ - गति और स्थिति क्रमश: धर्म और अधर्म कृत उपकार है।

गति - द्रव्य के देशान्तर की प्राप्ति का हेतु परिणाम गति है।

स्थिति - द्रव्य के स्वस्थान में स्थिति का हेतु स्थिति है।

उपग्रह - अनुग्रह करना उपग्रह है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिस प्रकार रूप-रसादि के तुल्यदेशत्व आदि के होने पर भी अपने-अपने चाक्षुषत्व आदि

विशिष्ट लक्षण से युक्त होने से उन रूप आदि में नानात्व है, परन्तु उसी प्रकार धर्मादि के किंचित् लक्षणभेद नहीं कहा है इसलिए इनमें नानात्व नहीं है। धर्मादि के भिन्न लक्षण क्या हैं ? ऐसा पूछने पर यह उत्तर सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. १७)**

सब द्रव्य परस्पर प्रविष्ट हैं, एक-दूसरे को अवकाश देते हैं और सदा मिलकर रह रहे हैं तो भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, यदि ऐसा है तो धर्मादिक द्रव्यों का स्वभावभेद कहना चाहिए इसलिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५५७-५८)**

२. प्रश्न : गति एवं स्थिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य के देशान्तर की प्राप्ति का हेतु परिणाम गति है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से परिणमन करने वाले द्रव्यों को देशान्तर में प्राप्त कराने वाली पर्याय गति कहलाती है। **(रा.वा. १)**

एक स्थान से दूसरे स्थान के प्राप्त कराने में जो कारण है उसे गति कहते हैं। **(सर्वा. ५५९)**

गति से विपरीत स्थिति है। द्रव्य को स्वस्थान से अप्रच्युति का कारण गति की निर्वृत्ति रूप स्थिति को जानना चाहिए। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : जीव-पुद्गल स्वयं गति करने में समर्थ हैं अत: धर्म द्रव्य से क्या प्रयोजन ?

उत्तर : जिस प्रकार सिद्ध भगवान अमूर्त्त होने पर भी निष्क्रिय और अप्रेरक होने पर भी 'मैं सिद्ध समान अनन्त ज्ञानादि स्वरूप हूँ' इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्ध-भक्ति-युक्त ऐसे जीवों को सिद्धगति के सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार निष्क्रिय, अमूर्त्त और अप्रेरक होने पर भी धर्मद्रव्य अपने उपादान कारण से गति करते हुए जीव और पुद्गलों को गति में सहकारी कारण है- जैसे मछली आदि को जल आदि के गमन में सहायक होने के लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त की भाँति; ऐसा अभिप्राय है। **(वृ. द्र. सं. १७ टी.)**

४. प्रश्न : जीव-पुद्गल स्वयं स्थिति में समर्थ हैं अत: अधर्म द्रव्य से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : स्वसंवेदन से उत्पन्न सुखामृत रूप परम स्वास्थ्य यद्यपि निश्चय नय से स्वरूप में स्थिति का कारण है तथा ''मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, मैं अनन्त-ज्ञानादि गुणों का धारक हूँ, मैं देहप्रमाण, नित्य, असंख्य प्रदेशी और अमूर्त्त हूँ।'' इस गाथा में कथित सिद्ध भक्ति रूप से पहले सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जिस प्रकार भव्यों को सहकारी कारण होते हैं उसी प्रकार अपने उपादानकारण से स्थिति करते हुए जीव और पुद्गलों को अधर्मद्रव्य स्थिति का सहकारी कारण है, लोकव्यवहार से छाया अथवा पृथ्वी की भाँति **(बृ.द्र.सं. टी. १८)**। जैसे पृथिवी स्वयं पहले से ठहरी हुई दूसरों को न ठहराती हुई घोड़े आदि को ठहरने में बाहरी कारण है, वैसे स्वयं पहले से ठहरा हुआ अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को न ठहराता हुआ उनके ठहरने में सहकारी कारण होता है। **(पं. का. ता. ८६)**

५. प्रश्न : उपग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपग्रह का अर्थ अनुग्रह है। द्रव्यों की उपादान शक्ति के आविर्भाव में जो कारण बनता है, सहायक बनता है उसको उपग्रह-अनुग्रह कहते हैं। **(रा.वा. ३)** उपग्रह शब्द उपकार का पर्यायवाची है जिसकी व्युत्पत्ति उपग्रह्यते है। **(सर्वा. ५५९)**

६. प्रश्न : धर्म-अधर्म द्रव्य उदासीन निमित्त हैं या प्रेरक ?

उत्तर : धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के हेतु होने पर भी अत्यन्त उदासीन हैं। जिस प्रकार गति-परिणत पवन ध्वजाओं के गतिपरिणाम का हेतुकर्त्ता दिखाई देता है, उस प्रकार धर्मद्रव्य नहीं है। वह वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपरिणाम को प्राप्त नहीं होता, तो उसे सहकारी की भाँति पर के गतिपरिणाम का हेतुकर्तृत्व कहाँ से होगा ? किन्तु जिस प्रकार पानी मछलियों को (गमन में) मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गति का उदासीन ही प्रसारक है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गति का उदासीन ही प्रसारक (निमित्त) है।

जिस प्रकार गतिपूर्वक स्थिति परिणत अश्वसवार के स्थिति परिणाम का हेतुकर्त्ता दिखाई देता है उस प्रकार अधर्म द्रव्य नहीं है। वह वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपूर्वक स्थिति परिणाम को ही प्राप्त नहीं होता, तो फिर उसे सहस्थायी की भाँति पर के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्तृत्व कहाँ से होगा, किन्तु जिस प्रकार पृथ्वी अश्व को मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गतिपूर्वक स्थिति की उदासीन ही प्रसारक है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को मात्र आश्रय रूप कारण की भाँति गतिपूर्वक स्थिति का उदासीन ही प्रसारक है। **(पं.का.ता. ८८)**

७. प्रश्न : सूत्र में 'उपग्रहौ' द्विवचन का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'उपग्रहौ' यह द्विवचन यथासंख्य की प्रतिपत्ति के लिए है। यदि उपग्रह एक वचन होता तो जैसे एक ही पृथ्वी, अश्व आदि की गति और स्थिति इन दोनों में उपकारक होती है, उसी प्रकार एक धर्मद्रव्य ही गति और स्थिति इन दोनों कार्यों को करता है, इसी प्रकार अधर्मद्रव्य भी दोनों कार्यों को करता है, इस प्रकार का अर्थ निकल जाता है। इसलिए यथाक्रम के लिए द्विवचन का ग्रहण किया है। **(रा.वा.१४)**

८. प्रश्न : यदि ऐसा है तो 'उपग्रहौ' और 'धर्माधर्मयो:' दोनों में से एक व्यर्थ होगा ?

उत्तर : यदि यथाक्रम का ज्ञान कराने के लिए 'उपग्रहौ' यह द्विवचन है तो उपग्रहौ और 'धर्माधर्मयो' दोनों में से एक व्यर्थ होगा, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि एक ही कार्य अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ देखा जाता है, जैसे- एक घट की उत्पत्ति में चक्र, चीवर, कुलाल आदि अनेक सहायक कारण देखे जाते हैं, वैसे जीव और पुद्गलों की गति तथा स्थिति में अनेक कारण देखे जाते हैं अत: इस अनिष्ट प्रसंग का निवारण करने के लिए 'उपग्रहौ' ऐसा द्विवचन दिया गया है। **(रा.वा. १४)**

९. प्रश्न : उपकार और उपग्रह दोनों एकार्थवाची हैं अत: सूत्र में 'उपग्रह' वचन व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यथासंख्य की निवृत्ति के लिए सूत्र में 'उपग्रह' वचन दिया गया है अत: उपग्रह शब्द निरर्थक नहीं है। उपग्रह न कहकर 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार:' ऐसा कहने पर आत्मा के गति परिणाम में निमित्त होना धर्म द्रव्य का उपकार है तथा पुद्गलों की स्थिति में निमित्त होना अधर्म द्रव्य का उपकार है दूसरों का नहीं अर्थात् पुद्गल के गमन में धर्म द्रव्य उपकारक नहीं और जीव की स्थिति में अधर्म द्रव्य उपकारक नहीं, ऐसी अनिष्ट यथाक्रम प्रतीति की निवृत्ति के लिए तथा स्पष्ट प्रतीति के लिए 'उपग्रह' शब्द दिया है। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि व्याख्यान (प्रकरण) से इष्ट का संप्रत्यय हो जावेगा। अत: 'उपग्रह' वचन व्यर्थ है क्योंकि व्याख्यान से विशेष प्रतिपत्ति करने से अर्थ में गौरव (क्लिष्टता) आता है, ज्ञान को विशेष परिश्रम करना पड़ता है इसलिए सरलता से अर्थ का बोध कराने के लिए 'उपग्रह' वचन कहा है। **(रा.वा. १८-१९)**

१०. प्रश्न : यदि इन्हें प्रेरक (मुख्य) निमित्त माना जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर : वास्तव में धर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को कभी गतिहेतु नहीं होता, अधर्म द्रव्य कभी स्थिति हेतु नहीं होता, क्योंकि वे पर को गति-स्थिति के यदि मुख्य हेतु हों तो जिन्हें गति हो उन्हें गति ही रहना चाहिए, स्थिति नहीं होना चाहिए, और जिन्हें स्थिति हो उन्हें स्थिति ही रहना चाहिए, गति नहीं होना चाहिए। किन्तु एक को ही गति और स्थिति देखने में आती है, इसलिए अनुमान हो सकता है कि वे गति स्थिति के मुख्य हेतु नहीं हैं, किन्तु व्यवहार नय स्थापित उदासीन हेतु हैं। **(पं. का. स. ८९)**

११. प्रश्न : आकाश को ही गति एवं स्थिति में कारण मानना चाहिए क्योंकि उसमें सर्वगतत्व एवं सुषिरता गुण है ?

उत्तर : आकाश को गति और स्थिति का कारण मानना योग्य नहीं है क्योंकि आकाश धर्म-अधर्म, काल, आत्मा और पुद्गल द्रव्यों का आधार है। जैसे- नगर के अन्तर्गत घरों का आधार नगर है, वैसे ही धर्म-अधर्म काल, आत्मा और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों का आधार आकाश है। जब आकाश का एक 'अवगाहन' उपकार निश्चित है तब उस पर अन्य द्रव्य के धर्म का आरोप करना उपयुक्त नहीं है। यदि अन्य का धर्म किसी अन्य द्रव्य में आरोपित किया जायेगा तो जल की द्रवता और अग्नि की उष्णता पृथ्वी के भी माननी चाहिए।

अथवा - आकाश का अस्तित्व होने पर भी जैसे मछली का गमन पृथ्वी पर नहीं होता, जल के उपग्रह से ही होता है उसी प्रकार गति और स्थिति परिणत जीव-पुद्गलों की गति और स्थिति का कारण धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य है, आकाश नहीं। **(रा.वा. २०-२१)**

१२. प्रश्न : आकाश को गति-स्थिति का कारण मान लें तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि आकाश के निमित्त से जीव-पुद्गलों का गमन एवं स्थान होगा तो अलोकाकाश में

भी जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति होनी चाहिए। यदि अलोकाकाश में जीव और पुद्गलों का गमन एवं स्थिति होगी तो लोक और अलोक के विभाग का अभाव हो जायेगा। लोक से भिन्न अलोक तो होना ही चाहिए, क्योंकि 'न ब्राह्मण अब्राह्मण' की तरह नञ्युक्त पद सार्थक देखा जाता है। **(रा.वा. २१)** जिस प्रकार आकाश अवगाह वालों को अवगाह हेतु है उसी प्रकार गति और स्थिति का हेतु भी हो, तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्ध भगवन्त बहिरंग-अन्तरंग साधन रूप सामग्री होने पर भी क्यों आकाश में स्थिर हों ? जिस कारण सिद्ध भगवन्त गमन करके लोक के ऊपर स्थित होते हैं, उससे गति-स्थिति हेतुत्व आकाश में नहीं है ऐसा निश्चय करना, लोक और अलोक का विभाग करने वाले धर्म तथा अधर्म को ही गति तथा स्थिति का हेतु मानना। यदि आकाश को ही गति-स्थिति का निमित्त माना जाए तो आकाश का सद्भाव सर्वत्र होने के कारण जीव-पुद्गलों की गति-स्थिति की कोई सीमा न रहने से प्रतिक्षण अलोक की हानि होगी और पहले-पहले व्यवस्थापित हुआ लोक का अन्त उत्तरोत्तर वृद्धि पाने से लोक का अन्त ही टूट जाएगा। इसलिए आकाश में गति-स्थिति का हेतु नहीं है। **(पं.का. ९२-९४)**

१३. प्रश्न : धर्म और अधर्म द्रव्य का गधे के सींग के समान अभाव है क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं होती है ?

उत्तर : ऐसा कहने वालों के स्वतीर्थंकर आदि के अभाव का प्रसंग आयेगा। जो उपलब्ध नहीं है वह नहीं है, ऐसी हमारी प्रतिज्ञा नहीं है क्योंकि जो ऐसा मानते हैं कि जो उपलब्ध नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है, जैसे- गधे के सींग अनुपलब्ध हैं वे असत् हैं। इस प्रकार मानने से अपने तीर्थंकर, पुण्य-पाप, परलोकादि के नाश का प्रसंग आयेगा। परन्तु यह किसी को इष्ट नहीं है अत: अनुपलब्ध हेतु व्यभिचारी है। **अथवा -** अनुपलब्धि असिद्ध भी है, क्योंकि भगवान् अरिहंत सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने से, उन सर्वज्ञ भगवान के द्वारा प्रणीत आगम से, आगम अनुसार कार्य की उपलब्धि से तथा अनुमान ज्ञान के द्वारा गति और स्थिति में कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्य की उपलब्धि होती है अत: अनुपलब्ध होने से धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं है, यह हेतु जैनों के प्रति असिद्ध है और असिद्ध हेतु साध्य अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता है। **(रा.वा. २८-२९)**

१४. प्रश्न : अभवात्मक धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : कार्य के अनेक उपकरणों से साध्यत्व होने से धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि होती है, जैसे- घटकार्य पर्याय प्राप्ति प्रति गृहीत आभ्यन्तर सामर्थ्य वाला भी मिट्टी का पिण्ड बाह्य कुम्भकार, दण्ड, चक्र, चीवर, पानी, काल, आकाश आदि अनेक कारणों से अपेक्षित होकर ही घट पर्याय से उत्पन्न होता है। बाह्य कुम्भकार आदि साधनों के सन्निधान के बिना अकेले मृत्पिंड से घड़ा उत्पन्न हो नहीं सकता, स्वयं उपादान के सामर्थ्य से बाह्य निमित्त कारणों के बिना मिट्टी घट रूप होने में समर्थ नहीं है, उसीप्रकार गति-स्थिति पर्याय की प्राप्ति के प्रति सन्मुख पक्षी आदि द्रव्य बाह्य अनेक कारणों के सन्निधान के बिना गति-स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् पक्षी आदि की गति और स्थिति भी अनेक बाह्य कारणों की अपेक्षा

करती है। इनमें सबकी गति और स्थिति के लिए साधारण कारण धर्म और अधर्म द्रव्य होते हैं अत: धर्म और अधर्म द्रव्य की प्रसिद्धि है। इसलिए अनुमान से विरोध नहीं है। **(रा.वा. ३१) अथवा -** तुम्हारे जीवित-मरणादि के समान धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि है, अतीन्द्रिय होने से मनुष्य मात्र के अप्रत्यक्ष और अतिशयज्ञानी सर्वज्ञ के द्वारा उपलम्भमान स्वरूप वाले तुम्हारे जीवित-मरण, सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ आदि का जैसे अस्तित्व सिद्ध है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रमाण के गोचरातीत और परम ऋषि सर्वज्ञ ज्ञान के द्वारा दृष्ट धर्म-अधर्म द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार करने में क्या विरोध है। **(रा.वा. ३५)**

१५. प्रश्न : रूपादि रहित अमूर्त्तिक धर्म-अधर्म द्रव्य में गति हेतुत्व और स्थिति हेतुत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर : अमूर्त्तत्व होने से धर्म और अधर्म द्रव्य में गति हेतुत्व और स्थिति हेतुत्व का अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमूर्त्तिक के कार्यहेतुत्व नहीं होने का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, जिससे अमूर्त्त होने से धर्म और अधर्म द्रव्य के गति-स्थिति हेतुत्व का निराकरण किया जाय। आकाश आदि अमूर्त्त पदार्थ कार्य करते देखे जाते हैं, जैसे- अमूर्त्त होकर भी आकाश सभी द्रव्यों को अवगाहन देने रूप कार्य को उत्पन्न करता है। अमूर्त्त भी प्रधान पुरुषार्थ प्रवृत्ति से महान्-अहंकार आदि विकार रूप से परिणत होकर पुरुष का उपकार करता है और अमूर्त्त भी विज्ञान रूप की उत्पत्ति का कारण होता है, 'नाम रूप विज्ञान निमित्तकहै। किन्हीं का मत है कि अपूर्व नामक धर्मक्रिया से अभिव्यक्त होकर अमूर्त्त होते हुए भी पुरुष का उपकारी है अर्थात् पुरुष के उपभोग-साधनों में निमित्त होता ही है, उसी प्रकार अमूर्त्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में उपकारक समझना चाहिए। **(रा.वा. ४०-४१)**

१६. प्रश्न : अदृष्ट (पुण्य-पाप) से जीव-पुद्गलों की गति-स्थिति हो जायेगी, धर्म-अधर्म द्रव्य मानने से कोई प्रयोजन नहीं है ?

उत्तर : अचेतन होने से पुद्गल द्रव्यों में अदृष्ट (पुण्य-पाप) नहीं पाया जाता है, अत: पुण्य-पाप रूप कारणों का अभाव होने से उन पुद्गलों में पुण्य-पापकृत गति-स्थिति भी नहीं हो सकेगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि जो घटादि पुद्गल जिस आत्मा का उपकार करेंगे, उस आत्मा के अदृष्ट से पुद्गलों में गति और स्थिति हो जाएगी, क्योंकि अन्य द्रव्य का धर्म अन्य द्रव्य में क्रिया नहीं करा सकता है। जो अपने आश्रय में क्रिया का आरम्भ नहीं कर सकता वह अन्यत्र क्रिया का हेतु नहीं हो सकता, इसका विशेष वर्णन पूर्व (इसी सूत्र के प्रश्न आठवें) में किया जा चुका है। **अथवा -**

पुण्य-पाप के अभाव में भी गति और स्थिति देखी जाती है। पुण्य-पाप कर्म से रहित सिद्धों के भी गति और स्थिति देखी जाती है, मानी गयी है। कर्म रहित जीव ऊर्ध्वगमन करके एक समय में लोकाकाश तक जाकर स्थिर हो जाते हैं। अत: गति और स्थिति पुण्य-पाप हेतुक नहीं हैं। **(रा.वा. ३७-३९)**

१७. प्रश्न : धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य पृथ्वी, जल आदि भी करने में समर्थ है अत: धर्म-अधर्म द्रव्य का मानना ठीक नहीं है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के साधारण कारण हैं, यह विशेष रूप से कहा है तथा एक कार्य अनेक कारणों से होता है, इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्य का मानना ठीक है। **(सर्वा. ५५९)**

आकाश का उपकार बताते हैं-

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

आकाशस्य-अवगाहः।

(अवगाहः) अवगाह देना (आकाशस्य) आकाश द्रव्य का उपकार है।

अर्थ - सब द्रव्यों को अवगाह देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति के उपकार से जाना जाता है तो धर्म और अधर्म द्रव्य के बाद उद्दिष्ट (कथित) अतीन्द्रिय आकाश के अधिगम में क्या उपकार है ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १८)**

२. प्रश्न : सभी द्रव्य अपने-अपने में रहते हैं अतः आकाश द्रव्यों को अवगाह देता है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर : सहज शुद्ध सुखामृतरस के आस्वाद वाले परम समरसी भाव से भरितावस्थ, केवलज्ञानादि अनन्तगुण के आधार रूप, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात निज शुद्ध प्रदेशों में यद्यपि निश्चयनय से सिद्ध भगवन्त रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से 'सिद्ध भगवान मोक्षशिला पर रहते हैं' ऐसा कहा जाता है। ऐसा मोक्ष जिस प्रदेश में परमध्यान द्वारा आत्मा स्थिर होकर कर्मरहित होता है, वहाँ ही होता है, अन्यत्र नहीं; ध्यान करने के स्थान में कर्मपुद्गलों को छोड़कर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से गति करके मुक्तात्मायें लोकाग्र में स्थिर होती हैं अतः उपचार से लोक के अग्रभाग को भी मोक्ष कहते हैं। तीर्थ स्वरूप पुरुष के द्वारा सेवित भूमि-जलादि रूप स्थान भी उपचार से तीर्थ हैं, इस प्रकार सरलता से बोध होने के लिए कहा जाता है। उसी प्रकार सर्व द्रव्य यद्यपि निश्चयनय से अपने प्रदेशों में रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से लोकाकाश में रहते है। **(वृ. द्र.सं. टी. १९)**

३. प्रश्न : अनादि सम्बन्ध वाले आकाश द्रव्य और धर्म-अधर्म द्रव्य का सम्बन्ध युतसिद्ध है या अयुतसिद्ध ?

उत्तर : आकाश द्रव्य और धर्म-अधर्म द्रव्य का सम्बन्ध कथंचित् युतसिद्ध है और कथंचित् अयुतसिद्ध है। जैसे- पर्यायार्थिक नय की गौणता एवं द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता होने पर व्यय-उत्पाद नहीं होता है अतः इनका स्यात् अयुतसिद्ध और अनादि सम्बन्ध है और पर्यायार्थिक नय की मुख्यता और द्रव्यार्थिक नय की गौणता करके वर्णन किया जाता है तो धर्म-अधर्म द्रव्य में उत्पाद-व्यय होता है अतः

इनका अनादि और अयुतसिद्ध सम्बन्ध नहीं है अर्थात् सादि और युतसिद्ध है। इसी प्रकार सर्व पदार्थों में लगा लेना चाहिए। **(रा.वा. ५)**

४. प्रश्न : 'जिस प्रकार जल में अवगाहन करता है', इसमें जल और हंस का अनादि-सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही आकाश में धर्म और अधर्म रहते हैं, अत: धर्म और अधर्म का अनादि सम्बन्ध नहीं है ?

उत्तर : धर्म और अधर्म आकाश में रहते हैं, यह औपचारिक प्रयोग है। 'यह हंस जल में अवगाहन करता है' इसकी तरह मुख्य प्रयोग नहीं है क्योंकि सारे लोकाकाश में धर्म और अधर्म की व्याप्ति का सद्भाव होने से इनमें क्रिया का अभाव है। मुख्य आधार-आधेय भाव में ही पौर्वापर्य होता है और यह पहले है, इस प्रकार सादित्व होता है। जैसे- गमन क्रिया के अभाव में भी सर्वत्र व्याप्ति होने के कारण आकाश को सर्वगत कहते हैं, उसी प्रकार मुख्य अवगाह क्रिया का अभाव होने पर भी लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्ति होने के कारण धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकाश में अवगाह है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। **(रा.वा.२)**

५. प्रश्न : आकाश द्रव्य में जीवादि पदार्थों को अवकाश देने की शक्ति है तो मूर्त्तिक पदार्थों का परस्पर प्रतिघात नहीं होना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि आकाश में अवकाशदान की शक्ति होने पर भी स्थूल पदार्थ परस्पर टकरा जाते हैं, एक-दूसरे का प्रतिघात करते हैं तथापि वज्र, पत्थर, दीवाल आदि स्थूल पदार्थों में प्रतिघात होने से आकाश के अवकाशदान में कोई कमी नहीं आती है क्योंकि स्थूल पदार्थ परस्पर प्रतिघात करते हैं, सूक्ष्म नहीं, परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करने की शक्ति का योग होने से सूक्ष्म पदार्थों का प्रतिघात नहीं होता। **(रा.वा. ७)** यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वज्र और लोढा आदि स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए उनकाआपस में व्याघात होता है, अत: आकाश की अवकाश देने रूप सामर्थ्य नष्ट नहीं होती। यहाँ जो व्याघात दिखाई देता है वह अवगाहन करने वाले पदार्थों का ही है। तात्पर्य यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए वे परस्पर अवकाश नहीं देते, यह कुछ आकाश का दोष नहीं है। हाँ जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं। **(सर्वा. ५६१)**

६. प्रश्न : यदि सूक्ष्म पुद्गल परस्पर अवकाश देते हैं तो यह आकाश का असाधारण लक्षण कैसे हो सकता है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आकाश द्रव्य सब पदार्थों को अवकाश देने में साधारण कारण है, यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है। **(सर्वा. ५६१)**

सूक्ष्म पदार्थों के परस्पर अवकाश देने पर भी आकाश के अवगाहदान लक्षण में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि सर्व-पदार्थों को अवगाह देने रूप विशेष लक्षण आकाश में ही घटित होता है। जैसे भूमि

आदि में अश्व आदि की गति-स्थिति का उपकार दृष्टि-गोचर होने पर भी सर्व जीव और पुद्गलों की गति-स्थिति रूप उपकार रूप असाधारण लक्षण से धर्म और अधर्म द्रव्य का अनुमान लगाया जाता है; वैसे ही सर्व द्रव्यों के अवगाहदान रूप विशेष लक्षण से आकाश द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है। **(रा.वा.८)**

७. प्रश्न : अलोकाकाश में अवगाही पदार्थों का अभाव होने से आकाश नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ आकाश के लक्षण का अभाव है ?

उत्तर : यद्यपि अलोकाकाश में अवगाही पदार्थ नहीं हैं, तथापि आकाश के 'अवगाहदान' स्वभाव का नाश नहीं होता, आकाश का स्वभाव अलोकाकाश में मौजूद है। जैसे- जल में अवगाहन करने वाले हंस आदि के अभाव में भी अवगाह देने रूप जल का स्वभाव नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार अवगाही पदार्थ के अभाव में भी अलोकाकाश सामर्थ्य की हानि नहीं होती। **(रा.वा. ९)**

८. प्रश्न : आकाश नाम की कोई वस्तु नहीं है, केवल आवरण का अभाव मात्र है ?

उत्तर : आकाश आवरण का अभाव मात्र नहीं है, अपितु वस्तुभूत है क्योंकि नाम के समान उसकी सिद्धि है, जैसे- नाम और वेदना आदि अमूर्त्त होने से अनावरण रूप होकर भी 'सत्' है ऐसा जाना जाता है, उसी प्रकार अमूर्त्त होने से अनावरण रूप होकर भी आकाश वस्तुभूत है, ऐसा जाना जाता है। **(रा.वा. ११)**

९. प्रश्न : लोक में कुण्ड और बेर आदि पृथक्सिद्ध पदार्थों में ही आधार-आधेय भाव देखा जाता है अत: इनमें आधार-आधेय भाव नहीं है ?

उत्तर : अयुतसिद्ध (अपृथक्) पदार्थों में भी आधार-आधेय भाव देखा जाता है। जैसे- युतसिद्ध के अभाव में भी 'हाथ में रेखा' यह आधार-आधेय भाव है। उसी प्रकार 'लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य है' इस प्रकार आधार-आधेय भाव की सिद्धि होती है। **अथवा -**

जैसे 'ईश्वर में ऐश्वर्य है यहाँ अयुतसिद्ध में आधार-आधेय भाव बनता है' वैसे ही लोकाकाश में धर्म-अधर्म द्रव्य हैं, यह व्यवहार होना उपयुक्त है। **(रा.वा. ४)**

पुद्गल द्रव्यकृत उपकार कहते हैं-

शरीरवाङ्मन: प्राणापाना: पुद्गलानाम् ॥१९॥

शरीर-वाङ्-मन:-प्राणापाना: पुद्गलानाम्।

(शरीरवाङ्मन:) शरीर, वचन, मन (प्राणापाना:) श्वासोच्छ्वास (पुद्गलानाम्) पुद्गलों कृत उपकार है।

अर्थ - शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास पुद्गलकृत उपकार हैं।

१. प्रश्न : पुद्गल द्रव्य जीव का क्या उपकार करता है ?

उत्तर : पुद्गल द्रव्य जीव का बहुत प्रकार से उपकार करता है- शरीर बनाता है, इन्द्रियाँ बनाता है, वचन बनाता है और श्वासोच्छ्वास बनाता है। जब तक जीव संसार में रहता है तब तक पुद्गल द्रव्य इस प्रकार के और भी अनेक उपकार करता है। मोह परिणाम को करता है तथा अज्ञानमय परिणाम को भी करता है। पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है जिससे जीव का जो केवल-ज्ञान स्वभाव है वह भी विनष्ट हो जाता है। **(का.अ. २०८-२११)**

२. प्रश्न : सूत्र में शरीर का आदि में ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : शरीर के होने पर ही वचन आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है अत: सर्वप्रथम शरीर को ग्रहण किया है। शरीर ही वचन आदि का अधिष्ठानभूत है, अत: शरीर के होने पर ही आधेयभूत वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि की प्रवृत्ति होती है, अत: शरीर सब में प्रधान है, ऐसा मानकर सर्वप्रथम शरीर को ग्रहण किया है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : शरीर के बाद वचन आदि का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : शरीर के बाद वचन का ग्रहण किया है क्योंकि वचन ही पुरुष को हित में प्रवृत्ति कराते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा वचन पुरुष को हित में प्रवृत्ति कराते हैं। **(रा.वा. २)**

जिस आत्मा के शरीर और वचन होता है, उसी के मन हो सकता है, जिसके शरीर नहीं है और वचन वर्गणाओं को वचन रूप परिणमन कराने का सामर्थ्य नहीं है, उसके मन नहीं हो सकता अत: शरीर और वचन के बाद मन को स्थान दिया है। **(रा.वा. ९)**

सर्व संसारी जीवों का कार्य होने से अन्त में श्वासोच्छ्वास को ग्रहण किया है, क्योंकि सभी संसारी जीवों का श्वाोच्छ्वास लक्षण कार्य है। **(रा.वा. १०)**

४. प्रश्न : चक्षु आदि भी आत्मा के उपकारक हैं अत: उनका ग्रहण सूत्र में क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना क्योंकि आगे के सूत्र में दिए गए 'च' शब्द से सभी इष्ट का समुच्चय हो जाएगा। **(रा.वा. ३)**

चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मप्रदेश रूप हैं अत: उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि अंगोपांग नामकर्म के उदय से रची गई द्रव्येन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं, वे आत्मा का उपकार करती हैं, इसलिए 'च' शब्द से उनका ग्रहण किया है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : मन अनिन्द्रिय है, उसको पुद्गलकृत उपकार मानना ठीक नहीं है तथा उस मन को पृथक् ग्रहण भी नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : अनवस्थित होने से मन को पृथक् ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है। यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि अनवस्थित होने पर भी मन क्षयोपशम निमित्तक तो है ही अर्थात् नेत्रादि के समान निश्चल नहीं होने पर भी पुद्गल कृत होने से उसका उपकार मानना उचित ही है तथा यह नियम है कि जहाँ-जहाँ उपयोग होता है वहाँ-वहाँ के अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेश मन के रूप से परिणत हो जाते हैं। **(रा.वा. ६)**

६. प्रश्न : क्या सूत्र में शरीर आदि का ग्रहण पुद्गल का लक्षण बताने के लिए कहा गया है ?

उत्तर : नहीं, यहाँ पर सूत्र में शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास का ग्रहण पुद्गल के लक्षण का प्रतिपादन करने के लिए नहीं है। आत्मा के उपकारक होने से उसके उपकार-प्रतिपादन के लिए है- क्योंकि पुद्गल का लक्षण तो आगे के सूत्र में कहेंगे। पुद्गल का लक्षण तो व्यापी है, सारे पुद्गलों में पाया जायेगा परन्तु शरीर, वचन, मन आदि सर्व पुद्गलों से निर्मित नहीं हैं, मनोवर्गणा, वचन वर्गणा और आहार वर्गणाओं से निर्मित्त हैं इसलिए ये पुद्गल का लक्षण नहीं बन सकते हैं। **(रा.वा. ११)**

७. प्रश्न : मन का पृथक् उपकार नहीं दिखता है अत: मन नामक कोई वस्तु नहीं है ?

उत्तर : यह प्रश्न उचित नहीं है, क्योंकि गुण-दोष विचार आदि मन के स्वतन्त्र कार्य दृष्टिगोचर होते हैं। मनोलब्धि वाले आत्मा के जो पुद्गल मन रूप से परिणत हुए हैं वे अन्धकार तिमिरादि बाह्य इन्द्रियों के उपघातक कारणों के सन्निधान होने पर भी गुण-दोष विचार और स्मरणादि व्यापार में सहायक होते ही हैं अत: अन्त:करण (मन) का स्वतन्त्र अस्तित्व है। **(रा.वा. ३१)**

८. प्रश्न : क्या मन के माध्यम से इन्द्रियाँ सुख-दु:ख का अनुभव करती हैं ?

उत्तर : इन्द्रियाँ मन के माध्यम से सुख-दु:ख का अनुभव करती हैं ऐसा मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ चेतना स्वभाववाली हैं। वस्तुत: गरम लौह पिण्ड के समान आत्मा का ही इन्द्रिय रूप से परिणमन हुआ है, अत: चेतना रूप होने से इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दु:खादि का अनुभव करती हैं। यदि मन के बिना इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दु:ख का अनुभव नहीं करती हैं तो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को भी सुख-दु:ख का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि उनके मन का अभाव है। **(रा.वा. ३०)**

९. प्रश्न : पुद्गल द्रव्य का उपकार प्रत्यक्ष दिखता है अत: उसका वर्णन नहीं करना चाहिए?

उत्तर : यह तर्क उचित नहीं है कि प्रत्यक्ष होने से पुद्गल के उपकार का वर्णन नहीं करना चाहिए- क्योंकि किन्हीं के पुद्गल अप्रत्यक्ष भी हैं। जैसे- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण। ये शरीरकर्म मूलत: सूक्ष्म होने से अप्रत्यक्ष हैं, मन अप्रत्यक्ष ही है। वचन और श्वासोच्छ्वास कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष हैं- क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय नहीं हैं अत: इन्द्रियों से अतीत हें। इसलिए पुद्गल के उपकार को स्पष्ट करने के लिए शरीरादि का उपदेश किया गया है। **(रा.वा. १२)**

१०. प्रश्न : कार्माण शरीर औदारिक शरीर के समान आकार वाला नहीं है अत: इसे पौद्गलिक कहना उचित नहीं है ?

उत्तर : यद्यपि कार्माण शरीर आकार रहित है तथापि मूर्त्तिमान् पुद्गलों के सम्बन्ध से अपना फल देता है, जैसे- ब्रीहि (चावल) आदि धान्य, पानी, धूप आदि मूर्त्तिमान् पुद्गलों के सम्बन्ध से पकता है इसलिए पौद्गलिक है, उसी प्रकार कार्माण शरीर भी गुड़ कण्टक आदि मूर्त्तिमान् पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से पकता है अर्थात् इष्टानिष्ट बाह्य सामग्री के निमित्त से कार्माण शरीर अपना फल देता है अत: कार्माण शरीर पौद्गलिक है, क्योंकि कोई भी अमूर्त्त पदार्थ मूर्त्तिमान् पदार्थ के सम्बन्ध से नहीं पकता तथा अमूर्त्त पदार्थ मूर्त्तिमान् पदार्थ से विपच्यमान दृष्टिगोचर नहीं होता। **(रा.वा. १४)**

११. प्रश्न : क्या वचन भी पौद्गलिक हैं ?

उत्तर : पुद्गल के निमित्त से होने से दोनोंप्रकार के वचन पौद्गलिक हैं। वचन दो प्रकार के हैं- (१) भाव वचन (२) द्रव्य वचन।

भाव वचन - भाव वचन वीर्यान्तराय और मति-श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय के निमित्त से होते हैं, अत: भाववचन पुद्गल का कार्य होने से पौद्गलिक हैं, यदि वीर्यान्तराय और मतिश्रुत-ज्ञानावरण रूप पौद्गलिक कर्मों का क्षयोपशम न हो तो भाववचन हो ही नहीं सकता।

द्रव्यवचन - भाववचन के सामर्थ्य वाले आत्मा के द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल वचनरूप से परिणत होते है अर्थात् आत्मा के द्वारा तालु आदि क्रिया से जो पुद्गल वर्गणाएँ वचन रूप परिणत होती हैं, उन्हे द्रव्यवचन कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने से द्रव्यवचन भी पौद्गलिक हैं। **(रा.वा. १५)**

१२. प्रश्न : यदि शब्द पौद्गलिक हैं तो एक बार ग्रहण (सुनाई) होने के बाद पुन: ग्रहण क्यों नहीं होते ?

उत्तर : शब्द बिजली के समान असंहतत्व (असंलग्न) होने से पुन: गृहीत नहीं होते हैं। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध बिजली द्रव्य एक बार चमक कर फिर शीघ्र ही विशीर्ण (नष्ट) हो जाता है अत: पुन: आँखों से दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा एक बार उपलब्ध वचन सम्पूर्ण रूप से शीघ्र ही विशीर्ण हो जाने से पुन: दुबारा सुनाई नहीं देते। **(रा.वा. १६)**

१३. प्रश्न : क्या शब्द अमूर्त्तिक है ?

उत्तर : नहीं, शब्द का ग्रहण, व्याघात एवं अभिभव देखा जाता है अत: शब्द अमूर्त्तिक नहीं है। **(सर्वा. ५६३)।** शब्द को अमूर्त्तिक कहना उचित नहीं है क्योंकि शब्द का मूर्त्तिमान् पदार्थ के द्वारा ग्रहण, प्रेरणा एवं अवरोध देखा जाता है।

ग्रहण - कर्णेन्द्रिय का विषय होने से मूर्त्तिमान् श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण होता है। जो अमूर्त्त होता है वह किसी मूर्त्तिमान इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होता।

प्रेरणा - शब्द वायु द्वारा प्रेरित रुई की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित किया जाता है क्योंकि विरुद्ध दिशा में स्थित व्यक्ति को वह शब्द सुनाई देता है, अर्थात् जिस तरफ की वायु होती है उधर ही सुनाई देता है, वायु के प्रतिकूल होने से समीपस्थ को भी नहीं सुनाई देता। इससे अनुमान होता है कि शब्द प्रेरित है और यंत्र के द्वारा प्रेरित कर दूसरे देशों में भिजवाया भी जाता है। अमूर्त्त पदार्थ मूर्त्तिमान् पदार्थों के द्वारा प्रेरित नहीं होता।

अवरोध - नल, बिल, रिकार्ड आदि में नदी के जल की तरह शब्द रोका भी जाता है, परन्तु अमूर्त्तिक पदार्थ मूर्त्तिमान् किसी पदार्थ के द्वारा अवरुद्ध हुआ नहीं देखा जाता है। **(रा.वा. १८)**

१४. प्रश्न : यदि शब्द पौद्गलिक है तो चक्षु आदि के द्वारा शब्दों का ग्रहण क्यों नहीं होता?

उत्तर : घ्राण के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने पर गन्धद्रव्य रसादि की अनुपलब्धि के समान चक्षु आदि के द्वारा गृहीत नहीं होते हैं। जैसे - घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गन्धद्रव्य के साथ अविनाभावी रूप, रस, स्पर्श आदि विद्यमान रहकर के भी सूक्ष्म होने से घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध नहीं होते अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होते हैं, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्द सूक्ष्म होने से चक्षु आदि शेष इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं होते। **(रा.वा. १७)**

१५. प्रश्न : क्या मन भी पौद्गलिक है ?

उत्तर : हाँ, तन्मय होने से दोनों ही मन पौद्गलिक हैं। मन दो प्रकार का है-

(१) भावमन और (२) द्रव्यमन।

ये दोनों ही मन पौद्गलिक हैं, क्योंकि दोनों ही मन पुद्गल से सम्बन्धित है।

भावमन - लब्धि और उपयोग रूप भावमन है, वह पुद्गल निमित्तक और पुद्गल का अवलम्बन लेने वाला होने से पौद्गलिक है। अर्थात् भावमन में भी ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयोपशम रूप पुद्गल का अवलम्बन रहता है।

द्रव्यमन - गुण-दोष विचार और स्मरणादि रूप व्यापार में तत्पर आत्मा के अनुग्राहक ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के लाभ के कारण, वीर्य विशेष के संचय करने में समर्थ जो पुद्गल वर्गणाएँ मन रूप से परिणत होती हैं, उनको द्रव्यमन कहते हैं, पुद्गल द्रव्य के निमित्त और अवलम्बन से रचित होने से द्रव्यमन तो पौद्गलिक ही है। **(रा. वा. २०)**

१६. प्रश्न : मन आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ?

उत्तर : मन आत्मा से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। जैसे- वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा आत्मा के ही प्रदेश चक्षु आदि इन्द्रिय रूप से परिणमन करते हैं अत: आत्मा से इन्द्रियाँ भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार आत्मा ही ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के कारण ही मन रूप से परिणमन करती है अत: मन आत्मा से कथंचित् अभिन्न है। जिस प्रकार इन्द्रियों के नष्ट हो जाने

पर आत्मा का नाश नहीं होता अत: इन्द्रियाँ आत्मा से कथंचित् भिन्न हैं उसी प्रकार मन की निवृत्ति होने पर भी आत्मा का अवस्थान रहता है नाश नहीं होता इसलिए आत्मा से मन कथंचित् भिन्न है। **(रा.वा. २१)**

१७. प्रश्न : प्राणापान किसे कहते हैं ?

उत्तर : कोष्ठ की वायु को उच्छ्वास लक्षण प्राण कहते हैं। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा शरीरकोष्ठ से जो वायु बाहर निकाली जाती है, उसको उच्छ्वास लक्षण प्राण कहते हैं।

बाह्य वायु को अभ्यन्तर करना अपान है। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो बाह्य वायु भीतर ली जाती है- उस नि:श्वास को अपान कहते हैं। ये श्वासोच्छ्वास आत्मा के जीवन में कारण होते हैं अत: इनके द्वारा पुद्गल आत्मा का उपकार करता है। **(रा.वा. ३५-३६)**

सुखी, आलस्यरहित, रोग, पराधीनता, चिन्ता आदि से रहित जीव के संख्यात आवली के समूह रूप एक श्वासोच्छ्वास प्राण होता है। **(गो.जी. ५७४ के बाद क्षेपक)**

१८. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक है ?

उत्तर : भय के कारणों से तथा वज्रपात आदि के शब्दों के द्वारा मन का प्रतिघात और मदिरा आदि के द्वारा मन का अभिभव देखा जाता है। हाथ से मुख और नाक को बन्द कर देने पर श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात और कण्ठ में कफ आदि के आ जाने से श्वासोच्छ्वास का अभिभव देखा जाता है अत: मन और श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक हैं क्योंकि मूर्त्तिक पदार्थों के द्वारा अमूर्त्तिक पदार्थ के अभिघात और अभिभव (रुकावट) नहीं हो सकते हैं। **(रा. वा. ३७)**

१९. प्रश्न : शरीर आदि कौनसी वर्गणाओं से बनते हैं ?

उत्तर : तेबीस प्रकार की वर्गणाओं में से औदारिकादि शरीर और श्वासोच्छ्वास आहार वर्गणाओं से, तेजोवर्गणारूप स्कन्ध के द्वारा तैजस कार्माण शरीर कार्माण वर्गणा से, वचन भाषा वर्गणा से तथा मनो वर्गणा से मन निष्पादित होता है अत: ये सब पौद्गलिक हैं। **(गो. जी. ६०७-८)**

२०. प्रश्न : तेबीस प्रकार की वर्गणाएँ कौन-कौनसी हैं ?

उत्तर : अणु वर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहार-वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, तैजस, वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, भाषा वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, कार्मण वर्गणा, ध्रुवस्कन्धवर्गणा, सान्तर निरन्तर वर्गणा, शून्य वर्गणा, प्रत्येक शरीर वर्गणा, ध्रुवशून्य वर्गणा, बादर निगोद वर्गणा, शून्य वर्गणा, सूक्ष्म निगोद वर्गणा, नभो वर्गणा तथा महास्कन्ध वर्गणा ये तेबीस प्रकार की वर्गणाएँ है। **(गो. जी. ५९४-९५)**

२१. प्रश्न : क्या औदारिक-वैक्रियिक और आहारक तीनों शरीर आहार वर्गणाओं से ही बनते हैं ?

उत्तर : नहीं, यद्यपि सामान्य रूप से आहार वर्गणाओं के द्वारा ही औदारिकादि तीनों शरीरों का निर्माण कहा गया है तथापि विशेष विवक्षा में तीनों शरीरों की वर्गणायें भिन्न-भिन्न हैं; जिन आहार वर्गणाओं से औदारिक शरीर का निर्माण होता है उनसे वैक्रियिक और आहारक शरीर का निर्माण नहीं होता। जिन आहार-वर्गणाओं से वैक्रियिक शरीर का निर्माण होता है उनसे औदारिक और आहारक शरीर का निर्माण नहीं होता। क्योंकि औदारिकादि तीन शरीरों का निर्माण करने वाली आहार वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् हैं किन्तु उन तीन प्रकार की वर्गणाओं के अग्राह्य वर्गणा द्वारा व्यवधान नहीं होने से उनकी एक वर्गणा मानी गयी है। **(ध. १४)**

पुद्गल के और भी उपकार कहते हैं-

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

सुख-दुःख-जीवित-मरण-उपग्रहाः च।

अर्थ - सुख-दुःख, जीवित और मरण ये पुद्गल के उपकार हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : परिणाम विशेष से गृहीत पुद्गल जैसे- शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास चतुष्टय, गमन, व्यवहरण, चिन्तन और श्वासोच्छ्वास रूप से जीव का उपकार करते हैं वैसे सुख आदि भी पुद्गल कृत उपकार हैं, उसको बताने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. उ. २०)**

क्या पुद्गलों का इतना ही उपकार है या और भी उपकार है, इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५६४)**

२. प्रश्न : सुख किसे कहते हैं ?

उत्तर : साता वेदनीय के उदय रूप अन्तरंग हेतु के रहते हुए बाह्य द्रव्यादि के परिपाक के निमित्त से जो प्रीति रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं वह सुख है। **(सर्वा. ५६५)** जब आत्मा से बद्ध साता वेदनीय कर्म द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होता है तब आत्मा को जो प्रीति या प्रसन्नता होती है उसे सुख कहते हैं। **(रा.वा. १)**

जो सन्तोष उत्पन्न करने वाले हों उन्हें सुख कहते हैं। **(म. पु. ६३/२२६)** जो पदार्थ जिस प्रकार अवस्थित है उनका उसी प्रकार श्रद्धान करना सो परम सुख है। **(प. पु. ४३/३०)**

जिसके द्वारा मन, इन्द्रियाँ और आत्मा प्रफुल्ल-आनन्दित हो उसे सुख कहते हैं। अथवा जिस पदार्थ को देखने या भक्षण करने से मन और इन्द्रियों को आनन्द प्राप्त होता है, उसे सुख कहते हैं। **(जी.वा. ४/१०) (दुःख का लक्षण देखें ६/११)**

३. प्रश्न : जीवित-मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : भवस्थिति में कारणभूत आयुकर्म द्रव्य से सम्बन्धित जीव के प्राणापान लक्षण क्रिया का उपरम नहीं होना ही जीवित है। भवस्थिति का कारण आयु कर्म है। उस आयु कर्म के उदय से प्राप्त भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राणापान क्रिया का चालू रहना, उसका उच्छेद नहीं होना ही जीवित है। **(रा.वा. ३)**

पर्याय के धारण करने में कारणभूत आयुकर्म के उदय से भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राण और अपान रूप क्रियाविशेष का विच्छेद नहीं होना जीवित है। **(सर्वा. ५६५)**

प्राणापान का विच्छेद हो जाना मरण है। **(रा. वा. ४)**

४. प्रश्न : सूत्र में सुख-दु:ख आदि का क्रम इस प्रकार क्यों रखा है ?

उत्तर : सर्व प्राणियों के सर्व प्रयत्न सुख के लिए होते हैं अत: सुख का ग्रहण सर्वप्रथम किया है। अप्रीति का कारण होने से सुख का प्रतिपक्षीभूत दु:ख है, अत: सुख के बाद दु:ख का कथन किया है। जीवन में सुख-दु:ख दोनों होते हैं। जीवित प्राणी के ही सुख और दु:ख होते हैं अत: सुख और दु:ख के आधार-भूत जीवित को ग्रहण किया है। आयुक्षय के निमित्त से होने वाला मरण प्राणियों के द्वारा अन्त में प्राप्त होता है अत: उसको अन्त में कहा है। **(रा.वा. ५-८)**

५. प्रश्न : सुख आदि पुद्गल कृत उपकार कैसे हैं ?

उत्तर : ये सुख आदि पुद्गल कृत उपकार हैं, क्योंकि मूर्त्त कारणों के रहने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है। **(सर्वा. ५६५)**

सुख-दु:ख-जीवन-मरण रूप उपकार पुद्गलकृत हैं, पुद्गल के निमित्त से होने के कारण वे पौद्गलिक कहलाते हैं। **(रा.वा. ८)**

६. प्रश्न : उपग्रह का प्रकरण है अत: सूत्र में दिया गया 'उपग्रह' वचन निरर्थक है ?

उत्तर : सूत्र में 'उपग्रह' वचन निरर्थक नहीं है। यद्यपि यहाँ उपग्रह का प्रकरण है फिर भी इस सूत्र में उपग्रह का ग्रहण पुद्गलों के स्वोपकार की सूचना करने के लिए है। जैसे- धर्म, अधर्म और आकाश अन्य जीव और पुद्गलों का उपग्रह मात्र करते हैं वैसे पुद्गल उपकार नहीं करते। पुद्गलों का स्व-उपकार भी है, इसलिए सूत्र में पुन: 'उपग्रह' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ९)**

७. प्रश्न : पुद्गल पुद्गल का उपकार किस प्रकार करता है ?

उत्तर : कांसी आदि का भस्म, जलादि का कतकादि और लोहे आदि का जलादि उपकार करते हैं अर्थात् कांसे को भस्म से स्वच्छ किया जाता है, पानी में कतकफल डाल देने से पानी स्वच्छ हो जाता है, तलवार की धार करने के लिए या वस्त्र को, जमीन को स्वच्छ करने के लिए जल का प्रयोग किया

जाता है, शरीर में पौद्गलिक कर्मों के उदय का उपशमन करने के लिए पौद्गलिक औषधि खाई जाती है, उससे रोग दूर होता है अत: पुद्गल पुद्गल का उपकार करता है। **(रा.वा. ९)**

८. प्रश्न : मरण आत्मा का उपकार कैसे हो सकता है क्योंकि वह किसी को इष्ट नहीं होता है ?

उत्तर : यद्यपि साधारणतया मरण किसी को भी प्रिय नहीं है परन्तु व्याधि-पीड़ा शोकादि से व्याकुल प्राणी, 'जिसको जीवन से घृणा हो चुकी है' उसको लोक में मरण भी प्रिय होता है। अत: मरण को भी उपकार की श्रेणी में ले लिया है। **अथवा -**

यहाँ उपकार शब्द से इष्ट पदार्थ नहीं लिया गया है किन्तु पुद्गलों के द्वारा होने वाले समस्त कार्य लिये गये हैं। पुद्गल के संयोग से आत्मा में जो-जो विकृति होती है, उसके लिए उपकार शब्द का प्रयोग है, इष्ट पदार्थ के लिए नहीं, जैसे- दु:ख भी अनिष्ट है परन्तु पुद्गल कृत प्रयोजन होने से दु:ख का निर्देश किया है, वैसे ही पुद्गल का प्रयोजन बताने के लिए मरण का उपकार माना है इसमें कोई दोष नहीं है। **(रा. वा. १०-११)**

९. प्रश्न : 'शरीर वाङ्.....' और 'सुख -दु:ख.....' दोनों का एक सूत्र करना चाहिए ?

उत्तर : ''शरीरवाङ्मन:प्राणापाना: पुद्गलानां'' ''सुख-दु:खजीवितमरणोपग्रहाश्च'' इन दोनों का यदि एक सूत्र बनाते तो यह सन्देह होता कि शरीरादि चार के क्रमश: सुख-दु:ख आदि चार फल हैं, उस अनिष्ट आशंका की निवृत्ति के लिए पृथक् सूत्र की रचना की है तथा सुख-दु:ख, जीवित-मरण का सम्बन्ध उत्तर सूत्र में कथित जीवोपकारों से भी जुड़ता है, अत: पृथक्-पृथक् सूत्र ही बनाया गया है। **(रा.वा. १२)**

१०. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पुद्गलकृत और भी उपकार हैं इसके समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है। जिस प्रकार शरीर आदिक पुद्गलकृत उपकार हैं उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी पुद्गलकृत उपकार हैं। **(सर्वा.५६५)**

जीवकृत उपकार कहते हैं-

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

परस्पर-उपग्रह:-जीवानाम्।

अर्थ - जीव भी परस्पर उपकार करते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : चारों अजीव द्रव्यों का दूसरे का उपग्रह जैसे सान्ततिक है, क्या इसी प्रकार आत्मा के

भी पर का उपकारत्व है अथवा कोई दूसरी विधि है, ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. २१)** इस प्रकार पहले अजीवकृत उपकार को दिखाकर अब जीवकृत उपकार को दिखाने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५६६)**

२. प्रश्न : जीव का परस्पर क्या उपकार है ?

उत्तर : स्वामी-नौकर, आचार्य-शिष्य आदि भाव से जो वृत्ति होती है, उसको परस्पर उपग्रह कहते हैं, जैसे स्वामी अपने धन का त्याग करके सेवक का उपकार करता है और सेवक स्वामी के हित प्रतिपादन और अहित के प्रतिषेध द्वारा उसका उपकार करता है। आचार्य उभयलोक हितकारी मार्ग दिखाकर तथा हितकारी क्रिया का अनुष्ठान कराकर शिष्यों का उपकार करते हैं और शिष्य गुरु के अनुकूल वृत्ति से उपकार करते हैं।[१] **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : उपग्रह का प्रकरण है अत: सूत्र में 'उपग्रह' शब्द का ग्रहण व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रथम सूत्र में निर्दिष्ट चार का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र में पुन: उपग्रह वचन का निर्देश किया है। यद्यपि उपग्रह का प्रकरण है, फिर भी इस सूत्र में 'उपग्रह' शब्द के द्वारा पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट सुख-दु:ख, जीवित और मरण इन चारों का ही प्रतिनिर्देश किया है। इन चारों के सिवाय जीवों का अन्य कोई परस्पर उपग्रह नहीं है, किन्तु पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट ही उपकार है। **अथवा -** स्त्री-पुरुष की रति के समान परस्पर उपकार का अनियम प्रदर्शित करने के लिए पुन: उपग्रह शब्द का ग्रहण किया है। जैसे- रति क्रिया में स्त्री और पुरुष परस्पर उपकार करते हैं, उसी प्रकार सुखादि में सर्वथा नियम परस्परोपकार का नहीं है, यह बताने के लिए पुन: उपग्रह वचन का प्रयोग किया है, क्योंकि कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करता हुआ कदाचित् दूसरे एक जीव को वा दो जीवों को वा बहुत से जीवों को सुखी करता है और कोई जीव अपने को दु:खी करता हुआ एक जीव को, दो जीवों को या बहुत से जीवों को दु:खी करता है अथवा कभी एक, दो, बहुत जीवों तथा अपने आपके लिए सुख या दु:ख करता हुआ दूसरे एक वा दो वा बहुत से जीवों के लिए सुख-दु:ख उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। स्वयं दु:खी भी दूसरे को सुखी और स्वयं सुखी भी दूसरों को दु:खी कर सकता है। अत: कोई निश्चित नियम नहीं है कि सुखी सुखी एवं दु:खी दु:खी ही करे। **(रा.वा. ३-४)**

काल द्रव्य कृत उपकार बताते हैं-

वर्तनापरिणामक्रिया: परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

वर्तना-परिणाम-क्रिया:-परत्व-अपरत्वे च कालस्य।

(वर्तनापरिणामक्रिया:) वर्तना, परिणाम, क्रिया (परत्वापरत्वे च) परत्व और अपरत्व (कालस्य) कालद्रव्य कृत उपकार हैं।

अर्थ - वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्यकृत उपकार हैं।

वर्तना - परिवर्तन को परिणाम कहते हैं।

क्रिया - द्रव्य में जो परिस्पन्द रूप परिणाम है वह क्रिया है।

परत्व - अल्पकालीन पर्याय की अपेक्षा दीर्घ कालीन पर्याय परत्व कहलाता है।

अपरत्व - दीर्घकालीन पर्याय की अपेक्षा अल्पकालीन पर्याय अपरत्व कहलाती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए लिखा गया है ?

उत्तर : यदि सत् (द्रव्य) अवश्य उपकारी ही होना चाहिए तो काल को भी 'सत्' द्रव्य माना है, उसका क्या उपकार है ? ऐसा पूछने पर आगे कहे जाने वाले स्वतत्त्व अमूर्त्तिक काल द्रव्य का उपकार बताने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा. वा. उ. २२)**

अथवा - जैसे-धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों के अस्तित्व का आविर्भावक गमन सहायक आदि उपकार कहा है, उसी प्रकार काल के अस्तित्व का सूचक प्रतिनियत उपकार है कि नहीं ? यदि काल के अस्तित्व का सूचक उपकार है तो क्या है, उसका वर्णन करना चाहिए ? ऐसा पूछने पर आचार्य ने वर्तना आदि काल के उपकार बताए हैं। **(रा.वा.)**

२. प्रश्न : वर्त्तना किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रत्येक द्रव्यपर्याय में अन्तर्नीत एक समय वाली स्वसत्ता की अनुभूति वर्तना है। एक अविभागी समय में धर्मादि छहों द्रव्य आदिमान् और अनादिमान् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य के विकल्प रूप अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा वर्तना करते हैं, उस विषय को वर्तना कहते हैं। **(रा.वा. ४)**

अपने-अपने उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थों को जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है अथवा - शीत काल में छात्रों को पढ़ने के लिए अग्नि सहकारी है उसी प्रकार जो पदार्थों के परिणमन में सहकारिता है उसको वर्तना कहते हैं। **(वृ.द्र.सं. टी. २१)**

प्रत्येक द्रव्य के एक-एक समयवर्ती परिणमन में जो स्वसत्ता की अनुभूति होती है उसे वर्तना कहते हैं। **(त.सा. ३/४१)**

३. प्रश्न : धर्मादि अमूर्त्त द्रव्यों में वर्तना कैसे होती है ?

उत्तर : धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में अगुरुलघु गुण में छहवृद्धि और छह हानि के द्वारा वृद्धि व हानि रूप वर्तन होता है। **(गो.जी. ५६९)**

४. प्रश्न : वर्त्तना को सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अभ्यर्हित होने से वर्त्तना को सर्वप्रथम ग्रहण किया है। परमार्थ काल की प्रतिपत्ति वर्त्तना

पूर्वक ही होती है अत: वर्त्तना अभ्यर्हित (पूज्य) है, वर्त्तना के निमित्त से होने वाले परिणाम आदि व्यवहार काल के चिह्न है, अत: परिणामादि अप्रधान होने से वर्त्तना के समान पूज्य नहीं है, इसलिए वर्त्तना का सर्वप्रथम ग्रहण किया है। **(रा.वा. २९)**

५. प्रश्न : सत्ता से वर्त्तना हो जायेगी, क्योंकि वह सर्व साधारण एवं सर्व पदार्थों में रहती है ?

उत्तर : सत्ता यद्यपि सर्व पदार्थों में रहती है, साधारण है परन्तु वर्त्तना सत्ता हेतुक नहीं हो सकती, क्योंकि वर्त्तना सत्ता का भी उपकार करती है। काल से अनुगृहीत वर्त्तना ही सत्ता कहलाती है अत: काल नाम का पदार्थ सत्ता से भी पृथक् ही होना चाहिए। **(रा.वा. ९)**

६. प्रश्न : आकाश प्रदेशों के निमित्त से द्रव्यों की वर्त्तना हो जाएगी अत: वर्त्तना का हेतु कोई काल नामक पदार्थ नहीं है ?

उत्तर : आकाश प्रदेशों को द्रव्यों की वर्त्तना में कारण मानना ठीक नहीं है क्योंकि आकाश तो भाजन (बर्त्तन) के समान वर्त्तना का अधिकरण है, जैसे-बर्त्तन चावलों का अधिकरण है, चावलों को वह बर्त्तन पकाता नहीं है, उनके पाक के लिए तो अग्नि का व्यापार चाहिए, उसी प्रकार आकाश भी सूर्य की गति आदि वर्त्तना वाले द्रव्यों का अधिकरण तो हो सकता है, वह वर्त्तना की उत्पत्ति में सहकारी नहीं हो सकता अर्थात् आकाश द्रव्यों की वर्त्तना नहीं करा सकता, वर्त्तना तो काल का ही व्यापार है।**(रा.वा. ८)**

७. प्रश्न : वर्त्तना को काल का उपकार क्यों कहा है ?

उत्तर : यद्यपि धर्मादि द्रव्य अपनी नवीन पर्याय को उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी उनकी वृत्ति बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती, इसलिए उसे प्रवर्त्ताने वाला काल है, ऐसा मानकर वर्तना को काल का उपकारक कहा है। **(सर्वा. ५६९)**

८. प्रश्न : यदि द्रव्य की पर्याय बदलाने वाला काल है तो काल द्रव्य सक्रिय होगा जैसे-शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढाता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निमित्तमात्र में भी हेतुकर्त्ता रूप व्यपदेश देखा जाता है। जैसे- कण्डे की अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कण्डे की अग्नि निमित्त मात्र है, उसी प्रकार काल भी हेतुकर्त्ता है। **(सर्वा. ५६९)**

९. प्रश्न : सूर्य की गति से वर्त्तना को मानना चाहिए, काल से नहीं ?

उत्तर : ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य की गति में भी काल का सद्भाव है। द्रव्यों की वर्त्तना में सूर्य की गति कारण नहीं है क्योंकि सूर्य की गति में भी भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् आदि कालिक व्यवहार देखे जाते हैं। भूतादि व्यवहार की विषयभूत सूर्य के गमन में रूढ़ क्रिया में वर्त्तना देखी जाती है, उसका हेतु अन्य अवश्य होना चाहिए। जो उसकी वर्त्तना में हेतु है, वही काल है। **(रा.वा. ७)**

१०. प्रश्न : वर्त्तना काल की परिणति है ऐसा किस युक्ति से जाना जाता है ?

उत्तर : (प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रसिद्ध होने वाली वर्त्तना अनुमान से जानी जा सकती है।) जैसे- अग्नि के द्वारा तीस मिनट में चावल पके हैं तो यह नहीं समझना चाहिए कि उन्तीस मिनट तक ज्यों के त्यों रखे रहे और तीसवें मिनट में पक कर भात बन गया, उसमें तो प्रथम समय से लेकर सूक्ष्म पाक की निष्पत्ति प्रति समय में ही हो रही है अत: वर्त्तना पाक के समान अनुमान से जानी जाती है। **(रा.वा. ५)**

११. प्रश्न : परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य के स्वजाति का परित्याग न करके स्वाभाविक और प्रायोगिक लक्षण विकार को परिणाम कहते हैं या परिवर्तन को परिणाम कहते हैं। चेतन और अचेतन द्रव्यत्व जाति द्रव्य से यद्यपि भिन्न नहीं है तथापि द्रव्यार्थिक नय की अविवक्षा से द्रव्य अपनी स्वजाति को नहीं छोड़ते हुए भी पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से किसी पर्याय से उत्पन्न होता है और किसी पूर्व पर्याय से नष्ट होता है, यही विकार है। **(रा.वा. १०)**

एक धर्म की निवृत्ति करके दूसरे धर्म के पैदा करने रूप और परिस्पन्द से रहित द्रव्य की जो पर्यायें हैं उन्हें परिणाम कहते हैं, यथा जीव के क्रोधादि और पुद्गल के वर्णादि। इसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों में परिणाम होता है। **(सर्वा. ५६९)**

१२. प्रश्न : परिणाम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : परिणाम दो प्रकार का होता है-

(१) अनादिमान परिणाम (२) आदिमान परिणाम। **(रा.वा. १०)**

(१) अनादिमान परिणाम (२) सादिमान परिणाम। **(रा.वा. ५/४२)**

अनादिमान परिणाम - लोक की रचना, सुमेरु पर्वत आदि का आकार अनादि परिणाम है। **(रा.वा.१०)**

अनादि परिणाम - धर्मादि द्रव्यों के गति उपग्रह, स्थिति उपग्रह, अवकाशदान, वर्त्तना आदि परिणाम अनादि हैं, क्योंकि जब से धर्मादि द्रव्य हैं तभी से इनके परिणाम हैं। धर्मादि द्रव्य पहले हों और गति आदि उपकार बाद में हों, ऐसा नहीं है क्योंकि धर्मादि के साथ इनका सम्बन्ध अनादि है। **(रा.वा. ५/४२) सादि (आदि) मान् परिणाम** - बाह्य कारणों से जो उत्पाद होता है, जो द्रव्यों के परिणाम होते हैं वे सादि परिणाम हैं। **(रा.वा. ५/४२)**

आदिमान परिणाम दो प्रकार का है। **(रा.वा. १०)** १. प्रयोगजन्य २. स्वाभाविक

१३. प्रश्न : दो प्रकार का सादि परिणाम कौनसा है ?

उत्तर : वैस्रसिक परिणाम एवं प्रयोगज परिणाम ये दो सादिमान परिणाम हैं।

वैस्रसिक परिणाम - चैतन्य द्रव्य के जो औपशमिकादि भाव हैं, जो मात्र कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा से होते हैं वे वैस्रसिक परिणाम कहलाते हैं और इन्द्रधनुष-मेघादि से पुद्गल का परिणमन वैस्रसिक है। **(रा.वा. १०)**

प्रयोगज परिणाम - गुरु, आचार्य आदि पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होने वाले ज्ञान, शील, भावना आदि लक्षण चैतन्य द्रव्य के परिणाम प्रयोगज हैं। **(रा.वा. १०)**

१४. प्रश्न : व्यवहार काल को परिणामादि रूप क्यों माना गया है ?

उत्तर : जीव-पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से तथा देशान्तर में आने-जाने रूप अथवा गाय दुहनी व रसोई करना आदि हलन-चलन रूप क्रिया से तथा दूर या समीप देश में चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्व से यह काल जाना जाता है, इसलिए वह व्यवहार काल परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व लक्षण वाला कहा गया है। **(वृ. द्र.सं. टी. २१)**

१५. प्रश्न : सभी द्रव्यों में सादि एवं अनादि परिणाम किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर : दोनों (द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक) नयों के कारण सब द्रव्यों में सादि एवं अनादि दोनों परिणामों की सिद्धि है। विशेषता यह है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्यों का आदि और अनादिमान परिणाम आगम से जाना जाता है और जीव-पुद्गलों का कथंचित् प्रत्यक्ष-गम्य भी होता है। **(रा.वा. ५/४२)**

१६. प्रश्न : क्रिया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : क्रिया दो प्रकार की होती है-

(१) प्रायोगिक क्रिया (२) वैस्रसिक क्रिया।

बैलगाड़ी आदि में प्रायोगिकी क्रिया है।

मेघ आदि की क्रिया वैस्रसिक क्रिया है। **(रा.वा. १९)**

नोट - क्रिया का लक्षण देखें **(५/७)**

१७. प्रश्न : द्रव्य के भाव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : द्रव्य के भाव दो प्रकार के होते हैं-

(१) परिस्पन्दात्मक और (२) अपरिस्पंदात्मक ।

परिस्पन्दात्मक क्रिया - (बाह्य आभ्यन्तर कारणों के निमित्तों से उत्पन्न हुई) परिस्पन्दात्मक परिणमन क्रिया है।

अपरिस्पन्दात्मक क्रिया - प्रतिक्षण जो उत्पाद और व्यय होता है वह अपरिस्पन्दात्मक क्रिया है। **(रा.वा. १९-२१)**

१८. प्रश्न : क्रिया का परिणाम में ही अन्तर्भाव हो जाता है अत: केवल परिणाम का ही निर्देश करना चाहिए ?

उत्तर : केवल परिणाम कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि भावों के द्वैविध्य का ख्यापन करने के लिए क्रिया का पृथक् निर्देश किया है। द्रव्य के भाव दो प्रकार के हैं-

(१) परिस्पन्दात्मक (२) अपरिस्पन्दात्मक।

उसमें परिस्पन्दात्मक भाव को क्रिया कहते हैं। अर्थात् क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होना परिस्पन्दात्मक क्रिया है और अपरिस्पन्दात्मक को परिणाम कहते हैं। इन दोनों भावों में काल निमित्त है। इस बात की सूचना के लिए क्रिया का पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है। **(रा.वा. २१)**

१९. प्रश्न : 'परत्वापरत्व' को पृथक् क्यों कहा है 'वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वानि' ऐसा लघु सूत्र क्यों नहीं किया ?

उत्तर : परस्पर अपेक्षा के कारण परत्वापरत्व को पृथक् ग्रहण किया है। परत्व की अपेक्षा अपरत्व और अपरत्व की अपेक्षा परत्व होता है अत: परस्पर अपेक्षा को सूचित करने के लिए परत्वापरत्व को सूत्र में पृथक् ग्रहण किया है।[१] **(रा.वा. २८)**

२०. प्रश्न : 'परत्वापरत्व' अनेक प्रकार का है अत: यहाँ किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : क्षेत्रकृत, गुणकृत और कालकृत परत्वापरत्व में यहाँ काल के उपकार का प्रकरण होने से कालकृत परत्वापरत्व का ग्रहण करना चाहिए। दूरदेशवर्ती कुमार और तपस्वी की अपेक्षा समीपवर्ती तपस्वी एवं चाण्डाल में काल की अपेक्षा 'पर' व्यवहार देखा जाता है और विप्रकृष्ट दूर-देशवर्ती तपस्वी में 'अपर' व्यवहार देखा जाता है। यहाँ ये कालकृत परत्वापरत्व ग्रहण करने चाहिए। **(रा.वा. २२)**

२१. प्रश्न : परिणामादिक को नहीं कहना चाहिए क्योंकि ये वर्त्तना के ही विकल्प हैं ?

उत्तर : दो प्रकार के काल के अस्तित्व को बताने के लिए परिणाम आदि को ग्रहण किया है। परमार्थ काल और व्यवहार काल के भेद से काल दो प्रकार का है। जैसे- धर्म, अधर्म द्रव्य आदि गति-स्थिति में उपकारक हैं, उसी प्रकार वर्त्तना में मुख्य काल द्रव्य उपकारक है। **(रा.वा. २४)**

२२. प्रश्न : काल द्रव्य का स्वरूप क्या है ?

उत्तर : वह काल नामक पदार्थ न तो स्वयं परिणमित होता है और न अन्य को अन्य रूप से परिणमाता है। किन्तु स्वत: नाना प्रकार के परिणामों को प्राप्त होने वाले पदार्थों का काल स्वयं हेतु होता है। **(ध. ४/३१५)**

जिसके द्वारा कर्म, भव, काय और आयु की स्थितियाँ कल्पित या संख्यात की जाती हैं अर्थात् कही जाती हैं उसे काल कहते हैं। इस प्रकार काल शब्द की व्युत्पत्ति है। काल, समय और अद्धा ये एकार्थवाची हैं। **(ध. ४/३१८)**

पाँच वर्ण और पाँच रस रहित, दो गन्ध और आठ स्पर्श रहित अगुरु-लघु, सूक्ष्म अतीन्द्रियज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य, अमूर्त्त और वर्त्तना लक्षण वाला काल है। **(पं. का. ता. २४)**

सत्ता रूप स्वभाव वाले जीव के तथैव पुद्गलों के और 'च' शब्द से धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य के परिवर्तन में जो निमित्त कारण हो वह नियम से काल द्रव्य है। **(पं. का. ता. २३)**

२३. प्रश्न : काल कितने प्रकार का है ?

उत्तर : काल दो प्रकार का है-

(१) परमार्थ काल (२) व्यवहार काल। **(रा.वा. २४)**

(१) मुख्य काल (२) अमुख्य काल। **(ति.प. ४/२८२)**

सामान्य से काल एक प्रकार का है। **अथवा**

काल छह प्रकार का है-

(१) गुणस्थिति काल (२) भवस्थिति काल (३) कर्म स्थिति काल (४) काय स्थिति काल (५) उपपाद स्थिति काल (६) भाव स्थिति काल। **अथवा -** काल अनेक प्रकार का है, क्योंकि परिणामों से पृथग्भूत काल का अभाव है तथा परिणाम अनन्त पाये जाते हैं। **(ध. ४/३२२)**

काल तीन प्रकार का है।

(१) भूतकाल (२) वर्तमान काल (३) भविष्यत् काल। **(रा.वा. २५)**

२४. प्रश्न : निश्चय काल किसे कहते हैं ?

उत्तर : वह काल वर्ण, गन्ध-रस-स्पर्श रहित है। वर्णादि रहित होने से अमूर्त्त है और अमूर्त्त होने से सूक्ष्म, अतीन्द्रिय ज्ञान ग्राह्य है और वह षट्गुण हानि वृद्धि सहित अगुरुलघुत्व स्वभाव वाला है। काल का लक्षण वर्तनाहेतुत्व है। **(पं.का. ता. २४)**

जो आदि और अन्त से रहित है, अमूर्त्त है, नित्य है, समय आदि का उपादान कारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है और कालाणु द्रव्य रूप है, वह निश्चय काल है। **(वृ. द्र. सं. टी. २१)**

वर्त्तना ही है लक्षण जिसका वह वर्त्तना लक्षण वाला कालाणु द्रव्य रूप निश्चय काल है। **(रा.वा.६)**

कुम्हार के चक्र की भाँति यह परमार्थ काल वर्तना का निमित्त है। उसके बिना पाँच अस्तिकायों की वर्तना नहीं हो सकती। **(नि.सा. ३३ श्लो. ४८)**

जो वर्तना लक्षण वाला है वह परमार्थ काल है। **(वृ. द्र. सं. टी. २१)**

निश्चयकाल नित्य है, क्योंकि वह अपने गुण-पर्यायों के आधारभूत द्रव्यरूप से सदैव अविनाशी है। **(पं. का. टी. १००)**

२५. प्रश्न : व्यवहार काल किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव तथा पुद्गल के परिवर्तन रूप जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है, उस पर्याय की जो समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति है स्वरूप जिसका वह द्रव्य पर्याय रूप व्यवहार काल है। संस्कृत प्राभृत में भी कहा है-

जो स्थिति है, वह काल संज्ञक है। द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो यह समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है, यह स्थिति ही व्यवहार काल है, वह पर्याय व्यवहार काल नहीं है। पर्याय सम्बन्धिनी स्थिति व्यवहार काल है। **(वृ. द्र. सं.टी. २१)**

२६. प्रश्न : व्यवहार काल किस स्वरूप है ?

उत्तर : वह व्यवहार काल समय, आवली, लव, मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्व, पर्व, पल्योपम, सागरोपम आदि रूप है। **(ध. ४/३१७)** समय निमिष, काष्ठा, कला घड़ी, दिन-रात आदि भेदों से यह व्यवहार काल उत्पन्न होता है। **(नि.सा. श्लो. ४७)**

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष इस प्रकार पराश्रित (व्यवहार) काल है। **(पं. का. २५ ता.)** यदि भव, आयु, काय और शरीर आदि की स्थिति का समय जोड़ा जाये तो वह अनन्त समयरूप होता है और उसका परिवर्तन भी अनन्त प्रकार से होता है। **(म.पु. ३/१३)**

२७. प्रश्न : व्यवहार काल कितने प्रकार का है ?

उत्तर : असंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली का एक उच्छ्वास होता है, आदि। व्यवहार काल के आवली से लेकर संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेद होते हैं। **(गो.जी. ५७४-७६)**

व्यवहार काल तीन प्रकार का है-

(१) अतीत काल (२) अनागत काल (३) वर्तमान काल। **(गो.जी. ५७८)**

पुद्गल द्रव्य से अनन्तगुणा व्यवहार काल है। **(गो.जी. ५९०)**

व्यवहार काल दो प्रकार का है-

(१) समय (२) आवलि। **(नि.सा. ३१)**

२८. प्रश्न : लोक में कालाणु कितने हैं ?

उत्तर : जितने लोकाकाश में प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं। इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। एक-एक आकाशप्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। **(रा.वा. २४)** जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं, वे लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर

कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। **(वृ.द्र.सं.टी. २२)**

घनरूप सात राजू (७×७×७ = ३४३) के जितने प्रदेश हैं, यह काल द्रव्य उतने प्रमाण है। **(मू.आ.२३२)**

२९. प्रश्न : कालाणु द्रव्य कैसे है ?

उत्तर : कालाणु द्रव्य निष्क्रिय है। **(रा.वा. २४)**

कालाणु में मुख्य और प्रदेश कल्पना नहीं है क्योंकि ये निरवयवी हैं। कालाणु में कायत्व का अभाव है, विनाश का कारण न होने से कालाणु नित्य है, कालाणु में परप्रत्यय से उत्पाद-विनाश होता रहता है इसलिए अनित्य भी है। वे कथंचित् अमूर्त्त एवं कथंचित् मूर्त्त हैं। **(रा.वा. २४)**

३०. प्रश्न : कालाणु में कायत्व का अभाव क्यों है ?

उत्तर : परमाणु में प्रदेशप्रचय के कारण उपचार से प्रदेश कल्पना है परन्तु कालाणु में धर्मास्तिकाय आदि के समान न तो मुख्य प्रदेशप्रचय-कल्पना है और न परमाणु के समान उपचार प्रदेश प्रचय कल्पना है, अत: कालाणु में कायत्व का अभाव है। **(रा.वा. २४)**

कालाणु तो द्रव्यत: प्रदेशमात्र होने से और पर्यायत: परस्पर सम्पर्क न होने से अप्रदेशी ही है। इसलिए निश्चय हुआ कि कालद्रव्य अप्रदेशी है अर्थात् कायत्व से रहित है। **(प्र.सा.आ. १३५)**

काल को कायपना नहीं है क्योंकि वह एक प्रदेशी है। **(नि.सा. ३६)**

३१. प्रश्न : कालाणु मूर्त्त एवं अमूर्त्त किस अपेक्षा है ?

उत्तर : सुई में धागा जाने के आकाशमार्ग के छिद्र के समान परिछिन्न मूर्त्ति होने पर भी रूप-रस आदि से रहित होने के कारण अमूर्त्त है। अमूर्त्त होते हुए भी सुई के छिद्र का आकाश सुई की नोक बराबर मूर्त्त हो जाता है, उतने स्थान का कालाणु भी परिछिन्न हो जाने से मूर्त्त सा दिखता है परन्तु रूप आदि नहीं होने से वास्तव में अमूर्त्त है। **(रा.वा. २४)**

३२. प्रश्न : काल द्रव्य के अभाव में अलोकाकाश में वर्तना कैसे होती है ?

उत्तर : आकाश अखण्ड द्रव्य है इसलिए जैसे- चाक के एक कोने में डण्डे की प्रेरणा से कुम्हार का सारा चाक घूमने लगता है अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का प्रिय अनुभव एक अंग में करने से समस्त शरीर में सुख अनुभव होता है, उसी प्रकार लोकाकाश में स्थित जो कालाणु द्रव्य है वह आकाश के एकदेश में स्थित है तो भी सर्व अखण्ड आकाश में परिणमन होता है। **(वृ.द्र.सं.टी. २२)**

जिस प्रकार लटकती हुई लम्बी डोरी को, लम्बे बाँस को या कुम्हार के चाक को एक ही स्थान पर स्पर्श करने पर भी सर्वत्र चलन होता है, जिस प्रकार मनोज्ञ स्पर्शनेन्द्रिय विषय का अथवा रसनेन्द्रिय विषय का शरीर के एक ही भाग में स्पर्श होने पर भी सम्पूर्ण आत्मा में सुखानुभव होता है और जिस प्रकार सर्पदंश या व्रण आदि शरीर के एक ही भाग में होने पर भी सम्पूर्ण आत्मा में दु:ख वेदना होती है, उसी

प्रकार कालद्रव्य लोकाकाश में ही होने पर भी सारे आकाश में परिणति होती है क्योंकि आकाश अखण्ड एक द्रव्य है। **(पं. का. ता. २४)**

३३. प्रश्न : सर्व द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण काल द्रव्य है तो काल-द्रव्य के परिणमन में कौनसा द्रव्य कारण है ?

उत्तर : जिस तरह आकाश द्रव्य शेष सब द्रव्यों का आधार है और अपना आधार भी आप ही है, इसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है और अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है। **(वृ. द्र.सं.टी. २२)**

जैसे- दीपक घट-पट आदि अन्य पदार्थों का प्रकाशक होने पर भी स्वयं अपने आप का प्रकाशक होता है, उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक आदि की आवश्यकता नहीं हुआ करती, इसी प्रकार से काल द्रव्य भी अन्य जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के परिवर्तन का निमित्त कारण होते हुए भी अपने आपका परिवर्तन स्वयं ही करता है, उसके लिए किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। **(ध. ४/३२०-२१)**

३४. प्रश्न : जैसे काल द्रव्य अपना उपादान कारण है और अपने परिणमन का सहकारी कारण है, वैसे ही जीव आदि सब द्रव्य भी अपने उपादान कारण और अपने-अपने परिणमन के सहकारी कारण क्यों नहीं हैं ? उनके परिणमन में काल से क्या प्रयोजन ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण की आवश्यकता न हो तो सब द्रव्यों के साधारण गति, स्थिति, अवगाहन के लिए सहकारी कारण-भूत धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। काल का कार्य घड़ी दिन आदि प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, किन्तु धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम से ही जाना जाता है। यदि काल द्रव्य का अभाव माना जाएगा तो धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य व आकाश द्रव्य के अभाव का प्रसंग भी उसी प्रकार आ जाएगा और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे, जो आगमविरुद्ध है। **(वृ. द्र. सं. टी. २२)**

३५. प्रश्न : यदि काल द्रव्य न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : काल के अभाव में, पदार्थों का परिणमन नहीं होगा और परिणमन न हो तो, द्रव्य भी न होगा तथा पर्याय भी न होगी, इस प्रकार सर्व के अभाव का प्रसंग आयेगा। **(नि.सा. टी. ३२)**

३६. प्रश्न : काल द्रव्य का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : समयादिक क्रियाविशेषों की और समयादिक के द्वारा होने वाले पाक आदिक के समय पाक इत्यादिक रूप से अपनी-अपनी रौढिक संज्ञा के रहते हुए भी उसमें जो समय-काल, औदन पाककाल इत्यादि रूप से कालसंज्ञा का अध्यारोप होता है, वह उस संज्ञा के निमित्तभूत मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान कराता है, क्योंकि गौण व्यवहार मुख्य की अपेक्षा रखता है। **(सर्वा. ५६९)**

३७. प्रश्न : समय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अति सूक्ष्म अविभागी कालांश को समय कहते हैं। तत्प्रायोग्य वेग से एक परमाणु के ऊपर की ओर और दूसरे परमाणु के नीचे की ओर जाने वाले इन दो परमाणुओं के शरीर द्वारा स्पर्शन होने में लगने वाला काल समय कहलाता है। **(ध. पु. १३/२९८)**

द्रव्यों की जघन्य पर्याय स्थिति क्षणमात्र होती है और जघन्य स्थिति रूप क्षण मात्र को ही समय कहते हैं। **(गो.जी. ५७३)**

एक परमाणु का दूसरे परमाणु को व्यतिक्रम करने में जितना काल लगता है उस काल को समय कहते हैं। **(ध. ४/३१८)**

आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल परमाणु मन्दगति से चलता हुआ जितने काल में अपने अनन्तवर्ती प्रदेश में जाता है उसे समय कहते हैं। **(न.च. १३९)**

पुद्गल परमाणु का निकट में स्थित आकाश प्रदेश के अतिक्रमण प्रमाण जो अविभागी काल है वही समय नाम से प्रसिद्ध है। **(ति. प. ४/२८८)**

३८. प्रश्न : यदि ऐसा है तो एक समय में परमाणु चौदह रज्जु गमन करता है, यह आगम वाक्य कैसे रहेगा ?

उत्तर : आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाशप्रदेश से अतिक्रमण कर दूसरे प्रदेश पर गमन करना कहा है, सो तो मन्दगति की अपेक्षा से है तथा परमाणु का एक समय में जो चौदह रज्जु गमन कहा है वह शीघ्रगमन की अपेक्षा से है। इसलिए शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक समय ही लगता है। इसका दृष्टान्त है कि जैसे जो देवदत्त धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्रगति के द्वारा सौ योजन एक दिन में भी जाता है, तो क्या उस देवदत्त को शीघ्रगति से सौ योजन गमन करने में सौ दिन हो गये ? किन्तु एक दिन ही लगेगा। **(वृ. द्र. सं. टी. २२)**

३९. प्रश्न : जब पुद्गल परमाणु शीघ्र गति से एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है तब वह चौदह राजू तक आकाशप्रदेशों में श्रेणिबद्ध जितने कालाणु हैं उन सबको स्पर्श करता है अत: असंख्य कालाणुओं को स्पर्श करने से 'समय' के असंख्य अंश होने चाहिए ?

उत्तर : विशिष्ट गति परिणाम से विशिष्ट अवगाह परिणाम के समान, एक समय में परमाणु के लोकान्त पर्यन्त गमन होने पर भी समय के सांशता नहीं आती है। वह इस प्रकार- जैसे विशिष्ट अवगाह परिणाम के कारण एक परमाणु के बराबर अनन्त परमाणु का एक स्कन्ध हो जाने पर भी परमाणु के अनंश-निरंश-अखण्ड होने से उसके अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता है, उसी प्रकार विशिष्ट गति परिणाम के

कारण एक कालाणु से व्याप्त एक आकाश प्रदेश के उल्लंघन में लगने वाले समय के बराबर एक समय में ही, लोक के एक ओर के अन्तिम स्थान पर्यन्त लोक का उल्लंघन कर जाने वाले परमाणु के असंख्यात कालाणु समय के अनंश-अखण्ड होने से उसके असंख्यात अंशों को सिद्ध नहीं करते हैं। **(प्र.सा. आ. १३९)**

४०. प्रश्न : आवली आदि के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : आवली - असंख्यात समयों की एक आवली होती है।

उच्छ्वास (नाड़ी) - संख्यात आवली का एक उच्छ्वास होता है।

स्तोक - सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है।

लव - सात स्तोक का एक लव होता है।

नाली (घड़ी) - साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली होती है।

मुहूर्त्त - दो घड़ी का एक मुहूर्त्त होता है।

भिन्न मुहूर्त्त - एक समय कम मुहूर्त्त का भिन्न मुहूर्त्त होता है। **(गो.जी. ५७४-५७५)**

तीन हजार सात सौ तेहत्तर (३७७३) उच्छ्वासों का एक मुहूर्त्त कहा जाता है। एक मुहूर्त्त में पाँच हजार एक सौ दश (५११०) निमेष गिने हैं। **(ध. ४/३१८)**

निमिष - आँख की पलक मारने से जो प्रगट हो व जिसमें असंख्यात समय बीत जाते हैं, वह निमिष है।

काष्ठा - पन्द्रह निमिषों की एक काष्ठा होती है।

कला - तीस काष्ठाओं की एक कला होती है।

नाली - कुछ अधिक बीस कला की एक नाली (घटिका या घड़ी) होती है।

ऋतु - दो मास की एक ऋतु होती है।

अयन - तीन ऋतु का एक अयन होता है।

वर्ष - दो अयन का एक वर्ष है। **(पं.का.ता. २५)**

दिवस - तीस मुहूर्त्तों का एक दिन रात होता है।

पक्ष - पन्द्रह दिनों का एक पक्ष है।

मास - दो पक्षों का एक मास होता है। वे मास श्रावण आदि के नाम से प्रसिद्ध है। दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक वर्ष होता है।

वर्ष - बारह मास का एक वर्ष होता है।

युग - पाँच वर्षों का एक युग होता है। **(हरि. पु. ७/२१-२२)**

आठ निमिष की काष्ठा होती है। सोलह काष्ठा की कला होती है। बत्तीस कला की घड़ी, साठ घड़ी का अहोरात्र .... होता है। **(नि.सा.टी. ३१)**

नोट - पल्य, सागर आदि का लक्षण **(देखे ३/३८)।**

४१. प्रश्न : मुहूर्त्त कौन-कौन से है ?

उत्तर : (१) रोद्र (२) श्वेत (३) मैत्र (४) सारभट (५) दैत्य (६) वैरोचन (७) वैश्वदेव (८) अभिजित (९) रोहण (१०) बल (११) विजय (१२) नैऋत्य (१३) वारुण (१४) अर्यमन् (१५) भाग्य। ये पन्द्रह मुहूर्त्त दिन में होते हैं।

(१) सावित्र (२) धुर्य (३) दात्रक (४) यम (५) वायु (६) हुताशन (७) भानु (८) वैजयन्त (९) सिद्धार्थ (१०) सिद्धसेन (११) विक्षोभ (१२) योग्य (१३) पुष्पदन्त (१४) सुगन्धर्व (१५) अरुण, ये पन्द्रह मुहूर्त्त रात्रि में होते हैं। **(ध. ४/३१९)**

४२. प्रश्न : अतीतादि काल कितने हैं ?

उत्तर : अतीत सिद्धों को सिद्ध पर्याय के प्रादुर्भाव समय से पूर्व बीता हुआ जो आवली आदि व्यवहार काल वह उन्हें संसार-दशा में जितने संस्थान बीत गये उनके जितना होने से अनन्त है। **(नि.सा.टी. ३१)**

सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर अतीत काल का प्रमाण होता है। **(गो.जी. ५७८)**

संख्यात आवली गुणित सिद्धराशि अतीत काल का प्रमाण है। **(का.अ.टी. २२१)**

वर्तमान काल समय मात्र है। **(गो. जी. ५७९)**

सर्व जीवों से और सर्व पुद्गलों से अनन्तगुणा भविष्यत् काल है। **(गो.जी. ५७९)**

४३. प्रश्न : देवलोक में तो दिन-रात्रि रूप काल का अभाव है, फिर वहाँ पर काल का व्यवहार कैसे होता है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि यहाँ के काल से देवलोक में काल का व्यवहार होता है। **(ध. ४/३२१)**

पुद्गल

पुद्गल का लक्षण कहते हैं-

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

(स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः) स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले (पुद्गल) पुद्गल होते हैं।

अर्थ - स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

स्पर्श - जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है।

रस - जो स्वाद रूप होता है वह रस है।

गन्ध - जो सूंघा जाता है वह गन्ध है।

वर्ण - जिसका कोई वर्ण है उसे वर्ण कहते हैं।

नोट - स्पर्शादि के लक्षण देखें **(२/२०)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आपने शरीरादि को पुद्गल का उपकार माना है परन्तु चार्वाकादि शरीर को जीव कहते हैं, वह कैसे ? उसके उत्तर में आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. उ. २३)**

यहाँ शंकाकार कहता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल द्रव्य का उपकार कहा तथा '**उपयोगो लक्षणम्**' इत्यादि सूत्र द्वारा इनका लक्षण भी कहा। इसी प्रकार '**अजीवकाया**' इत्यादि सूत्र द्वारा पुद्गलों का सामान्य लक्षण भी कहा, किन्तु पुद्गलों का विशेष लक्षण नहीं कहा, इसलिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ५६९)**

२. प्रश्न : स्पर्शादि के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर : स्पर्श के आठ भेद हैं- मृदु-कठोर, गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष।

रस के पाँच भेद हैं- तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय।

गन्ध के दो भेद हैं- (१) सुगन्ध (२) दुर्गन्ध।

वर्ण के पाँच भेद हैं- नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहित (रक्त)। **(रा.वा. ७-१०)**

३. प्रश्न : स्पर्शादि के उत्तर भेद कितने हैं ?

उत्तर : इन स्पर्शादि के उत्तर भेद एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण परिणाम होते हैं। **(रा.वा. १०)**

४. प्रश्न : सर्व प्रथम स्पर्श का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सभी में सबल होने से स्पर्श को आदि में ग्रहण किया है। पाँचों इन्द्रियों के सभी विषयों में भी स्पर्श सबल है क्योंकि स्पष्टग्राही इन्द्रियों में स्पर्श की शीघ्र अभिव्यक्ति होती है वा सर्वप्रथम स्पर्श का ही ग्रहण होता है तथा सभी संसारी जीवों के यह ग्रहण योग्य होता है। इसलिए स्पर्श का ग्रहण सर्वप्रथम

किया है। **(रा.वा. १)**

५. प्रश्न : स्पर्श के बाद रस आदि का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : यद्यपि स्पर्श-सुख से निरुत्सुक जीवों में कहीं-कहीं रस व्यापार की प्रचुरता देखी जाती है, फिर भी स्पर्श के होने पर ही उनके रस का व्यापार होता है, अत: स्पर्श का प्रथम ग्रहण करना न्याय-संगत है। स्पर्श के बाद रस का ग्रहण होता है इसलिए स्पर्श के बाद रस का ग्रहण किया गया है क्योंकि स्पर्श पूर्वक ही रस का ग्रहण होता है।

चक्षु का विषय न होने से रूप के पूर्व गन्ध का ग्रहण किया है। **(रा.वा. २-४)**

६. प्रश्न : वर्ण का अन्त में ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : स्थूल होने पर ही उसकी उपलब्धि होती है अत: अन्त में वर्ण का ग्रहण किया गया है। पुद्गल के सर्व गुणों के अन्त में वर्ण को ग्रहण किया है क्योंकि स्थूल पुद्गलों में ही वर्ण का ग्रहण होता है सूक्ष्म में नहीं। **(रा.वा. ५)**

७. प्रश्न : पूर्व में कहे ''रूपिण: पुद्गला'' सूत्र से ही पुद्गल रूपादि गुण वाला सिद्ध हो जाता है अत: यह सूत्र निष्फल है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ''नित्यावस्थितान्यरूपाणि'' इस सूत्र में धर्मादिक द्रव्यों का नित्य आदि रूप से निरूपण किया है। इससे पुद्गलों को अरूपित्व प्राप्त हुआ, अत: इस दोष को दूर करने के लिए **'रूपिण: पुद्गला:'** यह सूत्र कहा है। परन्तु यह सूत्र पुद्गलों के स्वरूप विशेष का ज्ञान कराने के लिए कहा है। **(सर्वा. ५७०)**

८. प्रश्न : सूत्र में 'मतुप्' प्रत्यय क्यों किया है ?

उत्तर : स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाले पुद्गल कहे जाते हैं। इनका पुद्गल द्रव्य से सदा सम्बन्ध है। यह बताने के लिए 'मतुप्' प्रत्यय किया है। **(सर्वा. ५७०)**

९. प्रश्न : पुद्गल का लक्षण क्या है ?

उत्तर : जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श परिणाम वाला होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है वह सब पुद्गल द्रव्य है। **(का.अ.टी. २०७)**

सूक्ष्म परमाणु से लेकर महास्कन्ध पृथिवी पर्यन्त पुद्गल के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार प्रकार के गुण विद्यमान रहते हैं। इनके सिवाय (अक्षर-अनक्षर आदि के भेद से विविध प्रकार का) जो शब्द है, वह भी पुद्गल है अर्थात् पुद्गल की पर्याय है। **(प्र.सा.ता. १३२)**

पुद्गल की पर्यायों का कथन करते हैं-

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थान भेदतमच्छाया-तपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तम-छाया-आतप-उद्योतवन्तः च।

अर्थ - पुद्गल शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत पर्याय वाले हैं।

शब्द - जो अर्थ को कहता है वह शब्द है।

बन्ध - जो बाँधता है वह बंध है।

सौक्ष्म्य - सूक्ष्म का भाव सौक्ष्म्य है।

स्थौल्य - स्थूल का भाव स्थौल्य है।

संस्थान - जो आकार रूप होता है वह संस्थान है।

भेद - जो भेदन करता है वह भेद है।

तम - जो आत्मस्वरूप को अन्धकारावृत्त करता है, वह तम है।

छाया - जो प्रकाश का आवरण करती है वह छाया है।

आतप - असाता के उदय से जो अपने को तपाता है वह आतप है।

उद्योत - जो निरावरण को द्योतित (प्रकाशित) करता है वह उद्योत है।

१. प्रश्न : पुद्गल की कौन-कौन सी पर्यायें हैं ?

उत्तर : शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं। शब्द आदि के अतिरिक्त शास्त्रोक्त अन्य भी जैसे सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्यायें जाननी चाहिए। **(वृ. द्र. सं. टी. १६)**

२. प्रश्न : शब्द किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अर्थ को शपति अर्थात् कहता है, जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है वा कहना मात्र जिसका अर्थ है, वह शब्द है। **(रा.वा. १)**

बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ऐसी जो ध्वनि वह शब्द है। **(पं.का.स. ७९)**

३. प्रश्न : शब्द कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : शब्द दो प्रकार के होते हैं-

(१) भाषात्मक शब्द (२) अभाषात्मक शब्द। **(सर्वा. ५७२)**

शब्द तीन प्रकार के होते हैं-

(१) प्रशस्त (२) घोर (३) मोघ। **(ध. १३/२२२)**

शब्द छह प्रकार का है-

(१) तत (२) वितत (३) घन (४) सुषिर (५) घोष (६) भाषा। **(ध. १३/२२२)**

घोष - घर्षण को प्राप्त हुए द्रव्य से उत्पन्न हुआ शब्द घोष है। **(ध. १३/२२१)**

४. प्रश्न : भाषा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : भाषा दो प्रकार की होती है-

(१) साक्षर भाषा (२) अनक्षर भाषा। **(सर्वा. ५७२)**

(१) अक्षरात्मक भाषा (२) अनक्षरात्मक भाषा। **(ध. १३/२२१)**

भाषा अठारह प्रकार की है-

तीन कुरुक (कर्णाट) भाषाओं, तीन लाढ भाषाओं, तीन मरहठा (गुर्जर) भाषाओं, तीन मालव भाषाओं, तीन गौड़ भाषाओं और तीन मागध भाषाओं के भेद से अठारह भाषा होती हैं। **(ध. १३/२२२)**

५. प्रश्न : अक्षरात्मक एवं अनक्षरात्मक भाषा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अक्षरात्मक भाषा - उपघात से रहित इन्द्रियों वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की भाषा अक्षरात्मक भाषा है।

अनक्षरात्मक भाषा - द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मुख से उत्पन्न हुई भाषा तथा बालक और मूक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की भाषा भी अनक्षरात्मक भाषा है। **(ध. १३/२२१-२२)**

जिससे उनके सातिशय ज्ञान का पता चलता है ऐसे द्वीन्द्रिय आदि जीवों के शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। **(सर्वा. ५७२)**

संस्कृत, प्राकृतादि-भाषा रूप जो शब्द हैं वे साक्षर शब्द कहलाते हैं। **(त.सा. ३/६३)**

अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादि के शब्द रूप और दिव्यध्वनि रूप होते हैं। **(पं. का. ता. ७९)**

६. प्रश्न : अक्षरात्मक भाषा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अक्षरात्मक भाषा दो प्रकार की होती है-

(१) भाषा (२) कुभाषा। **(ध.१३/२२२)**

(१) संस्कृत भाषा (२) असंस्कृत भाषा। **(रा.वा. ३)**

अक्षरात्मक भाषा संस्कृत, प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य व म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है। **(द्र. सं.टी. १६)**

७. प्रश्न : कुभाषा कितनी होती हैं ?

उत्तर : कुभाषाएँ काश्मीर, देशवासी, पारसीक, सिंहल और वर्वरिक आदि जनों के (मुख से) निकली हुई सात सौ भेदों में विभक्त हैं। **(ध. १३/२२२)**

कर्कश, परुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्याङ्कुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी,भयंकरी और जीवों की हिंसा करने वाली ये दश दुर्भाषा हैं, इनको छोड़ें। **(ज्ञा. १८ पर उद्धृत)**

८. प्रश्न : अभाषात्मक भाषा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अभाषात्मक भाषा दो प्रकार की होती है।

(१) प्रायोगिक भाषा (२) वैस्रसिक भाषा।

प्रायोगिक - जो पुरुष के पुरुषार्थ से उत्पन्न होती है, वह प्रायोगिक भाषा है।

वैस्रसिक - मेघ आदि की गर्जना वैस्रसिक है क्योंकि उसमें किसी सचेतन प्राणी के पुरुषार्थ का प्रयोग नहीं है, स्वयमेव पुद्गल वर्गणायें परस्पर टकराकर ध्वनि उत्पन्न करती हैं। **(रा.वा. ४)**

९. प्रश्न : प्रायोगिक भाषा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : प्रायोगिक भाषा चार प्रकार की होती है-

(१) तत (२) वितत (३) घन (४) सुषिर।

तत - पुष्कर, भेरी आदि में चमड़े के तनाव से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह शब्द तत कहलाता है। **(रा.वा. ५)**

वीणा, त्रिसरिक, आलापिनी, वब्बीसक, खुक्खुण आदि से उत्पन्न हुआ शब्द तत है। **(ध. १३/२२१)**

वितत - तंत्रीकृत (तार के तनाव के कारण) वीणा, सुघोष आदि समुत्पन्न शब्द वितत कहलाता है। **(सर्वा. ५७२)** भेरी, मृदंग और पटह आदि से उत्पन्न शब्द वितत है। **(ध. १३/२२१)**

घन - ताल, घण्टा आदि अभिघात से समुद्भव शब्द घन कहलाते हैं। **(सर्वा. ५७२)** जयघंटा आदि ठोस द्रव्यों के अभिघात से उत्पन्न हुआ शब्द घन है। **(ध. १३/२२१)**

सुषिर - बाँसुरी, शंख आदि से निकलने वाला शब्द सुषिर कहलाता है।

१०. प्रश्न : बंध कितने प्रकार का है?

उत्तर : बंध दो प्रकार का है - १. वैस्रसिक बंध २. प्रायोगिक बंध

११. प्रश्न : वैस्रसिक बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : बन्ध विधि से विपरीत विस्रसा कहलाता है। पुरुषार्थ की अपेक्षा विधि होती है अर्थात् जिसमें पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं है वह विस्रसा है। स्वभाव जिसका प्रयोजन है वह वैस्रसिक बन्ध है। **(रा.वा. ८)** मेघ आदि में जो बिजली रूप अग्नि का बन्ध है वह वैस्रसिक बन्ध है। **(त.सा. ३/६७)** जिसमें पुरुष का प्रयोग अपेक्षित नहीं है वह वैस्रसिक बन्ध है। जैसे- स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि का विषयभूत बन्ध वैस्रसिक बन्ध है। **(सर्वा. ५७२)**

१२. प्रश्न : वैस्रसिक बन्ध कितने प्रकार का है ?

उत्तर : वैस्रसिक बन्ध दो प्रकार का है-

(१) आदिमान् वैस्रसिक बन्ध (२) अनादिमान् वैस्रसिक बन्ध

आदिमान् वैस्रसिक बन्ध - स्निग्ध-रूक्ष गुणों के निमित्त बिजली, उल्का, जल-धारा, अग्नि, इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्गल का बन्ध है वह आदिमान् वैस्रसिक बन्ध है।

अनादि वैस्रसिक बन्ध - अनादि वैस्रसिक बन्ध धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध करने से नव प्रकार का होता है। **(रा.वा. ७)**

कालाणुओं का कभी परस्पर विश्लेष नहीं होता अत: कालाणुओं का भी वैस्रसिक बन्ध अनादि है। एक जीव के प्रदेशों का संहरण और विसर्पण स्वभाव होने पर भी परस्पर विश्लेष (वियोग) नहीं होता है अत: उनका अनादि बन्ध है।

धर्म, अधर्म और आकाश, काल का कभी परस्पर वियोग नहीं होता अत: इनका भी परस्पर अनादि बन्ध है। नाना जीवों का भी सामान्य दृष्टि से अन्य द्रव्यों के साथ अनादि सम्बन्ध है। पुद्गल द्रव्यों में भी महास्कन्ध आदि का सामान्य रूप से अनादि बन्ध है।

इस प्रकार सब द्रव्यों में बन्ध की सम्भावना है परन्तु यहाँ पर पुद्गल का प्रकरण होने से पुद्गल का ही बन्ध लेना चाहिए। **(रा.वा. ७)**

१३. प्रश्न : नौ प्रकार का अनादिमान् वैस्रसिक बन्ध कौन-कौन सा है ?

उत्तर : (१) धर्मास्तिकाय बन्ध (२) धर्मास्तिकाय देशबन्ध (३) धर्मास्तिकाय प्रदेश बन्ध (४) अधर्मास्तिकाय बन्ध (५) अधर्मास्तिकाय देशबन्ध (६) अधर्मास्तिकाय प्रदेशबन्ध (७) आकाशास्तिकाय बन्ध (८) आकाशास्तिकाय देशबन्ध (९) आकाशास्तिकाय प्रदेशबन्ध।

सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय है। उसका आधा देश और आधे का आधा प्रदेश कहलाता है। **(रा.वा. ७)**

१४. प्रश्न : प्रायोगिक बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : पुरुष के काय, वचन और मन के संयोग को प्रयोग कहते हैं, प्रयोग जिसका प्रयोजन है

वह प्रायोगिक बन्ध कहलाता है। **(रा.वा. ९)** जो बन्ध पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। **(सर्वा. ५७२)** लाख तथा लकड़ी आदि का जो बन्ध है वह प्रायोगिक बन्ध जानने के योग्य है। कर्म और नोकर्म का जो बन्ध है वह भी प्रायोगिक बन्ध है। **(त.सा. ३/६७)**

१५. प्रश्न : प्रायोगिक बन्ध कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार के होते हैं-

(१) अजीव विषयक बन्ध (२) जीवाजीव विषयक बन्ध।

अजीवविषयक बन्ध - लाख और काष्ठ का बन्ध अजीव विषयक बन्ध है।

जीवाजीव विषयक बन्ध - कर्म और नोकर्म का बन्ध जीवाजीव विषयक बन्ध है।

कर्म बन्ध - ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध को कर्मबन्ध कहते हैं।

नोकर्म बन्ध - औदारिक आदि शरीर विषयक नोकर्म बन्ध है। **(रा.वा. ९)**

अथवा - बन्ध पाँच प्रकार का है-

(१) आलपन (२) आलेपन (३) संश्लेष (४) शरीर बन्ध (५) शरीरी बन्ध। **(रा.वा. ९)**

१६. प्रश्न : आलपन आदि बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : आलपन बन्ध - रथ, गाड़ी आदि का लोहे की साँकल रस्सी आदि से खींच कर बाँधना आलपन बन्ध है।

आलेपन बन्ध - दीवार, महल आदि का मिट्टी का गारा, ईंट आदि के द्वारा परस्पर चिनना, लेपन देना, अर्पण करना आलेपन (आलयन) बन्ध है।

संश्लेष बन्ध - जतु (लाख) काठ आदि के संयोग से संश्लेषण से बन्ध होता है। उसे संश्लेष बन्ध कहते हैं।

शरीर बन्ध - औदारिक आदि शरीर नोकर्म बन्ध के भेद से शरीरबन्ध पाँच प्रकार का है। शरीर बन्ध प्रत्येक के संयोगज भंग की अपेक्षा पन्द्रह प्रकार का भी है।

शरीरी बन्ध - शरीरी बन्ध दो प्रकार का है-

(१) अनादिमान् शरीरी बन्ध (२) आदिमान् शरीरी बन्ध। **(रा.वा. ९)**

१७. प्रश्न : अनादिमान् एवं आदिमान् शरीरी बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनादिमान् शरीरी बन्ध - जीव के आठ मध्य प्रदेशों का जो ऊपर-नीचे चार-चार रूप से स्थित हैं, वे सदा वैसे ही रहते हैं, रुचक के समान अवस्थित हैं, सर्वकाल में एक-दूसरे को नहीं छोड़ते हैं, यह अनादिमान् शरीरी बन्ध है।

आदिमान् शरीरी बन्ध - अन्य प्रदेशों में कर्म निमित्तक संकोच-विस्तार होता रहता है अत: उनका बन्ध आदिमान् है **अथवा-**

जैसे - क्रोध परिणत आत्मा को क्रोध कहते हैं, उसी प्रकार गरम लोहे के पिण्ड के समान शरीर के साथ बन्ध की अपेक्षा एकत्व को प्राप्त हुआ शरीर परिणत आत्मा ही शरीर है अत: शरीर बन्ध के पूर्वोक्त औदारिक आदि पन्द्रह भेद शरीरी में भी लगा लेने चाहिए। **(रा.वा. ९)**

१८. प्रश्न : कर्म और नोकर्म में क्या अन्तर है ?

उत्तर : आत्मा के योग परिणामों के द्वारा जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। ये कर्म ही आत्मा को परतन्त्र बनाने का मूल कारण हैं।

कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिक शरीर आदि रूप पुद्गल परिणाम जो आत्मा के सुख-दु:ख में सहायक होता है वह ईषत् कर्म नोकर्म कहलाता है।

अथवा - स्थिति के भेद से भी कर्म और नोकर्म के भेद हैं। **(रा.वा.९)**

१९. प्रश्न : सूक्ष्मता कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : सूक्ष्मता दो प्रकार की होती है-

(१) अन्त्य सूक्ष्मता (२) आपेक्षिक सूक्ष्मता।

अन्त्य सूक्ष्मता - अन्तिम सूक्ष्मता परमाणु में है क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं है।

आपेक्षिक सूक्ष्मता - आपेक्षिक सूक्ष्मता बेर, आँवला, बिल्व फल आदि की अपेक्षा है। अर्थात् बिल्व से आँवला सूक्ष्म है और आँवला से बेर सूक्ष्म है। **(रा.वा. १०)**

२०. प्रश्न : स्थूलता कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : स्थूलता दो प्रकार की है-

(१) अन्त्य स्थूलता। (२) आपेक्षिक स्थूलता।

अन्त्य स्थूलता जगद्व्यापी महास्कन्ध में है।

आपेक्षिक स्थूलता बेर, आँवला, बिल्व और ताड़फल आदि में है अर्थात् बेर की अपेक्षा आँवला स्थूल है और आँवले की अपेक्षा बिल्व स्थूल है। **(रा.वा. ११)**

२१. प्रश्न : संस्थान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संस्थान दो प्रकार का है-

(१) इत्थंभूत संस्थान (२) अनित्थंभूत संस्थान।

इत्थंभूत संस्थान - गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, लम्बा, चौड़ा आदि रूप से जिसका वर्णन किया जा सके, वह इत्थंभूत संस्थान है। जैसे- पाटा, क्षेत्र, घर आदि।

अनित्थंभूत संस्थान - यह ऐसा लम्बा-चौड़ा है इत्यादि रूप से जिसका वर्णन नहीं किया जा सके, वह अनित्थंभूत संस्थान है जैसे- बिजली, मेघ आदि अनेक आकार। **(रा.वा. १२-१३)**

२२. प्रश्न : भेद कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : भेद छह प्रकार के हैं-

(१) उत्कर (२) चूर्ण (३) खण्ड (४) चूर्णिका (५) प्रतर (६) अणुचटन।

उत्कर - लकड़ी आदि को करोत आदि से चीरना उत्कर है।

चूर्ण - गेहूँ, चना, जौ आदि का सत्तू, चून आदि बनाना चूर्ण है।

खण्ड - घड़े आदि के खप्पर, टुकड़े आदि हो जाना खण्ड है।

चूर्णिका - मूंग, उड़द, चना आदि की दाल बनाना चूर्णिका है।

प्रतर - अभ्रक आदि के पटल प्रतर हैं।

अणुचटन - अग्नि से संतप्त लोहे आदि को घन आदि से कूटने पर जो स्फुलिंग निकलते हैं, उन्हें अणुचटन कहते हैं। **(रा.वा. १४)**

२३. प्रश्न : तम किसे कहते हैं ?

उत्तर : दृष्टि का प्रतिबन्धक कारण तम है। जो पुद्गल की पर्याय रूप वस्तु दृष्टि की प्रतिबन्धक है, जिसके होने पर चक्षु बाह्य वस्तु को देखने में असमर्थ हो जाती है उसे तम कहते हैं। उस अन्धकार को हटाने के कारण दीपक प्रकाशक कहा जाता है। **(रा.वा. १५)**

जो नेत्रों को रोकने वाला तथा प्रकाश का विरोधी है वह तम कहलाता है। **(त.सा. ३/६८)**

पूर्व के अशुभ कर्म के उदय से आत्मा खिन्न होता है या जिसके द्वारा दु:खी किया जाता है अथवा खेद मात्र तम कहलाता है। **(सुख बो.त.वृ. ३०८)**

२४. प्रश्न : छाया किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीर आदि के निमित्तों के कारण जो प्रकाश का रुकना है, उसे छाया जानना चाहिए। **(त.सा. ३/६९)**

जो प्रकाश का आवरण करती है उसे छाया कहते हैं। **(रा.वा. १६)** पृथ्वी आदि ठोस पदार्थ के सम्बन्ध से शरीरादि के प्रकाश आवरण के समान आकार से जो अपने को परिच्छिन्न करती है वह छाया है। **(सुख बो. त. वृ. ३०८)**

२५. प्रश्न : छाया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : छाया दो प्रकार की है-

(१) वर्ण विकार परिणता छाया (२) प्रतिबिम्ब मात्र छाया।

वर्णविकार परिणता - दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ में दर्पण के वर्ण के समान मुख आदि का दिखना तद्वर्ण परिणता (वर्ण विकार परिणता) छाया है।

प्रतिबिम्ब मात्र - धूप आदि में शरीरादि की छाया है, वह प्रतिबिम्ब मात्र छाया है। **(रा.वा. १७)**

नोट - आतप एवं उद्योत का विशेष देखें ८/११।

२६. प्रश्न : पुद्गल की पर्याय होने से क्रिया का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि धर्म, अधर्म, आकाश को पूर्वसूत्र में (७वें) में निष्क्रिय कहा है अत: क्रिया पुद्गल की पर्याय है, इसका बिना कहे ही ग्रहण हो जाता है। **(रा.वा. २०)**

२७. प्रश्न : काल के भी क्रियावत्त्व कहना चाहिए क्योंकि धर्मादि द्रव्यों के समान काल के क्रियावत्त्व का निषेध नहीं किया है ?

उत्तर : काल द्रव्य में पुद्गल की तरह क्रियावत्त्व का प्रसंग नहीं आता क्योंकि **'अजीव काया धर्माधर्माकाशपुद्गला:'** इस सूत्र में अस्तिकायों के निर्देश में काल द्रव्य का ग्रहण नहीं किया गया है। यदि अस्तिकाय के सूत्र में 'काल' द्रव्य का ग्रहण होता तब तो **'आ आकाशादेक द्रव्याणि' 'निष्क्रियाणि'** इन सूत्रों से काल के बाह्य होने के कारण काल के भी पुद्गल की तरह क्रियावत्त्व का प्रसंग आता, **अथवा** - यदि काल को सक्रिय मानना इष्ट होता तो 'द्रव्याणि जीवा: कालश्च' ऐसा निर्देश किया होता। परन्तु 'द्रव्याणि जीवा कालश्च' ऐसा सूत्र नहीं है और ऐसा करने पर 'जीवा: कालश्च' इस सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता तो सूत्र लघु हो जाता और 'कालश्च' इस सूत्र का पृथक् निर्माण भी नहीं करना पड़ता। इस प्रकार लघु न्याय से सर्वकार्य सिद्ध हो जाने पर भी जो आगे 'कालश्च' ऐसा पृथक् सूत्र बनाया गया है, उससे ज्ञात होता है कि काल के क्रियावत्त्व इष्ट नहीं है। यह धर्मादि की निष्क्रियता परिस्पन्द रूप क्रिया की अपेक्षा से जानना चाहिए, अस्ति भावात्मक क्रियाओं की अपेक्षा से नहीं। अत: अनादि पारिणामिक अस्ति आदि क्रियादृष्टि से काल द्रव्य क्रियावान् है परन्तु देशान्तर प्राप्ति कराने में समर्थ परिस्पन्द क्रिया-विशेष परिणाम का अभाव होने से काल निष्क्रिय है। **(रा.वा. २१)**

२८. प्रश्न : क्रिया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : क्रिया दस प्रकार की है-

प्रयोग, बन्धाभाव, छेद, अभिघात, अवगाहन, गुरु, लघु, संचार, संयोग और स्वभाव निमित्त

क्रिया।

(१) प्रयोगक्रिया - बाण, चक्र, कणय आदि की प्रयोग गति है क्योंकि बाण, चक्र आदि पुरुष के प्रयोग से देशान्तर में जाते हैं, यह प्रयोग क्रिया है।

(२) बन्धाभाव - एरण्ड और तिन्दुक के बीज आदि की बन्धाभाव गति है क्योंकि इनके बन्ध का अभाव होने से ऊर्ध्वगमन क्रिया होती है।

(३) छेदगति - मृदंग, भेरी, शंखादि शब्द रूप पुद्गलों की जो दूर तक जाते हैं, यह पुद्गलों की छेदगति है।

(४) अभिघातगति - जतु, गोलक, कन्दु, दारु, पिण्ड आदि की अभिघात गति है।

(५) अवगाहनगति - नौका आदि द्रव्यों की अवगाहन गति है।

(६) गुरुत्वगति - पाषाण, लोहा आदि के स्फालन से नीचे की ओर गुरुत्व गति है।

(७) लघुगति - तुम्बड़ी, अर्क, रुई आदि की लघुगति है।

(८) संचारगति - सुरा, सिरका आदि की संचारगति है।

(९) संयोगगति - मेघ, रथ, मुशल आदि क्रमशः वायु, घोड़ा, हाथी आदि के संयोग के निमित्त से होने वाली संयोग गति है।

(१०) स्वभावगति - वायु, अग्नि, परमाणु, सिद्ध और ज्योतिषी देवों आदि की गति स्वाभाविक होने से स्वभावगति है। **(रा.वा. २२)**

नोट - क्रिया का लक्षण देखें - **(५/७)**

२९. प्रश्न : शब्दादि पुद्गल से पृथक् हैं या अपृथक् ?

उत्तर : कथञ्चित् शब्दादि में पुद्गल से पृथक्त्व है। शब्दादि भी पर्याय दृष्टि से पुद्गल से भिन्न हैं और गर्म लोहे के समान पुद्गल का ही शब्दादि रूप से परिणमन होता है अतः कथञ्चित् द्रव्यार्थिक दृष्टि से अभिन्नत्व भी है। **(रा.वा. २४)**

३०. प्रश्न : यदि स्पर्श, रस आदि और शब्द, बन्ध आदि पुद्गल के ही परिणाम हैं तो इन दोनों सूत्रों (२३-२४) का एक योग करना चाहिए ?

उत्तर : किसी के उभय पर्याय का ज्ञापन करने के लिए इनका पृथक् ग्रहण किया है। स्पर्शादि परमाणुओं के भी होते हैं और स्कन्धों के भी होते हैं परन्तु सौक्ष्म्य को छोड़कर शब्दादि व्यक्त रूप से स्कन्धों के ही होते हैं अर्थात् शब्दादि परमाणुओं से नहीं होते, इस विशेषता का ज्ञान कराने के लिए पृथक् सूत्र बनाया गया है।

आत्यन्तिक सूक्ष्मता तो परमाणु में ही है और आपेक्षिक सूक्ष्मता स्कन्धों में भी है। स्पर्शनादि गुणों के एक जातीय परिणाम का कथन करने के लिए पृथक् सूत्र बनाया है। जैसे- काठिन्य लक्षण एक स्पर्श गुण अपनी जाति को न छोड़कर पूर्व और उत्तर स्वगत भेदों के उत्पाद-विनाश को करता हुआ दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण कठिन स्पर्श पर्यायों से ही परिणत होता है; मृदु, लघु, गुरु आदि स्पर्शों से नहीं। इसी प्रकार मृदु आदि में भी समझना चाहिए। जैसे- सुरभि गन्ध पुद्गल का एक गुण है। वह अपनी जाति को नहीं छोड़ता हुआ पूर्व और उत्तर स्वगत भेदों के उत्पाद-विनाश को करता हुआ दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त गुण सुरभि गन्ध पर्यायों से परिणत होता है; दुर्गन्ध रूप पर्यायों से परिणत नहीं होता। ऐसे ही असुरभिगन्ध गुण, तिक्त रस गुण, शुक्ल वर्ण गुण आदि। **(रा.वा. २५-२६)**

३१. प्रश्न : जब कठिन स्पर्श मृदु रूप में, तिक्त-कटु आदि रूप में इतर गुणों के साथ परस्पर संयोग होने पर गुणान्तर रूप में परिणमन करते हैं तब यह एकजातीय परिणमन का नियम कैसे रहेगा ?

उत्तर : ऐसे स्थानों में कठिन स्पर्श अपनी स्पर्श जाति को नहीं छोड़ता हुआ ही मृदु स्पर्श से विनाश-उत्पाद का अनुभव करता हुआ परिणमन करता है, रस रूप से नहीं अर्थात् स्पर्श गुण स्पर्श गुण रूप से ही परिणमन करता है, रस, गन्ध आदि रूप से नहीं। उसी प्रकार रसादि गुण अपने स्वजातीय गुण रूप से ही परिणमन करते हैं अन्य रूप से नहीं, ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा. २६)**

३२. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द इष्ट समुच्चय के लिए है अत: नोदन, अभिघात आदि जितने भी पुद्गल के परिणाम आगम में इष्ट होसकते हैं उन सबका समुच्चय 'च' से हो जाता है।[१] **(रा.वा. २७)**

पुद्गलों के भेद बताते हैं-

अणव: स्कन्धाश्च ॥२५॥

अणव: - स्कन्धा: च।

अर्थ - पुद्गल अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि पुद्गल के भेदों को बताने के लिए पृथक् सूत्र किया है तो वे स्पर्शादि परिणाम कौनसे हैं, पुद्गल कौन हैं और उभय कौन हैं, उनका ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. २५)** पूर्वोक्त पुद्गलों के भेदों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ५७३)**

२. प्रश्न : पुद्गल कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : पुद्गल दो प्रकार के होते हैं-

(१) अणु (२) स्कन्ध। **(त.सू. ५/२५)**

(१) स्वभाव पुद्गल (२) विभाव पुद्गल। **(नि.सा. टी. २०)**

स्वभाव पुद्गल - परमाणु स्वभाव पुद्गल है।

विभाव पुद्गल - स्कन्ध विभाव पुद्गल है। **(नि.सा.टी. २०)**

समस्त पुद्गल द्रव्य चार प्रकार के होते हैं-

(१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश (४) अणु। **(यो. सा. २/१९)**

पुद्गल के छह भेद हैं :

(१) पृथ्वी (बादर-बादर) (२) जल (बादर) (३) छाया (बाद- सूक्ष्म) (४) नेत्रेन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय के विषय (सूक्ष्म बादर) (५) कार्माण स्कन्ध (सूक्ष्म) (६) परमाणु (सूक्ष्म-सूक्ष्म)। **(गो.जी. ६०२-३)**

३. प्रश्न : अणु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसका आदि, मध्य, अन्त एक है, जिसको इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती हैं ऐसा जो अविभागी पुद्गल द्रव्य है उसे परमाणु कहते हैं। **(नि.सा. २६)**

स्कन्ध पर्यायों का जो अन्तिम भेद है वह परमाणु है। **(पं. का. ता ७७)**

जिसमें कोई एक रस, कोई एक वर्ण, कोई एक गन्ध व दो स्पर्श हो, जो शब्द का कारण हो स्वयं शब्द रहित हो, जो स्कन्ध से जुदा हो, उस पुद्गल द्रव्य को परमाणु कहते हैं। **(पं.का.ता. ८१)**

परमाणु के आठ प्रकार के स्पर्शों में अन्तिम चार स्पर्शों में से दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गन्ध तथा एक रस समझना, अन्य नहीं। **(नि.सा. टी. २७)** सब द्रव्यों में जिसकी अपेक्षा अन्य कोई अणूत्तर न हो वह अणु होता है। जिसमें अत्यन्त अणुत्व हो उसे सब द्रव्यों में परमाणु जानना चाहिए। **(ज.प. १३/१७)**

एक प्रदेश में होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो ''अण्यन्ते'' कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं। **(सर्वा. ५७४)**

जो निरंश-जिसका दूसरा विभाग अब नहीं हो सकता है उस अविभागी पुद्गल को परमाणु कहते हैं। **(मू. २३१)**

जो अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से छेदा या भेदा नहीं जा सकता, तथा जल और अग्नि आदि के द्वारा नाश को प्राप्त नहीं होता, वह परमाणु है। **(ति.प. १/९६)**

४. प्रश्न : परमाणु कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : अणु (परमाणु) चार प्रकार के होते हैं-

(१) कार्य परमाणु (२) कारण परमाणु (३) जघन्य परमाणु (४) उत्कृष्ट परमाणु।

(नि.सा.टी.२५)

पुद्गल परमाणु तीन प्रकार के हैं-

(१) सादि रूप (२) अनादि रूप (३) उभय (सादि-अनादि रूप) **(ध. ४/३२७)**

५. प्रश्न : कारण एवं कार्य परमाणु आदि का क्या लक्षण है ?

उत्तर : कारण परमाणु - जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं का कारण है उसे कारण परमाणु कहते हैं। **(नि.सा. २५)**

स्कन्धों का निर्माण करने अर्थात् जिन परमाणुओं के मिलने से कोई स्कन्ध बने वह कारण परमाणु है। **(प.का.ता. ८०)**

कार्य परमाणु - स्कन्धों में भेद होते-होते जो अन्तिम अंश रहता है उसे कार्य परमाणु कहते हैं। **(नि.सा. २५)**

स्कन्धों के भेद को करने वाला कार्य परमाणु है अर्थात् स्कन्ध के विघटन से उत्पन्न होने वाला कार्य परमाणु है। **(पं.का.ता. ८०)**

६. प्रश्न : जघन्य एवं उत्कृष्ट परमाणु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जघन्य परमाणु - कारण परमाणु एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होने से सम या विषम बन्ध के अयोग्य ऐसा **जघन्य परमाणु** है, ऐसा अर्थ है।

उत्कृष्ट परमाणु - एक गुण स्निग्ध और रूक्षता के ऊपर दो गुण वाले और चार गुण वाले का समबन्ध होता है तथा तीन गुण वाले का और पाँच गुण वाले का विषम बन्ध होता है वह उत्कृष्ट परमाणु है। **(नि.सा.ता. २५)**

७. प्रश्न : परमाणु के कौन-कौन से दो स्पर्श होते हैं ?

उत्तर : परमाणु में स्निग्ध-रूक्ष में से एक तथा शीत-उष्ण में से एक, इस प्रकार दो स्पर्श रहते हैं। गुरु-लघु और मृदु-कठोर में से कोई स्पर्श परमाणु में नहीं होते हैं क्योंकि ये स्कन्धों में ही पाये जाते हैं। **(रा.वा. १४)**

८. प्रश्न : परमाणु में दो ही स्पर्श गुण क्यों होते हैं ?

उत्तर : परमाणु में दो ही स्पर्श गुण होते हैं। यह स्वभाव ही है और स्वभाव तर्क का विषय नहीं है। **अथवा** - आगम में ऐसा ही उपदेश है और 'आगम तर्कगोचर नहीं होता' ऐसा उपदेश है।

९. प्रश्न : परमाणु का आकार कैसा है ?

उत्तर : परमाणु गोल होते हैं। **(म.पु. २४/१४८)**

परमाणु चौकोर और अतीन्द्रिय है। **(आ.सा. ३/१३-१४)**

दिशाओं के भेद से छह: दिशाओं वाला परमाणु होता है। **(श्लो. ५/३१४)**

१०. प्रश्न : अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : कार्य लिङ्गत्व से परमाणु का अस्तित्व जाना जाता है। परमाणुओं के अभाव में शरीर, इन्द्रिय और महाभूत आदि लक्षण कार्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है अत: शरीर आदि स्कन्ध रूप कार्यों से परमाणु का अस्तित्व सिद्ध है। **(रा.वा. १५)**

११. प्रश्न : परमाणु कैसा होता है ?

उत्तर : परमाणु अस्तिकाय है, अतीन्द्रिय है, स्पर्शादि पाँच गुणों से युक्त है। **(आ.सा. ३/१३-१४)** परमाणु अविभागी है, एकप्रदेशी होने से एक है, नित्य है, मूर्त्तिप्रभव है तथा अशब्द है। **(पं.का. ७७)**

परमाणु कारण, अन्त्य, सूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण, दो स्पर्श वाला और कार्यलिंग है। **(रा.वा. १६)**

परमाणु आदेश मात्र से मूर्त्त है। चार धातु स्कन्ध का कारण है, परिणमन स्वभावी है और स्वयं अशब्द है। **(पं. का. ७८)**

१२. प्रश्न : परमाणु में कार्य-कारण आदि गुण किस अपेक्षा पाये जाते हैं ?

उत्तर : परमाणु द्व्यणुक आदि स्कन्ध कार्यों का उत्पादक होने से कथंचित् कारण है एवं स्कन्ध के भेद से उत्पन्न होता है और स्निग्ध रूक्षादि कार्य रूप गुणों का अधिकरण होने से कथञ्चित् कार्य भी है।

परमाणु से छोटा कोई भेद नहीं है अत: वह स्यात् अन्त्य है, प्रदेशभेद न होने पर भी गुणभेद होने के कारण वह अन्त्य नहीं भी है।

सूक्ष्म परिणमन होने से परमाणु स्यात् सूक्ष्म है और स्थूल कार्य की उत्पत्ति की योग्यता रखने से स्यात् स्थूल भी है।

परमाणु द्रव्यता को नहीं छोड़ता अत: स्यात् नित्य है, स्कन्ध पर्यायों को प्राप्त होता है और उसके स्निग्धादि गुणों का निरन्तर परिणमन होता रहता है अत: परमाणु कथंचित् अनित्य है। वा बन्धभेद पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तथा गुणसंक्राति की अपेक्षा परमाणु अनित्य भी है।

निष्प्रदेशत्व पर्याय की विवक्षा से एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है, अनेक प्रदेशी स्कन्ध रूप परिणमन करने की शक्ति के कारण अनेक रस, अनेक वर्ण आदि वाला भी है।

कार्य लिङ्ग के अनुमेय होने के कारण स्यात् कार्य लिंग है और प्रत्यक्षज्ञान गोचरत्व पर्याय की

अपेक्षा कार्य लिङ्ग नहीं भी है। **(रा.वा.१६)**

१३. प्रश्न : परमाणु में मूर्त्त-अमूर्त्तत्व गुण किस अपेक्षा पाये जाते हैं ?

उत्तर : जो नय विशेष की अपेक्षा कथंचित् मूर्त्त एवं कथंचित् अमूर्त्त है, चार धातु रूप स्कन्ध का कारण है और परिणमन-स्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिए। **(ति.प. १/१०१)**

१४. प्रश्न : क्या ऐसे भी परमाणु हैं जो आज तक स्कन्ध नहीं बने हैं ?

उत्तर : अतीत काल में सर्व जीवों के द्वारा सर्व पुद्गलों का अनन्तवाँ भाग, सर्व जीवराशि से अनन्तगुणा और सर्व जीवराशि के उपरिम वर्ग से अनन्त-गुणहीन प्रमाण वाला पुद्गल पुंज भोगकर छोड़ा गया है। (अर्थात् शेष पुद्गलपुंज अनुपभुक्त हैं)।

अनादि काल से अब तक परमाणु की अवस्था में ही रहने वाला कोई अणु नहीं है। क्योंकि सूत्र **(त.सू. ५/२७)** में स्कन्ध भेद पूर्वक परमाणु की उत्पत्ति बताई है। **(रा.वा. १०)**

१५. प्रश्न : स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन (संघटना) होती है वे स्कन्ध कहे जाते हैं। रूढ़ि में क्रिया कहीं पर होती हुई उपलक्षण रूप से सर्वत्र ली जाती है, इसलिए ग्रहण आदि व्यापार के अयोग्य द्व्यणुक आदिक में भी स्कन्ध संज्ञा प्रवृत्त होती है। **(सर्वा. ५७४)**

सबसे बड़ा जो लोकरूप महास्कन्ध है वह स्कन्ध कहलाता है। **(यो.सा. २/१९)** जो बहुत परमाणुओं से बना है जिसके अनेक भेद हैं ऐसे बड़े स्कन्ध को स्कन्ध कहते हैं। **(मू.प्र. १४७२)**

१६. प्रश्न : स्कन्ध कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : स्कन्ध तीन प्रकार के होते हैं-

(१) स्कन्ध (२) स्कन्ध देश (३) स्कन्ध प्रदेश। **(रा.वा. १७)**

स्कन्ध के छह भेद हैं-

(१) अति स्थूल (२) स्थूल (३) स्थूल सूक्ष्म (४) सूक्ष्म स्थूल (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्म सूक्ष्म **(नि.सा. २१)**

(१) बादर-बादर (२) बादर (३) बादर सूक्ष्म (४) सूक्ष्म बादर (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म। **(पं.का.स. ७६)**

१७. प्रश्न : अति स्थूल (बादर-बादर) स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पृथक् करने पर पृथक् हो जावे और मिलाने पर फिर न मिल सके, ऐसे पुद्गलस्कन्धों को अतिस्थूल कहते हैं, जैसे- पृथिवी आदि **(म.पु. २४/१५३)** जो स्थूल-स्थूल कोटि में आते हैं, पृथ्वी

उनमें अग्रगण्य है। उसके बाद पर्वत, वन, जलधर, स्वर्गों के विमान, पृथ्वी पर निर्मित भवन आदि के समान जितने भी पदार्थों को मनुष्य ने बनाया है अथवा प्रकृति के द्वारा ही बनाये या बन गये हैं ये सब स्थूल-स्थूल कहे जावेंगे। **(व.चा.२६/१६)**

काष्ठ-पाषाणादिक जो कि छेदन होने पर स्वयं नहीं जुड़ सकते वे बादर-बादर हैं। **(पं.का.स.७६)**

१८. प्रश्न : स्थूल स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पतले द्रव्य पृथक् करने पर पृथक् हो जावें और मिलाने पर पुन: मिल जावें ऐसे पुद्गल स्कन्धों को स्थूल कहते हैं, जैसे- घी, तेल, पानी आदि। **(म.पु. २४/१५३)**

दूध, घी, तेल, जल, रस आदि जो कि छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं वे बादर (स्कन्ध) हैं। **(पं. का. स. ७६)**

जिन द्रव्यों के आकार में तनुत्व (छोटापन) स्पष्ट है तथा जो छेदन करके बने हैं अथवा पीसने के बाद या पेलने से उत्पन्न हैं ऐसे तेल, पानी, घी, दूध तथा अन्य समस्त रसों को स्थूल पदार्थ कहा है। **(व.चा. २६/१७)**

१९. प्रश्न : स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नेत्रों से दिखाई तो देते हैं परन्तु संहरण नहीं किये जा सकते इसलिए विघात रहित हैं उन स्कन्धों को स्थूलसूक्ष्म कहते हैं जैसे- छाया, आतप आदि। **(म.पु. २४/१५२)** छाया, धूप, अंधकार, चाँदनी आदि जो कि स्थूल ज्ञात होने पर भी जिनका छेदन, भेदन अथवा ग्रहण नहीं किया जा सकता वे बादर-सूक्ष्म हैं। **(प.का.स. ७६)** संसार में ऐसे भी पदार्थ हैं जो आँखों से स्पष्ट दिखायी देते हैं। किन्तु स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रकाश में पड़ने वाली पदार्थों की छाया, सूर्य की धूप, अन्धकार, विद्युत् का प्रकाश, चन्द्रिका आदि पदार्थों को देखिये, वे सबके सब स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों की ही कोटि में आते हैं। **(वं.चा. २६/१८)**

२०. प्रश्न : सूक्ष्मस्थूल स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नेत्रों से देखने में तो नहीं आते परन्तु अपनी-अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं ऐसे स्कन्धों को सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं, जैसे स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्श, रस आदि। **(म.पु.२४/१५१)** स्पर्श-रस-गन्ध-शब्द जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं वे 'सूक्ष्मबादर' हैं। **(पं.का. स. ७६)**

जो पदार्थ- शब्द, कोमल, कठोर आदि स्पर्श, मधुर, अम्ल आदि रस (स्वाद), गन्ध, शीत, उष्ण तथा वायु ऐसे पदार्थ आते हैं। इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिसे आँख देख सकती हो किन्तु अन्य इन्द्रियों को इनका साक्षात् अनुभव होता है। इस जाति के पदार्थों को ही सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं। **(व.चा. २६/१९)**

२१. प्रश्न : सूक्ष्म स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म वर्गणा रूप परिणमन करने के योग्य हैं ऐसे स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं (ये इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा नहीं जाने जाते मात्र कार्य द्वारा इनका ज्ञान होता है।) क्योंकि वे प्रदेशों के अनंत समुदाय रूप हैं। **(म.पु. २४/१५०)**

कर्मवर्गणादि जिन्हें सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियों से ज्ञात न हों, वे सूक्ष्म हैं। **(पं.का.स.७६)**

औदारिक, वैक्रियिक आदि पाँच प्रकार के शरीर होते हैं, इनकी उत्पत्ति में सहायक परमाणुओं को शास्त्रों में वर्गणा नाम दिया है। इसी विधि से मन तथा वचन जो कि दृश्य मूर्त्ति नहीं हैं, इनकी भी अलग-अलग वर्गणाएँ होती हैं, उक्त शरीरों तथा मन-वचन की उत्पत्ति में साक्षात् सहायक वर्गणाओं के भीतर भी दूसरी वर्गणाएँ रहती हैं। इनके क्रम तथा कार्य समुचित रूप से व्यवस्थित हैं। इन समस्त वर्गणाओं को ही सूक्ष्म पुद्गल कहते हैं, इनका प्रमाण अनन्तानन्त है। **(व.चा. २६/२०-२१)**

२२. प्रश्न : सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक अर्थात् स्कन्ध से पृथक् रहने वाला परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है। क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न स्पर्श किया जा सकता है। **(म.पु. २४/१५०)** कर्मवर्गणा नीचे के द्वि-अणुक स्कन्ध तक के जो कि अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे 'सूक्ष्म-सूक्ष्म' हैं। **(पं. का. स. ७६)**

एक परमाणु किसी दूसरे परमाणु में मिला नहीं रहता है। परमाणुओं में आपस में कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता है। एक-एक परमाणु को अलग-अलग बिखरा समझिये। इस आकार प्रकार के परमाणुओं को ही द्रव्य के विशेषज्ञों ने सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गल नाम से कहा है। **(व.चा. २६/२२)**

२३. प्रश्न : 'अणव: स्कन्धा:' अणु और स्कन्ध दोनों में बहुवचन क्यों किया है ?

उत्तर : पुद्गलों के अनन्त भेद हैं तो भी वे सब अणु जाति और स्कन्ध जाति के भेद से दो प्रकार के हैं। इस प्रकार पुद्गलों की इन दोनों जातियों के आधार-भूत अनन्त भेदों का सूचन करने के लिए सूत्र में बहुवचन का निर्देश किया है। **(सर्वा. ५७४)** उभयत्र जाति की अपेक्षा बहुवचन है दोनों शब्दों में बहुवचन अणुत्व जाति और स्कन्ध जाति से संगृहीत होने वाले अनन्त भेदों की सूचना के लिए है। **(रा.वा. ३)**

२४. प्रश्न : 'अणुस्कन्धा:' इस प्रकार समास करके लघु सूत्र क्यों नहीं किया ?

उत्तर : यद्यपि सूत्र में अणु और स्कन्ध इन दोनों पदों को समास करके रखा जा सकता था तब भी ऐसा न करके 'अणव: स्कन्धा:' इस प्रकार भेद रूप से जो कथन किया है वह इस सूत्र से पहले कहे गये दो सूत्रों के साथ अलग-अलग सम्बन्ध बताने के लिए किया है। जिससे यह ज्ञात हो कि अणु स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले हैं परन्तु स्कन्ध शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वाले हैं तथा स्पर्शादि वाले भी हैं। **(सर्वा. ५७४)** यद्यपि 'अणुस्कन्धा:' यह सूत्र बन सकता था परन्तु पृथक् निर्देश पूर्वोक्त दो सूत्रों से पृथक्-पृथक् सम्बन्ध बनाने के लिए है कि स्पर्शादि वाले अणु

हैं और शब्द, बन्ध आदि पर्याय वाले स्कन्ध हैं।

'अणुस्कन्धा:' यह समास कर लेने पर समुदाय से अर्थत्व की मुख्यता हो जाने से और अवयवी अर्थ का अभाव होने से भेदपूर्वक उपर्युक्त सूत्रों के साथ सम्बन्ध लगाना शक्य नहीं होता अत: 'अणुस्कन्धा:' यह समास न करके 'अणव: स्कन्धा:' यह भेदरूप से वर्णन किया है। **(रा.वा. ४)**

२५. प्रश्न : अणु और स्कन्ध रूप लक्षण वाली पुद्गल की पर्यायें अनादि हैं कि सादि ?

उत्तर : वह अणु और स्कन्ध रूप पुद्गल की पर्याय उत्पन्न होती है अत: सादि जानी जाती है। **(रा. वा. १७)**

स्कन्धों की उत्पत्ति कहते हैं-

भेदसंघातेभ्य: उत्पद्यन्ते ॥२६॥

भेद-संघातेभ्य: उत्पद्यन्ते।

(भेदसंघातेभ्य:) भेद, संघात और भेदसंघात से (उत्पद्यन्ते) उत्पन्न होते हैं।

अर्थ - भेद, संघात और भेदसंघात से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

भेद - संहतों (मिले हुए पदार्थों) का दो कारणों से विदारण होना भेद है।

संघात - विविक्त स्कन्धों को संघटित करना संघात है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि पुद्गल की परमाणु और स्कन्ध रूप पर्यायें उत्पन्न होने से सादिमान् हैं तो बताइये- वे पर्यायें किसके निमित्त से उत्पन्न होती हैं अत: स्कन्धों की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. २६)**

२. प्रश्न : भेद और संघात दो हैं अत: द्विवचन का ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : तीन का संग्रह करने के लिए सूत्र में बहु वचन का निर्देश किया है। जिससे यह अर्थ सम्पन्न होता है कि भेद से, संघात से और भेद-संघात, इन दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। **(सर्वा. ५७६)**

ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि सूत्र में बहुवचन देने से ज्ञात होता है कि भेद पूर्वक संघात भी स्कन्ध की उत्पत्ति का स्वतंत्र कारण है इसलिए बहुवचन से भेद के साथ संघात का ग्रहण होता है। **(रा.वा.३)**

३. प्रश्न : भेद, संघात और भेद-संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती है ?

उत्तर : तीन प्रदेश वाले स्कन्ध से एक अणु निकल जाने पर दो प्रदेश वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है, पाँच प्रदेशी या चार प्रदेशी स्कन्ध से दो प्रदेश या एक अणु का भेद हो जाने से तीन प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। द्वि-प्रदेशी स्कन्ध तथा एक परमाणु के संघात से या तीन परमाणुओं के संघात से त्रिप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो द्विप्रदेशी, एक त्रिप्रदेशी और एक अणु या चार अणुओं के सम्बन्ध से एक चतु: प्रदेशी

स्कन्ध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेशों के संघात से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार एक ही समय में भेद और संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते है, जैसे चार प्रदेशों में से दो प्रदेशी का भेद हो गया और उसी समय एक परमाणु का संघात हो गया तो त्रिप्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। **(रा.वा. ५)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'भेदसंघातेभ्य:' पंचमी विभक्ति का निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'उत्' उपसर्ग पूर्वक पदि धातु उत्पत्ति-जन्म अर्थ में होती है। जैसे- 'उत्पद्यन्ते जायन्ते' उत्पन्न होते हैं, जन्म लेते हैं उसकी अपेक्षा यहाँ हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति है। ''निमित्तकारण हेतुषु सर्वासां प्राय: दर्शनात्'' निमित्त, कारण और हेतु में प्राय: सभी विभक्तियाँ होती हैं, यह व्याकरण सूत्र है अत: भेदसंघात रूप हेतुओं/कारणों से स्कन्ध होते हैं। **(रा.वा. ४-५)**

अणु की उत्पत्ति का कारण कहते हैं-

भेदादणुः ॥२७॥

भेदात्-अणुः।

(भेदात्) भेद से (अणुः) अणु की उत्पत्ति होती है।

अर्थ - भेद से अणु की उत्पत्ति होती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अब अणु की उत्पत्ति के हेतु को दिखाने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५७७)** इस प्रकार पूर्वोक्त (५/२६) सूत्रानुसार अणु और स्कन्धों की उत्पत्ति का अविशेष (सामान्य) रूप से भेदादि हेतु का प्रसङ्ग होने पर विशेष का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २७)**

२. प्रश्न : सूत्र छब्बीस से ही अणु की उत्पत्ति का कारणभेद सिद्ध होता है अत: यह सूत्र व्यर्थ है ?

उत्तर : कोई विधि सिद्ध हो, फिर भी यदि उसका आरम्भ किया जाता है तो वह नियम के लिए होती है। यद्यपि यह सिद्ध है कि अणु भेद से उत्पन्न होता है फिर भी **'भेदादणुः'** इस सूत्र को बनाने से यह नियम फलित होता है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है। न संघात से होती है और न ही भेद और संघात इन दोनों से ही होती है। **(सर्वा. ५७८)**

सूत्र छब्बीस से स्कन्ध की उत्पत्ति सूचित होने से यह ज्ञात हो जाता है कि अणु भेद से उत्पन्न होता है, फिर भी इस सूत्र की रचना से यह अवधारण किया जाता है कि अणु भेद से ही उत्पन्न होता है, जैसे- कि 'अपो भक्षयति' में एवकार का अर्थ अवधारण आ जाता है क्योंकि ऐसा प्राणी नहीं है, जो पानी नहीं पीता हो परन्तु पानी पीता है, ऐसा कहने पर यह अवधारण हो जाता है कि यह पानी ही पीता है और कुछ नहीं खाता। उसी प्रकार भेद, संघात और भेद-संघात से स्कन्ध उत्पन्न होता है, ऐसा कहने पर अणु भेद

से उत्पन्न होता है, यह सिद्ध हो जाता है तथापि पुन: 'भेदादणु:' यह सूत्र इस अवधारण के लिए बनाया गया है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है, न संघात से होती है और न भेद-संघात से। **(रा.वा. १)**

भेद-संघात से उत्पन्न स्कन्ध की विशेषता बताते हैं-

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुष: ॥२८॥

(भेदसंघाताभ्यां) भेद और संघात से (चाक्षुष:) चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

अर्थ - भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : संघात से ही स्कन्धों की उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने पर भेद-संघात का ग्रहण करना निष्प्रयोजन है, ऐसा कहने पर भेदसंघात के ग्रहण के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. २८)**

२. प्रश्न : जो स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं होता वह चाक्षुष कैसे हो सकता है ?

उत्तर : सूक्ष्म परिणत स्कन्ध से कुछ अंश का भेद होने पर भी सूक्ष्मता का परित्याग नहीं करने से वह स्कन्ध अचाक्षुष ही रहता है। सूक्ष्म परिणत पुन: दूसरा स्कन्ध उसका भेद होने पर भी अन्य के संघात से सूक्ष्मता का परित्याग करके स्थूलता को प्राप्त हो जाता है, तब वह स्कन्ध चाक्षुष हो जाता है। **(रा.वा.)**

द्रव्य का लक्षण कहते हैं -

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥

(द्रव्य लक्षणं) द्रव्य का लक्षण (सत्) सत् है।

अर्थ - द्रव्य का लक्षण सत् है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गति, स्थिति, अवगाहन, वर्तना, शरीरादि और परस्परोपकारादि के द्वारा जिन धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का अनुमान लगाया जाता है, वा पूर्व में उनका अनुमान से लक्षण किया गया है, उन्हें पहले द्रव्य कहा है। उन्हें द्रव्य क्यों कहते हैं ? उन्हें 'सत्' होने से द्रव्य कहते हैं। इस बात की सूचना के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. उ. २९)**

२. प्रश्न : सत् किसे कहते है ?

उत्तर : जो इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है या अतीन्द्रिय है, ऐसा पदार्थ बाह्य और आध्यात्मिक (अभ्यन्तर) निमित्त की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को प्राप्त होता है, वह सत् है। **(रा.वा.)**

३. प्रश्न : द्रव्य का आकार कैसा है ?

उत्तर : धर्म-अधर्म द्रव्य लोकाकाश के समान आकार वाले हैं।

काल द्रव्य का आकाश के एकप्रदेश स्वरूप से आकार है। एक प्रदेश का आकार है, वही कालाणु

का आकार है।

आकाश का केवलज्ञान स्वरूप से संस्थान है, लोकाकाश का घर, गुफा आदि स्वरूप से संस्थान है।

पुद्गल द्रव्य का लोकस्वरूप से संस्थान है तथा द्वीप, नदी, सागर, पर्वत और पृथ्वी आदि रूप से संस्थान है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य का आकार लोकाकाश जैसा है, क्योंकि वह महास्कन्ध लोकाकाशव्यापी है। तथा अन्य पुद्गल स्कन्ध नदी, द्वीप आदि आकार से स्थित है।

जीव द्रव्य का समचतुरस्र, न्यग्रोध आदि स्वरूप से संस्थान है। **(मू.५४९ आ.)**

सत् क्या है ? उसे कहते हैं-

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

(उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं) जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त हो, वह (सत्) सत् है।

अर्थ - जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो वह सत् है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : धर्मादि को 'सत्' होने से द्रव्य समझ लिया था। अत: बताइए कि वह 'सत्' क्या है। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३०)**

२. प्रश्न : उत्पाद किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य अपनी जाति को तो कभी नहीं छोड़ते फिर भी उनकी अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वश से प्रति समय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे- मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय। **(सर्वा. ५८४)** चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वजाति को न छोड़ते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति-उत्पादन है, वह उत्पाद है। जैसे- मृत्पिंड में घट पर्याय। **(रा.वा. १)**

उत्तर भाव का प्रादुर्भाव है सो उत्पाद है। **(पं. का. स. १०)**

३. प्रश्न : उत्पाद कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : उत्पाद दो प्रकार का होता है - प्रायोगिक और वैस्रसिक।

(१) **प्रायोगिक उत्पाद :** जो प्रयोगजनित होता है, कृत्रिम है, वह प्रायोगिक है, जो प्रायोगिक उत्पाद होता है वह उपयोग की सहायता से सापेक्ष समुदाय में होता है तथा वह अपरिशुद्ध होता है।

(२) **वैस्रसिक उत्पाद :** जो बिना प्रयोग के उत्पाद होता है वह वैस्रसिक है, उल्कापात आदि। यह स्वाभाविक अर्थात् वैस्रसिक स्कन्ध रूप उत्पाद समुदाय की भाँति अपरिशुद्ध होता है। किन्तु दो परमाणुओं के स्कन्ध विभाजन से यदि कार्य लिंग रूप अणु उत्पन्न होता है तो वह शुद्ध ही होता है। आकाश, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य में जो शुद्ध रूप से उत्पाद होता है वह पर प्रत्यय (कारण) से (कालादि के निमित्त से) नियम से होता है। **(स.सू. ३/३२-३४)**

४. प्रश्न : व्यय किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है, वह व्यय है जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है। **(रा.वा. २)**

एक जाति का अविरोधक ऐसा जो क्रमभावी भावों का प्रवाह उसमें पूर्वभाव का विनाश सो व्यय है। **(पं.का.स. १०)**

५. प्रश्न : व्यय (नाश) कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : व्यय/नाश भी उत्पाद की तरह दो प्रकार का होता है - (१) स्वाभाविक (वैस्रसिक) व्यय (२) प्रायोगिक व्यय।

समुदाय में होने वाला नाश समुदाय के विभाग रूप होता है। अथवा उसी के परिणाम रूप होता है जो स्कन्ध से टूटकर स्कन्ध होता है वह अपरिशुद्ध ही होता है। स्कन्ध के नाश से परमाणु का उत्पाद शुद्ध रूप में होता है। **(स.सू. ३/३३-३६)**

६. प्रश्न : ध्रौव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। तथा इस ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे- मिट्टी के पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय बना रहता है। **(सर्वा. ५८४)**

पूर्व-उत्तर भावों के व्यय-उत्पाद होने पर भी स्वजाति का अत्याग सो ध्रौव्य है। **(पं.का.स.१०)**

ध्रुवस्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है। द्रव्य ध्रुव रहता है, स्थिर रहता है, उसको ध्रुव कहते हैं और ध्रुव का जो भाव या कर्म है वह ध्रौव्य कहलाता है, जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृद्रूपता का अन्वय रहता है। **(रा.वा. ३)**

७. प्रश्न : द्रव्य उत्पाद-व्यय से भिन्न है या अभिन्न ?

उत्तर : द्रव्य कथंचित् उत्पाद, व्यय से भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है क्योंकि व्यय और उत्पाद के समय में द्रव्य स्थिर रहता है अत: उत्पाद व्यय द्रव्य से भिन्न है, उत्पाद और व्यय भी द्रव्य जाति का त्याग नहीं करते अत: उत्पाद-व्यय द्रव्य से अभिन्न है।

यदि उत्पाद-व्यय द्रव्य से सर्वथा भिन्न होते तो द्रव्य के बिना भी उनकी उपलब्धि होती या द्रव्य से पृथक् मिलते और सर्वथा अभेद मानने पर एक लक्षण होने से एक के अभाव में शेष के अभाव का प्रसंग आयेगा। **(रा.वा.९)** उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-जो कि सामान्य आदेश से अभिन्न हैं एवं विशेष आदेश से भिन्न है। **(पं.का.स. १०)**

८. प्रश्न : जो उत्पाद-व्यय से युक्त होता है वह ध्रौव्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर : द्रव्य में अवस्था भेद होने से ये (उत्पादादि) तीनों धर्म माने गये हैं जैसे- घट का इच्छुक

घट का नाश होने पर दु:खी होता है, मुकुट का इच्छुक मुकुट का उत्पाद होने पर हर्षित होता है, स्वर्ण का इच्छुक न दु:खी होता है न हर्षित। वह मध्यस्थ रहता है। इस प्रकार एक ही समय में दु:ख, हर्ष और माध्यस्थ भाव बिना कारण नहीं बन सकते। जिसके दूध लेने का व्रत है, आज मैं दूध ही लूंगा ऐसी प्रतिज्ञा है वह दही नहीं खाता है, जिसके दही लेने का व्रत है, वह दुग्ध नहीं पीता और जिसका गोरस न लेने का व्रत है, वह दूध, दही दोनों ही नहीं खाता। इससे मालूम होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय युक्त होते हुए भी ध्रौव्य है। **(आ.मी. ५९)**

९. प्रश्न : उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य द्रव्य से अर्थान्तरभूत है कि अनर्थान्तर है ?

उत्तर : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और द्रव्य के अन्यत्व तथा अनन्यत्व के प्रति अनेकान्त है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप पर्यायें तथा पर्यायी द्रव्य में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। जैसे- जाति, कुल रूपादि के द्वारा अन्वयधर्मी मनुष्य के अनेक सम्बन्धियों की दृष्टि से उत्पन्न पिता-पुत्र, भ्राता-भानजा आदि परस्पर विलक्षण धर्म उपलब्ध होते हैं तथापि विशिष्ट धर्मों के भेद से उनमें भेद नहीं है और न उनमें मनुष्य जाति की अपेक्षा अभेद होने से सर्वथा अभेद है। अत: पिता, पुत्र, भानजा आदि शक्ति की अपेक्षा मनुष्य होने पर भी भिन्न है और मनुष्य सामान्यत्व की अपेक्षा भिन्न नहीं है। मामा, पिता, भानजा आदि में मनुष्यत्व का अभाव नहीं है, उसी प्रकार बाह्य-अभ्यन्तर कारणों से उत्पन्न होने वाली द्रव्य की पर्यायें द्रव्य से कथञ्चित् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भिन्न है और द्रव्य दृष्टि से अवस्थान होने से कथञ्चित् अभिन्न है अत: न तो असत्त्व है और न लक्ष्य-लक्षण भाव का अभाव ही है। इसलिए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों की ऐक्यवृत्ति (एकता) ही सत्ता है और वही द्रव्य है। ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा. ११)**

द्रव्यों को (उत्पाद आदि से) कथंचित् अर्थान्तर और कथंचित् अनर्थान्तर रूप जानना चाहिए। जिसके जिस ओर से प्रसार का काल है उस ओर से वह आकुंचन का काल नहीं है। जो आकुंचन के नाश का काल है वह प्रसार का काल है तथा जो पैर के पसारने का काल है वह पैर के आकुंचन (संकोच) के नाश का काल है। जो पैर के आकुंचन का काल है वह उसके प्रसार का काल नहीं है। **(स.सू. ३/३५-३६)**

१०. प्रश्न : क्या एक द्रव्य के एक ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं?

उत्तर : नहीं, एक समय में एक द्रव्य के बहुत से उत्पाद होते हैं तथा जितने उत्पाद होते हैं, उतने पूर्व पर्यायों के विनाश भी होते हैं। तथा पूर्वोत्तर अवस्थाओं में स्थायी रूप से रहने वाले ध्रुव धर्मरूप गुण या स्थायी व्यंजन पर्याय भी उतने ही होते हैं। अर्थ पर्याय अर्थक्रिया की अपेक्षा से प्रतिसमय नष्ट होने वाले भी उतने होते हैं। यह उत्सर्ग-सामान्य नियम है। विशेष की अपेक्षा एक स्कन्ध रूप घट के नाश से अनेक कपाल एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। जीव मन, वचन और काय से जैसी क्रिया देखता है वैसा ज्ञान में जाननरूप से परिवर्तन होता है। जैसे-जैसे रूपादि को जानता है, वैसे-वैसे ज्ञान में भी परिवर्तन पाया जाता है। संयोग-वियोग से भी जीवादिक में भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्पाद दिखाई देते हैं। **(स.सू. ३/४१-४२)**

११. प्रश्न : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एकसमयवर्ती हैं या भिन्न समयवर्ती?

उत्तर : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों एक समय में भी होने वाले पाये जाते हैं और भिन्न काल

में होने वाले भी पाये जाते हैं। प्रतिसमय पूर्व पर्याय का नाश और वर्तमान पर्याय का उत्पाद तथा पूर्व पर्याय सामान्य रूपगुण सदा प्रदेशों की अपेक्षा ध्रुव रूप है। स्कन्ध में भी ये तीनों प्रतिसमय होते रहते हैं। किन्तु स्कन्धों में होने वाले उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य भिन्नकालवर्ती भी होते हैं जैसे मिट्टी के पिण्ड से घड़े का उत्पाद किसी अन्य काल में होता है तथा उस घट के फूटने (नाश होने) का काल भिन्न है तथा घट की ध्रौव्यता का काल सामान्य अपेक्षा से उत्पाद और नाश के मध्य का है। **(स.सू. ३/३५-३६)**

१२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'सत्' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'सत्' शब्द अनेकार्थवाची है। जैसे - सत् पुरुष अर्थात् प्रशंसनीय पुरुष। सत्कार अर्थात् आदर। सद्भूत अर्थात् अस्तित्व विद्यमान। प्रव्रजित: सन् अर्थात् दीक्षित होकर यहाँ प्रतिज्ञा अर्थ में 'सत्' शब्द है। सूत्र में 'सत्' शब्द अस्तित्व अर्थ से विविक्षत है। **(रा.वा. ८)**

१३. प्रश्न : सिद्धों में उत्पाद-व्यय किस अपेक्षा होता है ?

उत्तर : आगम में कहे गये अगुरुलघु गुण के षट्गुणी हानि-वृद्धि रूप से अर्थपर्याय होती है, उनकी अपेक्षा सिद्धों में उत्पाद-व्यय होता है। **अथवा -** ज्ञेय पदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से प्रतिसमय परिणमते है उन- उनके आकार से निरिच्छुक वृत्ति से सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है, इस कारण भी सिद्धों में उत्पाद-व्यय घटित होता है। **अथवा -** सिद्धों में व्यञ्जन पर्याय की अपेक्षा से संसार पर्याय का नाश और सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव ध्रौव्यपने से ध्रौव्य है। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)**

१४. प्रश्न : द्रव्य और उत्पादादि में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि ये द्रव्य के लक्षण हैं ?

उत्तर : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य के लक्षण हैं और द्रव्य लक्ष्य है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पादादि आपस में तथा द्रव्य से पृथक्-पृथक् है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पृथक्-पृथक् उपलब्ध न होने से अभिन्न है, इस प्रकार उत्पादादि लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है। **(सर्वा. ५८४)**

१५. प्रश्न : उत्पाद-व्यय किसमें होता है ?

उत्तर : सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए पर्याय ही पर्यायों और गुणों में व्यय तथा उत्पाद करती है। **(त.सा. ३/१३)**

नित्य का लक्षण कहते हैं-

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

तद्-भाव-अव्ययं-नित्यम्।

(तद्भाव) स्वभाव का (अव्ययं) च्युत न होना (नित्यं) नित्य है।

अर्थ - तद्भाव से च्युत नहीं होने को नित्य कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' यह सूत्र कह आये हैं। वहाँ यह नहीं ज्ञात होता है कि नित्य

क्या है, इसलिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ५८५)**

२. प्रश्न : तद्भाव कौन से ज्ञान का हेतु है ?

उत्तर : तद्भाव प्रत्यभिज्ञान का हेतु है 'यह वही है' इस प्रकार का स्मरण प्रत्यभिज्ञान है। जिस स्वरूप में वस्तु को पहले देखा था उसी रूप में पुन: देखने पर 'तदेवेदम्' यह वही है ऐसा ज्ञान एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान निर्विषयक और निर्हेतुक नहीं होता है अत: इस प्रत्यभिज्ञान में जो कारण है वह तद्भाव है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : तद्भाव का व्यय नहीं होना नित्य है तो द्रव्य कूटस्थ हो जायेगा ?

उत्तर : तद्भाव (द्रव्य के स्वरूप) का व्यय नहीं होते हुए भी वह कथंचित् नित्य है सर्वथा नित्य नहीं है, सर्वथा नित्य मानने पर कूटस्थ अर्थात् अर्थ-क्रिया रहित होने का प्रसंग आयेगा तथा अर्थक्रिया से रहित वस्तु खर विषाण के समान 'सत्' नहीं हो सकती है। **(श्लो. ६/३६०)**

एक पदार्थ में दो विरोधी धर्म कैसे रहते हैं सो बताते है-

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

अर्पित-अनर्पित-सिद्धेः।

वस्तु की (अर्पित) विवक्षा और (अनर्पित) अविवक्षा से (सिद्धेः) उन दो विरोधी धर्मों की सिद्धि होती है।

अर्थ - मुख्य और गौण की विवक्षा से दो विरोधी धर्मों की सिद्धि होती है।

अर्पित - अनेक धर्मात्मक वस्तु में से प्रयोजनवश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है वह अर्पित है।

अनर्पित - प्रयोजन (वक्ता की इच्छा) का अभाव होने से विद्यमान धर्मों की अविवक्षा होती है वह अनर्पित है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उत्पाद और व्यय वाली पर्यायों में अव्यभिचारी रूप से रहने वाले ध्रौव्य की श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में किसी एक की विवक्षा के वश से नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों एक साथ रह सकते हैं, उसका वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.३२)** उसी को नित्य कहना और उसी को अनित्य कहना यही विरुद्ध है। यदि नित्य है तो उसका व्यय और उत्पाद नहीं होने से उसमें अनित्यता नहीं बनती। और यदि अनित्य है तो स्थिति का अभाव होने से नित्यता का व्याघात होता है, ऐसी आशंका होने पर 'नित्यता और अनित्यता का एक साथ रहना विरुद्ध नहीं है' इसे बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५८७)**

२. प्रश्न : एक ही पदार्थ में नित्यपने की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : अर्पित (विवक्षा) एवं अनर्पित (अविवक्षा) की अपेक्षा एक ही पदार्थ में दोनों धर्मों की सिद्धि होती है। जैसे- जब मृत्पिण्ड 'रूपी द्रव्य' के रूप में अर्पित (विवक्षित) होता है तब वह नित्य है क्योंकि वह मृत्पिण्ड कभी भी रूपित्व वा द्रव्यत्व को नहीं छोड़ता है। जब अनेक धर्म रूप से परिणमन करने वाले इस मृत्पिण्ड की धर्मान्तर (अन्य धर्मों की) से विवक्षा करते है तो वह मिट्टी का पिण्ड रूपित्व और द्रव्यत्व को गौण करके केवल मृत्पिण्ड रूप पर्याय की विवक्षा करते हैं तो वह मिट्टी का पिण्ड रूप पुद्गल द्रव्य अनित्य है क्योंकि उसकी वह पर्याय अध्रुव है अनित्य ही है। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : केवल एक नय की विषयभूत वस्तु मानने पर क्या हानि है ?

उत्तर : यदि केवल द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत वस्तु मानी जाय तो व्यवहार का लोप हो जाएगा क्योंकि पर्यायशून्य केवल द्रव्य रूप वस्तु का अभाव है। यदि वस्तु केवल पर्यायार्थिक नय के गोचर ही मानी जाती है तो लोकयात्रा सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि द्रव्य से रहित पर्यायमात्र वस्तु का अभाव है, उभयात्मक वस्तु ही लोकयात्रा कराने में समर्थ है अत: उभयात्मक वस्तु की प्रसिद्धि है। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : प्रमाण ज्ञान से वस्तु का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : प्रमाण ज्ञान की प्रधानता से विचार किया जाय तो वस्तु में नित्यपने और अनित्यपने दोनों से तीसरी ही जाति का नित्यानित्यपना प्रतीत होता है अत: प्रामाणिक पुरुषों के अनुभव में आने वाली वस्तु में उभय दोष का प्रसंग नहीं आता है। **(श्लो. ६/३६३)**

बन्धविधि

बन्ध की योग्यता बताते हैं-

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

(स्निग्धरूक्षत्वाद्) स्निग्धता एवं रूक्षता से (बन्धः) बन्ध होता है।

अर्थ - स्निग्धता और रूक्षता से बन्ध होता है।

स्निग्धत्व - चिकनेपन की पर्याय को स्निग्धत्व कहते हैं।

रूक्षत्व - रूक्षपन की पर्याय को रूक्षत्व कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : क्या संयोग से ही दो अणु आदि लक्षण वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है ? **अथवा** - इस दो अणु आदि स्कन्ध की उत्पत्ति में और कोई विशेषता है ? यदि परमाणु के परस्पर संयोग होने पर बन्ध से एकत्व परिणत रूप स्कन्ध उत्पन्न होता है तो यहाँ यह बताइए कि पुद्गल जाति समान होने पर वा पुद्गल जाति को नहीं छोड़ने पर भी और संयोग होने पर भी किन्हीं परमाणुओं का बन्ध होता है और किन्हीं अन्य का नहीं, ऐसा क्यों है ? इस शंका का समाधान है कि उन परमाणुओं में पुद्गलपने की अपेक्षा अविशेषता होने पर भी अनन्त पर्यायों की अपेक्षा परस्पर विलक्षणता होने से परिणमन और परिणामक की योग्यता

होने पर ही बन्ध होता है, अन्य का नहीं। उस योग्यता को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.३३)** इस सूत्र में अन्य मतावलम्बियों की मान्यता का खण्डन किया गया है अर्थात् अन्य मतावलम्बी न तो बन्ध मानते हैं और न स्कन्ध को स्वीकार करते हैं; इस सूत्र से उस बन्ध के और स्कन्ध के अभाव को ध्वस्त कर दिया गया है। **(श्लो. ६/३६९)**

२. प्रश्न : स्निग्धत्व और रूक्षत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाह्य-अभ्यन्तर कारणों के कारण स्नेह पर्याय की प्रकटता से जो चिकनापना है वह स्नेह है। **(रा.वा. १)**

बाह्य-अभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है उसमें पुद्गल स्निग्ध कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति ''स्निह्यते स्मेति स्निग्धः'' होगी। स्निग्ध पुद्गल का धर्म स्निग्धत्व है। **(सर्वा. ५९०)**

चिकनेपन से विपरीत रूक्षत्व गुण है। **(रा.वा. २)**

रूखेपन के कारण पुद्गल रूक्ष कहा जाता है और रूक्ष पुद्गल का धर्म रूक्षत्व कहलाता है। **(सर्वा.५९०)**

३. प्रश्न : क्या स्निग्धत्व एवं रूक्षत्व कल्पित हैं ?

उत्तर : नहीं, पुद्गल द्रव्य के स्पर्श गुण की पर्याय विशेष होने से स्निग्ध और रूक्षगुण (अवस्था) की सिद्धि होती है। जैसे- दाह, ताप, गर्मी और पसीना आदि क्रियायें देखी जाती हैं तथा शीत से जल का जमकर बर्फ रूप तथा तप्त (तरल) लोहा, सोना आदि धातुओं का ठोस रूप होना अनुभव में आता है उसी प्रकार से बकरी, गाय, भैंस, ऊँटनी के दूध और घृत में उत्तरोत्तर स्निग्धता तथा रेत, बजरी, बालू आदि में बढती हुई रूक्षता स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा अनुभव में आती है। इसलिए स्निग्धता के अभाव मात्र को रूक्षता मानने वाले की मान्यता ठीक नहीं है। अतः स्निग्ध और रूक्ष गुण काल्पनिक नहीं हैं, वास्तविक हैं। **(श्लो. ६/३६६)**

४. प्रश्न : स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के कितने विकल्प हैं ?

उत्तर : एक गुण को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प स्निग्ध गुण के हैं। अविभागी परिच्छेद एक गुण वाला स्नेह सर्व-जघन्य है, प्रथम है। जिस प्रकार स्निग्ध गुण के विकल्प कहे हैं, उसी प्रकार रूक्ष गुण के भी एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प परिच्छेद जानने चाहिए। **(रा.वा. ३-४)**

५. प्रश्न : परमाणु में स्निग्ध और रूक्ष गुणों का अनुमान कैसे होता है ?

उत्तर : जल से बकरी के दूध में, बकरी के दूध से गाय के दूध में स्निग्धता की अधिकता एवं धूलि से अधिक रूखापना तुषखण्ड में, उससे भी अधिक रूक्षता रेत में पायी जाती है। इस प्रकार स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के प्रकर्षापकर्ष के देखने से परमाणु में भी स्निग्ध-रूक्षता का अनुमान लगाया जाता है। **(रा.वा.५)**

किसका बन्ध नहीं होता सो कहते हैं-

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

(जघन्यगुणानां) जघन्य गुण वालों का (न) बन्ध नहीं होता है।

अर्थ - जघन्य गुण वालों का बन्ध नहीं होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण बन्ध होने पर अविशेष से बन्ध होने का प्रसंग आता है उसकी निवृत्ति के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३४)** स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुण के निमित्त से सामान्य से बन्ध के प्राप्त होने पर बन्ध में अनिष्ट (अप्रयोजनभूत) गुण का निराकरण करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५९१)**

२. प्रश्न : जघन्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : शाखादित्व और देहांगत्व (देह-अंगत्व) के समान जघन्य शब्द की सिद्धि होती है। जघन के समान जघन्य है। जैसे- शरीर में जघन (जंघा) सबसे निकृष्ट है उसी प्रकार अन्य वस्तु निकृष्ट है, ऐसा कहा जाता है। **अथवा** देह के अङ्गत्व में जघन (जंघा) में होने वाला जघन्य कहलाता है, उस जघन्य के समान जघन्य है, उसी प्रकार जघन की तरह निकृष्ट अवयव को निकृष्ट या जघन्य कहते हैं। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'गुण' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : गुण शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है- जैसे- कहीं गुण शब्द रूपादि अर्थ में है जैसे- रूपादि गुण। कहीं गुण शब्द उपकार अर्थ में होता है जैसे- गुणज्ञ साधु। कहीं गुण शब्द द्रव्य अर्थ में है जैसे- यह देश गुणवान् है। इसी प्रकार अवयवादि अनेक अर्थों में होता है लेकिन यहाँ 'गुण' शब्द 'भाग' अर्थ में विवक्षित है, जघन्य गुण जिस परमाणु में है वह जघन्य गुण कहलाता है।[१] **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : प्रकृत में जघन्यगुण से क्या समझना चाहिए ?

उत्तर : यहाँ गुण शब्द भाग अर्थ में विवक्षित है। जिनके जघन्य गुण होते हैं वे जघन्य गुण कहलाते हैं। **(रा.वा.२)**

एक गुण से जघन्य गुण ग्रहण किया जाता है जो अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से निष्पन्न है। उसके ऊपर एक आदि अविभागी प्रतिच्छेदों की वृद्धि होने पर गुणों की द्वितीयादि अवस्था विशेषों की द्वितीय गुण तृतीय गुण आदि संज्ञा होती है। **(ध. १४/४५०-५१)**

५. प्रश्न : यह कैसे जाना जाता है कि एक जघन्य गुण अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों से निष्पन्न है ?

उत्तर : 'वह अनन्त विस्रसोपचयों से उपचित हैं,' यह सूत्र अन्यथा बन नहीं सकता है, इससे जाना जाता है कि वह अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से निष्पन्न होता है। **(ध. १४/४५०)**

६. प्रश्न : जघन्य गुण वाले परमाणु की सिद्धि किस प्रमाण से होती है ?

उत्तर : जिस प्रकार ऊँटनी, भैंस, गाय और बकरी के दूध में चिकनापन क्रमश: हीन-हीन देखा जाता है और महा परिणाम वाले आकाश द्रव्य, धर्म द्रव्य, स्वयंभूरमण समुद्र, घट, बेर, पोस्त में परिमाण की न्यूनता होते-होते सबसे छोटा परमाणु प्राप्त होता है उसी प्रकार स्निग्धता और रूक्षता के अविभाग प्रतिच्छेदों में न्यूनता होते-होते जघन्य गुणों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार प्रकर्षता होते-होते उत्कृष्ट गुणों की सिद्धि भी होती है। **(श्लो. ६/३७६-७७)**

७. प्रश्न : क्या जिन परमाणुओं का बन्ध होता है उनका सदा बन्ध तथा जिनका बन्ध नहीं होता उनका सदा अबन्ध ही रहता है ?

उत्तर : नहीं, जिन परमाणुओं का पहले कारण नहीं मिलने से बन्ध प्राप्त नहीं हुआ, उन्हीं परमाणुओं का कारण मिलने पर बन्ध देखा जाता है और बन्ध वाले परमाणुओं का भी भेदक कारण उपस्थित हो जाने पर और पुन: द्व्यधिक गुण सहितपन की योग्यता नहीं मिलने पर अबन्ध अवस्था में सद्भाव देखा जाता है अत: सर्वथा एकान्त मान्यता नहीं कहना चाहिए। **(श्लो. ६/३८३)**

८. प्रश्न : परमाणु कल्पित है या वास्तविक ?

उत्तर : परमाणु काल्पनिक नहीं है, वस्तुभूत है। आगम में पुद्गल के छह भेद बताये हैं जिनका वर्णन (५/२५) में किया है। उनमें से सूक्ष्म को छोड़कर पाँच तो स्कन्ध के भेद हैं और एक परमाणु को कल्पित मानने पर उसके संयोग से बने हुए स्कन्ध को कल्पित मानना पड़ेगा जो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही बाधित होगा। अत: आगम प्रमाण से परमाणु की सिद्धि होती है। **(श्लो. ६/३७९)**

बन्ध के अयोग्य परमाणुओं को कहते हैं-

गुणसाम्ये सदृशानाम् ।३५ ।।

(गुणसाम्ये) गुण की समानता होने पर (सदृशानां) सदृश गुण वालों का भी बंध नहीं होता है।

अर्थ - गुणों की समानता रहने पर सदृश गुण वालों का भी बन्ध नहीं होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : पूर्वोक्त जघन्य स्निग्ध और रूक्ष गुणों को छोड़कर शेष स्निग्ध और रूक्ष गुणों का परस्पर बन्ध हो जायेगा। इस प्रकार अविशेषता से परस्पर परमाणुओं के बन्ध का प्रसंग आने पर उनके निषेध विशेष का प्रख्यापन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३५)** जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्त्यंशवालों के सिवाय अन्य स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का परस्पर बन्ध सामान्य रीति से प्राप्त हुआ, इसलिए इनमें भी जो बन्ध योग्य नहीं हैं वे प्रतिषेध के विषय हैं, यह बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५९३)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'सदृश' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : इस सूत्र में सदृश का ग्रहण तुल्यजातीय परमाणुओं के ज्ञान के लिए है। स्निग्ध जाति और रूक्ष जाति से तुल्य परमाणुओं का ज्ञान कैसे होता है इसलिए सदृश का ग्रहण किया गया है। **(रा.वा.१)**

शक्त्यंशों की असमानता के रहते हुए बन्ध होता है इसका ज्ञान कराने के लिए सूत्र में सदृश पद ग्रहण किया है। **(सर्वा. ५९४)**

गुणों की विषमता होने पर सदृशों का बन्ध हो सकता है इस बात को बताने हेतु सदृश शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ५)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'सदृश' पद निरर्थक है क्योंकि गुणसाम्य वचन से ही अर्थसिद्धि हो जाती है ?

उत्तर : गुणसाम्य पद के ग्रहण से सदृश का ग्रहण निरर्थक नहीं है, क्योंकि यदि सदृश ग्रहण नहीं करते तो द्विगुण स्निग्धों का द्विगुण रूक्षों के साथ, त्रिगुण स्निग्धों का त्रिगुण रूक्षों से गुणाकार साम्य होने के कारण बन्ध का निषेध हो जाता। अर्थात् त्रिगुण रूक्ष और तीन स्निग्ध या रूक्ष गुण साम्य होने पर भी उनका बन्ध नहीं होता, पुन: सदृश ग्रहण करने से द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण स्निग्ध के साथ और द्विगुण रूक्ष का द्विगुण रूक्षों के साथ बन्ध निषेध हो जाता है।[१] **(रा.वा. ३)**

बन्ध की इष्ट व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं-

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

द्वि-अधिक-आदि-गुणानां तु।

(द्व्यधिकादि) दो अधिक आदि (गुणानां तु) गुण वालों का बन्ध होता है।

अर्थ - दो अधिक गुण वालों का बन्ध होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : विषम गुण वालों का और तुल्य जाति वालों का सामान्य रूप से बन्ध का प्रसंग होने पर इष्ट व्यवस्था के प्रतिपादन के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३६)**

पूर्वोक्त कथन से समान जातीय या असमान जातीय विषम शक्त्यंशवालों का अनियम से बन्ध प्राप्त हुआ, अत: इष्ट अर्थ का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ५९५)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'तु' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में 'तु' शब्द विशेषणपरक है जिससे बन्ध के प्रतिषेध का निवारण और बन्ध का विधान होता है। **(सर्वा. ५९६)**

सूत्र में 'तु' शब्द व्यावृत्ति विशेष की प्रतिपत्ति के लिए है। सूत्र में 'तु' शब्द का ग्रहण बन्ध-प्रतिषेध के प्रकरण को व्यावृत्त करता है और बन्ध की इष्ट व्यवस्था को सूचित करता है। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये -द्व्यधिकादि' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : दो अधिक गुण आदि में आदि शब्द प्रकार अर्थ में है। प्रकार क्या है ? दो से अधिकता इससे पञ्च आदि का संप्रत्यय होता है, अवयव के विग्रह और समुदाय वृत्ति का अर्थ है। अर्थात् एक अंश से समुदाय का ज्ञान हो जाता है, दो अधिक आदि कहने से चार गुण का भी ग्रहण हो जाता है अत: तुल्य जाति हो वा अतुल्य जाति हो, दो अधिक गुण वाले पुद्गल का ही परस्पर बन्ध होता है अन्य गुणवालों का नहीं। जैसे-

दो स्निग्ध गुण वाले परमाणु का एक स्निग्ध, दो स्निग्ध और तीन स्निग्ध गुण वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होगा। चार स्निग्ध गुण वाले परमाणु के साथ ही दो स्निग्ध गुण वाले का बन्ध होगा। इसी प्रकार दो-गुण स्निग्ध परमाणु का पांच, छह, सात, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण वाले स्निग्ध गुण वाले के साथ बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार तीन गुण स्निग्ध वाले का पाँच गुण स्निग्ध के वा रुक्ष के साथ बन्ध होगा; छह, सात आदि उत्तर वाले के साथ और एक, दो आदि पूर्व वाले के साथ बन्ध नहीं होगा अर्थात् तीन गुण वाले का न तो एक के साथ बन्ध होगा और न छह सात आदि गुण वाले के साथ बन्ध होगा अपितु तीन गुण वाले का पाँच गुण वाले के साथ ही बन्ध होगा।

इसी प्रकार चार गुण स्निग्ध वाले का छह गुण स्निग्ध वाले के साथ बन्ध होगा, तीन-सात आदि आगे-पीछे गुण वालों से नहीं। इसी प्रकार दो गुण रूक्ष वाले का एक, दो, तीन गुण वाले और पाँच, छह, रूक्ष वा स्निग्ध गुण वालों के साथ बन्ध नहीं होगा अपितु चार गुण वाले रूक्ष या स्निग्ध गुण वाले के साथ ही बन्ध होगा। इस प्रकार तीन गुण रूक्ष आदि में भी दो गुण अधिक का ही बन्ध लेना चाहिए न्यूनाधिक से नहीं। इस प्रकार भिन्न जातियों में भी दो गुण स्निग्ध का एक, दो, तीन गुण रूक्ष से बन्ध नहीं होता है तथा उत्तर वाले पाँच, छह आदि रूक्ष गुण से बन्ध नहीं है परन्तु चतुर्गुण रूक्ष वाले से ही बन्ध होता है। इसी प्रकार तीन गुण रूक्ष वाले का पाँच गुण रूक्ष या पाँच गुण स्निग्ध से ही बन्ध होता है चार या छह आदि आगे-पीछे के गुण वालों से नहीं। **(रा.वा.२)**

४. प्रश्न : समबन्ध एवं विषम बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्निग्ध का स्निग्ध परमाणु के साथ और रूक्ष का रूक्ष परमाणु के साथ बन्ध होना समजातीय बन्ध है।

स्निग्ध का रूक्ष के साथ और रूक्ष का स्निग्ध के साथ बन्ध होना विजातीय विषम बन्ध है। **(श्लो. ६/३८७)**

५. प्रश्न : यह सूत्र बन्ध के विषय में उत्सर्ग रूप है या अपवाद रूप ?

उत्तर : यह सूत्र बन्ध के विषय में अपवादों से रहित होता हुआ बन्धविषय के निर्णीत सिद्धान्तों

को कहने वाला है। पूर्व में कहा गया ''स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः'' यह बन्ध के विषय में उत्सर्ग सूत्र है और **'न जघन्य गुणानाम्'** और **'गुणसाम्ये सदृशानाम्'** ये दो अपवाद सूत्र हैं। **(श्लो. ६/३८७)**

बन्ध होने पर होने वाली विशेषता कहते हैं-

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

(बन्धेऽधिकौ) बन्ध होने पर अधिक गुण वाला न्यून गुण वाले को (पारिणामिकौ) अपने रूप परिणमन करा लेता है।

अर्थ - बन्ध होने पर अधिक गुण वाला कम गुण वाले को अपने रूप परिणमन करा लेता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अधिक गुण वाले के साथ बन्ध होता है, ऐसा क्यों कहा, समगुण वाले के साथ बन्ध होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा ? इसी बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है।[1] **(सर्वा. ५९७)**

संयोग होने पर भी प्राप्ति मात्र (समुदाय मात्र) से कृतार्थत्व हो जाने से परस्पर अनुप्रवेश में निरुत्सुक स्निग्ध-रूक्ष-गुण स्कन्ध-परमाणुओं का संयोग मात्र होने से वे पारिणामिक नहीं हो सकते। स्निग्ध-रूक्ष गुण की शुक्ल और कृष्ण तन्तु के समान यदि मात्र प्राप्ति ही है, उनमें एक-दूसरे की पारिणामिकता नहीं है तो वह बन्ध नहीं कहा जा सकता, अतः उस पारिणामिकता का नियम बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३७)**

२. प्रश्न : पारिणामिकत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : गीले गुड़ की तरह अवस्थान्तर उत्पन्न करना पारिणामिकत्व है। जैसे- अधिक मधुर रस वाला गीला गुड़ अपने में गिरी हुई धूलि आदि को मधुररस वाला बनाने के कारण धूलि का परिणामक है, उसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला परमाणु न्यून गुण वाले परमाणुओं का परिणामक होता है। अर्थात् दो गुण स्निग्ध वा रूक्ष वाले परमाणुओं को चार गुण वाले स्निग्ध या रूक्ष गुण वाले परमाणु परिणामक होते हैं। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : यहाँ बन्ध की चर्चा का प्रारम्भ किसलिए किया गया है ?

उत्तर : यहाँ बन्ध की चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि आत्मा के योग व्यापार के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में विस्रसोपचित अनन्तानन्त प्रदेशी स्निग्ध और रूक्ष से परिणत पौद्गलिक कर्मबन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। उस परिणामक से अपादित परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्म भाव से परिणत पौद्गलिक कर्म तीस कोटाकोटि सागर आदि तक की स्थिति तक घन परिणामी बन्ध को प्राप्त रहते हैं, विघटित नहीं होते। **(रा. वा. ५)**

४. प्रश्न : क्या दो गुण वाले और चार गुण अवस्था वाले स्कन्ध का व्यय होकर नया स्कन्ध उत्पन्न होता है ?

उत्तर : हाँ, जिस प्रकार शुक्ल और पीत रंग के मिलने पर हरे रंग के पत्र आदि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार दो गुण वाली और चार गुण वाली जो अवस्थाएँ थी उनका व्यय होकर तीसरी छह गुण अवस्था वाला स्कन्ध उत्पन्न हो जाता है। **(रा. वा. २)**

५. **प्रश्न : सूत्र में 'गुण' शब्द नहीं है अत: कैसे जाना जाता है कि अधिक गुण वाला कम गुण वाले को अपने रूप परिणमाता है ?**

उत्तर : प्रकरण होने से गुणों का ज्ञान होता है। यहाँ गुणों का प्रकरण है अत: 'अधिकौ' का अर्थ अधिक गुण वाले परमाणु होता है। **(रा.वा. १)**

शब्द के अर्थ की सामर्थ्य से यहाँ अनुवृत्ति कर लेना चाहिए। 'अर्थवशात् विभक्तिवचनपरिणाम:' अर्थ के वश से विभक्ति और वचन का परिवर्तन कर लिया जाता है। अत: षष्ठी बहुवचनान्त 'गुणानां' इस पद को प्रथमा द्विवचनान्त 'गुणौ' इस रूप से परिणत कर लिया जाता है। **(श्लो. ६/३८८)**

६. **प्रश्न : अधिक गुण वाला कम गुण वाले को अपने रूप कैसे परिणमन करा लेता है ?**

उत्तर : जिस प्रकार अधिक मधुर रस वाला गीला गुड़ अपने में गिरी हुई धूलि आदि को मधुर रस वाला बनाने से धूलि का परिणामक होता है उसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला कम गुण वाले को अपने रूप परिणमन कराने वाला होता है। **(रा.वा. २)**

द्रव्य का लक्षण कहते हैं-

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥

(गुणपर्ययवद्) गुण और पर्याय वाला (द्रव्यं) द्रव्य होता है।

अर्थ - गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है।

१. **प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?**

उत्तर : आपने 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' इन दो सूत्रों में द्रव्य का नाम निर्देश किया है तो उन द्रव्यों की प्रसिद्धि निर्देश मात्र से है कि लक्षण से ? द्रव्यों की प्रसिद्धि लक्षण से भी है। लक्षण से प्रसिद्धि कैसे है ? ऐसी पृच्छा होने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३८)**

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस प्रकार द्रव्य का लक्षण कहा किन्तु अब अन्य प्रकार से द्रव्य के लक्षण का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ५९९)**

२. **प्रश्न : गुण किसे कहते हैं ?**

उत्तर : द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। **(सर्वा. ६००)**

जो द्रव्य को द्रव्यान्तर से पृथक् करता है सो गुण है। **(आ.प. ९३)**

जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त कर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं उन्हें गुण कहते हैं और वे वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि हैं। **(न्या. दी. ३/७८)**

सामान्य, अन्वय और उत्सर्ग ये गुणवाचक शब्द हैं। **(त.सा. ३/१०)**

द्रव्य का आश्रय लेकर और पर के आश्रय के बिना प्रवर्त्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित होता है, पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण हैं। **(प्र.सा.त. १३०)**

अन्वय द्रव्य है। अन्वय का विशेषण गुण है। **(प्र.सा.त. ८०)**

गुण द्रव्य के विशेष हैं। **(प्र.सा.त. ९५)**

३. प्रश्न : गुणों का संस्थान (आकार) कैसा है ?

उत्तर : द्रव्य के आकार से रहना गुणों का संस्थान है अथवा कृष्ण, नील, शुक्ल आदि स्वरूप जो गुण हैं उन रूप से रहना गुणों का संस्थान है। **(मू. ४९ आ.)**

४. प्रश्न : गुण कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : द्रव्यों के सद्भूत गुण दो प्रकार के होते हैं-

(१) सामान्य गुण (२) विशेष गुण।[१] **(न.च. ११)**

(१) सामान्य गुण (२) विशेषात्मक गुण। **(प्र.सा. त. ९५)**

(१) स्वभाव गुण (२) विभाव गुण। **(प.प्र. टी. १/५७)**

गुण तीन प्रकार के होते हैं-

(१) कुछ साधारण गुण (२) कुछ असाधारण (३) कुछ साधारण-असाधारण। **(प.प्र.टी. १/५८)**

५. प्रश्न : क्या गुण एवं द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं ?

उत्तर : गुणों के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, इसलिए द्रव्य और गुणों में अभेद है। **(त.सा. ३/११)**

संज्ञा आदि के निमित्त से प्राप्त होने वाले भेद के कारण गुण द्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं तो भी वे द्रव्य से भिन्न नहीं पाये जाते हैं और द्रव्य के परिणाम हैं इसलिए भिन्न नहीं भी हैं। **(सर्वा. ६०८)**

६. प्रश्न : द्रव्य में सामान्य गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : सामान्य गुण दस हैं-

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) अगुरुलघुत्व (६) प्रदेशत्व (७) चेतनत्व (८) अचेतनत्व (९) मूर्त्तत्व (१०) अमूर्त्तत्व। **(आ. प. ९)**

अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व, आदि सामान्य गुण हैं। **(प्र.सा.त. ९५)**

७. प्रश्न : अस्तित्व आदि गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : अस्तित्व - 'अस्ति' इसके भाव को अस्तित्व कहते हैं। **(आ.प. ९४)** अस्तित्व के भाव को अस्तित्व कहते हैं। अपने गुण और पर्याय में व्याप्त होने वाला सत् है। **(न.च. ६०)**

वस्तुत्व - सामान्य विशेषात्मक वस्तु होती है, उस वस्तु का जो भाव है वह वस्तुत्व है। **(आ.प. ९५)**

द्रव्यत्व - जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से अपनी स्वभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है वह द्रव्य है; उस द्रव्य का जो भाव है वह द्रव्यत्व है। **(आ.प.९६)**

८. प्रश्न : प्रमेयत्व, अगुरुलघु एवं प्रदेशत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रमेयत्व - प्रमाण के द्वारा जानने योग्य जो स्व और पर स्वरूप है वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। अर्थात् जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी-न-किसी ज्ञान का विषय बनता है वह प्रमेयत्व गुण है।

अगुरुलघुत्व - जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रति-समय में परिणमन शील है तथा आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघु गुण है। अगुरुलघु का जो भाव है वह अगुरुलघुत्व है।

प्रदेशत्व - प्रदेश का भाव प्रदेशत्व है अथवा क्षेत्रत्व है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। **(आ. प. ९८-१००)**

९. प्रश्न : चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व तथा अमूर्त्तत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : चेतनत्व - चेतन के भाव को अर्थात् पदार्थों के अनुभव को चेतनत्व कहते हैं। चैतन्य नाम अनुभूति का है। वह अनुभूति क्रिया रूप ही होती है। मन, वचन, काय में अन्वित वह क्रिया नित्य होती रहती है। **(आ.प. १०१)** चेतना, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है, ये एकार्थ हैं क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना एकार्थ हैं। **(पं.का.स. ३९)**

अचेतनत्व - अचेतन के भाव को अर्थात् पदार्थ के अननुभवन को अचेतनत्व कहते हैं।

मूर्त्तत्व - मूर्त्त अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श युक्तता को मूर्त्त कहते हैं, मूर्त्त के भाव को मूर्त्तत्व कहते हैं।

अमूर्त्तत्व - रूपादि से रहित अमूर्त्त के भाव को अमूर्त्तत्व कहते हैं। **(आ.प. १०२-१०४)**

१०. प्रश्न : प्रत्येक द्रव्य में कितने सामान्य गुण पाये जाते हैं ?

उत्तर : प्रत्येक द्रव्य में आठ सामान्य गुण पाये जाते हैं-

जीव द्रव्य में -

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) अगुरुलघुत्व (६) प्रदेशत्व (७)

चेतनत्व (८) अमूर्त्तत्व।

पुद्गल द्रव्य में-

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) अगुरुलघुत्व (६) प्रदेशत्व (७) अचेतनत्व (८) मूर्त्तत्व।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल में-

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) अगुरुलघुत्व (६) प्रदेशत्व (७) अचेतनत्व (८) अमूर्त्तत्व। **(आ.प. १०)**

११. प्रश्न : द्रव्य में विशेष गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : सर्वद्रव्यों में सोलह विशेष गुण पाये जाते हैं-

(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) सुख (४) वीर्य (५) रूप (६) रस (७) गन्ध (८) स्पर्श (९) गति हेतुत्व (१०) स्थिति हेतुत्व (११) वर्तना हेतुत्व (१२) अवगाहन हेतुत्व (१३) मूर्त्तत्व (१४) अमूर्त्तत्व (१५) चेतनत्व (१६) अचेतनत्व। **(आ.प. ११)** अवगाहन हेतुत्व, गति हेतुत्व, स्थिति हेतुत्व, वर्तना हेतुत्व, रूप-रस-गन्धादिमत्ता, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। **(प्र.सा.त. ९५)**

१२. प्रश्न : प्रत्येक द्रव्य में कौन-कौन से विशेष गुण पाये जाते हैं ?

उत्तर : जीव द्रव्य में छह विशेष गुण हैं- ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्त्तत्व।

पुद्गल द्रव्य में छह विशेष गुण हैं- स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मूर्त्तत्व, अचेतनत्व।

धर्मादि चार द्रव्यों में तीन-तीन विशेष गुण हैं-

धर्म द्रव्य में - गति हेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व।

अधर्म द्रव्य में - स्थिति हेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व।

आकाश द्रव्य में - अवगाहन हेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व।

काल द्रव्य में - वर्तना हेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व। **(आ.प. १२-१३)**

१३. प्रश्न : जीवों में साधारण-असाधारण गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व ये स्वजाति की अपेक्षा साधारण और विजाति की अपेक्षा विशेष हैं। **(न.च. १६)** ज्ञान, सुख आदि गुण स्वजाति की अपेक्षा साधारण होते हुए भी विजाति की अपेक्षा असाधारण है। (सर्व जीवों में सामान्य रूप से पाये जाने के कारण जीव द्रव्य के प्रति साधारण है और शेष द्रव्यों में न पाये जाने से उनके प्रति असाधारण है।)

अमूर्त्तत्व गुण - पुद्गल के प्रति असाधारण है परन्तु आकाशादि अन्य द्रव्यों के प्रति साधारण है।

प्रदेशत्व गुण - काल द्रव्य व पुद्गल परमाणु के प्रति असाधारण है परन्तु शेष द्रव्यों के प्रति साधारण है।

इस प्रकार जीवों के गुणों का संक्षेप व्याख्यान किया। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों के गुणों का भी यथा-संभव जानना चाहिए। **(प.प्र.टी. १/५८)**

१४. प्रश्न : पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है, 'पर्येति' अर्थात् परिणमन करती है वह पर्याय है। यह पर्याय शब्द की व्युत्पत्ति है।

सत् को आदि लेकर अविभाग प्रतिच्छेद पर्यन्त यही संग्रह प्रस्तार क्षणिक रूप से विवक्षित व शब्द भेद से भेद को प्राप्त हुआ विशेष प्रस्तार या पर्याय है। **(ध. ९/१७०)**

द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। (द्रव्य के विकार विशेष रूप से भेद को प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं।) **(सर्वा. ६००)**

एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं जैसे- एक आत्मा में हर्ष और विषाद। **(प.मु. ४/८)**

द्रव्य की अनेक रूप परिणति क्रम से होती है अर्थात् अनित्य रूप पर्याय समय-समय पर उत्पन्न और नष्ट होती है वे पर्यायें कही जाती हैं। **(प.प्र.टी. १/५७)**

जो व्यतिरेकी हैं वे पर्यायें हैं। **(प.प्र.टी. १/५७)**

१५. प्रश्न : पर्यायों का आकार कैसा है ?

उत्तर : दीर्घ, ह्रस्व, गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि तथा नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व और देवत्व आदि स्वरूप से आकार होना यह पर्यायों का संस्थान है। **(मू.आ. ५४९)**

१६. प्रश्न : पर्यायें कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : पर्यायें दो प्रकार की होती हैं-

(१) गुणात्मक पर्याय (२) द्रव्यात्मक पर्याय। **(प्र.सा.त. ९३)**

(१) द्रव्य पर्याय (२) गुण पर्याय। **(पं.का.ता. १६)**

(१) अर्थ पर्याय (२) व्यञ्जन पर्याय। **(आ.प. १५)**

(१) स्वभाव पर्याय (२) विभाव पर्याय। **(नि.सा. १५)**

पर्याय चार प्रकार की है-

(१) स्वभाव द्रव्य पर्याय (२) विभाव द्रव्य पर्याय (३) स्वभाव गुण पर्याय (४) विभाव गुण पर्याय। **(न.च. १९)**

१७. प्रश्न : क्या द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न हैं ?

उत्तर : पर्याय के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती, इसलिए महर्षि दोनों में अभिन्नता कहते हैं। **(त.सा. ३/१२)**

१८. प्रश्न : गुण पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुण द्वारा आयत की अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुण पर्याय है। **(प्र.सा.त. ९३)**

जिन पर्यायों में गुणों के द्वारा अन्वय रूप एकत्व का ज्ञान होता है, उन्हें गुण पर्यायें कहते हैं। **(पं.का.ता. १६)**

गुण-पर्यायें एक पर्याय हैं, क्योंकि गुणपर्यायों को एक द्रव्यत्व है। तथा वह द्रव्यत्व आम्रफल की भाँति है। **(प्र.सा.त. १०४)**

गुण-पर्याय एक द्रव्यगत ही होती है, आम्र में हरे एवं पीले रंग की भाँति। **(पं.का.ता. १६)**

१९. प्रश्न : द्रव्य पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्य पर्याय है।

जैसे अनेक वस्तुओं से बनी हुई को एक यान या वाहन कहना। **(पं.का.ता. १६)**

२०. प्रश्न : द्रव्य पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : द्रव्य पर्याय दो प्रकार की होती है-

(१) समानजातीय द्रव्य पर्याय (२) असमान जातीय द्रव्य पर्याय।

समानजातीय द्रव्य पर्याय - समानजातीय वह है- जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक इत्यादि। **(प्र.सा.त. ९३)**

दो, तीन वा चार इत्यादि परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य मिलकर स्कन्ध बनते हैं, तो यह एक अचेतन की दूसरे अचेतन द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली समानजातीय द्रव्य पर्याय है। **(पं.का.ता. १६)**

असमानजातीय द्रव्य पर्याय - जीव पुद्गलात्मक देव-मनुष्य आदि असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। **(प्र.सा.त. ९३)**

भवान्तर को प्राप्त हुए जीव के नवीन शरीर नोकर्म रूप पुद्गल के साथ मनुष्य, देवादि पर्याय रूप जो उत्पत्ति है वह चेतन जीव की अचेतन पुद्गल द्रव्य के साथ मेल से होने के कारण असमानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है। **(पं.का.ता. १६)**

२१. प्रश्न : गुण पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : गुण-पर्यायें दो प्रकार की होती हैं -

(१) स्वभाव गुण पर्याय (२) विभाव गुण पर्याय।

स्वभाव गुण पर्याय - समस्त द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघु गुण द्वारा प्रति समय प्रगट होनेवाली षट् स्थान पतित हानि-वृद्धि रूप अनेकत्व की अनुभूति है वह स्वभाव गुण पर्याय है।

विभावगुण पर्याय - रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्त्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य के कारण देखने में आने वाले स्वभाव विशेष रूप अनेकत्व की आपत्ति (आपड़ना अथवा होना) विभाव-गुण पर्याय है। **(प्र.सा.त. ९३)**

२२. प्रश्न : अर्थ पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो द्रव्य को क्रम परिणाम से प्राप्त करते हैं, अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ पर्याय' हैं। **(प्र.सा.त. ८७)**

षट् हानि-वृद्धि रूप सूक्ष्म, परमागम प्रमाण से स्वीकार करने योग्य अर्थ पर्यायें हैं। **(नि.सा. १६८)** अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, अवाय विषयक है, अत: शब्द से नहीं कही जा सकती है और क्षण-क्षण में बदलती है, अत: शब्द से नहीं कही जा सकती है। **(वसु.श्रा. २५)**

भूत और भविष्यत् के उल्लेख रहित केवल वर्तमानकालीन वस्तु स्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। **(न्याय दी. ३/७७)**

अगुरुलघु गुण की षट् वृद्धि और हानि रूप तथा प्रतिक्षण बदलती हैं वे अर्थ पर्याय होती हैं। **(प्र.सा.ता. ८०)**

२३. प्रश्न : अर्थ पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अर्थ पर्याय दो प्रकार की होती है-

(१) स्वभाव अर्थ पर्याय (२) विभाव अर्थ पर्याय।

स्वभाव अर्थ पर्याय - अगुरुलघु गुण का परिणमन स्वाभाविक अर्थ पर्याय है। **(आ.प. १६-१७)**

अगुरुलघु गुण अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला है, उस अगुरुलघु गुण में प्रति समय पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। अगुरुलघु गुण की पर्यायों को (शुद्ध द्रव्यों की) स्वभाव पर्यायें जानना चाहिए। **(न.च. २१)**

विभावार्थ पर्याय - कषायों की षट् स्थानगत हानि-वृद्धि होने से विशुद्ध या संक्लेश रूप शुभ-अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की अशुद्ध (विभाव) अर्थ पर्यायें जानना चाहिए तथा द्वि-अणुक आदिक स्कन्धों में वर्णादि में अन्य वर्णादि होने रूप पुद्गल की विभाव अर्थ पर्यायें हैं। **(पं.का. टी. १६)**

२४. प्रश्न : स्वभाव अर्थ पर्यायें कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : स्वभाव अर्थ पर्यायें बारह प्रकार की होती हैं- छह वृद्धि रूप तथा छह हानि रूप।

छह वृद्धि - अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि।

छह हानि - अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि। **(आ.प. १७)**

२५. प्रश्न : विभाव अर्थ पर्यायें कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : विभाव अर्थ पर्यायें छह प्रकार की होती हैं-

(१) मिथ्यात्व (२) कषाय (३) राग (४) द्वेष (५) पुण्य (६) पाप।

ये छह (जीव की) अध्यवसाय विभाव अर्थ पर्यायें हैं। **(आ. प. १८)**

२६. प्रश्न : किन-किन द्रव्यों में कौन-कौन सी पर्यायें होती हैं ?

उत्तर : सर्व द्रव्यों में स्वभाव पर्याय होती है, किन्तु जीव और पुद्गलों में विभाव पर्यायें भी होती हैं।

द्रव्य और गुणों में स्वभाव पर्यायें भी होती हैं और विभाव पर्यायें भी होती हैं। जीव में जीवत्व रूप स्वभाव पर्यायें होती हैं और कर्म कृत विभाव पर्यायें होती हैं। पुद्गल में विभाव पर्यायें कालप्रेरित होती हैं जो स्निग्ध व रूक्ष गुण के कारण बन्ध रूप होती हैं। **(न. च. १८-१९)**

२७. प्रश्न : व्यञ्जन पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : वज्रशिला, स्तम्भादि में व्यञ्जन संज्ञिक उत्पन्न हुई पर्याय का अवस्थान पाया जाता है। मिथ्यात्व भी व्यञ्जन पर्याय है। **(ध. ४/३३७)**

(जिससे व्यक्त हो, प्रकट हो वह व्यञ्जन पर्याय है। किस कारण ? पटादि की भाँति चक्षुगोचर होने से अथवा सादि-सान्त मूर्त विजातीय विभाव-स्वभाव वाली होने से दिखकर नष्ट होने वाले स्वरूप वाली होने से) नर-नारकादि व्यञ्जन पर्याय पाँच प्रकार की, संसार प्रपंच वाले जीवों के होती है। पुद्गलों की स्थूल-स्थूल आदि स्कन्ध पर्यायें होती हैं। **(नि.सा.त. १६८)**

व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है अर्थात् शब्द से कही जा सकती है और चिरस्थायी है। **(वसु. श्रा. २५)**

व्यक्ति का नाम व्यंजन है और जो प्रवृत्ति-निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने आदि रूप अर्थ क्रियाकारित है वह व्यक्ति है, उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे मिट्टी आदि की पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्यायें हैं। **(न्या.दी. ३/७७)**

शरीर के आकार रूप से जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान है वह व्यञ्जन पर्याय कहलाती है। **(प्र.सा.ता.टी. ८०)**

२८. प्रश्न : व्यञ्जन पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : व्यंजन पर्याय दो प्रकार की होती है-

(१) विभाव व्यंजन पर्याय (२) स्वभाव व्यञ्जन पर्याय।

विभाव व्यंजन पर्याय - नर, नारकादि जीव की विभाव व्यंजन पर्यायें हैं एवं द्वि अणुकादि स्कन्धों में ही चिरकाल रहने वाली पुद्गल की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है।

स्वभाव व्यंजन पर्याय - जीव की सिद्ध पर्याय स्वभाव व्यंजन पर्याय है। **(आ. प. १९-२३)**

२९. प्रश्न : विभाव व्यंजन पर्याय कितने प्रकार की है ?

उत्तर : विभाव व्यंजन पर्याय दो प्रकार की है-

(१) विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय (२) विभाव गुण व्यंजन पर्याय।

विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय - उपर्युक्त विभाव व्यंजन पर्याय ही विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है।

विभाव गुण व्यंजन पर्याय - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान विभाव गुण व्यंजन पर्याय है। पुद्गल की रस से रसान्तर, गन्ध से अन्य गन्ध अवस्था विभाव गुण व्यंजन पर्याय है। **(आ.प. १९-२४)**

३०. प्रश्न : स्वभाव व्यंजन पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : स्वभाव व्यंजन पर्याय दो प्रकार की है-

(१) स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय (२) स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय।

स्वभावद्रव्य व्यंजन पर्याय - जिस शरीर से मुक्ति प्राप्त होती है उस अन्तिम शरीर से कुछ कम सिद्ध जीव का आकार होता है वह स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। पुद्गल की एक शुद्ध परमाणु रूप अवस्था स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। **(आ.प. २१, २५)**

स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय - जीव के अनन्त चतुष्टय, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य, स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय है। शुद्ध परमाणु में एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और परस्पर में अविरुद्ध दो स्पर्श यथा स्निग्ध रूक्ष में से एक और शीत-उष्ण में से एक ये पुद्गल की स्वभाव गुण व्यंजन पर्यायें हैं। **(आ. प. २२, २६)**

३१. प्रश्न : स्वभाव पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मोपाधि रहित पर्यायें वे स्वभाव पर्यायें कही गयी हैं, अन्य की अपेक्षा से रहित जो (परमाणु का) परिणाम वह (पुद्गल की) स्वभाव पर्याय है। **(नि.सा. १५, २८)**

३२. प्रश्न : स्वभाव पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : स्वभाव पर्याय दो प्रकार की होती है-

(१) स्वभाव द्रव्य पर्याय (२) स्वभाव गुण पर्याय।

सब द्रव्यों की जो अपने-अपने प्रदेशों की स्वाभाविक स्थिति है वही द्रव्य की स्वभाव पर्याय जानो। कर्मों से निर्मुक्त सिद्ध जीवों में जो देहाकार रूप से प्रदेशों की निश्चल स्थिति है वह जीव की शुद्ध या स्वभाव पर्याय है। निश्चय से जो अनादि-निधन कारण रूप तथा कार्य रूप परमाणु है वही पुद्गल द्रव्य की स्वभाव द्रव्य पर्याय है। **(न.च. वृ. २०-२९)**

३३. प्रश्न : स्वभाव गुण पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्यों के अगुरुलघु गुण के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों की समय-समय पर उत्पन्न होने वाली पर्यायें हैं, वे द्रव्यों की स्वभाव गुणपर्याय कही गयी हैं, ऐसा तुम जानो। द्रव्य व भावकर्म से रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य जीव द्रव्य की स्वभाव गुण पर्याय जानो। एक अणु रूप पुद्गल द्रव्य में

स्थित जो रूप, रस, गन्ध व वर्ण है, वह पुद्गल द्रव्य की स्वभाव गुण पर्यायें जानो। **(न.च. २१-३०)**

३४. प्रश्न : 'गुणा एव पर्याया:' ऐसा कहा है अत: 'गुणपर्ययवत्' विशेषण निरर्थक है ?

उत्तर : 'गुणपर्ययवत्' यह मतान्तरों की निवृत्ति के लिए है क्योंकि अन्य मतों में द्रव्य से भिन्न गुणों की परिकल्पना की गई है परन्तु द्रव्य से भिन्न गुण कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि द्रव्य से भिन्न गुण उपलब्ध नहीं होते हैं। अत: द्रव्य का परिणमन, परिवर्तन पर्याय है और उसका भेद ही गुण है, द्रव्य से भिन्नजातीय गुण नहीं है अत: मतान्तर की निर्वृत्ति के लिए 'गुणपर्ययवत्' विशेषण निरर्थक नहीं है। **(रा.वा. ४)**

३५. प्रश्न : सूत्र उनतीस 'सत्.....' में द्रव्य का लक्षण बता दिया है अत: पुन: द्रव्य का लक्षण क्यों लिखा ?

उत्तर : सूत्र उनतीस में सम्पूर्ण द्रव्यों का सामान्य लक्षण बताया है उस सत् रूप महाद्रव्य की अंश रूप पर्यायें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य हैं, वे भी व्यवहार नय से द्रव्यत्वपने को स्वीकार करते हैं, उस द्रव्य का असाधारण लक्षण बताने के लिए पुन: यह 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' सूत्र लिखा है। **(श्लो.६/३९५)**

३६. प्रश्न : सूत्र में 'गुण' शब्द का प्रयोग क्यों किया है?

उत्तर : सूत्र में एक गुण, दस गुण या अनन्त गुण रूप जो रूपादिक के परिणाम रूप अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं उनको बतलाने के लिए गुण शब्द का प्रयोग किया है अत: वह गुण का विशेष हो अर्थात् गुणांश को बतलाने के लिए गुण शब्द है।

३७. प्रश्न : 'गुण' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर : जिस प्रकार दश में और दशगुण में दशपना समान ही है तथा अधिक में भी गुण शब्द पाया जाता है वैसे ही इस विषय में भी जान लेना चाहिए। गणित सम्बन्धी 'दश' शब्द का प्रयोग नाना दश वस्तुओं के लिए भी होता है तथा किसी एक वस्तु में भी ताकत आदि की अपेक्षा दश गुणापन पाया जाता है। अत: दश शब्द का प्रयोग कहीं तो अन्वयी (ध्रुव) ज्ञानादिक गुण के लिए उसका प्रयोग होता है तो कहीं गुण शब्द शब्द के विकार पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद के लिए या गुणांश के अर्थ में होता है तो कहीं गुण शब्द गौण अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। सामान्य विशेष रूप अनेक धर्मात्मक वस्तु के नित्य आदिक धर्मों के विषय में गुण मुख्य भाव से या अर्पितानर्पित रूप से चिंतन करना चाहिए। सूत्र में गुण शब्द गौण या अनर्पित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **(स.सूत्र ३/१५)**

काल द्रव्य का कथन करते हैं-

कालश्च ॥३९॥

कालः च।

अर्थ - काल भी द्रव्य है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उक्त द्रव्यों के लक्षण निर्देश से उनका विषय ही द्रव्य का ज्ञान करा देता है परन्तु जिस द्रव्य का कथन नहीं किया है, उसकी सूचना के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३९)**

२. प्रश्न : काल को द्रव्य क्यों कहा गया है ?

उत्तर : काल में द्रव्य का लक्षण पाया जाता है। जो उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है अथवा जो गुण और पर्याय वाला है वह द्रव्य है, ये दोनों ही लक्षण काल में पाये जाते हैं इसलिए काल में जब द्रव्य के दोनों लक्षण पाये जाते हैं तो वह आकाशादि के समान स्वतंत्र द्रव्य है यह सिद्ध होता है। धर्मास्तिकायादि के समान इसके अस्तित्व के कारण का व्याख्यान किया ही है कि 'काल का लक्षण वर्तना है।' **(सर्वा. ६०२)** जैसे - आकाशादि द्रव्य के लक्षणों से युक्त होने से द्रव्य है उसी प्रकार काल में भी द्रव्य का लक्षण घटित होता है अत: काल के भी द्रव्यत्व सिद्ध होता है। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : काल में उत्पाद व्यय ध्रौव्य किस अपेक्षा पाये जाते हैं ?

उत्तर : काल में ध्रौव्य तो स्वप्रत्यय ही है क्योंकि वह स्वभाव में सदा व्यवस्थित रहता है। काल का उत्पाद-व्यय स्व-पर प्रत्यय से होता है। अगुरुलघुगुण की हानि-वृद्धि की अपेक्षा उत्पाद-व्यय स्वप्रत्यय से होता है तथा पर द्रव्यों में वर्त्तना का कारण होने से काल में उत्पाद और व्यय पर प्रत्यय भी होता है। **(रा.वा. २)**

काल में ध्रुवता स्व निमित्तक है, क्योंकि उसमें अपने स्वभाव की व्यवस्था होती है। व्यय और उत्पाद पर निमित्तक हैं, और अगुरुलघु गुणों की हानि और वृद्धि की अपेक्षा स्वनिमित्तक भी है। **(सर्वा. ६०२)**

४. प्रश्न : काल में गुण और पर्यायें किस प्रकार पायी जाती हैं ?

उत्तर : काल द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं-

(१) साधारण गुण (२) असाधारण गुण।

वर्त्तनाहेतुत्व काल का असाधारण गुण है क्योंकि काल को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है।

अचेतनत्व, अमूर्त्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण हैं क्योंकि ये गुण पुद्गलादि अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : काल द्रव्य को अलग से क्यों कहा ? धर्मादि द्रव्यों के साथ पहले सूत्र में ही क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर (पहले सूत्र में) यदि इसका कथन करते तो इसे कायपना प्राप्त होता। परन्तु काल द्रव्य कायवान् नहीं कहा है, क्योंकि इसमें मुख्य और उपचार दोनों प्रकार से प्रदेशप्रचय की कल्पना का अभाव है। धर्मादि द्रव्यों का तो 'असंख्येया: प्रदेशा:' इत्यादिक सूत्रों द्वारा मुख्य रूप से प्रदेशप्रचय कहा है। उसी प्रकार एक प्रदेश वाले अणु का भी पूर्वोत्तर भाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उपचार कल्पना से प्रदेशप्रचय कहा है, परन्तु काल के दोनों प्रकार से प्रदेशप्रचय की कल्पना नहीं

बनती, इसलिए वह अकाय है। दूसरी बात- यदि प्रथम सूत्र में काल का पाठ रखते हैं तो 'निष्क्रियाणि च' इस सूत्र में धर्म से लेकर आकाश तक के द्रव्यों को निष्क्रिय कहने पर जैसे जीव और पुद्गलों को सक्रियत्व प्राप्त होता है वैसे ही काल द्रव्य को सक्रियत्व प्राप्त होता है। **(सर्वा. ६०२)**

६. प्रश्न : काल में सक्रियत्व न हो इसलिए सूत्र में आकाश के पहले काल को रख देते ?

उत्तर : यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'आकाश तक एक द्रव्य है' इस सूत्रवचन के अनुसार यदि काल को आकाश के पहले रखते हैं तो उसे एक द्रव्यत्व (काल द्रव्य एक होगा) प्राप्त होता है। ये सब दोष प्राप्त न हों इसलिए काल का अलग से कथन किया है। **(सर्वा. ६०२)**

७. प्रश्न : काल द्रव्य का कथन पृथक् क्यों किया है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अरूपी द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं और काल अस्तिकाय रूप नहीं है क्योंकि वह एक प्रदेश रूप ही है। उसमें निश्चय प्रदेशों के अभाव को बताने के लिए उसको (काल द्रव्य को) पृथक् रूप से कहा है। **(मू. २३३ आ.)**

८. प्रश्न : अस्तिकाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : चूंकि विद्यमान है इसलिए जिनेश्वर ने इनको अस्ति कहा है और ये शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं इसलिए इनको काय कहा है। अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से 'अस्तिकाय' होते हैं। **(द्र.सं. २४)**

जिन्हें विविध गुणों और पर्यायों के साथ अपनत्व है, वे अस्तित्वकाय हैं, कि जिनसे तीन लोक निष्पन्न है। **(पं.का. ता. ५)**

९. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि काल द्रव्य एक प्रदेशी है ?

उत्तर : जैसे अन्तिम शरीर से कुछ कम प्रमाण के धारक सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारणभूत जो शुद्ध आत्म-द्रव्य है वह सिद्धत्व पर्याय के प्रमाण ही है। **अथवा** जैसे मनुष्य, देव, आदि पर्यायों का उपादान कारणभूत जो संसारी जीव द्रव्य है वह उस मनुष्य देव आदि पर्याय के प्रमाण ही है। उसी प्रकार काल द्रव्य भी समयरूप काल पर्याय के उपादान रूप अविभागी एक प्रदेश ही होता है। **अथवा** मंदगति से गमन करते हुए पुद्गल परमाणु के एक आकाश के प्रदेश तक ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है इस कारण जाना जाता है कि वह कालद्रव्य भी एक ही प्रदेश का धारक है। **(बृ.द्र.सं.टी. २५)**

व्यवहार काल का प्रमाण कहते हैं-

सोऽनन्तसमयः ॥४०॥

सः अनन्त समयः।

(सः) वह काल (अनन्तसमयः) अनन्त समय वाला है।

अर्थ - वह (काल द्रव्य) अनन्त समय वाला है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : वर्तना लक्षण वाले मुख्य काल का प्रमाण कहा। परन्तु परिणाम आदि के द्वारा जानने योग्य व्यवहार काल का क्या प्रमाण है ? इस बात का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा.६०३)** द्रव्यत्व होने पर यह काल क्या आकाश के समान एक अखण्ड है अथवा भिन्न-भिन्न है ऐसी आशंका होने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ४०)**

मुख्य काल का निश्चय करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ६०४)**

२. प्रश्न : यह काल कितने समय वाला है ?

उत्तर : यद्यपि वर्तमान काल एक समयवाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय है ऐसा मानकर काल को अनन्त समय वाला कहा है, तात्पर्य यह है कि अनंत पर्यायें वर्तना गुण के निमित्त से होती हैं। इसलिए एक कालाणु को भी उपचार से अनन्त कहा है। **(सर्वा. ६०४)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'अनन्त' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : मुख्य परमार्थ कालाणु धर्मास्तिकाय के प्रदेश के समान असंख्यात है, ऐसा कहा है। परन्तु यहाँ अनन्त समय का निर्देश व्यवहार काल के प्रमाण की अवधारणा के लिए है। वर्तमान काल एक समय का होने पर भी अतीत, अनागत समय अन्त से अतीत है। अत: सूत्र में 'अनन्ता:' इस संख्या का निर्देश दिया गया है।

अथवा - अनन्त पर्यायों की वर्त्तना में कारण होने से मुख्य काल को अनन्त कहा है।

अथवा - मुख्य काल के प्रमाण की अवधारणा के लिए अनन्त कहा है, क्योंकि अनन्त पर्यायों की वर्त्तना का हेतु होने से एक भी कालाणु उपचार से अनन्त कहा जाता है। **(रा.वा. १-२)**

गुण का लक्षण कहते हैं-

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा: ॥४१॥

द्रव्य-आश्रया:- नि-र्गुणा-गुणा:।

(द्रव्याश्रया:) जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और (निर्गुणा:) जो स्वयं निर्गुण हैं उन्हें (गुणा:) गुण कहते हैं।

अर्थ - जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं निर्गुण हैं उन्हें गुण कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गुण और पर्याय से युक्त हो, उसे द्रव्य कहते हैं तो गुणों का लक्षण क्या है, ऐसी पृच्छा करने पर आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ४१)**

नोट : गुण का लक्षण देखें- **(५/३८)**

परिणाम का लक्षण कहते हैं-

तद्भाव: परिणाम: ॥४२॥

(तद्भाव:) द्रव्यों के उस भाव को (परिणाम:) परिणाम कहते हैं।

अर्थ - द्रव्य का निज भाव ही तद्भाव है, द्रव्यों के उस भाव को परिणाम कहते हैं।

१. प्रश्न : क्या सभी द्रव्यों में अनादि एवं सादि परिणाम पाये जाते हैं ?

उत्तर : दोनों नयों के कारण सब द्रव्यों में सादि एवं अनादि दोनों परिणामों की सिद्धि होती है। पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से सर्व धर्मादि द्रव्यों में परिणाम सादि हैं और द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से सभी द्रव्यों के परिणाम अनादि हैं। विशेषता यह है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्यों का आदि और अनादिमान परिणाम आगम से जाना जाता है और जीव तथा पुद्गलों का परिणाम कथंचित् प्रत्यक्षगम्य भी होता है। **(रा.वा. ४)**

नोट : सादि एवं अनादि परिणाम का लक्षण देखें- **(५/२२)**

इस प्रकार तत्त्वार्थमञ्जूषा में पंचम अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : षष्ठ अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : २७ कुल प्रश्न : ३५९

- आदि के दो सूत्रों में आस्रव का लक्षण कहा गया है।
- तीसरे एवं चौथे सूत्र में आस्रव के भेद एवं स्वामी का कथन है।
- ५वें सूत्र में साम्परायिक आस्रव के भेद कहे गये हैं।
- ६ठे सूत्र में साम्परायिक आस्रव की विशेषता बताई गई है।
- ७वें सूत्र में अधिकरण के भेद कहे गये हैं।
- ८वें एवं ९वें सूत्र में जीव एवं अजीव अधिकरण के भेद कहे गये हैं।
- १०वें से १४वें सूत्र तक ज्ञानावरणादि चार कर्मों के आस्रवों का कथन है।
- १५वें से २१वें सूत्र तक आयुकर्म के आस्रवों का कथन किया गया है।
- २२वें-२३वें सूत्र में अशुभ एवं शुभ नामकर्म के आस्रवों का कथन है।
- २४वें सूत्र में सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर प्रकृति के आस्रवों का कथन है।
- २५वें से २७वें सूत्र तक गोत्र एवं अंतराय कर्म के आस्रवों का कथन है।

योग एवं पुण्य-पाप

आस्रव का कथन करते हैं-

कायवाङ्मनः कर्म योगः ॥१॥

अर्थ - काय, वचन और मन की क्रिया योग है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अजीव पदार्थ का व्याख्यान कर चुके हैं। अब अजीव पदार्थ के अनन्तर व्याख्येय आस्रव पदार्थ है अतः उस आस्रव की प्रसिद्धि के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १)**

जीव और अजीव का व्याख्यान किया। अब उसके बाद आस्रव पदार्थ का व्याख्यानक्रम प्राप्त है। अतः उसे स्पष्ट करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ६०९)**

२. प्रश्न : योग किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'कर्म' इस शब्द से कर्म वर्गणारूप पुद्गल स्कन्धों को ज्ञानावरण आदि कर्म रूप से और नोकर्म-वर्गणारूप पुद्गल स्कन्ध को औदारिक आदि नोकर्म रूप से परिणमन में हेतु जो सामर्थ्य है तथा आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं। जैसे- अग्नि के संयोग से लोहे में दहन शक्ति होती है, उसी तरह अंगोपांग शरीर नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा तथा भाषावर्गणा के आये पुद्गल स्कन्धों के और आहारवर्गणा के आये नोकर्म पुद्गल स्कन्धों के सम्बन्ध से जीव के प्रदेशों में कर्म और नोकर्म को ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न होती है। **(गो.जी.जी. २१६)**

आत्मप्रदेशों के संकोच और विस्तार रूप होने को योग कहते हैं। **(ध. १/१४१)**

जीव के प्रदेशों का जो संकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है वह योग कहलाता है। **(ध. १०/४३७)**

काय, वचन और मन के कर्म को योग कहते हैं। **(त.सू. ६/१)**

मन, वचन और काय से युक्त जीव का जो वीर्य-परिणाम अथवा प्रदेश परिस्पन्द रूप प्रणियोग होता है उसे योग कहते हैं। **(प.सं. १/८८)**

वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम अथवा क्षय होने पर काय आदि वर्गणाओं की लब्धि हो जाने से जीवों के प्रदेशों का परिस्पन्द होना योग है। **(रा.वा. ९/७)** जिसके कारण कर्मों के द्वारा आत्मा बन्ध को प्राप्त होता है, वह योग है। **(श्लो. ६/४३२)**

३. प्रश्न : योग कितने होते हैं ?

उत्तर : सामान्य से योग एक ही प्रकार का होता है।

योग दो प्रकार का है-

(१) शुभ योग (२) अशुभ योग।

योग तीन प्रकार का है-

(१) काय योग (२) वचन योग (३) मनो योग।

ये तीनों योग शुभ और अशुभ की अपेक्षा दो-दो प्रकार के हैं। **(श्लो. ६/४४२-४५)**

योग पन्द्रह प्रकार के होते हैं-

(१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) उभय मनोयोग (४) अनुभय मनोयोग (५) सत्य वचनयोग (६) असत्य वचनयोग (७) उभय वचन योग (८) अनुभय वचनयोग (९) औदारिक काययोग (१०) औदारिक मिश्रकाययोग (११) वैक्रियिक काययोग (१२) वैक्रियिक मिश्र काययोग (१३) आहारक काययोग (१४) आहारक मिश्र काययोग (१५) कार्मण काययोग। **(ध. १/२८२-९१)**

योग के संख्यात भेद हैं- क्योंकि संख्यात (शब्द) वाच्य संख्या का अतिक्रम नहीं कर सकते हैं।

योग के असंख्यात भेद हैं- असंख्यात अध्यवसायात्मक होने से योग असंख्यात प्रकार का है।

योग के अनन्त भेद हैं- क्योंकि अनन्त प्रकार का अशुभ तथा अनन्त विकल्पों वाला शुभयोग होता है। कायादि प्रत्येक योग विशेष रूप से असंख्यात भेद वाला है। **(श्लो. ६/४४२-४५)**

४. प्रश्न : असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय स्थानों के अनंत विकल्प कैसे हो सकते हैं?

उत्तर : कर्मास्रव के कारणभूत अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण होने पर भी अनंतानंत पुद्गल प्रदेश रूप से बँधे हुए ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के देशघाती एवं सर्वघाती स्पर्धकों के क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न होने वाला होने के कारण योग अनंत प्रकार का है। **अथवा -**

योग के निमित्त से अनंतानंत कर्मवर्गणाओं का आस्रव होता है। अत: योग अनंत प्रकार का है।

अथवा-

प्रत्येक समय में अनंतानंत जीवों के कर्मों का आस्रव होता है इसलिए नाना जीवों की दृष्टि से योग अनंत प्रकार का होता है। **(श्लो. ६/४४४-४५)**

५. प्रश्न : काययोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय वर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पन्दन काययोग कहलाता है। **(रा.वा. १०)** सात प्रकार के कायों में जो अन्वय रूप से रहता है उसे सामान्य काय कहते हैं। उस काय से उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है उसे काययोग कहते हैं। **(ध. १/३१०)**

वात, पित्त व कफ आदि के द्वारा उत्पन्न परिश्रम से जो जीव प्रदेशों का परिस्पन्द होता है वह काययोग कहा जाता है। **(ध. १०/४३७-३८)** जो चतुर्विध शरीरों के अवलम्बन से जीवप्रदेशों का संकोच-विकोच होता है वह काययोग है। **(ध. ७/७६)** काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, उसे काययोग कहते हैं। **(ध. १/२८१)**

६. प्रश्न : वचन योग किसे कहते हैं ?

उत्तर : पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त वचन वर्गणाओं का अवलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त अन्तरंग वचन लब्धि के मिलने पर वचन रूप पर्याय के सन्मुख आत्मा के होने वाला प्रदेश परिस्पन्द वचन योग है। **(सर्वा. ६१०)** भाषा वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कन्धों को अवलम्बन करके जो जीव-प्रदेशों का संकोच-विकोच होता है वह वचन योग है। **(ध. ७/७६)** पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त काय वर्गणा, वचन वर्गणा और मनो वर्गणाओं में से किसी एक का बाह्य आलम्बन लेकर वीर्यान्तराय मति-अक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से आभ्यन्तर वाग्लब्धि के सान्निध्य में वचन परिणाम के अभिमुख आत्मा के प्रदेशों का जो हलन-चलन होता है, वह वचनयोग है। **(रा.वा. १०)** सत्यादि चार प्रकार के वचनों में जो अन्वय रूप से रहता है, उसे सामान्य वचन कहते हैं। उस वचन में उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं। **(ध. १/३१०)**

वचन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं। **(ध. १/२८१)**

७. प्रश्न : मनोयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : अभ्यन्तर वीर्यान्तराय कर्म और इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम आत्मिक मनोलब्धि के सन्निधान में तथा पूर्वोक्त शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त मनोवर्गणाओं को बाह्य आलम्बन होने पर मन परिणाम के अभिमुख आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्द होता है उसे मनोयोग कहते हैं। **(रा.वा. १०)**

वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम रूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा बाहरी निमित्तभूत मनोवर्गणाओं का आलम्बन मिलने पर मन रूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है। **(सर्वा. ६१०)**

भाव मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं। **(ध. १/२८१)**

मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलम्बन से जो जीव का संकोच-विकोच होता है वह मनोयोग है। **(ध. ७/७६)**

बाह्य पदार्थ के चिन्तन में प्रवृत्त हुए मन से उत्पन्न जीवप्रदेशों के परिस्पन्द को मनोयोग कहते हैं। **(ध. १०/४३७)**

८. प्रश्न : मनोयोगादि में क्षायोपशमिकता कैसे है ?

उत्तर : वीर्यान्तराय के सर्वघाती स्पर्धकों के सत्त्वोपशम से व देशघाती स्पर्धकों के उदय से नोइन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय से उन्हीं स्पर्धकों के सत्त्वोपशम से तथा देशघाती स्पर्धकों के उदय से मन:पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के मनोयोग उत्पन्न होता है इसलिए उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के सत्त्वोपशम से व देशघाती स्पर्धकों के उदय से जिह्वेन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से व उन्हीं के सत्त्वोपशम से तथा देशघाती स्पर्धकों के उदय से भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए स्वर नाम कर्मोदय सहित जीव के वचन योग पाया जाता है, इसलिए वचनयोग भी क्षायोपशमिक है।

उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्म के सर्वघाती-स्पर्धकों के सत्त्वोपशम से व देशघाती स्पर्धकों के उदय से काययोग पाया जाता है इसलिए काययोग भी क्षायोपशमिक है। **(ध. ७/७७-७८)**

९. प्रश्न : यदि वीर्यान्तरायादि कर्मों का क्षयोपशम योग में अन्तरंग कारण है तो सयोग केवली भगवान के योग कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है क्योंकि क्रियापरिणामी आत्मा के काय-वचन और मनोवर्गणा के अवलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द केवली के होता है अत: सयोग केवली के तीन प्रकार का योग कहा गया है। **(रा.वा १०)**

केवली भगवान के वीर्यान्तरायादि कर्मों के क्षय रूप अन्तरंग कारण से तीनों योग होते हैं। **(श्लो. ६/४३४)**

१०. प्रश्न : वीर्यान्तरायादि कर्मों के क्षयोपशम के अभाव में भी यदि केवली के योग होते हैं तो अयोग-केवली एवं सिद्धों के भी योग होने चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अयोग केवली एवं सिद्ध भगवान के काय, वचन एवं मनो वर्गणाओं के अवलम्बन का अभाव है अत: उनके योगविधि नहीं है। **(रा.वा. १०)**

अयोग केवली के समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती (व्युपरत क्रिया निवृत्ति) नामक चौथे शुक्लध्यान का सद्भाव होने से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द नहीं है क्योंकि जिसके आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द है वह चौथे शुक्ल ध्यान का स्वामी नहीं हो सकता है। **(श्लो. ६/४३४)**

११. प्रश्न : क्या काय आदि तीनों की सामुदायिक क्रिया को योग कहा है ?

उत्तर : नहीं, 'गर्गों पर सौ रुपया जुर्माना करो' के समान काय, वचन और मन तीनों की सामुदायिक क्रिया को योग नहीं कहते अपितु प्रत्येक के साथ कर्म लगाकर वाक्य की परिसमाप्ति करते हैं। जैसे कि 'देवदत्त, जिनदत्त और गुरुदत्त को भोजन कराओ' इस वाक्य में प्रत्येक के साथ भोजन का सम्बन्ध विवक्षित है। उसी प्रकार योग व्यपदेश भी प्रत्येक तीनों कर्मों में जानना चाहिए। **(रा.वा. १३)**

१२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'कर्म' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : कर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, यहाँ क्रियावाची अर्थ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्य अर्थों की यहाँ असम्भवता है। **अथवा -** आत्मा कर्त्ता होने से उसका ईप्सिततम कर्म यहाँ इष्ट है। सामर्थ्ययुक्त आत्मा यहाँ कर्त्ता रूप से विवक्षित है, उस कर्त्ता को ईप्सित होने से कर्मकारक भी कर्म शब्द का अर्थ हो सकता है। **अथवा -** कर्म शब्द कर्त्ता, कर्म और भाव तीनों साधनों में निष्पन्न होता है विवक्षानुसार तीनों यहाँ परिगृहीत हैं। **(रा.वा. ३-७)**

१३. प्रश्न : आत्म-परिणामों की अविशेषता होने से योग तीन प्रकार के नहीं हो सकते क्योंकि आत्मा अखण्ड द्रव्य है, उस आत्मा का परिणाम योग है, वे तीनों योग तो अविशिष्ट आत्मपरिणाम ही हैं ?

उत्तर : यद्यपि आत्मा अखण्ड द्रव्य है और तीनों योग आत्मपरिणाम स्वरूप ही हैं तथापि पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से रूपादि के समान इनका व्यापार भिन्न-भिन्न है। जैसे एकता को नहीं छोड़ते हुए घट की चक्षु आदि इन्द्रियों के सम्बन्ध से रूपादि परिणाम भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार आत्मा के साथ एकत्व होने पर भी पर्याय के भेद से योग में भेद जानना चाहिए। **अथवा -**

लावकादि के समान इसमें अनेकान्त है। जैसे जाति, कुल, रूप, संज्ञा और लक्षण आदि की दृष्टि से अभिन्न भी देवदत्त बाह्य उपकरण के सम्बन्ध से लावक (काटने वाला), पावक (पकाने वाला) आदि पर्यायों के भेद को प्राप्त करता है अत: वह देवदत्त एक और अनेक होने से अनेकान्त है। उसी प्रकार प्रतिनियत क्षायोपशमिक शरीर आदि पर्याय की दृष्टि से कथंचित् योग के त्रैविध्य है और अनादि-पारिणामिक द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से कथञ्चित् योग एक प्रकार का ही है। अत: अनेकान्त दृष्टि से वस्तु का विचार करने वाले जैन सिद्धान्त में अखण्ड आत्मा में तीन प्रकार के योग कैसे हो सकते हैं यह उलाहना नहीं आ सकता। **(रा.वा. ९-११)**

१४. प्रश्न : योग शब्द का अर्थ ध्यान है अत: कायादि के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेशों का कम्पन योग नहीं है ?

उत्तर : यहाँ योग शब्द का अर्थ ध्यान नहीं है यद्यपि 'युज्' धातु समाधि अर्थ में है। युज् धातु से योग शब्द निष्पन्न होता है अत: योग, समाधि और ध्यान ये एकार्थवाची हैं। अत: योग का शब्दार्थ ध्यान भी है। यह आगे कहा जायेगा (९/२७)। यहाँ उसकी विवक्षा नहीं है, यहाँ आस्रव का प्रकरण होने से तीन प्रकार की मन, वचन और काय रूप क्रियाओं को योग रूप से ग्रहण किया है अर्थात् क्रिया को योग कहा है। **(रा.वा. १२)**

आस्रव का लक्षण कहते हैं-

स आस्रवः ॥२॥

सः आस्रवः।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : पर्यायार्थिक नय से प्राप्त तीन प्रकार की मन, वचन और काय की क्रिया को हम योग स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ आस्रव का प्रकरण होने से अब बताइये कि आस्रव का लक्षण क्या है? उसे बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २)**

नोट : आस्रव का लक्षण देखें **(१/४)**

२. प्रश्न : योग को आस्रव क्यों कहा है ?

उत्तर : जिस प्रकार तालाब के जलागमन द्वार से पानी आता है वह जलागमन द्वार जल आने का कारण होने से आस्रव कहलाता है, उसी प्रकार योग प्रणाली से आत्मा में कर्म आते हैं अत: योग को ही आस्रव कहते हैं। **(रा.वा. ४)**

संक्षेप से आस्रव का ज्ञान कराने के लिए योग को आस्रव कहा है, क्योंकि इन तीन योगों में ही मिथ्यादर्शनादि का अनुप्रवेश हो जाता है अत: मिथ्यादर्शनादि से अनुरंजित योग एवं अकेले योग के ही कर्मागमन का कारण सिद्ध हो जाता है। **(श्लो. ६/४३८)**

३. प्रश्न : मिथ्यात्वादि को आस्रव का कारण क्यों नहीं कहा है ?

उत्तर : मिथ्यात्व को आस्रव का कारण मानने पर दूसरे सासादन आदि गुणस्थानों में आस्रव नहीं हो सकता। **अविरति** को आस्रव का कारण मानने पर पंचम आदि गुणस्थानों में आस्रव नहीं हो सकता।

प्रमाद को आस्रव का कारण मानने पर सातवें आदि गुणस्थानों में आस्रव नहीं हो सकता।

कषाय को आस्रव का कारण मानने पर ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में आस्रव नहीं हो सकता।

परन्तु **योग** पहले गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक सभी जीवों के पाया जाता है अत: मिथ्यात्वादि को आस्रव का कारण न कहकर योग को आस्रव का कारण कहा है। **(श्लो. ६/४३८-३९)**

४. प्रश्न : आत्मा कर्मों को किस प्रकार ग्रहण करती है ?

उत्तर : जिस प्रकार आर्द्र (गीला) वस्त्र वायु के झकोरों से लाई गई धूलि को चारों ओर से चिपका लेता है उसी प्रकार कषाय रूपी जल से आर्द्र आत्मा योग के निमित्त से आई हुई कर्म रज को सर्व आत्म-प्रदेशों से ग्रहण करता है। **अथवा -**

जैसे - अग्नि से संतप्त लोहपिण्ड को यदि पानी में डाला जाता है तो वह चारों तरफ से जल को आत्मसात् करता है उसी प्रकार कषाय रूपी अग्नि से संतप्त हुआ यह संसारी आत्मा योग रूपी वायु के द्वारा लाई गई कार्माण वर्गणाओं को चारों तरफ से खींचता है, आत्मसात् करता है ग्रहण करता है। **(रा.वा.५)**

५. प्रश्न : ''स आस्रवः'' सूत्र को प्रथम सूत्र के साथ न जोड़ कर अलग क्यों कहा गया है ?

उत्तर : यदि 'स आस्रवः' सूत्र को अलग न बना कर प्रथम सूत्र के साथ जोड़ा जाय तो आगम प्रसिद्ध योग शब्द का अर्थ अप्रसिद्ध ही रह जाता है। दूसरे सभी योगों में आस्रवत्व का प्रसंग होता है, केवलिसमुद्घात के समय में होने वाले दण्ड, कपाट आदि योग भी आस्रव हो जाते हैं इसलिए 'स आस्रवः' सूत्र का पृथक् निर्देश किया है। **(रा.वा. १-२)**

६. प्रश्न : दण्डादि योग में आस्रवत्व मानने में क्या दोष है ?

उत्तर : यद्यपि केवलिसमुद्घात अवस्था में सूक्ष्म योग मानकर तन्निमित्तक अल्प बन्ध माना जाता है परन्तु एक सूत्र बनाने से तो केवलिसमुद्घात में साधारण योगत्व और बहुबन्ध का प्रसंग आने से विपरीतता आती है। वस्तुतः तो वर्गणा-निमित्तक आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप मुख्य योग ही आस्रव कहा जाता है, परन्तु केवलिसमुद्घात अवस्था में होने वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण योग वर्गणा अवलम्बन रूप नहीं है, अतः इससे आस्रव नहीं होता है। **(रा.वा. २)**

७. प्रश्न : यदि दण्डादि योग वर्गणावलम्बन निमित्तक नहीं होने से वहाँ आस्रव नहीं होता है तो केवलिसमुद्घात अवस्था में आस्रव किस कारण होता है ?

उत्तर : यद्यपि केवलिसमुद्घात में वर्गणा अवलम्बन न होने से दण्डादि योग निमित्तक बन्ध नहीं है तथापि काय-वर्गणा निमित्तक आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द है अतः सूक्ष्म काय-योग निमित्तक बन्ध केवलि-समुद्घात अवस्था में भी है। **(रा.वा. २)**

किस योग से कौनसा आस्रव होता है उसे कहते हैं-

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

शुभः पुण्यस्य-अशुभः- पापस्य।

(शुभः) शुभ योग (पुण्यस्य) पुण्य का और (अशुभः) अशुभ योग (पापस्य) पाप के आस्रव का कारण है।

अर्थ - शुभ योग पुण्य एवं अशुभ योग पाप के आस्रव के कारण हैं।

शुभयोग - सम्यग्दर्शनादि से अनुरंजित योग विशुद्धि का अंग होने से शुभयोग है।

अशुभयोग - मिथ्यादर्शनादि से अनुरंजित योग संक्लेश का अंग होने से अशुभयोग है। **(श्लो. ६/४४०)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : पुण्य-पाप रूप कर्म दो प्रकार के हैं। उन कर्मों के आने का हेतु योग अविशेष रूप से एक

ही है कि इसमें कुछ विशेषता है ? ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ.)**

यह सूत्र आत्मा के परिणामों की अपेक्षा लिखा है, कर्मबन्ध की अपेक्षा नहीं। अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है स्थितिबन्ध की अपेक्षा नहीं, क्योंकि शुभ परिणामों से ही पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग एवं अशुभ परिणामों से ही पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है। **(रा.वा.उ.)**

२. प्रश्न : कौनसी कायचेष्टा अशुभ काययोग है ?

उत्तर : बाँधने, छेदने और मारने की क्रियाओं को अशुभ काययोग कहते हैं। **(बा.अ. ५३)** हिंसा, चोरी, मैथुन प्रयोगादि अनन्त विकल्प रूप अशुभ काय योग है। **(रा.वा. १)** निरन्तर आरम्भ करने और जीवघात के कार्यों से तथा व्यापारों से जीवों का शरीर पापकर्मों का संग्रह करता है अर्थात् काययोग से अशुभास्रव करता है। **(ज्ञा. २/१२४)**

३. प्रश्न : शुभ काययोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिनदेव, जिनगुरु तथा जिन शास्त्रों की पूजा रूप काय की चेष्टा को शुभ काययोग कहते हैं। **(बा.अ. ५५)**

अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्यादि अनन्त विकल्प रूप शुभ काययोग है। **(रा.वा.२)** भले प्रकार गुप्त रूप किये हुए अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए काय से तथा निरन्तर कायोत्सर्ग से संयमी मुनि शुभ कर्म का संचय करते हैं। **(ज्ञा. २/१२३)**

४. प्रश्न : अशुभ वचन योग[१] किसे कहते हैं ?

उत्तर : भोजन कथा, स्त्री कथा, राज कथा, चोर कथा करने को अशुभ वचन योग कहते हैं। **(बा.अ. ५३)**

असत्य बोलना, कठोर बोलना आदि अशुभ वचन योग हैं। **(रा.वा. १)** असत्य, असभ्य और दूसरों के मर्म भेदक अप्रिय एवं कठोरप्राय वचन बोलना अशुभ वचन योग है। **(य.ति.च. ७/८५)**

अपवाद का स्थान, असन्मार्ग का उपदेशक, असत्य, कठोर, कानों से सुनते ही जो दूसरे के कषाय उत्पन्न कर दे और जिससे पर का बुरा हो जाये ऐसे वचन अशुभास्रव के कारण होते हैं। **(ज्ञा. २/१२१)**

५. प्रश्न : शुभ वचन योग किसे कहते हैं ?

उत्तर : समस्त विश्व के व्यापारों से रहित तथा श्रुतज्ञान के अवलम्बन युक्त और सत्य रूप प्रामाणिक वचन शुभास्रव के लिए होते हैं। **(ज्ञा. २/१२०)**

संसार का नाश करने वाले वचनों को शुभ वचन योग जानना चाहिए। **(बा.अ. ५५)**

---

१. धनकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा, अवनिपालकथा, चुगली, चौर्य-वैर कथायें, दूसरों को दुख देने वाली, राष्ट--काम आदि कथायें अशुभवचन हैं (प.सा. गाथा १६१)

सत्य, हित-मित वचन बोलना शुभ वचन योग है। **(रा.वा. २)**

६. प्रश्न : अशुभ मनोयोग[१] किसे कहते हैं ?

उत्तर : विद्वत्ता व पूजादि का घमण्ड करना (अथवा कामवासना से उत्पन्न हुआ कोप), ईर्ष्या (धर्मद्वेष), असूया (दूसरों के गुणों पर भी दोषारोपण करना) आदि विकृत मनोवृत्ति के व्यापार के आश्रय वाला अशुभ मनोयोग जानना चाहिए। **(य.ति.च. ७/८६)**

कषाय रूप अग्नि से प्रज्वलित और इन्द्रियों के विषयों से व्याकुल मन संसार के सम्बन्ध के सूचक अशुभ कर्मों का संचय करता है। **(ज्ञा. २/१२०)** आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञा, कृष्ण-नील-कापोत लेश्याएँ, इन्द्रियों के सुखों में लोलुपता , ईर्षा, विषाद, राग-द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसक वेद रूप परिणाम चाहे वे स्थूल हों अथवा सूक्ष्म, अशुभ मन है। **(बा.अ. ५०, ५२)**

हिंसक परिणाम, ईर्षा, असूया आदि रूप मानसिक परिणाम अशुभ मनोयोग है। **(रा.वा. १)**

७. प्रश्न : शुभ मनोयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : अर्हन्त भक्ति, तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनोयोग है। **(रा.वा.२)**

यम (अणुव्रत, महाव्रत), प्रशम (कषायों की मन्दता), निर्वेद (संसार से विरागता या धर्मानुराग) तथा तत्त्वों का चिन्तन इत्यादि का अवलम्बन हो एवं मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन भावों की जिस मन में भावना हो वही मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है। **(ज्ञा. २/११९)**

अशुभ भावों एवं सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर व्रत, समिति, शील और संयम रूप परिणाम होते है उन्हें शुभ मन जानना चाहिए। **(बा.अ. ५४)** अशुभ मनोयोग से विपरीत अहिंसा व मार्दव आदि शुभ मनोयोग समझना चाहिए। **(य.ति.च. ७/८६)**

८. प्रश्न : अशुभ भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो हिंसादि पापों में, क्रोधादि कषायों में, मिथ्याज्ञानों में, पक्षपातों में, मात्सर्य भावों में, मदों में, दुराग्रहों में, अशुभ लेश्याओं में, विकथा आदिकों में, रौद्र और आर्त्तध्यानों में, असूयादि में, इन्द्रियों के विषय रूप दण्डों में, शल्यों में, गारवों में, ख्याति-प्रतिष्ठादि में संलग्न रहता है, वह सब अशुभ भाव है। **(र.सा. ६२-६३)** परिवार, ऋद्धि, सत्कार, पूजा अथवा भोजन-पान के लिए अथवा लयन (उकेरा हुआ पर्वत का प्रदेश) शयन, आसन, भक्त, प्राण, काम और अर्थ के लिए तथा आज्ञा, निर्देश, प्रमाणता, कीर्ति, प्रशंसा, प्रभावना, गुण और प्रयोजन यह सब अप्रशस्त ध्यान है, ऐसा मन का परिणाम अविश्वस्त-अप्रशस्त है। **(मू. ६८३-८४)**

१. तीन अशुभलेश्यारूप भाव, पंचेन्द्रिय विषयों की लोलुपता रूप परिणाम, ईर्षा-विषाद और हिंसादि परिणाम अशुभ मन है। (परमागमसार गा. १५९)

९. प्रश्न : शुभ भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ में, बन्ध-मोक्ष में उनके कारण आस्रव-संवर में, बारह अनुप्रेक्षाओं में, रत्नत्रय के स्वरूप में, आर्य कर्मों में, दयादि धर्म में एवं इसी प्रकार के अन्य प्रशस्त कर्मों में लगा रहता है वह शुभ भाव है। **(र.सा. ६४-६५)** दर्शन-ज्ञान-चारित्र में, उपयोग में, संयम, व्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान, क्रिया, धर्मध्यान, समिति, विद्या, आचरण, महाव्रत, समाधि, गुण, ब्रह्मचर्य, छह जीव काय, क्षमा, निग्रह, आर्जव, मार्दव, मुक्ति, विनय तथा श्रद्धा में मन का संकल्प होना प्रशस्त और विश्वस्त परिणाम हैं शुभ संकल्प हैं। **(मू. ६८०-८२)**

१०. प्रश्न : पुण्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन, श्रुत, व्रत, कषायों का निग्रह एवं इन्द्रियनिग्रह से जो कर्म-बन्ध होता है वह पुण्य कर्म है। **(मू. २३४)** जो आत्मा को पवित्र करे वा जिससे आत्मा पवित्र की जाती है, वह पुण्य कहलाता है। **(सर्वा. ६१४)** जिसके द्वारा आत्मा सुख-साता का अनुभव करे, वह सातावेदनीय आदि कर्म पुण्य है।

स्वतंत्र विवक्षा में जो आत्मा को पवित्र करता है, प्रसन्न करता है वह पुण्य है एवं कर्तृ-वाच्य से निष्पन्न पुण्य शब्द है। पारतन्त्र्य विवक्षा में करण साधन से निष्पन्न पुण्य शब्द है। जैसे- जिसके द्वारा आत्मा पवित्र एवं प्रसन्न किया जाता है, वह पुण्य है। **(रा.वा. ४)**

इष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिससे होती है वह कर्म पुण्य है। **(भ.आ.वि. ३७)** शुभ परिणाम पुण्यबन्ध का कारण होने से पुण्य कहे जाते हैं **(प्र.सा.ता.)**

११. प्रश्न : पुण्य कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : पुण्य दो प्रकार का होता है-

(१) पुण्यानुबन्धी पुण्य (२) पापानुबन्धी पुण्य। **(स.सा.)**

(१) निदानरहित पुण्य (२) निदान सहित पुण्य। **(प. प्र. २/५७)**

(१) सम्यग्दृष्टि का पुण्य (२) मिथ्यादृष्टि का पुण्य।

(१) द्रव्य पुण्य (२) भाव पुण्य। **(पं.का. १०८)**

१२. प्रश्न : पुण्यानुबन्धी पुण्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : कोई सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि का अभाव होने के कारण अशक्यानुष्ठान रूप विषयकषाय वञ्चनार्थ यद्यपि व्रत, शील, दान, पूजादि शुभ कर्मानुष्ठान करता है, परन्तु भोगाकांक्षारूप निदान बन्ध से उसका सेवन नहीं करता है, उसका वह कर्म पुण्यानुबन्धी है, भवान्तर में जिसके अभ्युदय रूप से उदय में आने पर भी वह सम्यग्दृष्टि पूर्व-भव में भावित भेदविज्ञान की वासना के बल से भोगों की

आकांक्षा रूप निदान या रागादि परिणाम नहीं करता है, जैसे भरतेश्वर आदि। **(स.सा.ता. २२३-२७)** जो सम्यग्दृष्टि जीव है, वह संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है और किसी समय जब रागादि विभावों से रहित परम सामायिक में स्थित रहने को समर्थ नहीं होता उस समय विषय-कषायों से उत्पन्न दुर्ध्यान को रोकने के लिए, संसार की स्थिति का नाश करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थ का कर्त्ता होता है। **(पं.का.ता. १२८-३०)**

१३. प्रश्न : पापानुबन्धी पुण्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : कोई एक जीव नवीन पुण्य कर्म के निमित्तभूत शुभकर्मानुष्ठान को भोगाकांक्षा के निदान रूप से करता है, तब वह पापानुबन्धी पुण्य रूप राजा कालान्तर में उसको विषय-भोग प्रदान करता है। वे निदान बन्ध पूर्वक प्राप्त भोग भी रावण आदि की भाँति उसको अगले भव में नरक आदि दु:खों की परम्परा प्राप्त कराते हैं। **(स.सा.ता. २४०-४३)**

कोई जीव पहले मनुष्य भव में जिन रूप को ग्रहण करके भोगों की आकांक्षा रूप निदान बन्ध से पापानुबन्धी पुण्य को करके स्वर्ग प्राप्त कर अगले मनुष्य भव में अर्ध चक्रवर्ती हुआ, उसी की विष्णु संज्ञा है इसके अतिरिक्त अन्य कोई विष्णु नहीं। **(स.सा.ता. २४२)**

१४. प्रश्न : निदान रहित एवं निदान सहित पुण्य कैसा है ?

उत्तर : निदान बन्ध से उत्पन्न हुए पुण्य से भवान्तर में राज्यादि विभूति की प्राप्ति करके मिथ्यादृष्टि जीव भोगों का त्याग करने में समर्थ नहीं होता अर्थात् उनमें आसक्त हो जाता है और इसलिए उस पुण्य से वह रावण आदि की भाँति नरक आदि के दु:खों को प्राप्त करता है। **(प. प्र. २/५७)** निदान रहित परिणामों से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति व उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्य रूप कर्म भी सिद्धगति का सहकारी कारण होता है। **(पं.का.ता. ८५)** जो निदान रहित पुण्य से युक्त है वे पुरुष भवान्तर में राज्यादि भोगों को प्राप्त करके भी भोगों को छोड़कर जिनदीक्षा को ग्रहण करके बलदेव आदि के समान ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं। **(प.प्र. २/५७)**

सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता, यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य में निदान न किया जाता तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है। **(आ.अ. ४०४)**

१५. प्रश्न : सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के पुण्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर : पूर्वोक्त पुण्य भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित तथा दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगों की आकांक्षा रूप निदानबन्ध वाले परिणामों से सहित ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के द्वारा जो पूर्वभव में उपार्जित किया गया पुण्य होता है, वह ही ममकार व अहंकार को उत्पन्न करता है तथा बुद्धि का विनाश करता है। परन्तु सम्यक्त्व आदि गुणों से सहित उपार्जित पुण्य ऐसा नहीं करता, जैसे कि भरत, सगर, राम, पाण्डव

आदि का पुण्य। यदि सभी जीवों का पुण्य मद उत्पन्न करता होता तो पुण्य के भाजन होकर भी वे मद अहंकारादि विकल्पों को छोड़ कर मोक्ष कैसे जाते। **(प.प्र.टी. २/६०)** सम्यक्त्व पूर्वक शुभोपयोग होता है तब मुख्य रूप से तो पुण्य बन्ध होता है और परम्परा से निर्वाण भी होता है। **(प्र.सा.ता. २५५)** विषमिश्रित औषध की तरह मिथ्यात्व रूपी विष से सम्बद्ध अहिंसादि गुण भी दोषावह होते हैं, संसार में चिरकाल तक भ्रमण रूपी दोष को करने वाले होते हैं अथवा मिथ्यादृष्टि के ये अहिंसादि गुण पापानुबन्धी स्वल्प इन्द्रियसुख की प्राप्ति तो कर देते हैं परन्तु जीव को बहुत आरम्भ और परिग्रह में आसक्त करके नरक में ले जाते हैं। **(भ.आ.वि. ५७)**

१६. प्रश्न : पुण्यबन्ध किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : जिस जीव के प्रशस्त राग और अनुकम्पा के आश्रित दया रूप भाव हैं तथा जिसके चित्त में कलुष परिणाम नहीं हैं उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है। **(प.का. १३५)**

दया भावना शुद्ध ज्ञानोपयोग एवं शुद्ध दर्शनोपयोग से पुण्य का आस्रव होता है। **(मू.आ. २३५)**

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय यद्यपि स्वभाव से मोक्ष के कारण हैं, परन्तु यदि पंच परमेष्ठी आदि प्रशस्त द्रव्यों के आश्रित हों तो साक्षात् पुण्यबन्ध के कारण होते हैं। **(पं.का.ता. १६४)**

सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूलगुण, तत्पश्चात् पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, रात्रि में भोजन का परित्याग, पवित्र वस्त्र से छाने गये जल का पीना तथा शक्ति के अनुसार मौन व्रत आदि, यह सब आचरण भव्य जीवों के लिए पुण्य का कारण होता है। **(प.पं.वि. ७/५)** पंचकल्याणक की पूजा को उत्पन्न करने वाला तथा तीन लोक को जीतने वाला जो तीर्थंकर नाम पुण्य कर्म है उसके फलस्वरूप अरहन्त होते हैं। **(प्र.सा.ता. ४५)**

दान देना, इन्द्रियों को वश करना, संयम धारण करना, सत्य भाषण करना, लोभ का त्याग और क्षमा भाव धारण करना आदि से पुण्य की प्राप्ति होती है। **(म.पु. १६/२७१)**

अर्हन्तादिक में उत्कृष्ट भक्ति, सर्व प्राणियों में करुणा भाव और पवित्र चारित्र के अनुष्ठान में राग पुण्यबन्ध का कारण है। **(यो.सा. ४/३७)**

१७. प्रश्न : पुण्य का फल क्या है ?

उत्तर : तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं। **(ध. १/१०६)**

पुण्य के प्रभाव से कोई अन्धा भी प्राणी निर्मल नेत्रों का धारक हो जाता है, वृद्ध भी लावण्ययुक्त हो जाता है, निर्बल भी सिंह जैसा बलिष्ठ हो जाता है, विकृत शरीर वाला भी कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है। जो भी प्रशंसनीय अन्य समस्त पदार्थ यहाँ दुर्लभ प्रतीत होते हैं, वे सब पुण्योदय से प्राप्त हो

जाते हैं। **(प.पं.वि. १/१८९)** पुण्य के बिना चक्रवर्ती के समान अनुपम रूप, सम्पदा, अभेद्य शरीर का बन्धन, अतिशय उत्कट निधि, रत्नों की ऋद्धि, हाथी, घोड़े आदि का परिवार तथा इसी प्रकार अन्त: पुर का वैभव, भोग-उपभोग, द्वीप-समुद्रों की विजय तथा सर्व आज्ञा व ऐश्वर्य आदि ये सब कैसे प्राप्त हो सकते हैं। **(म.पु. ३७/१९१-९९)**

सुर-असुर, मनुष्य, नागेन्द्र आदि के उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्र पद, पुनर्जन्म से रहित अरहन्त पद और अन्त रहित सुखदाता श्रेष्ठ निर्वाण पद पुण्य से ही प्राप्त होते हैं। **(म.पु. १६/२७२)** धर्म के प्रभाव से जीव के झूठ वचन भी सच्चे हो जाते हैं, और अन्य भी सब सुखकारी हो जाता है। **(का.अ. ४३४)**

१८. प्रश्न : द्रव्य पुण्य एवं भाव पुण्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : दान, पूजा, षड़ावश्यकादि रूप जीव के शुभ परिणाम भाव पुण्य है। भाव पुण्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाला सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृति रूप पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड द्रव्य पुण्य है। **(पं.का.त.१०८)**

१९. प्रश्न : पाप किसे कहते हैं ?

उत्तर : पुण्य का प्रतिद्वन्द्वी पाप है। जो आत्मा की शुभ से रक्षा करे अर्थात् आत्मा में शुभ परिणाम न होने दे वह पाप कहलाता है, वह असातावेदनीय आदि पाप कर्म है। **(रा.वा. ५)**

अशुभ वेदनीय आदि के कारण जो अव्रतादि भाव है उसको शास्त्र में पाप कहा गया है। **(न.च.१६१)**

अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्म को पाप कहते हैं। **(भ.आ.वि. ३७)** पर के प्रति अशुभ परिणाम पाप है। **(प्र.सा. १८१)**

२०. प्रश्न : पाप-बन्ध किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : बहुत प्रमाद सहित क्रिया, चित्त की मलिनता और इन्द्रियों के विषयों में प्रीति पूर्वक चपलता, अन्य जीवों को दु:ख देना, अन्य की निन्दा करना, बुरा बोलना आदि आचरणों से जीव पाप का आस्रव करता है। तीव्र मोह के फल से चार संज्ञा, तीन (अशुभ) लेश्या इन्द्रियों के आधीन होना तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान, सत्क्रिया के अतिरिक्त असत्क्रियाओं में ज्ञान का लगाना तथा दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय कर्म के समस्त भाव पाप रूप आस्रव के कारण होते हैं। **(पं. का. १३९-४०)**

अर्हन्तादि पूज्य पुरुषों की निन्दा करना, समस्त जीवों में निर्दय भाव रहना और निन्दित आचरणों में प्रेम रखना आदि पापबन्ध के कारण हैं। **(यो.सा. ४/३८)**

मिथ्यात्व रूप परिणाम, क्रोधादि कषाय, काम के सहचारी पंचेन्द्रियों के विषय, प्रमाद, विकथा,

मन-वचन-काय के योग, व्रत रहित अविरति रूप परिणाम, आर्त्त-रौद्र दोनों अशुभ ध्यान ये सब परिणाम नियम से पाप रूप आस्रवों को करते हैं। **(ज्ञा. २/१२९)**

नोट : पाप का फल, भेद[1] आदि देखें **(७/९-१०)**

२१. प्रश्न : योगों में शुभाशुभत्व किस कारण से होता है ?

उत्तर : शुभ-अशुभ परिणामों से निवृत्त होने से योगों में शुभाशुभत्व हो जाता है। शुभ परिणाम पूर्वक होने वाला शुभ योग एवं अशुभ परिणामों से होने वाला अशुभ योग ही शुभ-अशुभ कर्म के आने के कारण से शुभ योग बन ही नहीं सकता, क्योंकि शुभ योग को भी ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों के बन्धन में कारण स्वीकार किया है अत: योगों में आत्मपरिणामों की अपेक्षा शुभाशुभत्व है, कर्मबन्ध की अपेक्षा नहीं। **(रा.वा. ३)**

२२. प्रश्न : यदि शुभयोग से पापास्रव भी होता है तो सूत्र में शुभयोग से पुण्यास्रव क्यों कहा है ?

उत्तर : सूत्र में जो शुभोपयोग से पापास्रव कहा है वह इतर (अघातिया कर्म के भेद रूप) पुण्य-पाप हेतु (अपेक्षा) निर्देश है, क्योंकि घातिकर्मबन्ध का स्वविषय में निमित्तत्त्व है **अथवा -**

यह अवधारण भी नहीं है कि शुभ योग पुण्य का ही कारण है परन्तु पुण्य बन्ध का कारण शुभ योग ही है, यह अवधारण किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि शुभयोग पापास्रव का भी हेतु हो सकता है इसमें कोई विरोध नहीं है। **(रा.वा. ७)**

२३. प्रश्न : यदि शुभ भी पापास्रव का कारण हो सकता है तो अशुभ को भी पुण्यास्रव का कारण मानना पड़ेगा ?

उत्तर : ऐसा मानने से कोई विरोध नहीं है क्योंकि यह कथन अनुभाग बन्ध की अपेक्षा किया गया है। अनुभाग बन्ध प्रधानभूत है, वही सुख-दु:ख रूप फल का निमित्त होता है। अशुभ परिणामों से अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है और शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है। कहा भी है-

परिणामों की विशुद्धि से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है तथा संक्लेश परिणामों से अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है। सर्व कर्म प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बन्ध का क्रम इससे उल्टा है अर्थात् शुभ परिणामों से अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है तथा अशुभ परिणामों से शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है।

यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभ कर्म प्रकृतियों के भी बन्ध के कारण होते हैं तथापि बहुत शुभ

१. पाप तीन प्रकार के होते हैं- १. अनधिकार चेष्टा २. अपने अधिकार से च्युत होना ३. विश्वासघात आदि अमानवीय कार्य करना। (वीरोदय महाकाव्य १७/२४)

के कारण होने से 'शुभ: पुण्यस्य' कहा है। जैसे कि थोड़ा अपकार करने पर भी बहुत उपकार करने वाला उपकारक ही माना जाता है उसी प्रकार 'अशुभ: पापस्य' में भी जानना चाहिए। **(रा.वा. ७)**

२४. प्रश्न : शुभ योग को विशुद्धि का तथा अशुभ योग को संक्लेशता का अंग क्यों कहा है?

उत्तर : स्वयं को उपवासादि करके दु:खी तथा दूसरों को विनय आदि करके सुखी करते हुए जीव को पुण्यास्रव तथा स्वयं को भोगादि से सुखी तथा दूसरों के हिंसा आदि करके दु:खी करते हुए जीव को पापास्रव होता है। इस प्रकार की एकान्त मान्यता का खण्डन करने के लिए कहा है कि शुभ योग विशुद्धि का अंग है तथा अशुभ योग संक्लेशता का अंग है। अर्थात् स्व और दूसरों में विशुद्धि का कारण शुभ योग एवं स्व-पर में संक्लेश का कारण अशुभयोग है क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर अतिप्रसंग आता है। कहा भी है-

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत्, स्वपरस्थं सुखासुखम्।
पुण्यपापास्रवो युक्तोन चेद् व्यर्थस्तवार्हत:॥ (श्लो. ६/४४०)

२५. प्रश्न : उपर्युक्त कथन नहीं मानने पर अतिप्रसंग दोष कैसे आता है ?

उत्तर : अतिप्रसंगात् अर्थात् यदि उपर्युक्त कथन नहीं माना जायेगा तो अचेतन कण्टक आदि को दूसरों के दु:ख का कारण होने से पापास्रव का एवं मिठाई आदि को दूसरों के सुख का कारण होने से पुण्यास्रव का प्रसंग आयेगा। तथा मुनिराज के स्वयं को दु:ख के कारण रूप दिखने वाले उपवास, केशलोच आदि क्रियायें भी पापास्रव के कारण बन जायेंगे। परन्तु ऐसा मानना आगमसम्मत नहीं है। **(श्लो. ६/४४०)**

२६. प्रश्न : सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के समान पुण्य और पाप दोनों आत्मा की परतन्त्रता के कारण होने से दोनों में कोई भेद नहीं है ?

उत्तर : पुण्य और पाप को सर्वथा एक रूप कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सोने या लोहे की बेड़ी की तरह दोनों ही आत्मा की परतन्त्रता में कारण हैं तथापि इष्ट फल और अनिष्ट फल के निमित्त से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषय आदि का निर्वर्तक (हेतु) है, वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषय आदि का कारण है वह पाप है। इस प्रकार पुण्य कर्म और पापकर्म में भेद है। **(रा.वा. ६)**

जिस प्रकार छाया और आतप में स्थित पथिकों के प्रतिपालक कारणों में बड़ा भेद है, उसी प्रकार पुण्य और पाप में भी बड़ा भेद है, व्रत तप आदि रूप पुण्य श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उससे विपरीत अव्रत व अतप आदिरूप पाप श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि उससे नरक की प्राप्ति होती है। **(मो.पा. २५)**

हेतु और कार्य की विशेषता होने से पुण्य और पाप में अन्तर है। पुण्य का हेतु शुभभाव है और पाप का अशुभभाव है। पुण्य का कार्य सुख है और पाप का दु:ख है। **(त.सा. ४/१०३)**

जब व्रतादि सहित भी मिथ्यादृष्टि संसार में भ्रमण करता है तब व्रतादि से रहित होकर तो क्यों दीर्घ संसारी न होगा। **(भ.आ. ६०)** पुण्य और पाप दोनों ही समान रूप से संसार के कारण हैं इसलिए निश्चयनय से उनमें विशेषता नहीं है। **(त.सा. १०४)**

आस्रव के भेद

आस्रव के फल में विशेषता बताते हैं-

सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

सकषाय-अकषाययोः-साम्परायिक-ईर्यापथयोः।

(सकषायाकषाययोः) सकषायी और अकषायी जीवों के (साम्परायिकेर्यापथयोः) साम्परायिक और ईर्यापथ आस्रव होता है।

अर्थ - सकषाय जीवों के साम्परायिक एवं अकषाय जीवों के ईर्यापथ आस्रव है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : क्या यह आस्रव सर्व संसारी प्राणियों के समान फल के आरम्भ में कारण होता है कि आस्रव में कोई विशेषता या भेद है ? ऐसी पृच्छा होने पर आचार्य महाराज ने विशेषता बतलाने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ४)**

२. प्रश्न : कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो आत्मा को कसै, दुःख दे वह कषाय है। क्रोधादि परिणाम कषाय हैं, क्योंकि ये क्रोधादि परिणाम आत्मा को दुर्गति में ले जाने के कारण होने से आत्मा को कसते हैं, आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं। **अथवा -**

कषायले पदार्थ के समान कर्मरज के संश्लेष में कारण होने से क्रोधादि परिणाम कषाय हैं। जैसे- वट वृक्ष आदि का चेप चिपकने में कारण होता है उसी प्रकार आत्मा के क्रोधादि परिणाम भी कर्मबन्धन के कारण होने से कषाय कहे जाते हैं। **(रा.वा. २-३)**

'कष् हिंसायां' कष् धातु से कषाय शब्द की व्युत्पत्ति है। जैसे खेत में बहुत प्रकार के धान्य उत्पन्न होते हैं वैसे ही कर्म रूपी खेत में इन्द्रियों के विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले हर्ष तथा शारीरिक और मानसिक संताप रूप बहुत प्रकार के सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। जैसे- खेत के मेड़ होती है, वैसे ही कर्म रूपी खेत अनादि-अनिधन पंच परावर्तन रूप सीमा से अनुबद्ध है। यहाँ जीव के मिथ्यादर्शनादि संक्लेश परिणाम रूपी बीज को प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशबन्ध रूप कर्मक्षेत्र में बोकर जीव का क्रोधादि कषाय नामक नौकर काल आदि सामग्री की प्राप्ति से उत्पन्न सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के धान्य उत्पन्न करता है अतः 'कृषि विलेखने' धातु का जोतना अर्थ लेकर आचार्य ने भी कषाय शब्द व्युत्पन्न किया है।

अथवा-

तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, अणुव्रत रूप देशचारित्र, महाव्रत रूप सकल चारित्र और यथाख्यात चारित्र रूप आत्मा के विशुद्धि परिणामों को कषति अर्थात् घातते हैं इसलिए कषाय कहते हैं। **(गो.जी.जी. २८२-८३)** चारित्र परिणाम को कषने के कारण या घातने के कारण कषाय है। **(रा.वा. ९/७)**

जो क्रोधादिक जीव के सुख-दु:ख रूप बहुत प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूप खेत का कर्षण करते हैं अर्थात् जोतते हैं और जिनके लिए संसार की चारों गतियाँ मर्यादा या मेंड़ रूप है, इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं। **(पं.सं. १/१०९)**

३. प्रश्न : साम्परायिक आस्रव किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारों तरफ से आत्मा का पराभव करने वाला साम्पराय है। कर्मों के द्वारा चारों ओर से आत्मा का अभिभव-पराभव तिरस्कार होना साम्पराय है। **(रा.वा. ४)**

सम्पराय जिसका प्रयोजन है वह साम्परायिक है। जैसे- इन्द्रमह पूजा ही जिसका प्रयोजन हो, ऐसी जो पूजा ऐन्द्रमहिक होती है, उसी प्रकार सम्पराय के लिए जो आस्रव होता है वह साम्परायिक आस्रव है। **(रा.वा. ५)** सम्पराय संसार का पर्यायवाची है। जो कर्म संसार का प्रयोजक है वह साम्परायिक कर्म है। **(सर्वा. ६१६)**

४. प्रश्न : साम्परायिक आस्रव किसके होता है ?

उत्तर : सकषाय (कषाय सहित) आत्मा के साम्परायिक कर्मों का आस्रव होता है। जैसे- साम्पराय कषाय का वाची है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक कषाय के उदय से आर्द्र परिणाम वाले जीवों के योग के द्वारा आये हुए कर्म भाव से उपश्लिष्यमाण वर्गणायें गीले चमड़े पर आश्रित धूलि की तरह चिपक जाती है, उनमें स्थिति-बन्ध होता है। यह साम्परायिक आस्रव है। **(रा.वा. ७)**

५. प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव किसे कहते हैं ?

उत्तर : ईरण को ईर्या कहते हैं। ईर्या योग और गति अर्थ में है। ईरि धातु गति अर्थ में है। उसमें भाव अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय होने से ईर्या शब्द सिद्ध होता है, उसका अर्थ योगों की गति होता है। ईर्या जिसका द्वार है वह ईर्यापथ है। ईर्या (योग) है पन्था (द्वार) जिसका वह ईर्यापथ कहलाता है अर्थात् जो कर्म मात्र योग से ही आते हैं, आना मात्र ही जिनका कार्य है वे ईर्यापथ-आस्रव कहलाते हैं। **(रा.वा. ६-७)** ईर्या की व्युत्पत्ति 'ईरणं' होगी। योग का अर्थ गति है। जो कर्म इसके द्वारा प्राप्त होता है वह ईर्यापथ कर्म है। **(सर्वा. ६१६)**

६. प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव किसके होता है ?

उत्तर : उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और सयोग केवली के योगक्रिया से आये हुये कर्म, कषाय

का चेप न होने से सूखी दीवाल पर पड़ी हुई धूलि के समान द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं, बन्धस्थान को प्राप्त नहीं होते हैं वह ईर्यापथ आस्रव है। **(रा.वा. ७)**

७. प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव कैसा है ?

उत्तर : ईर्यापथ कर्म अल्प है, बादर है, मृदु है, बहुत है, रूक्ष है, शुक्ल है, मन्द है अर्थात् मधुर है, महान् व्यय वाला है और अत्यधिक सातरूप है। उसे गृहीत होकर भी अगृहीत, बद्ध होकर भी अबद्ध, स्पृष्ट होकर भी अस्पृष्ट, उदित होकर भी अनुदित और वेदित होकर अवेदित जानना चाहिए। वह निर्जरित होकर भी निर्जरित नहीं है और उदीरित होकर भी अनुदीरित है, इस प्रकार यह ईर्यापथ कर्म का लक्षण है। **(ध. १३/४८)**

८. प्रश्न : ईर्यापथ कर्म अल्प क्यों है ?

उत्तर : जो कषाय का अभाव होने से स्थितिबन्ध के अयोग्य है, कर्म रूप से परिणत होने के दूसरे समय में ही अकर्म भाव को प्राप्त हो जाता है और स्थितिबन्ध न होने से मात्र एक समय तक विद्यमान रहता है, योग के निमित्त से आये हुए ऐसे पुद्गल कर्म-स्कन्ध में काल निमित्तक अल्पत्व देखा जाता है इसलिए ईर्यापथ कर्म अल्प है, ऐसा कहा है। **(ध. १३/४८)**

९. प्रश्न : ईर्यापथ कर्म बादर और मधुर क्यों है ?

उत्तर : आठों कर्मों के समयप्रबद्ध प्रदेशों से ईर्यापथ कर्म के समयप्रबद्ध प्रदेश संख्यात गुणे होते हैं क्योंकि यहाँ सातावेदनीय के सिवाय अन्य कर्मों का बन्ध नहीं होता। इसलिए ईर्यापथ रूप से जो कर्मस्कन्ध आते हैं, वे स्थूल हैं। इसलिए उन्हें बादर कहते हैं।

ईर्यापथ कर्म कर्कश आदि गुणों से रहित हैं व मृदु स्पर्श गुण से युक्त होकर ही बन्ध को प्राप्त होते हैं, इसलिए ईर्यापथ कर्म को मृदु कहा है। **(ध. १३/४९-५०)**

१०. प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव बहुत, रूक्ष एवं शुक्ल क्यों है ?

उत्तर : कषाय सहित जीव के वेदनीय कर्म के समयप्रबद्ध से यहाँ बँधने वाला समयप्रबद्ध प्रदेशों की अपेक्षा संख्यातगुणा होता है, ऐसा देखकर ईर्यापथ कर्म को बहुत कहा है।

ईर्यापथ कर्म रूक्ष है क्योंकि पुद्गल प्रदेशों में चिरकाल का (तक) अवस्थान का कारण स्निग्ध गुण का प्रतिपक्षभूत गुण (रूक्ष) स्वीकार किया गया है।

ईर्यापथ कर्म स्कन्ध पाँच वर्ण वाले नहीं होते, किन्तु हंस के समान धवल वर्ण वाले ही होते हैं, इस बात का ज्ञान कराने के लिए गाथा में शुक्ल पद का निर्देश है। **(ध. १३/५०)**

११. प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव मन्द, महान् व्यय वाला और अत्यधिक सात रूप क्यों है ?

उत्तर : ईर्यापथ कर्मस्कन्ध रस की अपेक्षा शक्कर से भी अधिक माधुर्य युक्त होते हैं, इस बात

का ज्ञान कराने के लिए गाथा में मन्द पद का निर्देश किया है।

बन्ध को प्राप्त हुए परमाणु दूसरे समय में ही सामस्त्य भाव से निर्जरा को प्राप्त होते हैं, इसलिए ईर्यापथ कर्म स्कन्ध महान् व्यय वाले कहे गये हैं। **अथवा-** वह असंख्यात गुणश्रेणिनिर्जरा के अविनाभावी है इसलिए महान् व्यय वाला कहा है।

अत्यधिक साता रूप देव और मनुष्यों के सुख से अधिक सुख का उत्पादक है इसलिए ईर्यापथ कर्म को अत्यधिक साता रूप कहा है। **(ध. १३/५०-५१)**

१२. प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव को गृहीत होकर भी अगृहीत क्यों कहा है ?

उत्तर : जल के बीच पड़े हुए तप्त लोहपिण्ड के समान ईर्यापथ कर्मजल को अपने सब जीव प्रदेशों द्वारा ग्रहण करते हुए केवली जिन परमात्मा के समान कैसे हो सकते हैं ? ऐसा पूछने पर उसका निर्णय करने के लिए कहा है कि ईर्यापथ कर्म गृहीत होकर भी वह गृहीत नहीं है, क्योंकि वह सरागी के द्वारा ग्रहण किये गये कर्म के समान पुनर्जन्म रूप संसारफल को उत्पन्न करने वाली शक्ति से रहित है। **(ध. १३/५१)**

१३. प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव को बद्ध होकर भी अबद्ध क्यों कहा है ?

उत्तर : रेशम के कीड़े के समान ईर्यापथ कर्म से अपने को बाँधने वाले जिन भगवान् देव नहीं हो सकते, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वह बद्ध होकर भी बद्ध नहीं है, क्योंकि दूसरे समय में ही उसकी निर्जरा देखी जाती है, और पहले बाँधे हुए कर्म में भी उनके सहकारी कारण घातिया कर्मों का अभाव हो जाने से अन्य शरीर संस्थान और संहनन आदि को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं पाई जाती है। **(ध. १३/५२)**

१४. प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव को स्पृष्ट होकर भी अस्पृष्ट क्यों कहा है ?

उत्तर : जो कर्म से स्पृष्ट हैं वे देव कैसे हो सकते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्पृष्ट होकर वह स्पृष्ट नहीं ही है, कारण कि ईर्यापथ बन्ध का सत्त्व रूप से जिनेन्द्र भगवान के अवस्थान नहीं पाया जाता और पहले के सत्कर्म के स्पर्श मानना ठीक नहीं है क्योंकि उसका पतन हो रहा है। **(ध. १३/५२)**

१५. प्रश्न : ईर्यापथ कर्म उदित होकर भी अनुदित कैसे है ?

उत्तर : जिनेन्द्र देव के पंचेन्द्रिय, त्रस, बादर, पर्याप्त, गोत्र और आयु कर्म की उदय-उदीरणा पाई जाती है, इसलिए वे देव कैसे हो सकते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उनका कर्म उदीर्ण होकर भी उदीर्ण नहीं है, क्योंकि वह दग्ध गेहूँ के समान निर्बीज भाव को प्राप्त हो गया है। **(ध. १३/५२)**

१६. प्रश्न : ईर्यापथ कर्म निर्जरित होकर भी निर्जरित एवं उदीरित होकर भी उदीरित क्यों नहीं है ?

उत्तर : निर्जरित होकर भी वह (ईर्यापथ आस्रव) निर्जरित नहीं है क्योंकि कषाय के सद्भाव में जैसी कर्मों की निर्जरा होती है, वैसी अन्य अनन्त कर्म-स्कन्धों की बन्ध के बिना निर्जरा होती है। उदीरित होकर भी वह (ईर्यापथ आस्रव) उदीरित नहीं है, क्योंकि बन्ध का अभाव होने से और जन्मान्तर को उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव होने से उसमें निर्जरा का कोई फल नहीं देखा जाता है। **(ध. १३/५४)**

१७. प्रश्न : अल्पाच् होने से अकषाय और ईर्यापथ शब्द का सूत्र में पहले ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि अल्पाच् वाले होने से ईर्यापथ और अकषाय शब्दों का पूर्व में प्रयोग होना चाहिए था परन्तु साम्परायिक और सकषाय के सम्बन्ध में बहुत वर्णन करना है अत: इसी दृष्टि से इन्हें अभ्यर्हित मानकर सकषाय और साम्पराय का पूर्व में निपात किया है। **(रा.वा. ८)**

साम्परायिक आस्रव के भेद कहते हैं-

इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया: पञ्चचतु: पञ्च-पञ्च-विंशतिसंख्या: पूर्वस्य भेदा: ॥५॥

इन्द्रिय-कषाय-अव्रत-क्रिया: पञ्च-चतु:-पञ्च-पञ्चविंशति-संख्या: पूर्वस्य-भेदा:।

(इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया:) इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया ये क्रमश: (पञ्चचतु: पञ्च-पञ्चविंशति संख्या:) पाँच, चार, पाँच और पच्चीस संख्यावाले (पूर्वस्य) पूर्व के अर्थात् साम्परायिक आस्रव के (भेदा:) भेद हैं।

अर्थ - पूर्व (साम्परायिक आस्रव) के इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया रूप भेद हैं जो क्रमश: पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं।

इन्द्रिय - आत्मा के लिङ्ग को इन्द्रिय कहते हैं।

कषाय - जो आत्मा को कषे, दु:ख दे वह कषाय है।

अव्रत - चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से व्रत धारण नहीं करना अव्रत है।

क्रिया - कार्य/क्रियायें पच्चीस हैं।

नोट - इन्द्रिय का विशेष देखें **(२/१९)**

कषाय का विशेष देखें **(८/९)**

अव्रत का विशेष देखें **(७/१)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि साम्परायिक आस्रव का बहुत वर्णन है तो उसके कितने भेद हैं ? ऐसा पूछने पर

साम्परायिक आस्रव के भेदों को इस सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(रा.वा उ. ५)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'पूर्व' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'पूर्व' शब्द व्यवस्थावाची है, अतीत अर्थात् पूर्वकथित सूत्र में जिसका प्रथम निर्देश किया है, उसका ज्ञापक पूर्व शब्द है। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : क्रियाएँ कितनी होती हैं ?

उत्तर : क्रियाएँ पच्चीस हैं-

(१) सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया (२) मिथ्यात्ववर्धिनी क्रिया (३) प्रयोगक्रिया (४) समादान क्रिया (५) ईर्यापथ क्रिया,

ये पाँच क्रियायें शुभ-अशुभ फल देने वाली स्मरण की गई हैं।

(६) प्रादोषिकी क्रिया (७) कायिकी क्रिया (८) अधिकरण क्रिया (९) पारितापिकी क्रिया (१०) प्राणातिपातिकी क्रिया। इन पाँचों क्रियाओं में कषाये कारण है।

(११) दर्शनक्रिया (१२) स्पर्शनक्रिया (१३) प्रात्ययिकी क्रिया (१४) समन्तानुपातन क्रिया (१५) अनाभोग क्रिया (१६) स्वहस्त क्रिया (१७) निसर्ग क्रिया (१८) विदारण क्रिया (१९) आज्ञा-व्यापादिकी क्रिया (२०) अनाकांक्षिकी क्रिया (२१) आरम्भ क्रिया (२२) पारिग्रहिकी क्रिया (२३) माया क्रिया (२४) मिथ्यादर्शन क्रिया (२५) अप्रत्याख्यान क्रिया। **(श्लो. ६/४५५-५९)**

४. प्रश्न : सम्यक्त्व, मिथ्यात्व एवं प्रयोग क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यक्त्व क्रिया - चैत्य, गुरु, शास्त्र की पूजा-स्तवन आदि सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली क्रियायें सम्यक्त्व क्रिया है। **(रा.वा. ७)**

चैत्य, श्रुत, आचार्य की पूजा स्तवन आदि सम्यक्त्व को बढाने वाली प्रशंसनीय सम्यक्त्व क्रिया है। **(श्लो. ६/४५५)**

मिथ्यात्व क्रिया - कुचैत्य (कुदेवालय) आदि की प्रतिष्ठा करना आदि मिथ्यात्व के उदय से युक्त मिथ्यादृष्टि जीवों के होने वाली मिथ्यात्व क्रिया है। **(श्लो. ६/४५५)**

अन्य रागी - द्वेषी देवताओं के स्तवन-पूजन आदि मिथ्यात्व हेतु प्रवृत्ति मिथ्यात्व क्रिया है। **(रा.वा.७)**

प्रयोग क्रिया - शरीर आदि के द्वारा गमन-आगमन आदि प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है। **अथवा-**

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर तथा अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय से काय, वचन और मनोयोग की रचना में समर्थ पुद्गलों का ग्रहण करना प्रयोग क्रिया है। **(रा.वा. ७)**

प्रशस्त और अप्रशस्त कार्य की सिद्धि के लिए काय आदि के द्वारा दूसरों की गमन-आगमन आदि प्रवृत्ति करा देना प्रयोग क्रिया है। **(श्लो. ६/४५५)**

५. प्रश्न : समादान, ईर्यापथ एवं प्रादोषिकी क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : संयम धारण करने पर भी अविरति की तरफ झुकना समादान क्रिया है। **(रा.वा. ७)**

अन्तरंग एवं बहिरंग इन दो कारणों से आत्मा के काय-वचन-मनोयोग की निवृत्ति नहीं कराने के लिए अर्थात् योगों के अनुसार कायादि को बनाने के लिए समर्थ पुद्गल को ग्रहण करना समादान क्रिया है। **अथवा-**

संयमी प्रशस्त आत्मा का अविरति के प्रति अभिमुख होना समादान क्रिया है। **(श्लो. ६/४५५)**

ईर्यापथ क्रिया - ईर्यापथ से गमन कर्म को हेतु मानकर उत्पन्न क्रिया ईर्यापथ क्रिया अच्छी मानी गयी है। **(श्लो. ६/४५५)**

ईर्यापथ आस्रव में कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है। **(रा.वा. ७)**

प्रादोषिकी क्रिया - क्रोध के आवेश के कारण प्रादोषिकी क्रिया है। **(रा.वा. ८)**

क्रोध के आवेश से जो हृदय में दुष्टता रूप प्रदोष उत्पन्न होता है वह अन्तरंग की प्रादोषिकी क्रिया है। **(श्लो. ६/४५६)**

६. प्रश्न : कायिकी, अधिकरण एवं पारितापिकी क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : कायिकी क्रिया - प्रदोष करके युक्त दुष्ट पुरुष का दूसरों को मारने के लिए जो उद्यम करना है वह कायिकी क्रिया है। **(श्लो. ६/४५६)** प्रदोष के बाद प्रयत्न करना कायिकी क्रिया है। **(रा.वा. ८)** दुष्ट भाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है। **(सर्वा. ६१८)**

अधिकरण क्रिया - हिंसा के उपकरण ग्रहण करना अधिकरण क्रिया है। **(रा.वा. ८)**

पारितापिकी क्रिया - दूसरों को दु:ख उत्पन्न करने वाली पारितापिकी क्रिया है। **(रा.वा. ८)**

दूसरे प्राणियों के दु:ख उत्पन्न करने पर उसके अधीन जो परिताप होता है वह पारितापिकी क्रिया है। **(श्लो. ६/४५६)**

७. प्रश्न : प्राणातिपातिकी, दर्शन, स्पर्शन एवं प्रात्यायिकी क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्राणातिपातिकी क्रिया - स्व अथवा दूसरों के आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का वियोग करना, प्राणों का घात करना प्राणातिपातिकी क्रिया है। **(रा.वा. ८)**

दर्शन क्रिया - रागाविष्ट होकर प्रमादी पुरुष का स्त्रियों के रमणीय रूप को देखने का अभिप्राय या स्त्रियों के सौन्दर्य का निरीक्षण करने की प्रवृत्ति दर्शन क्रिया है। **(रा.वा. ९)**

राग से द्रवीभूत प्रमादी जीव का रमणीय पदार्थ के सुन्दर रूपों के अवलोकन करने में अभिप्राय होना दर्शन क्रिया है। **(श्लो. ६/४५७)**

स्पर्शन क्रिया - प्रमाद के वश होकर स्त्री-पुरुष के परस्पर स्पर्श करने की अभिलाषा वा स्पर्श करने की प्रवृत्ति स्पर्शन क्रिया है। **(रा.वा. ९)** छूने योग्य पदार्थ के स्पर्श करने में रागी जीव की जो छूते रहने के लिए बुद्धि होना स्पर्शन क्रिया है। **(श्लो. ६/४५६)**

प्रमादवश स्पर्श योग्य सचेतन पदार्थ का अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है। **(सर्वा. ६१८)**

प्रात्ययिकी क्रिया - नये-नये अधिकरणों को उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है। **(रा.वा. ९)**

प्राणियों का घात करने के लिए (बन्दूक, तोप आदि) अपूर्व उपकरणों की प्रवृत्ति करना प्रात्ययिकी क्रिया है। **(श्लो. ६/४५७)**

८. प्रश्न : समन्तानुपातन, अनाभोग, स्वहस्त एवं निसर्ग क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : समन्तानुपातन क्रिया - स्त्री, पुरुष, पशु आदि से व्याप्त स्थान में मलोत्सर्ग करना समन्तानुपातन क्रिया है। **(रा.वा. ९)**

समर्थ प्रमादी आत्मा का स्त्री आदि सम्पात (गमनागमन) हो रहे प्रदेशों में जो अन्तर्मल (मल, मूत्र, सिंघाणक) का त्याग करना समन्तानुपातिकी क्रिया इष्ट कही गयी है। **(श्लो. ६/४५७)**

अनाभोग क्रिया - बिना देखी, बिना शोधी भूमि पर शरीर एवं उपकरण आदि का निक्षेपण करना अनाभोग क्रिया है। **(रा.वा. ९)**

असंयमी या संयमी यति का बिना देखे हुए और बिना शुद्ध किये हुए स्थान में शरीर (पुस्तक) आदि का स्थापन कर देना अनाभोग क्रिया है। **(श्लो. ६/४५७)**

स्वहस्त क्रिया - दूसरे के द्वारा करने योग्य कार्य को स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है। **(रा.वा. १०)**

दूसरों से करने योग्य कार्य का स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है। इस क्रिया में पाप की प्रधानता है ऐसा पण्डितों का विचार है। **(श्लो. ६/४५८)**

निसर्ग क्रिया - पाप-आदान आदि को स्वीकार करना निसर्ग क्रिया है। **(रा.वा. १०)**

पाप में दूसरों की प्रवृत्ति कराने के लिए स्वयं (आत्मा) करके जो अन्य पुरुषों को अनुमति दे देना निसर्ग क्रिया है। **(श्लो. ६/४५८)**

९. प्रश्न : विदारण, आज्ञाव्यपादिकी, अनाकांक्षा एवं आरम्भ क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : विदारण क्रिया - आलस्य आदि के कारण प्रशस्त क्रियाओं को न करना और दूसरों

के पापादि का प्रकाशन करना विदारण क्रिया है। **(रा.वा. १०)** दूसरे के हित की कामना से पाप को प्रगट करने में विदारण क्रिया नहीं है क्योंकि वह विशुद्धि से होती है। **(श्लो. ६/४५८)**

आज्ञाव्यपादिकी क्रिया - चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आवश्यक आदि क्रियाओं के करने में असमर्थ होने पर शास्त्र आज्ञा का अन्यथा ही निरूपण करना आज्ञाव्यपादिकी क्रिया है। **(रा.वा. १०)**

अनाकांक्षा क्रिया - मूर्खता एवं आलस्य के कारण शास्त्रोपदिष्ट विधि-विधानों एवं कर्त्तव्य के प्रति अनादर करना अनाकांक्ष क्रिया है। **(रा.वा. १०)**

आरम्भ क्रिया - छेदन-भेदन-हिंसादि कार्यों में तत्पर होना अथवा दूसरों के द्वारा हिंसादि व्यापार किये जाने पर हर्षित होना आरम्भ क्रिया है। **(रा.वा. ११)**

१०. प्रश्न : पारिग्रहिकी आदि क्रियायें किसे कहते हैं ?

उत्तर : पारिग्रहिकी क्रिया - परिग्रह को नष्ट न होने देने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना अथवा परिग्रह को सुरक्षित रखने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह पारिग्रहिकी क्रिया है। **(रा.वा. ११)**

माया क्रिया - ज्ञान, दर्शन आदि में दुष्टता पूर्वक वचन बोलते हुए वंचना करना माया क्रिया है। **(श्लो. ६/४५९)**

ज्ञान, दर्शन आदि में छल कपट करना माया क्रिया है। **(रा.वा. ११)**

मिथ्यादर्शन क्रिया - मिथ्यात्व क्रिया की, मिथ्यात्व क्रिया करने वालों की और मिथ्यात्व के कारणों में प्रविष्ट मिथ्यादृष्टियों की ''तू बहुत अच्छा करता है'' इत्यादि वचनों के द्वारा प्रशंसा करके उन्हें मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है। **(रा.वा. ११)**

अप्रत्याख्यान क्रिया - संयमघाती चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो कुकर्मों से निवृत्ति नहीं होती है वह अप्रत्याख्यान क्रिया है। **(श्लो. ६/४५९)**

संयमघाती कर्म के उदय से इन्द्रिय विषयों का त्याग नहीं करना अप्रत्याख्यान क्रिया है। **(रा.वा.११)**

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से त्याग रूप परिणाम नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है। **(सर्वा. ६१८)**

११. प्रश्न : आस्रव के कारणों में इन्द्रियों को ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इन्द्रियों के ग्रहण से ही कषाय आदि का ग्रहण हो जाता है ?

उत्तर : इन्द्रियों के ग्रहण से कषायादि का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियों के अभाव में भी आस्रव का सद्भाव पाया जाता है **अथवा** - यदि इन्द्रियों को ही आस्रव में गिना जाय तो छठे गुणस्थान तक ही आस्रव होगा, अप्रमत्तादि के नहीं। क्योंकि प्रमत्त मानव ही चक्षुआदि इन्द्रियों से रूपादिक विषयों

में आसक्त होता है तथा रूपादि इन्द्रियजन्य विषयों का सेवन करे या न करे तो भी हिंसादि की कारणभूत अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान क्रोधादि रूप आठ कषायों से युक्त होता हुआ विषयों का सेवक कहलाता है। तथा हिंसादि पापों को करता हुआ या नहीं करता हुआ भी निरन्तर अविरति और प्रमादी होने से सतत कर्मों का आस्रव करता है परन्तु अप्रमत्त व्यक्ति पन्द्रह प्रमादों से रहित होकर भी मात्र योग और कषाय निमित्तक कर्मों का आस्रव करता है तथा एकेन्द्रियादि जीवों में यथासम्भव चक्षु आदि इन्द्रियों और मनोविकार के न होने पर भी क्रोधादि कषाय और अव्रत के कारण कर्मों का आस्रव देखा जाता है इसलिए सर्व आस्रवों के कारणों का ग्रहण करने के लिए कषाय और अव्रतों का ग्रहण किया है। **(रा.वा. १६)**

१२. प्रश्न : कषाय के ग्रहण से ही साम्परायिक आस्रवों का ग्रहण हो जाता है अत: इन्द्रिय आदि का ग्रहण व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने पर उपशांत कषायी मुनिराज के भी कषाय का सद्भाव रहने मात्र से चक्षु आदि इन्द्रियों के रूपादि विषयों का ग्रहण करने के कारण राग-द्वेष और हिंसा आदि की उत्पत्ति का प्रसंग आयेगा। और यदि चक्षु आदि से रूपादि के ग्रहण मात्र से राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न होंगे, तो कोई वीतरागी नहीं हो पायेगा। अत: केवल कषाय का ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है। **(रा.वा. १७)**

१३. प्रश्न : इन्द्रिय-कषाय-आदि सूत्रों में साम्परायिक आस्रव का विस्तृत वर्णन किया, फिर ईर्यापथ आस्रव के स्वरूप का वर्णन करने के लिए सूत्र क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : अनेक कारण या विशेषताओं से जितने साम्परायिक आस्रव के भेद होते हैं उतने ईर्यापथ आस्रव के नहीं। तथा ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानों में केवल सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है वे राग-द्वेष आदि दोषों से रहित हैं अत: परिशेष न्याय से ईर्यापथ आस्रव के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है अर्थात् कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव की सिद्धि हो जाती है।

परिशेष न्याय से ईर्यापथ आस्रव की सिद्धि हो जाने पर भी यदि और सूत्रों के द्वारा कथन किया जाता तो सूत्रग्रन्थ विस्तृत टीका ग्रन्थ बन जाता।

१४. प्रश्न : क्रोध और प्रादोषिकी क्रिया में क्या अन्तर है ?

उत्तर : क्रोध पूर्वक प्रादोषिकी क्रिया होने पर भी क्रोध कारण है और प्रदोष कार्य है, क्रोध अनिमित्तक भी हो सकता है परन्तु प्रादोषिकी क्रिया क्रोध रूप निमित्त से ही होती है। क्योंकि पिशुन स्वभाव वाला व्यक्ति इष्ट दाराहरण, धननाश आदि निमित्तों के बिना स्वभाव से ही क्रोध करता है तथा किसी की दृष्टि में ही विष होता है, सर्पादि बिना कारण ही क्रोध करते हैं; कहा भी है-

जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा का बिना किसी निमित्त के स्वभाव से ही उदय होता है उसी प्रकार कर्म परवश आत्मा के, बिना निमित्त के ही क्रोधादि कषायों का उदय होता है। जन्म से ही नैसर्गिक

रोष को प्राप्त सिंह आदि हिंसक प्राणियों के समान दुर्जन पुरुषों की चेष्टाएँ वैर और रोष पूर्ण होती हैं अत: क्रोध अनिमित्तक है और प्रदोष क्रोध निमित्तक है। **(रा.वा. ८)**

१५. प्रश्न : इन्द्रियों के ग्रहण से दर्शन एवं स्पर्शन क्रिया का ग्रहण हो जाता है अत: पुन: इन दोनों का ग्रहण करना निरर्थक है ?

उत्तर : ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय में इन इन्द्रियों के द्वारा होने वाले ज्ञान का ग्रहण है और यहाँ क्रियाओं में ज्ञान पूर्वक होने वाले परिस्पन्दात्मक हलन-चलन का ग्रहण है अत: इन्द्रियों के ग्रहण से क्रियाओं का ग्रहण नहीं होता है। **(रा.वा.९)**

१६. प्रश्न : इन्द्रिय, कषाय आदि आत्मा से भिन्न हैं या अभिन्न ?

उत्तर : इन्द्रिय, कषाय आदि आत्मा से कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं; इसमें अनेकान्त है। अनादि-पारिणामिक चैतन्य द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से आत्मा और इन्द्रियों में भेद का अभाव होने से इन्द्रियाँ आत्मा से अभिन्न हैं तथा कर्मोदय, क्षयोपशम निमित्तक पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न हैं क्योंकि इन्द्रियादि की निवृत्ति (अभाव) होने पर भी आत्मा द्रव्य स्थिर रहता है अत: इन्द्रिय, कषाय, अव्रतादि आत्मा से भिन्न हैं। **(रा.वा. ६)**

१७. प्रश्न : इन्द्रिय, कषाय आदि क्रिया का ही स्वभाव है, क्रिया के ग्रहण से इनका ग्रहण हो जाता है अत: इन्द्रिय आदि का पृथक् ग्रहण व्यर्थ है ?

उत्तर : इन्द्रिय आदि का पृथक् ग्रहण व्यर्थ नहीं है, क्योंकि एकान्त से यह नियम नहीं है कि इन्द्रिय, कषाय आदि क्रिया स्वभाव वाले ही हो। क्योंकि नाम, स्थापना और द्रव्य रूप इन्द्रिय, कषाय और अव्रत में परिस्पन्दता का अभाव होने से क्रियारूपता नहीं है। **अथवा** आर्ष वचन से द्रव्यार्थिक नय को गौण करके और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से यदि वर्णन किया जाता है तो इन्द्रिय-कषायादि में क्रिया स्वभावत्व है तथा पर्यायार्थिक नय को गौण करके और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से यदि कथन किया जाय तो इन्द्रिय, कषाय और अव्रतों में क्रियारूपता नहीं भी है। **अथवा-**

शुभाशुभ आस्रव परिणाम के अभिमुख होने से इन्द्रिय, कषाय और अव्रत द्रव्यास्रव है तथा कर्मों का ग्रहण भावास्रव है और यह भावास्रव पच्चीस क्रियाओं से होता है इसलिए इन्द्रिय, कषाय और अव्रतों का पृथक् ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. १२-१३)**

१८. प्रश्न : क्या कषायादि में और क्रियाओं में भी भिन्नता है ?

उत्तर : हाँ, मूर्च्छा-ममत्व परिणाम कारण है, परिग्रह कार्य है। इस मूर्च्छा रूप क्रिया और परिग्रह के ग्रहण रूप अव्रत के होने पर ही परिग्रह के संरक्षण, अविनाश और संस्कारादि लक्षण वाली पारिग्रहिकी क्रिया उत्पन्न होती है।

क्रोध कारण है और प्रदोष कार्य है, क्रोध के होने पर प्रादोषिकी क्रिया होती है। मान कषाय कारण

है, नम्र नहीं होना कार्य है, मान कषाय के होने पर ही अपूर्व अधिकरण उत्पन्न करने वाली प्रात्ययिकी क्रिया होती है।

माया कारण है, कुटिलता कार्य है। माया कषाय का उदय होने पर ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र में माया प्रवृत्ति रूप माया क्रिया होती है।

प्राणातिपात कारण है और प्राणातिपातिकी क्रिया कार्य है। असत्य भाषण, चोरी, कुशील कारण हैं और असंयम के उदय से होने वाली आज्ञाव्यापादिका क्रिया कार्य है।

इसी प्रकार अन्य क्रियाओं में भी कार्य-कारण भाव समझना चाहिए। अत: कार्य-कारण भाव की अपेक्षा से भी क्रिया और इन्द्रिय, कषाय एवं अव्रतों में भिन्नता है क्योंकि कषायादि कारण और क्रियाएँ कार्य हैं और कारण-कार्य कथञ्चित् भिन्न-भिन्न होते हैं। **(रा.वा. १५)**

योग में विशेषता को कहते हैं-

तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

तीव्र-मन्द-ज्ञात-अज्ञात-भाव-अधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्य: तत्-विशेष:

(तीव्रमन्द ज्ञाताऽज्ञातभावाधिकरण वीर्यविशेषेभ्य:) तीव्र, मन्द, ज्ञात, अज्ञात, भाव के निमित्त से तथा अधिकरण विशेष से और वीर्य विशेष से (तद्विशेष:) आस्रव में विशेषता होती है।

अर्थ - तीव्र, मन्द, ज्ञात और अज्ञात भाव के निमित्त से तथा अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष से आस्रव में विशेषता होती है।

तीव्र भाव - परिणामों की तीव्रता होना तीव्र भाव है।

मन्द भाव - परिणामों की मन्दता होना मन्द भाव है।

ज्ञात भाव - जान कर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है।

अज्ञात भाव - प्रमाद से, बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है।

अधिकरण - आधार को अधिकरण कहते हैं।

वीर्य - द्रव्य का स्वसामर्थ्य वीर्य है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : तीनों योगों के उनचालीस (पूर्व सूत्र में कथित) भेद हैं तथा वे योग सर्व आत्मा का कार्य होने से सर्व संसारी प्राणियों के समान हैं अत: उनके फलानुभव के प्रति अविशेषता है। सर्व प्राणियों के योग में समानता नहीं है क्योंकि संसारी प्राणियों के परिणाम अनन्त प्रकार के हैं अत: उनमें विशेषता जानी जाती है। योग में क्या विशेषता है, उसके उत्तर में यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. उ. ६)**

२. प्रश्न : तीव्र भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : अति प्रवृद्ध क्रोध, मान, माया और लोभादि के कारण परिणामों की तीव्रता को तीव्र कहते हैं। वा बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से कषायों की उदीरणा होने पर अत्यन्त संक्लिष्ट भाव होते हैं, अत्यन्त उग्र परिणाम होते हैं, उन परिणामों को तीव्र कहते हैं। **(रा.वा. १)** अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में दोष निकालने का स्वभाव होना और बहुत काल तक वैर को धारण करना, ये तीव्र कषायी जीवों के चिह्न हैं। **(का.अ. ९२)**

बाह्य और आभ्यन्तर हेतु की उदीरणा के कारण जो आवेग युक्त परिणाम होता है वह तीव्र भाव है। **(सर्वा. ६२०)**

३. प्रश्न : मन्द भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : तीव्र से विपरीत परिणाम मन्द होते हैं। बाह्य-आभ्यन्तर कारणों से कषायों की अनुदीरणा के कारण से उत्पद्यमान अनुद्रिक्त परिणाम मन्द होने से मन्द कहलाते हैं। **(रा.वा. २)**

सभी से प्रिय वचन बोलना, खोटे वचन बोलने पर दुर्जन को भी क्षमा करना और सभी के गुणों को ग्रहण करना ये मन्द कषायी जीवों के उदाहरण हैं। **(का.अ. ९१)**

४. प्रश्न : ज्ञात भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान मात्र वा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। मारने का परिणाम न होने पर भी हिंसा हो जाने पर ''मैंने मारा'' यह जान लेना ज्ञात भाव है। **अथवा** ''यह प्राणी मारने योग्य है'' ऐसा जान कर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। **(रा.वा. ३)**

इस प्राणी का मुझे हनन करना चाहिए, इस प्रकार जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। **(सर्वा. ६२०)**

५. प्रश्न : अज्ञात भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : मद या प्रमाद के कारण बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। **(सर्वा. ६२०)** मद या प्रमाद से गमन आदि क्रियाओं में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। जैसे- सुरापान करने वाले की इन्द्रियाँ विकल हो जाती हैं उसी प्रकार इन्द्रियों को मोहित करने वाले परिणाम मद हैं। उस मद से तथा कुशल (आत्म हितकारी) क्रियाओं के प्रति अनादर भाव रूप परिणाम के कारण गमनादि क्रियाओं में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। **(रा.वा. ४)**

६. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'भाव' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'भाव' शब्द का अर्थ सत्ता नहीं है किन्तु यहाँ भाव शब्द का अर्थ बुद्धि सम्बन्धी व्यापार की प्रधानता से है और यह व्यापार तीव्र, मन्द आदि परिणामों का भेदक है। **अथवा -**

भावों में भूयिष्ठ है क्योंकि एक-एक कषायादि परिणामों में असंख्यात लोक प्रमाण भाव होते हैं, अत: भावों में बहुत्व होने से युगपत् एक सत्ता रूप भाव का यहाँ सम्बन्ध नहीं है। **(रा.वा. ८)**

७. प्रश्न : द्रव्य के भाव कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर : द्रव्य के भाव दो प्रकार के माने गये हैं-

(१) अपरिस्पन्द भाव (२) परिस्पन्दात्मक भाव। जो अपरिस्पन्द रूप भाव अस्तित्वादि हैं वे अनादि हैं। तथा परिस्पन्दात्मक भाव उत्पाद-व्ययात्मक हैं, जो आदिमान् हैं वे सामान्यात्मक हैं; यहाँ काय, वचन आदि रूप योग का अधिकार होने से परिस्पन्दात्मक क्रिया रूप भाव ही ग्राह्य है तथा वह तीव्र आदि बुद्धि के व्यापार से ही होता है। **(रा.वा. ८)**

८. प्रश्न : सूत्र में दिया गया 'भाव' शब्द किस-किसके साथ लगाना चाहिए ?

उत्तर : भुज् धातु की तरह भाव शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे- देवदत्त, जिनदत्त और गुरुदत्त को भोजन कराओ, इसमें भोजन कराओं इस क्रिया का सम्बन्ध सबके साथ में है अर्थात् देवदत्त को भोजन कराओ, जिनदत्त को भोजन कराओ, आदि। इसी प्रकार भाव शब्द तीव्र आदि प्रत्येक के साथ में जोड़ना चाहिए। जैसे- तीव्र भाव, मन्द भाव, ज्ञात भाव और अज्ञात भाव। **(रा.वा. ७)**

९. प्रश्न : अधिकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें पदार्थ अधिकृत किये जाते हैं, वह अधिकरण है। आत्मा के प्रयोजन को अर्थ कहते हैं। जहाँ-जहाँ जिसमें प्रयोजन सिद्ध किये जाते हैं, प्रस्तुत किये जाते हैं, वह अधिकरण है, द्रव्य है। **(रा.वा. ५)**

१०. प्रश्न : तीव्र, मन्द आदि का पृथक्-पृथक् ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : तीव्र, मन्द आदि परिणामों से आस्रव में भेद बताने के लिए तीव्र-मन्द आदि भावों के पृथक् ग्रहण सिद्ध होता है, अन्यथा केवल अधिकरण से ही सर्व कार्य चल सकता था, क्योंकि तीव्र-मन्द आदि भाव जीवाधिकरण रूप ही हैं, उस विवक्षा से तीव्र आदि का पृथक् ग्रहण व्यर्थ होता। तीव्रादि भावों के निमित्त से ही शरीर आदि के अनन्त की सिद्धि होती है, कारणभेद से कार्यभेद अवश्य होता है। अत: जब तीव्रादि अनुभाग के भेद से आस्रव अनन्त प्रकार के कहे गये हैं, तो उसके कार्यभूत आत्मा के शरीरादि भी अनन्त प्रकार के सिद्ध होते हैं। क्योंकि कार्य की अनन्तता से ही कारण की अनन्तता का अनुमान लगाया जाता है। **(रा.वा. १०-११)**

११. प्रश्न : आत्मा का ही परिणाम होने से वीर्य का पृथक् ग्रहण व्यर्थ है क्योंकि जीवाधिकरण के ग्रहण से वीर्य का ग्रहण हो जाता है ?

उत्तर : यद्यपि वीर्य/शक्ति आत्म परिणाम रूप है और जीवाधिकरण का परिणाम होने से

अधिकरण में ही गृहीत हो जाती है फिर भी शक्ति विशेष से हिंसादि में विशेषता आती है, यह सूचन करने के लिए वीर्य को पृथक् ग्रहण किया है क्योंकि शक्तिशाली आत्मा के ही तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम परिणाम होते हैं। **(रा.वा. ९)**

अधिकरण के भेदों को कहते हैं-

अधिकरणं जीवाजीवा: ॥७॥

अधिकरणं जीव-अजीवा:।

अर्थ - जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण ये अधिकरण के भेद हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र क्यों लिखा गया है ?

उत्तर : यहाँ कोई कहता है कि आस्रव के अधिकरण का तो वर्णन किया है, परन्तु अधिकरण का स्वरूप क्या है वा अधिकरण कितने प्रकार के हैं, यह नहीं जाना गया ? अत: अधिकरण का स्वरूप कहना चाहिए ? इस आशंका का निराकरण और अधिकरण का स्वरूप और उसके भेदों को जानने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ७)** पूर्व सूत्र में अधिकरण पद आया है पर उसका स्वरूप अज्ञात है, इसलिए वह कहना चाहिए । अब उसके भेदों के कथन द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं। **(सर्वा. ६२१)**

२. प्रश्न : जीव-अजीव आदि का लक्षण पूर्व में कह दिया अत: यहाँ पुन: उनका ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : जीवादिक का पुनर्वचन अधिकरण विशेष की प्रतिपत्ति के लिए है। यद्यपि जीव और अजीव की व्याख्या हो चुकी है, फिर भी अधिकरण विशेष का निर्देश करने के लिए पुन: जीव-अजीव को ग्रहण किया है। क्योंकि हिंसा आदि के उपकरण रूप से जीव और अजीव ही अधिकरण है। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : मूल पदार्थ जीव और अजीव हैं अत: 'जीवाजीवौ' ऐसा द्विवचन कहना चाहिए?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यहाँ जीव और अजीव यह सामान्य अधिकरण विवक्षित नहीं है। परन्तु पर्याय रूप विशेष अधिकरण विवक्षित है। अनन्त पर्याय विशिष्ट जीव और अजीव द्रव्य अधिकरण बनते हैं इस बात की सूचना देने के लिए बहुवचन का ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : 'जीवाजीवाधिकरणं' ऐसा सूत्र बनाना चाहिए क्योंकि इससे सूत्र में लघुता आती है ।

उत्तर : 'जीवाजीवाधिकरणं' ऐसा सूत्र बनाना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें दो प्रकार के समास होते हैं अत: अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान नहीं होगा। जीव और अजीव ही अधिकरण हैं या जीव और अजीव

का अधिकरण इस प्रकार दो तरह से समास होते हैं। जीव और अजीव ही अधिकरण ऐसा समानाधिकरण अर्थ में समास करने पर जीवत्व और अजीवत्व से विशिष्ट अधिकरण मात्र की प्रतिपत्ति होगी, आस्रव विशेष का ज्ञान नहीं हो सकेगा। अत: अभिप्रेत अर्थ के ज्ञान का अभाव होने से इसमें समानाधिकरण लक्षण समास तो नहीं हो सकता। जीव और अजीव का अधिकरण ऐसा भिन्नाधिकरण षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर भी जीव और अजीव के आधार मात्र का ही ज्ञान होगा, आस्रव विशेष का नहीं। अत: आस्रव विशेष इस अभिप्रेत अर्थ के ज्ञान के अभाव का कारण होने से भिन्नाधिकरण षष्ठी तत्पुरुष समास करना भी उचित नहीं है। तथा 'जीवाजीवाधिकरणं' इस पाठ से जीव और अजीव की अधिकरण व्यक्ति भी उपलब्ध नहीं होती। इसलिए प्रकृत पाठ 'अधिकरणं जीवाजीवा:' ही ठीक है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : यदि जीव और अजीव आस्रव के अधिकरण हैं तो सूत्र में आस्रव का निर्देश होना चाहिए ?

उत्तर : जीव और अजीव किसके अधिकरण हैं ? यह प्रश्न होने पर 'अर्थ के वश से विभक्ति का परिणमन होता है' इस नियम के अनुसार 'आस्रवस्य' यह आस्रव-सम्बन्ध हो जाता है। जैसे कि 'देवदत्त के ऊँचे मकान हैं, उसे बुलाओ' यहाँ उसके साथ देवदत्त का कार्य-कारण रूप से सम्बन्ध हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी जीवाजीव अधिकरण किसके हैं, ऐसे प्रश्न होने पर 'आस्रव के हैं' ऐसा अर्थवशात् सम्बन्ध लगाना चाहिए। ये दोनों अधिकरण दस प्रकार के हैं- विष, लवण, क्षार, कटुक, अम्ल, स्नेह, अग्नि और खोटे रूप से प्रयुक्त मन-वचन और काय। **(रा. वा. ५)**

जीवाधिकरण के भेद बताते हैं-

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारिता-नुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश: ॥८॥

आद्यं-संरम्भ-समारम्भ-आरम्भ-योग-कृत-कारित-अनुमत-कषाय-विशेषै: त्रि:-त्रि: त्रि: चतु: च एकश:।

(आद्यं) आदि का जीवाधिकरण (संरम्भ समारम्भारम्भ योगकृत कारितानुमत कषाय विशेषै:) संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, योग, कृत, कारित, अनुमोदना और कषाय विशेषों के द्वारा (त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश:) तीन, तीन, तीन और चार भेद से एक-एक के साथ होते हुए एक सौ आठ भेद वाला है।

अर्थ - आदि का जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, तीन योग विशेष (मन, वचन, काय) रूप तीन, कृत, कारित, अनुमोदना विशेष रूप तीन तथा क्रोध, मान, माया, लोभ विशेष रूप चार को परस्पर गुणित करने पर (३×३×३×४) १०८ भेद होते हैं।

संरम्भ - प्रयत्न विशेष को संरम्भ कहते हैं।

समारम्भ - हिंसादि के साधनों को एकत्र करना समारम्भ है।

आरम्भ - कार्य प्रारम्भ कर देना आरम्भ है।

योग - मन, वचन, काय की क्रिया योग है।

कृत - स्वतंत्र रूप से आत्मा के द्वारा जो किया जाता है वह कृत है।

कारित - जो दूसरों के द्वारा कराया जाता है वह कारित है।

अनुमत - कार्य करने वाले के मानस परिणामों की स्वीकृति अनुमत है।

कषाय - जो आत्मा को कसती है वह कषाय है।

विशेष - अर्थ का अर्थान्तर से जानना विशेष है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : आस्रव के इतने ही भेद हैं कि अन्य भी कोई भेद हैं ? आस्रव के अन्य भी भेद हैं। यदि भेद हैं तो जीवाधिकरण के कितने भेद है ? उसका कथन करना चाहिए। ऐसा पूछने पर सर्वप्रथम जीवाधिकरण के भेदों को कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ८)**

२. प्रश्न : सर्व प्रथम संरम्भादिक का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : वस्तुवाची होने से आदि में संरम्भ आदि वचन हैं। संरम्भ आदि तीन वस्तु-वाची हैं, अत: इनका प्रथम ग्रहण किया है। शेष वस्तु के भेद हैं। **(रा.वा. १८)** चेतन जीव का व्यापार प्रयत्नपूर्वक होता है इसलिए सर्वप्रथम संरम्भ कहा है। प्रयत्न करने पर भी उपायों के बिना कार्य सिद्धि नहीं होती, अत: संरम्भ के पश्चात् समारम्भ कहा है।

साधनों के एकत्र होने पर कार्य प्रारम्भ होता है अत: समारम्भ के पश्चात् आरम्भ को रखा है। **(भ.आ.वि. ८०५)**

३. प्रश्न : सूत्र में योगादि का आनुपूर्वी क्रम क्यों कहा गया है ?

उत्तर : योगादि का आनुपूर्वी से कथन पूर्व और उत्तर दोनों के विशेषणार्थ (विशेषण के लिए) है। क्रोधादि चार और कृत आदि तीन के भेद से कायादि योगों के संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से विशिष्ट करने पर प्रत्येक के छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं। प्रथम संरम्भ के छत्तीस भेद कहते हैं-

(१) क्रोध कृत काय संरम्भ (२) मानकृत काय-संरम्भ (३) मायाकृत काय संरम्भ (४) लोभकृत काय संरम्भ (५) क्रोधकारित काय संरम्भ (६) मान कारित काय संरम्भ (७) मायाकारित काय संरम्भ (८) लोभ कारित काय संरम्भ (९) क्रोधानुमत काय संरम्भ (१०) मानानुमत काय संरम्भ (११) मायानुमत काय संरम्भ (१२) लोभानुमत काय-संरम्भ। इस प्रकार संरम्भ के बारह भेद हैं। इसी प्रकार संरम्भ के स्थान

पर आरंभ, समारम्भ रख कर इनके भी बारह-बारह भेद करने चाहिए। ये सब मिलकर काययोग के छत्तीस भेद होते हैं। काययोग के समान ही वचन योग और मनोयोग के साथ छत्तीस-छत्तीस भेद करने चाहिए। इन सबका जोड़ करने पर जीवाधिकरण आस्रव के कुल एक सौ आठ भेद होते हैं। **(रा.वा. १९)**

४. प्रश्न : अनुमोदना किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनुमत शब्द से प्रयोजक के मानसिक परिणामों की स्वीकृति दर्शायी गयी है। जैसे - कोई मौनी व्यक्ति किये जाने वाले कार्य का यदि निषेध नहीं करता है तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है, उसी प्रकार कराने वाला प्रयोक्ता होने से और उन परिणामों का समर्थक होने से अनुमोदक है। **(रा.वा. ९)** जो न स्वयं करता है, न कराता है, किन्तु जो करता है उसे स्वीकार करता है वह अनुमत है। **(भ.आ.वि. ८०५)**

५. प्रश्न : अनुमोदना करने से पाप-पुण्य का आस्रव कैसे होता है ?

उत्तर : पुण्य और पाप के बन्ध होने में केवल जीव के परिणाम ही कारण हैं, बाह्य कारणों को तो जिनेन्द्र देव ने केवल कारण का कारण अर्थात् शुभ-अशुभ परिणामों का कारण कहा है। जबकि पुण्य के साधन करने में जीवों के शुभ परिणाम ही प्रधान कारण माने जाते हैं तब शुभ कार्य की अनुमोदना करने वाले जीवों को भी शुभ फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

नोट : इसी प्रकार अशुभ कार्य की अनुमोदना करने वालों को पाप की प्राप्ति अवश्य होगी। **(म.पु. २०/१०८-९)**

६. प्रश्न : सूत्र में दिया गया 'आद्य' पद व्यर्थ है क्योंकि आगे के सूत्र में दिये गये 'परं' पद से 'आद्यं' पद की सिद्धि स्वत: हो जाती है ?

उत्तर : यद्यपि आगे के सूत्र में 'पर' शब्द के देने से यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ जीवाधिकरण का प्रकरण है तथापि स्पष्ट अर्थ का बोध कराने के लिए इस सूत्र में **'आद्यं'** पद दिया गया है क्योंकि अनुमान से अर्थ के जानने में कठिनाई होती है। **(रा.वा. १)**

७. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'विशेष' शब्द का सम्बन्ध किस-किस के साथ करना चाहिए?

उत्तर : विशेष का सम्बन्ध सबके साथ लगाना चाहिए। वह विशेष शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है। जैसे- संरम्भ विशेष, समारम्भ विशेष, आरम्भ विशेष, कृत विशेष, कारित विशेष, अनुमोदित विशेष, योग विशेष और कषाय विशेष। **(रा.वा. १२)**

८. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'च' शब्द क्रोधादि कषायों के विशेषों का संग्रह करने के लिए है अत: अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय के सोलह भेदों से गुणा करने पर जीवाधिकरण आस्रव के चार सौ बत्तीस भेद भी होते हैं। **(रा.वा. २०)**

९. प्रश्न : संरम्भ आदि के जीवाधिकरणत्व कैसे सिद्ध है ?

उत्तर : क्रोधादि से आविष्ट पुरुष के द्वारा कृत संरम्भ आदि क्रियाएँ कषायों से अनुरंजित होने से, नीले वस्त्र के समान अधिकरण भाव को प्राप्त होती हैं। जैसे- नीले रंग में डाला गया वस्त्र नीले रंग से अनुरञ्जित होने से नीला हो जाता है। उसी प्रकार संरम्भ आदि क्रियाएँ अनन्तानुबन्धी आदि कषायों से अनुरञ्जित होती है, अत: इन संरम्भादि में भी जीवाधिकरणत्व सिद्ध होता है। **(रा.वा. २१)**

अजीवाधिकरण के भेद कहते हैं-

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रि भेदा: परम् ॥९॥

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा:-द्वि-चतु:-द्वि-त्रि-भेदा: परम्।

(निर्वर्तनानिक्षेपसंयोग निसर्गा:) निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग के क्रमश: (द्विचतुर्द्वित्रिभेदा:) दो, चार, दो, तीन भेद (परं) दूसरे अजीवाधिकरण के भेद हैं।

अर्थ - अजीवाधिकरण दो प्रकार की निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग तथा तीन प्रकार का निसर्ग इस तरह ग्यारह भेद वाला है।

निर्वर्तना - जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्वर्तना है।

निक्षेप - वस्तु रखने को निक्षेप कहते हैं।

संयोग - जो मिलाया जाता है वह संयोग है।

निसर्ग - प्रवृत्ति को निसर्ग कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : निरूपित विकल्प वाले आदि अधिकरण से विलक्षण साम्परायिक निमित्तारूढ़ दोष के भेदों का ज्ञान कराने के लिए किये गये दूसरे अजीवाधिकरण के भेदों का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ९)** दूसरे अजीवाधिकरण के भेदों का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ६२५)**

२. प्रश्न : निर्वर्तना कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : निर्वर्तना दो प्रकार की होती है।

(१) मूलगुण निर्वर्तना (२) उत्तरगुण निर्वर्तना।

(१) शरीर निर्वर्तना (२) उपधि निर्वर्तना।

मूलगुण निर्वर्तना - पाँच शरीर, तीन बल, श्वासोच्छ्वास ये मूलगुण निर्वर्तना है।

उत्तरगुण निर्वर्तना - काष्ठ कर्म, चित्रकर्म आदि उत्तरगुण निर्वर्तना है। **(रा.वा. १२)**

शरीर निर्वर्तना - शरीर की असावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करना दु:प्रयुक्त कहा जाता है ऐसा दु:प्रयुक्त शरीर हिंसा का उपकरण बन जाता है इसलिए इसको देह निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं। **(भ.आ. ८०८)**

शरीर द्वारा खोटी प्रवृत्ति अथवा शरीर को खोटे कार्यों में लगाना शरीर निर्वर्तना कहलाती है। **(म.क. ८४२)**

उपधि निर्वर्तना - जिन उपकरणों के निर्माण में जीवघात होता है अथवा जिनके द्वारा जीवों को बाधा हो वह उपधि निर्वर्तना है। **(म.क. ८४३)** जीवबाधा का कारण ऐसे छिद्रसहित उपकरण बनाना, इसको भी निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं। जैसे- कांजी आदि में रखे हुए पात्र में जन्तु प्रवेश कर मर जाते हैं। **(भ.आ. ८०८)**

३. प्रश्न : मूलगुण और उत्तरगुण निर्वर्तना के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर : मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण पाँच प्रकार का है-

(१) शरीर (२) वचन (३) मन (४) प्राण (५) अपान।

उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण अनेक प्रकार का है-

काष्ठ कर्म, पुस्तकर्म और चित्र कर्म आदि। **(सर्वा. ६२६)**

४. प्रश्न : निक्षेप कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : निक्षेप चार प्रकार के होते हैं-

(१) अप्रत्यवेक्षित निक्षेप (२) दु:प्रमृष्ट निक्षेप।

(३) सहसा निक्षेप (४) अनाभोग निक्षेप। **(सर्वा. ६२६)**

५. प्रश्न : अप्रत्यवेक्षित निक्षेप एवं दु:प्रमृष्ट निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्रत्यवेक्षित निक्षेप - बिना देखी-शोधी भूमि में वस्तु को रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है। **(हरि. पु. ५८/८८)** साफ करने पर जीव है अथवा नहीं है, यह देखे बिना उपकरणादि रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है। **(भ.आ.वि. ८०८)**

दु:प्रमृष्ट निक्षेप - दुष्टता पूर्वक साफ की हुई भूमि में किसी वस्तु को रखना दु:प्रमृष्ट निक्षेप है। **(हरि. पु. ५८/८८)**

उपकरण आदि को असावधानता या दुष्टता से साफ करके रखना अथवा जिस स्थान पर उन्हें रखना है उस स्थान की दुष्टता से सफाई करना, जिससे जीवों को कष्ट पहुँचे दु:प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण है। **(भ.आ.वि. ८०८)**

६. प्रश्न : सहसा एवं अनाभोग निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर : सहसा निक्षेप - उपकरण, पुस्तक आदि, शरीर अथवा शरीर के मल को भय से अथवा किसी अन्य कारणान्तर से सहसा शीघ्र रखने, त्यागने से छहकाय के जीवों की बाधा के आधार ही होते हैं, अत: सहसा निक्षेप हैं। **(भ.आ.वि. ८०८)**

अनाभोग निक्षेप - अव्यवस्था के साथ चाहे जहाँ किसी वस्तु को रख देना अनाभोग निक्षेप है। **(हरि.पु. ५८/८८)**

त्वरा (जल्दी) नहीं होने पर भी जीव है अथवा नहीं है इसका विचार न करके, देख-भाल किये बिना ही उपकरणादि जमीन पर रखना, (फेंकना) अनाभोग निक्षेप है। **(भ.आ.वि. ८०८)**

७. प्रश्न : संयोग कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : संयोग दो प्रकार के होते हैं-

(१) भक्तपान संयोग (२) उपकरण संयोग।

भक्तपान संयोग - किसी अन्नपान को दूसरे अन्नपान में मिलाना भक्तपान संयोगाधिकरण है। **(रा.वा. १४)**

जिनमें सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होगी ऐसे पेय पदार्थ दूसरे पेय पदार्थ के साथ संयुक्त करना अथवा भोज्य पदार्थ के साथ पेय पदार्थ को संयुक्त करना। जिनसे जीवों की हिंसा होती है ऐसा पेय और भोज्य पदार्थों का संयोग निषिद्ध है। (इससे अन्य संयोग निषिद्ध नहीं है) ऐसा भक्तपान संयोग है। **(भ.आ.वि. ८०९)**

उपकरण संयोग - कमण्डलु, पुस्तक आदि उपकरणों को दूसरे उपकरणों के साथ मिलाना उपकरण संयोगाधिकरण है। **(रा.वा. १४)**

बिना विवेक के उपकरणों को मिलाना उपकरण संयोग है। जैसे- शीत स्पर्शयुक्त पिच्छी से घाम से सन्तप्त कमण्डलु का पोंछना। **(हरि.पु. ५८/८९)** पिच्छी-कमण्डलु आदि उपकरणों का संयोग करना, जैसे ठण्डे स्पर्श वाले पुस्तक अथवा कमण्डलु आदि को धूप से संतप्त पिच्छी से स्वच्छ करना, आदि को उपकरण संयोग कहते हैं। **(भ.आ.वि. ८०९)**

८. प्रश्न : निसर्ग कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : निसर्ग तीन प्रकार का होता है-

(१) मनो निसर्ग (२) वचन निसर्ग (३) काय निसर्ग।

मनो निसर्ग - मन की दुष्ट प्रवृत्ति मनोनिसर्ग है।

वचन निसर्ग - वचन की दुष्ट प्रवृत्ति वचन निसर्ग है।

काय निसर्ग - काय की दुष्ट प्रवृत्ति काय निसर्ग है। **(भ.आ.वि. ८०९)**

९. प्रश्न : पूर्व सूत्र में 'आद्यं' वचन होने से इस सूत्र में दिया गया 'परं' शब्द व्यर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'पर' शब्द व्यर्थ न होकर अनेक प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला है। क्योंकि सारा प्रयोजन अर्थापत्ति से सिद्ध हो जाता है। **(रा.वा. ५)**

यह 'पर' शब्द भिन्नार्थक है अर्थात् संरम्भ आदि से निर्वर्तना आदि भिन्न है। अन्यथा निर्वर्तना आदि को भी आत्मपरिणामरूपता आ जाने से जीवाधिकरणत्व का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए 'पर' शब्द सूत्र में दिया गया है। **अथवा -**

पूर्व में कह दिया है कि 'आद्य' की तरह 'पर' शब्द भी स्पष्ट अर्थबोध कराने के लिए है। अथवा- **(रा.वा. १०)**

इस 'पर' शब्द के ग्रहण से इष्ट अर्थ का प्रत्ययबोध होता है, इसलिए 'पर' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ११)**

१०. प्रश्न : यहाँ इष्ट अर्थ क्या है ?

उत्तर : निर्वर्तना दो प्रकार की, निक्षेप चार प्रकार के, संयोग दो प्रकार के एवं निसर्ग तीन प्रकार के होते हैं। यह इष्ट अर्थ है। **(सर्वा. ६२६)**

११. प्रश्न : जीव और अजीवाधिकरण की अपेक्षा आस्रव के दो भेद हैं, फिर इन्द्रिय आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार के आस्रव कैसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : कषाय की सहकारिता से युक्त जीव और अजीव का आश्रय लेकर संसारी जीवों के इन्द्रिय, कषाय आदि की अपेक्षा आस्रव बहुत प्रकार के हो सकते हैं। **अथवा -** बहिरंग और अन्तरंग कारणों के अनुसार आस्रवों के अनेक भेद हो जाते हैं। असंख्यात प्रकार के क्रोधादि कषायों से अनुग्रह को प्राप्त हो रहे जीवों के आस्रव के अवलम्बन के कारण जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण अनेक प्रकार के बन जाते हैं। कषाय रहित जीवों के कोई भी जीव या अजीव-अधिकरण आस्रव का कारण नहीं है। **(श्लो. ६/४८१-८२)**

आस्रव के कारण

ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण-

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः ॥१०॥

तत् प्रदोष-निह्नव-मात्सर्य-अन्तराय-आसादन-उपघाताः ज्ञानदर्शनावरणयोः।

(तत्) ज्ञान और दर्शन में किया गया (प्रदोषनिह्नवमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाताः) प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात (ज्ञानदर्शनावरणयोः) ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - ज्ञान और दर्शन के विषय में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जो ये तीन प्रकार के मन, वचन, काय के आस्रव शब्द से कहने योग्य अनन्त पर्याय रूप परिणाम हैं क्या वे एक प्रकार से प्रणिधीयमान सकल साम्परायिक आस्रव के अर्जन में हेतु हैं ? सकल आस्रव के हेतु एक प्रकार रूप नहीं हैं अपितु किसी के कहीं पर कायादि व्यापार की विशेषता होने पर विशिष्ट रूप से नियम से होते हैं, उन विशेष कारणों को इस सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(रा.वा.उ. १०)**

सामान्य से कर्मास्रव के भेद कहे। इस समय अलग-अलग कर्मों के आस्रव के भेदों का कथन करना चाहिए। उसमें सर्वप्रथम प्रारम्भ के ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के भेदों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ६२७)**

२. प्रश्न : प्रदोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है। उसका गुणगान करने पर उस समय नहीं बोलने वाले के भीतर जो पैशुन्य रूप परिणाम होता है वह प्रदोष है। **(सर्वा. ६२८)** तत्त्वज्ञान के प्रति हर्ष प्रकट न करना अथवा मोक्ष के साधनभूत तत्त्वज्ञान का उपदेश होने पर किसी का मुख से कुछ न कहकर अन्तरंग दुष्ट भाव होना प्रदोष है। (मोक्ष की प्राप्ति के साधनभूत मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों की वा ज्ञान के धारी की प्रशंसा करने पर, उसकी प्रशंसा सुनने पर मुख से कुछ नहीं कह करके मानसिक परिणामों में पैशुन्य होता है वा अन्त:करण में उसके प्रति जो ईर्ष्या का भाव होता है, वह प्रदोष कहलाता है। **(रा.वा. १)** तत्त्वज्ञान में हर्ष का अभाव होना प्रदोष है। **(गो.क.जी. ८००)**

मोक्ष के साधनभूत तत्त्वज्ञान का निरूपण होने पर कोई मनुष्य चुपचाप बैठा है परन्तु भीतर ही भीतर उसका परिणाम कलुषित हो रहा है, इसे प्रदोष कहते हैं। **(हरि. पु. ५८/९२)**

३. प्रश्न : निह्नव किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरे अभिसन्धान से ज्ञान का व्यपलाप करना निह्नव है। यत् किञ्चित् पर-निमित्त को लेकर किसी बहाने से किसी बात को जानने पर भी मैं इस बात को नहीं जानता हूँ, पुस्तक आदि के होने पर भी मेरे पास पुस्तक आदि नहीं है, इस प्रकार ज्ञान को छिपाना, ज्ञान का व्यपलपन करना, ज्ञान के विषय में वञ्चना करना निह्नव है। **(रा.वा. २)**

अपलाप करना निह्नव है। एक आचार्य के पास अध्ययन करने पर भी 'मेरा गुरु तो अन्य है' ऐसा कहना अपलाप है। **(भ.आ.वि. ११२)** किसी कारण से, ऐसा नहीं है, 'मैं नहीं जानता' ऐसा कहकर ज्ञान का अपलाप करना निह्नव है। **(सर्वा. ६२८)**

कुल, व्रत, शील विहीन, मठ आदि का सेवन करने के कारण कुल, व्रत और शील से महान् गुरु के पास अच्छी तरह पढ़ कर भी 'मैंने ऐसे व्रती गुरु से कुछ नहीं पढ़ा', ऐसा कहकर गुरु व शास्त्र का नाम छिपाना निह्नव है। **(मू.आ. २८४)**

किसी कारण से जानते हुए भी मैं नहीं जानता, ऐसा कहना अथवा अपने अप्रसिद्ध गुरु से ज्ञान प्राप्त कर उनका नाम छिपाते हुए प्रसिद्ध व्यक्ति को अपना गुरु बताना निह्नव है। **(गो.क.जी. ८००)**

४. प्रश्न : मात्सर्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी कारण से आत्मा के द्वारा भावित, देने योग्य ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नहीं देना मात्सर्य है। **(रा.वा. ३)**

खूब परिश्रम करके जो ज्ञान प्राप्त किया है तथा जो निश्चय से दूसरों को देने के योग्य है, ऐसा भी ज्ञान पैशुन्यता के कारण से नहीं देना वह मात्सर्य है। **(सि.सार.सं. ९/१३०)**

५. प्रश्न : अन्तराय किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान का विच्छेद करना अन्तराय है। कलुषता के कारण ज्ञान का व्यवच्छेद करना, कलुषित भावों के वशीभूत होकर ज्ञान के साधन पुस्तक आदि का व्यवच्छेद करना, नाश करना, किसी के ज्ञान में विघ्न डालना अन्तराय है। **(रा.वा.४)**

विद्यार्थियों के पढ़ने में तथा गुरुजी के पढ़ाने में ज्ञान का विच्छेद करना अन्तराय दोष है, ऐसा विशिष्ट ज्ञानवानों ने माना है। **(सि.सा.सं. ९/१३१)**

६. प्रश्न : आसादन किसे कहते हैं ?

उत्तर : वचन और काय से वर्जन करना आसादना है। दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का काय एवं वचन से वर्जन करना आसादना है। **(रा.वा. ५)**

ज्ञान और ज्ञानी इनको प्रकाश में लाने के कार्य में मन से, वचन से और शरीर से व्याघात उत्पन्न करना आसादन है। **(सि.सा.सं. ९/१३२)**

७. प्रश्न : आसादना और उपघात में क्या अन्तर है ?

उत्तर : आसादना और उपघात में एकत्व नहीं है क्योंकि आसादना में विद्यमान ज्ञान का विनय-प्रकाशन, गुणकीर्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघात में ज्ञान को अज्ञान कहकर ज्ञान का ही नाश किया जाता है **अथवा** - ज्ञान के नाश करने का अभिप्राय रहता है, अत: आसादना और उपघात में भेद स्पष्ट है। **(रा.वा. ७)**

काय और वचन के द्वारा सम्यग्ज्ञान की अनुमोदना न करना अथवा काय और वचन से दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का तिरस्कार करना आसादना है। **(गो. क.जी. ८००)**

८. प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : ज्ञान सम्बन्धी प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के कारण है। **(त.सू. ६/१०)**

विशेष - (१) आचार्य, उपाध्याय के प्रतिकूल चलना एवं अकाल में अध्ययन करना।

(२) शास्त्राभ्यास में आलस्य करना, अनादर से अर्थ सुनना एवं अश्रद्धा करना।

(३) तीर्थोपरोध (दिव्यध्वनि के काल में स्वयं व्याख्यान करना) एवं सूत्रविरुद्ध बोलना।

(४) अपने बहुश्रुत का गर्व, बहु श्रुतवान का अनादर, अपमान एवं मिथ्योपदेश करना।

(५) अपने पक्ष का दुराग्रह एवं दुराग्रह से असम्बद्ध प्रलाप करना।

(६) असिद्ध से ज्ञानाधिगम, शास्त्र-विक्रय और हिंसादि कार्य करना। **(रा.वा. २०)**

(७) धर्म की आम्नाय में रुकावट डालना एवं ज्ञानाध्ययन की कुशलता से धूर्त्तता करना। **(त.सा. ४/१५-१६)**

जो मिथ्यामार्गों की प्रशंसा करते हैं, दूसरे के सम्यग्ज्ञान की विनय-प्रशंसा नहीं करते, उनके प्रचार को रोकने में जिन्हें आनन्द आता है, जो दूसरे के ज्ञानार्जन में बार-बार विघ्न डालते हैं। किसी विषय के विशेषज्ञ होते हुए भी, दूसरे न जान सके इसलिए अपने ज्ञान को छिपाते हैं, जो सत्य आगम की सूत्र परम्परा का उल्लंघन करके पढ़ते हैं, जो अपने ज्ञान का अहंकार करते हैं एवं ज्ञानियों से अकारण वैर करते हैं, उनके निश्चय से ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है। **(व.चा. ४/४३-४५)**

९. प्रश्न : किन-किन कार्यों को करने से जीव बहरे होते हैं ?

उत्तर : जो परनिन्दा, विकथा तथा मिथ्याशास्त्र आदि सुनते हैं, असत्य और खोटे वचन बोलते हैं, जो अज्ञानी जन जगत् में कपट आदि की बात कहते हैं और शास्त्रों में द्वेष रखना आदि कारणों से शास्त्रों में दोष बताते हैं वे परभव में ज्ञानावरण कर्म से बहरे होते हैं अर्थात् उनके ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है। **(पार्श्व पु. २१/५४)** संसार में ऐसे लोगों का तिरस्कार होता है तथा निन्दा होती है। जिन लोगों ने मूर्खतावश दूसरे के दोषों को बिना जाने ही स्वीकार कर लेने का अपना स्वभाव बना लिया है, ईर्ष्यावश पर-निन्दा सुनने का एक कार्यक्रम बना रखा है, हेय शास्त्रों की कुत्सित कथाओं को सुनने का अभ्यास सा बना रखा है तथा केवली, संघ एवं धर्मात्माओं को दोष लगा देने का काम ठान लिया है वे ज्ञानावरण कर्म के उदय होने के फल से बहरे होते हैं। **(महावी.पु. १७)**

१०. प्रश्न : किन कार्यों को करने से जीव गूंगा होता है ?

उत्तर : जो स्वेच्छानुसार आगमविरुद्ध बोलते हैं, मिथ्याशास्त्र पढ़ते हैं, विकथा आदि करते हैं असत्य तथा क्रोधादि पूर्ण भाषण करते हैं तथा मल-मूत्रादि और भोजन आदि करते हुए बोलते है, वे ज्ञानावरण कर्म के वश से परलोक में गूंगे होते हैं अर्थात् उनके ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है। **(पार्श्व पु.२१/५६-५७)**

जो लोग व्यर्थ में ही स्त्री-चर्चा आदि विकथाओं को प्रतिदिन कहा करते हैं, दोषहीन अर्हन्तदेव, शास्त्र, सच्चे गुरु तथा धर्मात्माओं में दोष लगाते फिरते हैं, पापशास्त्रों को पढ़ते-पढ़ाते हैं, अपनी इच्छानुकूल यश एवं प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए अस्थिर चित्त होकर, श्रद्धा एवं विनय से रहित होकर जैन-शास्त्रों को स्वयं बाँचते हैं, धर्म-सिद्धान्त के परमोत्तम तत्त्वार्थों को कुतर्कों के द्वारा दूसरों को समझाने की दुश्चेष्टा में तत्पर रहते हैं, वे ज्ञान-रहित मूर्ख 'ज्ञानावरण' कर्म के उदय होने के फल से बोलने में असमर्थ मूक (गूंगे) होते है। **(महावी. पु. १७)**

११. प्रश्न : मति-ज्ञानावरण कर्म का आस्रव किन कारणों से होता है ?

उत्तर : इस (मतिज्ञानावरण) कर्म का उदय उन जीवों के होता है जो हिंसा आदि पाँच पापों में अपनी इच्छा से प्रवृत्त होते हैं। श्री जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट तत्त्वार्थ को उन्मत्त पुरुष के समान यद्वा-तद्वा रूप से ग्रहण करते हैं और सच्चे तथा झूठे दोनों देव-शास्त्र-गुरु, धर्म, प्रतिमा आदि को समान मानते हैं। दूसरों को छल से ठगने में उद्यत जो पुरुष खोटी शिक्षा देते हैं और जो अज्ञानी पुरुष सद्-असद् विचार के बिना धर्म के लिए सच्चे और झूठे देव-शास्त्र-गुरु की भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं वे इस कर्म के उदय से दुर्बुद्धि और अशुभ प्रवृत्ति के होते हैं अर्थात् ऐसा करने वाले के मति-ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है। **(वीर.व.चा. १७/१११-३०)**

१२. प्रश्न : श्रुत ज्ञानावरण कर्मबन्ध किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : ज्ञान मद के कारण जो पुरुष अध्ययन-अध्यापन नहीं करते हैं, यथार्थत: जो जानकर भी दूसरों के दुराचारों का उद्भावन करते हैं। हितैषी जिनागम का अध्ययन न कर कुशास्त्र पढते हैं, आगम निन्दित और परपीड़ाकारी असत्य बोलते हैं वे इस (श्रुतज्ञानावरण) कर्म के उदय से ऐसा करते हैं। अर्थात् इन कारणों से श्रुतज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है। **(वीर.व.चा. १७/१३३-१३६)**

जो दूसरों को धोखा देकर ठगा करते हैं, ठगने के लिए दूसरों को सलाह देते हैं, देव-शास्त्र-गुरु के विषय में तथ्यातथ्य समझे बिना ही अपना धर्म समझकर पूजा-भक्ति में तत्पर रहते हैं, वे मतिज्ञानावरण कर्म के उदय से निन्दनीय-कुबुद्धि मूर्ख होते हैं। जो दुष्ट पुरुष ज्ञानाभिमान वश पढ़ाने योग्य व्यक्तियों को भी नहीं पढाते हैं, जानते हुए भी जघन्य कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, कल्याणकारक जिनागम को छोड़कर अन्य कुशास्त्रों की विद्या पढ़ते हैं तथा शास्त्रनिन्दित, कटु एवं परपीड़क तथा धर्महीन असत्य वचन बोलते हैं वे श्रुतज्ञानावरण कर्म के फल से महामूर्ख होते है। **(महावी. पु. १७)**

१३. प्रश्न : किन-किन कार्यों को करने से जीव विद्वान् होते हैं ?

उत्तर : जो तप आदि धर्म कार्यों में सलाह देते हैं, अतत्त्व और तत्त्वों का विचार विनयपूर्वक करके सारभूत धर्मादि वस्तुओं को ही ग्रहण करते हैं, संसार की समस्त वस्तुओं का त्याग कर देते हैं वे सुयोग्य एवं चतुर पुरुष मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से महाविद्वान् होते हैं। जो स्वयं जिनागम को सदैव पढ़ते हैं, दूसरों को भी पढाते हैं, काल आदि (कालाचार, विनयाचार आदि) आठ विधियों से जिनवाणी का व्याख्यान करते हैं, धार्मिक उपदेश से अनेक जीवों को ज्ञान प्रदान करके नित्य धर्मकार्य में तत्पर रहते हैं, कल्याणकारी सत्य वचन बोलते हैं, असत्य नहीं बोलते हैं वे श्रुतज्ञानावरण कर्म के मन्द हो जाने से महाविद्वान् होते हैं। **(महावी.पु. १७)**

नोट - सुभग, दुर्भग, सुन्दर, कुरूप आदि के आस्रवों के कारण देखें- पार्श्व पुराण, महावीर पुराण।

१४. प्रश्न : दर्शनावरण कर्म का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : दर्शन-मात्सर्य, दर्शनान्तराय (देखने में व्यवधान करना), आँखें फोड़ना, इन्द्रियों की विपरीत प्रवृत्ति, अपनी दृष्टि का गर्व करना, बहुत देर तक सोये रहना, दिन में सोये रहना, आलस्य, नास्तिक्य, सम्यग्दृष्टियों में दूषण लगाना, कुतीर्थ प्रशंसा, जीवहिंसा एवं मुनियों के प्रति ग्लानि भाव आदि दर्शनावरण के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा. २०)**

दर्शन के विषय में किये हुए प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, उपघात करना, दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं। **(हरि.पु. ५८/९२)**

१५. प्रश्न : चक्षुदर्शनावरण कर्म का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : जो पुरुष परस्त्रियों के मुख, योनि आदि को, बन्ध, उच्चाटन तथा मारण आदि मिथ्यात्व के पोषक स्थान आदि को तथा अन्य पापकर्म मैथुन आदि को हर्षपूर्वक देखते हैं और व्यर्थ ईर्ष्या के कारण उनके देखे-अनदेखे कार्यों को कहते हैं वे चक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय से अत्यन्त दु:खी होते हुए अन्धे होते हैं अर्थात् इन कार्यों से चक्षुदर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है। **(पार्श्व पु. २१/५८-५९)**

१६. प्रश्न : किन-किन कार्यों को करने से अन्धे होते हैं ?

उत्तर : जो बिना देखे ही दूसरे के दोषों को 'आँखों देखा' बतलाते हैं, कटाक्ष के लिए नेत्रों के विकार उत्पन्न करते रहते हैं, परस्त्री के स्तन-भगादि गुप्ताङ्गों को टकटकी बाँध कर देखते-देखते भी नहीं अघाते, कुतीर्थ, कुदेव तथा कुलिंगियों का आदर करते हैं, वे दुष्ट नेत्र वाले पुरुष 'दर्शनावरण' कर्म के उदय होने के फल से अन्धे होकर अत्यन्त दु:ख को भोगते हैं। **(महावी.पु. १७)**

१७. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'तत्' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'तत्' शब्द का ज्ञान तथा दर्शन के प्रति निर्देश है ज्ञान के प्रति किये गये प्रदोष आदि ज्ञानावरण के एवं दर्शन के प्रति किये गये प्रदोष आदि दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा. ८)**

१८. प्रश्न : इस सूत्र के पूर्व ज्ञान-दर्शन का प्रकरण नहीं है तथा सूत्र में ज्ञान-दर्शन शब्द का प्रयोग नहीं है फिर कैसे जाना जाता है कि 'तत्' शब्द ज्ञान-दर्शन का परामर्शक है ?

उत्तर : ज्ञानावरण-दर्शनावरण का आस्रव है। ऐसा कहने से ज्ञात होता है कि प्रदोष आदि ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी हैं। ज्ञान-दर्शन वालों और उनके साधनों में क्या प्रतिपत्ति है वा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव कौन हैं ? किसी के ऐसे प्रश्न के उत्तर में यह सूत्र बनाया है कि ज्ञान-दर्शन वालों के प्रदोष आदि और ज्ञान-दर्शन के साधनों के प्रदोष आदि भी 'तत्प्रदोष' शब्द से ग्रहण कर लेने चाहिए। अर्थात् 'तत्' शब्द का अर्थ है ज्ञान, दर्शन, ज्ञानधारी, दर्शनधारी, ज्ञान के साधन तथा दर्शन के साधनों में प्रदोष आदि ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के बन्ध के कारण हैं। **(रा.वा. ९)**

१९. प्रश्न : ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण तुल्य हैं अत: दोनों को एक कहना चाहिए क्योंकि लोक में जिनके कारण समान होते हैं उनमें एकत्व देखा जाता है ?

उत्तर : तुल्य कारणों वालों में ऐक्य मानने में स्ववचन विरोध आता है क्योंकि यदि तुल्य कारण होने से कार्य रूप ज्ञानावरण और दर्शनावरण में ऐक्य माना जाय तो वचन के कारण कण्ठ, ओठ आदि के संयोग और विभाग रूप तुल्य हेतुत्व होने से तथा वचन के साधक-दूषकत्व की अविशेषता होने से जहाँ पर जो वचन कहा है वह या तो साधक होना चाहिए या दूषक ही। इस प्रकार स्ववचन विरोध होगा। यदि एक हेतुक होने पर भी वचन स्वपक्ष के साधक तथा परपक्ष के ही दूषक होते हैं तो तुल्य हेतु होने से कार्य एकत्व होता है। इस वचन का विरोध हो जायेगा। **(रा.वा. १०)**

कारण तुल्य होने से कार्य को तुल्य मानने पर प्रत्यक्ष और आगम इन दोनों से भी विरोध आता है क्योंकि मिट्टी के पिण्ड रूप तुल्य हेतु से भिन्न-भिन्न कार्य घट, घटी, सकोरादि कार्य नहीं होंगे, इस प्रकार प्रत्यक्ष सिद्ध है एवं सांख्य एक प्रधान तुल्य कारण से महान् अहंकार आदि नाना कार्य मानते हैं, इस प्रकार तुल्य कारण से तुल्य कार्य मानने से सभी के आगम विरोध दोष का प्रसंग आता है। **(रा.वा. ११)**

बादलों के विघटन से प्रगट हुए सूर्य के प्रताप और प्रकाश के समान ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण का अत्यन्त क्षय होने पर एक साथ ज्ञान-दर्शन की उत्पत्ति होने से अथवा दोनों में साहचर्य होने से इन दोनों के तुल्य कारण मानने में विरोध नहीं है। **(रा.वा. १२)**

२०. प्रश्न : क्या छद्मस्थ जीवों के ज्ञान-दर्शन की एक साथ प्रवृत्ति होती है ?

उत्तर : नहीं, छद्मस्थ (सावरण व्यक्ति) में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग क्रम से प्रवृत्त होते हैं। जैसे- जल समवेत अग्नि (गर्म पानी) में प्रताप-ताप प्रगट है, प्रकाश प्रकट नहीं है और प्रदीप के प्रकाश में प्रकाश प्रकट है, प्रताप प्रकट नहीं है उसी प्रकार छद्मस्थ जीवों के जिस समय ज्ञानोपयोग है उस समय दर्शनोपयोग नहीं है और जिस समय दर्शनोपयोग है उस समय ज्ञानोपयोग नहीं है क्योंकि छद्मस्थों के एक साथ दोनों नहीं होते। **(रा.वा. १३)**

२१. प्रश्न : अतीत-अनागत पदार्थों का दर्शन नहीं होता क्योंकि दर्शन स्पृष्ट एवं विषय में प्रवृत्ति करता है। अतीत पदार्थ विनष्ट एवं अनागत पदार्थ अनुत्पन्न होने से स्पृष्ट और विषय नहीं हो सकते अत: तद् विषयक ज्ञान ही हो सकता है दर्शन नहीं अत: केवली के दर्शनोपयोग का अभाव मानना चाहिए ?

उत्तर : केवली के दर्शनोपयोग का अभाव मानना उचित नहीं है क्योंकि उनके ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग युगपत् होते हैं जैसे- मेघ पटल के हटने पर जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहाँ प्रताप है तथा जहाँ प्रताप है वहाँ प्रकाश है, उसी प्रकार निरावरण अचिन्त्य माहात्म्यशाली केवली सूर्य के सर्व पदार्थ विषयक ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। **(रा.वा. १४)**

अथवा - केवली के ज्ञान के समान दर्शनोपयोग भी है जैसे- केवली असद्भूत और अनुपदिष्ट को जानते हैं वैसे ही असद्भूत और अनुपदिष्ट को देखते भी हैं। जिस प्रकार सावरण व्यक्ति को अस्पृष्ट और अविषय में बिना उपदेश के ज्ञान नहीं होता, वैसा केवली के नहीं है तथा जैसे- सावरण व्यक्ति की विषय एवं स्पृष्ट में दर्शन की प्रवृत्ति होती है वैसी केवली के नहीं होती है अत: केवली के त्रिकालगोचर दर्शन मानना उचित है। **(रा.वा. १५-१६)**

२२. प्रश्न : अवधिज्ञानी के अतीत-अनागत पदार्थ के विषय में दर्शन कैसे हो सकता है ?

उत्तर : करण निरपेक्ष (इन्द्रियों की अपेक्षा रहित) तथा क्षयोपशम शक्ति विशेष के योग से अवधिज्ञानी के भी दर्शन होता है। यद्यपि अवधिज्ञानी के आवरण है तथापि तथाविध अवधि दर्शनावरण के क्षयोपशम विशेष का करणनिरपेक्षत्व होने से केवलदर्शन के समान अनुपदेशपूर्वक प्रवृत्ति होने से अतीत-अनागत में अस्पृष्ट होने पर भी अवधिदर्शन की प्रवृत्ति होती है। **(रा.वा. १७)**

२३. प्रश्न : जिस प्रकार अवधिज्ञान अवधिदर्शन पूर्वक होता है उसी प्रकार मन:पर्यय ज्ञान भी दर्शन पूर्वक होना चाहिए ?

उत्तर : कारणों का अभाव होने से मन:पर्यय दर्शन नहीं है। क्योंकि चार ही दर्शनावरण बताए हैं, इसलिए मन:पर्यय दर्शनावरण का क्षयोपशम रूप निमित्त न होने से मन:पर्यय दर्शनोपयोग का भी अभाव है। मन:पर्यय ज्ञान दूसरे के मन की प्रणालिका से जानता है अत: मन:पर्यय दर्शन नहीं है। मन:पर्ययज्ञान अवधिज्ञान की तरह स्वमुख से स्वविषय में प्रवृत्ति नहीं करता है परन्तु परकीय मन:प्रणाली से जानता है। इसलिए मन जैसे अतीत और अनागत विषय का विचार करता है, चिन्तन करता है परन्तु देखता नहीं है उसी प्रकार मन:पर्यय ज्ञान भी भूत-भविष्यत् पदार्थों का चिन्तन करता है परन्तु देखता नहीं है। वह वर्तमान भी मन को विषय विशेषाकार से जानता है, देखता नहीं है। अत: सामान्य अवलोकन पूर्वक प्रवृत्ति का अभाव होने से मन:पर्यय दर्शनोपयोग का अभाव है। **(रा.वा. १८)**

मन:पर्ययज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, इसलिए मन:पर्यय दर्शन नहीं होता है। **(ध. १/३८७)**

२४. प्रश्न : क्या श्रुतज्ञान एवं मन:पर्यय ज्ञान भी दर्शन पूर्वक होता है।

उत्तर : हाँ, यहाँ श्रुतज्ञान को उत्पन्न करने वाला जो अवग्रह और मन:पर्यय ज्ञान को उत्पन्न करने वाला ईहा रूप मतिज्ञान कहा है, वह मतिज्ञान भी दर्शन पूर्वक होता है, इसलिए वह मतिज्ञान भी उपचार से दर्शन कहलाता है इसलिए श्रुतज्ञान एवं मन:पर्यय ज्ञान को भी दर्शन पूर्वक जानना चाहिए। **(बृ. द्र. सं. ४४ टी.)**

२५. प्रश्न : ज्ञान का आवरण करने वाली अविद्या को मानना चाहिए पौद्गलिक कर्म को नहीं। क्योंकि मदिरा आदि द्रव्य मद (अविद्या) उत्पन्न करते हैं और वह मद ही ज्ञान पर आवरण डालता है ?

उत्तर : एकान्तवादियों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि मदिरा आदि के समान ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्म से भी ज्ञान आदि का आवरण देखा जाता है। भाव आवरण स्वरूप ही वह अभाव है। द्रव्य आवरण स्वरूप पौद्गलिक कर्मों का अभाव मानने पर अज्ञान, राग, द्वेष आदि भाव आवरण भी नहीं बन सकते हैं तथा द्रव्य आवरण के बिना भी यदि भाव आवरण होने लगे तो कर्मनिर्मुक्त सिद्ध भगवान के भी अज्ञान, राग आदि हो जायेंगे, परन्तु ऐसा होना असम्भव है। (अत: अज्ञान आदि दोष और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का हेतुहेतुमद्भाव अनादि से बीज-अंकुर वत् चला आ रहा है।) **(श्लो. ६/४९२)**

२६. प्रश्न : जैन दर्शन में आवरण (कर्म) की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : संसारी आत्मा में मिथ्याज्ञान, अहंकार, दु:ख आदि विशेष जाति के पुद्गलों के निमित्त से ही होते हैं, क्योंकि आत्मा के सम्यग्ज्ञान, मार्दव, अतीन्द्रिय सुख आदि स्वभाव रूप और दु:खादि विभाव स्वरूप हैं। जिस प्रकार धतूरा आदि पदार्थों के निमित्त से उन्मत्तता आदि क्रियायें होती हैं। अत: अनुमान से सिद्ध हो जाता है कि क्रोधादि विभाव परिणाम का कारण द्रव्य आवरण ही है। **(श्लो. ६/४९३ के आधार से)**

कभी द्वेष से द्वेष, क्रोध से क्रोध, अज्ञान से अज्ञान की धाराएँ चलती हैं, ये भी पौद्गलिक कर्म के उदय से ही होती हैं। जैसे- एक रोग से अनेक रोगों की उत्पत्ति भी वात, पित्त, कफ की विकृति से ही होती है, इससे भी भावकर्म राग, द्वेष आदि के कारण द्रव्य आवरण की सिद्धि हो जाती है। **(श्लो. ६/ ४९३ से आधार से)**

असातावेदनीय के आस्रव के कारण-

दु:खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्म-परोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

दु:ख-शोक-ताप-आक्रन्दन-वध-परिदेवनानि-आत्म-पर-उभयस्थानि-असद्वेद्यस्य।

(आत्मपरोभयस्थानि) आत्मस्थ, परस्थ और उभय (स्व-पर) में होने वाले (दु:खशोकतापाक्रन्दन-वधपरिदेवनानि) दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन ये (असद्वेद्यस्य) असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - आत्मस्थ (अपने में) परस्थ (पर में) उभयस्थ (दोनों में) होने वाला दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन ये असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं।[१]

१. प्रश्न : असातावेदनीय का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

---

१. (१) स्वस्थ दु:ख (२) परस्थदु:ख (३) उभयस्थ दु:ख (४) स्वस्थशोक (५) परस्थशोक (६) उभयस्थशोक (७) स्वस्थताप (८) परस्थताप (९) उभयस्थ ताप (१०) स्वस्थआक्रन्दन (११) परस्थआक्रन्दन (१२) उभयस्थआक्रन्दन (१३) स्वस्थवध (१४) परस्थवध (१५) उभयस्थवध (१६) स्वस्थपरिदेवन (१७) परस्थपरिदेवन (१८) उभयस्थ परिदेवन ये असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं। (श्लो. ६/५०४ के आधार से)

उत्तर : दु:ख, शोक, ताप, आक्रंदन, परिदेवन स्वयं करना दूसरों को कराना तथा स्व-पर दोनों में करना असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं। धर्म का विध्वंस करना, धर्म के कार्यों में विघ्न करना, तपस्वियों की निन्दा करना तथा शीलव्रत से च्युत करना।

(१) अशुभ प्रयोग, अनुकम्पा का अभाव, पर-परिताप, अंगोपांगच्छेद करना।

(२) ताड़न, त्रासन, तर्जन, भर्त्सन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन, वाहन करना।

(३) शरीर को रूखा कर देना, संक्लेश का प्रादुर्भाव एवं निर्दयता करना।

(४) हिंसा, विश्वासघात, कुटिलता, पापकर्म, जीवित्व एवं अनर्थदण्ड करना।

(५) पाश, रस्सी, पिंजरा, यंत्र आदि बनाना।

(६) जबरदस्ती शस्त्र देना आदि भी शोकादि से गृहीत होते हैं।

(७) आत्मा में, पर में और उभय में रहने वाले, ये दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन आदि सर्व परिणाम असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा. १५)**

जो मूर्ख मनुष्य दया का त्याग कर तीव्र संक्लेश परिणामी होकर अन्य प्राणी को बाँधना, तोड़ना, पीटना, प्राण लेना (खाने और पीने के पदार्थों से वंचित रखना) ऐसे ही कार्य हमेशा करता है, अपने को सुखी मानकर जो नीच पुरुष ऐसे ही कार्य हमेशा करता है, ऐसे कार्य करते समय जिनके मन में पश्चाताप होता नहीं, उसी को निरन्तर असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। **(भ.आ.वि. ४४८)**

दु:ख, वध, शोक, संताप, आक्रन्दन और परिवेदन स्वयं करने से, अन्य को कराने से तथा स्वयं करने और दूसरे को कराने से असातावेदनीय कर्म का विपुलता से बन्ध होता है। **(क.प्र. १४६)**

प्राणियों को दु:ख देना, शोक सागर में ढकेलना, वध करना, रोना, विलाप करना, प्राणियों को बन्धन में डालना और उनको शास्ति (अनुशासित करना) देने के लिए भोजन-पान रोक देना आदि चेष्टाएँ असातावेदनीय के आस्रव का कारण हैं। **(व.चा. ४/५७)**

२. प्रश्न : दु:ख शोकादि में असाता वेदनीय कर्म के आस्रव हैं, यह किस प्रमाण से सिद्ध है ?

उत्तर : (१) स्वयं, पर और उभय में प्राप्त दु:ख-शोकादि असाता फल वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं, यह सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार आगमप्रमाण से सिद्ध है।

(२) स्व संवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा भी यह सिद्ध है क्योंकि कोई-कोई दु:ख आदि जाति वाला विशेष आत्म संक्लेश, अग्नि में प्रवेश (जहर खाना, ऊपर से गिर जाना आदि क्रियाएँ) करा देता है। यह बात लौकिक तथा दार्शनिकों के यहाँ प्रसिद्ध होने से अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार अठारह अनुमान उत्पन्न कर लेना चाहिए।

(३) संक्लेश विशेष हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रयुक्त हुए दु:खादि सब संक्लेश विशेष होने से आत्मीय स्वभाव के विरोधी हैं। **(श्लो. ६/५०४-५)**

३. प्रश्न : किन कार्यों को करने से रोगी होता है ?

उत्तर : जो विषय-सुखों में आसक्त होकर धर्महीन हो जाते हैं तथा तप, यम, व्रतादि से रहित होकर विविध भोगों के द्वारा अपना शरीर पुष्ट किया करते हैं, रात्रिकाल में भी अन्नादि का आहार करते हैं, अखाद्य (अभक्ष्य) वस्तुओं को भी खा लेते हैं, अकारण ही अन्य जीवों को क्लेश दिया करते हैं, वे निर्दयी पापी असातावेदनीय कर्म के उदय होने के कारण रोगी होकर अनेक रोगों की उग्र वेदना से व्याकुल होते हैं। **(महावी. पु. १७)**

नोट : इन कार्यों को नहीं करने से एवं इनसे विपरीत कार्यों को करने से नीरोग होते हैं।

४. प्रश्न : दु:ख किसे कहते हैं ?

उत्तर : पीड़ा लक्षण परिणाम को दु:ख कहते हैं। विरोधी पदार्थों का मिलना, अभिलषित (इच्छित) वस्तु का वियोग, अनिष्ट संयोग एवं निष्ठुर वचन श्रवण आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा से तथा असातावेदनीय के उदय से उत्पद्यमान पीड़ा लक्षण परिणाम दु:ख कहलाता है। **(रा.वा. १)** अनिष्ट अर्थ के समागम और इष्ट अर्थ के वियोग का नाम दु:ख है। **(ध. १३/३३४)** मिथ्या कल्पित पदार्थों का ग्रहण करना सो अत्यधिक दु:ख है। **(प.पु. ४३/३०)**

५. प्रश्न : दु:ख कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर : दु:ख चार प्रकार के होते हैं –

१. सहज दु:ख : क्षुधा-तृषा से उत्पन्न पीड़ा या काम-क्रोध के भाव से उत्पन्न स्त्रीसेवन की अभिलाषा और उसके चिंतन से उत्पन्न दु:ख सहज दु:ख कहलाते हैं क्योंकि बिना प्रयत्न के ही इनका प्रादुर्भाव हो जाना स्वाभाविक दु:ख है।

२. दोषज दु:ख : वात, पित्त, कफ शरीर में रहते हैं। इनका अनुपात यथायोग्य रहना स्वास्थ्य है। इनकी मात्रा में हीनाधिकता होना रोग है। जिस समय ये कुपित विकृत होते हैं उस समय शरीर, इन्द्रियाँ सब अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, मन भी विकारी हो जाता है। फलत: गलित गण्डादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ये दु:ख दोषज कहलाते हैं।

३. आगन्तुक दु:ख : वर्षा, शीत, उष्ण आदि ऋतुओं से उत्पन्न होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि आकस्मिक घटनाओं से उत्पन्न पीड़ाएँ आगन्तुक दु:ख कहलाते हैं।

४. मानसिक दु:ख : दारिद्र्यादि से जन्य अपराध दण्ड, जेलखाना आदि में वध, बन्धन होना, छेदन-भेदन की सजा मिलने पर दु:ख होता है। वह सब तिरस्कारजन्य अपमान से उत्पन्न कष्ट या दु:ख कहा जाता है। इससे मान हानि से मानसिक पीड़ा विशेष होती है। अनादर, न्यक्कार, इच्छाविघात अथवा

अभिलषित वस्तु के नहीं मिलने से होने वाले दु:खों को अंतरंग या मानसिक दु:ख कहते हैं। **(नी.वा. ६/१९-२४)**

६. प्रश्न : सूत्र में दु:ख का सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : प्रधान होने के कारण सूत्र में सर्वप्रथम दु:ख का गहण किया है, शेष शोकादि इसी के विकल्प होने से उनका दु:ख के बाद ग्रहण किया है। **(रा.वा. १४)**

७. प्रश्न : शोक किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनुग्राहक के सम्बन्ध का विच्छेद होने पर वैकल्य विशेष शोक कहलाता है। अनुग्रह एवं उपकार करने वाले जो बन्धु आदि हैं उनका विच्छेद वा वियोग हो जाने पर उसका बार-बार विचार करके जो चिन्ता, खेद और विकलता आदि मोह कर्म विशेष शोक के उदय से मानसिक ताप होता है, वह शोक कहलाता है। **(रा.वा. २)**

उपकार करने वाले का सम्बन्ध टूट जाने पर जो विकलता होती है, वह शोक है। **(सर्वा. ६३०)**

८. प्रश्न : ताप किसे कहते हैं ?

उत्तर : परिवाद आदि निमित्त के कारण कलुष अन्त:करण का तीव्र अनुशय ताप है। परिभवकारी कठोर वचन के सुनने आदि से कलुष व्यक्ति के जो भीतर ही भीतर तीव्र जलन या अनुशय-पश्चाताप के परिणाम होते हैं, उसे ताप कहते हैं। **(रा.वा. ३)**

अपवाद आदि के निमित्त से मन के खिन्न होने पर जो तीव्र अनुशय संताप होता है वह ताप है। **(सर्वा. ६३०)**

९. प्रश्न : आक्रंदन किसे कहते हैं ?

उत्तर : परिताप के कारण जो आँसू गिरने के साथ विलाप आदि होता है उससे खुलकर रोना आक्रन्दन है। **(सर्वा. ६३०)**

परिताप से उत्पन्न अश्रुपात, प्रचुर विलाप आदि से अभिव्यक्त होने वाला क्रन्दन ही आक्रन्दन है। मानसिक परिताप के कारण अश्रुपात, अङ्गविकार (माथा फोड़ना, छाती कूटना आदि) पूर्वक विलाप करना, रुदन करना आदि क्रियायें होती हैं, वह आक्रन्दन है वा उसे आक्रन्दन समझना चाहिए। **(रा.वा.४)**

१०. प्रश्न : वध किसे कहते हैं ?

उत्तर : आयु, इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास आदि का वियोग करना वध है। भवधारण की कारण आयु है। रूप-रसादि ग्रहण करने का साधन वा निमित्त इन्द्रियाँ हैं। कायादि वर्गणा का अवलम्बन श्वासोच्छ्वास लक्षण प्राण है। इन प्राणों का परस्पर विघात करना वध कहा जाता है। **(रा.वा. ५)**

११. प्रश्न : परिदेवन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अतिसंक्लेश पूर्वक स्व-पर अनुग्राहक-अभिलषित विषय के प्रति अनुकम्पा-उत्पादक रुदन परिदेवन है। अति संक्लेश परिणामों के अवलम्बन पूर्वक ऐसा रुदन करना, विलाप करना जिसे सुनकर अपने तथा दूसरे को अनुकम्पा उत्पन्न हो जाय, उसे परिदेवन कहते हैं। **(रा.वा.६)** संक्लेश रूप परिणामों के होने पर गुणों का स्मरण और प्रशंसा करते हुए अपने और दूसरे के उपकार की अभिलाषा से करुणाजनक रोना परिदेवन है। **(सर्वा. ६३०)**

१२. प्रश्न : शोकादि दु:ख के ही भेद हैं इसलिए दु:ख आदि का पृथक्-पृथक् ग्रहण व्यर्थ है?

उत्तर : यद्यपि दु:ख की ही अनन्त जातियाँ होने से ये सभी दु:ख रूप हैं तथापि कुछ मुख्य-मुख्य जातियों का निर्देश किया है। जैसे 'गौ' अनेक प्रकार की होती है और केवल 'गौ' कहने से सबका ज्ञान नहीं हो पाता। अत: खण्डी, मुण्डी, शाबलेय, श्वेत, काली आदि विशेषों का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार दु:ख विषयक आस्रव के असंख्येय लोक प्रमाण भेद संभव होने से दु:ख ऐसा कहने पर विशेष ज्ञान न होने से कुछ विशेष निर्देशन से उसके विशेष भेद की प्रतिपत्ति किस प्रकार हो सके, इसलिए शोकादि को पृथक् ग्रहण किया है, जिससे ये सर्व भिन्न-भिन्न सुगृहीत होते हैं, इनमें दु:ख का लक्षण और उसी का विस्तार है, वह सुष्ठु रीति से दु:ख के पर्यायवाची शब्दों को जानने के लिए है। **(रा.वा. ७)**

कथञ्चित् दु:ख शोक आदि भिन्न-भिन्न भी हैं। जैसे- मिट्टी का पिण्ड, घट, कपाल आदि मूर्त्तिमान रूपी द्रव्य की दृष्टि से अभिन्न है अर्थात् मृत्पिण्ड एवं घट एक हैं, अभिन्न हैं तथा प्रतिनियत आकार आदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से मृत्पिण्ड और घटादि पर्यायें कथञ्चित् भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार अप्रीति सामान्य की दृष्टि से दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन में एकत्व है परन्तु विभिन्न कारणों से उत्पन्न और अभिव्यक्ति पर्यायों की दृष्टि से विचार करने पर इनमें परस्पर पृथक्त्व है। **(रा.वा. ८)**

१३. प्रश्न : ये दु:ख आदि स्वयं में, पर में एवं उभय में किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर : क्रोधादि के आवेश से दु:खादि आत्म, पर और उभयस्थ होते हैं जब क्रोधादि से आविष्ट आत्मा अपने में दु:ख, शोकादि उत्पन्न करता है, तब वे क्रोधादि आत्मस्थ होते हैं और जब समर्थ व्यक्ति कषायवश पर में दु:खादि उत्पन्न करता है तब वे परस्थ होते हैं और जब साहूकार कर्जदार से ऋण वसूल करने आते हैं तब तज्जनित भूख प्यास आदि के कारण दु:खादि होते हैं, वे उभयस्थ होते हैं। **(रा.वा.११)**

१४. प्रश्न : यदि दु:ख के कारणों से असातावेदनीय का आस्रव होता है तो नग्न रहना, केशलुञ्चन आदि का उपदेश स्वकीय तीर्थंकर के विरुद्ध होगा, क्योंकि केशलुञ्चन आदि से दु:खादि उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : आर्हत् मत (जैनमत) वाले के तो यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ऐसा कहने पर स्वतीर्थंकरों के उपदेश के व्याघात का प्रसङ्ग आता है। क्षणिकवाद वालों के भी यह कथन नहीं बन सकता क्योंकि जब सर्व पदार्थ दु:खशून्य और अनात्मक रूप हैं तब हिंसादि की तरह दानादि में भी दु:ख हेतुता रहेगी क्योंकि दोनों में दु:ख हेतुत्व तुल्य है। इसलिए इनका उपदेश भी अकुशल का ही उपदेश कहा जायेगा।

इसी तरह दु:ख का कारण होने से हिंसादि को पापास्रव का हेतु मानने वाले अन्य मतावलम्बियों के भी यम-नियम परिपालन, विविधवेष, अनुष्ठान, दुश्चर उपवास, ब्रह्मचर्यवास आदि का 'दु:ख हेतु होने से' अनुष्ठान के विरोध का प्रसंग आयेगा, क्योंकि सभी वादी हिंसा आदि को दु:ख हेतु होने से पापास्रव का कारण मानते ही हैं **(रा.वा. १६) अथवा**

(२) द्वेष का अभाव होने से जैसे अनिष्ट द्रव्य के सम्पर्क से द्वेष की उत्पत्ति होने पर दु:ख उत्पन्न होता है उस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तर तप की प्रवृत्ति में धर्मध्यान परिणत मुनि के अनशन, केशलुञ्चन करने या कराने से उत्पादित कायक्लेश है, उसमें द्वेष सम्भव नहीं है अत: अनशन आदि से असाता-वेदनीय का बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि क्रोधादि के आवेश के कारण द्वेषपूर्वक होने वाले स्व-पर और उभय के दु:खादि परिणाम पापास्रव के हेतु माने गये हैं। स्वेच्छा से आत्मविशुद्ध्यर्थ किये जाने वाले तप आदि बन्ध के कारण नहीं माने गये हैं। **(रा.वा. १७)**

(३) प्रसन्नता होने से - अनशनादि कायक्लेश पापास्रव के कारण नहीं हैं। जिस प्रकार मुनिगण अहिंसादि व्रतों के करने और कराने में तत्पर होने से प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार ये यतिराज उपवासादि के भी करने और कराने में प्रसन्न होते हैं, स्वयं प्रसन्नता पूर्वक उपवास, केशलुञ्चन आदि तप करते हैं अत: अनशन आदि तप दु:ख के हेतु नहीं हैं। **(रा.वा. १८)**

(४) अनशनादि तप प्रायश्चित्त में उपदिष्ट हैं। जब मुनियों को किसी कारण से कभी क्रोध उत्पन्न होने पर उसके परिमार्जन के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है तब यति के अनशन आदि तप विधि में क्रोधादि परिणामों की सम्भावना कैसे हो सकती है ? जिससे कि अनशनादि को असाता के बन्ध का कारण माना जाय। **(रा.वा. १९)**

(५) फोड़ा चीरने के समान यतिगण अनुग्रह बुद्धि से अनशन आदि का उपदेश देते हैं। जैसे रोगी पर करुणाशील वैद्य अनुग्रह बुद्धि से उसके फोड़े की शल्यक्रिया करते हुए भी पाप नहीं बाँधता, उसके पापास्रव नहीं होता है, उसी प्रकार अनादिकालीन सांसारिक जन्म, जरा, मरण और वेदना के नाश करने की इच्छा से तप आदि उपायों में प्रवृत्ति करने वाले यति के कार्यों में स्व-पर-उभय में दु:खहेतुता दिखने पर भी क्रोधादि न होने के कारण वह पाप का बन्धक नहीं होता है। **(रा.वा. २०)**

(६) मन की रति होने से अनशनादि सुख के कारण हैं। जैसे- दु:खाभिभूत संसारी प्राणियों का जिन पदार्थों में मन रम जाता है वे ही सुखदायक होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज का मन अनशन आदि के करने में रमता है, प्रसन्न होता है, अत: व्रतादि में यति का मन दु:खी नहीं है। अत: उसके असाता का बन्ध भी नहीं है, ऐसा मानना अदोष है। कहा भी है- नगर हो या वन, स्वजन हो, या परजन, महल की चोटी पर हो या पेड़ की खोह में, प्रिया की गोद हो या शिलातल, वस्तुत: मनोरमण को सुख कहते हैं। **(रा.वा. २१)**

सातावेदनीय के आस्रव-

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

भूत-व्रति-अनुकम्पा-दान-सराग-संयम-आदि योगः क्षान्तिः शौचं इति सद्वेद्यस्य।

(भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति) भूत, व्रती, अनुकम्पा, दान, सरागसंयम आदि योग, क्षान्ति और शौच ये (सद्वेद्यस्य) सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयम आदि योग, क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।[१]

भूतानुकम्पा - भूत-समस्त संसारी प्राणियों पर दया परिणाम होना भूतानुकम्पा है।

व्रत्यनुकम्पा - अणुव्रतियों और महाव्रतियों पर दया करना व्रत्यनुकम्पा है।

दान - निज और पर के उपकार योग्य वस्तु देने को दान कहते हैं।

सरागसंयमादि - राग सहित संयम आदि।

योग - निरवद्य क्रिया विशेष के अनुष्ठान को योग कहते हैं।

क्षान्ति - शुभ भावना पूर्वक क्रोधादि कषायों की निवृत्ति को क्षान्ति कहते हैं।

शौच - लोभ के उपरम (त्याग) को शौच कहते हैं।

१. प्रश्न : सातावेदनीय कर्म का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : समस्त प्राणियों पर दया करना, व्रतीजनों पर अनुराग रखना, सराग संयम का पालन करना, दान, क्षमा, शौच, अर्हन्त की पूजा और बाल तथा वृद्ध तपस्वियों की वैयावृत्ति आदि से सातावेदनीय का आस्रव होता है। **(हरि. पु. ५८/९४-९५)**

भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, सराग संयम, क्षान्ति और लोभ का त्याग करना तथा संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप, अर्हत्पूजा आदि सातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं। **(सर्वा.सि. ६३२)** सत्पात्रों तथा अभावग्रस्त व्यक्तियों को दान देना, कर्त्तव्यपालन, प्राणिमात्र पर दया, चंचलता के कारणों की उपस्थिति में भी शान्त रहना, भीतर-बाहर पवित्र रहना, तपस्या के अभ्यास के साथ व्रतों का आचरण, ब्रह्मचर्य, शीलधारण, संयमपालन और मन, वचन, काय पर नियंत्रण सातावेदनीय का बन्ध कराते हैं। **(व.चा. ४/५८)** दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, इन्द्रियदमन, क्षमा, वैयावृत्य, विनय, जिनपूजा, सरलता, सरागसंयम, संयमासंयम, प्राणियों पर दया और व्रतियों पर दया ये सातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं। **(त.सा. ४/२५-२६)**

---

१. समासात्मक पद ग्रहण करने से उन-उन बातों में तत्परता ऐसा अर्थ होता है और अलग लेने से वे सब बातें भी और मात्र योग भी सातावेदनीय का आस्रव माना जाता है। अभिप्राय यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान वगैरह में कषाय न होकर अकेला योग होने से सिर्फ सातावेदनीय का ही आस्रव होता है।

२. प्रश्न : व्रती किसे कहते हैं ?

उत्तर : अहिंसादि व्रतों को धारण करने वाले व्रती कहलाते हैं। वे व्रती दो प्रकार के हैं श्रावक और मुनि। अगार (घर) के प्रति अनुत्सुक संयतीजन अनगार है। और संयतासंयत गृहस्थ एकदेशव्रती है। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'आदि' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'आदि' शब्द से संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बाल तप आदि का भी ग्रहण है।

संयमासंयम - एकदेशविरति को संयमासंयम कहते हैं।

अकामनिर्जरा - विषयों के अनर्थ की निवृत्ति को आत्म-अभिप्राय से नहीं करते हुए परतन्त्रता के कारण भोगोपभोग का निरोध होने पर शांतिपूर्वक सहन करना अकामनिर्जरा है।

बालतप - यथार्थ प्रतिपत्ति का अभाव होने से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बाल कहलाते हैं। उन अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों का अग्नि में प्रवेश, पंचाग्नि तप आदि बालतप है। **(रा.वा. ७)**

नोट : संयमासंयम देखें (२/५)

४. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'इति' शब्द से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : 'इति' शब्द से अर्हत्भगवान की पूजा करना, बाल वृद्ध और तपस्वी की वैयावृत्य करना, आर्जव भाव, विनयशीलता आदि भी सातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं। अत: 'इति' शब्द से उनको भी ग्रहण करना चाहिए। **(रा.वा. १३)**

५. प्रश्न : भूत (प्राणी) और व्रती में क्या अन्तर है ?

उत्तर : आयु कर्म और नामकर्म के उदय की आधीनता से जो उन-उन गतियों में उत्पन्न होते हैं, वे भूत हैं तथा व्रतों (अणुव्रत और महाव्रतों) का सब ओर से सम्बन्ध रखने वाले प्राणी, व्रती हैं जो सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार के हैं।

अर्थात् सामान्य प्राणियों पर अनुकम्पा परिणाम की अपेक्षा व्रतियों पर अनुकम्पा परिणाम करने से विशिष्ट अनुभाग वाला साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। **(श्लो. ६/५०७)**

६. प्रश्न : सातावेदनीय के आस्रव के कारणभूत अनुकम्पादान आदि की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : जैन दर्शन सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्यात्मक होने से अनुकम्पा आदि की सिद्धि हो जाती है। पदार्थ को सर्वथा नित्य (कूटस्थ) मानने वाले दर्शन में परिणमन का अभाव होने से कोई दाता नहीं हो सकता तथा आत्मा को क्षणिक मानने से अन्वितपने का अभाव होने से अनुकम्पा आदि घटित नहीं होते।

स्व-पर और उभय में स्थित हो रहे दु:ख आदि जिस प्रकार संक्लेश विशेष होने से जीव को दु:ख रूप फल देने वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं उसी प्रकार प्राणियों और व्रतियों के ऊपर की गयी क्षमा, दान आदि शुभ क्रियायें विशुद्धि का अंग होने से सुख रूप फल देने वाले पुद्गलों का आस्रव कराती है।

जैन सिद्धान्त में कर्म की असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियाँ और सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियाँ प्रसिद्ध हैं क्योंकि विशेष-विशेष कार्यों की उत्पत्ति विशेष-विशेष कारणों के बिना नहीं हो सकती है। अत: असंख्य प्रकार के सुख-दु:ख जाने जा रहे हैं उतने ही असंख्य प्रकार के सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म हैं। **(श्लो. ६/५०९-१०)**

७. प्रश्न : अनुकम्पा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनुग्रह से दयार्द्र चित्त वाले के दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का जो भाव होता है, उसे अनुकम्पा कहते हैं। **(सर्वा. ६३२)**

प्यासे को या भूखे को या दु:खित किसी भी प्राणी को देखकर जो स्पष्टत: दु:खित मन होकर दया परिणाम के द्वारा स्वीकार (उनकी सेवा आदि) करता है, उन पुरुष के प्रत्यक्षीभूत शुभोपयोग रूप यह दया या अनुकम्पा होती है। **(प्र.सा.ता. २६८)**

असाता वेदनीय और अन्तरायादि अशुभ कर्मों के उदय से प्रकट हुए दारिद्र्य, रोग, चिंता वगैरह दु:खों से पीड़ित हुए जीवों पर दयार्द्र भाव उत्पन्न होना, उसे जिनेश्वर अनुकम्पा कहते हैं। पर-पीड़ा को देखकर मानों वह पीड़ा अपने को ही हो रही है, ऐसा समझ कर उसे दूर करना **अनुकम्पा गुण** है। **(सि.सा. १/७७-७८)**

तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दु:खी को देखकर जो जीव मन में दु:ख पाता हुआ उसके प्रति करुणा से वर्तता है, उसका वह भाव अनुकम्पा है। **(पं.का.ता. १३७)**

८. प्रश्न : अनुकम्पा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अनुकम्पा तीन प्रकार की होती है-

(१) धर्मानुकम्पा (२) मिश्रानुकम्पा (३) सर्वानुकम्पा। **(भ.आ.वि. १८२८)**

९. प्रश्न : धर्मानुकम्पा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन्होंने असंयम का त्याग किया है, मान-अपमान, सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, तृण-स्वर्ण इत्यादिकों में जिनकी बुद्धि राग-द्वेष रहित हो गई है। इन्द्रिय और मन जिन्होंने वश किये हैं, माता की भाँति जिन्होंने मुक्ति का आश्रय लिया है, उग्र कषाय-विषयों को जिन्होंने छोड़ दिया है, दिव्य भोगों को दोषयुक्त देखकर जो वैराग्ययुक्त हो गये हैं, संसार-समुद्र की भीति से रात में भी अल्प निद्रा लेने वाले हैं। जिन्होंने सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर नि:संगता धारण की है, जो क्षमादि दशधर्म स्वरूप बने हों, ऐसे संयमी मुनियों के ऊपर दया करना उसको धर्मानुकम्पा कहते हैं। **(भ.आ.वि. १८२८)**

१०. प्रश्न : मिश्रानुकम्पा किसे कहते हैं ?

उत्तर : महान् पातकों के मूल-कारण रूप हिंसादि से विरक्त होकर सन्तोष और वैराग्य में तत्पर रहकर जो दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्ड त्याग को धारण करते हैं, जिनके सेवन से महादोष उत्पन्न होते हैं ऐसे भोगोपभोगों का त्यागकर बाकी भोगोपभोग की वस्तुओं का जिन्होंने परिमाण किया है, जिनका मन पाप से भय युक्त हुआ है, पाप से डरकर विशिष्ट देश और काल में जिन्होंने सर्व पापों का त्याग किया है, पर्वों के दिन में सम्पूर्ण आरम्भ का त्याग कर जो उपवास करते हैं ऐसे संयतासंयत पर जो दया की जाती है उसको मिश्रानुकम्पा कहते हैं। **(भ.आ.वि. १८२८)**

जो जीवों पर दया करते हैं, परन्तु दया का पूर्ण स्वरूप नहीं जानते हैं, जो जिनसूत्र से बाह्य है जो अन्य पाखण्डी गुरु की उपासना करते हैं, नग्न और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं, इनके ऊपर कृपा करना यह मिश्रानुकम्पा है, क्योंकि गृहस्थों की एकदेश रूपता से धर्म में प्रवृत्ति है, वे सम्पूर्ण चारित्र रूप धर्म का पालन नहीं कर सकते। अन्यजनों का धर्म मिथ्यात्व से युक्त है। इसलिए गृहस्थ धर्म और अन्य धर्म दोनों के ऊपर दया करने को मिश्रानुकम्पा कहते हैं। **(भ.आ.वि. १८२८)**

११. प्रश्न : सर्वानुकम्पा किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि जन और मिथ्यादृष्टि ये दोनों स्वभावत: मार्दव से युक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियों के ऊपर दया करते हैं, इस दया का नाम सर्वानुकम्पा है। जिनके अवयव टूट गये, जिनको जख्म हुई है, जो बाँधे गये हैं, जो स्पष्ट रूप से लूटे जा रहे हैं, ऐसे मनुष्यों को देखकर, अपराधी अथवा निरपराध मनुष्यों को देखकर मानों अपने को ही दु:ख हो रहा हो, ऐसा मानकर उनके ऊपर दया करना सर्वानुकम्पा है। हिरण, पक्षी, पेट से रेंगने वाले प्राणी, पशु इनको मांसादिक के लिए लोग मारते हैं ऐसा देखकर दया करनी चाहिए। असाध्य रोग रूपी सर्प से काटे जाने से जो दु:खी हुए हैं, ''मैं मर रहा हूँ'' 'मेरा नाश हुआ है जन दौड़ों' ऐसा जो दु:ख से शब्द कर रहे हैं, रोगों का जो अनुभव करता है उनके ऊपर दया करनी चाहिए। गुरु, पुत्र, कलत्र, पत्नी आदि से जिनका वियोग हुआ है, जो रोग पीड़ा से शोक कर रहे हैं, अपना मस्तक वगैरह जो वेदना से पीटते हैं, कमाया हुआ धन नष्ट होने से जिनको शोक हुआ है, जिनके बान्धव छोड़कर चले गये हैं, धैर्य, शिल्प, विद्या, व्यवसाय इत्यादिकों से रहित हैं, उनको देखकर अपने को इनका दु:ख हो रहा है, ऐसा मानकर उन प्राणियों को स्वस्थ करना, उनकी पीड़ा का उपशम करना, सर्वानुकम्पा है। **(भ.आ.वि. १८२८)**

१२. प्रश्न : लोभ को किन-किन नामों से कहा जाता है ?

उत्तर : काम, राग, निदान, छन्द, सूत, प्रेय, दोष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, साशता, प्रार्थना, लालसा, अविरति, तृष्णा, विद्या और जिह्वा ये लोभ के एकार्थवाची नाम हैं।

काम - इष्ट स्त्री, पुत्र आदि की अभिलाषा का नाम काम है।

राग - मनोज्ञ विषय के अभिष्वंग का नाम राग है।

निदान - जन्मान्तर के सम्बन्ध से संकल्प करने का नाम निदान है।

छन्द - मन के अनुकूल विषय के बार-बार भोगने में मन के प्रणिधान का नाम छन्द है।

सूत - नाना प्रकार के विषयों की अभिलाषा रूप कलुषित जल के द्वारा 'सूयते' परिसिंचित करना सूत है।

प्रेय - प्रिय के समान यह प्रेय है। प्रेय एक दोष है।

स्नेह - इष्ट वस्तु में अनुराग सहित मन का प्रणिधान होना स्नेह है।

अनुराग - स्नेह ही अनुराग है।

आशा - अविद्यमान अर्थ की आकांक्षा करना आशा है।

इच्छा - बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की अभिलाषा का नाम इच्छा है।

मूर्च्छा - परिग्रह सम्बन्धी अतितीव्र अभिष्वंग का नाम मूर्च्छा है।

गृद्धि - उपात्त और अनुपात्त परिग्रहों में अत्यधिक तृष्णा का नाम गृद्धि है।

साशता - आशा के साथ जो रहता है वह शास है और 'शास' का भाव साशता है अथवा शाश्वत हो वह शाश्वत है।

लालसा - गृद्धि को लालसा कहते हैं।

अविरति - असंयम का हेतु होने से अविरति लोभ परिणाम स्वरूप है।

तृष्णा - विषय सम्बन्धी पिपासा का नाम तृष्णा है।

विद्या - विद्या शब्द से लोभ लिया गया है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति वेदन के आधीन है इसलिए लोभ भी विद्या रूप से उपचरित किया गया है।

जिह्वा - असन्तोष रूप साधर्म्य का आश्रय कर जिह्वा लोभ का पर्यायवाची है। **(ज.ध. १२/१८९)**

१३. प्रश्न : सूत्र में 'योग' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : निरवद्य क्रिया विशेष के अनुष्ठान को योग कहते हैं। योग-पूर्ण उपयोग से जुट (जग) जाना। योग, समाधि, सम्यक् प्रणिधान ये सब एकार्थवाची हैं। दूषण की निवृत्ति के लिए 'योग' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ८)**

दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव-

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवाऽवर्णवादोदर्शनमोहस्य ॥१३॥

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देव-अवर्णवादः दर्शनमोहस्य।

(केवलिश्रुतसंघधर्मदेवाऽवर्णवादः) केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद (दर्शनमोहस्य) दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद करने से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

केवली - इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित ज्ञान वाले केवली कहलाते हैं।

श्रुत - केवली कथित और गणधर के द्वारा अवधारित श्रुत कहलाता है।

संघ - रत्नत्रय से युक्त मुनियों का समूह संघ कहलाता है।

धर्म - अहिंसादि लक्षण वाला धर्म कहा जाता है।

देव - देव गति के जीवों को देव कहते हैं।

अवर्णवाद - जिसमें जो दोष नहीं है उसमें वह दोष लगाना अवर्णवाद है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : इस प्रकार साता और असाता रूप वेदनीय के आस्रव के कारणों का कथन किया। अनन्तर अनन्त प्रवाह वाले संसार के कारणभूत मोहनीय के आत्मलाभ में क्या कारण है ? ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज ने मोहनीय के आस्रव के कारणों को इस सूत्र से कहा है। **(रा.वा.उ. १३)**

अब मोहनीय के आस्रव के कारणों का कथन करना क्रम प्राप्त है। उसमें भी पहले उसके प्रथम भेद दर्शन मोहनीय के आस्रव के कारणों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ६३३)**

२. प्रश्न : अवर्णवाद किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्तरंग के कालुष्य दोष के कारण असद्भूत मलों का उद्भावन करना अवर्णवाद है। गुणवान् और महत्त्वशालियों में अपनी बुद्धि और हृदय की कलुषता के कारण अविद्यमान दोषों का उद्भावन करना अवर्णवाद है। **(रा.वा. ७)**

३. प्रश्न : केवली किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिनका ज्ञान आवरण रहित है वे केवली कहलाते हैं। **(सर्वा. ६३४)** इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित ज्ञान वाले केवली कहलाते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ करण हैं, काल के भेद से प्रवृत्ति क्रम कहलाती है। भित्ति आदि का अन्तर्धान व्यवधान कहलाता है। ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनके स्वाभाविक अनन्तज्ञान प्रकट हो गया है, जिनका ज्ञान इन्द्रिय, काल, क्रम और दूर देश आदि के व्यवधान से रहित है और परिपूर्ण है वे अर्हन्त भगवान केवली कहलाते हैं। **(रा.वा.१)**

४. प्रश्न : दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : अर्हन्त, सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत, गुरु, धर्म और मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ के प्रतिकूल आचरण करने से जीव उस दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध करता है, जिससे कि वह अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। **(क.प्र. १४७)**

मोक्षमार्ग को दूषित ठहराना और मिथ्या मोक्षमार्ग का उपदेश देना दर्शनमोह के कारण हैं। **(त.सा. ४/२८)**

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। **(त.सा. ४/२७)**

वीतराग केवली प्रभु के द्वारा उपदिष्ट स्वैराचार विरोधी सन्मार्ग का विरोध करके धर्माचरण की आड़ में वासना पूर्त्ति में सहायक मिथ्यामार्ग का उपदेश देते हैं उन लोगों का संसार भ्रमण बढ़ता ही जाता है। कारण कि वे जीव निश्चय से दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं। **(व.चा. ४/६२)**

५. प्रश्न : केवली का अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

उत्तर : केवलियों में पिण्डाभ्यव्यवहार जीवन आदि वचन केवली अवर्णवाद है। केवली भोजन करते हैं, केवली कम्बल आदि दस उपकरण रखते हैं, तूम्बी आदि परिग्रह रखते हैं तथा उनके ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति क्रमश: होती है, इत्यादि कथन करना केवली का अवर्णवाद है। **(रा.वा. ८)** वीतरागता व सर्वज्ञपना अर्हन्त में नहीं है क्योंकि जगत् में सम्पूर्ण प्राणी ही राग-द्वेष और अज्ञान से घिरे हुए देखे जाते हैं, ऐसा कहना यह अर्हन्त का अवर्णवाद है। **(भ.आ.वि. ४६)** केवली कवलाहार से जीवित रहते हैं, इत्यादि असद्भूत दोषों का निरूपण करना केवली का अवर्णवाद है। **(हरि. पु. ५८/९६)**

६. प्रश्न : श्रुत किसे कहते हैं ?

उत्तर : केवली के द्वारा कथित और बुद्धि के अतिशयों से युक्त गणधर के द्वारा अवधारित श्रुत कहलाता है। मोह, राग, द्वेषादि दोषों से रहित केवली के द्वारा कथित और बुद्धि आदि ऋद्धियों के अतिशयों के धारी गणधर के द्वारा अवधारित श्रुत कहलाता है। **(रा.वा. २)**

अतिशय बुद्धि वाले गणधरदेव केवली भगवान के उपदेशों का स्मरण करके जो ग्रन्थों की रचना करते हैं वह श्रुत कहलाता है। **(सर्वा. ६३४)**

७. प्रश्न : श्रुत का अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

उत्तर : मांसभक्षण आदि अनवद्य का कथन श्रुत का अवर्णवाद है। मांस-मत्स्य भक्षण करना, मधु और सुरापान करना, कामातुर को रतिदान देना और रात्रि में भोजन करना आदि शास्त्र में कथन है। अर्थात् मांसादि के भक्षण में कोई दोष नहीं है, ऐसा कहना शास्त्र का अवर्णवाद है। **(रा.वा. ९)** अर्हन्त के द्वारा कहा गया श्रुत पुरुष के द्वारा कहा होने से दस अनार जैसे वचनों की तरह अयथार्थ है अतीन्द्रिय वस्तु पुरुष के ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। अज्ञात वस्तु का यदि वह उपदेश करेगा तो उसके उपदेश

में प्रमाणता कैसे आवेगी ? उसके उपदेश से लोगों को जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी प्रमाण कैसे माना जायेगा? (अत: आगमज्ञान प्रमाण नहीं है) ऐसा कहना श्रुतावर्णवाद है। **(भ.आ.वि. ४६)** शास्त्र में मांस-भक्षण आदि निषिद्ध कार्यों का उल्लेख है, इत्यादि कहना श्रुत का अवर्णवाद है। **(हरि. पु. ५८/९६)** 'वस्तु है भी, नहीं भी है इसलिए सब संशयात्मक है' इस रूप से स्याद्वादमय सत्य शास्त्र का अवर्णवाद होता है। **(व.चा. ४/६१)**

८. प्रश्न : संघ किसे कहते हैं ?

उत्तर : रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का समुदाय संघ कहलाता है। **(सर्वा. ६३४)** सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की भावना में परायण चतुर्विध (ऋषि, मुनि, यति, अनगार अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) श्रमणों के समूह को संघ कहते हैं। **(रा.वा. ३)**

अनेक व्रतों और गुणों को धारण करने वाला होने से एक के भी संघत्व की सिद्धि होती है। यद्यपि संघ समूहवाची है फिर भी एक व्यक्ति भी अनेक व्रत गुण आदि का धारक होने से एक के भी संघत्व की सिद्धि होती है। कहा भी है- गुण संघात को संघ कहते हैं। कर्मों का नाश करने और दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र का संघटन करने से संघ कहा जाता है। अत: सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणों का संघटन होने से एक को भी संघ कहा जाता है। **(रा.वा. ४)**

जो संसार के विषय-भोगों की लालसा से रहित बुद्धि मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है, पवित्र होने से महापुरुष जिसको तीर्थ कहते हैं, जिसके समान कोई दूसरा नहीं है, जिसको इन्द्र भी नमस्कार करता है, जिससे जीवों का कल्याण होता है, जिसकी महिमा उत्कृष्ट है, जिसमें गुण निवास करते हैं, उस संघ की सेवा करनी चाहिए। **(सू. मु. २२)**

९. प्रश्न : संघ का अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

उत्तर : शूद्र है, अशुचि है आदि कहना संघ का अवर्णवाद है। ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान आदि नहीं करने से मलिन शरीर वाले हैं, अशुचि हैं, दिगम्बर हैं, निर्लज्ज हैं, इस लोक में ये दु:ख का अनुभव कर रहे हैं और परलोक भी इनका नष्ट हो गया है अर्थात् परलोक में भी ये दु:खी होंगे, इत्यादि वचन कहकर संघ का तिरस्कार करना संघ का अवर्णवाद है। **(रा.वा. १०)**

ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों का समूह संघ कहलाता है- इनके दोष कहना अर्थात् ये शरीर से अपवित्र हैं, शूद्र तुल्य हैं, नास्तिक हैं, आदि कहना संघ का अवर्णवाद है। **(हरि.पु. ५८/९६)** श्रावक, श्राविका, मुनि और आर्यिकाओं के चतुर्विध संघ का, नग्न मुनि तथा 'आर्यिकाओं का आमने-सामने आना भी वासना को जागृत कर देता होगा' के समान अपने मानसिक पतन को प्रकट करके जो बिना सिर-पैर की निन्दा करते हैं, यह संघावर्णवाद है। **(व.चा. ४/६१ भावार्थ)।**

१०. प्रश्न : धर्म का अवर्णवाद[१] किस प्रकार होता है ?

उत्तर : निर्गुणत्वादि कहना धर्म का अवर्णवाद है। जिनेन्द्र द्वारा कथित धर्म निर्गुण है। इसके धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं, इत्यादि कथन करना धर्म का अवर्णवाद है। **(रा.वा. ११)**

धर्म दुर्गति को रोकता है और स्वर्गादि फल देता है, बिना देखे धर्म पर विश्वास कैसे किया जा सकता है। जिस कारण का कार्य विद्यमान हो वह कैसे उत्पन्न नहीं होगा जैसे- अंकुर। यदि धर्म सुखदायक है तो वह उत्पन्न होने के अनन्तर ही सुख क्यों नहीं उत्पन्न करता है, ऐसा कहना धर्म का अवर्णवाद है। **(भ.आ. ४६)**

अहिंसा पर ही जोर देकर राष्ट- को सण्ढ़ (सन्ट) बना दिया है। आदि मिथ्या लांछन लगाना धर्म का अवर्णवाद है। **(व.चा. ४/६१ भावार्थ)**

नोट - धर्म का लक्षण देखें। **(९/६)**

११. प्रश्न : देवों का अवर्णवाद[२] किस प्रकार होता है ?

उत्तर : सुरा, मांस व कामसेवन आदि का दोषारोपण करना देवों का अवर्णवाद है। देव मांस खाते हैं, सुरापान करते हैं, अहल्यादि में आसक्तचित्त थे, इत्यादि कथन करना देवों का अवर्णवाद है। **(रा.वा. १२)**

नोट - देव का लक्षण देखें **(४/१)**

१२. प्रश्न : केवली आदि का ही अवर्णवाद होता है या अन्य का भी ?

उत्तर : हाँ, और भी अवर्णवाद है- स्त्री, वस्त्र, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ, पुष्पमाला और वस्त्रालंकार ये ही सुख के कारण हैं। इन पदार्थों का अभाव होने से सिद्धों को सुख नहीं है। सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है परन्तु वे सिद्धों के नहीं हैं, अत: वे सुखी नहीं है, वे अतीन्द्रिय हैं उनके जानने का कोई साधन नहीं है ऐसा कहना सिद्धों का अवर्णवाद है।

मूर्त्ति में अर्हन्त-सिद्ध आदि पूज्य पुरुष वास नहीं करते हैं क्योंकि उनके गुण मूर्त्ति में दिखते नहीं हैं, ऐसा कहना चैत्यावर्णवाद है। अपनी कल्पना से यही अर्हन्त है और ये सिद्ध आदि हैं इस प्रकार अचेतन पदार्थ में अर्हन्त आदि की स्थापना करने पर भी जैसे बालिकाएँ खेल गुड्डा-गुड्डी आदि में पुत्रादि का काल्पनिक व्यवहार करती हैं उस तरह मुख्य अर्हन्त आदि की सेवा से होने वाला फल प्राप्त नहीं होता। तथा प्रतिबिम्ब आदि में स्थापित अर्हन्त नहीं हैं क्योंकि उनमें उनके गुण नहीं है इसलिए प्रतिबिम्ब आदि अर्हन्त आदि नहीं हैं, ऐसा कहना चैत्य का अवर्णवाद है।

---

१. घर में शुद्धात्मा की अनुभूति मानना तथा सम्यग्दर्शन होने के बाद केवलज्ञान अंश रूप में उद्घाटित रहता है- ऐसा मानना धर्म का अवर्णवाद है।

२. देवों के दस-दस हाथ बना देना, दाढ़ी मूँछ बना देना, क्षेत्रपाल, दुर्गा, काली आदि की स्थापना करना देवों का अवर्णवाद है क्योंकि देवों के समचतुरस्र संस्थान होता है, विक्रिया कैसी भी हो सकती है।

ये साधु केशलोंच उपवासादि के द्वारा अपने आत्मा को दु:ख देते हैं, इसलिए इनके अहिंसाव्रत ही नहीं है, जो छह प्रकार के जीवों से भरे संसार में रहता है वह अहिंसक कैसे हो सकता है? आत्मवध का दोष क्यों न लगेगा। धर्म, पाप और पुण्य दृष्टिगोचर होते नहीं हैं तो भी ये मुनि उनका और उनके फलों (नरक-स्वर्गादि) का वर्णन करते हैं। उनका यह विवेचन झूठ होने से उन्हें सत्यव्रत कैसे हो सकता है, इत्यादि कहना यह साधु अवर्णवाद है। ऐसे ही अन्य में जानना चाहिए। **(भ.आ.वि. ४६)**

कमण्डलु में रुपया-पैसा भरे रहते हैं, आदि भ्रांतियों से सद्गुरुओं का अवर्णवाद है। **(व.चा. ४/६१ भावार्थ)।**

प्रथम अर्हन्त ऋषभदेव मल में पड़े रहते थे, इत्यादि लिखकर वीतराग प्रभु का अवर्णवाद करना। **(व.चा. ४६१ भावार्थ)**

चारित्र मोह के आस्रव के कारण-

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

कषाय-उदयात्-तीव्र-परिणाम:-चारित्र-मोहस्य।

(कषायोदयात्तीव्रपरिणाम:) कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम (चारित्रमोहस्य) चारित्र मोहनीय के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण हैं।

१. प्रश्न : चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : तीव्र कषाय वाला, अत्यधिक मोहयुक्त परिणाम वाला और राग-द्वेष से सन्तप्त जीव कषाय और नोकषाय रूप दोनों प्रकार के चारित्र मोह कर्म को प्रचुरता से बाँधता है जो कि चारित्रगुण का घातक है। **(क. प्र. १४८)** कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणामों से चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है। **(त.सू. ६/१४)**

जिन्हें तीव्रतम क्रोधरूपी कृष्णसर्प ने डस लिया है, जिनके मन को मान की बाढ़ ने हेय-उपादेय के विवेक से वंचित करके निश्चेतन कर दिया है, जिनका अन्त:करण मायारूपी मैल से सर्वथा मलिन हो गया है और लोभ रूपी कालिमा ने जिनकी आँखों को अन्धा कर दिया है, इस प्रकार से सदा ही पाप चिन्ता में मग्न रहने वाले लोग ही चारित्र मोहनीय कर्म का दृढ़ बन्ध करते हैं। **(व.चा. ४/६४-६५)**

२. प्रश्न : कषाय वेदनीय का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : (१) जगदुपकारी, शीलव्रती तपस्वियों की निन्दा करना, धर्म का ध्वंस करना।

(२) धार्मिक कार्यों में विघ्न करना, शील-गुण, देशसंयम, सकल संयम से च्युत करना।

(३) मद्य-मांस से विरक्त जीवों को विचकाना तथा चारित्र में दूषण लगाना।

(४) संक्लेशोत्पादक वेषों और व्रतों को धारण करना।

(५) स्व-पर में कषाय उत्पन्न करने वाली क्रियाओं एवं भावों को करना।

इन सबसे कषाय वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। **(रा.वा. ३)** निज तथा पर को कषाय उत्पन्न कर उद्धत वृत्ति का धारण करना तथा तपस्विजनों के सम्यक् चारित्र में दूषण लगाना कषाय वेदनीय के आस्रव हैं। **(हरि. पु. ५८/९८)**

३. प्रश्न : कषायोदय से होने वाले तीव्र परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के निमित्त से फल देना कर्म का परिपाक है, इसे उदय कहते हैं, कषायों के उदय को कषायोदय कहते हैं तथा कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम (अत्यन्त-संक्लिष्ट भाव) को कषायोदय तीव्र परिणाम कहते हैं। **(श्लो. ६/५१३)**

४. प्रश्न : हास्य अकषाय का आस्रव किन कारणों से होता है ?

उत्तर : बहुत जोर से हँसना, दीन जनों को देखकर हँसना, कन्दर्प (काम-चेष्टा) पूर्वक हँसना, बहुत प्रलाप करना, हास्य रूप स्वभाव होना आदि हास्य अकषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा.३)** हास्य पूर्वक धर्म की हँसी उड़ाना हास्य नामक नोकषाय वेदनीय के आस्रव का कारण है। **(हरि.पु. ५८/९९)**

५. प्रश्न : रति एवं अरति का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : विचित्र क्रीड़ा करना, दूसरे के चित्त को आकर्षित करना, दूसरों को अनेक प्रकार दु:ख देने के भाव होना, देशादि के प्रति अनुत्सुकता, पर-पदार्थों में प्रीति आदि रति अकषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

दूसरों की रति का विनाश, पर में अरति का उत्पादन, पापशील व्यक्तियों की संगति करना, अकुशल क्रियाओं को प्रोत्साहन देना आदि अरति कषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा. ३)** दूसरों को अरति उत्पन्न करना, रति को नष्ट करना और दुष्ट स्वभाव के धारक जनों की सेवा करना रति नामक अकषाय वेदनीय के आस्रव हैं। **(हरि. पु. ५८/१०१)**

६. प्रश्न : शोक और भय का आस्रव किन कारणों से होता है ?

उत्तर : स्वशोक करना, प्रीति के लिए पर का शोक करना, दूसरों के दु:ख उत्पन्न करना, शोक से व्याप्त का अभिनन्दन करना, शोक वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा.३)**

अपने-आपको शोक उत्पन्न करना तथा दूसरों के शोक की वृद्धि देख प्रसन्नता का अनुभव करना शोक अकषाय वेदनीय के आस्रव हैं। **(हरि.पु. ५८/१०२)** स्वयं भयभीत रहना, दूसरों को भयभीत करना, निर्दयता, दूसरों को त्रास देना आदि भय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। **(रा. वा. ३)**

७. प्रश्न : जुगुप्सा वेदनीय अकषाय के कारण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : धर्मात्मा, चतुर्वर्ण आदि की क्रिया, आचार आदि में तत्पर पुरुषों से ग्लानि करना, दूसरों की बदनामी करने का स्वभाव आदि क्रियायें जुगुप्सा वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा. ३)**

उत्तम आचरण करने वाले मनुष्यों के आचार में ग्लानि करना तथा उनकी निन्दा करना जुगुप्सा अकषाय वेदनीय का आस्रव है। **(हरि.पु. ५८/१०४)**

८. प्रश्न : स्त्री वेद के आस्रव के कारण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अत्यन्त क्रोध के परिणाम, अतिमान, अति ईर्ष्या, मिथ्या भाषण, छल-कपट, प्रपञ्च-तत्परता, तीव्रराग, परस्त्री-गमन में आदर, पर स्त्रियों के प्रति अति रुचि, स्त्री भाव में अनुराग, स्त्री का आलिंगन करना आदि। **(रा. वा. ३)** जो पुरुष इस भव में मायाचारी होते हैं, तीव्र राग से युक्त होते हैं अधिककामी होते हैं, धूर्त होते हैं, मैथुन आदि में असंतुष्ट रहते हैं, मन में शोक आदि करते हैं, परस्त्री की इच्छा करते हैं और अत्यधिक मोही होते हैं वे परभव में स्त्रीवेद के उदय से स्त्री होते हैं अर्थात् इन कर्मों से स्त्रीवेद का बन्ध होता है। **(पार्श्व पु. २१/६८-६९)** दूसरे को धोखा देने में अत्यधिक तत्पर रहना, असत्य बोलना तथा राग की अधिकता होना स्त्री अकषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। **(हरि. पु. ५८/१०५)**

९. प्रश्न : पुरुष वेद के आस्रव के कारण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : मंद क्रोध, कुटिलता की निवृत्ति, अभिमान का नहीं होना, निर्लोभ भाव, स्त्री के समागम में अल्पराग, स्वदारसंतोष, ईर्ष्या विशेष का उपरम, ईर्ष्या भाव का नहीं होना, स्नान सुगंधित पदार्थ-माला, आभरण आदि के प्रति आदर भाव का न होना आदि। **(रा.वा. ३)** नम्रता से सहित होना, क्रोध की न्यूनता होना और अपनी स्त्री में संतोष रखना ये पुंवेद अकषाय वेदनीय के आस्रव माने गये हैं। **(हरि.पु. ५८/१०६)**

जो यहाँ सुजन हैं, मन्द रागी हैं, अपनी स्त्री में संतोष करते हैं, ईर्षा तथा तीव्र कषाय आदि से रहित हैं, श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं, शुभ कार्य करते हैं और अनाचार से पराङ्मुख रहते हैं वे परभव में पुंवेद कर्म के उदय से पुरुष होते हैं अर्थात् इन कार्यों से पुरुष वेद का आस्रव होता है। **(पार्श्व पु. २१/६६-६७)**

१०. प्रश्न : नपुंसक वेद के आस्रव के कारण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अत्यन्त क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम रखना, शीलव्रत-गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषों को विचकाना, उनको शील और व्रत आदि से च्युत (भ्रष्ट) करने का प्रयास करना, परस्त्री पर आक्रमण, राग की तीव्रता से अनाचार का सेवन आदि क्रिया एवं भाव से नपुंसक वेद रूप नोकषाय वेदनीय का आस्रव होता है। **(रा.वा. ३)**

दुर्बुद्धि को धारण करने वाले जो नीच मनुष्य अनङ्ग क्रीड़ा में आसक्त होते हैं, जिनका मन तीव्र राग से अन्धा होता है, जो शील रहित हैं, लम्पट हैं, वेश्या, दासी तथा पशु आदि का सेवन करते हैं तथा काम-भोग आदि में भी कभी तृप्त नहीं होते हैं वे नपुंसक वेद के उदय से नपुंसक होते हैं अर्थात् इन कार्यों से नपुंसक वेद का बन्ध होता है। **(पार्श्व पु. २१/७०-७१)**

नरकायु के आस्रव के कारण-

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

बहु-आरम्भ-परिग्रहत्वं-नारकस्य-आयुषः।

(बह्वारम्भपरिग्रहत्वं) बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह (नारकस्यायुषः) नरक आयु के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायु के आस्रव के कारण हैं।

आरम्भ - प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति आरम्भ है।

परिग्रह - 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार का संकल्प करना परिग्रह है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : मोहनीय कर्म के अनेक विकल्पों के आस्रव भेदों का वर्णन किया, अब आयु के चार भेदों के आस्रव के कारणों को कहना चाहिए। इसलिए सर्वप्रथम नियत काल स्थिति के परिपाक वाली जो नरक-आयु है, उसके आस्रव के कारणों को दिखाने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १५)**

२. प्रश्न : आरम्भ किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्राणियों के प्राणों का वियोग करना आरम्भ कहलाता है। **(ध. १३/४६)** आरम्भ हिंसक कर्म (व्यापार) है। हिंसनशील हिंसक होते हैं और उन हिंसकों के कर्महिंस्र हैं, यह आरम्भ कहलाता है। **(रा.वा. २)** उपाधि के सद्भाव में ममत्व परिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्च्छा और उपाधि सम्बन्धी कर्म प्रक्रम के परिणाम जिसका लक्षण है, ऐसा आरम्भ है। **(प्र.सा.ता. २२१)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये बहु[1] शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : अविशेष रूप से यहाँ संख्या, विपुलवाची 'बहु' शब्द का ग्रहण है। बहु शब्द के दो भेद हैं:-

(१) संख्यावाची (२) विपुलवाची।

---

१. लोभ-लालच में पड़कर न करने योग्य को भी करने लग जाना ही 'बहु' शब्द का अर्थ है। जैसे - अमृतफल खाने के लालच में फँस कर सुभौम चक्रवर्ती ने नमस्कार मंत्र को लतिया दिया था।

संख्या में 'एक: द्वौ बहव:' ऐसा होता है और विपुलता में बहुत से भात, बहुत दाल आदि में भी बहुवचन है। इस सूत्र में भी 'बहु' शब्द के दोनों प्रकार के अर्थ विरोधी नहीं हैं इसलिए दोनों का ही ग्रहण है क्योंकि सामान्यपने से दोनों प्रकार का अर्थ घटित हो जाता है। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : किन-किन कारणों से नरकायु का आस्रव होता है ?

उत्तर : नरकायु के आस्रव के कारण-

(१) मिथ्यादर्शन, अशिष्ट आचरण, उत्कृष्ट मान तथा पत्थर की रेखा के समान क्रोध करना।

(२) तीव्र लोभानुराग, अनुकम्पा रहित भाव तथा पर-परिताप में खुश होना।

(३) वध-बन्धन आदि का अभिनिवेश, प्राणभूत सत्त्व और जीवों की सतत हिंसा करना।

(४) प्राणिवध, असत्य भाषणशीलता, परधनहरण, गुपचुप राग चेष्टायें एवं मैथुन प्रवृत्ति करना।

(५) महा आरम्भ, इन्द्रिय परवशता, तीव्र काम भोगाभिलाषा की प्रवृद्धता और नि:शीलता होना।

(६) पाप निमित्तक भोजन का अभिप्राय, बद्धवैरता एवं क्रूरता पूर्वक रोना चिल्लाना।

(७) अनुग्रहरहित स्वभाव, यतिवर्ग में फूट पैदा करना, तीर्थंकर की आसादना, कृष्ण लेश्या से उत्पन्न रौद्र परिणाम और रौद्र ध्यान पूर्वक मरना। **(रा. वा. ३)**

मिथ्यादृष्टि, महा आरम्भी, व्रतशील से रहित, तीव्र लोभ से संयुक्त, पापबुद्धि और रौद्र परिणामी जीव नरकायु को बाँधता है। **(क. प्र. १४९)** बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायु के आस्रव का कारण है। **(त. सू. ६/१५)** हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का अपहरण, इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्ति तथा मरने के समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदि का होना नरकायु के आस्रव के कारण है। **(सर्वा. ६३८)**

५. प्रश्न : बहुत परिग्रह नरकायु के आस्रव का कारण क्यों है ?

उत्तर : परिग्रह प्रणिधान प्रयुक्त (परिग्रह लोलुपी) व्यक्ति तीव्रतर कषाय परिणाम वाले और हिंसा में तत्पर होते हैं। यह बहुत बार जाना गया है, देखा गया है, अनुमान के द्वारा भावित है और सुना गया है। उन कर्मों को आत्मसात् करने से वे व्यक्ति लोहे के तपे हुए गोले के समान कषाय-ज्वालाओं से संतप्त होकर क्रूर कर्मी होते हैं और नरक आयु का आस्रव करते हैं। **(रा.वा. ३)**

६. प्रश्न : बालुका प्रभा तक की आयु का बन्ध किन कारणों से होता है ?

उत्तर : (१) जो स्वयं की प्रशंसा एवं मिथ्या दोषों के द्वारा दूसरों की निन्दा करता है।

(२) जो भीरु है, शोक से खेद-खिन्न है, पर का अपमान करते हैं तथा ईर्ष्याग्रस्त हैं।

(३) जो कार्य-अकार्य को नहीं समझता है, चंचलचित्त होते हुए भी अत्यन्त हर्ष का अनुभव करता है।

(४) जो अपने समान ही दूसरों को भी समझकर किसी का विश्वास नहीं करता है।

(५) जो स्तुति करने वालों को धन देता है और समर संघर्ष में मरने की इच्छा करता है।

उपर्युक्त परिणाम वाले प्राणी कापोत लेश्या से संयुक्त होकर घर्मा (पहली) से मेघा (तीसरी) पृथ्वी पर्यन्त जन्म लेते हैं। **(ति.प. २/३००-२)**

७. प्रश्न : धूमप्रभा तक कौन उत्पन्न होता है ?

उत्तर : (१) जो विषयों में आसक्त है, मतिहीन है और विवेक बुद्धि से रहित है।

(२) जो मूर्ख है, आलसी है, कायर है, प्रचुर माया में संलग्न है, मानी है और निद्राशील है।

(३) जो दूसरों को ठगने में तत्पर है, लोभ में अन्धा है, धन-धान्यजनित सुख का इच्छुक है तथा आहारादि संज्ञाओं में आसक्त है। ऐसा जीव नील लेश्या को धारण कर धूमप्रभा पर्यन्त जन्म लेता है। **(ति. प. २/२९८-९९)**

८. प्रश्न : धूमप्रभा से महातम:प्रभा तक कौन जीव उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : (१) जो पुरुष कृष्णादि तीन लेश्याओं से सहित होते हैं।

(२) जो दया धर्म से रहित होते हैं, कभी शत्रुता का त्याग नहीं करते हैं, प्रचण्ड कलह करने वाले हैं और जो बहुत क्रोधी होते हैं, ऐसे कृष्णलेश्याधारी जीव धूमप्रभा पृथ्वी से लेकर अन्तिम पृथिवी पर्यन्त जन्म लेते हैं। **(ति.प. २/२९६-९७)**

९. प्रश्न : प्रथमादि नरकों की भिन्न-भिन्न आयु का बन्ध क्यों होता है ?

उत्तर : (१) जिस प्रकार ज्ञानवृद्धि आदि परिणाम तारतम्य भाव रूप प्रकर्ष (उत्कृष्ट) होते हैं उसी प्रकार आरम्भ आदि पापानुष्ठान जब प्रकर्ष अवस्था को प्राप्त होते हैं तो उत्कृष्ट नरकायु का बन्ध होता है तथा जब हीन अवस्था को प्राप्त होते हैं तो प्रथमादि नरकायु का बन्ध होता है।

(२) रौद्र ध्यान में अपकर्ष होने से पहले आदि नरकों की आयु का आस्रव होता है। तथा उत्कर्षण (वृद्धि) होने पर पाँचवें आदि नरक की स्थिति वाली आयु का बन्ध होता है। **(श्लो. ६/५१५-१६ के आधार से)**

१०. प्रश्न : क्या सभी मिथ्यादृष्टि जीव नरकायु का आस्रव करते हैं ?

उत्तर : नहीं, जो मिथ्यादृष्टि मद्य पीते हैं, मांस भक्षण करते हैं, जीवों का घात करते हैं, शिकार करके हर्ष मानते हैं, मोह-लोभ तथा क्रोधादि के कारण असत्य भाषण करते हैं, काम से उन्मत्त परस्त्री में आसक्त, रात-दिन मैथुन सेवन करने वाले, भीत को छेद कर सैंध लगाकर, प्रियजन को मारकर, पट्टादिक का ग्रहण, धन का हरण करने वाले तथा अन्य भी सैकड़ों अन्यायों से जीव नरकायु का आस्रव करके नरकों में उत्पन्न होते हैं। **(ति.प. २/३६६-६७)**

११. प्रश्न : नरकायु का आस्रव कौन-कौन से गुणस्थान में होता है ?

उत्तर : नरकायु का आस्रव प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है आगे के सासादन आदि गुणस्थानों में नहीं होता, क्योंकि प्रथम गुणस्थान में उसकी व्युच्छित्ति हो जाती है। (वहाँ नरकायु के आस्रव के कारण-भूत परिणाम नहीं पाये जाते हैं) **(गो. क. ९५)**

तिर्यगायु के आस्रव के कारण-

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

माया-तैर्यग् योनस्य।

(माया) मायाचार (तैर्यग्योनस्य) तिर्यञ्च योनि के आस्रव का कारण है।

अर्थ - मायाचार तिर्यञ्च आयु के आस्रव का कारण है।

माया - चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न जो आत्मा का कुटिल भाव है वह माया कहलाती है।

१. प्रश्न : तिर्यञ्चायु का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : (१) मिथ्यात्व युक्त अधर्म का उपदेश देना, परवंचना का षड्यंत्र करना तथा छल-प्रपंच की रुचि होना।

(२) आर्त्त ध्यान करना, वर्ण-रसादि को विकृत करने की रुचि होना, पृथ्वी की रेखा के समान क्रोध होना और परस्पर फूट डालना।

(३) जाति-कुल-शील संदूषण करना, विसंवाद में रुचि होना एवं किसी के सद्गुणों का लोप करना।

(४) असद्गुणों (खोटे गुणों) का स्थापन करना, नील एवं कापोत लेश्या के परिणाम होना।

उपर्युक्त कारण एवं मरण के समय आर्त्त-रौद्र आदि परिणाम तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण हैं। **(रा. वा. १)**

जो अत्यन्त मायावी हैं, दूसरों को सदा ठगते हैं, जिनके बाट और तराजू झूठे हैं तथा जो एक रस में दूसरे रस को मिला देते हैं जैसे- दूध में पानी, घी में चर्बी आदि ऐसे ही लोग तिर्यञ्च आयु का बन्ध करते हैं। **(व. चा. ४/९४)**

जो विपरीत मार्ग का उपदेशक हो, सच्चे मार्ग का नाश करने वाला हो, गूढ़ हृदय हो अर्थात् दूसरों को ज्ञान न होवे ऐसा जिसके हृदय का परिणाम हो, मायाचारी हो, दुष्ट स्वभाव वाला हो, मिथ्यात्व आदि तीन शल्यों से युक्त हो, वह जीव तिर्यञ्चायु को बाँधता है। **(गो. क. ८०५)**

तिर्यञ्चगति को मायाचारी, परलक्ष्मी के अपहरण में आसक्त, प्रतिदिन कई बार स्नान करने वाले, पशु या वृक्षों के सेवक, आठों प्रहर भक्षक, महामूर्ख, कुशास्त्रज्ञ, व्रत शील आदि से दूर, कापोत लेश्याधारी, आर्त्तध्यानी और मिथ्यादृष्टि मानव पाते हैं। **(महावी.पु. १७/)**

२. प्रश्न : किस प्रकार की माया से तिर्यञ्चायु का आस्रव होता है ?

उत्तर : आर्त्त-ध्यान विशिष्ट मायाचारी तिर्यञ्च आयु का आस्रव कराने वाली मानी गयी है परन्तु अभद्र, क्रूर, अभिमानी, मायाचारी, दम्भी जीवों को धर्ममार्ग तथा न्यायमार्ग में लगाने के लिए और समझाने के लिए जो चतुराई की जाती है तथा धर्मप्रभावना के लिए की गई मायाचारी तिर्यञ्चायु के आस्रव का कारण नहीं है। पापस्वरूप आर्त्तध्यान अपकृष्ट कहा गया है इससे जीवों को तिर्यञ्च गति की प्राप्ति होती है। **(श्लो. ६/५१७)**

३. प्रश्न : किन भावों से कुत्ता आदि नीच तिर्यञ्च बनता है ?

उत्तर : मायाचारी मरकर कुत्ता, महामायाचारी खरगोश, क्रोधी बाघ, महाक्रोधी सिंह, मानी मछली, महामानी साँप, रौद्रध्यान से मरने वाला भेरुण्ड, महारौद्र परिणामों से मरने वाला ऊँट, गुणियों की निन्दा करने वाला शूकर, कुमार्गी मुर्गी और सद्धर्मद्वेषी हिरण होता है। जातिमद वाले मरकर बिलाव, विद्यामद वाले घुग्घू, तपमद करने वाले कुत्ता, ऐश्वर्य मद करने वाले मगर, रूपमद करने वाले गधा, ऋद्धिमद करने वाले घोड़ा, चुगली करने वाले रीछ, हिंसानन्द करने वाले बकरी, सप्त व्यसन सेवन करने वाले घोड़ा या कुत्ता एवं निरन्तर सप्त व्यसन का सेवन करने वाले मरकर जंगली कुत्ता होते हैं। **(धर्मा. उप. कथा)**

४. प्रश्न : किन कारणों से निगोद में जाता है ?

उत्तर : जो जीव नास्तिक है, दुराचारी है, परलोक, धर्म, तप, चारित्र व जिनशास्त्र आदि को नहीं मानते हैं, दुर्बुद्धि, अत्यन्त विषयासक्त, उग्र मिथ्यादृष्टि हैं वे अनन्त दु:खों के अपार सागर निगोद में जाकर उत्पन्न होते हैं। **(वी.व.चा. १७/७८-८०)**

५. प्रश्न : भोगभूमिज तिर्यञ्चों में कौन उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : कोई पात्र विशेष को दान देकर और कोई दान की अनुमोदना करके तिर्यञ्च भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। जो पापी जिनलिङ्ग को ग्रहण करके संयम एवं सम्यक्त्व भाव को छोड़ देते हैं और पश्चात् मायाचार में प्रवृत्त होकर चारित्र को नष्ट कर देते हैं तथा जो कोई मूर्ख मनुष्य कुलिंगियों को नाना प्रकार के दान देते हैं या उनके भेष को धारण करते हैं, वे भोगभूमि में तिर्यञ्च होते हैं। **(ति.प. ४/३७६-७८)**

६. प्रश्न : कौन-कौन से गुणस्थान में तिर्यञ्चायु का आस्रव होता है ?

उत्तर : तिर्यञ्चायु का आस्रव पहले और दूसरे गुणस्थान में ही होता है, उसके आगे मिश्रादि गुणस्थानों में नहीं। (क्योंकि दूसरे गुणस्थान में उसकी व्युच्छित्ति हो जाती है। अत: सिद्ध है कि तीव्र

मायाचारी रूप परिणाम पहले और दूसरे गुणस्थान तक ही पाया जाता है, उसके आगे नहीं होता है।) **(गो.क.९६)**

७. प्रश्न : माया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : माया पाँच प्रकार की होती है-

(१) निकृति (२) उपधि (३) सातिप्रयोग (४) प्रणिधि (५) प्रतिकुञ्चन।

निकृति - धन के विषय में अथवा किसी कार्य के विषय में जिसकी अभिलाषा उत्पन्न हुई है ऐसे मनुष्य का जो फँसाने का चातुर्य है, वह निकृति माया है।

उपधि - अच्छे परिणामों को ढाँककर धर्म के निमित्त चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति करना उपधि संज्ञक माया है।

सातिप्रयोग - धन के विषय में झगड़ा करना, किसी की धरोहर का कुछ भाग हरण कर लेना, प्रयोजन के अनुसार दूषण लगाना अथवा प्रशंसा करना सातिप्रयोग माया है।

प्रणिधि - हीनाधिक कीमत की सदृश वस्तुएँ आपस में मिलाना, तोल माप के बाट (सेर, पंसेरी) आदि साधन से पदार्थ का कम-ज्यादा रख कर लेन-देन करना, मिलावट के द्वारा द्रव्य का विनाश करना यह सब प्रणिधि माया है।

प्रतिकुञ्चन - आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना यह प्रतिकुञ्चन माया है। **(भ.आ.वि.२५)**

८. प्रश्न : माया को किन नामों से कहा जाता है ?

उत्तर : माया को माया, सातियोग, निकृति, वञ्चना, अनृजुता, ग्रहण, मनोज्ञ-मार्गण, कल्क, कुहाक, गूहन और छन्न आदि नामों से कहा जा सकता है।

माया - कपट-प्रयोग माया है।

सातियोग - कुटिल व्यवहार करना सातियोग है।

निकृति - ठगने का अभिप्राय रखना निकृति है।

वञ्चना - विप्रलम्भन होना वञ्चना है।

अनृजुता - योग की कुटिलता का होना अनृजुता है।

ग्रहण - दूसरे के मनोज्ञ अर्थ को प्राप्त करके उसका अपलाप करना ग्रहण है।

मनोज्ञमार्गण - मिथ्या विनय आदि उपचारों द्वारा दूसरों से मनोज्ञ अर्थ को स्वीकार करने का अभिप्राय मनोज्ञमार्गण है।

कल्क - दम्भ को कल्क कहते हैं।

कुहक - झूठे मंत्र, तंत्र और उपदेशादि द्वारा लोक का उपजीवन करना कुहक है।

निगूहन - भीतरी दुराशय का बाह्य में संवरण (छिपाना) करना निगूहन है।

छन्न - छद्म प्रयोग को छन्न कहते हैं। अतिसंधान, विस्रम्भघात आदि छन्न कहलाता है। **(ज.ध. १२/१८८-८९)**

मनुष्यायु के आस्रव के कारण-

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अल्प-आरम्भ-परिग्रहत्वं-मानुषस्य।

(अल्पारम्भपरिग्रहत्वं) अल्प आरम्भ और परिग्रह (मानुषस्य) मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - अल्प[१] आरम्भ और अल्प परिग्रह मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं।

१. प्रश्न : किन-किन कारणों से मनुष्यायु का आस्रव होता है ?

उत्तर : नरकायु के आस्रव के कारणों से विपरीत भाव मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं, वे अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह (आसक्ति) सामान्य से मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा. १)** विशेष कारण -

(१) मिथ्यादर्शन सहित बुद्धि, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव एवं आर्जव परिणाम होना।

(२) अच्छे आचरणों में सुख मानना तथा रेत की रेखा के समान क्रोधादि होना।

(३) सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह, संतोष में रति एवं हिंसा से विरक्त होना।

(४) दुष्ट कार्यों से निवृत्ति, स्वगत-तत्परता, कम बोलना, प्रकृति मधुरता होना।

(५) सबके साथ उपकार बुद्धि रखना, औदासिन्य वृत्ति, ईर्षारहित परिणाम होना।

(६) अल्प संक्लेशता, गुरु-देवता-अतिथि के पूजा-सत्कार में रुचि, दान-शीलता तथा कापोत-पीत लेश्या के परिणाम होना। मरण समय में धर्मध्यान परिणति आदि परिणामों से मनुष्यायु का आस्रव होता है। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : भोगभूमिज मनुष्यों में कौन उत्पन्न होते हैं ?

---

१. अपने काम में आने योग्य वस्तु में से भी कुछ औरों के लिए छोड़ करके शेष में संतोष धारण कर लेना 'अल्प' शब्द का अर्थ है।

उत्तर : भोगभूमि में उत्पन्न होने योग्य जीव-

(१) जो मिथ्यात्व भाव से युक्त होते हुए भी मन्द कषायी है, पैशुन्य और असूयादि दम्भ से रहित है तथा मांसाहार का त्यागी है।

(२) जो मद्य, मधु और उदम्बर फल का त्यागी है, सत्यवादी है, निरभिमान है, वेश्या, चोरी और परस्त्री का त्यागी है तथा गुणियों के गुणों में अनुरक्त है।

(३) जो पराधीन होकर जिनपूजा करते हैं, उपवास से शरीर कृश करते हैं तथा आर्जव आदि से सम्पन्न हैं।

(४) जो योगों से युक्त हैं, सम्यक्त्वी मुनि को आहार देते हैं, वे भोगभूमि में मनुष्य होते हैं।

(५) जो उत्तम एवं विविध प्रकार के योगों से युक्त हैं, अत्यन्त निर्मल सम्यक्त्व के धारक हैं और परिग्रह से रहित ऐसे यतियों को भक्ति से आहार देने में तत्पर हैं।

(६) जिन्होंने पूर्व भव में मनुष्यायु को बाँध लिया है, पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है ऐसे कितने ही सम्यग्दृष्टि पुरुष भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

(७) मिथ्यादृष्टि मनुष्य निर्ग्रन्थ यतियों को दानादि देकर पुण्य का उदय आने पर भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। शेष कितने ही मनुष्य आहारदान, अभयदान, विविध प्रकार की औषधि तथा ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि दान में देकर भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। **(ति.प. ४/३६६-७५)**

३. प्रश्न : कुभोग-भूमि मनुष्यों में कौन उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : (१) जो मिथ्यात्व में रत हैं, मन्द कषायी हैं, प्रिय बोलने वाले हैं, कुटिल हैं, धर्म-फल को खोजने वाले हैं, मिथ्यादेवों की भक्ति में तत्पर हैं।

(२) जो शुद्ध ओदन, सलिलोदन व कांजी खाने के कष्ट से संक्लेश को प्राप्त विषम पंचाग्नि तप कायक्लेश को करने वाले हैं।

(३) सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित अधन्य जीव अज्ञान रूपी जल में डूबते हुए लवणसमुद्र के द्वीपों में कुमानुष उत्पन्न होते हैं।

(४) जो लोग तीव्र अभिमान से गर्वित होकर सम्यक्त्व और तप से युक्त साधुओं का किंचित् भी अपमान करते हैं।

(५) जो दिगम्बर साधुओं की निन्दा करते हैं, जो पापी संयम, तप व प्रतिमा योग से रहित होकर मायाचार में रत रहते हैं।

(६) जो ऋद्धि, रस और सात इन तीन गारवों से महान् होते हुए मोह को प्राप्त हैं तथा जो स्थूल व सूक्ष्म दोषों की गुरुजनों के समीप आलोचना नहीं करते हैं।

(७) जो गुरु के साथ स्वाध्याय व वन्दना कर्म नहीं करते हैं, जो दुराचारी मुनिसंघ को छोड़कर एकाकी रहते हैं।

(८) जो क्रोध से सबसे कलह करते हैं, जो आहार संज्ञा में आसक्त व लोभ कषाय से मोह को प्राप्त होते हैं तथा जो जिनलिङ्ग धारण करके घोर पाप करते हैं।

(९) जो अरहंत और साधुओं की भक्ति नहीं करते हैं, जो चातुर्वर्ण्य संघ के विषय में वात्सल्य भाव से विहीन होते हैं।

(१०) जो जिनलिङ्ग के धारी होकर स्वर्णादिक को हर्ष से ग्रहण करते हैं।

(११) जो घोर पाप में संलग्न रहते हैं, जो अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक के उदित होने से सम्यक्त्व को नष्ट करते हैं।

(१२) जो संयमी के वेश से कन्यादि का विवाह करते हैं तथा मौन के बिना भोजन करते हैं।

उपर्युक्त परिणाम वाले जीव मृत्यु को प्राप्त होकर विषम परिणाम वाले पापकर्मों के फलसे समुद्र के इन द्वीपों में कुत्सित रूप से कुमानुष उत्पन्न होते हैं। **(ति.प. ४/२५४०-५१)**

४. प्रश्न : मनुष्यगति कौन से ध्यान से मिलती है ?

उत्तर : मिश्र ध्यान (अशुभ और शुभ ध्यानों की मिश्रता) से युक्त अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह से मनुष्यगति की प्राप्ति होती है। मनुष्य गति में साता-असाता दोनों मिश्र है। धर्म की अधिकता होने पर सुख अधिक एवं दु:ख गौण हो जाता है तथा पाप का आधिक्य होने पर दु:ख की अधिकता एवं सुख की गौणता हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य गति में सुख और दु:ख दोनों मिश्र रूप हैं। **(श्लो. ६/५१८)**

५. प्रश्न : मनुष्यायु का आस्रव किन-किन गुणस्थानों में होता है ?

उत्तर : देव और नारकियों की अपेक्षा मनुष्य आयु का आस्रव पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में हो सकता है तथा मनुष्य, तिर्यञ्चों की अपेक्षा पहले और दूसरे गुणस्थान में मनुष्य आयु का बन्ध हो सकता है क्योंकि मनुष्य-तिर्यञ्चों के मनुष्य आयु की बन्ध-व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में हो जाती है विशेष इतना है कि भोगभूमिया मनुष्य, तिर्यञ्च तथा अग्निकायिक, वायुकायिक जीवों के मनुष्यायु का बन्ध किसी भी गुणस्थान में नहीं होता है। **(गो.क.जी. ९७, १११)** व तीसरे गुणस्थान में किसी भी जीव के आयु बन्ध नहीं होता है। **(गो.क. के आधार से)**

मनुष्यायु के और भी कारणों को कहते हैं-

स्वभावमार्दवं च ॥१८॥

अर्थ - स्वभाव में मृदुता रखना भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।

स्वभाव मार्दवं - उपदेश की अपेक्षा बिना होने वाली परिणामों की कोमलता 'स्वभाव मार्दव' है।

१. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'च' शब्द समुच्चय अर्थ में है, इस कारण मनुष्य सम्बन्धी आयु के आस्रव हो रहे दूसरे हेतुओं का भी समुच्चय हो जाता है। अर्थात् स्वभाव की मृदुता से मनुष्य और देव दोनों आयु का आस्रव होता है। **(श्लो. ६/५१९)**

२. प्रश्न : पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र का एकयोग क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : 'स्वभावमार्दवं च' सूत्र की पृथक् रचना की गई है क्योंकि इस सूत्र का सम्बन्ध आगे बताये जाने वाले देवायु के आस्रव से भी करना है अर्थात् जैसे स्वाभाविक मार्दव मनुष्यायु का कारण है वैसे- देवायु के आस्रव का भी कारण है, उसकी अपेक्षा से पृथक् सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'स्वभावमार्दवं' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : जिस प्रकार व्याघ्र भेड़िया आदि में स्वभाव से क्रूरता होती है उसी प्रकार उपदेश की अपेक्षा के बिना होने वाली परिणामों की कोमलता 'स्वभावमार्दवं' पद का अर्थ है। मृदु का भाव या कर्म मार्दव है, स्वभाव से होने वाली अर्थात् परोपदेश के बिना होने वाला मार्दव स्वाभाविक मृदुता है। **(श्लो. ६/५१९ के आधार से)**

चारों आयुओं के आस्रव के कारण कहते हैं -

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

(निःशीलव्रतत्वं) शील और व्रत रहितपना (सर्वेषां च) सभी आयुओं के आस्रव का कारण है और मनुष्यायु के आस्रव का कारण है।

अर्थ - शील और व्रतों से रहितपना सभी आयु के आस्रव का कारण है अर्थात् अव्रती चारों आयु का बन्ध करता है।

१. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण क्यों किया गया है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'च' शब्द समुच्चय ग्रहण के लिए है। 'च' शब्द से यह प्रयोजन है कि अल्पारम्भ और अल्प परिग्रहत्व भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है। तथा निःशीलत्व और व्रत-रहितत्व भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है। इस अधिकार प्राप्त मनुष्यायु के समुच्चय के लिए 'च' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'सर्वेषां' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सकल आयु के आस्रव की प्रतिपत्ति किससे होती है ? ऐसी शंका का निवारण करने के लिए सूत्र में 'सर्वेषां' पद का ग्रहण किया है। **(रा.वा. २)** यद्यपि पृथक् सूत्र बनाने से ही शेष आयुओं (नारक, तिर्यञ्च, देवायु) का बोध हो जाता है तथापि सर्वेषां पद का प्रयोजन यह है कि निःशीलत्व और

निर्व्रतत्व देव-आयु के आस्रव का भी कारण है परन्तु भोगभूमिज जीवों की अपेक्षा से है, उसको दिखाने के लिए 'सर्वेषां' पद का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ४)**

३. प्रश्न : यदि सर्वेषां पद का ग्रहण सकल आयु के संग्रह के लिए किया है, तो देवायु के भी आस्रव का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर : 'सर्वेषां' इस पद से देव-आयु का ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि सर्वेषां पद पूर्व कथित तीनों आयुओं की अपेक्षा से कहा गया है। **(रा.वा.३)**

देवायु के आस्रव के कारण-

सरागसंयमसंयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

सरागसंयम-संयमासंयम-अकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य।

(सराग-संयम संयमासंयमाकामनिर्जरा बालतंपासि) सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये (दैवस्य) देवायु के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के आस्रव के कारण हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : तीनों आयु के आस्रव की विधि कही, अब देव-आयु के आस्रव की विधि का विवेचन होना चाहिए। उसके लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. २०)**

२. प्रश्न : देवायु का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : जो जीव सम्यग्दृष्टि है, वह केवल सम्यक्त्व से एवं अणुव्रत-महाव्रतों से देवायु को बाँधता है। तथा जो मिथ्यादृष्टि है वह अज्ञान रूप अणुव्रत-महाव्रतों से तथा बालतप, अकामनिर्जरा से देवायु को बाँधता है। **(गो.क. ८०७)**

अकामनिर्जरा, बाल तप, मन्द कषाय, समीचीन धर्म का सुनना, दान देना, देव, गुरु, धर्म एवं उनके सेवक इन आयतनों की सेवा करना सराग-संयम, देश संयम और सम्यक्त्व ये सब देव-आयु के प्रत्यय हैं। **(त.सा. ४/४२-४३)**

३. प्रश्न : अकामनिर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारक (कारागार) में रोक रखने पर या रस्सी आदि से बाँध रखने पर जो भूख-प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है, भूमि पर सोना पड़ता है, मल-मूत्र रोकना तथा संताप आदि होते हैं, ये सब अकाम हैं और अकाम से जो निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है। **(सर्वा. ६४८)**

अपने अभिप्राय से न की गयी भी विषयों की निवृत्ति (त्याग) परतन्त्रता के कारण भोग-उपभोग का निरोध होने पर उसे शांति से सहन करना अकामनिर्जरा है। **(रा.वा. ६/१२)**

४. प्रश्न : कौन-कौन से कार्य बालतप[१] कहलाते हैं ?

उत्तर : परमार्थ (निश्चय) में अस्थित जीव जो तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन तपों और व्रतों को सर्वज्ञदेव बालतप या बालव्रत कहते हैं। **(स.सा. १५२)**

मिथ्यात्व के कारण मोक्षमार्ग में उपयोगी न पड़ने वाले कायक्लेशबहुल माया से व्रतों का धारण करना बालतप है। **(सर्वा. ६४८)**

अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिए उन कर्मों को बाल तप संज्ञा देकर उनका निषेध किया है।

५. प्रश्न : किस प्रकार के सरागसंयमादि देवायु के आस्रव के कारण हैं ?

उत्तर : धर्म ध्यान अन्वित (युक्त) सरागसंयम देव आयु के आस्रव के कारण हैं। मिथ्यादृष्टि के परोपकार, दयाभाव, सद्धर्मश्रवण, असंक्लेश, कायक्लेश, रसत्याग, उदासीनता परिणाम भी देव आयु के आस्रव के कारण हैं परन्तु आर्त्त और रौद्र ध्यान से युक्त बालतप आदि से देव-आयु का आस्रव नहीं होता है। **(श्लो. ६/५२१)**

६. प्रश्न : सौधर्मादि कल्पवासी देवों की आयु का आस्रव किन कारणों से होता है ?

उत्तर : कल्याणकारी धार्मिक मित्रों की संगति, आयतन सेवा, सद्धर्म श्रवण, स्वगौरवदर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास, तप की भावना, बहुश्रुतत्व, आगमपरता, कषायों का निग्रह, पात्रदान, पीत-पद्म लेश्या के परिणाम सौधर्मादि कल्पवासी देव-आयु के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा. १)**

७. प्रश्न : कन्दर्प आदि देवों की आयु का आस्रव किन कारणों से होता है ?

उत्तर : (१) समाधिमरण के बिना कितने ही जीव देव दुर्गतियों में कन्दर्प, किल्विष, आभियोग्य और सम्मोह आदि देवों में उत्पन्न होते हैं।

(२) जो प्राणी सत्य वचन से रहित हैं, नित्य बहुजन में हास्य करते हैं, जिनका हृदय कामासक्त रहता है वे कन्दर्प देवों में उत्पन्न होते हैं।

(३) जो भूतिकर्म, मन्त्राभियोग और कौतूहलादि से संयुक्त हैं और लोगों की वंचना में प्रवृत्त हैं वे वाहन देवों में उत्पन्न होते हैं।

(४) जो कुमार्ग का उपदेश करने वाले हैं, जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्ग के विरोधी हैं और मोह से संमुग्ध हैं वे सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं। **(ति.प. ३/२०४-८)**

(५) श्रुतज्ञान, केवली व धर्म इन तीनों के प्रति मायावी और ऊपर से इनके प्रति प्रेम व भक्ति

---

१. उत्पथ, मनगढन्त तपश्चरण करने का नाम बालतप है।

दिखाते हुए, परन्तु अन्दर इनके प्रति बहुमान या आचरण से रहित जीव आचार्य व साधु परमेष्ठी को ठगता हैं ऐसे अशुभ विचारों से मुनि किल्विष जाति के देवों में जन्म लेते हैं।

(६) जो द्रव्य लाभ, मिष्ट भोजन और सुख के लिए मन्त्राभियोग्य, कौतूहलोपदर्शन क्रिया अर्थात् अकाल में जलवृष्टि आदि करके दिखाना आदि चमत्कार, भूतिकर्म अर्थात् बालकादिकों की रक्षा के अर्थ मन्त्रप्रयोग के द्वारा भूतों की क्रीड़ा दिखाना, ये सब क्रियाएँ करता है वह आभियोग्य जाति के वाहन देवों में उत्पन्न होता है। **(भ.आ. वि. १८३)**

(७) दसपूर्वधारी जीव सौधर्मकल्प से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त तथा चौदह पूर्वधारी लान्तव कल्प से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जाते हैं।

(८) चार प्रकार के दान में प्रवृत्त, कषायों से रहित एवं पंच परमेष्ठियों की भक्ति से युक्त, ऐसे देशव्रत संयुक्त जीव सौधर्म स्वर्ग से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, आर्जव, लज्जा एवं शीलादि से परिपूर्ण स्त्रियाँ अच्युत कल्प पर्यन्त जाती हैं।

(९८) जो अभव्य जीव जिनलिङ्ग को धारण करते हैं और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

(१०) पूजा, व्रत, तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न, निर्ग्रन्थ भव्य जीव इससे आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

(११) मन्द कषायी एवं प्रिय बोलने वाले कितने ही चार्वाक और परिव्राजक क्रमशः भवनवासियों को आदि लेकर ब्रह्मकल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

(१२) जो कोई पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यञ्च अकामनिर्जरा से युक्त और मन्द कषायी हैं, वे सहस्रार कल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

(१३) जो तनुदण्डन (कायक्लेश) आदि सहित और तीव्र क्रोध से युक्त हैं ऐसे कितने ही आजीवक साधु क्रमशः भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं।

(१४) ईशान कल्प पर्यन्त देव और देवियों (दोनों) की उत्पत्ति होती है। इसके आगे केवल देवों की ही उत्पत्ति है।

(१५) कन्दर्प, किल्विषिक और आभियोग्य देव अपने-अपने कल्प की जघन्य स्थिति सहित क्रमशः ईशान, लान्तव और अच्युत कल्प पर्यन्त होते हैं। **(ति.प. ८/५८०-८९)**

८. प्रश्न : महा ऋद्धि वाले देवों में कौन उत्पन्न होता है ?

उत्तर : (१) जो शम (कषायों का शमन), दम (इन्द्रियों का दमन), यम (जीवनपर्यन्त का त्याग) और नियम आदि से युक्त, निदण्ड (मन, वचन और काय को वश में करने वाले), निर्ममत्व परिणाम

वाले तथा आरम्भ आदि से रहित होते हैं वे साधु इन्द्र आदि की आयु अथवा पाँच अनुत्तरों में ले जाने वाली महर्द्धिक देवों की आयु बाँधते हैं।

(२) सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् तप से युक्त, मार्दव और विनय आदि गुणों से सम्पन्न, तीन गारव और तीन शल्यों से रहित कोई-कोई (साधु) महाऋद्धि धारक देवों की आयु बाँधते हैं।

(३) जो ईर्षा, मात्सर्य भाव, भय और लोभ के वशीभूत होकर वर्तन नहीं करते हैं तथा विविध गुणों और श्रेष्ठ शील से संयुक्त होते हैं वे (श्रमण) महा ऋद्धि धारक देवों की आयु बाँधते हैं।

(४) स्वर्ण-पाषाण, सुख-दु:ख और मित्र-शत्रु में समता भाव रखने वाले श्रमण महाऋद्धि धारक देवों की आयु बाँधते हैं।

(५) शरीर से निरपेक्ष, अत्यन्त वैराग्य भावों से युक्त और रागादि दोषों से रहित (श्रमण) महा ऋद्धि धारक देवों की आयु बाँधते हैं।

(६) जो श्रमण मूल और उत्तर गुणों में, समितियों में, महाव्रतों में, धर्म एवं शुक्ल ध्यान में तथा योग आदि की साधना में सदैव प्रमाद रहित वर्तन करते हैं, वे महाऋद्धि धारक देवों की आयु बाँधते हैं। **(ति.प. ८/५७०-७५)**

जो निष्प्रमाद हो प्राणिमात्र की रक्षा में प्रयत्न करते हैं, जो पंचेन्द्रिय विजेता हैं, जो त्रिकाल योग धारण करते हैं, भूख-प्यास आदि परीषहों को जीतते हैं, आशारूपी बन्धन को जो चूर-चूर कर देते हैं, वे जीव मरकर कल्पों के अधिपति इन्द्र होते हैं। **(व. चा. ९/३५)**

९. प्रश्न : मध्यम ऋद्धि वाले देवों में कौन उत्पन्न होता है ?

उत्तर : (१) जो उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों को औषधि, आहार, अभय और ज्ञान दान देते हैं वे मध्यम ऋद्धिधारक देवों की आयु बाँधते हैं।

(२) लज्जा और मर्यादा रूप मध्यम भावों से युक्त तथा उपशम प्रभृति भावों से संयुक्त कई मध्यम ऋद्धिधारक देवों की आयु बाँधते हैं।

(३) अनादि से प्रकटित संज्ञाओं एवं अज्ञान के कारण अपने चारित्र में अत्यन्त क्लिश्यमान भाव संयुक्त अन्य कई जीव अल्पऋद्धि देवों की आयु बाँधते हैं। दूषित चारित्र वाले, क्रूर, उन्मार्ग में स्थित, निदान भाव सहित और मन्द कषायों में अनुरक्त जीव अल्पर्द्धि देवों की आयु बाँधते हैं। **(ति.प. ८/५७६-७९)**

१०. प्रश्न : भवनवासी देवों की आयु किन कारणों से बँधती है ?

उत्तर : ज्ञान और चारित्र के विषय में जिसने अभी शंका को दूर नहीं किया है, जो क्लिष्ट भाव से युक्त हँ, वे मिथ्यात्व भाव से युक्त हो भवनवासी देवों की आयु बाँधते हैं।

(२) शबल (दोष पूर्ण) चारित्र वाले, उन्मार्ग गामी, निदान भावों से युक्त तथा पापों की प्रमुखता से सहित जीव भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं।

(३) कामिनी के विरह रूपी ज्वर से जर्जरित, कलहप्रिय और पापिष्ठ कितने ही अविनयी जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। **(ति.प. ३/२०१-३)**

(४) जो जीव क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त हैं, संक्लिष्ट चारित्र धारण करते हैं तथा वैर भाव में रुचि रखते हैं वे असुरों में उत्पन्न होते हैं। **(ति. ३/२०९)**

नोट : ज्योतिष्क देवों की आयुबन्ध के कारण भवनवासी देवों के समान ही हैं। **(ति.प. ७/६२२)**

११. प्रश्न : कौन-कौन मरकर कहाँ-कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : (१) पंचाणुव्रतधारी सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च, मनुष्य सौधर्म स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं और यदि ये सम्यक्त्व की विराधना कर देते हैं तो वे भवनवासी आदि देवों में उत्पन्न होते हैं।

(२) तत्त्वज्ञान शून्य बालतप तपने वाले अज्ञानी, तत्त्व-कुत्तत्त्व को नहीं जानने वाले, अज्ञान पूर्वक संयम का पालन करने वाले, क्लेश के अभाव के कारण कोई भवनवासी और व्यंतरादि में उत्पन्न होते हैं।

(३) कोई सौधर्म से सहस्रार स्वर्ग तक तथा कोई मनुष्य एवं तिर्यञ्च पर्याय में भी उत्पन्न हो सकते हैं। अकामनिर्जरा, भूख-प्यास को सहना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, पृथ्वी पर शयन, मलधारण, परितापादि परीषहों से खेद-खिन्न नहीं होना, गूढ़ पुरुषों के बन्धन में पड़ जाने पर भी नहीं घबड़ाना, दीर्घ काल तक रोगी रहने पर भी संक्लेश भाव नहीं करना, वृक्ष या पर्वत के शिखर से झम्पापात करना, अनशन, अग्नि प्रवेश, विषभक्षण आदि में धर्म मानने वाले कुतापस मरकर व्यन्तर-देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते है।

(४) जिसने शील और व्रतों को धारण नहीं किया है किन्तु जिनका हृदय अनुकम्पा से ओतप्रोत हैं, जिनके जलरेखा सदृश रोष है तथा जो भोगभूमि में उत्पन्न हैं, ऐसे तिर्यञ्च और मनुष्य व्यन्तरादि में उत्पन्न होते हैं। **(रा.वा.१)**

१२. प्रश्न : देवायु का आस्रव कौनसे गुणस्थान तक होता है ?

उत्तर : देवायु का आस्रव तीसरे गुणस्थान को छोड़कर प्रथम गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक हो सकता है क्योंकि सप्तम गुणस्थान से आगे किसी भी आयु के आस्रव योग्य परिणाम नहीं पाये जाते हैं। **(गो.क. ९८)**

और भी देवायु के आस्रव के कारण कहते है-

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

अर्थ - सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है।

१. प्रश्न : पुनः देवायु का आस्रव क्यों कहा है ?

उत्तर : सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण है, ऐसा सामान्य कथन होने पर भी सम्यग्दर्शन सौधर्मादि कल्पवासी देव सम्बन्धी आयु के आस्रव का कारण है, यह समझना चाहिए क्योंकि पृथक् सूत्र कहने से यह ज्ञात होता है। **(रा. वा. १)**

२. प्रश्न : ऐसा है तो क्या पूर्व सूत्र में कहे गये सरागसंयमादि भवनत्रिक देवों के आस्रव के कारण हैं ?

उत्तर : नहीं, सरागसंयमादि भवनवासी देवों की आयु के आस्रव के कारण नहीं हैं क्योंकि इसी से उस कथन की सिद्धि हो जाती है, जिस प्रकार सम्यक्त्व सौधर्म आदि विमानवासी देवों की आयु का बन्ध करता है अन्य आयु का नहीं; उसी प्रकार सराग संयम और संयमासंयम भी नियम से स्वर्गों की आयु का ही बन्ध करते हैं क्योंकि सम्यक्त्व के अभाव में सरागसंयम और संयमासंयम नहीं हो सकते हैं। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : सम्यक्त्व से देवायु का ही आस्रव क्यों होता है ?

उत्तर : सम्यक्त्व के होने पर जीव के अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के उदय का अभाव होने से तथा मिथ्यात्व के उदय की हानि हो जाने से जीवों में अजीवपन या तत्त्वों में अतत्त्वपन की श्रद्धा का विनाश हो गया है और मिथ्यात्व के उदय से होने वाली हिंसा की निवृत्ति होने से आत्मा की वृत्ति विशुद्ध हो गई है अतः विशुद्ध वृत्ति के अनुसार सभी आयुओं में प्रकृष्ट मानी गयी देवायु का आस्रव होता है। **(श्लो. ६/५२३)**

४. प्रश्न : क्या देव-नारकियों का सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है ?

उत्तर : नहीं, देव-नारकियों का सम्यक्त्व कभी भी देवायु के आस्रव का कारण नहीं होता है क्योंकि उनके मनुष्यायु की बन्ध व्युच्छित्ति चौथे गुणस्थान में होती है अतः सम्यग्दृष्टि देव-नारकी मनुष्यायु का बन्ध कर लेते हैं लेकिन मनुष्य-तिर्यञ्चों के दूसरे गुणस्थान में ही मनुष्य आयु की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिए उनका सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण होता है। **(गो.क. १०५-१११ के आधार से)**

५. प्रश्न : लौकान्तिक देवों की उत्पत्ति के कौन-कौन से कारण हैं ?

उत्तर : पूर्व भव में जो मुनि स्त्रीजन्य राग से अत्यन्त विरक्त होते हैं तथा राग रहित अत्यन्त उग्र तप करते हैं, वे स्वर्ग में जाकर स्त्रियों के राग से रहित लौकान्तिक देव होते है। **(सि.सा.दी. १५/२९१)**

जो बहुत काल तक बहुत प्रकार के वैराग्य को भाकर संयम से युक्त होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि श्रमण स्तुति-निन्दा, सुख-दुःख और बन्धु-रिपु में समान होते हैं। जो देह के विषयों में निरपेक्ष, तीनों योगों को वश में करने वाले, निर्मम, निरारम्भ और निरवद्य हैं। जो संयोग व वियोग में, लाभ-अलाभ में तथा जीवित और मरण में समदृष्टि होते हैं। जो संयम, समिति, ध्यान एवं समाधि आदि में सदा सावधान हैं। पंच

महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रिय निरोध के प्रति चिरकाल तक आचरण करने वाले तीव्र तपश्चरण से संयुक्त हैं ऐसे विरक्त ऋषि लौकान्तिक देव होते हैं। **(ति. प. ८/६६९-७४)**

६. प्रश्न : सम्यक्त्व की विराधना करने वाला कहाँ जाता है ?

उत्तर : सम्यक्त्व रूपी रत्न पर्वत के शिखर से मिथ्यात्व रूपी पृथ्वी पर पतित प्राणी नरकादिक पर्यायों में अत्यन्त दु:ख प्राप्त कर परम्परा से निगोद में प्रवेश करते हैं।

सम्यक्त्व और देशचारित्र को प्राप्त कर यह जीव विषयसुख के निमित्त चलायमान हुआ नरकों में अत्यन्त दु:ख भोगकर निगोद में प्रविष्ट होता है।

सम्यक्त्व एवं सकल संयम को भी प्राप्त कर विषयों के कारण उनसे चलायमान होता हुआ यह जीव नरकों में अत्यन्त दु:ख प्राप्त कर निगोद में प्रवेश करता है।

सम्यग्दर्शन से विमुख चित्त वाला ज्योतिष और मंत्रादिकों से आजीविका करता हुआ जीव नरकादि में बहुत दु:ख पाकर निगोद में प्रवेश करता है। **(ति.प. २/३५८-६१)**

अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण-

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

योगवक्रता-विसंवादनं-च-अशुभस्य-नाम्नः।

(योगवक्रताविसंवादनं) योग की वक्रता तथा विसंवादन **(अशुभस्य नाम्नः)** अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - योग की वक्रता और विसंवादन अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है।

विसंवादन - अन्यथा प्रवृत्ति करना-कराना विसंवादन है।

१. प्रश्न : अशुभ नाम कर्म का आस्रव किन कारणों से है ?

उत्तर : जो जीव मन, वचन, काय से कुटिल हो, कपट करने वाला हो अपनी प्रशंसा चाहने वाला तथा करने वाला हो, ऋद्धि गारव आदि तीन गारव से युक्त हो वह अशुभ नामकर्म को बाँधता है। योगों की वक्रता एवं विसंवाद करना अशुभ नामकर्म के आस्रव का कारण है। **(क.प्र. १५३)**

अशुभ नाम कर्म के विशेष कारण-

(१) मिथ्यादर्शन, पिशुनता करना, अस्थिर चित्तस्वभावता।

(२) कूटमान-तुलाकरण, कृत्रिम सुवर्ण-मणि रत्न आदि बनाना।

(३) झूठी साक्षी देना, अंग-उपाङ्ग का छेदन करना, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श का स्वरूप विकृत कर देना।

(४) यन्त्र, पिंजरा आदि पीड़ाकारक पदार्थ बनाना, एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का विषय-सम्बन्ध करना।

(५) माया की बहुलता होना, पर-निन्दा करना, आत्मप्रशंसा करना, मिथ्याभाषण करना।

(६) परद्रव्य का हरण करना, महारम्भ करना, महापरिग्रह रखना, उज्ज्वल वेष धारण करना और रूप का घमण्ड करना।

(७) कठोर और असभ्य भाषण करना, क्रोध भाव रखना, अधिक बकवाद करने में अपने सौभाग्य का उपभोग करना, दूसरों को वश में करने के प्रयोग करना।

(८) दूसरे में कुतूहल उत्पन्न करना, बढ़िया-बढ़िया आभूषण पहनने की इच्छा रखना, जिन मन्दिर-चैत्यालय से गन्ध, माल्य, धूप आदि चुरा लेना, किसी की विडम्बना करना और दूसरे का उपहास करना।

(९) ईंट-चूने आदि का भट्टा लगाना, वन में अग्नि लगाना, प्रतिमा तथा प्रतिमा के आयतन (चैत्यालय और जिनकी छाया में विश्राम लिया जाय ऐसे बाग-बगीचों का) विनाश करना, तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ करना।

(१०) पापकर्म जिसमें हो ऐसी आजीविका करना आदि बातों से भी अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है। **(रा.वा. ४)**

जो जीव मन-वचन-काय से कुटिल है, मायाचारी है, तीन प्रकार के गारव से युक्त है वह नरक एवं तिर्यञ्च गति आदि अप्रशस्त नाम कर्म का बन्ध करता है। **(गो.क. ८०८)**

२. प्रश्न : अशुभ नाम कर्म के आस्रव की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : अन्य जीवों को संक्लेश उत्पत्ति का कारण होने से तथा अपने में संक्लेश होने से योग-वक्रता और विसंवाद अशुभ नाम कर्म के आस्रव का कारण है क्योंकि संक्लेश परिणामों से पापकर्मों का आस्रव होता है। **(श्लो. ६/५२४)**

३. प्रश्न : योगवक्रता और विसंवादन में क्या अन्तर है क्योंकि दोनों में योगों की वक्रता होती है ?

उत्तर : यद्यपि योगवक्रता और विसंवादन समान हैं फिर भी उनमें अन्तर है क्योंकि योगवक्रता आत्मगत है तथा विसंवादन आत्मान्तर का प्रयोजक होने से पर से सम्बन्ध रखता है इसलिए पृथक् निर्देश किया है। जैसे- कोई पुरुष सम्यक् अभ्युदय और मोक्ष की कारणभूत क्रियाओं में प्रवृत्ति कर रहा है, उसे मन, वचन, काय के द्वारा विसंवाद कराता है कि तुम ऐसा मत करो, ऐसा करो इत्यादि रूप से प्रवृत्ति कराना विसंवादन है अत: योगवक्रता आत्मगत है और विसंवादन परगत है, यह दोनों में अन्तर है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : अशुभ अंगोपांग का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : जो यहाँ कुतीर्थ में गमन करते हैं, प्राणियों पर अधिक भार लादते हैं, उन्हें पैर से ताड़ित करते हैं, पाप कार्य में गमन करते हैं तथा जीवों को बाधा पहुँचाने वाला बिना देखे निष्प्रयोजन गमन करते हैं वे अंगोपांग नाम कर्म के उदय से पर-भव में लंगड़े होते हैं अर्थात् इन कार्यों से अशुभ अंगोपांग का बन्ध होता है। **(पार्श्व पु. २१/६०-६१)**

५. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'च' शब्द से मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्त का स्थिर न रहना, मापने और तौलने के बाट घट-बढ़ रखना, दूसरों की निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना आदि आस्रवों का समुच्चय होता है। **(सर्वा. ६५२)**

अनुक्त अशुभ नामकर्म के आस्रव का संग्रह करने के लिए 'च' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा.४)**

शुभ नाम कर्म के आस्रव-

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

तत् विपरीतं-शुभस्य।

(**तद्विपरीतं**) अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारणों से विपरीत (**शुभस्य**) शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - योगवक्रता और विसंवादन से विपरीत योगों की सरलता और अविसंवादन शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण हैं।

१. प्रश्न : किन-किन कारणों से शुभ नाम कर्म का आस्रव होता है ?

उत्तर : (१) मन, वचन, काय की सरलता, अविसंवादन, धर्मात्मा पुरुषों का दर्शन करना।

(२) आदर-सत्कार करना, उनके प्रति सद्भाव रखना, संसार से भयभीत रहना।

(३) प्रमाद का त्याग करना, निश्छल चारित्र का पालन करना।

(४) पूर्व में कहे गये अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारणों से विपरीत परिणाम शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण हैं। **(रा.वा. १)**

प्राकृत पंच संग्रह में रसादि गारवों से रहित होना भी शुभ नाम कर्म का प्रत्यय बताया है।

२. प्रश्न : योगवक्रता आदि से विपरीत क्रियायें शुभ नाम कर्म के आस्रव की कारण क्यों होती हैं ?

उत्तर : विशेष शुद्धि का निर्णय होने से अर्थात् विशुद्धि का अंग होने से योगों की सरलता आदि से पुण्य स्वरूप शुभ नाम कर्म का आस्रव हो जाना न्याय प्राप्त है। **(श्लो. ६/५२५)**

तीर्थंकर (षोडशकारण भावना)

तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव-

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ-शक्तितस्त्यागतपसीसाधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य बहुश्रुत प्रवचन भक्तिरावश्यकापरिहाणि र्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

दर्शनविशुद्धि:-विनयसम्पन्नता-शीलव्रतेषु-अनतिचार: अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग-संवेगौ-शक्तित: त्याग-तपसी-साधुसमाधि: वैयावृत्यकरणं-अर्हद्-आचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनभक्ति: आवश्यक-अपरिहाणि: मार्गप्रभावना-प्रवचनवत्सलत्वं इति-तीर्थकरत्वस्य।

(दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतिचार:) दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अनतिचारता **(अभीक्ष्णज्ञानोपयोग संवेगौ)** अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, अभीक्ष्ण संवेग **(शक्तितस्त्याग तपसी)** शक्ति अनुसार त्याग, शक्ति अनुसार तप **(साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरण)** साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण **(अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति:)** अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति **(आवश्यकापरिहाणि:)** आवश्यकों में परिहार नहीं करना **(मार्गप्रभावना)** मार्गप्रभावना **(प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य)** प्रवचन वत्सलत्व ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव की कारण हैं।

अर्थ - दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील-व्रतों में अनतिचारता, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, अभीक्ष्ण-संवेग, शक्ति अनुसार त्याग, शक्ति अनुसार तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकों में परिहार नहीं करना, मार्ग प्रभावना और प्रवचन वत्सलता ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के कारण हैं।

(१) दर्शनविशुद्धि भावना - जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में नि:शंकितादि आठ गुण सहित रुचि करना दर्शनविशुद्धि भावना है।

(२) विनय सम्पन्नता भावना - ज्ञानादि में और ज्ञानधारियों में सत्कार-आदर करना तथा मानादि की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता भावना है।

(३) शीलव्रतेष्वनतिचार भावना - शील और व्रतों में निर्दोष प्रवृत्ति होना शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है।

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना - ज्ञान भावना से नित्य तत्पर रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना है।

(५) अभीक्ष्ण संवेग भावना - संसार के दु:खों से नित्य भयभीत रहना अभीक्ष्ण संवेग भावना है।

(६) शक्तितस्त्याग भावना - अपनी शक्ति के अनुसार पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु देना शक्तित: त्याग भावना है।

(७) शक्तितस्तप भावना - अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर मार्ग अविरोधी कायक्लेश आदि करना शक्तित: तप भावना है।

(८) साधु समाधि भावना - भाण्डागार की अग्निप्रशमन के समान मुनिगणों के तप का संधारण करना साधु समाधि भावना है।

(९) वैयावृत्यकरण भावना - गुणवानों पर दु:ख आने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावृत्यकरण भावना है।

(१०) अर्हद्भक्ति भावना - केवलज्ञान रूपी दिव्यनेत्र के धारी अर्हन्त में भाव युक्त जो अनुराग है वह अर्हद्भक्ति भावना है।

(११) आचार्यभक्ति भावना - आचार्य में भाव विशुद्धि युक्त जो अनुराग है वह आचार्य भक्ति भावना है।

(१२) बहुश्रुतभक्ति भावना - उपाध्याय में भाव शुद्धि युक्त जो अनुराग है वह बहुश्रुत भक्ति भावना है।

(१३) प्रवचनभक्ति भावना - जिनवाणी में भावशुद्धि पूर्वक अनुराग करना प्रवचन भक्ति भावना है।

(१४) आवश्यकापरिहाणि भावना - षड़ावश्यक क्रियाओं को यथाकाल उत्सुकता पूर्वक करना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

(१५) मार्ग प्रभावना भावना - ज्ञान, तप, पूजा-विधि आदि के द्वारा धर्म का प्रकाशन करना मार्ग प्रभावना भावना है।

(१६) प्रवचनवत्सलत्व भावना - बछड़े में गाय के समान धार्मिक जनों में स्नेह प्रवचनवत्सलत्व भावना है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : क्या इतने ही नामकर्म के आस्रव के कारण हैं कि और भी कोई इनके आस्रवों में विशेषता हैं। हाँ विशेषता है, अनन्त, अनुपम, अचिन्त्य विभूतिविशेष का कारणभूत और तीन लोक में विषय करने वाला ऐसा तीर्थंकर नामकर्म है, उसकी आस्रव विधि में विशेषता है। यदि आस्रव में विशेषता है तो उसका

वर्णन करना चाहिए। अत: तीर्थंकर नामकर्म की विशेष विधि को इस सूत्र के द्वारा बताया गया है। **(रा.वा.उ. २४)**

२. प्रश्न : तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिनके ऊपर चन्द्रमा के समान धवल चौंसठ चँवर ढुरते हैं ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामी को श्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर कहते हैं। **(ध. १/५९)**

जो सकल लोक का एक अद्वितीय नाथ है, कुन्द के फूल के समान श्वेत चौंसठ चमर ढुरते हैं वह तीर्थंकर है। **(त्रि.सा. ६८६)** रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को जो प्रचलित करते है उनको तीर्थंकर कहते हैं। **(भ.आ.वि. ३०५)**

जिसके द्वारा भव्य जीव संसार को तिरते हैं वह तीर्थ है। कुछ भव्य श्रुत अथवा आलम्बनभूत गणधरों के द्वारा संसार को तिरते हैं अत: श्रुत और गणधरों को भी तीर्थ कहते हैं। इन दोनों तीर्थों को जो करते हैं वे तीर्थंकर हैं अथवा ''तिसु तिट्ठदित्ति तित्थं'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार तीर्थ शब्द से रत्नत्रय रूप मार्ग कहा जाता है, उसके करने से तीर्थंकर होता है। वे मति आदि चार ज्ञान के धारी होते हैं। **(भ.आ.वि. ३०४)** संसार समुद्र से पार होने के उपाय रूप तीर्थ को करने वाले तीर्थंकर हैं। **(मू.आ. ६६)**

३. प्रश्न : तीर्थंकर के कितने कल्याणक होते हैं ?

उत्तर : तीर्थंकर के पाँच कल्याणक होते हैं-

(१) गर्भ कल्याणक (२) जन्म कल्याणक (३) तप कल्याणक (४) ज्ञान कल्याणक (५) मोक्ष कल्याणक।

४. प्रश्न : गर्भ कल्याणक किसे कहते हैं ?

उत्तर : गर्भ कल्याणक की विशेषताएँ-

(१) तीर्थंकर के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से जन्मपर्यन्त रत्नवृष्टि होती है।

(२) दिक्कुमारी देवियाँ माता की परिचर्या व गर्भशोधन करती हैं।

(३) गर्भ में आने के पूर्व रात्रि में माता को सोलह स्वप्न दिखते हैं जिससे भगवान का अवतरण निश्चित होता है।

(४) देवियाँ गूढ़ अर्थ एवं गूढ़ क्रिया अर्थ वाले प्रश्न पूछती हैं जिनका उत्तर माँ भगवान के प्रभाव से सहज दे देती है।

(प. पु., महा. पु. हरि. पु. के आधार से)

५. प्रश्न : सोलह स्वप्न कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : (१) ऐरावत हाथी (२) श्रेष्ठ बैल (३) सिंह (४) लक्ष्मी (५) दो मालाएँ (६) चन्द्रमा (७) सूर्य (८) मीन युगल (९) दो मंगल कलश (१०) सफेद कमल सहित सरोवर (११) समुद्र (१२) सिंहासन (१३) देव विमान (१४) नाग भवन (१५) रत्नराशि (१६) धूम रहित अग्नि।

स्वप्नों का फल-

(१) ऐरावत हाथी - तीनों लोकों में प्रमुख होगा।

(२) बैल - गम्भीर होगा।

(३) सिंह - अलंघ्य पराक्रम का धारी होगा।

(४) लक्ष्मी - इन्द्रों के द्वारा अभिषेक करने योग्य होगा।

(५) दो माला - अनन्त कीर्ति का धारी होगा।

(६) चन्द्रमाँ - प्रजा की तृप्ति का हेतु होगा।

(७) सूर्य - मोह रूपी अन्धकार का नाशक होगा।

(८) मीन युगल - सभी शोक से मुक्त होगा।

(९) कलश - दिव्य देह में शुभ लक्षण वाला होगा।

(१०) सरोवर - तृष्णा रूपी अग्नि को शान्त करने वाला होगा।

(११) समुद्र - केवलज्ञानी होगा।

(१२) सिंहासन - मुक्ति पाने वाला होगा।

(१३) विमान - स्वर्ग से आयेगा।

(१४) नाग भवन - धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तक होगा।

(१५) रत्नराशि - गुणों का क्रीड़ापर्वत होगा।

(१६) निर्धूम अग्नि - कर्म रूपी जंगल को जलाने वाला होगा। **(च.चा. १६/६३-६६)**

६. प्रश्न : जन्मकल्याणक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जन्मकल्याणक की विशेषताएँ-

(१) तीर्थंकर का जन्म होते ही देवों के भवनों में घण्टा आदि स्वयं बजने लगते हैं जिससे भगवान के जन्म का निश्चय होता है।

(२) सभी देव जन्मकल्याणक मनाने धूम-धाम से पृथ्वी पर आते हैं।

(३) जन्म होते ही देव भगवान को एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर बिठाकर सुमेरु पर्वत

ले जाते हैं और १००८ कलशों से अभिषेक करते हैं।

(४) इन्द्र भगवान के अंगूठे में अमृत स्थापित करता है एवं ताण्डव नृत्य आदि आश्चर्यकारी लीलाएँ करता है।

(५) जन्मकल्याणक को देख अन्य मतावलम्बी समीचीन धर्म को धारण कर लेते हैं।

(६) तीर्थंकर के शरीर में जन्म से ही पसीना नहीं आना आदि दस अतिशय होते हैं।

(७) तीर्थंकर के शरीर में जन्म से ही १००८ कलशादि शुभ लक्षण होते हैं।

(८) भगवान को जन्म से ही मति-श्रुतादि तीन ज्ञान होते हैं। **(प.पु. महा पु. हरि. पु. के आधार से)**

७. प्रश्न : जन्म के दस अतिशय कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर : जन्म के दस अतिशय-

(१) पसीना नहीं आना (२) मल-मूत्र नहीं होना (३) दूध के समान सफेद खून होना (४) समचतुरस्र संस्थान होना (५) उत्तम संहनन होना (६) अनुपम रूप होना (७) सुगन्धित शरीर होना (८) सुलक्षणता (१००८ लक्षण) होना (९) अनन्त बल होना (१०) हित-मित और मधुर वचन बोलना। **(न.भ. ३८-३९)**

८. प्रश्न : तप कल्याणक किसे कहते हैं ?

उत्तर : तप कल्याणक की विशेषताएँ-

(१) कुछ कारण विशेष पाकर भगवान को वैराग्य उत्पन्न होता है।

(२) वैराग्य आते ही लौकान्तिक देव आकर उनके वैराग्य की प्रशंसा करते हैं अथवा वैराग्य वर्द्धक उपदेश देते हैं।

(३) भगवान देव निर्मित पालकी पर विराजमान होते हैं जिसको सर्वप्रथम सात कदम तक राजा (भूमिगोचरी), सात कदम विद्याधर तथा तत्पश्चात् देवगण विभूतिपूर्वक आकाशमार्ग से ले जाते हैं।

(४) करोड़ वाद्यों, बाजों की ध्वनि एवं 'जय हो' 'नन्दो', वर्धो' आदि यशोगीत से आकाश गूंज उठता है।

(५) भगवान अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग कर तथा 'नम: सिद्धेभ्य:' कहकर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

(६) दीक्षा लेते ही भगवान को चौथा मन:पर्यय ज्ञान एवं केवलज्ञान ऋद्धि को छोड़कर शेष त्रेसठ ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं।

(७) नियम पूरा होने पर भगवान यथाविधि आहार ग्रहण करते हैं।

(८) जिसके यहाँ भगवान का आहार होता है वह तद्भव मोक्षगामी होता है। **(प.पु., महा. पु., हरि. पु. के आधार से)**

९. प्रश्न : पंचाश्चर्य कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : (१) रत्नवर्षा (२) दुंदुभि वादन (बाजे बजना) (३) जय-जय शब्द का प्रसार (४) सुगन्धित वायु का संचार (५) पुष्पों (कल्पवृक्ष के पुष्पों) की वर्षा।

(१) आकाश से अधिक-से-अधिक पाँच के घन से गुणित १० लाख अर्थात् साढे बारह करोड़ और कम से कम इसके हजारवें भाग (१२,५०००) रत्न बरसते हैं।

(२) दानविशुद्धि की विशेषता प्रकट करने के निमित्त देव मेघों से अन्तर्हित होते हुए रत्नवृष्टि पूर्वक दुन्दुभि (बाजे) बजाते हैं।

(३) उस समय दान का उद्घोष (जय-जयकार) फैलता है।

(४) सुगन्धित एवं शीतल वायु चलती है।

(५) आकाश से दिव्य फूलों की वर्षा होती है। **(ति.प. ४/६७९-८१)**

१०. प्रश्न : ज्ञान कल्याणक किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान कल्याणक की विशेषताएँ-

(१) चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर भगवान के केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय प्राप्त होते हैं।

(२) पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि आदि आठ प्रातिहार्य प्रगट होते हैं।

(३) भगवान समवशरण स्थित बारह सभाओं के जीवों को धर्मोपदेश देते हैं।

(४) विहार के समय भगवान के चरणक्षेप के स्थान पर दो सौ पच्चीस सहस्रदल स्वर्ण कमलों की रचना होती है।

(५) भगवान कमलों को स्पर्श न करते हुए आकाश में ही चलते हैं।

(६) भगवान के प्रभाव से कालासाँप और नेवला आदि जातिविरोधी जीव भी वैर को छोड़कर परम मित्र बन जाते हैं।

(७) प्रभु के प्रभाव से षट्काल के फल-पुष्पादि फलने-फूलने लगते हैं।

(८) विहार के समय एक हजार आरों वाला, अन्धकार का नाशक दीप्तियुक्त धर्मचक्र आगे-आगे चलता है।

(९) भगवान के प्रभाव से अंधे देखने में तथा पंगु भी पर्वत चढ़ने में समर्थ हो जाते हैं। **(हरि.पु., महा. पु., प.पु. के आधार से)**

११. प्रश्न : भगवान की दिव्य ध्वनि कैसी होती है ?

उत्तर : तीर्थंकर प्रभु की भाषा सार्वार्ध मागधी थी जो कि सर्वाङ्ग से उत्पन्न हुई ध्वनिस्वरूप थी वह सर्व अक्षररूप दिव्य अंगवाली, समस्त अक्षरों की निरूपक, सर्व को आनन्द करने वाली, पुरुषों के सर्व सन्देहों का नाश करने वाली, दोनों प्रकार के धर्म और समस्त तत्त्वार्थ को प्रगट करने वाली थी। **(वी.व.चा. १९/६२-६३)** प्रभु की दिव्यध्वनि सारे श्रेष्ठ भव्य जीवों के लिए उत्तम क्षमा, मार्दव आदि दशलक्षण धर्म का कथन करती है। **(अंगपण्णत्ति १/४२)** भगवान की अलौकिक वाणी ओष्ठ, कण्ठ, तालु, दन्त के हलन-चलन व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्य जनों को आनन्द करने वाली होती है। **(ति.प. १/६२)**

१२. प्रश्न : ज्ञान कल्याणक सम्बन्धी कितने अतिशय होते हैं ?

उत्तर : ज्ञान कल्याणक सम्बन्धी दस अतिशय-

(१) सौ योजन (४०० कोस) तक, ईति-भीतियों से रहित सुभिक्ष (सुकाल) रहता है।

(२) गगनांगण (आकाश) में गमन होता है।

(३) असाता कर्म के अति मन्द उदय होने से कवलाहार रूप भोजन नहीं होना।

(४) समवशरण में तथा विहार करते समय सर्वत्र होने वाली व्याख्यान सभाओं में भगवान चार मुख वाले दिखाई देते हैं।

(५) समस्त विद्याओं का विश्वार्थदर्शक स्वामित्व होना।

(६) तीर्थंकर के दिव्यदेह की छाया नहीं पड़ती।

(७) नेत्रों की कभी पलकें नहीं झपकती हैं।

(८) त्रिलोकीनाथ के नख और केशों की वृद्धि नहीं होती।

(९) मनुष्यादि कृत उपसर्ग नहीं होता है।

(१०) सिंहादि के द्वारा मृगादि को कदाचिद् भी बाधा और भयादि नहीं होना। **(वी.व.चा. १९/५३-६०)**

(१) सौ योजन तक सुभिक्षता (२) आकाश में गमन (३) किसी भी जीव की हिंसा नहीं होना (४) कवलाहार का अभाव (५) उपसर्ग का अभाव (६) चारों तरफ मुख दिखना (७) सर्व विद्याओं का स्वामित्व (८) शरीर की छाया नहीं पड़ना (९) नेत्रों की पलकें नहीं झपकना।(१०) नख-केशों का नहीं बढ़ना। **(न.भ. ४०-४१)**

१३. प्रश्न : देवकृत चौदह अतिशय कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर : देवकृत चौदह अतिशय-

(१) सार्वाधमागधी भाषा (२) परस्पर मित्रता (३) सर्व ऋतुओं के फल-फूल का एक साथ फलना (४) दर्पण के समान निर्मल भूमि होना (५) शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु का बहना (६) सर्वजन परमानन्द होना (७) भूमि-तृण-कण्टक आदि से रहित होना (८) गन्धोदक वृष्टि (९) विहार के समय चरण कमलों के नीचे सुवर्ण-रत्नमयी कमलों की रचना (१०) सर्व प्रकार के धान्य और फलों से सुशोभित पृथ्वी होना (११) सर्व दिशाओं का निर्मल होना (१२) परस्पर आह्वानन (१३) धर्मचक्र का आगे-आगे चलना (१४) आठ मंगल द्रव्य की रचना। **(वी.व.चा. १९/६२-७७)**

१४. प्रश्न : अष्ट महाप्रातिहार्य कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अष्ट महाप्रातिहार्य - (१) अशोक वृक्ष (२) तीन छत्र (३) रत्न खचित सिंहासन (४) भक्तियुक्त गणों द्वारा वेष्टित रहना (५) दुन्दुभि नाद (६) पुष्पवृष्टि (७) भामण्डल (८) चौंसठ चामर **(ति.प. ४/९२४-९३६)** (१) अशोक वृक्ष (२) पुष्प वृष्टि (३) चामर (४) भामण्डल (५) दुन्दुभि नाद (६) तीन छत्र (७) दिव्यध्वनि (८) सिंहासन **(न.भ. ५१-५९)**

१५. प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के कारण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के कारण-

(१) दर्शनविशुद्धि (२) विनयसम्पन्नता (३) शील-व्रतों में अनतिचारता (४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (५) अभीक्ष्ण संवेग (६) शक्तित: त्याग (७) शक्तित: तप (८) साधु समाधि (९) वैयावृत्यकरण (१०) अर्हद्भक्ति (११) आचार्य भक्ति (१२) बहुश्रुत भक्ति (१३) प्रवचन भक्ति (१४) आवश्यकापरिहाणि (१५) मार्गप्रभावना (१६) प्रवचन वत्सलत्व। ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के कारण हैं। **(त.सू. ६/२४)**

(१) दर्शनविशुद्धता (२) विनयसम्पन्नता (३) शील-व्रतों में अनतिचारता (४) छह आवश्यकों में अपरिहीनता (५) क्षण लव प्रतिबोधनता (६) लब्धि संवेग सम्पन्नता (७) यथाशक्ति तप (८) साधुओं को प्रासुक परित्यागता (९) साधुओं को समाधि संधारण (१०) साधुओं की वैयावृत्य योग्य युक्तता (११) अरहन्त भक्ति (१२) बहुश्रुत भक्ति (१३) प्रवचन भक्ति (१४) प्रवचन वत्सलता (१५) प्रवचन प्रभावना (१६) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग युक्तता, इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नामक गोत्र कर्म को बांधता है। **(ध. ८/७९)**

१६. प्रश्न : क्या दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ समुदित होकर तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव का कारण हैं या प्रत्येक भावना तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव की कारण हैं ?

उत्तर : दर्शनविशुद्धि आदि सभी भावनाएँ समुदित होकर भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव कराती

हैं तथा प्रत्येक भावना अलग-अलग भी तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का कारण होती है किन्तु विनयसम्पन्नता आदि भावनाओं के साथ दर्शन विशुद्धि भावना होना आवश्यक है। **(श्लो. ६/५२९)**

१७. प्रश्न : दर्शनविशुद्धि भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थता स्वरूप मोक्षमार्ग में नि:शंकितादि आठ गुण सहित रुचि रखना दर्शनविशुद्धि भावना है। **(सर्वा. सि. ६५६)** अर्थात् ये असंख्यात जीव जिनशासन के अवलम्बन बिना नरक-निगोद के गर्त में डूबते जा रहे हैं, इनका उद्धार कैसे होवे ? इस प्रकार संसार-समुद्र से पार करने की तीव्र भावना युक्त निर्मल सम्यग्दर्शन दर्शनविशुद्धि भावना है।

तीन मूढ़ताओं से रहित और आठ मलों से व्यतिरिक्त जो सम्यग्दर्शन भाव है, उसे दर्शनविशुद्धता कहते हैं। **(ध. पु. ८/७९)** निज शुद्धात्मा की रुचि रूप सम्यक्त्व का जो साधक है ऐसा तीन मूढ़ताओं, पच्चीस मल से रहित तत्त्वार्थ के श्रद्धान रूप लक्षण वाले दर्शन से जो शुद्ध है वे पुरुष दर्शन शुद्ध कहे जाते हैं। **(प्र.सा.ता. ८२)**

नि:शंकित आदि गुणों की आत्मा में परिणति होना यह दर्शन शुद्धि है। यह शुद्धि होने से कांक्षा, विचिकित्सा आदि अशुभ परिणाम रूपी परिग्रहों का त्याग होता है। **(भ.आ.वि. १६९)** यह सम्यग्दर्शन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सामग्री को प्राप्त होकर तथा सम्यग्दर्शन की शक्ति के घात करने वाले तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंकादि आठ दोष इन पच्चीस दोषों को छोड़ने से क्वचित् प्राप्त होता है। **(ज्ञा. ६/८)**

१८. प्रश्न : सम्यग्दर्शन के पच्चीस मल-दोष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन के पच्चीस मल दोष-

शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन एवं तीन मूढ़ता (८+८+६+३) ये पच्चीस दोष हैं। **(ज्ञा. ६/८)**

१९. प्रश्न : शंकादि आठ दोष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : शंकादि आठ दोष-

(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) मूढ़ दृष्टि (५) अनुपगूहन (६) अस्थितीकरण (७) अवात्सल्य (८) अप्रभावना।

शंका - अरहंत देव सच्चे देव हैं या नहीं, क्या यह तत्त्व यथार्थ है अथवा नहीं, यही व्रत है या अन्य व्रत है इस प्रकार की अप्रतीति को शंका दोष कहते हैं।

कांक्षा - यदि सम्यक्त्व और व्रत का कुछ भी माहात्म्य है, तो मैं देव, यक्ष हो जाऊँ अथवा मेरा स्वामी देव हो जाये, इस प्रकार इच्छा करना कांक्षा दोष है।

विचिकित्सा - सन्तों के अतिमलिन, कुरूप और रोगाक्रान्त शरीर को देखकर जो उनके शरीर आदि की निन्दा की जाती है वह जुगुप्सा या विचिकित्सा दोष है।

मूढ़ दृष्टि - मिथ्यामार्ग की और उस पर निष्ठा रखने वालों की मन से प्रशंसा करना, काय से सम्पर्क रखना और वचन से स्तुति करना मूढ़ता है।

अनुपगूहन - उत्तम प्रकार से जैन मार्ग को जानने के कारण अथवा पालन करने में अशक्त होने से लोग जो अन्यथा प्रवृत्ति करते हैं उसको नहीं ढकना अनुपगूहन दोष है।

अस्थितीकरण - परीषह आदि के भय से चारित्र और दर्शन से चल-विचल होने वाले लोगों के प्रति उपेक्षा रखने को ज्ञानियों ने अस्थितीकरण दोष कहा है।

अवात्सल्य - तपोगुण आदि से वृद्ध साधर्मी जनों की जो अवज्ञा की जाती है वह अवात्सल्य है।

अप्रभावना - सामर्थ्य होने पर भी जैन शासन का प्रकाशन नहीं करना उसे सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाला अप्रभावना दोष कहा जाता है। **(गुण. श्रा. १/३०-४३)**

२०. प्रश्न : मद किसे कहते हैं? आठ मद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अपने बल, ऐश्वर्य, रूप, कुल, शक्ति, वैभव, सौन्दर्य, विज्ञान, कला आदि द्वारा अहंकार करना अथवा दूसरे के उत्थान को नहीं देख सकना, ईर्षा-डाह करना मद कहा जाता है।

आठ मद - (१) विज्ञान मद (२) ऐश्वर्य मद (३) आज्ञामद (४) कुल मद (५) बलमद (६) तप मद (७) रूप मद (८) जाति मद। **(मू.आ. ५३)**

(१) ज्ञान मद (२) पूजा मद (३) कुल मद (४) जाति मद (५) बल मद (६) ऋद्धि मद (७) तप मद (८) शरीर मद। **(र.क.श्रा. २५)** शिल्पमद का ज्ञानमद में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

विज्ञान मद - अक्षर ज्ञान और संगीत आदि का ज्ञान होने पर गर्व करना विज्ञान मद है।

ऐश्वर्य मद - द्रव्यादि सम्पत्ति का वैभव होने का गर्व होना ऐश्वर्य मद है।

आज्ञा मद - अपने द्वारा दिये गये आदेश का उल्लंघन न होने का गर्व करना आज्ञा मद है।

कुल मद - पिता की वंश-परम्परा की शुद्धि होना अथवा इक्ष्वाकु वंश, हरि वंश आदि में जन्म लेने का गर्व करना कुल मद है।

बल मद - शरीर, आहार आदि से उत्पन्न हुई शक्ति का गर्व करना बल मद है।

तप मद - शरीर को संतापित करने का गर्व करना तप मद है।

रूप मद - समचतुरस्र संस्थान, गौर आदि वर्ण, सुन्दर कान्ति और यौवन से उत्पन्न हुई रमणीयता का गर्व होना रूप मद है।

जाति मद - माता की वंश-परम्परा की शुद्धि होने का गर्व करना जाति मद है। **(मू.आ. ५३ आ.)**

२१. प्रश्न : जाति मद एवं कुल मद को जीतने हेतु क्या विचार करना चाहिए ?

उत्तर : तिर्यञ्च योनि में परिभ्रमण करने वाली भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों का जो दूध पिया गया है उसका प्रमाण समस्त समुद्रों के जल से भी बहुत अधिक है। तिर्यञ्च और मनुष्यों की स्त्रियों की अनन्त पर्यायों में अपने पुत्र के वियोग से उत्पन्न हुए शोक के कारण जो आँसू निकले हैं, उनका प्रमाण भी समुद्रों के जल से बहुत अधिक है। इसलिए बुद्धिमानों को अपने माता-पिता के कुल को ऊँच-नीच से रहित समझकर मन-वचन-काय से उत्तम जाति और उत्तम कुल का अभिमान छोड़ देना चाहिए। **(मू.प्र. १५७३-७५)**

२२. प्रश्न : ऐश्वर्य एवं रूप का मद जीतने के लिए क्या विचार करना चाहिए ?

उत्तर : इस संसार में चक्रवर्ती आदि राजाओं का ऐश्वर्य भी क्षणभंगुर है। इसके सिवाय इस धन को चोर चुरा ले जाते हैं, शत्रु ले जाते हैं, यही समझ कर ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए मद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। **(मू.प्र. १५७६)**

धन, धान्य, घर, राज्य आदि भी अग्नि, चोर आदि के द्वारा नष्ट होते हैं, किसी की सम्पदा सदा नहीं बनी रहती यही समझकर ऐश्वर्य का मद छोड़ देना चाहिए। **(प्र.श्रा. ११/२०)**

यह सुन्दर रूप रोग, क्लेश, विष और शस्त्रादिक के द्वारा क्षण भर में नष्ट हो जाता है यही समझकर बुद्धिमानों को कभी अपने रूप का मद नहीं करना चाहिए। **(मू.प्र. १५७६)**

यह शरीर सुन्दर होने पर भी अनित्य है, किसी-न-किसी दिन अवश्य नष्ट होगा, यह केवल वस्त्रों से ढका हुआ ही अच्छा दिखता है। वास्तव में बुढ़ापा रोग आदि अनेक व्याधियों से घिरा हुआ है। यही समझकर बुद्धिमानों को रूप का अभिमान छोड़ देना चाहिए। **(प्र.श्रा. ११/२१)**

२३. प्रश्न : क्या विचार करते हुए ज्ञान का मद नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : जैनशास्त्रों से ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों की संख्या समझकर थोड़े से श्रुतज्ञान को पाकर उसका मद कभी नहीं करना चाहिए। **(मू.प्र. १५७८)** बुद्धिमानों को थोड़ा सा ज्ञान पाकर कभी मद नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि पहले के ज्ञानियों की तुलना की जाय तो उनके सामने अब का ज्ञान एक अंश मात्र भी नहीं है। **(प्र.श्रा. ११/२२)**

२४. प्रश्न : क्या विचार करते हुए तप का मद नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : पहले के मुनि उग्र-उग्र तप, महा घोर तपश्चरण का मद नहीं करते थे यही समझकर प्रसन्नता पूर्वक तप के मद को छोड़ देना चाहिए। **(मू.प्र. १५७९)** चतुर पुरुषों को तप का अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि पहले के मुनि जो तप करते थे उसका तो एक अंश भी इस समय नहीं किया जा

सकता। **(प्र.श्रा. ११/२३)**

२५. प्रश्न : क्या विचार करते हुए बल आदि का मद नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : भगवान तीर्थंकर परम देव का बल भी बहुत अधिक है, चक्रवर्ती का बल भी अधिक है और महर्षियों का बल भी बहुत है यही समझकर बलवान पुरुषों को अपने अधिक बल का मद कभी नहीं करना चाहिए। **(मू.प्र. १५७८-८१)**

चतुर पुरुषों को बलवान शरीर पाकर भी उसका अभिमान छोड़ देना चाहिए। क्योंकि यह शरीर केवल अन्नादि से पुष्ट होता है और क्षणभर में नष्ट हो जाता है। सुन्दर लेख आदि कला-कौशल का भी अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस विचित्र सम्यग्दर्शन के लिए उसका अभिमान भी अशुभ ही है। **(प्र.श्रा. ११/२४-२५)**

२६. प्रश्न : मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्यत्र जाने वाली दृष्टि-मूढ़दृष्टि (मूढ़ता) है। **(मू.आ. २०१)**

२७. प्रश्न : मूढ़ता कितनी[१] होती है ?

उत्तर : मूढ़ता अनेक प्रकार की होती है-

---

१. मूढ़ता तीन प्रकार की है- देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और शास्त्रमूढ़ता। इनमें से प्रत्येक के सात-सात भेद हैं- **देवमूढ़ता :** (१) भावदेवमूढ़ता - सर्वदेव वन्दनीय हैं, ऐसे जिनके परिणाम हों वह भाव देवमूढ़ता है। (२) द्रव्यदेवमूढ़ता - सभी देवों को पूजे, माने सो द्रव्यदेवमूढ़ है। (३) परोक्षदेवमूढ़ता - जिनके परिणाम कुलदेवताओं को पूजने, मानने, नमस्कार करने के होते हैं। (४) प्रत्यक्षदेवमूढ़ता - हरिहरादिक देवों को पूजे-माने। (५) लोकदेवमूढ़ता - चण्डी मुण्डी क्षेत्रपाल आदि देवों को पूजे, मनौती बोले, स्त्री-धनादि के निमित्त स्वयं पूजे और लोगों से पुजावे। (६) क्षेत्रदेवमूढ़ता - गृह चैत्यालय देव अरहन्त साक्षात् अपने घर में प्रतिष्ठित की पूजा-सेवा न करे और अपर तीर्थादिक की पूजा-वन्दना को जाये-घर का चैत्यालय अपूज्य रहे। (७) कालमूढ़ता - सुकाल की बेला छोड़कर पूजा करे वह कालमूढ़ है।
गुरुमूढ़ता - (१) भावगुरुमूढ़ता - साक्षात् व्रतधारी परन्तु मिथ्यादृष्टि हो उसे गुरु माने। (२) द्रव्यगुरुमूढता - जो व्रत, सम्यक्त्व से रहित हो उसे गुरुबुद्धि से माने। (३) परोक्षगुरुमूढ़ता - जो हमारे पूर्वज मानते आये हैं, उन्हें हम बड़ा क्यों न मानें, ऐसा कहे। (४) प्रत्यक्षगुरुमूढ़ता - श्वेत, पीत, लाल, वस्त्र सग्रन्थ, जो प्रत्यक्ष दानसंग्रह करे और महाचारित्र से रहित हो उसको गुरुबुद्धि से माने। (५) लोक गुरुमूढ़ता - लोगों की देखादेखी जो कुगुरु को गुरु माने और लोगों से कहे कि वे औरों से तो अच्छे ही हैं, ऐसे भाव होना। (६) क्षेत्रमूढता - चैत्यालय, देहरा में विराजे वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु की पूजा वन्दना न करे और अन्य गुरु को पूजे माने सो क्षेत्रगुरुमूढता है। (७) कालगुरुमूढता - जो गुरु नियत वेला को छोड़कर षड़ावश्यक क्रिया आहार-व्यवहार में वर्ते और उसे जो माने सो कालगुरुमूढ़ता है।
शास्त्रमूढता : (१) भावशास्त्रमूढ़ता - भावशास्त्र १२वें गुणस्थान में होता है सो भावशास्त्र कौन ? शुक्लध्यान का दूसरा पाया एकत्ववितर्क अविचार, भावशास्त्र मूढ कहिए- श्रुतशास्त्र बहुतेरे पढ़े परन्तु शुद्धात्मा विषै दृष्टि नहीं। षष्ठ गुणस्थानादि एकादश प्रर्यन्त तो भावशास्त्र मूढ़ कहिए। (२) द्रव्यशास्त्रमूढ़ - ग्यारह अंग का पाठी मिथ्यादृष्टि। सात तत्त्व, नव पदार्थ, षट् द्रव्य, पंचास्तिकाय, भेदाभेद, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, द्रव्य-गुण-पर्याय, हेय-उपादेय किसी को नहीं जाने सो द्रव्यशास्त्रमूढ़ है। (३) परोक्षशास्त्रमूढ़ - सूक्ष्म अध्यवसाय कैसे हैं, जो तीनों योगते अगोचर होय, तिनका वेत्ता नाहीं, शुभाशुभवेत्ता सो परोक्षशास्त्रमूढ़ कहिये। (४) प्रत्यक्षशास्त्रमूढ - पूजिज्जे अरहंतो, पालिज्जे हिंसाविवज्जिए धम्मो, वंदिज्जे णिग्गंथो संसारे एतियं सारं-ऐसा पढ़े, कहे, प्रतीति न माने, कुछ नहीं जाने सो प्रत्यक्ष सूत्रमूढ़ है।

(१) देव मूढ़ता (२) गुरु मूढ़ता (३) लोक मूढ़ता **(र.क.श्रा.२२४)**

(१) देव मूढ़ता (२) समय मूढ़ता (३) लोक मूढ़ता। **(प्र.श्रा. ११/८-१३)**

(१) लौकिक मूढ़ता (२) वैदिक मूढ़ता (३) सामायिक मूढ़ता **(मू.आ. २०१)**

(१) देव मूढ़ता (२) लोक मूढ़ता (३) वैद मूढ़ता (४) पाखण्डि मूढ़ता **(आ.सा. ३/४४)**

(१) पाखण्डि मूढ़ता (२) देव मूढ़ता (३) तीर्थ मूढ़ता (४) जाति मूढ़ता (५) लोक मूढ़ता। **(म.पु. ७४/४६६-६७)**

२८. प्रश्न : देव मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित, अनन्त ज्ञानादि अनन्त गुणों सहित जो श्री वीतराग सर्वज्ञ देव हैं उनके स्वरूप को नहीं जानता हुआ जीव ख्याति, पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री और राज्य आदि की सम्पदा को प्राप्त होने के लिए जो राग तथा द्वेष से युक्त और आर्त्त-रौद्र परिणामों के धारक क्षेत्रपाल, चंडिका आदि मिथ्या देवों की आराधना करता है, उसे देवमूढ़ता कहते हैं। **(बृ. द्र. सं. ४१)** मूर्ख पुरुष वन्दन करने योग्य कौन है और कौन अवंद्य है, इनका भेद नहीं जानता। यदि उनको भेदज्ञान होता तो विष्ठा भक्षण करने वाली गौ को वे कैसे वन्दन करते। ये मूढ़ लोग पृथ्वी, अग्नि, पानी, देहली, पीपल आदि को देव समझते हैं, यही देवमूढ़ता है। **(सि.सा. १/४२-४३)**

आशावान होता हुआ वर की इच्छा करके राग-द्वेष रूपी मैल से मलिन देवताओं की जो उपासना की जाती है, वह देवमूढ़ता कही जाती है। **(र.श्रा. २३)**

मोह रूपी मदिरा से उन्मत्त सूर्य-चन्द्रमा आदि में आप्त बुद्धि का होना, इन्हें देव मानना देवमूढ़ता है। **(आ.सा. ३/४६)** भगवान वीतराग अरहन्त देव अत्यन्त निर्दोष हैं तथापि अज्ञानी लोग सदोष देवों की पूजा करते हैं, कोई-कोई हीन तो पशुओं की भी पूजा करते हैं। इस प्रकार बिना किसी परीक्षा के वे लोग पुण्य करने के लिए प्रतिदिन मूढ़ भावों को प्राप्त होते रहते हैं उसको विद्वान लोग देवमूढ़ता कहते हैं। **(प्र.श्रा. ११/८-९)**

२९. प्रश्न : क्या क्षेत्रपाल, चण्डिका आदि कुछ भी फल नहीं देते ?

उत्तर : नहीं देते, रावण ने रामचन्द्र और लक्ष्मण का विनाश करने के लिए बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, कौरवों ने पाण्डवों का मूल नाश करने के लिए कात्यायनी विद्या सिद्ध की थी। कंस ने श्रीकृष्ण नारायण के नाश के लिए बहुत सी विद्याओं की आराधना की थी। परन्तु उन विद्याओं ने श्री रामचन्द्र, पाण्डव, नारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं किया और रामचन्द्र आदि ने मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना नहीं की तो

---

(५) लोकमूढ़ - वंश के हेतु, धन के हेतु शास्त्र सुने, लोगों से कहे कि हरिवंश सुनने से वंश होता है, इत्यादि बहुत काजमान सो लोकमूढ़ है। (६) क्षेत्रमूढ़ - जिस क्षेत्र में सप्तधातु, बत्तीस अन्तराय के उपद्रव हो वहाँ सिद्धान्तसूत्र पढ़े और स्त्री, नपुंसक, मनुष्यों को सुनावे सो क्षेत्रमूढ़ है। (७) कालमूढ़ - जो सिद्धान्त सूत्र आदि वेला मांहि न पढे, कालविरुद्ध पढ़े सो कालमूढ़ है।

भी निर्मल सम्यग्दर्शन से उपार्जित जो पूर्वभव का पुण्य था उससे उनके सब विघ्न दूर हो गये। **(बृ.द्र.सं. ४१ टी.)**

३०. प्रश्न : गुरु मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : परिग्रह, आरम्भ और हिंसा सहित संसार चक्र में भ्रमण करने वाले पाखण्डी साधु-तपस्वियों का आदर-सत्कार, भक्ति, पूजादि करना सब पाखंडी या गुरु मूढता है। **(र.क.श्रा. २४)** जो दण्ड, पात्र-वस्त्र तथा बर्तन आदि परिग्रह से युक्त हैं तथा अपने-अपने मिथ्याशास्त्रों से जिनका मन भ्रान्त हो रहा है ऐसे अन्य लिङ्गियों, विविध वेष धारण करने वाले अन्य साधुओं में आदर बुद्धि होना पाखण्डि मूढता है। **(आ.सा. ३/४७)**

३१. प्रश्न : लोकमूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : कौटिल्य, प्राणिरक्षण आदि सम्बन्धी जो धर्म है, उनमें जो विपरिणाम का होना है वह लौकिक मूढ़ता है। **(मू. २५७)**

कौटिल्य - इन्द्रजाल आदि कार्य, पुत्र, भाई, मित्र, पिता, माता, स्वामी आदि के घात करने का उपदेश जो चाणक्य के द्वारा उत्पन्न हुआ है, कौटिल्य धर्म है।

प्राणिरक्षण - मद्य पीना, मांस खाना, इत्यादि का उपदेश आसुरक्षा है। बल को बढ़ाने रोगादि को दूर करने आदि के लिए उपायभूत वैद्य का धर्म है।

लौकिक ग्रन्थ आदि में जो कहा गया है कि पाँचों पाण्डवों की एक पत्नी द्रौपदी थी और कुन्ती भी पाँच पतिवाली थी, पाण्डवों के युद्ध में विष्णु भगवान सारथी थे, आदि रूप से असत् धर्म के प्रतिपादन करने वाले जो धर्म हैं, उन धर्मों के विषय में जो विश्रुति है अर्थात् ये भी सब धर्म हैं, इत्यादि रूप से मोह को प्राप्त होना लौकिक मूढता है। **(मू. २५७ आ.टी.)**

घर, भोजन, अग्नि, पृथिवी, सुवर्ण, रत्न तथा अस्त्र आदि जो-जो पदार्थ मनुष्यों का उपकार करने वाले हैं, उनमें वन्दना करने का भाव होना लोक मूढ़ता है। **(आ.सा. ३/४५)**

(प्रभातादि) काल में स्नान करना, जल में प्रवेश करके मर जाना, अग्नि में जल मरना, गाय की पूंछ आदि को ग्रहण करके मरना, पृथिवी, अग्नि और वटवृक्ष आदि की पूजा करना ये सब पुण्य के कारण हैं, इस प्रकार जो कहते हैं उसको लोकमूढ़ता जानना चाहिए। **(वृ.द्र.सं. ४१ टीका)**

धर्म समझकर गंगा-यमुना आदि नदियों में अथवा सागर में स्नान करना, बालू और पत्थरों आदि का ढेर करना, पर्वत से गिरकर मर जाना और अग्नि में जल जाना लोक मूढ़ता कही जाती है। **(र.क.श्रा.२२)**

भगवान जिनेन्द्र देव ने धर्म का स्वरूप अहिंसामय बताया है, परन्तु अज्ञानी लोग उस पर विचार न कर स्नान, श्राद्ध आदि लोकाचार को ही धर्म मान लेते हैं इसी को जिनेन्द्र देव ने लोकमूढ़ता कहा है।

(प्र.श्रा. ११/१२-१३)

३२. प्रश्न : वैदिक मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : पाप का उपदेश देने वाले वेद तथा अन्य मत के पुराण आदि में सद्बुद्धि होना अर्थात् उन्हें अच्छा मानना वेदमूढ़ता है। यह जीव के संसारभ्रमण का कारण है। **(आ.सा. ३/४८)**

ऋग्वेद, सामवेद, उनके वाक् और अनुवाद आदि से सम्बन्धित जो वेदशास्त्र हैं उन्हें ग्रहण करना वैदिक मूढ़ता है। **(मू. २५८)**

३३. प्रश्न : समय मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : रक्त वस्त्र वाले साधु, चरक, तापस, परिव्राजक आदि तथा अन्य भी पाखण्डी साधु संसार से तारने वाले है इस तरह कोई ग्रहण करता है तो वह समय मूढ़ता वाला है। **(मू. २५९)**

अज्ञानी लोगों के चित्त में चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करने वाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदि को देखकर वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ जो धर्म है उसको छोड़कर मिथ्यादृष्टि देव, मिथ्या-आगम और खोटा तप करने वाले कुलिंगी का भय से, वांछा से, स्नेह से और लोभ से जो धर्म के लिए प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना समय मूढ़ता है। **(बृ. द्र.सं. ४१ टी.)** जैन शास्त्रों में, जैन सिद्धान्त सूत्रों में भगवान जिनेन्द्र देव ने धर्म का यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है तथापि पांचों प्रकार के मिथ्यात्व में लगे हुए अज्ञानी जीव वेद आदि में कहे हुए धर्म को ही मानते हैं। वे लोग श्रेष्ठ विचारों को छोड़कर वेदादि में कहे अनुसार चलते हैं इसको बुद्धिमान लोग शास्त्रमूढ़ता वा समयमूढ़ता कहते हैं। **(प्र.श्रा. ११/१०-११)**

३४. प्रश्न : जाति एवं तीर्थ मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : गौमांस-भक्षण और अगम्यस्त्रीसेवन आदि से लोग पतित हो जाते हैं यह देखा जाता है, इस शरीर में वर्ण तथा आकृति की अपेक्षा कुछ भी भेद देखने में नहीं आता और ब्राह्मणी आदि में शूद्र आदि के द्वारा गर्भ धारण किया जाना देखा जाता है इसलिए जान पड़ता है कि मनुष्यों में गाय और घोड़े के समान जातिकृत कुछ भी भेद नहीं है। यदि आकृति में कुछ भेद होता तो जातिकृत भेद माना जाता परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में आकृति भेद नहीं है अत: उनमें जाति की कल्पना करना अन्यथा नहीं है। (ऐसा मानना जाति मूढ़ता है) **(म.पु. ७४/४८८-४८९)**

यह मणिगङ्गा नाम का उत्तम तीर्थ है, यह समझकर वहाँ स्नान करना आदि तीर्थमूढ़ता है। **(म.पु. ७४/४८०)**

३५. प्रश्न : अनायतन किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यक्त्व आदि गुणों के आयतन, घर, आवास, आस्रव अथवा आधार के निमित्त को आयतन कहते हैं और जो सम्यक्त्व आदि गुणों से विपरीत मिथ्यात्व आदि दोषों के धारण करने का निमित्त है वह अनायतन है। **(बृ.द्र.सं. ४१)**

३६. प्रश्न : अनायतन कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : अनायतन छह प्रकार के होते हैं-

(१) मिथ्यादर्शन (२) मिथ्याज्ञान (३) मिथ्याचारित्र (४) मिथ्यादृष्टि (५) मिथ्याज्ञानी (६) मिथ्यातपसी (कुतपसी)

मिथ्यादर्शन - अज्ञानी जीवों के द्वारा, जो पाप और दु:ख देने वाले कुदेव-कुगुरु और कुधर्म में विश्वास किया जाता है, वह मिथ्यादर्शन है।

मिथ्याज्ञान - मिथ्यादृष्टि जो स्मृति शास्त्र आदि का पठन-पाठन करते हैं और उनके द्वारा पापों को उत्पन्न करने वाला ज्ञान बताते हैं, चतुर पुरुष उसको मिथ्याज्ञान कहते हैं।

मिथ्याचारित्र - अज्ञानी जीव पंचाग्नि तप के द्वारा अथवा और भी कुतपों के द्वारा जो कायक्लेश करते हैं, उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि - जो मिथ्यादर्शन सहित है, श्रेष्ठ तत्त्वों पर अथवा सम्यग्दर्शन पर कभी विचार नहीं करता है और जैनधर्म से बहिर्भूत है उसे विद्वान लोग मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

मिथ्याज्ञानी - जो मनुष्य वेदादि कुशास्त्रों का पठन-पाठन करता है और जिसने सिद्धान्तशास्त्रों को सर्वथा छोड़ दिया है वह मिथ्याज्ञानी है।

कुतपसी - जो पंचाग्नि तप तपता है अथवा और भी तपों में उद्यम करता है उसको मुनीश्वर लोग कुतपसी कहते हैं। **(प्र.श्रा. ११/२८-३४)**

३७. प्रश्न : सम्यग्दर्शन के कितने गुण होते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन के आठ गुण होते हैं -

(१) संवेग (२) निर्वेद (३) निन्दा (४) गर्हा (५) उपशम (६) भक्ति (७) अनुकम्पा और (८) वात्सल्य। **(म.पु.)**

(१) संवेग (२) निर्वेद (३) निन्दा (४) गर्हा (५) प्रशंसा (६) भक्ति (७) वात्सल्य (८) दया। **(अ.श्रा. २/७४-८१)**

(१) नि:शंकित अंग (२) नि:काक्षित अंग (३) निर्विचिकित्सा अंग (४) अमूढ़दृष्टि अंग (५) उपगूहन अंग (६) स्थितीकरण अंग (७) वात्सल्य अंग (८) प्रभावना अंग। **(र.क.श्रा. १/११-१८)**

विशेष - पाँचवें अंग का नाम उपवृंहण अंग भी है।

३८. प्रश्न : संवेगादि का क्या लक्षण है ?

उत्तर : (१) संवेग - हिंसा के विस्तार से रहित अहिंसामयी सत्य धर्म में, राग-द्वेष मोह आदि से रहित देव में तथा सर्व परिग्रह समूह रहित साधु में निश्चल अनुराग संवेग है।

(२) निर्वेद - निन्दित शरीर में, भोग में, कान तक खींचकर छोड़े गये बाण के समान अस्थिर संसार में जो निश्चल वैराग्य होता है वह मुक्ति का कारण निर्वेद है।

(३) निन्दा - स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र आदि के कारण राग-द्वेष उत्पन्न हो जाने पर विरक्त पुरुष के जो पश्चाताप होता है वह पापवृक्ष को नाश करने वाली निन्दा है।

(४) गर्हा - राग-द्वेष आदि दोष हो जाने पर पंचाचार परायण गुरु के निकट भक्ति सहित जो आलोचना की जाती है वह निन्दनीय पाप को नाश करने वाली दोष रहित गर्हा है।

(५) प्रशंसा - सर्व अनर्थ के कारणभूत एवं दुष्कर राग-द्वेष, क्रोध, लोभ आदि विकारी भाव जिस पुरुष के हृदय में निवास नहीं करते वह भव्य शान्तात्मा प्रशंसनीय है।

(६) भक्ति - तीन लोक के स्वामी नरेन्द्र, नागेन्द्र, देवेन्द्र पूजनीय तीर्थंकर भगवान तथा साधु समूह में कपट रहित जो पूजा की जाती है, वह संसार वन को छेदने वाली भक्ति इष्ट कही गयी है।

(७) वात्सल्य - कर्म वन को नष्ट करने की इच्छा वाले निरभिलाषी पुरुष के द्वारा धर्म के आधारभूत मुनि आदि के लिए प्रासुक औषधि आदि से जो वैयावृत्य की जाती है वह वात्सल्य है।

(८) कारुण्य भाव - कर्मोदय से संसार में भ्रमित एवं दु:खी जीवों में महापुरुष के दया भाव को कारुण्य भाव कहा है। **(अ.श्रा. २/७४-८१)**

संवेग - रत्नत्रय रूप धर्म, अभ्युदय निश्रेयसादि प्राप्ति रूप धर्मफल, जिनेश्वर कथित तथा गणधरादि प्रणीत शास्त्र, परिग्रह रहित रत्नत्रयाराधक मुनि वर्ग का इनमें जो स्थिर अनुराग उत्पन्न होता है, उसे संवेग कहते हैं।

निर्वेद - रत्नत्रय रहित पुरुष को उन्मत्त मित्र, पुत्र और स्त्री आदिक सर्वसामग्री मिथ्या कर्म के संयोग से प्राप्त होती है। सिर्फ रत्नत्रय ही आत्मा का स्वभाव है ऐसा चिंतन करना निर्वेद है।

निन्दा - जब आत्मा कषाय से व्याकुल होता है तब वह सज्जय निन्द्य कार्य करता है। परन्तु जब कषाय का वेग कम होता है तब मैंने अयोग्य कार्य किया है, ऐसा जो मन में अनुताप होता है उसे निन्दा कहते हैं। यह निंदा नामक सम्यक्त्व का गुण निन्द्य पाप का नाश करने वाला है।

गर्हा - राग-द्वेषादि दोषों के अधीन होकर जब घोर पाप उत्पन्न होता है तब गुरु के आगे उसकी आलोचना करना यह सम्यक्त्व का गर्हा गुण है।

प्रशम - कोई दुर्निवार तथा बड़ा कलुषता का कारण उत्पन्न होने पर जिसका मन क्षुब्ध नहीं होता वह भव्य जीव शान्तता अर्थात् प्रशम गुण का धारक है।

भक्ति - दोष रहित जिनदेव, मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका रूप चार प्रकार का संघ, रत्नत्रयाराधक मुनि तथा गर्भ जन्मादिक पाँच-कल्याणकों का महोत्सव इत्यादि प्रसंगों में सम्यग्दृष्टि अन्त:करण पूर्वक इच्छा और कपटरहित जो आराधना करता है, वह उसका भक्ति नामक गुण कहा जाता है। यह गुण भव्य अर्थ अर्थात् पुण्यफल रूप संपत्ति की प्राप्ति कराने वाला है। परिणामों की निर्मलता से जो देवादिकों पर अनुराग किया जाता है उसे भक्ति कहते हैं।

वात्सल्य - अन्न, औषधादि के द्वारा चार प्रकार के संघ की जो प्रशंसनीय सेवा-शुश्रूषा मन, वचन-काय से की जाती है उसको वात्सल्य गुण कहते हैं।

३९. प्रश्न : नि:शंकित अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर : सात तत्त्व, नव पदार्थ, तीर्थंकर परमदेव, तीर्थंकर प्रणीत आगम, निर्ग्रन्थ गुरु, जिनेन्द्र कथित दयामय धर्म तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग में सभी प्रकार की शंकाओं का त्याग कर देना चाहिए। इसको नि:शंकित अंग कहते हैं। **(मू.प्र. १५३३-३४)**

आकस्मिक आदि सात भयों का उदय होने पर भवितव्यता दो हेतुओं (निमित्त-उपादान) से उत्पन्न कार्यों के द्वारा अनुमेय है, दुर्लंघ्य है, इस प्रकार भय का अभाव होना नि:शंकित अंग है।

आप्त कथित तत्त्व में क्या यह सत्य है अथवा सत्य नहीं है, इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के वचनों में संशय रहित बुद्धि तथा तत्त्व में अचल प्रीति होना उत्कृष्ट नि:शंकित अंग है। **(आ.सा. ३/५२-५४)** रागादि दोष तथा अज्ञान ये दो असत्य बोलने में कारण हैं और ये दोनों सर्वज्ञ में नहीं हैं। इस कारण श्री जिनेन्द्र देव से निरूपित हेयोपादेय तत्त्व में, मोक्ष में और मोक्षमार्ग में भव्य जीवों को शंका, संशय या संदेह नहीं करना नि:शंकित अंग है। **(बृ. द्र. सं. ४१ टी.)** इहलोकादि सात प्रकार के भयों से रहित होना नि:शंकित है अथवा भगवान अरहंतदेव के कहे हुए अत्यन्त गहन ऐसे द्वादशांग शास्त्र में एक अक्षर वा एक पद के लिए यह है या नहीं, ऐसी शंका न होना नि:शंकित अंग है। **(चा.सा. पृ. ४)**

इहलोकादि सप्त भयों से मुक्त रहना अथवा जिनेन्द्रकथित तत्त्व में 'यह है या नहीं' इस प्रकार की शंका नहीं करना नि:शंकित अंग है।

४०. प्रश्न : सात भय कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : सात भय-

(१) इहलोक भय (२) परलोक भय (३) अत्राण भय (४) अगुप्ति भय (५) मरण भय (६) वेदना भय (७) आकस्मिक भय।

(१) इहलोक भय (२) परलोक भय (३) व्याधि भय (४) मरण भय (५) अगुप्ति भय (६) अरक्षा भय (७) आकस्मिक भय।

इहलोक भय - इस लोक में शत्रु, विष, कंटक आदि से भयभीत होना इहलोक भय है।

परलोक भय - अगले भव में कौनसी गति मिलेगी ? क्या होगा ? आदि सोचकर भयभीत होना परलोक भय है।

अत्राण भय - मेरा कोई रक्षक नहीं है, ऐसा सोचकर डरना अत्राण भय है।

अगुप्ति भय - इस ग्राम में परकोटे आदि नहीं हैं अत: शत्रु आदि से कैसे मेरी रक्षा होगी इस प्रकार सोचकर डरना अगुप्ति भय है।

मरण भय - मरने का भय होना मरण भय है।

वेदना भय - पीड़ा का भय वेदना भय है।

आकस्मिक भय - अकस्मात् मेघगर्जना, विद्युत्पात आदि से डरना आकस्मिक भय है। **(मू. ५३ आ.टी.)**

४१. प्रश्न : क्या सभी सम्यग्दृष्टियों के सातों भय नहीं होते हैं ?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कहा भी है-

सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धबुद्ध एकस्वभाव वाले निर्दोषपरमात्मा की आराधना करने वाले होने से नि:शंक हैं इसलिए वे निर्भय हैं। जिस ही कारण से इसलोक का भय आदि सात भयों से रहित होते हैं। इसलिए ही वे घोर परिषह, उपसर्ग आने पर भी पांडवादि के समान नि:शंक होते हुए अपने शुद्धात्म स्वभाव में निष्कंप रहकर और शुद्धात्मानुभव से उत्पन्न होने वाले वीतराग सुखानन्द में तृप्त रहकर परमात्म स्वभाव से च्युत नहीं होते हैं। **(स.सा.ता. २४४)**

४२. प्रश्न : नि:कांक्षित अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर : वीतरागी पुरुष धर्म के लिए किये गये तपश्चरण आदि धर्म के फल में अज्ञान रूप परिणामों से भी पुत्र, स्त्री, लक्ष्मी, राज्य, भोग आदि सुखों में तथा परलोक में होने वाले इन्द्र, स्वर्ग, अहमिन्द्र, चक्रवर्तित्व आदि के पदों की आकांक्षा नहीं करते। इसी प्रकार कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की भी इच्छा नहीं करते और न शत्रुओं को जीतने की इच्छा करते हैं, इस प्रकार की दुराकांक्षा जो दूर करते हैं वह स्वर्ग मोक्ष को देने वाला सारभूत नि:काक्षित अंग है। **(मू.प्र. १५३९-४१)** सौभाग्य प्राप्त होने में, धर्म से उत्तम भोगों के मिलने में, स्वर्ग के सुखों में, राज्य में और धनादि में इच्छा का त्याग कर देना, इनके प्राप्त होने की इच्छा नहीं करना सो नि:काक्षित अंग है। जो मूर्ख धर्मसेवन कर अपने भोग सेवन करने की इच्छा करता है वह स्वर्ग-मोक्ष को सिद्ध करने वाले अमूल्य रत्न को देकर काच खरीदता है। **(प्र.श्रा. ४/३६-३७)** मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र के उत्कर्ष में अथवा इहलोक और परलोक में प्राप्त होने वाले नाशवंत इन्द्रियजन्य सुख में वाँछा का अभाव होना नि:कांक्षित अंग है। **(आ.सा. ३/५५)**

धर्म को धारण करके इस लोक और परलोक में विषयभोगों की कांक्षा नहीं करना और अन्य कुदृष्टियों की आकांक्षाओं का निरास करना नि:काक्षित अंग है। **(रा.वा. १)**

इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी आशा रूप भोग-आकांक्षा निदान के त्याग द्वारा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों की प्रकटतारूप मोक्ष के लिए दान, पूजा, तपश्चरण आदि करना नि:कांक्षित अंग है। **(बृ.द्र.सं. ४१ टी.)**

४३. प्रश्न : कांक्षा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : कांक्षा तीन प्रकार की होती है–

(१) इहलोक सम्बन्धी (२) परलोक सम्बन्धी (३) कुधर्म सम्बन्धी।

इहलोक कांक्षा - यदि इस लोक में हाथी, घोड़े, द्रव्य, पशु, पुत्र, स्त्री आदि मिलते हैं तब तो यह धर्म सुन्दर है ऐसा सोचना इहलोक कांक्षा है, इस लोक में बलदेव, चक्रवर्ती, सेठ, राजा आदि होने की अभिलाषा करता है, उसके वह इहलोक कांक्षा है।

परलोककांक्षा - परलोक में ये वस्तुएँ मुझे मिलें, भोग प्राप्त होवें तो यह धर्म सुन्दर है, सर्व-लोक पूज्य है, इसे मैं करता हूँ, इस प्रकार सोचना परलोक कांक्षा है। परलोक में स्वर्ग आदि में देवपने की प्रार्थना करता है वह परलोक कांक्षा है।

कुधर्माकांक्षा - लौकिक धर्म सुन्दर है, सर्वजनों से पूज्य है इसको मैं भी धारण कर लूँ ऐसी आकांक्षा होना कुधर्माकांक्षा है। रक्तपट, चरक, तापसी और परिव्राजक आदि के तथा अन्य सम्प्रदाय वालों के धर्म में जो अभिलाषा है वह कुधर्माकांक्षा है। **(मू.आ. २४९-५१ टी.)**

४४. प्रश्न : कांक्षा क्यों नहीं करनी चाहिए ?

उत्तर : यदि कांक्षा के बिना भी सब कुछ मिल सकता है तो क्यों कर कांक्षा करना। तथा कांक्षावान् मनुष्य सभी के द्वारा निंदित भी होता है इसलिए कांक्षा नहीं करना चाहिए। **(मू. २४९ आ.)**

४५. प्रश्न : निर्विचिकित्सा अंग किसे कहते है ?

उत्तर : द्रव्य विचिकित्सा एवं भाव विचिकित्सा इन दोनों विचिकित्साओं को विवेकी पुरुष त्याग देते हैं, उसको समस्त संसार को सुख देने वाला निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं। **(मू.प्र. १५४७)**

शरीरादि के अशुचि स्वभाव को जानकर उसमें शुचित्व के मिथ्या संकल्प को छोड़ देना अथवा अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में 'यह अयुक्त है', 'जिनप्रवचन घोर कष्टदायक है', 'ये जिनकथन घटित नहीं हो सकते' इत्यादि जिनधर्म के प्रति अशुभ भावनाओं से चित्त में विचिकित्सा नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। **(रा.वा. १)**

जैन साधुओं का तप तीव्र है और उस जैन तप में स्नानादि नहीं करना निन्दनीय है, अन्य सब क्रिया समीचीन है, इस प्रकार की मानसिक भावना का त्याग करना निर्जुगुप्सा है। अथवा -

शरीर की अपवित्रता को जानकर रत्नत्रयधारियों के छर्दि, लार आदि को दूर करने में ग्लानि का

अभाव होना निर्जुगुप्सा अंग है। **(आ.सा. ३/५७-५९)** यदि मुनिराज का शरीर रोग से पीड़ित हो अथवा उनके पूरे शरीर में मैल लगा हो, तो भी उन्हें देखकर घृणा न करना और उनके गुणों में प्रेम करना निर्विचिकित्सा अंग है। जिनमार्ग में सब जगह परीषहों का सहन करना ही उत्तम होता है, ऐसा विचारकर घृणा को त्याग देना भावपूर्वक निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है। **(प्र.श्रा. ४/३९-४०)**

४६. प्रश्न : विचिकित्सा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : विचिकित्सा दो प्रकार की होती है-

(१) द्रव्य विचिकित्सा (२) भाव विचिकित्सा।

द्रव्य विचिकित्सा - साधुओं के मल, मूत्र, कफ, नाक का मल, चर्म, हड्डी, पीव, मांस, खून, वमन और पसीने तथा धूलि से युक्त मल को देखकर ग्लानि होना द्रव्य विचिकित्सा है। अथवा - व्याधि से पीड़ित अथवा अन्य मुनि मूत्र, मल, वमन, कफ, थूक, लार आदि के विषय में ये दुर्गन्धित हैं, खराब हैं ऐसा सोचकर घृणा करता है, उन मुनि की वैयावृत्ति नहीं करता है वह द्रव्य विचिकित्सा है।

भाव विचिकित्सा - जैनमत में और तो सभी सुन्दर है किन्तु जो भूख-प्यास या नग्नता से तथा केशलोच आदि से दुःख होता है, वह बुरा है, ठीक नहीं है, ऐसा सोचना भाव विचिकित्सा है। **(मू. २५२-२५३)**

४७. प्रश्न : अमूढ़दृष्टि अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर : चतुर पुरुष अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए बौद्ध आदि अन्य समस्त मतों में वेद स्मृति आदि समस्त अन्य शास्त्रों में, हरि-हर आदि अन्य देवों में और परिग्रह सहित समस्त कुगुरुओं में न तो कभी भक्ति करते हैं और न कभी उपासना करते हैं तथा उनकी भक्ति और उपासना दूसरों से भी कभी नहीं कराते हैं उसको श्रेष्ठ अमूढ़दृष्टि अंग कहते हैं। **(मू.प्र. १५४९-५१)**

प्राणियों के किंपाकफल के समान बाह्य आचरण में मनोज्ञ सुगतादि धर्म मोह और क्लेश को देने वाले हैं इस प्रकार विचार कर मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान-विज्ञान की प्रशंसा और आश्चर्य को छोड़ना तथा युक्तियुक्त जिनेन्द्रकथित धर्म में जो रुचि है वह अमूढ़ता है। **(आ.सा. ३/५९-६०)** देव, गुरु, धर्म, तत्त्व, दान तथा श्री जिनेन्द्रदेव के पूजन में मूर्खता रूप भावों का त्यागकर अमूढ़दृष्टि अंग का सेवन कर। **(शांति पु. ८/३७)** तत्त्व के समान अवभासमान अनेक प्रकार के मिथ्यानयवादियों के मिथ्या-मार्गों में युक्त-अयुक्त भावों की परीक्षा रूपी चक्षुओं के द्वारा भले प्रकार से निर्णय करके उनसे मोह नहीं करना अमूढ़दृष्टि अंग है। **(रा.वा. १)** लोकाचार के अन्दर जो भी मिथ्यादृष्टि के साथ मूढ़ता का व्यवहार है उसका नहीं होना अमूढ़दृष्टि नाम का अंग है। **(मल्लि पु. १/५२)।**

४८. प्रश्न : उपगूहन अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिनेन्द्र कथित जिनशासन स्वभाव से ही निर्दोष है इसलिए उसमें तथा चारों प्रकार के

मुनियों के संघ में यदि किसी बालक या असमर्थ मनुष्य के आश्रय से कोई दोष आ जाय तो चतुर पुरुषों को अनेक उपायों से उसका आच्छादन कर देना उपगूहन अंग है। **(मू.प्र. १५५२-५३)** जिस प्रकार पुत्र के द्वारा किये हुए दोष को माता प्रयत्नपूर्वक ढक देती है उसी प्रकार सद्धर्म के दोषों को ढाकना उपगूहन अंग है। **(आ.सा. ३/६१)** जो सम्यग्दृष्टि दूसरों के दोषों को तो ढाकता है और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता तथा भवितव्य की भावना में रत रहता है, उसे उपगूहन गुण का धारी कहते हैं। **(का.अ. ४१९)**

नोट : इसका दूसरा नाम उपवृंहण अंग भी है।

४९. प्रश्न : उपवृंहण अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्तम क्षमादि धर्म भावनाओं के द्वारा आत्मीय धर्म की वृद्धि करना, आत्मगुणों का विकास करना उपवृंहण अंग है। **(रा.वा. १)** 'उपवृंहण' का अर्थ बढ़ाना होता है। 'वृध् वृद्धि वृद्धौ' इस धातु से 'वृध्' धातु का अर्थ बदला नहीं है। स्पष्ट, अग्राम्य, कान और मन को प्रसन्न करने वाले, वस्तु की यथार्थता को भव्यों के आगे (दर्पण के समान दिखाने वाले ऐसे) धर्मोपदेश के द्वारा तत्त्वश्रद्धान बढ़ाना यह उपवृंहण गुण है। अथवा सर्व जनों को आश्चर्य पैदा करने वाली इन्द्र-प्रमुख देवों के द्वारा जैसी महत्त्वयुक्त पूजा की जाती है, वैसी जिनपूजा करके अथवा दुर्धर तपश्चरण वा आतापनादि योग धारण करके अपने में श्रद्धा गुण उत्पन्न करना इसको भी उपवृंहण कहते हैं। **(भ.आ.वि. ४४)**

५०. प्रश्न : स्थितीकरण अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर : कषायोदय से धर्मभ्रष्ट होने के कारण उपस्थित होने पर भी अपने धर्म से परिच्युत नहीं होना, उसका बराबर पालन करना, स्थितीकरण अंग है। **(रा.वा. १)**

यदि कोई श्रावक या मुनि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से वा घोर तपश्चरण से अथवा परीषह वा उपसर्ग से चलायमान होते हों तो हित करने वाले धर्म रूप वचनों से उनको उनकी उसी क्रिया में स्थिर कर देना स्थितीकरण अंग है। **(मू.प्र. १५५५-५७)** अपने या दूसरों के परीषहों के द्वारा धर्म से उद्विग्न हुए चित्त को संबोधन करके धर्म में उस चित्त को स्थापन करना स्थितीकरण अंग है। **(आ.सा. ३/६२)** सम्यग्दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवों को देखकर धर्म की बुद्धि से हित-मित वचन से उन्हें स्वीकार करके उनको शीघ्र ही उन दोषों से हटाना स्थितीकरण है। **(मू.आ. २६२)** चार प्रकार के संघ में से यदि कोई दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शन-ज्ञान को या चारित्र मोहनीय के उदय से चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे तो यथाशक्ति शास्त्रानुकूल धर्मोपदेश से, धन से या सामर्थ्य से या अन्य किसी उपाय से उसको धर्म में स्थिर कर देना, यह व्यवहार से स्थितीकरण है। **(बृ.द्र.सं. ४१ टी.)**

जीवादि द्रव्य अपने सामान्य और विशेष रूपों से युक्त होकर प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं, ऐसा जिनदेव ने सत्य ही कहा है। ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है। जिनदेव के मत का मैं श्रद्धान करता हूँ। वीतराग, समस्त पदार्थों के यथार्थ रूप को जानने वाले दयालु जिनदेव विपरीत उपदेश नहीं देते, इस

प्रकार की भावना से रत्नत्रय में अस्थिर को स्थिर करना स्थितीकरण है। **(भ.आ.वि. ४४ टी.)**

५१. प्रश्न : सम्यक्त्व से च्युत होने पर किस प्रकार स्थितीकरण करना चाहिए ?

उत्तर : मिथ्यात्व के अभिमुख सम्यग्दृष्टि की अस्थिरता का मूल मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व का अनुभवन करने वाले के कर्मों का ग्रहण होता है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्ध के कारण हैं और उस बन्ध के कारण चौरासी लाख योनियों में अनन्त काल तक संसारभ्रमण करना होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन विचित्र कष्ट, संकट और भय देने वाली नरक गति और तिर्यञ्च गति के लिए वज्रमयी अर्गला है, इन्द्रलोक और मनुष्यलोक में पूर्ण मान्य भोगादि सम्पदा को प्राप्त कराने में चतुर है, क्रम से मोक्ष भी प्राप्त कराता है। इसलिए दु:ख रूपी जल जिसमें बहता है उस मिथ्यादृष्टि रूपी नदी को पार करके जैनी दृष्टि प्राप्त करो। इस प्रकार उसमें (सम्यग्दर्शन) में स्थिर करना स्थितीकरण है। **(भ.आ.वि.४४)**

५२. प्रश्न : सम्यग्ज्ञान से च्युत होने पर किस प्रकार स्थितीकरण करना चाहिए ?

उत्तर : सम्यग्ज्ञान की भावना में प्रमादी आलसी को देखकर उससे ऐसा कहना चाहिए कि ज्ञान हित और अहित को प्रकाशित करने में चतुर होता है। उसके बिना जो हित को नहीं जानता वह कैसे हित में प्रवृत्ति और अहित का परिहार कर सकेगा और हित की प्राप्ति तथा अहित के त्याग के बिना सुख की प्राप्ति और दु:ख से छुटकारा नहीं हो सकता। उसी के लिए तो बुद्धिमान मनुष्य कष्ट उठाता है। अत: पाँच प्रकार की स्वाध्याय का त्याग मत करो। इस प्रकार ज्ञान में स्थितीकरण है। **(भ.आ.वि. ४४)**

अथवा - सूत्र के अर्थ का निश्चय जिसे नहीं है उसे निश्चय कराना। तथा बारम्बार भावना करना आत्मा का स्थितीकरण है। **(भ.आ.वि. ४४)**

५३. प्रश्न : चारित्र से गिरते हुए का किस प्रकार स्थितीकरण करना चाहिए ?

उत्तर : चारित्र से गिरते हुए को देखकर कहना- जो हिंसा आदि पाप कर्मों में लगते हैं वे इसी जन्म में दु:ख भोगते देखे जाते हैं। जो दूसरे को मारने के लिए तैयार होता है वह स्वयं अथवा उसी दूसरे के द्वारा मारा जाता है। अथवा - उसके मित्रों और बन्धुओं के द्वारा पूर्व बैर के उदीर्ण होने से मारा जाता है। मरकर दुर्गति में जाता है। दु:खदायी असातावेदनीय कर्म को बाँधता है। असत्य बोलने वाला इसी लोक में बन्धुजनों के द्वारा द्वेष का भाजन होता है तथा उसका वे विश्वास नहीं करते। फिर दूसरों की तो बात ही क्या ? बलवान पुरुष झूठ बोलने वाले की जिह्वा उखाड़ देते हैं। मरकर परलोक में गूंगा होता है। इस प्रकार असंयम के दोष कहकर और नीरोगता, दीर्घजीवन, सौन्दर्य, प्रियवचन आदि संयम के गुणों का उपदेश देकर चारित्र में स्थिर करना चाहिए।

अथवा - असंयम के दोषों और संयम के गुणों का बारम्बार स्मरण करके अपने को चारित्र में स्थिर करना स्थितीकरण है। **(भ.आ.वि. ४४)**

५४. प्रश्न : वात्सल्य अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाह्य और अभ्यन्तर रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चारों प्रकार के संघ में जैसे गाय की बछड़े में प्रीति रहती है उसके समान, अपनी पाँचों इन्द्रियों के विषयों के निमित्त पुत्र, स्त्री, सुवर्ण आदि में जो स्नेह रहता है उसके समान, स्वाभाविक स्नेह करना वह व्यवहार नय की अपेक्षा से वात्सल्य कहा जाता है। **(बृ.द्र.सं. ४१ टी.)**

जिनागम में चतुर्विध संघ में उपकार की अपेक्षा के बिना प्रमोदकारिणी प्रीति और उपकारित्व होना वात्सल्य अंग है। **(आ.सा. ३/६४)** धर्मात्मा पुरुष अपने धर्म की सिद्धि के लिए स्वर्ग मोक्षगामी चार प्रकार के संघ में तथा धर्म की प्रवृत्ति करने वालों में धर्मबुद्धि से जो अपने बच्चे में सद्यप्रसूत गाय के समान स्नेह और भक्ति करते हैं वह जगत का हित करने वाला वात्सल्य अंग है। **(मू.प्र. १५५८-६०)**

जिन प्रणीत धर्मामृत से नित्य अनुराग रखना वात्सल्य अंग है। **(रा.वा. १)**

चारों गति रूप संसार से पार करने में कारणभूत ऐसे चतुर्विध संघ में वात्सल्य करना चाहिए। जैसे- बछड़े में गौ की आसक्ति होना। **(मू. २६३)**

धार्मिक पुरुषों का प्रयोजन दान-मानादि द्वारा सिद्ध करना, उनके गुणों में प्रीति रूपी सम्पत्ति, हित-मित-प्रिय वचन बोलना, उनका आदर-सत्कार करना और साधर्मी जनों को दान एवं प्रिय वचनों द्वारा सन्तोष उत्पन्न करना यह वात्सल्य अंग माना गया है। **(य.ति.च. ६/२१५)**

५५. प्रश्न : प्रभावना अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्मकथाओं के कहने से, निर्दोष बाह्य योगों से और जीवों में दया वा अनुकम्पा से धर्म की प्रभावना करना चाहिए। **(मू. २६४)**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशित करना प्रभावना अंग है। **(रा.वा. १)**

रत्नत्रय के द्वारा आत्मा का समीचीन भाव से उद्योत करना अथवा सम्यग्ज्ञानादि गुणों के द्वारा सद्धर्म का प्रकाशन करना प्रभावना अंग है। उस ज्ञान के प्रभाव से, महान् अनशनादि गुणों के द्वारा और महापूजादि के द्वारा ऊँचे रूप से जिनधर्म की उन्नति करना चाहिए। **(आ.सा. ३/६६-६७)** जिस प्रकार वृक्ष में जड़ होती है और फिर उसकी शाखाएँ, डालियाँ आदि होती हैं उसी प्रकार मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुण होते हैं। इन मूलगुणों को धारण करके तथा घोर तपश्चरण और ज्ञान-विज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से अन्यमत रूपी अन्धकार का नाश कर विद्वान् लोग इस लोक में जो धर्म का स्वरूप कह कर भगवान अरहंत देव के शासन को प्रकाशित करते हैं, उसको प्रभावना अंग कहते हैं। **(मू.प्र. १५६१-६३)**

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा का प्रभाव प्रगट करना अथवा ज्ञान, तपश्चरण और पूजाओं में ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के द्वारा परमत रूपी खद्योत का प्रकाश ढक देना तथा जिसमें इन्द्रादि बड़े-बड़े देवों के आसनों को कम्पायमान करने की सामर्थ्य है ऐसे बड़े-बड़े महा उपवास आदि श्रेष्ठ

तपश्चरण के द्वारा अपने जैनमत को प्रसिद्ध करना और महापूजा तथा महादान आदि कार्यों के द्वारा धर्म का प्रकाश करना प्रभावना अंग है। **(चा.सा.पृ. १३)**

५६. प्रश्न : सम्यग्दृष्टि कहाँ-कहाँ उत्पन्न नहीं होता है ?

उत्तर : जो विद्वान् शुद्ध सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं वे चाहे व्रत धारण न भी करें तो भी नरक और तिर्यंच गति में उत्पन्न नहीं होते, बहिरे, गंजे, गूंगे, अन्धे नहीं होते, दरिद्री नहीं होते, उनकी आयु कम नहीं होती, उनका शरीर विकृत नहीं होता, उन्हें कभी शोक वा भय नहीं होता, वे कुरूप नहीं होते, निंदनीय नहीं होते, दुष्ट नहीं होते और मूर्ख नहीं होते हैं। **(प्र. श्रा. ११/७४-७६)**

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह जीव भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न नहीं होता है। तथा कल्पवासियों में भी किल्विषिक, आभियोग्य आदि नीच देवों में कभी उत्पन्न नहीं होता है। **(प्र.श्रा. ११/८४)** सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रतरहित होने पर भी नारक, तिर्यञ्च, नपुंसक और स्त्रीपने को तथा नीचकुल, विकलाङ्ग अवस्था, अल्प आयु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता है। **(र.क.श्रा. ३५)**

सम्यग्दृष्टि बारह मिथ्यावादों में भवनवासी आदि तीन देवों में, दूसरे आदि छह नरकों में, मनुष्यों में, स्त्रियों में, नपुंसकों में, पाँच स्थावरों में, विकलत्रयों में, असंज्ञियों में, निगोदों में, म्लेच्छ खण्डों में तथा कुभोगभूमियों में नियम से जन्म नहीं लेता है। **(तत्त्व वि.सा. ९०-९१)**

५७. प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि किसी नरक में नहीं जाता है या तिर्यंच नहीं होता है?

उत्तर : जिसने पहले नरकायु का बन्ध कर लिया है वह सम्यग्दृष्टि प्रथम नरक के आगे नहीं जाता है क्योंकि द्वितीयादि पृथिवियों की अपर्याप्त अवस्था में सम्यग्दर्शन का विरोध है। **(ध. १/२०७)**

जिन्होंने सम्यग्दर्शन होने के पहले तिर्यञ्चायु को बाँध लिया है वे क्षायिक या कृतकृत्यवेदक होकर असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमि के तिर्यञ्चों में ही उत्पन्न होते हैं।

५८. प्रश्न : सम्यग्दृष्टि किन-किन विशेषताओं को प्राप्त होता है ?

उत्तर : (१) सम्यग्दृष्टि जीव उद्यम आदि अनेक गुणों से सुशोभित होते हैं।

(२) तेजस्वी, स्वज्ञान-विज्ञान के पारगामी तथा चतुर होते हैं।

(३) बलवान, उदार, यशस्वी, धन-धान्य आदि विभूतियों के स्वामी होते हैं।

(४) समस्त शत्रुओं के विजेता तथा पुरुषार्थी होते हैं।

(५) १४ महारत्न, छह खण्ड के अधिपति, नौ निधि के स्वामी चक्रवर्ती होते हैं।

(६) पंच कल्याणक, इन्द्रादि से वन्द्य, तीन लोक को क्षुभित (आश्चर्य चकित) करने वाले, धर्म चक्र से युक्त, अनन्त महिमावन्त तीर्थंकर होते हैं। **(र.क.श्रा.)**

सम्यग्दृष्टि को अणिमादि ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, मति आदि तीन ज्ञान होते हैं, उनका शरीर दिव्य

होता है, वे धीर-वीर होते हैं, समस्त आभरणों से सुशोभित होते है केवल मानसिक अमृताहार से तृप्त रहते है, रोग-क्लेश आदि दु:खों से सदा रहित होते है, दिव्य वस्त्रों से सदा सुसज्जित रहते हैं और मेरु पर्वत के समान सदा निष्कम्प अचल रहते हैं। और भी अनेक मनुष्य और देवों के सुखों को भोग कर सात-आठ भव के बाद मोक्ष को प्राप्त कर लेते है। **(प्र.श्रा. ११/७७-९३)**

५९. प्रश्न : सम्यग्दृष्टि कैसा होता है ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि पुत्र, स्त्री आदि समस्त पदार्थों में गर्व नहीं करता, उपशम भाव को भाता है, अपने को तृण के समान मानता है। विषयों में आसक्त होता हुआ भी तथा समस्त आरम्भों को करता हुआ भी 'यह मोह का विलास है' ऐसा मानकर सबको हेय समझता है। जो उत्तम गुणों को ग्रहण करने में तत्पर रहता है, उत्तम साधुओं की विनय करता है तथा साधर्मी जनों से अनुराग करता है वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है। वह देह में रहते हुए भी जीव को ज्ञान गुण (ज्ञान गुण की अपेक्षा शरीर) से भिन्न जानता है। तथा जीव से मिले हुए भी शरीर को वस्त्र की तरह भिन्न जानता है। जो वीतराग अर्हन्त को देव मानता है, सब जीवों पर दया को उत्कृष्ट धर्म मानता है और परिग्रह के त्यागी को गुरु मानता है, वही सम्यग्दृष्टि है। **(का.अ. ३१३-१७)**

६०. प्रश्न : विनयसम्पन्नता भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्ज्ञानादि मोक्ष के साधनों में तथा ज्ञानादि के साधन (निमित्त) गुरु आदि में योग्य रीति से सत्कार आदर करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता भावना है। **(रा.वा. २)** सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदि के प्रति अपने योग्य आचरण आदर-सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना विनयसम्पन्नता है। **(सर्वा. ६५६)**

सधर्मा, गुरु, वृद्ध और परमागम के विषय में अधिक विनय करना विनयसम्पन्नता कहलाती है।

६१. प्रश्न : क्या विनयसम्पन्नता भावना अकेली तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव की कारण है?

उत्तर : हाँ, विनयसम्पन्नता भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति को बाँधता है। वह इस प्रकार है-

(१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय और (३) चारित्र विनय के भेद से विनय तीन प्रकार का है।

ज्ञान विनय - बारम्बार ज्ञानोपयोग से युक्त रहने के साथ बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति का नाम ज्ञान विनय है।

दर्शन विनय - आगमोपदिष्ट सर्व पदार्थों के श्रद्धान के साथ तीन मूढ़ताओं से रहित होना, आठ मलों को छोड़ना, अरहंत भक्ति, सिद्ध भक्ति, क्षणलव प्रतिबुद्धता और लब्धि संवेग सम्पन्नता को दर्शन विनय कहते हैं।

चारित्र विनय - शीलव्रतों में निरतिचारता, आवश्यकों में अपरिहीनता अर्थात् परिपूर्णता और शक्त्यनुसार तप का नाम चारित्र विनय है।

साधु को प्रासुक आहारादिक दान, उनकी समाधि का धारण करना, उनकी वैयावृत्य में उपयोग

लगाना और प्रवचनवत्सलता ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों की विनय है क्योंकि रत्नत्रय समूह को साधु व प्रवचन संज्ञा प्राप्त है। इसी कारण क्योंकि विनयसम्पन्नता एक भी होकर सोलह अवयवों से सहित है, अत: उस एक विनयसम्पन्नता से मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म को बाँधता है। **(ध. ८/८०-८१)**

६२. प्रश्न : चारित्र विनय के अभाव में देव-नारकियों के विनयसम्पन्नता कैसे सम्भव है ?

उत्तर : यद्यपि देव-नारकियों के चारित्र विनय नहीं है फिर भी उनके ज्ञान विनय और दर्शन विनय की सम्भावना देखी जाती है। तथा तीन विनयों के समूह से होने वाला कार्य भी दो विनयों से ही सिद्ध हो सकता है क्योंकि दो घोड़ों से खींचा जाने वाला रथ बलवान एक ही देव या विद्याधर या मनुष्य से खींचा गया पाया जाता है। **(ध. ८/८१)**

६३. प्रश्न : शीलव्रतेष्वनतिचार भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारित्र के विकल्प रूप शील व्रतों में निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचार है। अहिंसा आदि व्रत तथा उनके परिपालन के लिए क्रोधादि के त्याग रूप शीलों में मन, वचन, काय की निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है। **(रा.वा. ३)**

६४. प्रश्न : शीलव्रतेष्वनतिचार भावना में ज्ञान विनय कैसे संभव है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि छह द्रव्य, नौ पदार्थ के समूह और त्रिभुवन को विषय करने वाले एवं बार-बार उपयोग विषय को प्राप्त होने वाले ज्ञान विनय के बिना शीलव्रतों के कारणभूत सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं बन सकती। शीलव्रत विषयक निरतिचारता में चारित्र विनय का भी अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यथाशक्ति तप, आवश्यकापरिहाणि और प्रवचनवत्सलता लक्षण चारित्र विनय के बिना शीलव्रत विषयक निरतिचारता की उपपत्ति ही नहीं बनती इस कारण यह तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का तीसरा कारण है। **(ध. ८/८३)**

६५. प्रश्न : अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : निरन्तर श्रुत (शास्त्र) की भावना रखना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना है। (इस भावना से अज्ञान की निवृत्ति के लिए ज्ञान की प्रवृत्ति में निरन्तर उपयोग रहता है)। **(म.पु. ६३/३२३)**

जीवादि पदार्थों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानने वाले मति आदि ज्ञान हैं। अज्ञाननिवृत्ति इसका साक्षात् फल है तथा हितप्राप्ति-अहितपरिहार और उपेक्षा व्यवहित (परम्परा) फल है। इस ज्ञान की भावना में सदा तत्पर रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना है। **(रा.वा. ४)**

जीवादि पदार्थ रूप स्वतत्त्व विषयक सम्यग्ज्ञान में निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना है। **(सर्वा. ६५६)**

नोट : दर्शनविशुद्धि आदि के बिना यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना नहीं बन सकती है। **(ध. ८/९१)**

६६. प्रश्न : अभीक्ष्ण संवेग भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, इष्ट वस्तु का अलाभ आदि जनित दु:ख अतिकष्टदायक हैं अत: उन संसार दु:खों से नित्य भयभीत रहना अभीक्ष्ण संवेग भावना है। **(रा.वा. ५)** संसार के दु:खों से निरन्तर डरते रहना संवेग भावना है। **(सर्वा. ६५६)** जन्म, जरा, मरण तथा रोग आदि शारीरिक और मानसिक दु:खों के भार से युक्त संसार से नित्य डरते रहना संवेग भावना है। **(म.पु. ६३/३२३)**

६७. प्रश्न : अभीक्ष्ण संवेग भावना में पन्द्रह भावनाओं का समावेश कैसे होता है ?

उत्तर : शेष कारणों के बिना विरुद्ध होने से लब्धि संवेग की सम्पदा का संयोग ही नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि रत्नत्रयजनित हर्ष का नाम लब्धिसंवेग है और वह दर्शनविशुद्धि आदिकों के बिना सम्पूर्ण नहीं होता है, क्योंकि इसमें हिरण्य-सुवर्णादिकों के बिना धनाढ्य होने के समान विरोध है। अतएव शेष कारणों को अपने अन्तर्गत करने वाली लब्धि संवेग सम्पदा तीर्थंकर कर्म बन्ध का छठा कारण है। **(ध. ८/८६)**

६८. प्रश्न : शक्तितस्त्याग भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु देना त्याग है। पात्र के लिए दिया गया आहार एक दिन प्रीति का हेतु बनता है। अभयदान उस भव के दु:ख को दूर करने वाला है और पात्र को संतोषजनक है। सम्यग्ज्ञान का दान अनेक सहस्र भवों के दु:खों से छुटकारा दिलाने वाला है अत: ये यथाविधि दिये गये तीनों प्रकार के दान ही त्याग कहलाते हैं। **(रा.वा. ६)**

जिसमें आस्रव दूर हो गये हैं उसका नाम है प्रासुक। अथवा - जो निरवद्य है उसका नाम प्रासुक है। वे ज्ञान, दर्शन व चारित्रादिक ही तो हो सकते हैं। उनके परित्याग अर्थात् विसर्जन को प्रासुक परित्याग और इसके भाव को प्रासुक-परित्यागता कहते हैं। अर्थात् दयाबुद्धि से साधुओं के द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के परित्याग या दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। इस भावना में पन्द्रह ही भावनाओं का समावेश होता है। **(ध. ८/८७)**

जिस दिन आहार ग्रहण किया जाता है उस दिन एवं पर्याय सम्बन्धी दु:ख को दूर करने वाला आहार दान, अभयदान और संसार के दु:ख को हरने वाला ज्ञान महादान शक्ति के अनुसार देना सो त्याग भावना है। **(हरि. पु. ३४/१३७)**

६९. प्रश्न : शक्तितस्त्याग भावना में पन्द्रह भावना का समावेश कैसे होता है ?

उत्तर : इस भावना में शेष कारणों की असम्भावना नहीं है क्योंकि अरहंतादिकों में भक्ति से रहित, नौ पदार्थ विषयक श्रद्धान से उन्मुक्त, सातिचार शीलव्रतों से सहित और आवश्यकों की हीनता से संयुक्त होने पर निरवद्य ज्ञान, दर्शन व चारित्र का परित्याग विरोध होने से सम्भव ही नहीं है। इस कारण

यह तीर्थंकर नामकर्म बन्ध का आठवाँ कारण है। **(ध. ८/८७)**

७०. प्रश्न : शक्तितस्तप भावना किसे कहते हैं?

उत्तर : अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप है। यह शरीर दु:ख का कारण है, अशुचि है, कितना भी भोग-भोगो पर इसकी तृप्ति नहीं होती। यह अशुचि होकर भी शील-व्रत आदि गुणों के संचय में आत्मा का सहायक है यह विचार कर विषयविरक्त हो आत्मकार्य के प्रति शरीर का नौकर की तरह उपयोग कर लेना उचित है। अत: मार्ग अविरोधी कायक्लेशादि करना यथाशक्ति तप भावना है। **(रा.वा. ७)** शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना यथाशक्ति तप है। **(सर्वा. ६५६)** शक्ति को नहीं छिपाने वाले एवं विनाशीक अपवित्र और मृतक के समान शरीर को कार्य में लगाने वाले पुरुष का मोक्षमार्ग के अनुरूप जो उद्यम है, वह तप नाम की भावना है। **(हरि.पु. ३४/१३८)**

नोट : इस भावना में शेष पन्द्रह भावनाओं का भी समावेश होता है।

७१. प्रश्न : इस भावना में शेष भावनाओं का समावेश कैसे होता है ?

उत्तर : यथाशक्ति तप भावना में तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध के सभी शेष कारण सम्भव हैं क्योंकि यथाशक्ति तप, ज्ञान, दर्शन से युक्त बलवान और धीर व्यक्ति के होते हैं और इसलिए उसमें दर्शन-विशुद्धि आदि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा (दर्शनविशुद्धि आदि का अभाव) होने पर यथाशक्ति तप बन नहीं सकता। **(ध. ८/८६-८७)**

७२. प्रश्न : साधु समाधि भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : भण्डार में आग लग जाने पर भण्डार बहुत उपकारी होने से अग्नि का प्रयत्नपूर्वक शमन किया जाता है उसी प्रकार व्रत-शीलों से समृद्ध मुनिगण के तप आदि में विघ्न उपस्थित हो जाने पर उस विघ्न का निराकरण करना साधुसमाधि भावना है। **(रा.वा. ८)**

साधुओं की समाधि संधारणा से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है। दर्शन-ज्ञान व चारित्र में सम्यक् अवस्थान का नाम समाधि है। सम्यक् प्रकार से धारण या समाधि का नाम संधारण है। उससे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है। किसी भी कारण से गिरती हुई समाधि को देखकर सम्यग्दृष्टि, प्रवचनवत्सल, प्रवचन-प्रभावक, विनयसम्पन्न, शीलव्रतातिचार वर्जित और अर्हन्तादिकों में भक्तिमान होकर चूँकि उसे धारण करता है इसलिए वह समाधि संधारण है। **(ध. ८/८८)**

नोट : इस भावना में शेष भावनाओं का समावेश होता है।

७३. प्रश्न : इस भावना में शेष भावनाओं का समावेश कैसे होता है ?

उत्तर : इस भावना में शेष भावनाओं (कारणों) का अभाव नहीं है क्योंकि इसमें दर्शनविशुद्धि

आदि भावनाओं का संग्रह होता है। इस प्रकार यह तीर्थंकर नामकर्म बंधने का नवम कारण है। **(ध. ८/८८)**

७४. प्रश्न : वैयावृत्यकरण भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुणवानों पर दु:ख आने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावृत्य है। गुणवान साधुजनों पर आये हुए संकट, रोग आदि आपत्ति को निर्दोष रीति से[1] दूर करना, उनकी सेवादि करना बहु उपकारी वैयावृत्य है। **(रा.वा. ९)**

इस भावना में शेष पन्द्रह भावनाओं का अन्तर्भाव होता है।

७५. प्रश्न : इस भावना में शेष पन्द्रह भावनाओं का अन्तर्भाव कैसे होता है ?

उत्तर : जिस सम्यक्त्व, ज्ञान, अरहन्त भक्ति, बहुश्रुत भक्ति एवं प्रवचन-वत्सलत्वादि से जीव वैयावृत्य में लगता है वह वैयावृत्य योग अर्थात् दर्शनविशुद्धतादि गुण है, उनसे संयुक्त होने का नाम वैयावृत्य योग युक्तता है। इस प्रकार की उस एक वैयावृत्य योग युक्तता से तीर्थंकर नामकर्म बांधता है। यहाँ शेष कारणों का यथासंभव अन्तर्भाव कहना चाहिए। **(ध. ८/८८)**

७६. प्रश्न : अर्हद्भक्ति भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : अरहन्तों में गुणानुराग रूप भक्ति होती है, वह अरहंत भक्ति कहलाती है। अथवा अरहन्त के द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठान के स्पर्श को अरहन्त भक्ति कहते हैं। **(ध. ८/८९)**

७७. प्रश्न : आचार्यभक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : आचार्यों में मन, वचन और काय से भावों की शुद्धि के साथ श्रद्धा रखना आचार्यभक्ति भावना है। **(म.पु. ६३/३२७)**

आचार्य में जो अनुराग है वह आचार्यभक्ति है। **(हरि. पु. ३४/१४१)** आचार्य के सम्मुख जाना, चरणों की पूजा करना और पिच्छी कमण्डलु आदि उपकरण देना आचार्यभक्ति है। **(क.प्र. १५७ टी.)**

७८. प्रश्न : बहुश्रुतभक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर-हित प्रवण और स्वसमय-परसमय के विस्तार के निश्चय करने वाले बहुश्रुत (उपाध्याय) में भावशुद्धि पूर्वक भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति भावना है। **(रा.वा. १०)**

जिनकी प्रवृत्ति सदा ही दूसरे का हित करने वाली है और जो अपने आगम और पर के आगमों

---

१. जो अपनी या दूसरों की आयु आदि जानने के लिए मंत्रप्रयोग करता है, धर्म प्रभावना के लिए कौतुक दिखाता है या वैयावृत्य करने की भावना में तत्पर रहता है, वह ज्ञान-दर्शन और चारित्र परिणामों में आदर भाव रखने से दोष का भागी नहीं है, यह भाव है। (भ.आ.वि. १८४)

को विस्तृत रीति से जानने के कारण निश्चय नय से कहे जाने योग्य वास्तविक तत्त्वों के ज्ञाता हैं ऐसे उपाध्यायों में विशुद्ध भावों से अनुराग व प्रेम रखना, मन-वचन-काय से भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति भावना है। **(चा.सा.पृ. ११०)** जो बारह अंगों के पारगामी हैं वे बहुश्रुत कहे जाते हैं, उनके द्वारा उपदिष्ट आगमार्थ के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठान के स्पर्श करने को बहुश्रुतभक्ति कहते हैं। **(ध. ८/८९)**

७९. प्रश्न : प्रवचन भक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रवचन में कहे हुए अर्थ का अनुष्ठान करना, यह प्रवचन में भक्ति कही जाती है। इसके बिना अन्य प्रकार से प्रवचन में भक्ति सम्भव नहीं है क्योंकि असम्पूर्ण में सम्पूर्ण के व्यवहार का विरोध है। **(ध.८/९०)** मोक्ष पद रूपी राजभवन में चढ़ने के लिए जो सीढ़ियों के समान बनाया गया है और श्रुतदेवता के समीप रहने वाले गुणों के संयोग से जो अत्यन्त दुरासद व कठिन है ऐसे शास्त्रों में विशुद्ध परिणामों से अनुराग वा प्रेम रखना, मन-वचन-काय से भक्ति करना प्रवचनभक्ति भावना है। **(चा.सा.पृ. ११०)** श्रुत देवता के प्रसाद से प्राप्त होने वाले मोक्षमहल में आरूढ़ होने के लिए सोपान रूप प्रवचन में भावशुद्धि पूर्वक अनुराग करना प्रवचनभक्ति भावना है। **(रा.वा. १०)**

इस भावना से मन-वचन और काय की शुद्धता पूर्वक आगम में श्रद्धा बढ़ती है। **(म.पु. ६३/३२७)**

नोट : अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति एवं प्रवचनभक्ति में से प्रत्येक भावना में शेष भावनाओं का अन्तर्भाव होता है। ये सभी दर्शन विशुद्धि आदिकों के बिना सम्भव नहीं हैं क्योंकि ऐसा होने में विरोध है।

८०. प्रश्न : आवश्यकापरिहाणि भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : आवश्यक क्रियाओं का यथाकाल करना आवश्यकापरिहाणि भावना है। **(सर्वा. ६५६)** मुनि के जो सामायिकादि छह आवश्यक कहे हैं उनमें यथासमय आगमानुसार प्रवृत्ति होना सो आवश्यकापरिहाणि भावना है। **(म.पु. ६३/३२८)**। इस भावना से सामायिकादि छह आवश्यक क्रियाओं में नियम से प्रवृत्ति होती है।

नोट : इस भावना में शेष भावनाएँ अन्तर्निहित हैं।

८१. प्रश्न : इस भावना में शेष भावनाओं का अन्तर्भाव कैसे होता है ?

उत्तर : उस एक आवश्यकापरिहाणि भावना से ही तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है। इसमें शेष कारणों का अभाव नहीं है क्योंकि दर्शनविशुद्धि आदि के बिना छह आवश्यकों में निरतिचारता सम्भव ही नहीं है। **(ध. ८/८५)**

८२. प्रश्न : आवश्यक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पाप आदि के वश्य नहीं हैं वे अवश्य हैं। जिस समय इन्द्रिय, कषाय, नोकषाय और

राग-द्वेष आदि के द्वारा अपने वश में नहीं किया गया है उस समय वे मुनि अवश्य होने से आवश्यक कहलाते हैं और उनका जो अनुष्ठान है वह आवश्यक कहलाता है। **(मू.आ. ५१५)** अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। इन्हें निश्चय क्रिया भी कहते हैं, सर्व कर्म के निर्मूलन करने में समर्थ नियम विशेष को आवश्यक कहते हैं। **(मू. आ. २)**

'आवासयाणं' का अर्थ आवासक है। जो आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराते हैं उन्हें आवश्यक कहते हैं। **(भ.आ.वि. ११८)** न वश, अवश और अवश का कर्म आवश्यक है ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी सामायिक आदि को ही आवश्यक कहते हैं। व्याधि, दुर्बलता आदि से पीड़ित को भी अवश या परवश कहते हैं और उसके द्वारा किया गया कर्म आवश्यक है। किन्तु जैसे जो 'आशु' शीघ्र चलता है वह अश्व है ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी व्याघ्र आदि को अश्व नहीं कहते, क्योंकि प्रसिद्धिवश घोड़े को ही अश्व कहते हैं। वैसे ही यहाँ भी जो अवश्य कर्म है यहाँ-वहाँ घूमना, रोना, चिल्लाना आदि उन्हें आवश्यक नहीं कहा है। **(भ.आ.वि. ११८)**

८३. प्रश्न : आवश्यक कितने होते हैं ?

उत्तर : आवश्यक छह होते हैं -

(१) सामायिक (२) चतुर्विंशति स्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) प्रत्याख्यान (६) कायोत्सर्ग।

सामायिक - सर्व सावद्य योगों का त्याग करना तथा चित्त को एकाग्र करके ज्ञान में लगाना सामायिक है।

चतुर्विंशति स्तव - चतुर्विंशति तीर्थंकरों का कीर्तन चतुर्विंशति स्तव है।

वन्दना - मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक खड्गासन या पद्मासन से चार शिरोनति और बारह आवर्त पूर्वक वन्दना होती है।

प्रतिक्रमण - कृत दोषों की निवृत्ति प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान - भविष्य में होने वाले दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है।

कायोत्सर्ग - परिमित काल तक शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। **(रा.वा. ११)**

नोट - ये मुनियों के आवश्यक हैं।

८४. प्रश्न : सामायिक आवश्यक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, शत्रु-मित्र में तथा सुख-दुःख इत्यादि में चारित्र से समन्वित समभाव का होना और त्रिकाल में देववन्दना करना सामायिक व्रत है।

जीवन - औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीर की स्थिति रखना जीवन है।

मरण - प्राणियों के प्राणवियोग लक्षण मृत्यु को मरण कहते हैं।

लाभ - अभिलषित वस्तु, आहार, उपकरण आदि की प्राप्ति लाभ है।

अलाभ - अभिलषित वस्तु आदि की प्राप्ति न होना अलाभ है।

संयोग - इष्ट का अपने से मिल जाना संयोग है।

वियोग - इष्ट का अपने से अलग हो जाना वियोग है।

स्वजन, मित्र-शत्रु, सुख-दु:ख में और आदि शब्द से भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि में चारित्र से समन्वित समभाव का होना ही सामायिक व्रत है।

८५. प्रश्न : चतुर्विंशति स्तव किसे कहते हैं ?

उत्तर : ऋषभ आदि तीर्थंकरों के नाम का कथन और गुणों का कीर्तन करके तथा उनकी पूजा करके उनको मन, वचन, काय पूर्वक नमस्कार करना स्तव नाम का आवश्यक है।

नाम का कथन - ऋषभदेव को आदि से लेकर वर्द्धमान पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों की प्रकृति, प्रत्यय, काल, कारक आदि के द्वारा निश्चय करके अनुगत-परम्परागत अर्थ करना नामस्तवन है।

गुणानुकीर्त्तन - चौबीस तीर्थंकरों के असाधारण धर्म रूप गुणों का वर्णन करना गुणानुकीर्त्तन है। निर्दोष आप्त लक्षण करते हुए उनकी स्तुति करना। जैसे- हे भगवन्! आप लोक में उद्योत करने वाले हैं, धर्मतीर्थ के कर्त्ता हैं, सुर-असुर और मनुष्यों के इन्द्रों से स्तुति को प्राप्त हैं, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखने वाले हैं, कठोर घातिया कर्मों को नष्ट कर चुके हैं, इत्यादि प्रकार से अनेक-अनेक गुणों का कीर्तन करना गुणानुकीर्त्तन है।

पूजा - मल-पटल से रहित सुगन्धित दिव्य रूप लाये गये प्रासुक गन्ध-पुष्प-धूप-दीप आदि के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों के पद-युगलों की अर्चना करना पूजा है। **(मू.आ. २४)**

८६. प्रश्न : वन्दना आवश्यक किसे कहते हैं ?

उत्तर : अर्हन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा को, तप में, श्रुत में या गुणों में बड़े गुरु को और स्वगुरु को कृतिकर्म पूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के मन, वचन, काय पूर्वक प्रणाम करना वन्दना है।

अर्हन्त - जिनके चार घातिया कर्मों का क्षय हो गया है वे अर्हन्त हैं।

सिद्ध - जो आठों कर्मों का क्षय कर चुके हैं, वे सिद्ध हैं।

प्रतिबिम्ब - प्रतिमा। आठ महाप्रातिहार्यों से समन्वित अर्हन्त प्रतिमा है और इनसे रहित सिद्ध प्रतिमा है। **अथवा -**

जो कृत्रिम (बनाई गई) प्रतिमा हैं वे अर्हन्त प्रतिमा हैं और जो अकृत्रिम हैं वे सिद्ध प्रतिमा हैं।

तप - जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है, दहन करता है, वह अनशन आदि बारह प्रकार का तप है।

श्रुत - अंग पूर्व आदि श्रुत हैं।

गुण - व्याकरण-तर्क आदि के ज्ञानविशेष को गुण कहते हैं। **(मू. आ. २५)**

८७. प्रश्न : प्रतिक्रमण आवश्यक किसे कहते हैं ?

उत्तर : निन्दा और गर्हा पूर्वक मन, वचन, काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

निन्दा - आत्मसाक्षी पूर्वक अपने दोषों को प्रकट करना निन्दा है।

गर्हा - आचार्य गुरुओं के पास आलोचना पूर्वक दोषों को कहना गर्हा है।

द्रव्य - आहारादि द्रव्य (के सम्बन्ध में)

क्षेत्र - वसतिका, शयन, आसन, गमन आदि मार्ग के रूप में क्षेत्र।

काल - पूर्वाह्न, अपराह्न, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर तथा भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि काल है।

भाव - मन के परिणाम रूप भाव है।

इन द्रव्य, क्षेत्र आदि के विषय में जो अपराध हो जाता है उनका शुभ मन, वचन, काय की क्रियाओं के द्वारा निवृत्त होना, दोषों का परित्याग करना प्रतिक्रमण है। **(मू.आ. २६)**

नोट - प्रतिक्रमण के भेद देखें **(९/६)**

८८. प्रश्न : प्रत्याख्यान आवश्यक किसे कहते हैं ?

उत्तर : भविष्य में आने वाले तथा निकटवर्ती भविष्यकाल में आने वाले नाम, स्थापना आदि छहों अयोग्य का मन वचन काय से वर्जन करना प्रत्याख्यान आवश्यक है। **(मू. २७)**

जो पदार्थ अपने योग्य है अथवा अयोग्य है उन पदार्थों का नियमपूर्वक तपश्चरण के लिए त्याग कर देना प्रत्याख्यान है अथवा कर्मों का संवर करने के लिए नामादिक छहों निक्षेपों के द्वारा आगत अथवा अनागत पदार्थों का त्याग करना भगवान जिनेन्द्रदेव ने प्रत्याख्यान बतलाया है। **(मू.प्र. १०९७-९८)**

८९. प्रश्न : कायोत्सर्ग आवश्यक किसे कहते हैं ?

उत्तर : दैवसिक, रात्रिक आदि नियम क्रियाओं में आगम में कथित प्रमाण के द्वारा आगमकथित काल में जिनेन्द्रदेव के गुणों के चिन्तन से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक है। **(मू. २८)**

जिनेन्द्र भगवान के गुण दया, क्षमा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, शुक्ल ध्यान, धर्मध्यान तथा अनन्तज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय गुण हैं। **(मू. २८)**

९०. प्रश्न : आवश्यकों का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : ये आवश्यक तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में वन्दनीय हैं, मोक्षसुख को देने वाले हैं, समस्त दोष रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले हैं, भगवान जिनेन्द्र गणधर देव आदि संसार के समस्त उत्तम पुरुष इनकी सेवा करते हैं। इनको धारण करते हैं, ये आवश्यक धर्म के स्वरूप को कहने वाले हैं, पाप रहित हैं, पवित्र हैं, सारभूत हैं, अनेक गुणों से सुशोभित हैं और श्रुतज्ञान के समस्त महा अर्थों से भरे हुए हैं। **(मू.प्र. १२६२-६३)**

९१. प्रश्न : मार्गप्रभावना भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : परसमय रूपी खद्योत को पराभूत करने वाले, ज्ञान रूपी प्रभा से इन्द्र के सिंहासन को कंपा देने वाले महोपवास आदि सम्यक् तपों के द्वारा भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य की प्रभा के समान जिनपूजा के द्वारा सद्धर्म का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है। **(रा.वा. १२)**

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशना प्रभावना है। **(रा. वा. १)**

आगमार्थ का नाम प्रवचन है, उसकी वर्णजनन अर्थात् कीर्ति-विस्तार या वृद्धि करना प्रवचन प्रभावना है और उसके भाव को प्रवचन प्रभावनता कहते हैं। **(ध. ८/९१)**

इस भावना में शेष भावनाओं का अन्तर्भाव होता है क्योंकि उत्कृष्ट प्रवचन प्रभावना का दर्शनविशुद्धतादिकों के साथ अविनाभाव है। **(ध. पु. ८/९१)**

९२. प्रश्न : प्रवचन वत्सलत्व भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैसे गाय बछड़े पर स्नेह करती है उसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह रखना प्रवचन वत्सलत्व है। **(सर्वा. ६५६)** जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है उसी प्रकार धार्मिक जन को देखकर स्नेह से ओतप्रोत हो जाना प्रवचन-वत्सलत्व है। जो धार्मिकों में स्नेह है वही प्रवचनवत्सलत्व है। **(रा.वा. १३)** प्रवचनों में जो अनुराग, आकांक्षा अथवा ममेदं बुद्धि होती है उसका नाम प्रवचनवत्सलत्व है। **(ध. ८/९०)**

९३. प्रश्न : प्रवचन किसे कहते हैं ?

उत्तर : सिद्धान्त या बारह अंगों का नाम प्रवचन है। क्योंकि उत्कृष्ट वचन प्रवचन या प्रकृष्ट के वचन प्रवचन हैं। (ऐसी व्युत्पत्ति है) उनमें होने वाले देशव्रती, महाव्रती, असंयत सम्यग्दृष्टि प्रवचन कहे जाते हैं। **(चा.सा.)**

प्रकर्ष से कुतीर्थों के द्वारा नहीं स्पर्श किये जाने स्वरूप से जीवादि पदार्थों का निरूपण करता है इसलिए वर्ण पंक्त्यात्मक द्वादशांग को प्रवचन कहते हैं अथवा- करणभूत इस ज्ञान के द्वारा प्रमाण आदि के अविरोध रूप से जीवादि अर्थ कहे जाते हैं, इसलिए द्वादशांग भावश्रुत को प्रवचन कहते हैं। **(ध. १३/२८३)** प्रकृष्ट हैं वचन जिनके ऐसे आप्त प्रवचन कहलाते हैं अर्थात् प्रकृष्ट (आप्त) के वचन रूप परमागम को प्रवचन कहते हैं। अथवा - प्रकृष्ट अर्थात् प्रमाण के द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है ऐसे पदार्थ प्रवचन हैं। इस प्रकार निरुक्ति के द्वारा प्रवचन के आप्त, आगम और पदार्थ ये तीन अर्थ होते हैं। **(गो.जी.जी. १८)**

९४. प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ किसके होता है ?

उत्तर : प्रथमोपशम सम्यक्त्व में तथा बाकी के तीनों द्वितीयोपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व की अवस्था में असंयत गुणस्थान से अप्रमत्त गुणस्थान तक चार गुणस्थान वाले (कर्म-भूमियाँ) मनुष्य ही केवली (तीन लोक को प्रत्यक्ष देखने वाले) तीर्थंकर तथा श्रुतकेवली (द्वादशांग के पारगामी) के निकट ही तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ होता है। क्योंकि केवली आदि को छोड़कर अन्य दूसरी जगह इतने उत्कृष्ट परिणामों की निर्मलता नहीं हो सकती है। **(गो.क.जी. ९३)**

९५. प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कौन से गुणस्थान में होता है ?

उत्तर : तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध चौथे अविरत गुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग तक होता है। यह प्रकृति मनुष्य, देव एवं नारकी के ही बँधती है, तिर्यञ्चों के नहीं। **(गो.क.जी. ९२)**

नीच गोत्र के आस्रव कहते हैं-

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

पर-आत्म-निन्दा-प्रशंसे-सद्-असद्-गुण-उच्छादन-उद्भावने च नीचैः गोत्रस्य।

(परात्मनिन्दाप्रशंसे) पर की निन्दा और अपनी प्रशंसा **(सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने)** विद्यमान और अविद्यमान गुणों का उच्छादन और उद्भावन **(नीचैर्गोत्रस्य)** नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - दूसरों की निन्दा, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के विद्यमान गुणों का छादन (ढाकना) तथा अपने अविद्यमान गुणों का उद्भावन (प्रकट) करना ये नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : नामकर्म के अनन्तर जिसका निर्देश किया गया है, ऐसे गोत्र कर्म के आगमन का कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य गोत्रकर्म के आस्रव का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं - नीच और उच्च के भेद से गोत्र दो प्रकार का है, उसमें प्रथम नीच गोत्र कर्म के आस्रव के कारणों को इस सूत्र के द्वारा

कहा गया है। **(रा.वा.२५ उ.)**

२. प्रश्न : आत्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अब आत्मा शब्द का अर्थ कहते हैं। 'अत्' धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थ में है और सब गमनार्थक धातु ज्ञानात्मक अर्थ में होती है, इस वचन से यहाँ पर गमन शब्द से ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान, सुख आदि गुणों में सर्व प्रकार वर्तता है वह आत्मा है। अथवा शुभ-अशुभ मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा यथासंभव तीव्र-मन्द आदि रूप से जो पूर्णरूपेण वर्तता है वह आत्मा है। अथवा-उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों के द्वारा जो पूर्ण रूप से वर्तता है वह आत्मा है। **(द्र.सं.टी. ५७)** द्वादशांग का नाम आत्मा है, क्योंकि वह आत्मा का ही परिणाम है और परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं होता क्योंकि मिट्टी द्रव्य से पृथक्भूत कोई घट पर्याय नहीं पायी जाती है।

यहाँ द्रव्य श्रुत को आत्मा नहीं समझना चाहिए क्योंकि वह आत्मा का धर्म नहीं है। उसे जो आगम संज्ञा प्राप्त है, वह उपचार से है। वास्तव में वह आगम नहीं है। **(ध. १३/२८२-८३)**

३. प्रश्न : नीच गोत्र का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : पर की निन्दा, अपनी प्रशंसा, दूसरों में विद्यमान गुणों को ढकना (छुपाना) और अपने अविद्यमान गुणों को प्रकट करना, ये नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं। **(त.सू. ६/२५)**

(विस्तार से) नीच गोत्र के आस्रव के कारण-

(१) जाति, बल, कुल, रूप, श्रुत, आज्ञा, ऐश्वर्य और तप का मद करना।

(२) दूसरों की अवज्ञा, हँसी और उपहास करना।

(३) पर (दूसरों की) और धार्मिकजनों की निन्दा और परिहास करना।

(४) अपनी कीर्ति करना तथा दूसरों के यश का लोप करना।

(५) गुरुजनों का तिरस्कार, उनके दोषों का उद्भावन, उनकी आज्ञा का लोप करना।

(६) गुरुजनों की अंजलि (हाथ जोड़ना), स्तुति, अभिवादन, अभ्युत्थान आदि नहीं करना।

(७) तीर्थंकरों पर दोषारोपण आदि करना। **(रा.वा. ६)**

जिन प्राणियों में जाति आदि का अभिमान या उन्माद हो जाता है, सर्वदा दूसरों की निन्दा और दोषोद्घाटन में लीन रहते हैं ऐसे ही प्राणी नीच गोत्र का बन्ध करते हैं। **(व.चा. ४/९९)** जो कुगुरु, कुधर्म और नीच देवों की सेवा धर्मप्राप्ति की अभिलाषा से करते हैं वे नीच कर्म के उदय से नीच गोत्र को प्राप्त करते हैं। **(महावी.पु. १७)**

जो मन, वचन, काय से उपचार विनय नहीं करता, वह मन से गुरुओं की अवज्ञा करता है, उनके

आने पर खड़ा नहीं होता, उनके जाने पर पीछे-पीछे गमन नहीं करता, हाथ नहीं जोड़ता, स्तुति नहीं करता, विज्ञप्ति नहीं करता, गुरु के सामने आसन पर बैठता है, उनके आगे चलता है, निन्दा करता है, कठोर वचन बोलता है, चिल्लाता है ऐसा करने वाला नीच गोत्र का बन्ध करता है और मरकर श्वपाक, चाण्डाल आदि नीच कुलों में तथा कुत्ता, सूअर आदि में जन्म लेता है। **(भ.आ.वि. ३०२)**

४. प्रश्न : निन्दा और प्रशंसा किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरों के विद्यमान और अविद्यमान दोषों को प्रकट करने की इच्छा मानसिक परिणाम अथवा अवक्षेप निन्दा कहलाती है। स्वयं के सद्भूत अथवा असद्भूत गुणों के प्रकाशन करने की इच्छा या अभिप्राय प्रशंसा कही जाती है। **(रा.वा. १.२)**

५. प्रश्न : अपनी प्रशंसा करने से क्या हानि है ?

उत्तर : समीचीन गुणों के कारण फैला हुआ भी आपका यश अपनी प्रशंसा करने से नष्ट होता है। जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनों के मध्य तृण की तरह लघु होता है। 'मेरे में ये ये गुण हैं' ऐसा कहने वाले में विद्यमान भी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे काँजी के पीने से मदिरा का नशा नष्ट हो जाता है। वह जो अपनी प्रशंसा करता है यही उसका दोष है। **(भ.आ. वि. ३६१-६२)**

६. प्रश्न : अपनी प्रशंसा नहीं करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो पुरुष अपने गुणों की प्रशंसा स्वयं नहीं करता उसके विद्यमान गुण नष्ट नहीं होते। यदि वह अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करता तो उसके गुणों की प्रख्याति नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। सूर्य अपने गुणों को स्वयं नहीं कहता। फिर भी उसका प्रताप जगत् में प्रसिद्ध है। अपनी प्रशंसा न करने वाला स्वयं गुण रहित होते हुए भी सज्जनों के मध्य में गुणवान की तरह होता है। गुण-रहित को गुणवान कहना परस्पर विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि जो अपनी प्रशंसा नहीं करता, यही उसका गुण है, यद्यपि वह दर्शन आदि गुणों का अभाव होने से गुणरहित है किन्तु अपनी प्रशंसा न करने के गुण से गुणवान है। यदि उसमें गुण हैं तो वे स्वयं कसौटी पर कसे जायेंगे। कस्तूरी की गन्ध के लिए शपथ नहीं करनी होती। **(भ.आ.वि. ३६३-६६ टी.)**

७. प्रश्न : दूसरे की निन्दा करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो पर की निन्दा करके अपने को गुणी कहलाने की इच्छा करता है वह दूसरे के द्वारा कडुवी औषधि पीने पर अपनी नीरोगता चाहता है। **(भ.आ. ३७३)**

सत्कर्म से विमुख हो जाना और कुकर्म करना नि:संदेह बुरा है। परन्तु किसी के मुख पर तो हँसकर बोलना और पीठ पीछे उसकी निन्दा करना उससे भी बुरा है। **(कुरल का. १९)**

जो साधु अतिशय दुष्कर तपों के द्वारा अपने दोषों को नष्ट करने में उद्यत है, वह अज्ञानतावश दूसरों के दोषों के कथन रूप भोजनों के द्वारा उन्हीं दोषों को पुष्ट करता है। **(आ. अनु. २४९)**

परनिन्दा आयास, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुता को करती है, पापरूप है, दुर्भाग्य को लाती है और सज्जनों को अप्रिय है। **(भ.आ. ३७२)**

उच्च गोत्र के आस्रव के कारण कहते हैं-

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

तत्-विपर्ययः-नीचैः-वृत्ति-अनुत्सेकौ च उत्तरस्य।

(तद्विपर्ययः) नीच गोत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत **(नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ)** विनय पूर्वक वृत्ति होना, अनुत्सेक-उद्दण्ड स्वभाव नहीं होना **(चोत्तरस्य)** उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - नीच गोत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत कारण, गुणीजनों के प्रति विनयपूर्वक नम्रभाव तथा उद्दण्ड स्वभाव नहीं होना, ये सब उच्च गोत्र के आस्रव के कारण है।

१. प्रश्न : सूत्र में कहे गये 'तत्' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : नीच गोत्र के आस्रव का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र में 'तत्' शब्द का ग्रहण किया है। निकटता होने से 'तत्' शब्द से नीच गोत्र के आस्रव का निर्देश किया है। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक[१] में क्या अन्तर है ?

उत्तर : गुणी पुरुषों के प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति नीचैर्वृत्ति कहलाती है तथा विशिष्ट ज्ञान आदि की वृद्धि से उत्कृष्ट होने पर भी उन गुणों का मद, अहंकार नहीं होना अनुत्सेक है। **(रा.वा. ३-४)**

३. प्रश्न : उच्चगोत्र का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : उच्चगोत्र के आस्रव के कारण-

(१) जाति, कुल, सौन्दर्य, वीर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और तपादि की विशेषता होने पर भी अपने में बड़प्पन का भाव नहीं आने देना।

(२) पर का तिरस्कार नहीं करना।

(३) उद्दण्डता नहीं होना, पर की निन्दा नहीं करना, किसी की असूया, उपहास, बदनामी आदि नहीं करना, मान नहीं करना।

(४) धर्मात्माओं का सम्मान करना, नमस्कार करना, निरंहकारिता, नम्रवृत्ति करना, धार्मिक साधनों में अत्यन्त आदर बुद्धि रखना, आदि। **(रा.वा. ४)**

अरहंतादि पंच परमेष्ठी की भक्ति, अध्ययनादि में विशेष विचार तथा विनयादि गुणों को धारण करना उच्चगोत्र के प्रत्यय बताये गये हैं। **(गो.क. ८०९)**

---

१. बड़ा भारी आदर्श कार्य करके भी उसे जबान पर न लाना – इस अनुद्धतपने को अनुत्सेक कहते हैं। यह सब प्रकार से उच्च गोत्र के बंध का कारण है।

अर्हन्त प्रभु के द्वारा प्राप्त सम्यग्ज्ञान तथा उन्हीं के द्वारा उपदिष्ट वीतराग धर्म में जिनकी अटूट भक्ति होती है। दूसरे की निन्दा तथा पैशुन्य आदि से जो कोसों दूर रहते हैं, वे ही प्राणी उच्च गोत्र का बन्ध करते हैं। **(व.चा. ४/१००)**

जो आर्य नित्यप्रति तीर्थंकर, गुरु, संघ, उच्च पदवीप्राप्त जीवों की भक्तिपूर्वक सेवा करता है, स्तुति करता है, नमस्कार करता है एवं अपनी प्रशंसा न करके गुणियों के दोषों को छिपाकर उनकी श्रेष्ठता को ही प्रगट करता है, वह उच्च गोत्र के उदय से परलोक में सर्वोत्तम गोत्र को प्राप्त करता है। **(महावी.पु. १७)**

अन्तराय के आस्रव के कारण कहते हैं-

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

विघ्नकरणं अन्तरायस्य।

अर्थ - विघ्न उपस्थित करना अन्तराय कर्म के आस्रव में कारण है।[१]

१. प्रश्न : अन्तराय कर्म का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : किसी के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न उपस्थित करना अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है। **(रा.वा. १)**

(विस्तार से) अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण-

(१) देवता के लिए निवेदित या अनिवेदित द्रव्य का ग्रहण करना।

(२) ज्ञान का निषेध एवं धर्म का व्यवच्छेद करना।

(३) तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना।

(४) कान, नाक, ओंठ आदि काटना तथा प्राणियों का वध करना।

(५) ज्ञान का प्रतिषेध एवं किसी के सत्कार में विघ्न डालना।

(६) दान, लाभादि में और स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादना, विभूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना।

(७) किसी के वैभव तथा समृद्धि में विस्मय करना तथा द्रव्य का त्याग नहीं करना।

(८) दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ आदि को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय आदि में विघ्न करना।

---

१. किसी भी प्रकार के लोकोपकारक कार्य में रोड़ा अटका देने, अड़चन पैदा कर देने एवं उसे न होने देने से अन्तराय कर्म का बंध होता है। यदि कहा जाय कि लोकोपकारी शब्द कहाँ से लिया तो इसका जवाब यह है कि प्रकरण के कारण, क्योंकि जो शास्त्र होते हैं वे लोकोपकार के वास्ते ही होते हैं।

(९) पर (दूसरे) का निरोध, बन्धन एवं गुह्य अंग का छेदन करना। **(रा.वा. १)** जो अन्य लोगों के धर्माचरण में विघ्न बाधाएँ डालते हैं उन्हें तो दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य सबका ही अन्तराय मानना चाहिए। **(व.चा. ४ /१०३)**

निर्दोष उपकरणों (जिन पीछी-कमण्डलु आदि में कोई खराबी नहीं आई है) का परित्याग करना अन्तराय-कर्म के आस्रव का कारण है। **(त.सा. ४/५७)**

२. प्रश्न : लाभान्तराय कर्म का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : जो धन का गर्व करते हैं, पात्रदान तथा पूजा आदि नहीं करते हैं, धनी होकर कंजूस होते हैं, लक्ष्मी के लिए कपटपूर्ण आचरण आदि करते हैं, मिथ्या आरम्भ करते हैं और लक्ष्मी से संतोष को प्राप्त नहीं होते हैं; वे लाभान्तराय कर्म के उदय से अत्यन्त दरिद्र होते हैं अर्थात् इन कार्यों से लाभान्तराय कर्म का आस्रव होता है। **(पार्श्व पु. २१/६४-६५)**

३. प्रश्न : दान में अन्तराय डालने से क्या फल मिलता है ?

उत्तर : औषधदान में अन्तराय डालने से गूंगे, रोगी, कुष्टरोगी होते हैं। आहारदान में अन्तराय डालने का फल आँखों से अन्धा होना, श्वेत कुष्ट होना, सूखा रोग होना है।

शास्त्रदान में अन्तराय डालने का फल तुतलाना, बोलने में असमर्थ होना, ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर उसका जल्दी नष्ट हो जाना, श्रम करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होना, अर्जित विद्या का विस्मरण हो जाना आदि है। **(धर्मा. उपगूहन अंग कथा)**

४. प्रश्न : आत्मा विकार को प्राप्त क्यों होता है ?

उत्तर : जिस प्रकार शराबी मद-मोह-विभ्रमकरी सुरा का पान करके उसके नशे में अनेक विकारों को प्राप्त होता है अथवा लोलुपी रोगी अपथ्य भोजन करके वात-पित्त और कफ जन्य अनेक विकारों से ग्रस्त होता है उसी प्रकार मूलोत्तर प्रकृति भेद वाले ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों के निमित्त से संसारी आत्मा विकार को निरन्तर प्राप्त होता है। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : ज्ञानावरण के काल में दर्शनावरणादि अन्य कर्मों का बन्ध भी आगम में स्वीकार किया गया है अत: ''तत्प्रदोष....'' आदि ज्ञानावरणादि कर्म के आस्रव के ही कारण हैं, ऐसा नियम कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यद्यपि तत्प्रदोष आदि द्वारा ज्ञानावरणादि सर्व प्रकृतियों के प्रदेश बन्ध आदि का नियम नहीं है तथापि प्रदोष आदि कारणों से ज्ञानावरण कर्म में विशेष अनुभाग पड़ता है अर्थात् तत् प्रदोष आदि से प्रदेशबन्ध तो सब कर्मों का होता है परन्तु अनुभाग विशेष ज्ञानावरण कर्म में ही होगा। उसी प्रकार दया, क्षमा परिणाम के काल में सातावेदनीय कर्म में अनुभाग रस बहुत अधिक बँधेगा। तथा ज्ञानावरणादि में अनुभाग रस मन्द पड़ेगा। अत: आस्रव तत्त्व के प्रतिपादक इस छठे अध्याय में तत्प्रदोषादि अठारह सूत्रों का कथन विशेष रूप से अनुभाग बन्ध की अपेक्षा किया गया है।

(२) आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं। किन्तु कषायों से स्थिति-अनुभाग बन्ध होता है तथा तत्प्रदोषादि भी कषायों की विशेष जातियों के अनुसार हुए परिणाम विशेष हैं अत: जैसे-जैसे प्राणियों के परिणाम विशेष होंगे, वैसे-वैसे प्रकार की अपनी-अपनी जाति के अनुभाग को करने वाली कर्म स्वरूप धूलियाँ जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होगी। **(श्लो. ६/५३६-३७)**

६. प्रश्न : उक्त कर्मों के आस्रवक हेतुओं का 'कार्य-कारण भाव' किस प्रमाण से नियत किया है ?

उत्तर : सूत्रकार ने अठारह सूत्रों के द्वारा आठ कर्मों में से प्रत्येक कर्म के आस्रव को कहा, उसमें जीवों की शुद्धि से पुण्य कर्मों का और अशुद्धि से पाप कर्मों का आस्रव होना कहा है। अर्थात् प्राणियों के तत्प्रदोष, निन्हव आदि संक्लेशता के अंग होने से ज्ञानावरण आदि अशुभ आस्रव के कारण हैं, इस प्रकार आगमप्रमाण से सिद्ध होता है।

विशुद्धि के अंग अर्थात् विशुद्धि के कारण विशुद्धि के कार्य तथा विशुद्धि के स्वभाव, ये सब विशुद्धि के अंग हैं। जो-जो परिणाम आत्मा की विशुद्धि का अंग होगा वह अविनाभाव रूप से पुण्य कर्मों का आस्रवक होगा। भूतवृत्यनुकम्पादान आदि विशुद्धि के अंग होने से सातावेदनीय आदि पुण्य कर्म के आस्रव के कारण हैं। **(श्लो. ६/५३५)**

इस प्रकार तत्त्वार्थमञ्जूषा में छठा अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : सप्तम अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : ३९ कुल प्रश्न : ५३९

- पहले दूसरे सूत्र में व्रत का लक्षण एवं भेद कहे हैं।
- तीसरे सूत्र से आठवें सूत्र तक प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ कही गयी हैं।
- ९वें से १२वें सूत्र तक इन व्रतों की स्थिरता के लिए विशेष भावनाएँ कही गयी हैं।
- १३वें से १७वें सूत्र तक पाँच व्रतों के लक्षण कहे गये हैं।
- १८वें-१९वें सूत्र में व्रती का लक्षण एवं भेद कहे गये हैं।
- २०वें सूत्र में अणुव्रती का लक्षण है एवं २१वें में शीलव्रतों का उल्लेख है।
- २२वें सूत्र में सल्लेखना का लक्षण कहा है।
- २३वें सूत्र में सम्यग्दर्शन के अतिचार कहे हैं।
- २४वें से ३६वें सूत्र तक १२ व्रतों के अतिचार कहे गये हैं।
- ३७वें सूत्र में सल्लेखना के अतिचार कहे हैं।
- ३८-३९वें सूत्र में दान का लक्षण एवं विशेषता कही गयी है।

व्रत

व्रत का लक्षण कहते हैं

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।।१ ।।

हिंसा-अनृत-स्तेय-अब्रह्म-परिग्रहेभ्यः-विरतिः व्रतम्।

(हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः) हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से **(विरतिः)** विरक्त होना (व्रतं) व्रत है।

अर्थ - हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म और परिग्रह से विरक्त होना व्रत है।

१. प्रश्न : सातवें अध्याय में किसका वर्णन किया गया है ?

उत्तर : सातवें अध्याय में आस्रव पदार्थ के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करके आस्रव के एक सौ आठ भेदों की संख्या का अनेक रीतियों से विचार किया है। पुण्य रूप और पापरूप कषायों का निमित्त होने से वह आस्रव दो प्रकार का है-

(१) पुण्यास्रव (२) पापास्रव।

उन पुण्य एवं पाप आस्रवों में से अब पुण्यास्रव का वर्णन करते हैं। पुण्यास्रव प्रधान है, क्योंकि मोक्ष पुण्यास्रव पूर्वक ही होता है अतः यहाँ पुण्यास्रव का व्याख्यान किया गया है। **(रा.वा. उ. १)**

२. प्रश्न : यह सूत्र किस लक्ष्य से लिखा गया है ?

उत्तर : पुण्यास्रव की क्रियाओं का व्रतियों के द्वारा प्रारम्भ किया जाता है। लेकिन अभी तक व्रत का कोई विशेष लक्षण निर्धारित नहीं किया गया है अतः यहाँ व्रत का लक्षण बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **अथवा -** 'कायवाङ्मनस्कर्मयोगः।' 'स आस्रवः।' 'शुभः पुण्यस्य'। काय, वचन, मन के निमित्त से आत्मप्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है वह योग है, योग ही आस्रव है, शुभ योग से पुण्यास्रव होता है, यह सामान्य लक्षण पुण्यास्रव का कहा है उसी का विशेष प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं। **अथवा-**

साता-वेदनीय के आस्रव के कारणों में 'भूतव्रत्यनुकम्पा...' सूत्र में व्रती का उल्लेख है, उसमें यह ज्ञात नहीं हुआ कि व्रत का लक्षण क्या है और व्रती किसे कहते हैं ? अतः व्रत के निर्धारण के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. १)**

आस्रव पदार्थ का व्याख्यान करते समय उसके आरम्भ में 'शुभः पुण्यस्य' यह कहा है पर वह सामान्य रूप से ही कहा है, अतः विशेष रूप से उसका ज्ञान कराने के लिए शुभ क्या है ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ६६३)**

३. प्रश्न : विरति किसे कहते हैं ?

उत्तर : विरमण का नाम विरति है। चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक चारित्र की प्रकटता होने से जो विरक्ति होती है उसे विरति कहते हैं। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : विरति शब्द को किस-किस के साथ लगाना चाहिए ?

उत्तर : विरति शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे- हिंसा से विरति, असत्य से विरति, स्तेय से विरति, अब्रह्म से विरति, परिग्रह से विरति। **(रा.वा. ७)**

५. प्रश्न : त्याज्य हिंसादि के भेद से त्याग अनेक प्रकार का होता है और त्याग के भेद से विरति भी अनेक प्रकार की हो सकती है अत: 'विरति' में बहु-वचन करना चाहिए ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उस विषय से विरमण सामान्य का ग्रहण है। यहाँ इस सूत्र में विषय के भेद से भेद विवक्षित नहीं है। जैसे- गुड़, चावल, तिल आदि का पाक, इस प्रकार सामान्य विवक्षा में एक वचन है उसी प्रकार विरमण सामान्य की विवक्षा होने से 'विरति' इस एक वचन का ग्रहण करना न्याय्य है। इसलिए सावद्य निवृत्ति लक्षण सामान्य सामायिक व्रत की अपेक्षा व्रत एक है और भेदाधीन छेदोपस्थापना की अपेक्षा व्रत पाँच होते हैं। **(रा.वा. ९)**

६. प्रश्न : व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्यादि सूत्रों द्वारा हिंसादि का जो स्वरूप आगे कहेंगे उनसे विरति होना व्रत कहलाता है। **(रा.वा. १)** प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। या 'यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है। **अथवा - (सर्वा. ६६४)** अभिसन्धिकृत नियम व्रत कहलाता है। बुद्धि पूर्वक परिणाम (त्याग) वा बुद्धि पूर्वक पापों का त्याग अभिसन्धि है। 'ऐसा ही करना है, अन्य प्रकार से निवृत्ति है।' ऐसे नियम को अभिसन्धि कहते हैं। अभिसन्धिकृत नियम सर्वत्र व्रत कहलाता है। व्रत में किसी अन्य कार्य से निवृत्ति ही मुख्य होती है। **(रा.वा. ३)**

जो वस्तु अहितकर हो, उसे छोड़े और जो सेवन करने योग्य नहीं हो वह भी छोड़े क्योंकि योग्य विषय से अभिप्रायपूर्वक की हुई निवृत्ति व्रत होती है। **(र.क.श्रा. ८६)**

सेवनीय वस्तु का संकल्प पूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा - प्रशस्त कार्यों में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त कार्यों के त्याग करने को व्रत कहते हैं। **(य.ति.च. ७/४७)**

७. प्रश्न : हिंसादि से विरति ही व्रत का लक्षण क्यों कहा है ?

उत्तर : छठे अध्याय के प्रारम्भ में शुभ योग को पुण्य के आस्रव का कारण कहा है, वह शुभ योग हिंसादि पांच पापों से विरति स्वरूप है, इस प्रकार व्रत के लक्षण से क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहिंसा,

सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों से विरति हो जाना व्रत है, इस मन्तव्य का निराकरण कर दिया गया है। जैसे- जो विरति है वह व्रत है यदि इतना ही व्रत का लक्षण कह दिया जाता तो सम्यक्त्व आदि गुणों से विराम लेने को भी व्रत का प्रसंग आता, अत: सूत्र में हिंसा आदि पापों से विरति होना व्रत है; इस कथन से गुणों से विरति को व्रत संज्ञा होने का निराकरण हो जाता है। **(श्लो. ६/५४७)**

८. प्रश्न : सूत्र में अहिंसा व्रत का सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सत्यादि सर्व व्रतों के परिपालन का कारण होने से अहिंसा व्रत सर्व व्रतों में प्रधान है। सत्यादि व्रत बाड़ के समान हैं और अहिंसा व्रत धान्य के समान। जैसे- धान्य की रक्षा के लिए खेत में चारों ओर बाड़ लगा दी जाती है उसी प्रकार सत्यादि सर्व व्रत चारों ओर से अहिंसा रूप धान्य की रक्षा करने वाले हैं अत: सर्व व्रतों में प्रधान होने से अहिंसा व्रत का सर्वप्रथम ग्रहण किया है। **(रा.वा. ६)**

९. प्रश्न : सर्व व्रतों में अहिंसा व्रत प्रधान क्यों है ?

उत्तर : अहिंसा[1] महाव्रत सत्यादिक अगले चार महाव्रतों का तो कारण है, क्योंकि वे बिना अहिंसा के नहीं हो सकते और शीलादि उत्तर गुणों की चर्या का स्थान भी अहिंसा ही है। वही तो समय अर्थात् उपदेश का सर्वस्व है, और वही सिद्धान्त का रहस्य है, जो जीवों के समूह की रक्षा के लिए हो, एवं वही भाव शुद्धि पूर्वक दृढ़व्रत है। समस्त मतों के शास्त्रों में यही सुना जाता है कि अहिंसा लक्षण तो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करना ही पाप है। तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान और दान करना तथा सत्य, शील, व्रतादिक जितने भी उत्तम कार्य हैं उन सबकी माता एक अहिंसा ही है। जिस प्रकार ज्योतिष्कों में चन्द्रमा, देवों में इन्द्र, ग्रहों में सूर्य, वृक्षों में कल्पवृक्ष, जलाशयों में समुद्र, पर्वतों में मेरु और देवों में श्री वीतराग देव प्रधान है, उसी प्रकार शील और व्रतों में तथा शमभाव, यम और तपों में अहिंसा को प्रधान जानो। **(ज्ञा. ८/७, ३०, ३१, ४२, ५९)**

१०. प्रश्न : सूत्र में रात्रिभोजनत्याग रूप छठे व्रत का ग्रहण क्यों नहीं किया ?

उत्तर : यद्यपि रात्रिभोजनविरति का छठे अणुव्रत के रूप में निर्देश मिलता है, फिर भी अहिंसा व्रत की 'आलोकितपान भोजन' नामक भावना में अन्तर्भाव होने से इसका पृथक् ग्रहण नहीं किया है। **(रा.वा. १५)**

११. प्रश्न : आलोकितपान भोजन भावना से रात्रिभोजनत्याग कैसे हो सकता है क्योंकि चन्द्र और दीपक आदि के प्रकाश में शोधन करके रात्रिभोजन कर सकते हैं ?

उत्तर : दीपक आदि के प्रकाश में रात्रिभोजन नहीं कर सकते क्योंकि रात्रि में भोजन करने से दीपक के जलाने, अग्नि आदि का समारम्भ करने-कराने में आरम्भ-जनित अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। **(रा.वा. १७)**

---

१. जीवों के मरते या जीते प्रमादी पुरुषों को तो निरन्तर ही हिंसा का पापबन्ध होता ही रहता है और जो संवर सहित अप्रमादी हैं उनको जीवों की हिंसा होते हुए भी हिंसा रूप पाप का बन्ध नहीं होता। **(ज्ञा. ८/९)**

१२. प्रश्न : दूसरे के द्वारा प्रज्वलित दीपकादि की उत्पत्ति सम्भव है अत: उसमें आरम्भजनित दोष नहीं होंगे ?

उत्तर : यद्यपि दूसरे के द्वारा जलाये हुए प्रदीप के प्रकाश में स्वयं का आरम्भ नहीं है तो भी गमन-भ्रमण तो पर के द्वारा नहीं हो सकता, भ्रमणजनित दोष तो रात्रि-भोजन में लगेंगे ही और रात्रि में भ्रमण का अभाव है। क्योंकि 'ज्ञान-सूर्य तथा स्व इन्द्रिय प्रकाश के द्वारा परीक्षित मार्ग में चार हाथ आगे देखकर यति को योग्य देश-काल में भ्रमण करके शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए,' ऐसा आचार ग्रन्थ का उपदेश है, यह विधि भी नहीं हो सकती क्योंकि रात्रि में भ्रमण, गमनागमन करने का निषेध है। **(रा.वा. १८)**

१३. प्रश्न : व्रतों का कथन आस्रव और संवर से पृथक् क्यों किया है ?

उत्तर : व्रत संवर रूप नहीं है क्योंकि व्रतों में आत्म-प्रदेशों का कंपन देखा जाता है और अनृत, चोरी आदि से विरक्ति होकर सत्य-अचौर्य आदि में प्रवृत्ति देखी जाती है। **अथवा-** गुप्ति आदि है लक्षण जिसका ऐसे संवर का वर्णन नवम अध्याय में करेंगे। इस संवर के अहिंसादि व्रत परिकर्म (सहायक) हैं। व्रतों का संस्कार रखने वाला साधु सुखपूर्वक संवर करता है अत: संवर की भूमिका रूप इन व्रतों का वर्णन संवर और आस्रव से पृथक् करना चाहिए। इसलिए इनका निर्देश संवर और आस्रव से पृथक् किया है। **(रा.वा. १३-१४)**

व्रतों के भेद

देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

देश-सर्वत:- अणु-महती।

(देशसर्वत:) एकदेश और सर्वदेश से त्याग (अणुमहती) क्रमश: अणुव्रत और महाव्रत है।

अर्थ : एकदेश रूप से और सर्वदेश रूप से त्याग करने से व्रत भी अणु और महा रूप से दो प्रकार के हैं।

अणुव्रत - पाँच पापों का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है।

महाव्रत - पाँच पापों का सर्व रूप से त्याग करना महाव्रत है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : हिंसा आदि सावद्य कर्मों से विरक्त होना सामान्यतया पाँच प्रकार का व्रत कहा है। विरति की आश्रयभूत विवक्षाओं की सम्भावना से व्रत दो कोटियों में बाँटा गया है। उन भेदों को कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २)**

२. प्रश्न : व्रत कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : व्रत दो प्रकार के होते हैं -

(१) अणुव्रत (२) महाव्रत। **(त.सू. ७/२)**

(१) देशव्रत (२) महाव्रत। **(त.सू. ७/२)**

(१) सकल चारित्र (महाव्रत) (२) विकल चारित्र (अणुव्रत)। **(र.क.श्रा. ५०)**

३. प्रश्न : अणुव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से एकदेश विरति अणुव्रत है। **(रा.वा. २)** स्थूल हिंसा-मृषा-अदत्तग्रहण-कुशील तथा मूर्च्छा इन स्थूल पापों से विरत होना अणुव्रत है। **(र.क.श्रा. ५२)**

हिंसादि पाँच पाप स्थूल और सूक्ष्म की अपेक्षा दो प्रकार के हैं, इनमें स्थूल पापों से विरत होना अणुव्रत कहलाता है। अणुव्रतधारी जीवों के सूक्ष्म पापों का त्याग असम्भव रहता है इसलिए स्थूल हिंसादि के त्याग को ही अणुव्रत कहते हैं। **(र.क.श्रा.टी. ५२)**

अहिंसाणुव्रत का धारी पुरुष त्रसहिंसा से तो निवृत्त होता है परंतु स्थावर हिंसा से निवृत्त नहीं होता।

४. प्रश्न : एकदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर : कुतश्चित् दृष्टिगोचर होता है, वह देश है। देश, प्रदेश और एकदेश ये सब एकार्थवाची हैं। जो वस्तु के कुछ अंशों तक उसे ग्रहण करता है समस्त वस्तु को नहीं उसे एकदेश कहते हैं। **(रा.वा.२)**

५. प्रश्न : अणुव्रत कितने होते हैं ?

उत्तर : अणुव्रत पाँच होते हैं -

(१) प्राणवध विरक्ति (२) असत्य विरक्ति (३) चोरी से विरक्ति (४) परस्त्री सेवन विरक्ति (५) परिग्रह में अमर्यादित इच्छा की विरक्ति। **(भ.आ. २०७४)**

(१) स्थूल त्रस काय के घात का त्याग (२) स्थूल मृषात्याग (३) स्थूल अदत्तादान त्याग (४) परस्त्री का त्याग (५) परिग्रह और आरम्भ का परिमाण। **(चा.पा. २३)**

अणुव्रत पाँच प्रकार का है और रात्रिभोजनत्याग यह छठा अणुव्रत है। **(चा.सा.)** (१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत (५) परिग्रह परिमाणाणुव्रत। **(म.पु. १०/१६३)**

६. प्रश्न : अहिंसाणुव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना[१] रूप संकल्प से त्रस जीवों को नहीं हनता है, उस क्रिया को गणधरादि निपुण पुरुष स्थूल-हिंसा से विरक्त होना (अहिंसाणुव्रत) कहते हैं। **(र.क.श्रा. ५३)**

---

१. कृत, कारित, अनुमत के भेद से तीन भेद रूप हिंसा आदि को मन, वचन, काय से अथवा मन वचन से अथवा काय से त्याग नहीं करता है। कृत कारित रूप हिंसा आदि की तीन रूप (मन-वचन-काय) से, दो रूप से या एक रूप से छोड़ता है अथवा हिंसा के एक स्वयं करने को मन-वचन-काय से त्यागता है। **(भ.आ. वि. ११२)**

त्रस जीवों को नहीं मारना चाहिए और निष्कारण अर्थात् बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवों को भी नहीं मारना चाहिए। यह पहला स्थूल अहिंसाणुव्रत है। **(वसु. श्रा. २०९)**

देवता की प्रीति के लिए, अतिथि के आहार के लिए, मंत्र के साधन के लिए, औषध बनाने के लिए और किसी भी प्रकार के भय के प्रतीकार के लिए किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिए। यह अहिंसा नाम का अणुव्रत है। **(व.चा. १५/११२)**

जो श्रावक दयापूर्ण व्यापार करता है, अपने ही समान दूसरों को मानता है, अपनी निन्दा और गर्हा करता हुआ महा-आरम्भ को नहीं करता है तथा जो मन-वचन-काय से त्रस जीवों का घात न स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है और न दूसरा करता हो तो उसे अच्छा मानता है, उस श्रावक के प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है। **(का.अ. ३३१-३२)**

जो त्रसकायिक जीव दो इन्द्रिय आदि के भेद से चार प्रकार के हैं उनको जानकर रक्षण करना इसे अहिंसाणुव्रत माना गया है। **(सु.र.सं. ७६४)**

७. प्रश्न : अहिंसाणुव्रती को क्या-क्या कार्य नहीं करने चाहिए ?

उत्तर : जो सद्गृहस्थ त्रस जीवों के रक्षण में उद्यत है उन्हें निरन्तर मद्य, मांस, मधु और दूध युक्त वृक्षों के फलों के खाने का परित्याग करना चाहिए। जिस रात्रिभोजन में सूक्ष्म जीवों का घात होता है तथा अपवित्र वस्तु भी खाने में आ जाती है उसको दयालु सज्जन पुरुष नहीं करते हैं। जो श्रावक प्रथम अहिंसाणुव्रत के पालन में आसक्त हैं उन्हें कभी औषध आदि के निमित्त से भी प्राणियों की हिंसा नहीं करना चाहिए।[१] श्रावक चूंकि स्थावर जीवों का घात तो पूर्ण रूपेण करता है परन्तु वह भाव से त्रस जीवों का रक्षण करता है, इसलिए उसे विरताविरत जानना चाहिए। **(सु. र. सं. ७६५-६८)**

८. प्रश्न : अहिंसाणुव्रत पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अहिंसाणुव्रत पालन से लाभ-

(१) पर्वतों सहित स्वर्णमयी पृथिवी के दान से भी अधिक फल एक जीव की रक्षा से प्राप्त होता है। **(अ.श्रा. ११/५)**

(२) एक जीव की दया के द्वारा ही चिन्तामणि की भाँति अन्य सकल धार्मिक क्रियाओं के फल की प्राप्ति हो जाती है।

---

१. अहिंसाणुव्रती को निम्नलिखित व्यवसाय भी नहीं करने चाहिए- दवा बेचना, कीटनाशक यूरिया आदि खाद बेचना, हिंसा से उत्पन्न सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री, शेयर संबंधी दलाली, चर्मज वस्तुओं का विक्रय, मत्स्यपालन, मुर्गीपालन, रेशम, सिल्क आदि वस्त्र व्यापार, सट्टा, लॉटरी, ऑयल मिल, कूप-बावड़ी खुदवाना, वृक्ष कटवाना, ईंटें पकाना, कन्दमूलादि विक्रय करना, इत्यादि।

(३) आयुष्मान होना, सुभगपना, धनवानपना, सुन्दर रूप, कीर्ति आदि ये सब कुछ मनुष्य को एक अहिंसाव्रत के माहात्म्य से ही प्राप्त हो जाते हैं। **(भा.पा. १३४ टी. से उद्धृत)** (४) स्वल्प काल तक पाले जाने पर भी यह अहिंसाणुव्रत प्राणी पर महान् उपकार करता है जैसे- शिंशुमार ह्रद में फेंका गया चाण्डाल अल्पकाल अहिंसाव्रत को पालने से देवों द्वारा पूजा गया। **(भ.आ. वि. ८१६)**

९. प्रश्न : सत्याणुव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्थूल झूठ न तो आप बोलता है न दूसरों से बुलवाता है तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो ऐसा सत्य भी न स्वयं बोलता है न दूसरों से बुलवाता है, वह सत्याणुव्रत है। **(र.क.श्रा. ५५)**

क्रोध, लोभ, मद, द्वेष, राग और मोह के कारण से असत्य भाषण का परित्याग करना इसे सत्याणुव्रत कहा जाता है। **(सु.र.सं. ७६९)**

राग से अथवा द्वेष से झूठ वचन नहीं बोलना चाहिए और प्राणियों का घात करने वाला सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, यह दूसरा सत्याणुव्रत है। **(वसु. श्रा. २१०)**

जो हिंसा का वचन नहीं कहता, कठोर वचन नहीं कहता, निष्ठुर वचन नहीं कहता और न दूसरों की गुप्त बात को प्रकट करता है तथा हित, मित वचन बोलता है, सब जीवों को सन्तोषकारक वचन बोलता है और धर्म का प्रकाशन करने वाला वचन बोलता है वह दूसरे सत्याणुव्रत का धारी है। **(का.अ. ३३३-३४)**

१०. प्रश्न : सत्याणुव्रती कैसे वचन नहीं बोलता है ?

उत्तर : जिस वचन से हिंसा, आरम्भ और भय आदि दोषों की प्रवृत्ति होती है सत्याणुव्रती श्रावक को उस सत्य वचन को भी नहीं बोलना चाहिए। जो मनुष्य हास्यपूर्ण, कठोर, पिशुनता से युक्त और निर्दयतापूर्ण वचन को छोड़ देता है उसका निर्मल सत्याणुव्रत स्थिरता को प्राप्त होता है। मूर्ख मनुष्य जिस पशु हिंसादि कर्म को धर्म बतलाते हैं तथा जिसकी म्लेच्छ जन भी निन्दा करते हैं उसको सूचित करने वाले असत्य वाक्यों का हितैषीजन को मन, वचन और काय से परित्याग करना चाहिए। **(सु.र. सं. ७७०-७२)** जो महानुभाव सत्य अणुव्रत को पालन करने वाले हैं उन्हें चाहिए कि जब बोलें उस समय सत्य ही बोलें, हितकारी बोलें, बहुत थोड़ा परिमित बोलें, पक्षपात रहित निर्दोष बोलें, 'मारो, बाँधो' इत्यादि शब्द कभी न बोलें एवं बहुत मीठा और धर्म के स्वरूप को सूचित करने वाला बोलें। **(मल्लि. ७/३२-३३)**

सत्याणुव्रती विद्वान् पुरुष को परस्त्रीकथा, राजविरुद्ध कथा वा लोक-विरुद्ध कथा का त्याग करते हुए निरर्थक, नायक रहित व कपोल-कल्पित कथा नहीं कहनी चाहिए। **(य.ति.च. ७/११३)**

११. प्रश्न : सत्याणुव्रत पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : सत्याणुव्रत पालन करने से लाभ-

(१) सत्यवचन से ज्ञान, विद्या एवं विवेक बढता है।

(२) सत्यवचन पालने वाला सभा को जीतने वाला वादी एवं अच्छा कवि होता है।

(३) सत्यवादी के मीठा स्वर एवं वचन की चतुरता आती है।

(४) निरतिचार सत्यव्रत पालन से स्वर्गादिक तथा राज्यादिक के सुख भोगकर अन्त में मुक्ति लक्ष्मी का स्वामी होता है। **(प्रश्नो. श्रा. १३/२७-२८)**

(५) सत्यवादी के आग-पानी, समुद्र-स्थल, शत्रु-मित्र एवं देव नौकर हो जाते हैं।

(६) सत्यवादी के जंगल-ग्राम, पर्वत-घर, सर्प-माला, सिंह-हिरण एवं विष-अमृत हो जाता है।

(७) सत्यवादी के नरक बिल के अस्त्र-शस्त्र कमलपत्र हो जाते हैं एवं विषम कार्य भी सम हो जाते हैं। **(सू.मु. ३२)**

१२. प्रश्न : अचौर्याणुव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में नहीं लेता, दूसरे की भूली हुई वस्तु को नहीं उठाता, थोड़े लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है तथा कपट, लोभ, माया व क्रोध से पराये धन का हरण नहीं करता वह शुद्ध-मति दृढ़ निश्चयी श्रावक अचौर्याणुव्रती होता है। **(का.अ. ३३५-३६)** जो रखे हुए, गिरे हुए, भूले हुए अथवा धरोहर रखे हुए पर द्रव्य को स्वयं नहीं हरता (ग्रहण करता) है न दूसरों को देता है वह स्थूल चोरी का त्यागी है। **(र.क.श्रा. ५७)**

जो सोना-चाँदी आदि वस्तुएँ नष्ट हों अर्थात् जमीन आदि के अन्दर गड़ी हों वा मार्ग आदि में गिरी, पड़ी हों वा किसी कारणवश भूली हुई हों उन्हें मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से जो ग्रहण नहीं करता है वह तीसरा अचौर्य नाम का अणुव्रत है। **(मल्लि.पु. ७/३४)** जो श्रावक ग्राम आदि में गिरी-पड़ी हुई दूसरे की अल्प आदि वस्तु को ग्रहण नहीं करता है उसके यह तीसरा अणुव्रत होता है। **(सु.र.सं. ७७३)**

१३. प्रश्न : अचौर्याणुव्रती किन-किन पदार्थों को ग्रहण नहीं करता है ?

उत्तर : प्राणी चोरी के कारण चूंकि इस लोक में तो राजा आदि से तथा परलोक में नरकादि दुर्गति की प्राप्ति से दु:ख को प्राप्त होता है इसलिए विद्वान्जनों को निरन्तर चोरी का परित्याग करना चाहिए। चूंकि प्राणी धन के सहारे बन्धुजनों के साथ जीवित रहते हैं इसलिए उस धन के अपहरण से मनुष्य उन सबके जीवन का भी अपहरण करता है। कारण कि धन के नष्ट होने पर प्राणी अतिशय संकट में पड़कर प्राणों तक का त्याग कर देते हैं और इस सब पाप का कारण उक्त धन का अपहरण करने वाला ही होता है। जो भी अहिंसा आदि धर्म हैं वे भी चोरी से नष्ट हो जाते हैं, यह समझ करके विद्वान् मनुष्य को मन-वचन-काय से दूसरे के धन को ग्रहण नहीं करना चाहिए। **(सु.र.सं. ७७४-७६)**

कुटुम्बियों की मृत्यु हो जाने पर उनका धन बिना दिया हुआ भी ग्राह्य है। इसके विपरीत जो लोग जीवित कुटुम्बियों के धन को लोभवश बिना दिया हुआ ग्रहण करते हैं उनका अचौर्याणुव्रत नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार उसे मन्दिर, मार्ग, पानी, वन, पहाड़ आदि में पड़े हुए दूसरों के धन को ग्रहण नहीं करना चाहिए। अपने द्वारा उपार्जित धन में भी यदि संशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरे का तो वह द्रव्य ग्रहण करने के अयोग्य है। **(य.ति.च. ७/९६-१००)**

१४. प्रश्न : अचौर्याणुव्रत का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अचौर्य अणुव्रत पालने से लाभ-

(१) यह अचौर्याणुव्रत सब दोषों से रहित, सन्तोष की जड़ एवं स्वर्ग-मोक्ष का कारण है।

(२) यह व्रत यश और प्रसन्नता को बढ़ाने वाला तथा धर्म एवं व्रतों का घर है।

(३) यह व्रत विद्वानों के द्वारा पूज्य है एवं इस व्रत का धारी देवों से पूज्य होता है। **(प्रश्नो. १४/३७-३८)**

(४) अचौर्यव्रती की मुक्ति भी अभिलाषा करती है एवं समृद्धि उसका वरण करती है।

(५) उसकी कीर्ति फैलती है तथा संसार की पीड़ायें एवं विपत्तियाँ उसको छोड़ देती हैं।

(६) विनीत पुरुष को विद्या प्राप्ति के समान उसे स्वर्ग-मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है।

(७) कमल में कलहंसी के समान उसमें कल्याण परम्परा प्राप्त होती है।

(८) सुमति उसको चाहती है एवं दुर्गति उसको देखती भी नहीं है। **(सू. मु. ३३-३४)**

१५. प्रश्न : ब्रह्मचर्याणुव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरे मनुष्यों की स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री के समान मानकर जो केवल अपनी पत्नी के साथ सन्तोष रखा जाता है उसे ब्रह्मचर्याणुव्रत नामका चौथा अणुव्रत जानना चाहिए।[१] **(सु.र.सं. ७७८)** जो पाप के भय से न तो परस्त्री के प्रति गमन करे (करता) और न दूसरों से गमन करावे, वह परस्त्री त्याग तथा स्वदार संतोष नाम का अणुव्रत है। **(र.क.श्रा. ५९)**

अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में स्त्रीसेवन और सदैव अनंगक्रीड़ा का त्याग करने वाले जीव को प्रवचन में भगवान ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है। **(वसु.श्रा. २१२)**

जो स्त्री के शरीर को अशुचिमय और दुर्गन्धित जानकर उसके रूप-लावण्य को भी मन में मोह

---

१. यद्यपि स्वस्त्री और परस्त्री के सेवन में कुछ भी विशेष नहीं है परन्तु परस्त्री सेवन करने वाला तो नरक में जाता है और स्वदार सन्तोषी स्वर्ग में जाता है। कारण यह है कि स्वदार की अपेक्षा परस्त्रीसेवन में राग अधिक होता है और पर द्रव्य में राग करना ही दुःख का मुख्य कारण है। (ध. प.)

को पैदा करने वाला मानता है तथा मन-वचन-काय से परायी स्त्री को माता-बहन और पुत्री के समान समझता है वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचर्य का धारी है। **(का.अ. ३३७-३८)**

स्वस्त्री-सन्तोष अथवा परस्त्री से निवृत्ति वा किसी के सर्वथा स्त्री के त्याग का नाम ब्रह्मचर्य व्रत है। **(चा.पा.टी. २१)**

१६. प्रश्न : ब्रह्मचर्याणुव्रती को क्या-क्या कार्य नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : ब्रह्मचर्याणुव्रती के नहीं करने योग्य कार्य-

(१) कामवर्धक सरागी कार्य, कामोद्दीपक रसों का सेवन एवं कामवर्धक शास्त्रों का श्रवण-पठन नहीं करना चाहिए।

(२) अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य स्त्रियों, बन्धुजनों की स्त्रियों एवं तपस्विनी स्त्रियों से (विशेष-अनावश्यक) सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए।

(३) मद्यपान, जुआ खेलना, उपद्रव्य (मांस-मधु सेवन या जननेन्द्रिय पर लेप आदि) बाजे, गीत सुनने में एवं नृत्य देखने में आसक्ति, भड़कीली वेषभूषा, मद, विटत्व एवं व्यर्थ भ्रमण का त्याग करना चाहिए। **(य.ति.च. ७/१३७-५३)**

(४) नैतिक पुरुष को वीर्य की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहिए एवं अपनी स्त्री को अधिक मात्रा में सेवन करने का त्याग करना चाहिए। **(नीति.वा. १६/७)**

(५) अपने शरीर को विशेष रूप से शृंगारित एवं संस्कारित करने का त्याग करना चाहिए।

(६) एकान्त में स्त्रियों को पुरुष से एवं पुरुषों को स्त्रियों के साथ विशेष वार्तालाप, एक आसन पर बैठना, आदि का त्याग करना चाहिए।

(७) पर पुरुष के अंगों के स्पर्श, अश्लील मजाक, कटाक्ष करना, नित्य प्रति गरिष्ठ भोजन, विशेष मसालों की चटपटी वस्तुओं को खाने का त्याग करना चाहिए।

१७. प्रश्न : ब्रह्मचर्याणुव्रत पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो मनुष्य मुक्ति रूपी स्त्री के चित्त को प्रसन्न करने वाला ब्रह्मचर्य पालन करते हैं वे स्वर्ग का साम्राज्य पाकर अन्त में मुक्ति के स्वामी होते हैं। जो विद्वान् एकाग्रचित्त से शील का पालन करते हैं उनकी इन्द्र भी आकर स्वयं सेवा करता है। जो एक दिन भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह नौ लाख जीवों को अभयदान देने का पुण्य प्राप्त करता है। शीलवान पुरुष इस लोक और परलोक में मनुष्य, देव, विद्याधरों के द्वारा पद-पद पर पूज्य होता है और अन्त में स्वर्ग-मोक्ष का स्वामी होता है। इस संसार में जो स्त्रियाँ शील रूपी आभरण को धारण करती हैं वे देवों के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा पाकर सोलहवें स्वर्ग में जाकर देव होती हैं। **(प्र.श्रा. १५/३२-३६)**

१८. प्रश्न : परिग्रह परिमाणाणुव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : धन, धान्यादि दश प्रकार के परिग्रह को परिमित अर्थात् उसका परिमाण करके कि 'इतना रखेंगे' उससे अधिक में नि:स्पृह (इच्छा नहीं रखना) सो परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। तथा यही इच्छा-परिमाणवाला व्रत भी कहा जाता है। **(र.क.श्रा. ६१)**

घर, सुवर्ण, भूमि, धान्य, गाय और सेवक आदि वस्तुओं का जो प्रमाण निर्धारण पूर्वक ग्रहण किया जाता है उसे परिग्रह परिमाण नाम का पाँचवाँ अणुव्रत कहते हैं। **(सु.र.सं. ३१/७८७)**

जो लोभ कषाय को कम करके, सन्तोष रूपी रसायन से सन्तुष्ट होता हुआ सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णा का घात करता है और अपनी आवश्यकता को जानकर धन, धान्य, सुवर्ण आदि का परिमाण करता है, उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है। **(का.अ. ३३९-४०)**

१९. प्रश्न : परिग्रह परिमाण व्रत धारण करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इस परिग्रह का परिमाण करने से गृहस्थों का लोभ नष्ट हो जाता है और तृष्णा सन्तोष रूप में परिणत हो जाती है। संतोष से धर्म होता है, धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और स्वर्गप्राप्ति से सुख मिलता है इसलिए सुख के इच्छुओं को यह लोभ दूर से ही छोड़ देना चाहिए। संतोष के समान सुख तीनों लोकों में न हुआ है न हो सकता है, न इसके समान अन्य कुछ सार है और न इसके समान उत्तम धर्म प्रगट करने वाला है। संतोष रूपी आसन पर बैठा हुआ मनुष्य जो-जो पदार्थ चाहता है वह चाहे तीनों लोकों में कहीं भी क्यों न हो उसे उस समय मिल जाता है। जो उत्तम विद्वान् सन्तोष रूपी थोड़े से अमृत को भी पी लेता है वह जन्म-मरण बुढ़ापा आदि विष को नष्ट कर और महासुखों को भोगकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। **(प्र.श्रा. १६/१५-१९)**

जिस मनुष्य का चित्त संतोष से आलिंगित है उसको जो निरन्तर सुख होता है उसका लेशमात्र भी तृष्णायुक्त मनुष्य के कहाँ से हो सकता है। जब तक मनुष्य परिग्रह को ग्रहण करता है तब तक हिंसा होती है, यह जानकर परिग्रह का परिमाण करना चाहिए।

यह परिग्रह परिमाण करना शुभगति रूपी रत्नों का पात्र है, नरक रूपी घर को बन्द करने के लिए किवाड़ के समान है, धर्म रूपी रत्नों की खानि है, अशुभरूप वृक्षों को उखाड़ने के लिए वायु के समान है, लोभ रूपी हाथी को मारने के लिए सिंह है। जो बुद्धिमान इस परिग्रह परिमाण व्रत को धारण करता है वह देवों के द्वारा आदर-सत्कार प्राप्त कर अनुक्रम से स्वर्ग-मोक्ष के सुख प्राप्त करता है। **(प्रश्नोत्तर श्रा. १६/५२-५३)**

२०. प्रश्न : महाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो महान् व्रत हैं उनको महाव्रत कहते हैं। यहाँ महान् शब्द महत्त्व या प्राधान्य अर्थ में है और व्रत शब्द सावद्य की निवृत्ति रूप अर्थ में और मोक्ष की प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण अर्थ

में है। क्योंकि ऐसे आचरण का महापुरुषों के द्वारा अनुष्ठान किया जाता है। **(मू. २-३)**

मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पापों का पूर्ण रूप से सर्वथा त्याग कर देना महाव्रत कहलाता है। **(मू.प्र. ५०-५१)**

पापबन्ध के कारणभूत हिंसादि पाँच पापों का नौ कोटियों से त्याग कर देना महाव्रत है। **(र.क.श्रा.टी. ७२)**

नोट : मन से करना, कराना, अनुमोदना करना।

वचन से करना, कराना, अनुमोदना करना।

काय से करना, कराना, अनुमोदना करना। ये नौ कोटि कहलाती हैं।

२१. प्रश्न : इन्हें महाव्रत क्यों कहते हैं ?

उत्तर : महल्ला अर्थात् महन्त पुरुष जिनको साधते हैं, आचरण करते हैं और पहले भी जिनका महन्त पुरुषों ने आचरण किया है तथा ये व्रत आप ही महान् हैं (क्योंकि इनमें पाप का लेश भी नहीं है) इस प्रकार ये पाँच महाव्रत हैं। **(चा.पा. ३०)**

ये महाव्रत स्वत: ही मोक्ष को प्राप्त कराने वाले होने से महाव्रत कहलाते हैं। **(मू.आ. २)**

२२. प्रश्न : महाव्रत कितने होते हैं ?

उत्तर : महाव्रत पाँच होते हैं-

(१) हिंसा का त्याग (२) सत्य बोलना (३) अदत्त वस्तु-ग्रहण का त्याग (४) ब्रह्मचर्य (५) परिग्रह-त्याग। **(मू. ४)**

२३. प्रश्न : अहिंसा महाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें मन, वचन, काय से त्रस और स्थावर जीवों का घात स्वप्न में भी न हो उसे (अहिंसा) महाव्रत कहते हैं। **(ज्ञा. ८/८)**

काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि इनमें सभी जीवों को जान करके कायोत्सर्ग आदि में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। **(मू.गा. ५)**

जो द्रव्यप्राण और भावप्राण को धारण करने में समर्थ हैं वे जीव कहलाते हैं। स्थान शब्द से कायोत्सर्ग से यहाँ खड़े होना, ठहरना यह अर्थ विवक्षित है और शब्द से आसन, शयन, गमन, भोजन, शरीर का उद्वर्तन, संकोचन, प्रसारण आदि क्रियाविशेषों में जीवों के प्राणों का व्यपरोपण, वियोग करना हिंसा आदि है। और इस हिंसा आदि का वर्णन करना, वध, परिताप, मर्दन आदि का परिहार करना अहिंसा है। ठहरना आदि क्रियाओं के प्रदेशों में प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले मुनि के हिंसादि का जो त्याग है वह

अहिंसाव्रत है अथवा-काय, इन्द्रिय आदि को जान करके ठहरने आदि की क्रियाओं में जीवों की हिंसादि का परिहार करना अहिंसा है। **(मू.गा. ५)**

षट् काय के जीवों की मन, वचन, काय से पूर्ण रक्षा करना सो पहला अहिंसा महाव्रत है। **(पा.पु. ९/८३)**

२४. प्रश्न : अहिंसा महाव्रती क्या-क्या कार्य नहीं करता है ?

उत्तर : मुनिराज शिला-पत्थर आदि कठोर एवं मिट्टी आदि कोमल पृथ्वी को खोदना, तोड़ना, लकीरें करना, चोट पहुँचाना आदि कार्यों को न करते हैं, न करवाते हैं और न करते हुए की अनुमोदना करते हैं क्योंकि इन कार्यों से पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना होती है।

मुनिराज- मेघ, बर्फ की बूंद आदि में रहने वाले जलकायिक जीवों को स्पर्श संघट्टन, उससे पाद-प्रक्षालन आदि के द्वारा कृत-कारित-अनुमोदना से बाधा नहीं पहुँचाते हैं।

मुनिराज शीत-ज्वरादि के उत्पन्न होने पर भी ज्वाला, अंगार, अग्नि की शिखा आदि को काम में नहीं लेते हैं, न वे हाथ से या अन्य किसी उपाय से बुझाते हैं, न घात करते हैं। वे कभी अग्नि के प्रकाश में रहने की इच्छा नहीं करते हैं; अग्नि का समारम्भ करने से अग्निकायिक जीवों की हिंसा होती है अत: इसको मुनिराज छोड़ देते हैं।

शरीर में अनेक प्रकार की दाह होने पर भी मुनिराज वस्त्र से, पंखे से, हाथ से, वस्त्र के कोने से, पत्ते से, दूसरे के द्वारा भी हवा नहीं करवाते हैं क्योंकि ऐसा करने से वायुकायिक जीवों की एवं उनके आश्रित जीवों की हिंसा होती है। वे उष्णता से पीड़ित हो अपने मुख से भी हवा (फूंक) नहीं करते हैं।

मुनिराज अंकुर, बीज, पत्र, पुष्प आदि के आश्रित रहने वाले वनस्पतिकायिक जीवों का छेदन, भेदन, पीड़न, वध, बाधा, स्पर्श और विराधना आदि न स्वयं करते है, न दूसरों से कराते हैं। वे गमनागमन में सेवाल और पुष्पिका (फफूंद) आदि में रहने वाले अनन्तकाय जीवों की हिंसा नहीं करते हैं। द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की भी नव कोटि से हिंसा नहीं करते हैं। **(मू.प्र. ५६-९२)**

२५. प्रश्न : अहिंसा महाव्रत पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अहिंसा महाव्रती के यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने से यदि उससे कोई जीव मर भी जाय तो उसके कर्मों का बन्ध नहीं होता है तथा उसके मन-वचन-काय की शुद्धि होने से उसके आत्मा की शुद्धि और बढ़ जाती है। इस अहिंसा (दया) के साथ किया गया तपश्चरण, योग आदि से अनुष्ठान मोक्ष-रूपी वृक्ष का बीज माना जाता है तथा समस्त ऋद्धियों का कारण बन जाता है। जिस मुनि का शुद्ध हृदय समस्त जीवों की कृपा से भरा हुआ है उसके संवर-निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं। **(मू.प्र. १०१-१०८)**

२६. प्रश्न : सत्य महाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : राग और द्वेष अथवा मोह से होने वाले मृषा भाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है उसी को सदा दूसरा व्रत होता है। **(नि.सा. ५७)**

रागादि के द्वारा असत्य बोलने का त्याग करना और पर को ताप करने वाले सत्य वचनों के भी कथन का त्याग करना तथा सूत्र और अर्थ के कहने में अयथार्थ वचनों का त्याग करना सत्य महाव्रत है। **(मू. ६)**

मुनिराज जो धर्म और ज्ञान के उपदेश के लिए राग-द्वेष-रहित, यथार्थ हित करने वाले परिमित, सारभूत, जिनशास्त्रों के अनुसार शुभ, पापरहित और करुणा से भरे हुए वचन कहते हैं, उसको भगवान जिनेन्द्रदेव दूसरा सत्य महाव्रत कहते हैं। **(मू.प्र. १२२-२३)**

(जगत के हितकारी और अहित को दूर करने वाले, कानों के लिए सुखकारी, मिथ्यात्व रूपी रोग को दूर करने वाले, सब सन्देह को मिटाने वाले) ऐसे हित-मित-परिमित सत्य वचन बोलना सो दूसरा सत्य महाव्रत है। **(पा.पु. ९/८४)** जो वचन यथार्थ है, कषायों से रहित है, प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाने वाला है, पवित्र भावना से युक्त है, गृहस्थ लोक-व्यापार-आरम्भ विषयक जो वचन बोलते हैं उससे रहित हैं अथवा गृहस्थी जनों के साथ कुशल वार्ता विषयक जो भाषा बोली जाती है, उससे रहित है; ऐसे यथार्थ वचन बोलने वाले मुनि के सत्य महाव्रत होता है। **(सु.र. सं. २१९)**

२७. प्रश्न : सत्य महाव्रती को कैसे वचन नहीं बोलने चाहिए ?

उत्तर : सत्य महाव्रती को जिन वचनों से लोगों को सन्ताप हो, क्रोध-लोभादि-विकार उत्पन्न हो, वध-बन्ध या पीड़ा हो, काम आदि इन्द्रियों के विकार उत्पन्न हो जाँय, तीव्रता बढ़ जाय ऐसे राग-द्वेष मद और उन्माद से उत्पन्न होने वाले वचन प्राण नष्ट होने पर भी कभी नहीं कहने चाहिए। **(मू.प्र. १३५-३६)**

२८. प्रश्न : सत्य महाव्रती को कैसे वचन बोलने चाहिए ?

उत्तर : सत्य महाव्रती को जिन वचनों से वैराग्य की स्थिरता हो, सज्जनों के गुणों की वृद्धि होती रहे, राग-द्वेष नष्ट हो जाय, कामादि विकार तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान नष्ट हो जाय तथा जिन वचनों से शुभ भाव प्रगट हो जाय, जो वचन मिष्ट हों और धर्म या तत्त्वों का उपदेश देने वाले हों ऐसे ही वचन बोलने चाहिए। यदि ऐसे वचन कहने का समय न हो तो मौन धारण करना चाहिए। **(मू.प्र. १३७-४१)**

२९. प्रश्न : सत्य महाव्रत पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : सत्य वचन कहने से सर्वोत्कृष्ट और चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में भर जाती है तथा सज्जनों के समस्त गुण वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। इस सत्य रूपी मंत्र के प्रभाव से संसार के समस्त पदार्थों को दिखाने वाली सरस्वती श्रेष्ठ बुद्धि के साथ-साथ सत्यवादी के मुख में ही आकर अवतार लेती है। इसके प्रभाव से पुरुषों की श्रेष्ठ बुद्धि समस्त तत्त्वों की परीक्षा करने के लिए कसौटी के समान हो जाती है। सत्यवादी के कार्यों में इन्द्र भी कोई विघ्न नहीं कर सकता तथा क्रूर सर्पादिक भी उसे नहीं काट सकते हैं। **(मू.प्र. १४२-४८)**

३०. प्रश्न : अचौर्य महाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : ग्राम में, नगर में या वन में परायी वस्तु को देखकर जो उसे ग्रहण करने के भाव को छोड़ता है, उसको तीसरा महाव्रत होता है। **(नि.सा. मू. ५८)** किसी गाँव, खेट, वन, पर्वत, घर, जंगल वा मार्ग आदि में पड़ी हुई, भूली हुई, खोई हुई या रक्खी हुई छोटी-बड़ी, बहुत-कम दूसरे की वस्तु को कभी ग्रहण नहीं करना है, उसे काले सर्प के समान समझकर अलग हट जाना है, उसको तीसरा अचौर्य महाव्रत कहते हैं। **(मू.प्र. १६१-६२)**

ग्राम आदि में गिरी हुई, भूली हुई इत्यादि जो कुछ भी छोटी-बड़ी वस्तु है और जो पर के द्वारा संगृहीत है ऐसे परद्रव्य को ग्रहण नहीं करना सो अदत्त परित्याग नाम का महाव्रत है। **(मू. ७)**

मन, वचन, काय पूर्वक दूसरे राज्य आदि तथा धन आदि अथवा अल्प भी वस्तु बिना दिये ग्रहण न करना यह मुनियों का अदत्तग्रहण त्याग नाम का महाव्रत है। **(सु.र.सं. २२०)** शुभ बुद्धि से जल और मिट्टी को भी बिना दिये ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है। **(पा.पु. ९/८५)**

३१. प्रश्न : अचौर्य महाव्रती को क्या-क्या पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिए ?

उत्तर : जो द्रव्य दिया हो या न दिया हो; यदि वह संयम की हानि करने वाला है तो कंठगत प्राण होने पर भी मुनियों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। मुनियों को अपने दाँत शुद्ध करने के लिए, बिना दिया हुआ तृण भी ग्रहण नहीं करना चाहिए फिर भला पर पदार्थों की तो बात ही क्या है। **(मू.प्र. १७३-७४) नोट :** विशेष देखें **(७/१५)**

३२. प्रश्न : अचौर्य महाव्रत पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : यह अचौर्य महाव्रत समस्त विभूतियों का कारण है, लोभ रूपी हाथी को मारने के लिए सिंह के समान है, मोक्ष और शुभगति का मार्ग है, समस्त व्रतों में सार है, सब व्रतों में उत्तम है और समस्त दोषों से रहित है, इसलिए मोक्षाभिलाषी को लोभ रूपी शत्रु को मारकर बड़े प्रयत्न से केवल मोक्ष को प्राप्त करने के लिए इस महाव्रत का पालन करना चाहिए। **(मू.प्र. १७९)**

३३. प्रश्न : ब्रह्मचर्य महाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्त्रियों का रूप देखकर उनके प्रति वांछा भाव की निवृत्ति अथवा मैथुन संज्ञा रहित जो परिणाम है वह चौथा व्रत है। **(नि.सा. मू. ५९)**

शुद्ध हृदय को धारण करने वाले, वीतरागी पुरुष अपने राग रूप परिणामों का सर्वथा त्याग कर कन्या को अपनी पुत्री के समान मानते हैं, यौवनवती स्त्री को अपनी भगिनी के समान मानते हैं और वृद्धा स्त्री को अपनी माता के समान मानते हैं; इस प्रकार जो निर्मल ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं उसको जिनेन्द्र देव ब्रह्मचर्य-नाम का चौथा महाव्रत कहते हैं। **(मू.प्र. १८०-८१)** तीन प्रकार की स्त्रियों को और उनके प्रतिरूप को माता, पुत्री और बहिन के समान देखकर जो स्त्रीकथा आदि से निवृत्ति है वह तीन लोक में

पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है। **(मू. ८)**

अठारह हजार शील के भेदों को धारण कर सब प्रकार की स्त्रियों से देवी, तिर्यञ्चनी, मनुष्यनी, कृत्रिम स्त्री आदि से मन, वचन, काय और कृत-कारित-अनुमोदना से विरक्त हो अपनी आत्मा में ही रमण करना सो चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है। **(पा.पु. ९-८६)**

३४. प्रश्न : ब्रह्मचर्य-महाव्रती को क्या-क्या कार्य नहीं करने चाहिए ?

उत्तर : (१) स्त्रियों के शृंगार की कथा कामोद्रेक का कारण है इसलिए मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक उसकी शृंगार कथा न करना चाहिए और न कभी सुनना चाहिए।

(२) स्त्रियों के विलास, हास, शृंगार, गीत, नृत्य, कला आदि को रागोत्पादक होने से कभी नहीं देखना चाहिए।

(३) स्त्रियों का संसर्ग कलंक लगाने वाला एवं निंद्य होने से क्षणमात्र भी नहीं करना चाहिए।

(४) स्त्री के संसर्ग के साथ-साथ शीलरहित पुरुषों के संसर्ग का भी त्याग करना चाहिए क्योंकि वह दोनों लोकों का नाश करने वाला है।

(५) ब्रह्मचारी को कोमल बिछौने पर कभी नहीं सोना चाहिए और न कोमल आसन पर बैठना चाहिए क्योंकि ये दोनों ब्रह्मचर्य के घातक हैं।

(६) ब्रह्मचारी को शरीर के संस्कार का त्याग करना चाहिए क्योंकि वह काम और राग को बढ़ाने वाला तथा निन्दनीय है।

(७) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए न तो बल देने वाले दूध आदि का आहार करना चाहिए और न लड्डू आदि स्वादिष्ट आहार करना चाहिए क्योंकि ये सभी काम-रूपी अग्नि को प्रज्वलित करने वाले हैं।

(८) शरीर के सुख की इच्छा से काम का प्रकोप उत्पन्न होता है अत: शरीर के सुख का विष मिले हुए अन्न के समान त्याग करना चाहिए।

(९) पौष्टिक आहार, मुख आदि शरीर के अंगों का संस्कार और अधिक शयन आदि का भी सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(१०) दृष्टिविष के समान समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले स्त्रियों के मुख को कभी नहीं देखना चाहिए। **(मू.प्र. १८४-२२२)**

(११) मुनियों को काठ की बनी स्त्री से भी सदा डरते रहना चाहिए क्योंकि उसके देखने से भी मनुष्यों के हृदय में अवश्य क्षोभ उत्पन्न होता है।

(१२) जो हँसी की बातचीत को सुनने वा देखने के लिए स्त्रियों के पास जाते हैं वे चारित्र से भ्रष्ट होकर अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं अत: हँसी की बातचीत सुनने और देखने भी उनके पास नहीं जाना चाहिए।

(१३) मुनियों को माता, भगिनी, पुत्री, गूंगी और वृद्धा आदि स्त्रियों के रूप से भी डरते रहना चाहिए क्योंकि स्त्रियों के रूप से भी नेत्र और हृदय में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।

(१४) जिस स्त्री के हाथ-पैर कटे हुए हों और जिसके नाक, कान भी कटे हों तथा ऐसी स्त्री सौ वर्ष की भी हो तो भी व्रतियों को उसका दूर से ही त्याग कर देना चाहिए। **(मू.प्र. २६१२-१६)**

३५. प्रश्न : शील के अठारह हजार भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, पृथ्वीकायिकादि दश जीव के भेद और उत्तम क्षमादि दश धर्म इन सबको परस्पर गुणा करने पर शील के अठारह हजार भेद हो जाते हैं।

तीन योग- मन, वचन, काय।

तीन करण - तीन योगों के द्वारा जो पापादि क्रिया होती है वह करण है।

चार संज्ञा - आहार, भय, मैथुन, परिग्रह।

पाँच इन्द्रिय - स्पर्शन, रसनादि।

पृथ्वीकायिकादि दश - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति कायिक, साधारण वनस्पति कायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

दश धर्म - उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि। **(मू.प्र. २८३२-४२)**

स्त्रियाँ दो प्रकार की हैं-

(१) अचेतन स्त्री, (२) चेतन स्त्री।

अचेतन स्त्री सम्बंधी शील के ७२० भेद-

(१) काष्ठ की (२) पाषाण की (३) चित्राम की।

इनको मन और काय से (वचन से वार्तालापादि नहीं कर सकता है क्योंकि अचेतन है।) गुणा करने पर (३×२) ६ भेद हुए। इन छह को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणा करने पर (६×३) १८ भेद हुए। इनको पाँच द्रव्येन्द्रिय एवं पाँच भावेन्द्रिय से गुणा करने पर (१८×१० =) १८० भेद हुए। इनको चार कषायों से गुणा करने पर (१८०×४) ७२० भेद हुए। इस प्रकार अचेतन स्त्री संबंधी ७२० भेद हुए। चेतन स्त्री सम्बंधी १७२८० भेद-

चेतन स्त्री तीन प्रकार की होती है-

(१) देवांगना (२) मनुष्यनी (३) तिर्यञ्चनी।

इन तीनों को मन-वचन-काय से गुणा करने पर (३×३) नौ भेद हुए। इनको कृत-कारित-

अनुमोदना से गुणा करने पर (९×३) २७ भेद हुए। इनको पाँच द्रव्येन्द्रिय एवं पाँच भावेन्द्रिय इन दस से गुणा करने पर (२७×१०) २७० भेद हुए। इनको चार संज्ञा से गुणा करने पर (२७०×४) १०८० भेद हुए। इनको अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों से गुणा करने पर (१०८०×१६) १७२८० भेद हुए।

नोट : इस प्रकार अचेतन स्त्रियों के ७२० और चेतन स्त्रियों के १७२८० मिला कर १८००० शील के दोष होते हैं, इन सबका त्याग कर देने पर १८००० शील के भेद (गुण) होते हैं। **(भा.पा./टी. ११८)** १० धर्म × ३ गुप्ति × ३ करण × ४ संज्ञा × ५ इन्द्रियाँ × १० प्राण = १०×३×३×४×५×१०= १८००० भेद। (आ.सा. १२/२)

३६. प्रश्न : ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो पवित्र शील पालता है वह सरलता से स्वर्ग और मोक्ष को रचता है, अपने कुल के कलंक को नष्ट करता है, पाप रूपी कीचड़ को धोता है, पुण्य का संचय करता है, उसकी श्लाघ्यता फैलती है, उसे देव नमस्कार करते हैं, घोर उपसर्ग को नष्ट करता है। जो शील धारण करते हैं उनके बाघ, सर्प, पानी, आग आदि विपत्तियाँ क्षय को प्राप्त होती हैं, वे कल्याण से सुशोभित होते हैं, उनके निकट देव आकर बैठते हैं, उनकी कीर्ति स्फुरायमान होती है, उनके धर्म की वृद्धि होती है, पाप नष्ट होते हैं, स्वर्ग और मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है। शील के प्रभाव से अग्नि भी पानी के समान, सर्प माला के समान, व्याघ्र हिरण के समान, हाथी भी घोड़े के समान, पर्वत भी पत्थर के समान, विष भी अमृत के समान, विघ्न भी उत्सव के समान शत्रु भी मित्र के समान, समुद्र भी क्रीड़ा नदी के समान और जंगल भी अपने घर के समान हो जाता है। **(सू. मु. ३८-४०)**

३७. प्रश्न : परिग्रह त्याग महाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : निरपेक्ष भावना पूर्वक सर्व परिग्रहों का त्याग उस चारित्र भार वहन करने वालों को पाँचवाँ व्रत कहा है। **(नि.सा. ६०)**

जहाँ पर बुद्धिमान लोग शरीर कषायादि संसारी जीवों के साथ रहने वाले और वस्त्रालंकार आदि जीव के साथ न रहने वाले, समस्त परिग्रहों का त्याग कर देते हैं तथा मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से उन परिग्रहों में होने वाली मूर्च्छा व ममत्व का भी त्याग कर देते हैं उसको भगवान जिनेन्द्र ने पूज्य आकिञ्चन्य महाव्रत कहा है। **(मू.प्र. २३०-३१)**

जीव से सम्बन्धित, जीव से असम्बन्धित और जीव से उत्पन्न हुए ऐसे ये तीन प्रकार के परिग्रह हैं। इनका यथाशक्ति त्याग करना और इतर परिग्रह में निर्मम होना यह असंग नाम का पाँचवाँ व्रत है। **(मू.९)**

३८. प्रश्न : जीवाबद्ध आदि परिग्रह कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : खेत, घर, धन, धान्य, दास, पशु, आसन, शयन, वस्त्र और बर्तन ये दस प्रकार के बाह्य

परिग्रह कहलाते हैं। ये परिग्रह जीवाबद्ध जीव से भिन्न कहलाते हैं क्योंकि ये सब आत्मा से भिन्न हैं। **(मू.प्र. २३२-३३)** मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि अथवा दासी-दास, गो, अश्व आदि ये जीव से निबद्ध अर्थात् जीव के आश्रित (जीव से असम्बन्धित) परिग्रह हैं। **(मू. ९ आ.)** जीव से उत्पत्ति है जिनकी ऐसे मोती, शंख, सीप, चर्म, दाँत, कम्बल आदि अथवा श्रमणपने के अयोग्य क्रोध आदि परिग्रह जीव सम्भव (जीव से उत्पन्न) परिग्रह कहलाते हैं। **(मू. ९ टी.)** दासी-दास, गाय-घोड़ा आदि संसार में चेतन परिग्रह कहलाते हैं तथा मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र, घर आदि अचेतन परिग्रह कहलाते हैं। **(मू.प्र. २३६)**

३९. प्रश्न : परिग्रह त्याग महाव्रती को क्या-क्या पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिए ?

उत्तर : मुनियों को ज्ञान, संयम और शौच के उपकरणों को छोड़कर बाकी के सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए, न तो उन्हें स्वयं ग्रहण करना चाहिए, न दूसरों को देना चाहिए और न ग्रहण करते हुए की अनुमोदना करना चाहिए। इन (उपकरणों) में भी ममत्व नहीं करना चाहिए क्योंकि मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है। मुनियों को अपनी सेवा, शुश्रूषा करने के लिए भी असंयम की ओर बढ़ाने वाला असंयमी मनुष्य या विद्यार्थी अपने पास नहीं रखना चाहिए। इसी प्रकार 'वसतिका' आदि में भी अपना स्वामित्व नहीं रखना चाहिए क्योंकि यह स्वामित्व भी परिग्रह है। पूजा के अंगभूत वस्त्र आदि पर-वस्तुओं में भी अपना स्वामित्व नहीं रखना चाहिए। बहुत कहने से क्या, मुनियों को मुनि धर्म अयोग्य पदार्थ का एक बाल के अग्रभाग का करोड़वाँ भाग भी कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। **(मू.प्र. २३७-४२)** जबकि शय्या के निमित्त स्वीकार किये गये लज्जाजनक तृण आदि भी मुनियों के लिए आर्त्त-रौद्र स्वरूप दुर्ध्यान एवं पाप के कारण होकर उनकी निर्ग्रन्थता को नष्ट करते हैं तब फिर वे गृहस्थ के योग्य अन्य सुवर्णादि क्या उस निर्ग्रन्थता के घातक न होंगे ? अवश्य होंगे। फिर यदि वर्तमान में निर्ग्रन्थ मुनि सुवर्णादि रखता है तो समझना चाहिए कि कलिकाल का प्रवेश हो चुका है। **(पं. विं. १/५३)**

४०. प्रश्न : परिग्रह का त्याग करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जिस मानव का चित्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहों में निस्पृह है, वह क्षणभर में स्वर्ग श्री व मुक्तिश्री के पक्ष में दक्ष होता है। **(य.ति.च. ७/१७६)** परिग्रहों का त्याग करने से सज्जनों का मन अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, मन के शुद्ध होने से ध्यान की प्राप्ति होती है, ध्यान से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होती है, केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होने से मुक्ति रूपी स्त्री की प्राप्ति होती है और मुक्ति के प्राप्त होने से अनन्त गुण और अनन्त लक्ष्मी के साथ-साथ आत्मा से उत्पन्न होने वाला अनन्त सुख प्राप्त होता है। **(मू.प्र. २९९५-९६)**

४१. प्रश्न : क्या अहिंसादि महाव्रत देशव्रत रूप भी होते हैं ?

उत्तर : हाँ, अहिंसा, सत्य और अचौर्य आदि महाव्रतों में यद्यपि जीवघात की, असत्य बोलने की तथा अदत्त ग्रहण की निवृत्ति है, परन्तु जीवरक्षा की, सत्य बोलने की और दत्त ग्रहण आदि की प्रवृत्ति

है। इस एकदेश प्रवृत्ति की अपेक्षा ये पाँचों महाव्रत एकदेशव्रत हैं। त्रि-गुप्ति लक्षण निर्विकल्प समाधि काल में इन एकदेशव्रतों का भी त्याग है और समस्त शुभ और अशुभ की निवृत्ति रूप जो निश्चय व्रत है, उनका त्याग नहीं है। **(वृ.द्र.सं. ५७ टी.)**

४२. प्रश्न : यहाँ एकदेश व्रतों का त्याग किस कारण कहा है ?

उत्तर : जैसे- हिंसा आदि रूप पाँच अव्रतों में रहितपना है उसी प्रकार जो अहिंसा आदि महाव्रत रूप एकदेश व्रत हैं उनमें रहितपना है यही यहाँ त्याग शब्द का अर्थ है। यहाँ एकदेश रूप व्रतों का त्याग इसलिए कहा गया है कि मन-वचन-काय की गुप्ति रूप अवस्था में प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप विकल्पों का स्वयं ही अवकाश नहीं है। अथवा परमार्थ से वही निश्चय व्रत है। **(वृ. द्र.सं. ५७ टी.)**

४३. प्रश्न : अणुव्रत और महाव्रत में क्या अन्तर है ?

उत्तर : अणुव्रत में हिंसा, असत्य आदि पाँचों पापों का एकदेशत्याग होता है तथा महाव्रतों में हिंसादि पाँचों पापों का पूर्ण रूप से त्याग होता है। **(रा.वा. २)** देशव्रतों में सम्यग्ज्ञानी जीवों के आत्मा की एकदेशविशुद्धि होती है तथा महाव्रतों में सम्यग्ज्ञानी जीवों के आत्मा की सर्वविशुद्धि होती है। **(श्लो. ६/५४८)** हिंसादिक से एकदेश निवृत्ति होना अणुव्रत है और सब प्रकार से निवृत्त होना महाव्रत है। **(सर्वा. ६६६)**

४४. प्रश्न : क्या मिथ्यादृष्टियों का हिंसादि पापों से विरक्त हो जाना भी व्रत है ?

उत्तर : मिथ्यादृष्टि जीवों का हिंसा, झूठ आदि पापों से विरक्त हो जाना व्रत नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टियों के त्याग को बालतप कहा है तथा सम्यग्ज्ञानी जीवों के व्रत सामान्य रूप से एक होते हुए भी एकदेश विशुद्धि और सर्वविशुद्धि की अपेक्षा दो भागों में विभाजित हो जाते हैं। श्रावकों के एकदेश विशुद्धि होती है और मुनिराजों के सर्वांग विशुद्धि होती है। **(श्लो. ६/५४८)**

व्रतों की भावनाएँ

व्रतों की स्थिरता के लिए भावनाएँ कहते हैं -

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

तत् स्थैर्यार्थम्-भावनाः पञ्च-पञ्च।

(तत्स्थैर्यार्थं) उन व्रतों की स्थिरता के लिए (पञ्च-पञ्च) पाँच-पाँच (भावनाः) भावनाएँ हैं।

अर्थ - उन (अहिंसादि) व्रतों की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : किसी पुरुष ने प्रतिज्ञा कर ली कि हिंसा नहीं करूंगा, झूठ नहीं बोलूंगा, चोरी नहीं करूंगा, परस्त्री गमन नहीं करूंगा और परिग्रह ग्रहण नहीं करूंगा, परन्तु ऐसी भावना स्थिर रखने में असमर्थ हुआ

तो प्रतिज्ञा को वह कैसे स्थिर रख सकता है ? ऐसे पुरुष को परमार्थ की इच्छा से सावधान मन होकर क्या भावना करनी चाहिए इसे इस सूत्र के द्वारा बताया गया है। **(रा.वा.उ. ३)** इन व्रतों की किसलिए और किस प्रकार भावना करनी चाहिए, अब इसी बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ६६७)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'पञ्च' शब्द को दो बार क्यों कहा है ?

उत्तर : स्पष्ट अर्थ का बोध कराने के लिए अर्थात् अहिंसा आदि प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं ऐसा स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'पञ्च' शब्द का दो बार ग्रहण किया है। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम, चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम तथा क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाली आत्मा के द्वारा जो भायी जाती हैं, जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है वे भावनाएँ कहलाती हैं। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : इन व्रतों की भावना क्यों करनी चाहिए ?

उत्तर : अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता के लिए पाँच-पाँच भावनाओं को अवश्य करना चाहिए कारण कि उन व्रतों में स्थिरता नहीं होने पर मुनि महाराज के उत्तर गुणों की सम्भावना नहीं हो सकती है। **(श्लो. ६/५४९)** महाव्रत और अणुव्रत से युक्त मनुष्यों को अपने व्रतों में स्थिर रखने के लिए उक्त पाँचों व्रतों में प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाएँ कही जाती हैं। **(हरि.पु. ५८-११७)**

५. प्रश्न : व्रतों की इन भावनाओं को भाने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इन भावनाओं को भाने वाला वह साधु सोता हुआ भी या मूर्च्छा को प्राप्त भी किंचित् मात्र भी सम्पूर्ण व्रतों में विराधना को नहीं करता है, पुन: जब वह जाग्रत है सावधानी से प्रवृत्त हो रहा है तब तो क्या कहना। **(मू.आ. ३४२)**

अहिंसाव्रत की भावनाएँ

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकित-पानभोजनानि पञ्च ॥४॥

वाङ्-मनोगुप्ति-ईर्या-आदान-निक्षेपण-समिति-आलोकितपान-भोजनानि पञ्च।

अर्थ - वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकितपान-भोजन ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

१. प्रश्न : अहिंसाव्रत की कौन-कौन सी भावनाएँ हैं ?

उत्तर : वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकितपान-भोजन, ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। **(रा.वा.)**

एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकितपान-भोजन, ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। **(मू.प्र. ११८-११९)** मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्या समिति, कायनियन्त्रण और विष्वाण समिति ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। **(म.पु. २०/१६१)** सुवाग्गुप्ति, सुमनोगुप्ति, स्वकालेवीक्ष्यभोजन, ईर्यासमिति और आदान-निक्षेपण समिति ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। **(हरि.पु. ५८-११८)**

२. प्रश्न : अहिंसाव्रत की भावना किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : अहिंसाव्रत की शुद्धि के लिए मेरे वचन गुप्ति और मनोगुप्ति होवे तथा ईर्या समिति, आदान-निक्षेपण समिति और दिन में देख-शोध कर भोजन करने की क्रियायें होवें, इस प्रकार चित्त में बार-बार चिंतन करने से भावित आत्मा व्रतों में दृढ़ होती है। **(श्लो. ६/५५०)**

३. प्रश्न : अहिंसाव्रत की भावना भाने से क्या लाभ है?

उत्तर : जो कार्य-अकार्य को जानते हैं और जो धीर हैं वे वचनगुप्ति को प्राप्त होकर हितकर ऐसा ही सत्यवचन बोलते हैं। वचन बोलने की क्रिया से मनुष्यों को हिंसा उत्पन्न करने वाले दोष लगते हैं परन्तु वाग्गुप्ति की भावना से जो विद्वान व्रतिक हैं उन्हें उन दोषों का सम्पर्क नहीं होता।

मनुष्यों का मन ही नानाविध विचार करता है। इसलिए प्रयत्न से मनोगुप्ति की जाती है। मन को अपने अधिकार में रखने में महान् प्रयत्न करना पड़ता है। जिसका मन निश्चल है उसके व्रत स्थिर होते हैं, उसे निरन्तर सौख्य मिलता है। अनेकविध सम्पदायें भी उसे प्राप्त होती हैं।

प्रमाद का उल्लंघन कर अर्थात् सावधानता से संयम की विराधना न करता हुआ जो मुनि मार्ग की देखभाल करके हमेशा सर्वत्र गमन करता है, उसे ईर्यापथ गुप्ति का धारक समझना चाहिए। जो आलस्यरहित होकर और प्रयत्न से देखकर हमेशा शास्त्रादि वस्तु रखता है अथवा ग्रहण करता है वह समितियुक्त महात्मा सज्जनों से पूज्य होता है। खाने-पीने आदि की शुद्धि करता हुआ जो उनको स्वीकार करता है, उसके एषणा नामक समिति होती है। इस प्रकार से पाँच भावनाओं से प्रभावयुक्त हुआ यह पवित्र अहिंसाव्रत अनन्त सुख देने वाला होता है। **(सि.सा.सं. ३/२८-३४)**

अहिंसाणुव्रत धारण करता पुरुष पाँच भावना विस्मरण नाहीं होय है –

(१) मन के विषै अन्यायके विषयनिके भोगने की वांछा का अभावकरि दुष्टसंकल्पनिकूं छांडि अपनी उच्चता कूं नाहीं चाहता अन्यजीवनि के विघ्न इष्टवियोग, मानभंगादितिरस्कार, धन की हानि, रोगादिक नाहीं चाहना सो **मनोगुप्ति** है॥१॥

(२) हास्य के वचन, विवाद के वचन, अभिमान के वचन नाहीं कहना तथा कलह के अपयश के कारण वचन नाहीं कहना सो **वचनगुप्ति** है॥२॥

(३) बहुरि त्रसजीवनि की विराधना टालि करि हरिततृण कर्दमादिककूं छांडि देखि शोधि गमन

करना तथा चढ़ना, उतरना, उलंघना, बड़ा यत्नतैं अपना सामर्थ्यप्रमाण ऐसा करना जैसें अपना हस्त पादादि अंग उपांगनि में वेदना नाहीं उपजै, अन्य-जीवकै बाधा नाहीं होय तैसें हलनचलन धीरतातैं करना सो **ईर्यासमिति** है॥३॥

(४) जो वस्तु अन्न पान, वस्त्र, आसन, शय्या, काष्ठ पाषाण मृत्तिका के तथा पीतल, कांसी, लोह सुवर्ण रूपा इत्यादिक के वासन पात्र तथा घृतादि रस इत्यादिक गृहस्थकै परिग्रह हैं तिनकूं यतनतैं उठावना मेलना जैसैं अन्य जीवनि का घात नाहीं होय अपने अङ्ग में पड़ने गिरने करि पीड़ा नाहीं उपजै, उजाड़ विगाड़ होनेतैं आपकैं अन्यकैं संक्लेश नाहीं उपजै तैसैं धरना-मेलना हिंसा का कारण तथा हानि का कारण जो घसीटना सो नाहीं करै ताकै **आदाननिक्षेपणसमिति** नाम भावना होय है॥४॥

(५) बहुरि गृहस्थ जो भोजनपान करै सो अभ्यन्तर तो द्रव्य क्षेत्र काल भाव की योग्यता-अयोग्यता विचार करै। योग्य देखि करै। अर बाह्य दिवस में उद्योत में नेत्रनतैं अवलोकन करि वारम्बार शोधि धीरपनातैं ग्रासादिक कूं मुख में देय भक्षण करै। गृद्धितातैं विना विचारयाँ बिना शोध्यां भोजन नाहीं करै सो **आलोकितपान भोजन** नाम भावना है॥५॥

(र.क. श्रावकाचार भाषाटीका ३३४-३५)

द्वितीय सत्यव्रत की भावनाएँ

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च॥५॥

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानानि-अनुवीचिभाषणं च पञ्च।

(क्रोधलोभभीरुत्वहास्य प्रत्याख्यानानि) क्रोध, लोभ, भय, हास्य का त्याग (अनुवीचिभाषणं च) और अनुवीचि भाषण (पञ्च) ये पाँच भावनाएँ हैं।

अर्थ - क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, हास्य का त्याग और अनुवीचि भाषण, ये सत्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

१. प्रश्न : सत्यव्रत की कौन-कौन सी भावनाएँ हैं ?

उत्तर : (१) क्रोध का त्याग (२) लोभ का त्याग (३) भीरुत्व का त्याग (४) हास्य का त्याग (५) अच्छी तरह से सोचकर आगम के अनुसार श्रेष्ठ बोलना, ये सत्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं। **(मू.प्र. १५८)**

(१) क्रोध को सर्वथा बुझा देना (२) लोभपंक को सुखाना (३) भय समुद्र को पार करना (४) हास्य क्रिया को समूल छोड़ देना (५) ऐसी कथा करना छोड़ देना जिसे कहने में चाटुकारिता अथवा दीनता को प्रकट करना पड़ता हो। **(व.चा. ३१/७७)**

(१) क्रोध त्याग (२) लोभ त्याग (३) भय त्याग (४) हास्य त्याग (५) सूत्रानुगम वाणी। **(म.पु. २०/१६२)**

(१) स्वक्रोध त्याग (२) स्वलोभ त्याग (३) स्वभीरुत्व त्याग (४) स्वहास्य त्याग (५) उद्भभाषण (प्रशस्त वचन बोलना) **(हरि. पु. ५८/११९)**

२. प्रश्न : अप्रशस्त क्रियावान के भी वचन के अनुवीचिभाषण का प्रसंग आएगा ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पुण्यास्रव का प्रकरण होने से अप्रशस्त क्रिया करने वाले पापी के भाषण को अनुवीचि भाषण नहीं कह सकते हैं क्योंकि विचारपूर्वक भाषण को अनुवीचि भाषण कहते हैं। **(रा.वा.)**

३. प्रश्न : सत्यव्रत के परिपालन में क्रोधादि का त्याग क्यों आवश्यक है ?

उत्तर : क्रोध के वश जीव झूठ बोल जाता है, लोभी मनुष्य धन की आशा के वश असत्य बोल जाता है अर्थात् जिसकी आजीविका श्रोताओं पर आधारित है, ऐसा वक्ता कभी भी सत्य नहीं बोल सकता है, भय से झूठ बोलना तो जगत् में प्रसिद्ध ही है। तथा हँसी-मजाक में तो प्राय: असत्य ही बोला जाता है अत: सत्यव्रत के पालन में क्रोधादि का त्याग आवश्यक है।

४. प्रश्न : सत्यव्रत पालन करने के लिए इन भावनाओं का कथन क्यों किया है ?

उत्तर : कषाय-निमित्तक असत्य से बचने के लिए क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग कहा गया है तथा अज्ञानमूलक असत्य से बचने के लिए अनुवीचि भाषण भावना कही है क्योंकि अज्ञान का नाश शास्त्रों से होता है और अनुवीचि भाषण का पालन भी शास्त्रज्ञान से होता है।

जो सत्य अणुव्रत धारै क्रोध करने का त्याग करै ऐसा विचारै जो क्रोधी होय वचन बोलै है ताके सत्य कहना नाहीं बनै है यातैं क्रोध त्याग्या ही सत्य रहै। अर जो कर्म के उदयतैं गृहस्थ के कोऊ बाह्य विपरीत निमित्त मिलनेतैं क्रोध उपजि आवै तो ऐसा चिंतवन करै जो मेरे परिणाम में क्रोधजनित तातई उपजि आई है तातैं मोकूं अब मौनग्रहण ही करना अब वचन नाहीं बोलना। जो वचन कूं रोकूंगा तो कषाय विसंवाद नाहीं बधैगा। हमारा क्षमादिगुण हू नाहीं बिगड़ैगा। तातैं मेरे हृदय में क्रोधजनित अग्नि का उपशम नाहीं होय तितने वचन की प्रवृत्ति नाहीं करनी। ऐसा दृढ़ विचार करै ताकै सत्यकी क्रोधत्याग भावना होय है॥१॥ लोभ के निमित्ततैं सत्यवचन नाहीं प्रवर्तै है। तातैं अन्याय का लोभ छोड़ना सो लोभ-त्याग भावना है॥२॥ बहुरि भय के वश होय ताकै सत्यवचन नाहीं होय तातैं भय का त्याग भये सत्य होय है॥३॥ बहुरि हास्य में सत्य नाहीं कह्या जाय है। यातैं सत्यअणुव्रती हास्यकूं हू दूरहीतैं छांडै है॥४॥ बहुरि जिनसूत्रसूं विरुद्धवचन नाहीं कहै। जिनसूत्र के अनुकूलवचन बोलना सो अनुवीचीभाषण नाम भावना है॥५॥ **(र.क.श्रा. भाषाटीका पृ. ३३५-३६)**

५. प्रश्न : सत्य व्रत की शुद्धि के लिए किस प्रकार भावना करनी चाहिए ?

उत्तर : मैं अनृत (झूठ) को उत्पन्न करने वाले क्रोध, लोभ, भय और हास्य को छोड़ूँ और विचार करके आगम के अनुकूल वचन बोलूँ। इस प्रकार पुन: पुन: चिन्तन करने वाले व्रती के सत्यव्रत की शुद्धि होती है तथा व्रत स्थिर होते हैं। **(श्लो. ६/५५१)**

तीसरे अचौर्य व्रत की भावनाएँ

शून्यागार-विमोचितावासपरोपरोधाकरण-भैक्ष्य-शुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥

शून्य-आगार-विमोचित-आवास-पर-उपरोध-अकरण-भैक्ष्य-शुद्धि-सधर्म-अविसंवादाः पञ्च।

अर्थ - शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद, ये अचौर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

शून्यागार (आवास) - शून्य (सूने) मकान में रहना।

विमोचितावास - किसी के छोड़े हुए मकान में रहना।

परोपरोधाकरण - दूसरों को उपरोध (रोकना) नहीं करना।

भैक्ष्यशुद्धि - भोजन की शुद्धि (याचना आदि नहीं करना) रखना।

सधर्माविसंवाद - साधर्मियों से विसंवाद (तू-तू-मैं-मैं) नहीं करना।

१. प्रश्न : अचौर्य व्रत की कितनी भावनाएँ हैं ?

उत्तर : शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद, ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनाएँ हैं। **(रा.वा.)**

व्यसनी मनुष्य तथा दुष्ट मनुष्य तीव्र कषायी कलह का करने वाला पुरुषनिकरि शून्य मकान होय तहाँ बसने का भाव राखै। जातैं तीव्रकषायी दुष्टनि कै नजीक बसने में परिणामकी शुद्धता नष्ट हो जाय, दुर्ध्यान प्रकट हो जाय तातैं पापीन करि शून्य मकान में बसना सो ही **शून्यागार** भावना है॥१॥ बहुरि जिस मकान में अन्य दूजा का झगड़ा नाहीं होय तहाँ निराकुल वसना सो **विमोचितावास** है॥२॥ बहुरि अन्य के मकान में आप जवरीतैं नाहीं धँस बैठना सो **परोपरोधाकरण** भावना है॥३॥ बहुरि अन्याय अभक्ष्यकूं त्यागि भोगान्तराय का क्षयोपशम के अधीन मिल्या जो रसनीरस भोजन तामें समता धारि लालसारहित भोजन करना सो भैक्ष्यशुद्धि भावना है॥४॥ साधर्मी पुरुषमें वादविसंवाद नाहीं करना सो सधर्माविसंवादभावना है। **(र.क.श्रा. भाषाटीका पृ. ३३७)**

(१) परिमित आहार लेना (२) तपश्चरण योग्य आहार लेना (३) श्रावक के प्रार्थना करने पर आहार ग्रहण करना (४) योग्य विधि के विरुद्ध आहार नहीं लेना (५) प्राप्त हुए भोजन में संतोष रखना। **(महा.पु. २०/१६३)**

(१) देहधनं यानी शरीर मात्र को धन मानता है (२) शरीर में अशुचित्व की भावना करता है (३) शरीर में अनित्यत्व आदि भावना करता है (४) परिग्रह में अवग्रह अर्थात् निवृत्ति की भावना भाता

है (५) भोजन पान आदि आहार में गृद्धता से रहित होता है। **(पा.प्र.)**

(१) याचना (२) समनुज्ञापना (३) अपनत्व का अभाव (४) त्यक्त प्रतिसेवना (५) साधर्मी के उपकरणों का अनुकूल सेवन **(मू. ३३९)**

(१) असम्मत का अग्रहण (२) सम्मत में अनासक्त बुद्धि (३) दीयमान योग्य वस्तु में अपने लिए उपकारी का ही ग्रहण (४) अननुज्ञात में अप्रवेश (जो ज्ञात नहीं है, उसमें प्रवेश नहीं करना) और योग्य वस्तु की याचना। **(म.क. १२६३)**

(१) आहार आदि ग्रहण करने में शुद्धि (२) कुटिल कार्यों के अनुमोदन का त्याग (३) जहाँ कोई आरम्भ - परिग्रह न होवे ऐसे शून्य-स्थान पर निवास करना (४) उस स्थान पर रहना जिसे लोग छोड़ गये हों। (५) प्रत्येक अवस्था में सत्य धर्म के प्रति अक्षुण्ण अनुराग बनाये रखना। **(व.चा. ३१/७८)**

उपकरणों को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करना, स्वामी की अनुज्ञा से ग्रहण की गयी वस्तु में आसक्ति नहीं रखना, 'आपको इतना देना चाहिए' इस प्रकार प्रयोजन को बताते हुए वस्तु मांगना, अपनी इच्छा से दातार देगा तो उसे पूरी-पूरी ग्रहण करूंगा, ऐसी भावना नहीं रखना, ज्ञान एवं चारित्र की उपयोगी वस्तु ही ग्रहण करना, गृह स्वामी (मालिक) के मना करने पर उसके घर में प्रवेश नहीं करना, आगम के अविरुद्ध ही संयमोपकरण की याचना करना, 'यहाँ ठहरें' इस प्रकार से जहाँ गृहस्वामी की अनुज्ञा प्राप्त न हो उस देश में प्रवेश नहीं करना। **(भ.आ.वि. १२०२-३)**

२. **प्रश्न : याचना, समनुज्ञापना आदि भावना किसे कहते हैं ?**

उत्तर : याचना - प्रार्थना करना।

समनुज्ञापना - किसी की कोई भी वस्तु उसकी अनुमति लेकर ग्रहण करना। **अथवा** - कदाचित् बिना अनुमति के ले भी ली हो तो पुन: उनसे निवेदन कर देना।

अनन्य भाव - अदुष्ट भाव या अनात्म भाव रखना, दूसरे की गृहीत वस्तु में आत्मभाव (अपनापन) नहीं रखना।

त्यक्त प्रतिसेवना - जो श्रमण के योग्य है और जिसका अन्य कोई इच्छुक नहीं है ऐसी सावद्यरहित निर्दोष वस्तु त्यक्त कहलाती है **अथवा** - वियत्ति पाठ निकालकर 'आचार्य' अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार श्रमण योग्य वस्तु का अथवा आचार्य का जो अनुकूलतया सेवन है वह त्यक्त प्रतिसेवना है **अथवा** - निर्दोष वस्तु या आचार्य को उनके अनुकूल सेवन करने वाला - आश्रय लेने वाला मुनि त्यक्त प्रतिसेवी है।

यह प्रतिसेवी शब्द उपर्युक्त भावनाओं के साथ भी लगा लेना। जैसे-याचना पूर्वक उपकरण आदि वस्तु का प्रतिसेवन करना। अनुमति पूर्वक उनकी वस्तु का प्रतिसेवन-प्रयोग करना। अन्य के शास्त्र आदि को अपनेपन की भावना से रहित अनात्म भाव से सेवन या उपयोग करना तथा निर्दोष मुनि अवस्था के योग्य त्यक्त वस्तु का अथवा आचार्य का प्रतिसेवन करना ये चार भावनाएँ हुईं।

साधर्मिकोपकरण अनुवीचिसेवन - समान है धर्म अर्थात् अनुष्ठान जिनका वे सधर्मी या सहधर्मी मुनि कहलाते हैं। उनके पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरणों का अनुवीचि अर्थात् आगम के अनुसार सेवन करना। **(मू. ३३९ आ.)**

ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीर-संस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥

स्त्रीराग कथा श्रवण-तत्-मनोहर-अंग-निरीक्षण-पूर्वरत-अनुस्मरण-वृष्येष्ट-रस-स्वशरीर-संस्कार त्यागाः पञ्च।

अर्थ - (१) स्त्रियों की रागभरी कथा सुनने का त्याग (२) उनके मनोहर अंगों को देखने का त्याग (३) पूर्व में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग, (४) गरिष्ठ (उन्मादक) भोजन का त्याग तथा (५) अपने शरीर के संस्कार का त्याग करना, ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

१. प्रश्न : ब्रह्मचर्य व्रत की कौन-कौन सी भावनाएँ हैं ?

उत्तर : (१) स्त्रियों की कथाओं का रागपूर्वक सुनने का त्याग।

(२) उनके (स्त्रियों के) मनोहर अंगों के अवलोकन का त्याग।

(३) पूर्व के भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग।

(४) कामोद्दीपक गरिष्ठ रसों के सेवन का त्याग।

(५) स्वशरीर के संस्कार का त्याग। **(रा.वा.)**

(१) स्त्रियों का अवलोकन (२) स्त्रियों के साथ संभाषण (३) पूर्व भुक्त भोग की चिरकाल तक स्मृति (४) स्त्रियों द्वारा संसर्गित स्थान पर निवास (५) बलिष्ठ आहार का सेवन आदि नहीं करना। **(म.क. १२६५)**

(१) स्त्रीकथा विरति (२) स्त्रीसंसर्ग विरति (३) स्त्रियों से हास्य-विनोद विरति (४) स्त्रियों के साथ क्रीड़ा विरति (५) उनके मुख आदि का राग भाव से अवलोकन विरति। **(पा.प्रति.)**

(१) महिलालोकन विरति (२) पूर्वरति स्मरण विरति (३) संसक्त वसति विरति (४) विकथा विरति (५) प्रणीतरस विरति।

(१) महिलालोकन विरति - दुष्ट परिणामों से महिलाओं के अवलोकन का त्याग करना महिला लोकन विरति है।

(२) पूर्वरतिस्मरणविरति - पूर्व में गृहस्थावस्था में जो भोगों का अनुभव किया है उसके स्मरण, चिन्तन का त्याग करना पूर्वरतिस्मरण विरति है।

(३) संसक्तवसति विरति - द्रव्य सहित वसतिका या सरागी वसतिका संसक्त वसति का त्याग संसक्तवसति विरति है।

(४) विकथाविरति - दुष्टकथा (स्त्रीकथा आदि) का त्याग करना विकथाविरति है।

(५) प्रणीतरसविरति - इष्ट आहार अथवा मद करने वाले आहार का त्याग करना प्रणीत रस विरति है। **(मू.आ. ३४०)**

(१) स्त्रियों के सुन्दर रूप को घूर-घूर कर देखने का त्याग।

(२) स्त्रियों के रूप, रति आदि कामोत्तेजक वार्त्तालाप को कभी न करना।

(३) स्त्रियों से परिपूर्ण स्थान पर न रहना।

(४) पूर्व समय में भोगे गये विषयप्रसंगों का स्मरण भी न करना।

(५) सरस उद्दीपक भोजन का सर्वथा त्याग। **(व.चा. ३१/७९)**

(१) स्त्रीकथा त्याग (२) स्त्री आलोकन त्याग (३) स्त्रीसंसर्गत्याग (४) प्राग्रतस्मृत भोजन वर्जन (५) वृष्यरस वर्जन। **(म.पु. २०/१६४)**

(१) स्त्रीकथा श्रवण त्याग (२) स्त्रीरम्यांग निरीक्षण त्याग (३) अंग संस्कार का त्याग (४) वृष्यरसत्याग (५) पूर्वरत स्मृति त्याग। **(हरि.पु. ५८/१२१)**

२. प्रश्न : ब्रह्मचर्य व्रत की भावना किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए मैं स्त्रियों की रागवर्द्धिनी विकथाओं को छोड़ दूँ, न कहूँ और न सुनूँ, राग के उत्पादक स्त्रियों के मनोहारी अंगों को देखने का त्याग करूँ, पूर्व में भोगे हुए भोगों को याद न करूँ, कामवर्द्धक और बलवीर्यवर्द्धक वृष्य और इष्ट रसों का संशयरहित होकर त्याग करूँ, रति क्रिया में चित्तवृत्ति को बढ़ाने वाले शरीर के संस्कारों (अंजन, मंजन, मर्दन आदि) का त्याग कर दूँ। **(श्लो. ६/५५२)**

(१) अन्य की स्त्रीनि की राग उपजाने वाली कथा श्रवण त्याग की भावना करै।

(२) अन्य की स्त्रीनि के स्तन, जघन, मुख, नेत्रादिक रूपकूं रागभावतैं देखने का त्याग करै।

(३) आपके अणुव्रत धारण हुआ तिस पहली अव्रती होय भोग भोगे थे तिन भोगनिकूं याद नाहीं करना सो तीजी भावना है।

(४) हृष्ट पुष्ट कामोद्दीप करने वाला भोजन का त्याग सो चौथी भावना है।

(५) अपने शरीरकूं अंजन, मंजन, अतर, फुलेलादि काम के विकार करने वाले आभरण वस्त्रादि का त्याग करने की भावना करना सो स्वशरीरसंस्कारत्याग नामा पंचमी भावना है।

(र.क.श्रा.भाषा टीका पृ. ३३७)

३. प्रश्न : कौन-कौन से कार्य शरीर के संस्कार हैं ?

उत्तर : शरीर का संस्कार - स्नान करना शरीर का संस्कार है, तेलमर्दन, उबटन भी शरीर के संस्कार हैं।

नख के संस्कार - नखों को काटना, छाँटना, रगड़ना, रंगना आदि नख के संस्कार हैं।

दाढ़ी-मूँछ के संस्कार - हाथ से घर्षण के द्वारा चिकनापन लाना केश तथा दाढ़ी मूँछों के संस्कार हैं।

दाँत के संस्कार - दाँत का मैल दूर करना अथवा दाँतों को रंगना दाँत के संस्कार हैं।

ओष्ठ के संस्कार - ओठों का मल दूर करना, उनको रंगना ओष्ठ संस्कार है।

कान के संस्कार - कान यदि छोटे हों तो बड़ा करना और बड़े हों तो छोटे करना, मैल निकालना अथवा आभूषण धारण करना कान के संस्कार हैं।

मुख के संस्कार - लेप या मंत्र द्वारा मुख को तेजस्वी बनाना मुख के संस्कार हैं।

आँखों के संस्कार - आँखों को धोना, अंजन लगाना आँख के संस्कार हैं।

भौंह के संस्कार - विकट रूप से उठे हुए रोमों को उखाड़ना और उन्हें व्यवस्थित करना तथा लटकती हुई को ऊँची करना भौंहों के संस्कार हैं। शोभा के लिए हाथ-पैर धोना अथवा औषध आदि का लेप करना आदि भी श्लोक में दिये गये 'आदि' शब्द से ग्रहण करने चाहिए। **(भ.आ.वि. ९२)**

४. प्रश्न : तेलमर्दन और उबटन करने से क्या हानि है ?

उत्तर : साधु घी-तेल आदि से शरीर का अभ्यंजन भी नहीं करते। क्योंकि घी आदि से तथा क्षार से भूमि आदि तथा शरीर आदि में चिपटे जीवों को बाधा पहुँचती है। उद्वर्तन अर्थात् उबटन लगाने से शरीर से चिपटे त्रस जीव यहाँ-वहाँ गिरकर मर जाते हैं। तथा उबटन तैयार करने के लिए वृक्ष की जड़, छाल, फल, पत्ते आदि को पीसने या दलने में महान् असंयम होता है। **(भ.आ.वि. ९२)**

५. प्रश्न : ब्रह्मचर्य व्रत की भावना भाने से क्या लाभ है ?

उत्तर : स्त्रीरागकथा को जो त्याग है वह ब्रह्मचर्य व्रत की पहली भावना है। यह सुख देने वाले कर्म-सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों का बन्ध करने वाली है। स्त्रियों के सर्व अवयव दृष्टिमार्ग में आने मात्र से ही साधुओं के ब्रह्मचर्यव्रत का नाम भी रहने नहीं देते तो अन्य लोगों का ब्रह्मचर्य स्त्रियों के अवयव देखने से कैसे टिक सकता है? कदापि नहीं। मेघवृष्टि से ताड़ित बैल अपना मस्तक नीचे करके जैसे जाते हैं वैसे उपांगों का रूप देख कर मस्तक नम्र कर अर्थात् स्त्रियों के सुन्दर अवयवों से अपनी दृष्टि हटा कर सज्जन जाते हैं। स्त्रियों का हँसना, उनकी क्रीड़ा, उनके पूर्व संभोग का स्मरण और उनके आलिंगन का स्मरण ब्रह्मचारी नहीं करते हैं। जो काम पीड़ा की तीव्रता का कारण है, ऐसा सरस और उन्मत्त बनाने वाला आहार ब्रह्मचर्य धारण करने वाले मुनिजन लेते ही नहीं।

ब्रह्मचर्य व्रत के विरुद्ध ऐसे भूषणों से और चित्रविचित्र वस्त्रादि वेषों से युक्त अपने शरीर का संस्कार साधुजन कदापि नहीं करते हैं। **(सि.सा.सं. ३/८४-९०)**

पंचम व्रत की भावनाएँ

मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥

मनोज्ञ-अमनोज्ञ-इन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि-पञ्च।

अर्थ - मनोज्ञ और अमनोज्ञ पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष का त्याग करना परिग्रहत्याग व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

१. प्रश्न : परिग्रहत्यागव्रत की कौन-कौन सी भावनाएँ हैं ?

उत्तर : परिग्रहत्यागव्रत की भावनाएँ-

(१) सचित्त विरति (२) अचित्त विरति (३) बाह्य (परिग्रह) विरति (४) अभ्यन्तर (परिग्रह) विरति (५) (सर्व) परिग्रह विरति।

सचित्त - गाय-भैंस, दासी-दास आदि।

अचित्त - धन-धान्य आदि अचित्त।

बाह्य - वस्त्र-आभरण आदि।

अभ्यन्तर - ज्ञानावरणादि कर्म।

परिग्रह - घर, क्षेत्र आदि। **(पा.प्र.)**

(१) स्पर्शन इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।

(२) रसना इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।

(३) घ्राण इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।

(४) चक्षु इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।

(५) कर्ण इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना। **(रा.वा.)**

(१) समस्त मनोहर पदार्थों का त्याग।

(२) अमनोहर विषयों के प्रति उदासीनता।

(३) शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति।

(४) राग रूप संकल्प से मुक्ति और

(५) द्वेष भावों से लिप्त प्राणियों के प्रति भी समभाव। **(व.चा. ३१/८०)**

इन्द्रिय के विषयभूत सचित्त, अचित्त पदार्थों में आसक्ति का त्याग, ये परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएँ हैं। **(म.पु. २०/१६५)**

२. प्रश्न : अपरिग्रह व्रत की भावना किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : इष्ट और अनिष्ट रूप इन सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों में मैं पाँचवें आकिञ्चन व्रत की शुद्धि के लिए राग-द्वेष छोड़ रहा हूँ तथा अनिन्द्रिय (मन) के पोषक मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष छोड़ रहा हूँ। इस प्रकार एकाग्र होकर विचार करने से आकिञ्चन व्रत दृढ़ हो जाता है। **(श्लो. ६/५५३)**

जो परिग्रहपरिमाण नामा अणुव्रत धारण करै सो गृहस्थ (१) बहुत पापबन्ध के कारण अन्यायरूप अभक्ष्यनि का तो यावज्जीवन त्याग करै। (२) अन्तराय कर्म के क्षयोपशमप्रमाण प्राप्त भये जे पंचेन्द्रियनि के विषय तिनमें संतोष धारण करै। (३) मनोज्ञविषयनि में अतिराग नाहीं करै अर अति आसक्त नाहीं होय। (४) अमनोज्ञ असुहावने मिलैं तिनमें द्वेष नाहीं करै, क्लेश नाहीं करै। (५) अन्य जीवन के सुन्दर विषयभोग देखि लालसा नहीं करना। **(र.क.श्रा. भाषा टीका पृ. ३३८)**

३. प्रश्न : क्या सर्वथा एकान्तवादियों के यहाँ भी भाव्य-भावक भाव सम्भव है ?

उत्तर : सर्वथा एकान्तवादियों के यहाँ यह भाव्य-भावक भाव सम्भव नहीं है, आत्मा को सर्वथा नित्य मानने वालों के यहाँ आत्मा भावक नहीं हो सकता है क्योंकि जिनके यहाँ आत्मा को कूटस्थ नित्य माना गया है उनके यहाँ जो पहले अभावक (नहीं भाने वाला) आत्मा है वह दूसरे समय में भावना करने वाला नहीं बन सकता है। अथवा -

वर्तमान अवस्था में भावना कर रहे भावक आत्मा में सर्वदा पहले (पीछे) भावक बने रहने की आपत्ति आयेगी, जिससे सदा भावक ही बना रहना पड़ेगा। फलप्राप्ति की अवस्था आ जाने से प्रकृति का भी भावकपना सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्षणिकपने का एकान्त पक्ष होने से पदार्थ एक समय से ऊपर अवस्थित ही नहीं है अत: यहाँ भी भाव्य-भावक भाव सम्भव नहीं हो सकता है। **(श्लो. ६/५५४)**

४. प्रश्न : भाव्य, भावक और भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा की कर्म रहित अवस्था रूप मोक्ष यहाँ पर भाव्य (भाने के योग्य) है। भव्य जीव इन भावनाओं का भावक (भाने वाला) है और भावना-उस मोक्ष के उपायभूत सम्यग्दर्शनादि स्वभाव विशेष रूप सत्यभावना प्रसिद्ध है। **(श्लो. ६/५५५)**

और भी भावनाएँ कहते हैं-

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।।९ ।।

हिंसादिषु-इह-अमुत्र-अपाय-अवद्य-दर्शनम् ।

(हिंसादिषु) हिंसादि पापों में **(इहामुत्र)** इस लोक में एवं परलोक में **(अपायावद्य)** अनर्थ और निन्दा **(दर्शनं)** देखना चाहिए।

अर्थ - हिंसादि पापों (के करने) से इस लोक में भी और परलोक में भी अनर्थ और निन्दा ही देखने को मिलेगी, इस प्रकार विचार करना चाहिए।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उपर्युक्त भावनाओं के सिवाय और भी जिन बातों से व्रतों की दृढ़ता रहती है, उन बातों का उपदेश जिस प्रकार विद्वानों द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार उनकी दृढ़ता के लिए व्रतों के विरोधियों के विषय में भी नीचे लिखे प्रकार से भावना भानी चाहिए। उन भावनाओं को इस सूत्र में कहा गया है। **(रा.वा.उ.९)**

जिस प्रकार इन व्रतों की दृढ़ता के लिए भावनाएँ प्रतीत होती हैं, इसलिए भावनाओं का उपदेश दिया है उसी प्रकार विद्वान पुरुषों को व्रतों की दृढ़ता के लिए विरोधी भावों के विषय में क्या करना चाहिए? यह बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ६७८)**

२. प्रश्न : अपाय और अवद्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपाय : जिन क्रियाओं से अनेक सांसारिक अभ्युदयों और नि:श्रेयस (मोक्ष) इन प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है उन श्रेष्ठ क्रियाओं का जो विनाश करने वाला अनर्थप्रयोग है वह अपाय कहा जाता है। **अथवा** - इहलोक-परलोक आदि भय को अपाय कहते हैं। **(रा.वा. १)**

स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करने वाली प्रवृत्ति अपाय है। **(सर्वा. ६७९)**

अवद्य - निन्दनीय, गर्ह्य वचनों को अवद्य कहते हैं। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : हिंसा से विरक्त होने के लिए क्या विचार करना चाहिए ?

उत्तर : हिंसा से विरक्त होने के लिए विचार करना चाहिए कि हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है, सतत अनुबद्ध वैर वाला होता है; इस लोक में वध, बन्धन, क्लेश आदि को प्राप्त करता है और मर कर परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है लोक में निन्दनीय होता है अत: हिंसा से विरक्त होना ही कल्याणकारी है। **(रा.वा. २)**

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, पाप का समुद्र है तथा हिंसा ही घोर नरक और महान्धकार है तथा दौर्भाग्यादिक हैं वे समस्त एक मात्र हिंसा से उत्पन्न हुए जानें। जो हिंसक पुरुष हैं उनके निस्पृहता, महत्ता, आशारहितता, दुष्कर तप करना, कायक्लेश और दान करना आदि समस्त धर्मकार्य व्यर्थ हैं अर्थात् निष्फल हैं। **(ज्ञा. ८/१९, ५८, २०)**

इस प्रकार से विचार कर हिंसा से विरक्त होना चाहिए।

पाँचों पापों में यह हिंसा ही सबसे बड़ा पाप कहा जाता है। यह हिंसा समस्त दु:खों की खान है और नरक के द्वार की गली है।

इस संसार में समस्त दु:खों को देने वाले जितने भी कठिन रोग हैं वे सब निर्दय जीवों के ही होते हैं और इसी निर्दयता के कारण मानसिक व्याधियाँ होती हैं। संसार में जीवों को जीवों का घात करने से दुर्गति प्राप्त होती है और जीवों की रक्षा से उत्तम गति। अत: तुझे जो अच्छा लगे वह कर। **(मू.प्र. ११५-१७)**

४. प्रश्न : असत्य से विरक्त होने के लिए क्या विचार करना चाहिए ?

उत्तर : असत्य से विरक्त होने के लिए विचारना चाहिए कि मिथ्याभाषण करने वाले का कोई विश्वास नहीं करता है, असत्यवादी इसलोक में जिह्वाछेद, कारागृहवास आदि दण्ड को भोगता है। जिसके सम्बन्ध में झूठ बोलता है, वे उसके बैरी हो जाते हैं जिससे उनसे भी बहुत आपत्तियाँ आती हैं, मर कर अशुभ गति में जाता है, लोक में निन्दनीय होता है अत: असत्य वचन से विरक्त होना ही कल्याणकारी है। **(रा.वा.२)**

एक बार बोला हुआ असत्य भाषण अनेक बार बोले गये सत्य भाषणों का संहार करता है। असत्यवादी स्वयं डरता है तथा शंका युक्त रहता है कि मेरा असत्य भाषण प्रकट होगा तो मेरा नाश होगा। असत्यभाषी के अविश्वास आदि दोष परलोक में भी प्राप्त होते हैं, परजन्म में प्रयत्न से इनका त्याग करने पर भी इन दोषों का उसके ऊपर आरोप आता है। **(भ.आ. ८४१-४५)**

५. प्रश्न : चोरी से विरक्त होने के लिए क्या विचार करना चाहिए ?

उत्तर : चोरी से विरक्त होने के लिए विचार करना चाहिए कि परधन-ग्रहण में आसक्तचित्त वाला चोर सर्व जनों के द्वारा तिरस्कृत होता है, निरन्तर भयभीत रहता है। इस लोक में अभिघात, वध, बन्धन, हाथ-पैर-कान, ओष्ठ आदि का छेदन-भेदन और सर्वस्वहरण आदि दण्ड को भोगता है तथा मर कर अशुभगति में जाता है अत: चोरी से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है। **(रा.वा.२)**

चोर को पराया धन हरण करते हुए देखकर पहरेदार, कोटपाल आदिक रस्सियों से बाँधकर मोरबन्ध अर्थात् कमर की ओर हाथ बाँधकर पकड़ लेते हैं फिर उसे जुआखाने या गलियों में घुमाते हैं और गधे की पीठ पर चढ़ाकर 'यह चोर है' ऐसा लोगों के बीच में घोषित कर उसकी बदनामी फैलाते हैं और भी जो कोई मनुष्य दूसरों का धन हरता है वह इस प्रकार का फल पाता है, ऐसा कहकर पुन: उसे तुरन्त नगर के बाहर ले जाते हैं। वहाँ ले जाकर खलजन उसकी आँखें निकाल लेते हैं। इस प्रकार के इहलौकिक दुष्फलों को देखते हुए भी लोग चोरी से पराये धन को ग्रहण करते हैं और अपने हित को कुछ भी नहीं समझते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। हे भव्यो ! मोह के माहात्म्य को देखो। परलोक में भी चोर चतुर्गति रूप संसारसागर में निमग्न होता हुआ अनन्त दु:ख पाता है, इसलिए चोरी का त्याग करना चाहिए। **(वसु. श्रा. १०६-१११)**

इस संसार में दूसरों का धन ग्रहण करने से अनेक प्रकार के दु:ख सहने पड़ते हैं, धर्म का विध्वंस हो जाता है, यह पाप रूप वन को सींचने के लिए मेघ के समान है, दु:ख और संतापों का घर है, नरक

रूपी घर का कुमार्ग है, धर्मरूपी वृक्ष को जलाने के लिए अग्नि है इसलिए हे भव्य! परधनहरण करने का तू त्याग कर। **(प्रश्नो श्रा. १४/३६)**

६. प्रश्न : अब्रह्म से विरक्त होने के लिए क्या विचार करना चाहिए ?

उत्तर : अब्रह्म से विरक्त होने के लिए विचार करना चाहिए कि अब्रह्मचारी मानव जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी-हथिनी से ठगाया हुआ हथिनी के पीछे घूमता हुआ विवश होकर वध, बन्धन आदि क्लेशों का अनुभव करता है उसी प्रकार परस्त्री के वश हुआ मानव वध-बन्धनादि को भोगता है जो मोहाभिभूत होने के कारण कार्य-अकार्य के विचार से शून्य होकर किसी शुभ कर्म का आचरण नहीं करता, परस्त्री का आलिङ्गन तथा उसके संग में रति करता है, उसके सर्व लोग बैरी बन जाते हैं। परस्त्रीगामी इस लोक में लिङ्ग-छेदन, वध, बन्धन, क्लेश, सर्वस्वहरण आदि के दु:खों को प्राप्त होता है तथा मरकर अशुभगति में जाता है और निन्दनीय होता है अत: अब्रह्म से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है। **(रा.वा.२)**

७. प्रश्न : परिग्रह पाप से विरक्त होने के लिए क्या विचार करना चाहिए ?

उत्तर : परिग्रह पाप से विरक्त होने के लिए विचार करना चाहिए कि परिग्रहवान पुरुष मांस के खण्ड को ग्रहण किये हुए पक्षी के समान अन्य पक्षियों के द्वारा झपटा जाता है, चोर आदि के द्वारा अभिभवनीय (तिरस्कृत) होता है, इस परिग्रह के अर्जन, रक्षण और विनाशकृत अनेक दु:खों को प्राप्त होता है, जैसे-ईंधन से अग्नि तृप्त नहीं होती है, उसी प्रकार परिग्रह से तृप्ति नहीं होती है, लोभ कषाय से अभिभूत होने से कार्य-अकार्य से अनभिज्ञ हो जाता है, परिग्रहवान मानव मरकर परलोक में नरक, तिर्यञ्चादि अशुभगति में जाता है, 'यह कञ्जूस है' इत्यादि रूप से निन्दनीय होता है अत: परिग्रह का त्याग ही श्रेयस्कर है। **(रा.वा.२)**

और भी भावना बताते हैं-

दु:खमेव वा ॥१०॥

दु:खं-एव-वा।

अर्थ - ये हिंसादि पाप दु:ख रूप ही हैं।

१. प्रश्न : 'हिंसादि पाप दु:ख रूप ही हैं' इसका विचार किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : आत्मसाक्षिक भावना परत्र (दूसरों में) भी भानी चाहिए। वह इस प्रकार है- जैसे- मुझे वध या पीड़ा असह्य है, अप्रिय है उसी प्रकार सभी प्राणियों को वध आदि अप्रिय है। जैसे मिथ्यावचन या कटुक मर्मच्छेदी वचन सुनकर मुझे अतितीव्र अभूतपूर्व दु:ख होता है वैसा ही सर्व जीवों को होता है। जैसे अपने इष्ट द्रव्य का वियोग होने पर मुझे अतितीव्र अभूतपूर्व दु:ख होता है उसी प्रकार सर्वभूतों (प्राणियों) को दु:ख होता है। जैसे कोई मेरी स्त्री आदि का तिरस्कार करता है तो मुझे अतितीव्र अभूतपूर्व मानसिक दु:ख होता है उसी प्रकार दूसरों को भी होता है। जैसे मुझे परिग्रह प्राप्त न हो या मेरा प्राप्त हुआ

धन नष्ट हो जाय तब आकांक्षा, रक्षा या शोक आदि से मुझे दु:ख होता है, धन नष्ट होने पर सर्व जीवों को वैसा ही दु:ख होता है। इस प्रकार अपनी आत्मा के समान सर्व जीवों की आत्मा को समझकर हिंसादि पापों से विरक्त होना ही परम हितकर है। **(रा.वा.३)** ऐसा विचार करे कि ये हिंसादिक स्वयं दु:ख रूप हैं, दु:खों के कारण हैं और दु:खों के कारणों के कारण हैं, इसलिए दु:ख ही हैं। **(त.सा. ४/७०-७१)**

२. **प्रश्न : सभी पापों को दु:ख रूप नहीं कह सकते क्योंकि स्त्री के कोमल एवं सुन्दर शरीर के स्पर्श से स्पर्शजन्य रतिसुख उत्पन्न होता है ?**

उत्तर : स्त्री के कोमल एवं सुन्दर शरीर के स्पर्श में सुख की कल्पना करना निरी मूर्खता है क्योंकि उससे सिर्फ वेदना का प्रतिकार होता है। जैसे- त्वचा, मांस, रुधिर और कलुष भावों से उद्गीर्ण खुजली से बाध्यमान (दु:खी) मानव खुजली मिटाने के लिए नख, मुख, पत्थर आदि के टुकड़ों के द्वारा खुजाता हुआ छिन्नगात्र हो जाता है, लहू-लुहान होता है उस खुजाने के दु:ख को भी थोड़ी देर के लिए खाज बन्द हो जाने के कारण सुख मानता है, उसी प्रकार मैथुनसेवी मोह के कारण दु:ख को भी सुख मानता है। (तथा ब्रह्मचारी अथवा सदाचारी को ब्रह्मचर्य का अनुपम सुख उत्पन्न होता है क्योंकि ''तत् सुखं यत्र नासुखं'' दु:ख का जहाँ लेश मात्र भी नहीं है वहीं सुख है परन्तु कुशीलसेवी जीव को अनेक भय सताते हैं अत: अब्रह्म को दु:खपना युक्ति से सिद्ध है) **(रा.वा. ४)**

३. **प्रश्न : असातावेदनीय के उदय से कृत परिताप दु:ख है और हिंसादि क्रिया विशेष है अत: हिंसादि दु:ख रूप कैसे हो सकते हैं ?**

उत्तर : जिस प्रकार अन्न को प्राण का कारण होने से अन्न में प्राण का उपचार किया जाता है उसी प्रकार दु:ख के कारणभूत हिंसादि पाप दु:ख रूप हैं ऐसा उपचार किया जाता है। अथवा - धन में प्राण की तरह कारण के कारण में कार्य का उपचार किया जाता है। जैसे- धन से अन्न आता है और अन्न से प्राणों की स्थिति होती है अत: कारण के कारण में कार्य का उपचार करके धन को प्राण कहते हैं। कहा भी है- 'धन मनुष्य का बाह्य प्राण है' जो किसी का धन हरता है वह उसके प्राणों को ही हर लेता है, उसी प्रकार हिंसादि पाप असातावेदनीय कर्म के कारण हैं और असातावेदनीय कर्म दु:ख का कारण है अत: दु:ख के कारण के कारण रूप हिंसादि भी दु:ख रूप ही हैं, ऐसा उपचार किया जाता है। **(रा.वा. २)**

और भी अन्य भावनाएँ कहते हैं-

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक क्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि-च-सत्त्व-गुण-अधिक-क्लिश्यमान-अविनयेषु।

(मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च) मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भाव **(सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाऽविनयेषु)** क्रमश: सत्त्व (प्राणि), गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनयों में करना चाहिए।

अर्थ - प्राणीमात्र में मैत्रीभाव, गुणीजनों में प्रमोदभाव, दु:खीजनों में करुणा भाव और अविनयी जनों में माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए।

मैत्री - दूसरों के दु:ख की अनुत्पत्ति की अभिलाषा मैत्री भाव है।

प्रमोद - मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तर्भक्ति और राग प्रमोद है।

कारुण्य - दीनों के प्रति अनुग्रह भाव कारुण्य है।

माध्यस्थ्य - राग-द्वेष पूर्वक पक्षपात का अभाव माध्यस्थ्य भाव है।

सत्त्व - अनादि कर्मबन्ध के वश से जो दु:खी होते हैं वे सत्त्व हैं, सत्त्व जीव का पर्यायवाची शब्द है।

गुणाधिक - सम्यग्ज्ञानादि गुणों से प्रकृष्ट को गुणाधिक कहते हैं।

क्लिश्यमान - असातावेदनीय कर्म के उदय से जो सन्तप्त (दु:खी) हैं वे क्लिश्यमान हैं।

अविनेय - जो तत्त्वार्थ का उपदेश श्रवण करने और उसे ग्रहण करने के पात्र नहीं होते हैं उन्हें अविनेय कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिस प्रकार ये भावनाएँ क्रियातत्पर होकर अथवा भावपूर्वक भाने से व्रत को पूर्णता प्रदान करती हैं उसी प्रकार ये कारण-कलाप उन व्रतों की पूर्णता के लिए ऐहिक प्रयोजन की उत्सुकता चाहना से रहित एवं सावधान चित्त रखने वाले पुरुष के द्वारा निरन्तर भाये जाने से व्रत सम्पत्ति उत्पन्न करा देते हैं, उन्हें इस सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(रा.वा.उ. ११)**

२. प्रश्न : मैत्री भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनन्त काल से मेरा आत्मा घटीयन्त्र के समान इस चतुर्गतिमय संसार में भ्रमण कर रहा है। इस संसार में सम्पूर्ण प्राणियों ने मुझ पर अनेक बार महान् उपकार किये हैं, ऐसा मन में जो विचार करना है (अत: उनमें मित्रता होना) वह मैत्री भावना है। **(भ.आ.वि. १६९१)**

सूक्ष्म और बादर भेद रूप त्रस-स्थावर प्राणी सुख-दु:खादि अवस्थाओं में जैसे-तैसे स्थित हो तथा नाना भेद रूप योनियों में प्राप्त होने वाले जीवों में समानता से विराधने वाली न हो, ऐसी महत्ता को प्राप्त हुई समीचीन बुद्धि मैत्री कही जाती है। **(ज्ञा २७/६)**

स्वकीय काय, वचन, मन, कृत, कारित और अनुमोदना के द्वारा दूसरे को दु:ख न होने देने की अभिलाषा, मित्र का धर्म अथवा कर्त्तव्य मैत्री है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : मैत्री भावना किस प्रकार भानी चाहिए ?

उत्तर : मैं सब जीवों के प्रति क्षमा भाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों से

प्रीति है। किसी के साथ बैर भाव नहीं है, इत्यादि प्रकार से जीवों के प्रति मैत्री भावना भानी चाहिए। **(रा.वा.८)**

मैत्री में यह भावना करनी चाहिए कि ये सब जीव कष्ट व आपदाओं से वर्जित हो जीओ तथा वैर, पाप, अपमान को छोड़कर सुख को प्राप्त होओ। **(ज्ञा. २७/७)**

४. प्रश्न : प्रमोद भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : यतियों में नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमानरहितपना, निर्दोषता और निर्लोभपना ये गुण होते हैं। उनके इन गुणों का विचार करके उनके गुणों[१] में हर्ष मानना यह प्रमोद भावना का लक्षण है। **(भ.आ.वि. १६९१)**

जो पुरुष तप, शास्त्राभ्यास और यम-नियम आदि में उद्यतचित्त वाले हैं, जिनके ज्ञान ही नेत्र है, इन्द्रिय, मन और कषायों को जीतने वाले हैं तथा स्व-तत्त्वाभ्यास करने में चतुर हैं, जगत् को चमत्कृत करने वाले चारित्र से जिनका आत्मा अधिष्ठित है ऐसे पुरुषों के गुणों में प्रमोद (हर्ष) का होना प्रमोद भावना है। **(ज्ञा. २७/११-१२)**

मुख की प्रसन्नता, नयनों का आह्लाद, रोमाञ्च का उद्भावन, स्तुति, निरन्तर सद्गुणकीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तरंग की भक्ति और राग तथा विशेष रीति से जो मोद होता है उसे प्रमोद कहते हैं। **(रा.वा.२)**

५. प्रश्न : प्रमोद भावना किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र आदि गुणाधिक के प्रति वन्दना, स्तुति, वैयावृत्त्य आदि करके प्रमोद भावना करनी चाहिए। **(रा.वा. ८)**

६. प्रश्न : कारुण्य भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जीव दीनता, शोक, भय, रोग आदि की पीड़ा से दु:खित हों; वध, बन्धन से रोके हुए हों, अथवा अपने जीवन की वाञ्छा से 'हमको बचाओ' ऐसी दीन प्रार्थना करने वाले हों तथा क्षुधा, तृषा, खेद आदि से पीड़ित हों, शीत-उष्णता आदि से पीड़ित हों, निर्दय पुरुषों की निर्दयता से रोके हुए मरण के दु:ख को प्राप्त हों, इस प्रकार दु:खी जीवों को देखने, सुनने से उनके दु:ख दूर करने के उपाय की बुद्धि हो उसे करुणा नामकी भावना कहते हैं। **(ज्ञा. २७/८-१०)**

शारीरिक, आगन्तुक मानसिक और स्वाभाविक ऐसी असह्य दु:खराशि प्राणियों को सता रही है, यह देखकर 'अहह ! इन दीन प्राणियों ने मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अशुभयोग से जो कर्म उत्पन्न किया था, वह कर्म उदय में आकर इन जीवों को दु:ख दे रहा है। ये कर्मवश होकर दु:ख भोग रहे हैं। उनके दु:ख से दु:खित होना **करुणा** है। **(भ.आ.वि. १६९१)**

---

१. भव्यत्व गुण को देखकर सभी प्राणियों में प्रमोदभाव रखना चाहिए। **(श्लो. ६/५५९)**

शारीरिक और मानसिक दु:ख से दु:खी प्राणियों के प्रति अनुग्रहात्मक परिणाम करुणा है और करुणा का भाव या कर्म करुणा कहलाता है। **(रा.वा. ३)**

७. प्रश्न : किन जीवों में कृपा धारण करनी चाहिए ?

उत्तर : जो लंगड़े-लूले हैं, जिनकी आँखें फूट गयी हैं, मूक हैं, बहरे हैं, अनाथ स्त्रियाँ हैं, जिनके शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं, संपत्ति जिनसे विमुख है, जो जीविका हीन हैं, जिनके अभिभावक नहीं हैं, किसी कार्य को करते-करते जो लोग श्रान्त हो गये हैं, तथा जो सदा ही रोगी रहते हैं, इन पर बिना भेद-भाव के ही भरण-पोषण अर्थात् कृपा धारण करना चाहिए। **(व.चा. २९/३५)**

८. प्रश्न : कारुण्य भावना किस प्रकार भानी चाहिए ?

उत्तर : मोहाभिभूत, कुमति, कुश्रुत और विभंगावधिज्ञान से युक्त विषय तृष्णा रूपी अग्नि के द्वारा दह्यमान मानस वाले, हिताहित से विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दु:खों से पीड़ित, दीन, अनाथ, कृपण, बाल, वृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवों में करुणारूप भावना भानी चाहिए। **(रा.वा. ८)**

९. प्रश्न : माध्यस्थ्य भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो प्राणी क्रोधी हों, निर्दय व क्रूरकर्मी हों, मधु, मांस, मद्य और परस्त्री में लुब्ध तथा आसक्त व्यसनी हों, अत्यन्त पापी तथा देव-शास्त्र-गुरुओं के समूह की निन्दा करने वाले हों, अपनी प्रशंसा करने वाले तथा नास्तिक हों, ऐसे जीवों में राग-द्वेष रहित मध्यस्थ भाव होना उपेक्षा है और उपेक्षा ही माध्यस्थ्य भावना है। **(ज्ञा. २७/१३-१४)**

राग और द्वेष से किसी के पक्ष में पड़ना पक्षपात है। उस राग-द्वेष के अभाव से मध्य में रहना मध्यस्थ है तथा मध्यस्थ का भाव या कर्म माध्यस्थ्य भाव है। **(रा.वा. ४)**

१०. प्रश्न : माध्यस्थ्य भावना किसमें भानी चाहिए ?

उत्तर : ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित महामोहाभिभूत विपरीत दृष्टि और विरुद्ध वृत्ति के प्राणियों में माध्यस्थ्य भावना रखनी चाहिए। **(रा.वा. ८)**

११. प्रश्न : मैत्री आदि भावनाओं को भाने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इन भावनाओं में रमता हुआ योगी अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करता है, अध्यात्म का निश्चय करता है, जगत् के प्रवर्त्तन में तथा इन्द्रियों के विषयों में मोह को प्राप्त नहीं होता है, ऐसे योगी के मोहनिद्रा नष्ट हो जाती है और योगनिद्रा स्थिति को धारण करती है; उन्हीं के तत्त्वों का निश्चय होता है, इन भावनाओं को भाता हुआ मुनि उदासीनता को प्राप्त होकर इसी लोक में मुक्त के समान प्रवर्त्तता है। उनके रागादि का बड़ा क्लेश ध्वस्त हो जाता है तथा मोक्षमार्ग प्रकाशित होता है। **(ज्ञा. २७/१५-१९)** वह रागादि रूप फाँसी के जाल को काटकर अचिंत्य पराक्रम वाला होकर निर्जन स्थान का आश्रय करता है, क्योंकि एकांत स्थान में रहे बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती है।

(इस प्रकार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना भानेवाले के अहिंसादि व्रत परिपूर्ण हो जाते हैं। क्योंकि) प्राणियों में, गुणाधिकों में, क्लिश्यमानादि जीवों में मैत्री आदि भावनाएँ विशुद्धि का अंग हैं, अर्थात् इन भावनाओं को भाने से विशुद्धि की वृद्धि होती है। **(श्लो. ६/५५९)**

१२. प्रश्न : मैत्री आदि भावनाओं को भाने से क्या फल मिलता है ?

उत्तर : समस्त प्राणियों के साथ मित्रता रखने से चन्द्रमा के समान स्वच्छ कीर्ति की प्राप्ति होती है, बुध-पूज्यता, विद्वानों में प्रेम रखने से कामदेव के समान सुन्दर रूप और धीर-वीरता की तथा समस्त प्राणियों पर दयाभाव रखने से शरीर में कांति, नीरोगता, धन-धान्य, पृथ्वी, उत्तमोत्तम महल और सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। शत्रुओं तक के साथ कर्णप्रिय मधुर वचन बोलने से, माध्यस्थ्य भाव रखने से समस्त शास्त्रों को अवगाहन करने वाली निर्मल बुद्धि की प्राप्ति होती है। **(सु.र.सं. ८६६-६८)**

१३. प्रश्न : महाव्रतों को दृढ़ करने के लिए किन-किन भावनाओं को करना चाहिए ?

उत्तर : महाव्रतों को दृढ़ करने के लिए सर्वजनों में मैत्री भाव, गुणीजनों में प्रमोद भाव, दु:खी जनों में कारुण्य और अविनयीजनों में माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए। सूत्र चार से दस तक कही गयी भावनाओं को एवं आगे बारहवें सूत्र में कही जाने वाली भावनाओं को भाना चाहिए।

धैर्य धारण करना, क्षमा रखना, ध्यान धारण करने में तत्पर रहना और परीषहों के आने पर मार्ग से च्युत नहीं होना ये चार उक्त व्रतों की उत्तर भावनाएँ हैं। **(म.पु. २०/१६६)**

और भी भावनाएँ कहते हैं-

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

(संवेगवैराग्यार्थं) संवेग और वैराग्य के लिए **(जगत्काय स्वभावौ वा)** जगत् और काय के स्वभाव का विचार करना चाहिए।

अर्थ - संवेग और वैराग्य के लिए संसार और काय (शरीर) के स्वभाव का विचार करना चाहिए।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : नवीन पापास्रव को रोकने में सावधान महाव्रती द्वारा क्या इतना ही क्रिया-कलाप धारण करना चाहिए। अर्थात् क्या इतनी ही भावनाएँ भाने योग्य हैं ? और भी भावनाएँ हैं उन्हें इस सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(रा.वा.उ. १२)**

२. प्रश्न : वैराग्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : राग के कारणों का अभाव होने से विषयों से विरक्त होना वैराग्य है अथवा चारित्रमोह के उदय का अभाव होने पर या होने वाले चारित्रमोह के क्षय-उपशम और क्षयोपशम से शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना विराग है तथा विराग का भाव या कर्म वैराग्य है। **(रा.वा. ४)** संसार, देह और

भोगों में जो विरक्ति भाव है वह वैराग्य है। **(वृ.द्र.सं. ३५)** प्रत्यक्ष देखे हुए और सुने हुए विषयों की तृष्णा को छोड़कर मन को वश में करने को वैराग्य कहते हैं। **(य.ति.च. ८/४८३ टी.)**

नोट : संवेग का लक्षण देखें (१/७)

३. प्रश्न : जगत् के स्वभाव का चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : आदिमान और अनादिमान परिणाम वाले द्रव्यों का समुदाय ही यह संसार है। जे तालवृक्ष के आकार वाला है, अनादिनिधन है। इस संसार में ये जीवात्माएँ देव-नारकी-मानव और तिर्यञ्च स्वरूप चारों गतियों में अनेक प्रकार के दु:खों को भोग-भोग कर परिभ्रमण कर रही हैं। इसमें कोई भी वस्तु नियत वा स्थिर नहीं है, जीवन जल बुदबुदे के समान चपल है, भोग-सम्पदा विद्युत् और मेघ के समान क्षणभंगुर है, इस प्रकार जगत् के स्वभाव का विचार करना चाहिए। **(रा.वा. ४)**

नोट : जगत् का विशेष देखें (९/७)

४. प्रश्न : शरीर के स्वभाव का विचार किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : शरीर अनित्य है, दु:ख का हेतु है, निस्सार है और अशुचि है, आदि भावना शरीर का विचार है। **(रा.वा. ४)**

यह शरीर रूपी झोपड़ा माता के रज और पिता के वीर्य से उत्पन्न हुआ है, हड्डी आदि सप्तधातु स्वरूप है, महा अशुभ है, भूख-प्यास, काम, वृद्धावस्था, क्रोध और अनेक प्रकार के रोगों की ज्वालाओं से व्याप्त है तथा विष्टादि महा अपवित्र पदार्थों का घर है, अत्यन्त निन्दनीय है, पीव के समान इससे दुर्गन्ध छूटती रहती है, यमराज का आश्रय है, क्षणभर में विनाशीक है, आदि भावना करनी चाहिए। **(म.पु.)**

नोट : विशेष देखें (९/७) अशुचि भावना।

५. प्रश्न : जगत् और काय के स्वभाव का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जगत् और काय के स्वभाव का चिन्तन (भावना भाने) करने वाले के संवेग उत्पन्न होता है। इस तरह आरम्भ और परिग्रह में दोषदृष्टि गोचर होने से आरम्भ एवं परिग्रह से विरति होती है (विरति से धर्म होता है) धर्म से धर्म में, धर्मात्माओं में, धर्मश्रवण में और धार्मिक दर्शन में बहुमान होता है, उनके प्रति मानसिक आह्लाद होता है। उत्तरोत्तर गुणों की प्रतिपत्ति में श्रद्धा और वैराग्य होता है। संसार-शरीर-भोगोपभोग वस्तु से निर्वेद होता है तथा भावना भाने वाला मानव अच्छी तरह से व्रतों का पालन करता है। **(रा.वा. ४)**

जगत् और काय के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करने तथा विषयों में अनाासक्त रहने से वैराग्य में स्थिरता आती है। **(म.पु. २१/९९)**

६. प्रश्न : क्या एकान्त मत वालों के भी ये भावनाएँ होती हैं ?

उत्तर : नहीं, ये सभी भावनाएँ सर्व पदार्थों को नित्य मान लेने पर विक्रिया (परिणमन) का अभाव होने से नहीं हो सकतीं। यदि विक्रिया मानते हैं तो नित्यता नहीं रहती। द्रव्य को सर्वथा अनित्य मानने पर अनेक क्षणवर्ती एक पदार्थ का अभाव होने से अनेकार्थ विषय करने वाले एक ज्ञान का अभाव है अत: स्मरण की उत्पत्ति का अभाव होने से भावना का अभाव है। अर्थात् पदार्थों को सर्वथा अनित्य मान लेने पर अनेक क्षणों में रहने वाला पदार्थ भी नहीं है, अनेक अर्थ का विषय करने वाला एक ज्ञान भी नहीं है और ज्ञान के नित्य होने से स्मरण भी नहीं है तथा स्मरण नहीं होने से ये व्रत भावनाएँ भी नहीं हो सकती हैं। **(रा.वा. ४)**

७. प्रश्न : अनेकान्तवाद में ये भावनाएँ कैसे घटित होती हैं ?

उत्तर : द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से नित्य का अवलम्बन लेने वाले और उभय निमित्त (स्व-पर--प्रत्यय) जन्य उत्पाद-विनाश रूप पर्याय की मुख्यता से अनित्यता का कथन करने वाले अनेकान्तवादियों के तो स्मरण की उत्पत्ति तथा आत्मद्रव्य में परिणमन हो सकता है अत: नित्यानित्य आत्मद्रव्य में ये भावनाएँ बन सकती हैं। **(रा.वा.४)**

पाप

हिंसा का लक्षण-

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

(प्रमत्तयोगात्) प्रमाद के योग से **(प्राणव्यपरोपणं)** प्राणों का वियोग करना **(हिंसा)** हिंसा है।

अर्थ - प्रमाद[१] के वश होकर प्राणों का वियोग करना हिंसा है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : हिंसादि से विरति को आपने व्रत कहा है, परन्तु हम नहीं जानते हैं कि हिंसादि क्रिया-विशेष क्या है ? ऐसी पृच्छा होने पर युगपत् पाँचों पापों के स्वरूप का कथन करना अशक्य होने से उनका लक्षण क्रम से कहना पड़ेगा। अत: सर्वप्रथम कथित हिंसा का लक्षण इस सूत्र के द्वारा कहा गया है।

---

१. स्पर्शनादि इन्द्रियों के वश में होकर अपने करने योग्य कार्य को भी भूल जाना प्रमाद है। इसकी वजह से इस संसारी प्राणी के विचार बुरे बन जाते हैं। यह खुदगर्ज होकर मांस खाने और मदिरा पीने में प्रवृत्ति करने लगता है। दीन गरीबों को सताने लगता है और फिर अपने दोषों को ढकने के लिए देवों तक को मांसादि खाने वाले बताने लगता है। इस प्रकार निरर्गल रूप से अन्याय मार्ग को अपना कर सबके लिए कष्ट रूप हो जाता है। बस, इसकी अपने आपको एवं औरों को भी प्राण पीड़ा करने वाली इस चेष्टा का नाम ही हिंसा है।

जहाँ प्रमाद का अभाव होता है ऐसे आवश्यकादि कार्यों में प्रवृत्त होने वाला मुनि प्राणियों को पीड़ा करता हुआ भी अहिंसक ही रहता है। शल्य चिकित्सक दूषित अंग की चीरफाड़ करता हुआ भी पापी नहीं होता किन्तु 'इस बकरे का मांस खूब पुष्ट हो, इस नीयत से बकरे को खिला-पिला कर मोटा ताजा बनाने वाला भी कषायी हिंसक ही होता है। क्योंकि उसका मन तो हर समय बुरे विचारों से ही घिरा रहता है। बस, इसीलिए वह हिंसक है, पापी है।

(रा.वा.उ.१३)

२. **प्रश्न : हिंसा कितने प्रकार की होती है ?**

उत्तर : हिंसा एक सौ आठ प्रकार की है-

समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन, काय-वचन-मन ये तीन योग, कृत-कारित-अनुमोदना ये तीन और क्रोधादि चार कषायें इनसे हिंसा होती है। इनका परस्पर गुणा करने पर एक सौ आठ प्रकार की हिंसा होती है। **(आ.सा. ५/१०-११)**

नोट : विशेष देखें (६/८)

हिंसा दो प्रकार की है-

(१) द्रव्य हिंसा (२) भाव हिंसा। **(श्लो. ६/५७०)**

(१) आरम्भी (२) अनारम्भी। **(ध. पु.)**

(१) निश्चय हिंसा (२) व्यवहार हिंसा **(प्र.सा.ता. २१७)**

(१) अन्य जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करना (२) हिंसा रूप प्रवृत्ति करना। **(पु.सि.उ. ४८)**

(१) अन्तरंग हिंसा (२) बहिरंग हिंसा। **(प्र.सा.ता. २३१)**

हिंसा के इक्कीस भेद हैं-

(१) हिंसा (२) असत्य (३) चोरी (४) कुशील (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) भय (११) अरति (१२) रति (१३) जुगुप्सा (१४) मनो मंगुल (१५) वचन मंगुल (१६) काय मंगुल (१७) मिथ्यादर्शन (१८) प्रमाद (१९) पिशुनता (२०) अज्ञान (२१) इन्द्रियों का अनिग्रह **(मू.१०२६-२७)**

मंगुल - पाप के आने की क्रिया का नाम मंगुल है। **(मू.आ. १०२६-२७)**

द्रव्यहिंसा एवं भावहिंसा दोनों ही दो-दो प्रकार की हैं-

(१) स्वद्रव्य हिंसा (२) परद्रव्य हिंसा। (१) स्वभाव हिंसा (२) परभाव हिंसा।

३. **प्रश्न : निश्चय हिंसा किसे कहते हैं ?**

उत्तर : प्रमाद योग से किसी जीव के प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है। **(त.सू.७/१३)** कषाय रूप परिणामों से मन, वचन, काय योग जिसके हेतु हैं, द्रव्य-भाव स्वरूप दो प्रकार के प्राणों का पीड़ना या घात करना निश्चय से हिंसा है। **(पु.सि.उ.४३)** अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है अत: हिंसा का अध्यवसाय (भाव) ही हिंसा है। **(स.सा.आ.उ.२६२)**

प्राणों का व्यपरोपण बहिरंग छेद है। वास्तव में, अशुद्धोपयोग अन्तरङ्ग छेद है और वही हिंसा है। **(प्र.सा.त. २१६-१७)**

कषाय रूप परिणाम ही प्राणियों के प्राणों का नाश करने वाला है, अत: कषाय रूप परिणाम ही हिंसा है। **(आ.सा. ५/९)**

अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, शोक, काम, क्रोध आदि हिंसा की पर्याय हैं। **(पु.सि.उ. ६४)** निश्चय से जीव स्वयं हिंसा है और स्वयं हिंसन है। ये दोनों हिंसा व हिंसन वा घात पराधीन नहीं हैं। प्रमाद रहित जीव अहिंसक होता है और प्रमाद सहित सदैव हिंसक। **(आ.सा. ५/९ उद्धृत)**

निश्चय शुद्ध चैतन्य प्राणों की हिंसा का कारण होने से रागादिक की उत्पत्ति ही हिंसा है। **(प.प्र.टी. २/१२५)**

४. प्रश्न : व्यवहार हिंसा किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यवहार से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का घात करना (व्यवहार) हिंसा है। **(प.प्र.टी. २/१२७)** रागादि की उत्पत्ति से बाह्य में निमित्तभूत परजीवों का घात व्यवहार हिंसा है।

विशेष यह है कि बाह्य हिंसा हो अथवा नहीं हो, स्वस्थ भावना रूप निश्चय प्राणों का घात होने पर निश्चय से हिंसा होती है, इस कारण वही मुख्य है। **(प्र.सा.ता. २३१)**

५. प्रश्न : क्या धर्मादि के निमित्त से जीवों को मारना भी हिंसा है ?

उत्तर : हाँ, धर्मादि के निमित्त से भी जीवों को मारना हिंसा है। जैसे - भगवान का धर्म बहुत सूक्ष्म है अत: धर्म के लिए हिंसा करने में दोष नहीं है; ऐसा विचार कर धर्म के नाम पर हिंसा भी हिंसा ही है।

धर्म देवी-देवताओं से होता है अत: देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि देना भी हिंसा ही है।

घर आये अतिथि के लिए प्राणियों का घात भी हिंसा ही है।

बहुत से अन्न-फलादि एकेन्द्रियों के घात की अपेक्षा एक बड़े प्राणी को मारकर खाना भी हिंसा ही है।

एक हिंसक प्राणी को मारने से अन्य बहुत जीवों की रक्षा हो जाएगी, ऐसा विचार कर किसी हिंसक प्राणी को मारना भी हिंसा है।

ये हिंसक प्राणी अपने जीवन में हिंसा से कितना बन्ध करेंगे, उन्हें पापबन्ध से बचाने के लिए मार देना भी हिंसा है।

दु:खों की असह्य वेदना से पीड़ित इसे यदि अभी मार दिया जावे तो यह शीघ्र ही दु:ख से छूट

जाएगा, ऐसा विचार कर किसी को मारना भी हिंसा है। सुख की प्राप्ति कठिन है अत: यदि सुखी जीव को मार दिया जावे तो अगले भव में भी सुखी रहेगा, ऐसा विचार कर किसी को मारना भी हिंसा है।

अत्यन्त अभ्यास से प्राप्त समाधि में लीन गुरु को मार देने से इनकी सद्गति होगी, ऐसा विचार कर गुरु को मार देना भी हिंसा है। मुक्ति का विश्वास दिलाकर शिष्यों को मारकर धन छीनना भी हिंसा है।

भूखे को अपने मांस का दान देना भी हिंसा है। **(पु.सि. उ. ७९-८९)**

६. प्रश्न : क्या झूठ आदि भी हिंसा है ?

उत्तर : असत्य वचन प्रमत्तयोग पूर्वक खोटे अभिप्राय से कहे गये वचन होने से (ये सब) हिंसा में गर्भित हैं।

अन्य द्वारा स्वीकृत या अधिकृत धन को बिना दिये ग्रहण करने में चूँकि आत्मा में प्रमत्तयोग का सद्भाव पाया जाता है इसलिए हिंसा के साथ चोरी की अव्याप्ति नहीं है।

मैथुन कर्म से स्त्री की योनि में स्थित सूक्ष्म जीव मर जाते हैं तथा जो काम की तीव्रता से अनंग क्रीड़ा करते हैं, उनके भी रागादि विकारी भाव होने से अवश्य हिंसा होती है।

जिनेन्द्र भगवान ने दोनों (अन्तरंग-बहिरंग) प्रकार के परिग्रहों के धारण करने को हिंसा कहा है। मिथ्यात्वादि भाव हिंसा के ही पर्याय होने से हिंसा हैं ही लेकिन बाह्य परिग्रहों में मूर्च्छा भाव भी हिंसा है क्योंकि बिना राग के बाह्य वस्तुओं का ग्रहण नहीं होता। **(पु.सि. उ. ९९-११९)**

७. प्रश्न : प्रमत्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनवगृहीत प्रचार विशेष को प्रमत्त कहते हैं। इन्द्रियों के प्रचार विशेष का निश्चय न करके जो प्रवृत्ति होती है वा बिना विचारे जो प्रवृत्ति होती है वह प्रमत्त है। **(रा.वा. १)** जैसे मदिरा पीने वाला मदोन्मत्त होकर कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य से अनभिज्ञ रहता है, कार्याकार्य-वाच्यावाच्य को नहीं जानता है उसी प्रकार प्रमत्त जीवस्थान, जीवोत्पत्ति स्थान और जीवाश्रयस्थान को नहीं जानने वाला अविद्वान् कषाय के उदय से आविष्ट होकर हिंसा के कारणों में व्यापार करता है, उनमें स्थित रहता है परन्तु सामान्यतया अहिंसा में प्रयत्नशील नहीं होता है अत: मदोन्मत्त के समान होने से प्रमत्त कहलाता है। **(रा.वा.२) अथवा-**

चार विकथा आदि पन्द्रह प्रमादों से जो परिणत होता है वह प्रमत्त है। **(रा.वा. ३)** कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। **(सर्वा. सि. ६८७)**

८. प्रश्न : प्राण-व्यपरोपण किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यपरोपण का अर्थ वियोग करना है। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास

इन प्राणों का वियोग कर देना प्राणव्यपरोपण है। **(श्लो. ६/५६५)** व्यपरोपण, वियोगकरण ये एकार्थवाची हैं। **(रा.वा. ६)**

नोट - प्राणों का विशेष देखें **(२/१३-१४)**

९. प्रश्न : प्राणों से प्राणी भिन्न है अत: प्राणों का वियोग करना हिंसा नहीं हो सकता ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि प्राण आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं अत: प्राणवियोग होने पर हिंसा होती है क्योंकि प्राणों का व्यपरोपण दु:खोत्पादक है। प्राणवियोग होने पर जीव को दु:ख होता है और दु:ख होने से प्राणवियोग करने वाले को हिंसा सम्बन्धी पाप लगता है अत: प्राणव्यपरोपण में हिंसा और अधर्म सिद्ध ही है। **(रा.वा. ८)**

जब सर्वथा भिन्न पुत्र-स्त्री-पितादि का वियोग होने पर आत्मा के परिताप देखा जाता है तो कथंचित् भिन्न प्राणों के वियोग में दु:ख (कैसे नहीं होगा) होता ही है। **(रा.वा. ९)**

यद्यपि शरीर और शरीरी (आत्मा) में लक्षण भेद से नानात्व (भिन्नता) है तथापि बन्ध के प्रति दोनों में एकत्व है अत: प्राणों का वियोग होने पर दु:ख की उत्पत्ति और अधर्म का अभाव है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। अर्थात् शरीरवियोगपूर्वक होने वाला दु:ख आत्मा को ही होता है। **(रा.वा. १०)**

१०. प्रश्न : शरीर के साथ आत्मा के बन्ध का अभाव है अत: आत्मा को दु:ख नहीं हो सकता ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जो आत्मा को सर्वथा एकान्त से नित्य, निष्क्रिय, शुद्ध और सर्वगत मानते हैं, उनके सिद्धान्त में शरीर के साथ सर्वथा आत्मा के बन्ध का अभाव होने से दु:खादि को प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् आत्मा को सर्वथा नित्य, निष्क्रिय मानने पर कर्मों का बन्ध प्राणवियोग में दु:ख, हिंसा एवं पाप नहीं हो सकते, परन्तु स्याद्वाद में सर्वघटित होते हैं। **(रा.वा. ११)**

११. प्रश्न : सूत्र में प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण दोनों विशेषण क्यों दिये हैं ?

उत्तर : प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण इन दोनों में से किसी एक का अभाव होने पर हिंसा का अभाव हो जाता है, इस बात को बताने के लिए सूत्र में दोनों विशेषण ग्रहण किये हैं जब प्रमत्तयोग नहीं है, केवल प्राणों का व्यपरोपण है तो हिंसा नहीं होती। कहा भी है-

प्राणों से वियोग करता हुआ भी (अप्रमत्त) वध (वध के पाप) से लिप्त नहीं होता। ईर्या समिति पूर्वक गमन करने वाले साधु के पैर के नीचे यदि कोई जीव आकर मर जाय तो भी उस साधु को तन्निमित्तक सूक्ष्म भी बन्ध नहीं होता। क्योंकि अध्यात्म प्रमाण से तो मूर्च्छा-ममत्व परिणामों को ही परिग्रह कहा है और कषाय भाव को हिंसा कहा है। **(रा.वा. १२)**

१२. प्रश्न : शास्त्रों में जीव मरे या न मरे प्रमाद के योग से हिंसा स्वीकार की गई है अत: दोनों विशेषण सार्थक कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है क्योंकि प्रमत्तयोग में भी स्वयं के ज्ञान-दर्शन आदि भाव प्राणों का वियोग होता ही है। कहा भी है-

प्रमादी आत्मा स्वकीय प्रमत्त रूप भावों से प्रथम स्वयं अपनी हिंसा करता है पश्चात् दूसरे प्राणियों की हिंसा हो या न भी हो। अत: भाव प्राणों के वियोग की अपेक्षा दोनों विशेषण सार्थक हैं। **(रा.वा. १२)**

१३. प्रश्न : जल में, थल में, आकाश में सर्वत्र जन्तु-ही-जन्तु भरे हुए हैं अत: जगत् में विचरण करता हुआ भिक्षु अहिंसक कैसे हो सकता है ?

उत्तर : जल में, थल में, आकाश में सर्वत्र जन्तु भरे होने पर भी भिक्षु के यहाँ हिंसा को अवकाश नहीं है क्योंकि प्रमाद का अभाव होने से ज्ञान-ध्यान परायण भिक्षु के मात्र प्राणवियोग से हिंसा नहीं होती। **अथवा -** सूक्ष्म और स्थूल के भेद से जीव दो प्रकार के हैं- उनमें जो सूक्ष्म हैं वे तो न किसी से पीड़ित होते हैं, न किसी को रोकते हैं और न किसी से रुकते हैं अत: उनकी तो हिंसा हो नहीं सकती। जो स्थूल मूर्त्तिक हैं उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है, जिनका रोकना शक्य है उन्हें प्रयत्न पूर्वक रोकने वाले संयत के हिंसा कैसे हो सकती है। **(रा.वा. १२)**

१४. प्रश्न : हिंसा का स्वरूप समझने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर : हिंसा का स्वरूप समझने के लिए हिंस्य, हिंसक, हिंसा तथा हिंसा का फल इन चारों का स्वरूप अच्छी तरह जानना चाहिए।

हिंस्य - हिंसा करने के योग्य द्रव्य और भाव प्राण हिंस्य हैं।

हिंसक - प्रमाद से युक्त होकर प्राणों का वियोग करने वाला हिंसक है।

हिंसा - प्रमाद के योग से जीवों के प्राणों का वियोग करना हिंसा है।

हिंसा का फल - इस लोक में कारागृह, अपयश आदि तथा परलोक में नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होना हिंसा का फल है।

१५. प्रश्न : हिंसा करने से क्या हानि है ?

उत्तर : हिंसा करने से कास, श्वास, महापित्त, वात, कोढ़ आदि अनेक बड़े-बड़े महारोग उत्पन्न हो जाते हैं। दया के बिना ही जीव इसलोक में दीन होता है, निर्धन होता है, डरपोक होता है, अल्पायु होता है, दरिद्री होता है तथा परलोक में भी ऐसे ही अनेक दु:खों को प्राप्त होता है। प्राणियों का घात करने से ही जीव पुत्रादि के तीव्र वियोग को पाता है। अधिक कहने से क्या, थोड़े में से इतना समझना चाहिए कि इस लोक में वा परलोक में जितने दु:ख हैं वे सब दया का त्याग करने से ही होते हैं। **(प्र.श्रा. १२/८६-८९)**

१६. प्रश्न : प्रमत्तयोग से हिंसा है तो क्या सत्पात्रदान, चैत्यालय आदि बनवाने में भी हिंसा है?

उत्तर : सत्पात्रदान, देवतार्चनादि कार्यों में जो सूक्ष्म जीवों का नाश होता है वह परम्परा से शांति का कारण होता है क्योंकि वह संकल्प करके नहीं किया जाता है। उसमें दर्शनविशुद्धि और त्याग की प्रधानता है, इसीलिए वह शान्ति का हेतु होता है। चैत्यालय बनवाना या शिल्पकार से जिनप्रतिमा बनवाना आदि में प्रमत्तयोग होने से प्राणिहिंसा होती है, ऐसा समझना अयोग्य है। इन कार्यों में प्रमत्तयोग नहीं है क्योंकि ये सम्यक्त्ववर्धन करने वाले हैं अत: पाप के कारण भी नहीं हैं। **(यु.शा.टी. ३७-३८)**

असत्य का लक्षण -

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

असत्-अभिधानं-अनृतम्।

(असदभिधानं) अप्रशस्त भाषण **(अनृतं)** झूठ है।

१. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'असत्' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'असत्' शब्द सत्य का प्रतिषेधक नहीं है अपितु 'सत्' शब्द प्रशंसावाची है और ''नसत्'' इति असत् - असत् का अर्थ अप्रशस्त होता है। न सत् - असत् का अर्थ शून्य या तुच्छाभाव नहीं है। **(रा.वा.३)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'अभिधान' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'अभिधान' शब्द कर्त्तृवाच्य, कर्म वाच्य और भाव वाच्य भी है जैसे 'अभिधीयते अनेन' इसके द्वारा कहा जाता है उसे अभिधान कहते हैं, यह कर्मवाच्य है। जो कहता है वह अभिधान है यह कर्त्तृवाच्य है तथा अभिधा को अभिधान कहना भाववाच्य है। अभिधान का अर्थ कथन करना है। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : असत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद से उत्पन्न वचनसमूह को असत् वचन कहते हैं। **(ध. १२/२७९)**

जो पदार्थ नहीं है उसका कथन करना अनृत (असत्य) कहलाता है। **(सर्वा. ६८९)**

जो वचन अपने को तथा दूसरे को कष्ट पहुँचाने वाला हो वह वचन 'जैसा देखा वैसा बताने वाला' होने पर भी असत्य है। **(श्लो. ६/५७४)**

असत् कहने से जितने अप्रशस्त अर्थवाची शब्द हैं, वे सब अनृत कहे जायेंगे। इससे जो विपरीतार्थ वचन प्राणिपीड़ाकारी हैं वे भी अनृत हैं। **(रा.वा. ५)**

परुष वचन, कटुवचन, वैरोत्पादक, कलहकारी, भयोत्पादक, अतित्रास देने वाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन ये संक्षेप से अप्रिय वचन हैं। तथा हास्य, भीति, लोभ, क्रोध, द्वेष इत्यादि कारणों से बोले जाने वाले वचन, सब असत्य भाषण हैं। **(भ.आ. ८२६-२७)**

'सत्' शब्द प्रशंसावाची है। जो सत् नहीं वह असत् है। असत् का अर्थ अप्रशस्त है। ऋत का अर्थ सत्य और जो ऋत नहीं है वह अनृत है। **(सर्वा. ६८९)**

४. प्रश्न : अप्रशस्त वचन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिससे प्राणियों को पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त कहते हैं। भले ही वह विद्यमान पदार्थ को विषय करता हो या अविद्यमान पदार्थ को विषय करता हो। यह पहले ही कहा है कि शेष व्रत अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए हैं इसलिए जिससे हिंसा हो वह वचन अनृत है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। **(सर्वा.सि.६८९)**

५. प्रश्न : असत्य वचन कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : असत्य वचन चार प्रकार के होते हैं-

(१) सत्प्रतिषेध (२) अभूत उद्भावन (३) अनालोच्य (४) असूनृत रूप असत्य। **(पु.सि.उ.९१)**

(१) अस्ति को नास्ति कहना (२) नास्ति को अस्ति कहना (३) विपरीत कहना (४) गर्हित, अवद्य और अप्रिय वचन। **(भ.आ.वि. ८१९)**

६. प्रश्न : प्रथम असत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सहित वस्तु मौजूद हो उसका निषेध कर देना प्रथम असत्य है। जैसे यह कहना कि यहाँ पर 'देवदत्त' नहीं है जबकि वह यहीं है। **(पु.सि.उ. ९२)**

चार भेदों में सद्भूत अर्थ का निषेध करना प्रथम असत्य वचन है। जैसे- मनुष्य की अकाल में मृत्यु नहीं होती, इत्यादि वचन। ऐसा कहना सद्भूत का निषेध रूप असत्य वचन है। अथवा-

क्षेत्र, काल, भाव से अभाव का विचार न करके घट यहाँ नहीं है, इस समय नहीं है, या सफेद अथवा कृष्ण रूप नहीं है, ऐसा न विचारकर अपनी बुद्धि से घट का सर्वथा अभाव कहना असत्य वचन है। **(भ.आ.वि. ८१८-१९)**

७. प्रश्न : दूसरा असत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नहीं है उसको 'है' कहना यह असत्य वचन का दूसरा भेद है, जैसे- देवों की अकाल मृत्यु नहीं है फिर भी देवों की अकाल मृत्यु बताना, आदि। **अथवा** जो वचन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा असत् घट का विचार न करके 'घट' है ऐसा कहता है। **(भ.आ. वि. ८२०-२१)** द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन-चतुष्टय की अपेक्षाओं का विचार न करके जो घट पहले था उसको वर्तमान में है ऐसा कहना अभूत उद्भावक असत्य वचन है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। **(म.क. ८५४)** पर क्षेत्र-काल-भाव सहित वस्तु न हो फिर भी वस्तु का अस्तित्व कहना यह दूसरा असत्य है जैसे कि यहाँ पर (घट मौजूद नहीं है फिर भी कहना कि) घट मौजूद है। **(पु.सि.उ. ९३)**

८. प्रश्न : तीसरा असत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक जाति के सत्पदार्थ को अन्य जाति का सत्पदार्थ कहना, यह असत्य का तीसरा भेद है। जैसे - बैल है उसका विचार न कर यहाँ घोड़ा है ऐसा कहना। यह कहना सत् पदार्थ का विपरीत प्रतिपादन करने से असत्य है। **(भ.आ. ८२२)**

९. प्रश्न : चौथा असत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो निन्द्य वचन बोलना, जो अप्रियवचन बोलना और जो पापयुक्त वचन बोलना वह सब चौथे प्रकार का असत्य वचन है। **(भ.आ. ८२३)** जो कथन गर्हित सावद्य रूप और अप्रिय वचन है वह चौथा असत्य है। **(पु.सि. ९५)** सावद्य वचन, गर्हित वचन एवं अप्रिय वचन ये चौथे असत्य के भेद हैं। **(म.क. ८५७)**

१०. प्रश्न : सावद्य वचन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस वचन से प्राणी वध आदि अखिल (सम्पूर्ण) दोष उत्पन्न होते हैं वह सावद्य वचन है जो षट्काय जीवों के आरम्भ का कथन करता है। **(म.क. ८५९)**

जिस वचन से प्राणों का घात आदि दोष उत्पन्न होते हैं वह सावद्यवचन है। जैसे- पृथ्वी खोदो। नांद का पानी भैंस ने पी लिया, उसे पानी से भरो। फूल चुनो आदि। अथवा ऐसा कहने में दोष है या नहीं, यह विचार न करके चोर को चोर कहना सावद्य वचन है। **(भ.आ. ८२५)**

छेदन, भेदन, मारण, कर्षण, वाणिज्य और चोरी आदि रूप वचनों से प्राणिवध आदि में प्रवृत्ति होती है, इसलिए ये सावद्यवचन कहलाते हैं। **(पु.सि. ९७)**

११. प्रश्न : गर्हित वचन किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्कश, निष्ठुर, हास्य मिश्रित, परुष, चुगली, ईर्षापरक और असंबद्ध, ये सब वचन गर्हित कहे जाते हैं। **(म.क. ८५८)**

कर्कशवचन अर्थात् गर्व सहित वचन, निष्ठुर वचन, परदोष को सूचित करने वाले वचन, पैशून्य वचन, हास्य वचन और जो कुछ भी बकवाद करना गर्हित वचन है। **(भ.आ.वि. ८२४)**

पैशून्य, हास्य गर्भित, कर्कश, असमंजस-बकवादरूप तथा उत्सूत्र अर्थात् आगमविरुद्ध बोलना गर्हित वचन कहा गया है। **(पु.सि.उ. ९६)**

१२. प्रश्न : अप्रियवचन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अवज्ञा कारण रूप वचन, वैर, कलह, त्रास को बढ़ाने वाले वचन, नहीं सुनने योग्य वचन, कटुक वचन ये सब अप्रिय वचन हैं, ऐसा बुद्धिमान कहते हैं। **(म.क. ८६०)** यह कन्या देने योग्य है, विवाह योग्य है। खेत आदि काटने के योग्य हैं, परिखा, कूप और वापिका अच्छे खोदे गये हैं, खोटी

चेष्टा वाले मनुष्य दमन करने के योग्य हैं। गायन, वादन और नर्तन सुंदर हुए हैं, स्त्री अच्छी है, योद्धा, हाथी, मल्लों के युद्ध ठीक हुए हैं, वन अच्छा है, यह रोगी है, अंधा है, लंगड़ा है आदि व्यवहारी जनों के आश्रय से जो वचन बोले जाते हैं, वे सभी अप्रिय वचन हैं। **(आ.सार. ८-९)**

१३. प्रश्न : असत्य बोलने से क्या हानि है ?

उत्तर : असत्य वचन से यश उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे दावानल से वन भस्म हो जाता है, जैसे- वृक्षों के लिए पानी (अधिक मात्रा में दिया गया) दु:खों का कारण, जैसे- धूप में छाया का सुख नहीं होता उसी प्रकार असत्यवादी के तप और संयम की कथा नहीं होती। झूठ अविश्वास का मूल कारण है, खोटी वासनाओं का घर है, उन्नति को रोकने वाला है, विपत्ति का कारण है, दूसरे को ठगने में लगा रहता है, असत्यवादी अनेक अपराध करता है, सज्जनों के द्वारा त्याज्य होता है। **(सू.मु. ३०-३१)**

स्तेय का लक्षण

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अदत्त-आदानं-स्तेयम्।

(अदत्तादानं)[१] बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना **(स्तेयं)** चोरी है।

अर्थ - प्रमाद के योग से बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है।

१. प्रश्न : चोरी किसे कहते हैं ?

उत्तर : आदान का अर्थ ग्रहण करना है और अदत्त वस्तु का आदान अदत्तादान है, उसे चोरी कहते हैं। **(रा.वा.)**

अन्याय से दूसरे का धन ले लेना चोरी कहलाती है।

आदान का अर्थ ग्रहण करना है। बिना दी हुई वस्तु का लेना अदत्तादान है और यही स्तेय-चोरी कहलाता है। **(सर्वा. ६९१)**

परद्रव्य के अपहरण का अभिप्राय होना चोरी है। **(मू.आ. ३९६)** सर्व साधारण के उपयोग में आने वाले जल और तृण आदि पदार्थों को छोड़कर काम और क्रोधादि कषायवश दूसरों के धन को बिना दिये हुए ग्रहण करना चोरी है।

प्रमाद के योग से दूसरे के बिना दिये गये धन-धान्यादि परिग्रह का ग्रहण करना चोरी है और वही वध के हेतु होने से हिंसा है। **(पु.सि.उ. १०२)**

---

१. यहाँ अदत्त में जो अकार है, उसके निषेध और ईषत् दोनों अर्थ लेना। अत: किसी की भी बिना दी हुई चीज को एवं नाजायज दबाव में आकर दी हुई चीज को भी ले लेना सो सब चोरी है।

२. प्रश्न : अदत्तादान चोरी है या कर्म-नोकर्मों का ग्रहण भी चोरी की कोटि में ?

उत्तर : कर्म-नोकर्म के ग्रहण में चोरी का प्रसंग नहीं है क्योंकि जहाँ देन-आदान में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, वहीं चोरी का प्रसंग आता है। जैसे सोने, चाँदी, मणि, रुपया आदि में देन-आदान (लेन-देन) में प्रवृत्ति निवृत्ति संभव है। उनके अदत्तादान साक्षात् चोरी कहलाती है परन्तु ज्ञानावरणादि आठ कर्म और शरीर रूप नोकर्म में लेन-देन की प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं है अतः कर्म-नोकर्म का ग्रहण चोरी नहीं कहलाती। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : कर्मों में लेन-देन का व्यवहार क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : इन्द्रियादि के द्वारा कर्मों के ग्रहण और विसर्जन का अभाव है, सूक्ष्म- वस्त्र पात्र आदि हाथ आदि के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं यथा इन्द्रियों को दिये जाते हैं, उसी प्रकार कर्म इन्द्रियों को हाथ आदि के द्वारा न दिये जाते हैं और न इन्द्रियों के द्वारा लिये जाते हैं क्योंकि कर्म अति सूक्ष्म हैं अतः उनका हाथ आदि के द्वारा लेना-देना नहीं हो सकता। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : इन्द्रियादि से ग्रहण या विसर्जन (त्याग) किये जाने वाले पदार्थों में देन-आदान का व्यवहार मानना चाहिए या नहीं, इसलिए कर्म दिये, ऐसा व्यवहार कैसे घटित हो सकेगा ?

उत्तर : शब्द के कारण की रहे आलम्बनादि (मृदङ्ग, शंख, ढोलक, घण्टादि) के द्रव्य से कारण में कारण का उपादान की जाती से शब्द का दान किया जाना निषेध की जाता है **अथवा** - शब्द के उपादान अभिधान करना शब्द से वा शब्दों में मन को ऐसा शब्द से भी शब्दों का व्यवहार बन जाता है। **(श्लो. ६/५७६)**

५. प्रश्न : कान आदि से शब्दों का ग्रहण नहीं होता है या उनका ग्रहण विशेष होता है ?

उत्तर : शरीर, आहार और विसर्जनीय परिणामों से ही कर्मों वर्गणाओं का सम्बन्ध है। इस तरह परमार्थ शरीर में, आहार में और शब्दादि विषयों में राग-द्वेष रूप भाव विकल्प परिणमन होने से उसको स्वयं: कर्मबन्ध होता है। स्वकीय परिणामों से कर्मागमन होता है अतः ये कर्म-नोकर्म इन्द्रियों के बिना दिये नहीं जा सकते हैं। **(रा.वा. ५)**

६. प्रश्न : यदि स्वकीय परिणामों से कर्मबन्धन होता है तो मुनि को कर्मबन्धन होता रहेगा क्योंकि ध्यान के शुभ परिणाम होते हैं ?

उत्तर : मुनि कर्मबन्धन नहीं होता रहता क्योंकि आस्रव का निमित्त होने पर संवर होता है और संवर से बन्ध का अभाव हो जाता है। जैसे, सामायिक आदि से आस्रव का निमित्त होता है, ऐसा नवम अवलोकन में कहीं। आस्रव का निमित्त होने से कर्म का आगमन रूक जाता है और कर्मागमन के अभाव में बन्ध का अभाव होता है अतः मुनि बन्ध होता रहता, कर्मों नीचे नहीं होती, ऐसा नहीं है। इसलिए मुनि है कि जहाँ संक्लेशपूर्वक उपकार विरोध से दान का अभिमान है वहीं पर अदत्तादान की प्रवृत्ति है। **(रा.वा. ५-६)**

७. प्रश्न : इन्द्रिय आदि से शब्दादि विषयों का तथा गली, दरवाजे आदि का ग्रहण करने वाले मुनि के चोरी का दोष लगेगा क्योंकि वे उन्हें बिना दिये ग्रहण करते हैं ?

उत्तर : सूत्र में अप्रमत्त विशेषण है। प्रमादपूर्वक अन्य की वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। यत्नवान अप्रमत्त ज्ञानी साधु के शास्त्रोक्त दृष्टि से आचरण करने पर शब्दादि सुनने, गन्धादि सूंघने तथा गली, दरवाजे आदि में बिना दिये प्रवेश करने पर चोरी का दोष नहीं लगता क्योंकि साधु के शब्दादि ग्रहण करने पर अचौर्य प्रसिद्ध ही है। सामान्य से वे शब्द, द्वार, गली आदि सबके लिए खुली हुई वस्तुएँ हैं, किसी के प्रवेश आदि का निषेध नहीं है अत: वे सब दिये हुए हैं। क्योंकि ये साधुगण उस दरवाजे आदि में प्रवेश नहीं करते जिनके किवाड़ बन्द हैं अथवा जो सार्वजनिक नहीं हैं। **(रा.वा. ७)**

८. प्रश्न : मुनिराज किन-किन वस्तुओं को बिना दिये भी ग्रहण कर सकते हैं ?

उत्तर : सामान्य रूप से सबके लिए दिया गया नदी का जल, झरने और बावड़ी आदि का जल, सूखे गोबर के टुकड़े, भस्म आदि, स्वयं छोड़े गये मयूर-पंख, तुम्बी फल आदि को मुनिराज कभी बिना दिये ग्रहण करते हैं तो भी उनके चोरी का दोष नहीं लगता है क्योंकि उनके प्रमत्त योग का अभाव है। **(श्लो. ६/५७८)**

जिस उपधि के ग्रहण-विसर्जन में, सेवन करने में सेवन करने वाले के छेद नहीं होता उस उपधि युक्त काल, क्षेत्र को जानकर इसलोक में श्रमण भली प्रकार से वर्तन करे। भले ही अल्प तथापि जो अनिन्दित हो, असंयतजनों से अप्रार्थनीय हो और जो मूर्च्छादि उत्पन्न नहीं करती हो ऐसी ही उपधि को श्रमण ग्रहण करे। यथाजात रूप लिंग जिनमार्ग में उपकरण कहा गया है, गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय भी उपकरण कहे गये हैं। **(प्र.सा. २२२-२३, २५)**

९. प्रश्न : देववन्दनादि क्रियाओं के सम्बन्ध से पुण्य का संचय होने पर प्रशस्त चोरी का प्रसंग आयेगा क्योंकि वह अदत्तादान है ?

उत्तर : देव-वन्दनादि क्रियाओं के द्वारा पुण्यसंचय में चोरी की आंशका निर्मूल है क्योंकि जहाँ लेन-देन का व्यापार होता है वहीं चोरी का दूषण आता है। वन्दनादि क्रियाओं को सावधानी पूर्वक करने वाले साधु के प्रमत्तयोग की सम्भावना नहीं होती। (क्योंकि प्रमत्तयोग से अदत्तादान चोरी है।) **(रा.वा. ८,९)**

१०. प्रश्न : प्रमत्त व्यक्ति के अदत्तादान चोरी क्यों है ?

उत्तर : प्रमत्त व्यक्ति को परद्रव्य का ग्रहण हो या न हो परन्तु मन, वचन, काय से परद्रव्य के अपहरण करने के परिणाम होने से चोरी का दूषण अवश्य आता है क्योंकि दूसरे के द्रव्य को लेने का जो परिणाम है वह प्राणी-पीड़ा का कारण होने से पापास्रव कहा गया है। **(रा.वा. ९)**

११. प्रश्न : चोरी कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : चोरी दो प्रकार की होती है-

(१) नैसर्गिक चोरी (२) निमित्तज चोरी।

नैसर्गिक चोरी - जिसका चोरी करने का स्वभाव है उसके जन्म से लेकर लोभ के निकृष्ट स्पर्द्धकों का उदय होने से घर में बहुत सा धन होने पर, करोड़ों की सम्पत्ति होने पर तथा बहुत-सा आय और व्यय होने पर भी बिना चोरी के संतोष नहीं होता, जैसे भूख सबको लगती है उसी प्रकार ऐसी चोरी करना उसका स्वभाव पड़ जाता है।

निमित्तज चोरी - जब घर में स्त्री-पुत्र आदि का खर्च अधिक होता है और घर में धन नहीं होता तब दूसरी तरह की चोरी करनी पड़ती है, यह चोरी भी किसी लोभ और अशुभ कर्म के उदय से होती है। दोनों ही प्रकार की चोरी बन्ध का कारण है। **(म.पु. ५९/१७८-८१)**

१२. प्रश्न : चोरी करने से क्या हानि है ?

उत्तर : चोरी करने वाला खटीक (कसाई), बिलाव, बाघ, ढीमर (धीवर, मछुहारा) इनसे भी अधिक पापी है, और निरन्तर परजीवों को दु:ख देने में तत्पर रहता है। **(अ.श्रा. ६/६३)**

पराये द्रव्य को हरने वाला इस लोक और परलोक में असाता-बहुल दु:खों से भरी हुई अनेक यातनाओं को पाता है और कभी सुख को नहीं देखता है। **(वसु. श्रा. १०१)**

चोरी करने वाले के गुण तो गौणता को प्राप्त हो जाते हैं तथा विद्या विडम्बना को प्राप्त हो जाती है और अकीर्तियाँ मस्तक पर पग धरती हैं। इस पृथ्वी पर परधन रूपी मांस के ग्रास में आसक्तजनों के पुण्यरूपी आचरणों के समूह इसी लोक में नष्ट हो जाते हैं। **(ज्ञा. १०/४-५)**

अब्रह्म का लक्षण

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

मैथुनं - अब्रह्म।

(मैथुनं) मिथुन का कर्म या भाव **(अब्रह्म)** है।

अर्थ - प्रमाद के योग से मैथुन का कर्म या भाव अब्रह्म है।

१. प्रश्न : मैथुन किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर स्त्री और पुरुष के परस्पर शरीर का सम्मिलन होने से सुख-प्राप्ति की इच्छा से होने वाला जो राग परिणाम है वह मैथुन कहलाता है। **(रा.वा. ४)**

'ब्रह्मि वृद्धौ' धातु से ब्रह्म शब्द बना है, जिसका परिपालन करने से अहिंसादि गुणों की वृद्धि होती है वह ब्रह्म कहलाता है, ब्रह्म नहीं है या ब्रह्म का अभाव है वह अब्रह्म कहलाता है, वह अब्रह्म ही मैथुन

है। **(श्लो. ६/५८२)** स्त्री और पुरुष के मन, वचन व काय स्वरूप विषय व्यापार को मैथुन कहा जाता है। यहाँ पर अन्तरंग मैथुन के समान बहिरंग मैथुन को भी (कर्मबन्ध का) कारण बतलाना चाहिए। **(ध. १२/२८२)**

२. प्रश्न : क्या अकेला व्यक्ति भी मैथुन सेवन कर सकता है ?

उत्तर : हाँ, एक व्यक्ति के भी हाथ, पैर अथवा पुद्गल आदि के संघट्टनादि के द्वारा अब्रह्म का सेवन होने से मैथुन होता है। वह चारित्र मोहनीय से प्रकट काम पिशाच के सम्पर्क से दो हो गया है, जिस प्रकार पिशाच के वश हुआ एक व्यक्ति भी दो रूप हो जाता है। **(रा.वा. ५-८)**

३. प्रश्न : क्या एक व्यक्ति में होने वाला मैथुन उपचार से है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि जैसा चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कामवेदना से पीड़ित स्त्री-पुरुष का कर्म मैथुन है, वैसा ही चारित्र मोहनीय कर्म से उद्रिक्त रागी के हस्तादि के संघट्टन में मैथुन है। यदि हस्तादि के संघट्टन से होने वाले मैथुन को उपचार माना जायेगा तो जैसे- मुख्य सिंह में होने वाले क्रौर्य, शौर्य आदि गुण माणवक (बिल्ली के बच्चे) में नहीं है, केवल उपचार से समानता दी जाती है, वैसे ही मुख्य मैथुन से होने वाला पापकर्मास्रव हस्त संघट्टनादि में नहीं होगा। परन्तु उसमें भी पापास्रव होता है अत: एक व्यक्ति में होने वाला मैथुन मुख्य है औपचारिक नहीं। **अथवा -** जिस प्रकार स्त्री और पुरुष को रति के समय शरीर का संयोग होने पर स्पर्श सुख होता है उसी प्रकार एक व्यक्ति को भी हाथ आदि के संयोग से स्पर्श सुख का भान होता है, दोनों मैथुन तुल्य हैं। इसलिए हस्त-संघट्टनादि सम्बंधी मैथुन भी मुख्य ही है, उसमें भी राग-द्वेष और मोह की तीव्रता होने से मैथुन शब्द का लाभ है। **(रा.वा. ६-७)**

४. प्रश्न : मैथुन का कर्म या भाव ही मैथुन माना जाय तो क्या दोष है ?

उत्तर : मैथुन कर्म या मैथुन को मैथुन माने जाने पर निम्नलिखित दोष आते हैं-

(१) दो पुरुषों के सम्बन्ध से होने वाले कार्यों में जैसे बोझा उठाना (पानी खींचना) आदि कार्यों में भी मैथुन का प्रसंग आयेगा।

(२) औदासीन्य से एक स्थान में अवस्थित राग-भाव से निवृत्त स्त्री-पुरुष में भी मैथुन का प्रसंग आयेगा।

(३) भोजनादि बनाने की क्रिया में भी स्त्री-पुरुष दो के कर्म में मैथुन का प्रसंग आयेगा।

अत: स्त्री-पुरुष के परस्पर शरीर के स्पर्श करने में जो राग परिणाम है वही मैथुन है, दो का कर्म मैथुन नहीं है। **(रा.वा. १-४)**

५. प्रश्न : मैथुन के कितने कारण हैं ?

उत्तर : मैथुन के दस दोष (कारण) हैं-

(१) शरीर का संस्कार करना (२) पुष्ट रस का सेवन करना। (३) गीत, नृत्य, वादित्र आदि सुनना (४) स्त्री का संसर्ग करना। (५) स्त्री में किसी प्रकार के संकल्प का विचार करना। (६) स्त्री के अंग देखना। (७) स्त्री को देखने का संस्कार (स्मृतियाँ) रखना। (८) पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण करना। (९) आगामी भोगों को भोगने की चिन्ता करना। (१०) शुक्र का क्षरण। **(ज्ञा. ११/७-९)**

अब्रह्म के कारणभूत द्रव्य-

(१) विपुल आहार करना। (२) काय का शोधन (संस्कार) करना। (३) गंध, माला आदि धारण करना (४) गीत और बाजे सुनना (५) शयन-स्थान का शोधन। (६) स्त्रीसंसर्ग (७) धन का संग्रह (८) पूर्व रति स्मरण (९) इन्द्रियजन्य विषयों में अनुराग (१०) पौष्टिक रसों का सेवन। **(मू. ९९८-९९)**

६. प्रश्न : क्या स्त्रीपरीषहजयी अप्रमत्त मुनिराज स्त्री के साथ आलिंगन हो जाने पर अब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर : नहीं, संयत मुनिराज स्त्री का आलिंगन हो जाने पर भी अब्रह्म भाव को प्राप्त नहीं होते हैं। जिस प्रकार प्रमाद का अभाव होने से मुनिराज के प्राणव्यपरोपण रूप हिंसा नहीं होती है उसी प्रकार मैथुन (अब्रह्म) भी नहीं होता है क्योंकि मैथुन की उत्पत्ति प्रमाद का सद्भाव होने पर ही होती है। जिस प्रकार माता का पुत्र के साथ आलिंगन कुशील नहीं माना जाता है उसी प्रकार कभी-कभी अप्रमत्त मुनि का स्त्री के द्वारा आलिंगन किया जाने पर भी मुनिराज की उसके साथ रमने की अभिलाषा का अभाव होने से उनको अब्रह्म का दोष नहीं आता है। **(श्लो. ६/५८२-८३)**

७. प्रश्न : ऐसा मुनि निर्दोष है तो फिर उन्हें प्रायश्चित्त नहीं लेना पड़ता होगा ?

उत्तर : नहीं, प्रायश्चित्त का उपदेश प्रसंग की निवृत्ति के लिए है, आचार्य जितेन्द्रिय मुनि को उपदेश देते हैं कि जहाँ स्त्री, नपुंसक आदि का संचार हो ऐसे स्थान को छोड़कर विविक्त शय्यासन तप करना चाहिए। **(श्लो. ६/५८३)**

८. प्रश्न : स्त्री के आलिंगन से मुनिराज को दोष नहीं लगता है तो किसको दोष लगता है?

उत्तर : आत्मध्यान में एकाग्र मुनिराज के रमण की अभिलाषा का अभाव होने से वे तो मैथुन पाप से मुक्त ही हैं, परन्तु उपसर्ग (आलिंगन) करने वाली स्त्री ही रमण की अभिलाषा होने से अब्रह्म दोष को प्राप्त होती है। जैसे- काष्ठ, पाषाण, लेपमय जड़ पुरुष के साथ आलिंगन करने वाली स्त्री ही अब्रह्म के दोष को प्राप्त होती है, जड़ मूर्त्ति नहीं। **(श्लो. ६/५८३)**

९. प्रश्न : मैथुन सेवन करने से क्या हानि है ?

उत्तर : अब्रह्मचारी के हिंसादि दोष पुष्ट होते हैं। क्योंकि मैथुन सेवनाभिलाषी व्यक्ति त्रस-स्थावर जीवों का घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है और सचेतन एवं अचेतन परिग्रह का संग्रह भी करता है। **(रा.वा. १०)** मैथुन सेवन करने से वह अनेक जीवों का वध करता है। जैसे तिल की फली में अग्नि

से तपी हुई सलाई प्रविष्ट होने से सब तिल जल कर खाक होते हैं वैसे मैथुन करते समय योनि में उत्पन्न हुए जीवों का नाश होता है। **(भ.आ. ९१६)**

जिस पुरुष ने तीन लोक के चिन्तामणि रत्न के समान अपने सम्पूर्ण शील को नष्ट कर दिया है, उसने जगत् में अकीर्ति का बाजा बजाया है, अपने वंश में काली स्याही लगा दी है, चारित्र को जलांजलि दे दी है, गुणों के समूह रूप बगीचे में दावानल लगा दिया है। कुशील सम्पूर्ण आपत्तियों का संकेत है। मोक्षमहल के द्वार में मजबूत किवाड़ है। **(सू. मु. ३७)**

नोट : और भी देखें **(९/६)**

परिग्रह का लक्षण

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

(मूर्च्छा) पदार्थों के रक्षण आदि का भाव **(परिग्रहः)** परिग्रह है।

अर्थ - प्रमाद के योग से पदार्थों के रक्षण के भाव को परिग्रह कहते हैं।

१. प्रश्न : परिग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाह्य और अभ्यन्तर पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प को परिग्रह कहते हैं। **(य.ति.च. ७/१६३)** मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। **(त.सू. ७/१७)**

रागादि तो कर्मों के उदय से होते हैं, अतः वे आत्मा का स्वभाव न होने से हेय हैं। इसलिए उनमें होने वाला संकल्प परिग्रह है। **(रा.वा. ५)** 'यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है। **(रा.वा. ६/१५)** 'परिगृह्यते इति परिग्रहः' जो ग्रहण किया जाता है, इस निरुक्ति के अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है, वह परिग्रह ''परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः' इस निरुक्ति के अनुसार बाह्य पदार्थ के ग्रहण में कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है। **(ध. १२/२८२)** इच्छा परिग्रहः इच्छा ही परिग्रह है **(स.सा. आ. २१०)**

२. प्रश्न : मूर्च्छा किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाह्य-अभ्यन्तर उपधि के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन बाह्य परिग्रह के और राग-द्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रह के संरक्षण, अर्जन, संस्कारादि लक्षण-व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं।

अन्तरंग परिग्रह के होने पर ही बहिरंग परिग्रह को मूर्च्छा कहा जाता है। वात-पित्त-कफ या अन्य शारीरिक दोष के प्रकोप से उत्पन्न होने वाली बेहोशी को मूर्च्छा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यही विशिष्ट अर्थ गृहीत है। यद्यपि मूर्च्छा धातु मोह सामान्यार्थक है फिर भी यहाँ बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों के संरक्षण विषय में ही उसका ग्रहण किया है, इस प्रकार विशिष्टता होने से इष्ट अर्थ का संप्रत्यय होता है तथा सामान्य अर्थ की प्रेरणा विशेष अर्थ में व्याप्त रहती ही है। **(रा.वा. १-२)**

तोड़ने के लिए कठिन ऐसा कर्म जिससे प्राणी प्राप्त कर लेता है, उसे परिग्रह समझना चाहिए। इसी का ही 'मूर्च्छा' यह नाम है। **(सि.सा.सं. ३/९१)**

३. प्रश्न : 'मूर्च्छा' इस शब्द से अन्तरंग परिग्रह का ग्रहण होता है अत: बाह्य पदार्थों को परिग्रहत्व प्राप्त नहीं हो सकता ?

उत्तर : आभ्यन्तर ममत्व परिणाम रूप मूर्च्छा को परिग्रह कहने पर बाह्य पदार्थों में अपरिग्रहत्व का प्रसंग आता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आभ्यन्तर परिग्रह ही प्रधानभूत है। अर्थात् 'यह मेरा है' इस प्रकार का संकल्प आध्यात्मिक परिग्रह है, वही प्रधानभूत है अत: मूर्च्छा से मुख्यतया आभ्यन्तर परिग्रह का ग्रहण किया जाता है। उस आभ्यन्तर परिग्रह के ग्रहण करने पर आभ्यन्तर परिग्रह के कारणभूत गौण रूप बाह्य परिग्रह का ग्रहण तो हो ही जाता है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : यदि बाह्य परिग्रह प्रधान नहीं है तो उसका ग्रहण कैसे होता है ?

उत्तर : मूर्च्छा का कारण होने से बाह्य पदार्थ के भी मूर्च्छा व्यपदेश होता है। जैसे- ''अन्न ही प्राण है'' इस प्रकार प्राणों की स्थिति में कारणभूत अन्न में प्राणों का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार मूर्च्छा का कारण होने से बाह्य परिग्रह को भी मूर्च्छा कह देते हैं। अर्थात् कारण में कार्य का उपचार किया जाता है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : क्या ''ज्ञान, दर्शन, चारित्र मेरे हैं'' ऐसा संकल्प भी मूर्च्छा है ?

उत्तर : प्रमत्तयोग का अधिकार होने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र में होने वाला ममत्व भाव परिग्रह नहीं है। क्योंकि निष्प्रमादी ज्ञान, दर्शन और चारित्रवान व्यक्ति के मोह का अभाव है। अत: निष्प्रमादी व्यक्ति के चारित्र का ममत्व मूर्च्छा नहीं है और उसके निष्परिग्रहत्व सिद्ध होता है।

अथवा - ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव हैं, अहेय (छोड़ने योग्य नहीं हैं) अत: वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि परिग्रह हो ही नहीं सकते। उनमें तो अपरिग्रहत्व है। रागादि नोकर्मोदयजन्य हैं, अनात्मस्वभाव हैं और हेय हैं। इसलिए इनमें होने वाला 'ममेदं' संकल्प परिग्रह है। **(रा.वा. ५)**

६. प्रश्न : 'ममेदं' इस प्रकार का संकल्प करने से क्या हानि है ?[१]

उत्तर : परिग्रह ही समस्त दोषों का मूल कारण है, 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प होने पर ही उसके रक्षण आदि की व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है उस परिग्रह के लिए झूठ भी बोलता है चोरी भी करता है, मैथुन कर्म में प्रयत्न करता है। इस परिग्रह के ममत्व के कारण नरक आदि में अनेक प्रकार के दु:ख भोगता है। इस लोक में भी निरन्तर दु:ख रूपी महासमुद्र में अवगाहन करता है। **(रा.वा. ६)**

---

१. साधुर्यतोऽङ्घिघातेऽपि कर्मभिर्बध्यते न वा।
उपधिभ्यो ध्रुवो बन्धस्त्याज्यास्तै: सर्वथा तत: ॥३४॥
अर्थ - साधु के द्वारा (कायचेष्टा से) जीवघात होने पर भी वह कर्मों से बँधता भी है और नहीं भी बँधता परन्तु परिग्रहों के द्वारा तो निश्चित बन्ध होता है। **(यो.सा. ८/३४)**

जैसे - ह्रद में पाषाण पड़ने से तल भाग में दबा हुआ भी कीचड़ क्षुब्ध होकर ऊपर आता है वैसे परिग्रह जीव के प्रशान्त कषायों को भी प्रगट करते हैं। **(भ.आ. १९०८)**

अणुमात्र परिग्रह के रखने से मोह कर्म की ग्रन्थि दृढ़ होती है और इससे तृष्णा की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसकी शान्ति के लिए समस्त लोक की सम्पत्ति से भी पूरा नहीं पड़ता है। **(ज्ञा. १६/२०)** परिग्रह से काम होता है, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरकगति होती है। उस नरकगति में वचनों के अगोचर अति दु:ख होता है। इस प्रकार दु:ख का मूल परिग्रह है। **(ज्ञा. १६/१२)**

७. प्रश्न : क्या निर्ग्रन्थ मुनि के पिच्छिकादि रखना भी परिग्रह है ?

उत्तर : सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात संयमियों के समान परिहार विशुद्धि वाले मुनिराज के पिच्छिका नहीं होती है। सामायिक-छेदोपस्थापना संयमी के जो पिच्छिका होती है उसमें सूक्ष्म मूर्च्छा का सद्भाव होने पर भी संयम का उपकरण होने के कारण तथा मोक्षमार्ग में अनुकूल (अविरोधी) होने से उसका ग्रहण अनुचित नहीं है। वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण मोटी मूर्च्छा के अनुसार होता है अत: मुनिमार्ग (निर्ग्रन्थता) में विरोधी है। **(श्लो. ६/५९३)**

८. प्रश्न : पिच्छिका, कमण्डलु आदि के समान स्वर्णादि के ग्रहण में क्या दोष है ?

उत्तर : जिस प्रकार पिच्छिका आदि संयम के उपकरण हैं, उस प्रकार स्वर्णादि नग्नता या संयम के उपकरण नहीं हैं।

स्वर्णादि सम्पूर्ण सामग्री भोग-उपभोग का कारण (साधन) है अर्थात् स्वर्णादि से भोग-उपभोग की सामग्री प्राप्त हो सकती है किन्तु तीन-चार पंख मात्र की पिच्छिका और सूखे तूम्बीफल के कमण्डलु इतने मूल्यवान नहीं हैं कि जिन्हें बेचकर भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त की जा सके अत: उनके ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है और वे सिद्धान्तविरुद्ध भी नहीं हैं। **(श्लो. ६/५९४)**

९. प्रश्न : पिच्छिकादि के समान बिना मूर्च्छा के वस्त्रादि का ग्रहण परिग्रह कैसे हो सकता है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि मूर्च्छा के बिना किसी जीव के वस्त्र, पात्र, दण्ड आदि का ग्रहण सम्भव नहीं है तथा वस्त्रादि के रक्षण करने, धोने, सुखाने, सीने आदि में अनेक आरम्भ करने पड़ते हैं तथा ये वस्त्रादि संयम के उपकरण भी नहीं हैं अत: इनके ग्रहण करने में मूर्च्छा अवश्य होती है।

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरम्भो वा असंजमो तस्स।
तध परदवम्हिरदो कधमप्पाणं पसाधयदि॥

जैसे छिलके के सद्भाव में चावलों में पाई जाने वाली ललाई रूप अशुद्धता का त्याग नहीं हो सकता, उसी प्रकार वस्त्रादि के त्याग के अभाव में भिक्षु के भाव की विशुद्धि नहीं हो सकती तथा चित्त शुद्धि के अभाव में कर्मक्षय कैसे हो सकता है। **(प्र.सा.ता. २४०)**

१०. प्रश्न : उपकरण के समान लज्जा आदि के निवारणार्थ वस्त्रखण्ड, कौपीन आदि को मूर्च्छा का कारण नहीं मानना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि मूर्च्छा के अभाव में भी लज्जा आदि के निवारणार्थ वस्त्रखण्ड, कौपीन आदि का ग्रहण उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है तो मूर्च्छा के अभाव में कामपीड़ा को दूर करने के लिए स्वल्प काल पर्यन्त स्त्री को ग्रहण करने का भी निषेध नहीं होना चाहिए। क्योंकि वस्त्रग्रहण से लज्जा और स्त्री से कामवेदना दूर होती है अत: कौपीन आदि को मूर्च्छा का कारण मानना चाहिए। **(श्लो. ६/५९१)**

११. प्रश्न : मूर्च्छा के अभाव में भी बारहवें आदि गुणस्थानों में शरीर रूप परिग्रह स्वीकार किया गया है अत: सभी परिग्रह मूर्च्छा के कारण कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि बारहवें आदि गुणस्थानों में जीवों के पूर्व भव में मोह के कारण बन्ध को प्राप्त कर्मोदय का कारण मानकर शरीर को परिग्रह स्वीकार किया जाता है तथा मोह के क्षय हो जाने पर मुनि कर्म और नोकर्म का परित्याग करने के लिए परम चारित्र का विधान करते हैं अर्थात् यथाख्यात चारित्र को धारण करते हैं। **(श्लो. ६/५९५)**

व्रती

व्रती का लक्षण

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

(नि:शल्य:) जो शल्य रहित होता है वही (व्रती) व्रती है।

अर्थ - शल्यरहित व्रती होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिसका चित्त उपर्युक्त भावनाओं से स्थिर हो गया है, जो हिंसादि पापों को जीव के नाश अथवा अहित का कारण समझता है, दु:ख के कारणभूत सर्व सांसारिक क्रिया-कलापों को दु:खरूप समझकर इन्द्रिय सम्बन्धी विषय के कुतूहल से जो निरुत्सुक हो चुका है, समस्त प्राणियों में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावों के प्रणिधान से जो वात्सल्य धारण कर चुका है, जन्म-मरण के दु:खों से जो खेद-खिन्न है, जिसने शरीर के स्वभाव को अच्छी तरह से जान लिया है, जो मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है, ऐसे जिस पुरुष के व्रत है वह कैसा होता है, उसे बताने के लिए सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(रा.वा. १८ उ.)**

उपर्युक्त विधि से जो हिंसादि में दोषों का दर्शन करता है, जिसका चित्त अहिंसादि गुणों में लगा हुआ रहता है और जो अत्यन्त प्रयत्नशील है वह यदि अहिंसादि व्रतों को पाले तो किस संज्ञा को प्राप्त होता है, इसी बात को इस सूत्र के द्वारा बताया गया है। **(सर्वा. ६९६)**

२. प्रश्न : व्रती किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो शल्य रहित होकर पाँच अणुव्रत, रात्रिभोजनत्याग और सातों शीलों को अतिचार रहित पालता है वह व्रती कहलाता है। **(चा.सा. २८)**

जो तीन शल्यों से रहित है वही नि:शल्य व्रती कहा जाता है। **(सर्वा. ६९७)**

देश, अनूप, जांगल और साधारण ऐसी देश की अवस्थाओं का; हिमकाल, वर्षाकाल, उष्णकाल और अपनी शक्ति और वात, पित्त, कफादि रूप प्रकृति इन बातों का जो विचार करता है ऐसा निर्मल बुद्धि वाला पुरुष जीव दया में तत्पर होकर जिनमत के अनुसार माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ निरतिचार अहिंसादि व्रत धारण करता है, वही व्रती होता है। ज्ञान और सम्यग्दर्शन से जिनका चित्त निर्मल हुआ है, उनका यह व्रतपंचक निर्मल होता है। **(सि.सा.सं. ३/११४-१५)**

३. प्रश्न : शल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीर में चुभे हुए काँटे के समान विविध प्रकार की वेदना रूपी शलाकाओं (सुइयों) के द्वारा जो प्राणियों को छेदती हैं, दु:ख देती हैं वे शल्य हैं। जैसे- शरीर में चुभे हुए काँटा आदि प्राणियों को बाधा करने वाली शल्य है उसी प्रकार कर्मोदय विकार भी शारीरिक और मानसिक बाधा का कारण होने से, शल्य की भाँति शल्य नाम से उपचरित किये जाते हैं। **(रा.वा. १-२)**

चतुर्गति रूप संसार में प्राणियों को शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक दु:खों के द्वारा पीड़ा देती है वह शल्य है। **(पा.प्र.)**

शरीर में घुस जाने वाले बाण आदि शस्त्र के समान जीव के मन में चुभे, बाधा करे वह शल्य है अथवा शरीर और मन को बाधा उत्पन्न करने वाला होने से कर्म का विकार भी शल्य है। **(सर्वा. ६९७)**

जो प्राणी को शृणाति-पीड़ा देती है, वह शल्य है, तत्त्वज्ञों ने शल्य शब्द की ऐसी व्याख्या की है। जैसे - शरीर में घुसा हुआ बाणादि शल्य प्राणी को अधिक व्यथित करता है, वैसे ही माया, मिथ्यात्व, निदान ये तीन प्राणियों को संसारभ्रमण का दु:ख देते हैं, इसलिए इनको शल्य कहना चाहिए। शारीरिक और मानसिक पीड़ा देने वाला कर्मों का उदय, क्षयोपशमादिक रूप जो मायादि के भेद से तीन शल्य हैं, वह जीवों को पीड़ा देता है। **(सि.सा.सं. ४/४-५)**

४. प्रश्न : शल्य कितनी होती हैं ?

उत्तर : शल्य दो प्रकार की है- (१) द्रव्य शल्य (२) भाव शल्य। **(भ.आ. ५४०)**

शल्य तीन प्रकार की होती है-

(१) माया शल्य (२) मिथ्यात्व शल्य (३) निदान शल्य। **(रा.वा. ३)**

माया, मिथ्या, निदान आदि अनेकानेक शल्यों का शास्त्रों में वर्णन किया गया है, उन सबका त्याग कर भगवान नि:शल्य विहार करते थे। **(शा.पु. १५/३०४)**

५. प्रश्न : माया शल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : निवृत्ति, छल, कपट, वंचना ये सब माया के एकार्थवाची हैं। **(रा.वा. ३)** राग के उदय से परस्त्री आदि में वाञ्छा रूप और द्वेष से अन्य जीवों के मारने, बाँधने और छेदने आदि की वांछा रूप जो मेरा दुर्ध्यान बुरा परिणाम है, उसको कोई भी नहीं जानता है, ऐसा मानकर निज शुद्धात्म भावना से उत्पन्न निरन्तर आनन्द रूप एक लक्षण का धारक जो सुख-अमृतरस रूपी निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि को न करता हुआ, यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर जो लोगों को प्रसन्न करता है वह माया शल्य कहलाती है।[१] **(वृ.द्र.सं. ४२)**

फँसाने की प्रचुरता जिस स्वभाव में रहती है उसे माया कहते हैं। धान्यादि नापने के लिए खोटे बाट, नाप आदिक रख कर उसमें धान्यादिक पदार्थ ग्राहक को कम देकर फँसाना माया है, ऐसा मायारहित मुनियों ने कहा है। उपर्युक्त प्रकार से फँसाने का प्रचुर स्वभाव जिसका है वह पापी है। उससे हिंसा, असत्य, अपवित्रता और चोरी के दोष हमेशा होते हैं। **(सि.सा.सं. ४/६-७)**

६. प्रश्न : मिथ्यात्व शल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपना निरंजन दोष रहित परमात्मा ही उपादेय है। ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्व के विलक्षण मिथ्यात्व शल्य है। **(वृ.द्र.सं. ४२ टी.)**

अतत्त्व श्रद्धान मिथ्यात्व शल्य है।[२] **(रा.वा. ३)**

धर्म ग्रहण करने की इच्छा करने वाले पुरुषों को मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करना चाहिए। धर्म और मिथ्यात्व इन दोनों में सहानवस्थिति नामका महान् विरोध दोष हमेशा से है। जैसे शीत और उष्ण, सर्प और नकुल साथ नहीं रहते हैं वैसे ही धर्म और मिथ्यात्व साथ-साथ नहीं रहते हैं। यह मिथ्यात्व शल्य जिसके देह से नहीं निकलता ऐसे मिथ्यात्व से प्राप्त दु:खों से पीड़ित पुरुष को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। **(सि.सा.सं. ४/११-१२)**

चारित्र से रहित ज्ञान, ज्ञान से रहित चारित्र और दर्शन रहित चारित्र तथा ज्ञान को मुक्ति का हेतु मानना यह मिथ्यात्व है। इस प्रकार अनेक प्रकार का मिथ्यात्व है। इसको शल्य कहते हैं। यह शल्य मनुष्य को दु:ख देता है। विद्वान् इसे छोड़ते हैं। **(सि.सा.सं. ४/२४३-४४)**

७. प्रश्न : निदान शल्य किसे कहते हैं ?

---

१. **माया शल्य** - लोग मुझे पापी समझकर नीची निगाह से न देखने लगें, इस विचार को लेकर पाप न करना माया शल्य है।

२. **मिथ्या शल्य** - मुझे मेरे बुजुर्ग लोग अहिंसादि व्रत पालन करने को बाध्य करते हैं। इसलिए इन्हें पालना पड़ता है। अन्यथा तो फिर इनके पालने में कोई लाभ नहीं। इस प्रकार के विचारपूर्वक व्रत लेना सो मिथ्याशल्य है।

उत्तर : विषयभोगों की आकांक्षा निदान शल्य है।[१] **(श्लो. ५/५९७)** भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके कारण चित्त नियम से दिया जाता है वह निदान शल्य है।

मुक्तिलाभ जिससे होता है ऐसे रत्नत्रय का निषेधक वह **निदान** शल्य है। **(म.क. १२७२)** रत्नत्रय रूप अथवा अनन्त ज्ञानादि रूप मुक्ति से अन्यत्र चित्त का उपयोग लगाना कि इसका ''यह फल मुझे मिले'' निदान है। **(भ.आ.वि. १२०८)** निर्विकार परम चैतन्य-भावना से उत्पन्न एक परम आनन्द स्वरूप सुखामृत रस के स्वाद को प्राप्त न करता हुआ यह जीव देखे, सुने और अनुभव में आये हुए भोगों में जो निरन्तर चित्त को देता है वह निदान शल्य है। **(वृ.द्र.सं. ४२)**

८. प्रश्न : निदान शल्य कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : निदान शल्य तीन प्रकार का है-

(१) प्रशस्त निदान (२) अप्रशस्त निदान (३) भोगकृत निदान। **(भ.आ.वि. १२०९)**

निदान शल्य दो प्रकार का है - (१) प्रशस्त निदान (२) अप्रशस्त निदान **(सि.सा.सं. ४/२४६)**

९. प्रश्न : प्रशस्त निदान किसे कहते हैं ?

उत्तर : पौरुष, शारीरिक बल, वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने से उत्पन्न होने वाला दृढ परिणाम, वज्रवृषभ नाराचादिक संहनन, यह सब संयम साधक सामग्री मुझे प्राप्त हो, ऐसी मन की एकाग्रता होती है उसको प्रशस्त निदान कहते हैं। धनिक कुल में, बन्धुओं में, उच्च कुल में उत्पन्न होने का निदान करना प्रशस्त निदान है। **(भ.आ.वि. १२१०)** पूर्ण चारित्रपालन करने के लिए पुरुषत्व, उत्साह, सत्त्व-धैर्य, बल, वीर्य-शक्ति, उत्तम संहनन, उच्च कुल 'ये सब मुझे मिल जाँय', इस प्रकार याचना करने वाले के प्रशस्त निदान होता है। **(म.क. १२७३)**

१०. प्रश्न : प्रशस्त निदान कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : प्रशस्त निदान दो प्रकार का कहा गया है – (१) संसारनिमित्तक (२) मोक्षनिमित्तक। जिनधर्म की प्राप्ति होने के लिए योग्य **देश** - आर्य आदि, **काल** - चतुर्थ आदि, **भव** - जैन धर्मी उच्च कुल आदि, **क्षेत्र** - स्थान जहाँ धर्माराधना हो सके, **भाव** - शुभ परिणाम और ऐश्वर्य चाहने वालों को **संसार का कारण यह प्रशस्त निदान है।** कर्मों का नाश, बोधि, समाधि, धर्म्मशुक्ल ध्यान, संसार के दु:खों का नाश आदि चाहने वालों को यह **प्रशस्त निदान मुक्ति का कारण** है। **(सि.सा.सं. ४/२४८-५०)**

---

१. **निदान शल्य** - मुझे नरक में न जाना पड़े, स्वर्ण मिले, इस तरह सोचते रह कर व्रतों को स्वीकार करना निदान शल्य है। ये तीनों ही प्रकार निज कल्याण के लिए नहीं हैं। इस तरह से व्रत धारण करने वाला व्यक्ति दूसरा कोई भी उपाय मिलने पर उन व्रतों को छोड़ भी सकता है।

११. प्रश्न : संयम के लिए पुरुषत्व आदि मांगने में क्या दोष है ?

उत्तर : मुमुक्षु जन पुरुषत्व आदि की इच्छा रूप निदान भी नहीं करते क्योंकि पुरुषत्व आदि भी भव है और भव संसार रूप है। **(म.क. १२८१)** उच्चकुल-सौभाग्य आदि के विचार से अभिमान अग्नि के समान सदा ही बढ़ता है जो कि (अभिमान) संसार की वृद्धि करने वाला है। कुल आदि का निदान करने पर भी वे इसी भव में तो प्राप्त होते नहीं और मान कषाय के कारण संयम धारण करने वाले को भी भारी यातना ही प्राप्त होती है। **(म.क. १२९५-९७)**

१२. प्रश्न : संयम धारण कर क्या मांगना चाहिए ?

उत्तर : महाप्राज्ञ पुरुषों के द्वारा समाधिमरण, बोधि-रत्नत्रय, दु:खों का क्षय और कर्मक्षय की प्रार्थना करना चाहिए, इनसे अन्य वस्तु की कभी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। सम्यग्दर्शनादि आराधनाओं को करने वाले को बिना निदान के भी परभव में अपने आप मनुष्य भव तथा संयम की प्राप्ति होती है। **(म.क. १२८२-८३)**

वे जिनेन्द्र देव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें।

आरोग्य - जन्म-मरण का अभाव।

बोधि - जिनसूत्र का श्रद्धान अथवा दीक्षा के अभिमुख होना।

समाधि - मरण के समय सम्यक् परिणाम। **(मू.आ. ५६८)**

१३. प्रश्न : आरोग्य आदि माँगना निदान क्यों नहीं है ?

उत्तर : यह असत्य मृषा भाषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति में कही गई है क्योंकि राग-द्वेष से रहित भगवान समाधि और बोधि को नहीं देते हैं। यदि वे देने का कार्य करेंगे तो राग-द्वेष सहित हो जायेंगे। जिनवरों की भक्ति में जो पूर्व संचित कर्म हैं, वे क्षय हो जाते हैं और आचार्य के प्रसाद से विद्या तथा मंत्र सिद्ध हो जाते हैं इसलिए जिनवरों की और आचार्यों की भक्ति निदान नहीं है। **(मू.आ. ५६९, ५७१)**

१४. प्रश्न : अप्रशस्त निदान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अभिमान के वश होकर उत्तम मातृ वंश, उत्तम पितृवंश की अभिलाषा करना, आचार्य पदवी, गणधर पद, तीर्थंकर पद, सौभाग्य, आज्ञा और सुन्दरपना इनकी प्रार्थना करना सब अप्रशस्त निदान है। क्योंकि मान कषाय से दूषित होकर उपर्युक्त अवस्था की अभिलाषा की जाती है। क्रुद्ध होकर मरण समय में पर वधादिक की इच्छा करता है जैसे- वशिष्ठ ऋषि ने उग्रसेन का घात करने का निदान किया था। **(भ.आ.वि. १२१२-१३)**

अभिमान के वश होकर 'मैं तीर्थंकर बन जाऊँ'', 'गणधर आदि पद मुझे प्राप्त हो', 'मैं सुन्दर बनूँ', 'मेरे वचन व आज्ञा सभी मानने लग जाँय' आदि रूप प्रार्थना करना भववर्धक अप्रशस्त निदान है। **(म.क. १२७४)**

१५. प्रश्न : भोगकृत निदान किसे कहते हैं ?

उत्तर : देव-मनुष्यों में प्राप्त होने वाले भोगों की अभिलाषा करना भोगकृत निदान है। स्त्रीपना, धनिकपना, श्रेष्ठिपद, सार्थवाहपना, केशवपद, सकल चक्रवर्तीपना भोगों के लिए इनकी अभिलाषा करना यह भोगकृत निदान है। **(भ.आ. १२१३)**

१६. प्रश्न : भोगकृत निदान करने से क्या हानि है ?

उत्तर : किंपाक फल के समान भोग भोगते समय मधुर लगते हैं लेकिन विपाक के समय दु:ख ही भोगना पड़ता है। निदान करने से चारित्र मात्र भोग के लिए रह जाता है। जिस प्रकार नौकर की क्रियायें मात्र धन के लिए होती हैं, निदान युक्त ब्रह्मचर्य अब्रह्म के लिए ही होता है, जैसे एक बकरे का दूसरे बकरे से पीछे हटना बकरे को मारने के लिए ही होता है। (क्योंकि निदान से प्राप्त भोग से अब्रह्म सेवन ही करेगा)। निदान करने वाला अमूल्य तप को भोग द्वारा बेच देता है जिस प्रकार सार-असार का विचार न करके माणिक्य के बदले काच खरीदता है। जिसका चित्त भोग में लगा है, वह मन से अब्रह्मचारी है जिसके परिग्रह से निवृत्ति रूप परिणाम नहीं है वह केवल शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसका ब्रह्मचर्य पालन व्यर्थ है, वह मात्र यति भेषधारी नर है। भोग का निदान करने वाला भोग की लालसा से महादु:ख की कांक्षा करता है जैसे कोई कुबुद्धि प्रतीकार औषधि सेवन की लालसा से रोगी होना चाहता है। जैसे कोई मूर्ख मैं इस पर बैठूंगा, इस वांछा से भारी शिला को कंधे पर रख कर ढोता है। **(म.क. १२९८-१३०४)**

१७. प्रश्न : निदान करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो पुरुष निदान करता है वह संयम, तप, पराक्रम का धारी भी हो तथा गुप्तियों का पालन करने वाला हो तो भी उस निदान दोष से सुदुस्तर ऐसे भवसागर को प्राप्त होता है तो अन्य सामान्य व्यक्ति की क्या बात ? वह तो डूबेगा ही।

जो व्यक्ति मुक्तिसुख का अनादर करके अल्प सांसारिक सुख के लिए निदान करता है वह कौड़ी के लिए मणि में 'यह उपयोगी है या नहीं' ऐसी शंका करके (मणि को) दे देता है। वह कुबुद्धि धागे के लिए रत्नहार, लोहे (कील) के लिए नौका, राख के लिए गोशीर्ष चन्दन जलाता है। जैसे कोई कुष्ठी रसायन स्वरूप ईक्षु को प्राप्त कर तापने के लिए जला देता है उसी प्रकार यह मुक्तिदायक श्रामण्य को भोग के लिए नष्ट कर देता है। **(म.क. १२७७-८०)**

उच्चत्व आदि की मुझे प्राप्ति हो ऐसे निदान से भी संसार की वृद्धि होती है तो जो किसी को मारने का निदान करता है उसका क्या कहना! **(म.क. १२९६)**

१८. प्रश्न : भाव एवं द्रव्य शल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : भाव शल्य - मिथ्यादर्शनादि के उदय से जीव के माया, मिथ्या और निदान रूप परिणाम होते हैं, वे भाव शल्य हैं।

द्रव्य शल्य - मिथ्यादर्शन, माया, निदान ऐसे तीन शल्यों की जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे कारण-भूत कर्म को द्रव्य शल्य कहते हैं।

सचित्तादि द्रव्यों का ग्रहण द्रव्य शल्य है क्योंकि ये चारित्र के शल्य के कारण हैं। **(भ.आ.वि. ५४१)**

१९. प्रश्न : भावशल्य कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : भावशल्य तीन प्रकार के होते हैं-

(१) दर्शन शल्य (२) ज्ञान शल्य (३) चारित्र शल्य।

दर्शन शल्य - शंका, कांक्षा आदि दर्शन के शल्य हैं।

ज्ञान शल्य - अकाल में पढ़ना और अविनयादिक करना ज्ञान के शल्य हैं।

चारित्र शल्य - समिति और गुप्तियों में अनादर रखना-चारित्र शल्य है।

अनशन आदि के अतिचार अथवा असंयम रूप परिणाम योग अर्थात् तप के शल्य हैं। **(भ.आ.वि. ५४१)**

२०. प्रश्न : द्रव्य शल्य कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : द्रव्यशल्य तीन प्रकार की हैं-

(१) सचित्त शल्य (२) अचित्त शल्य (३) मिश्र शल्य।

सचित्त शल्य - दासादि सचित्त द्रव्य शल्य हैं।

अचित्त शल्य - सुवर्ण आदि पदार्थ अचित्त शल्य हैं।

मिश्र शल्य - ग्रामादिक मिश्र शल्य हैं। **(भ.आ.वि. ५४१)**

२१. प्रश्न : व्रत या नि:शल्य इन दोनों में से एक से ही व्रती की सिद्धि हो जाती है अत: दो विशेषण देना व्यर्थ है ?

उत्तर : यहाँ नि:शल्यत्व तथा व्रतित्व इन दोनों में अंग-अंगी भाव विवक्षित होने से दोनों विशेषण अनुचित नहीं हैं क्योंकि केवल हिंसादि विरक्ति रूप व्रत के सम्बन्ध से व्रती नहीं होता है जब तक कि शल्यों का अभाव न हो। शल्यों का अभाव होने पर ही व्रत के सम्बन्ध से व्रती होता है। जैसे- बहुत दूध, घी वाला गोमान् कहा जाता है। बहुत दूध और घृत के अभाव में बहुत सी गायों के होने पर भी गोमान् नहीं कहलाता है। उसी प्रकार सशल्य होने से व्रतों के रहते हुए भी व्रती नहीं कहा जा सकता। जो नि:शल्य होता है वही व्रती है। **(रा.वा. ७)**

२२. प्रश्न : सूत्र में 'नि:शल्यो व्रती'' ये शब्द हैं, वहाँ उक्तार्थ कैसे घटित होता है ?

उत्तर : प्रधान का अनुकरण करने वाला होने से अप्रधान का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे - 'तीक्ष्ण फरसे से छेदता है' यहाँ अप्रधानभूत तीक्ष्ण गुण विशिष्ट परशु छेदने वाले प्रधान कर्त्ता का उपकारक-सहायक है, उसी प्रकार नि:शल्य गुण विशिष्ट गुणभूत व्रत आत्मीय गुणों के विकासक होते हैं। अत: ये विशेषक हैं। **(रा.वा. ८)**

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अगारी-अनगार: च।

(अगारी) गृहस्थ **(अनगारश्च)** और अनगारी के भेद से व्रती दो प्रकार के हैं।

अर्थ - गृहस्थ और अनगार (मुनि) के भेद से व्रती दो प्रकार के होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : हिंसादि के अभाव से तीन शल्यों के नाशक क्या ये यथोक्त क्रिया समूह से विजृम्भित परिणाम वाले परिग्रह निरपेक्ष सारे ही व्रती अगार सम्बन्धी (श्रावक) क्रियाओं से निरुत्सुक होते हैं या कोई गृहस्थ रहते हैं ? इन हिंसादि पापों की विरति विशेष के भेद से अधिकृत व्रतियों के भेदों को इस सूत्र के द्वारा बताया गया है। **(रा.वा.उ. १९)**

२. प्रश्न : व्रती कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : व्रती दो प्रकार के होते हैं-

(१) अगारी (२) अनगारी। **(सर्वा. ६९९)**

(१) जो घर से निवृत्त होकर संयत हो गये हैं। (२) गृहस्थ संयतासंयत। **(सर्वा. ६/१२)**

३. प्रश्न : अगारी किसे कहते हैं ?

उत्तर : आश्रयार्थी जनों के द्वारा जो स्वीकार किया जाता है वा उसमें पाया जाता है, वास किया जाता है वह अगार घर है। अगार, वेश्म, गृह ये सर्व एकार्थवाची हैं। अगार जिसके है वह अगारी कहलाता है। **(रा.वा.१)**

४. प्रश्न : एकदेश व्रती श्रावक (गृहस्थ) व्रती कैसे हो सकता है ?

उत्तर : ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि नैगम, संग्रह और व्यवहार नय से नगर में वास करने वाले के समान एकदेशव्रत पालन करने वाला गृहस्थ व्रती है। जैसे घर के कोठे आदि में रहने वाले को भी नगर में रहने वाला कहते हैं, उसी प्रकार सकल व्रतों को धारण न करके एक-देशव्रतों को धारण करने वाला भी नैगमादि नयापेक्षा व्रती कहलाता है। अथवा - जैसे ३२००० देशों का अधिपति चक्रवर्ती राजा कहलाता है वैसे ही एकदेश का स्वामी वा त्रिखण्डाधिपति क्या राजा नहीं कहलाता है ? अपितु राजा

ही कहलाता है उसी प्रकार अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तर गुणों को धारण करने वाला जैसे पूर्ण व्रती है वैसे ही अणुव्रतधारक व्रती नहीं है फिर भी अणुव्रत धारी भी व्रती ही है। **(रा.वा. ३-४)**

५. प्रश्न : श्रावकों का एकदेशचारित्र कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : श्रावकों का एकदेशचारित्र दो प्रकार का होता है-

(१) मूलगुण रूप (२) उत्तर गुण रूप।[१]

मूलगुण - जो समस्त मूलगुणों के मूलभूत (धर्म रूपी वृक्ष की जड़ के समान) हैं वे मूलगुण हैं। **(शा.पु. ९/२२०)**

मुख्य गुणों को मूलगुण कहते हैं। जिस प्रकार मूल-जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहरता उसी प्रकार मूलगुणों के बिना मुनि और श्रावकों के व्रत नहीं ठहरते हैं। इस तरह मूल गुण का वाच्यार्थ अनिवार्य आवश्यक गुण है। **(र.क.श्रा.हि. ६६ पन्ना.सा.)** उत्तरगुणों का कारण होने से व्रतों को मूलगुण कहते हैं। **(भ.आ.वि. ११८) उत्तर गुण -** व्रतों के उत्तर काल में अनशन आदि होते हैं इसलिए उन्हें उत्तरगुण कहते हैं। **(भ.आ.वि. ११८)**

स्वर्गों का सुखप्रदायक एकदेशधर्म, सम्यग्ज्ञान, अणुव्रत, दान, पूजा, गुरुसेवा, प्रोषधोपवास, निरन्तर व्रतधारण की भावना एवं तीर्थंकरों की भक्ति आदि से सदैव आराधन किया जाता है। **(शां.पु. ९/१८५-८६)**

६. प्रश्न : श्रावक के कितने मूलगुण होते हैं ?

उत्तर : श्रावक के आठ मूलगुण होते हैं-

(१) मद्य त्याग (२) मधु त्याग (३) मांस त्याग (४) बड़फलत्याग (५) पीपल-फल त्याग (६) पाकर फल त्याग (७) ऊमरफल त्याग (८) कठूमर फल त्याग। ये शास्त्रों में गृहस्थों के मूलगुण कहे गये हैं। **(य.ति.च. ७१)** स्थूल हिंसादि पाँच पापों का त्याग तथा मद्य, मांस, मधु त्याग। **(र.क.श्रा. ६६)** मद्य, मांस, मधु त्याग, रात्रिभोजन त्याग, पंच उदुम्बर फल त्याग, देवदर्शन या पंच परमेष्ठी का स्मरण, जीवदया या वस्त्र से छने जल का पान। **(अज्ञात नाम पं. आशाधर जी उद्धृत)**

विद्वान् व्रत ग्रहण की इच्छा से मन, वचन, काय से मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और क्षीरी वृक्षों के फलों के सेवन का त्याग करते हैं क्योंकि इनके त्याग से गृहीत व्रत पुष्ट होते हैं। **(अ.श्रा. ५/१)** पाँच पापों से स्थूल रूप से विरक्त होना तथा मधु, मांस और मद्य का त्याग करना ये गृहस्थों के आठ मूलगुण कहलाते हैं। **(र.क.श्रा. ६६)**

---

१. गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मूलगुण अथवा उत्तरगुण को अपनी शक्ति के अनुसार कुछ काल या जीवनपर्यन्त के लिए ग्रहण करता है।

७. प्रश्न : श्रावकों के उत्तरगुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : चार प्रकार का दान देना और देव-शास्त्र गुरु की पूजा करना श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य है, इनके बिना वह श्रावक नहीं है। **(र.सा. ११)** दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावक के धर्म हैं। **(ज.ध. ८)** इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम तथा तप ये गृहस्थों के आर्य कर्म हैं। **(चा.सा. ९८)** जिन पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह कर्म गृहस्थों के लिए प्रतिदिन करने योग्य आवश्यक कार्य हैं। **(पं.वि. ६/७)** गुणव्रत, अणुव्रत, शिक्षाव्रत, तप, प्रतिमाएँ, दान, पानी छान कर पीना, रात्रि में भोजन नहीं करना, रत्नत्रय धारण करना आदि त्रेपन क्रियाएँ कही गयी हैं।

देशविरति श्रावकों को अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन विधान करना चाहिए। **(वसु. श्रा. ३१९)** पर्व के दिनों में यथाशक्ति भोजन के त्याग रूप अनशनादि तपों को करना चाहिए। वस्त्र से छान कर जल पीना, जिनागम के आश्रित होकर पंच परमेष्ठियों तथा रत्नत्रय के धारकों की यथायोग्य विनय करना चाहिए। महात्माओं को अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए तथा यथाशक्ति और आगम के अनुसार दशधर्म का पालन करना चाहिए। **(पं.विं. ६/२५, २९, ४२, ५९)** दान एवं पूजा मुख्य रूप से श्रावक के धर्म हैं। **(र.सा. ११)**

नोट : दान देखें **(७/३८, ३९),** स्वाध्याय, तप, संयम, शील, उपवास आदि देखें। **(९/३-२५)**

८. प्रश्न : पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'पूज्' धातु, आराधना पूजा,[१] अर्चना, सम्मान अर्थ में आती है। ''चरु, बलि, गंध, पुष्प, फल, धूप आदिकों से अपनी भक्ति प्रकाशित करने का नाम अर्चना है।'' **(ध. ८/९२)**

९. प्रश्न : पूजा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : पूजा चार प्रकार की है-

(१) सदार्चन (२) चतुर्मुख (३) कल्पद्रुम (४) अष्टाह्निक। **(म.पु. ३८/२६)**

पूजा पाँच प्रकार की है-

(१) नित्य पूजा (२) चतुर्मुख पूजा (३) कल्पद्रुम पूजा (४) अष्टाह्निक पूजा (५) द्रव्य (इन्द्र) पूजा। **(सं.भा.सं. ५५५)**

---

१. पाप क्रियाओं का त्याग करके, परिग्रह को निषिद्ध करके, विकल्परहित निर्मल भावों से पूज्य की आराधना में मन-वचन-काय पूर्वक अष्ट द्रव्य समर्पित करना पूजा है। पूजनं इति पूजा। 'पू' यानी पवित्र होना/करना, पूज्य के माध्यम से अपने विकारी भावों, परिणामों को निर्मल करना, परिमार्जित करना। 'पू' यानी फटकारना, त्याग और संयम के सूप द्वारा व्यर्थ पदार्थों को फटकारना एवं सार तत्त्व को ग्रहण करना। पूजा आत्मशुद्धि का हेतु है। हमारी दिनचर्या का मंगलाचरण है।

पूजा छह प्रकार की है-

(१) नाम पूजा (२) स्थापना पूजा (३) द्रव्य पूजा (४) क्षेत्र पूजा (५) काल पूजा (६) भाव पूजा। **(वसु. श्रा. ३८१)**

पूजा दो प्रकार की होती है-

(१) द्रव्य पूजा (२) भाव पूजा। **(भ.आ.वि. ४६)**

१०. प्रश्न : सदार्चन (नित्य पूजा) किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रतिदिन अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालय में जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना सदार्चन (नित्यमह) पूजा कहलाती है **अथवा** भक्ति पूर्वक अर्हन्त देव की प्रतिमा और मन्दिर का निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम, खेत आदि का दान देना भी सदार्चन कहलाता है। इसके सिवाय अपनी शक्ति के अनुसार नित्यदान देते हुए महामुनियों की जो पूजा की जाती है उसे भी नित्यमह पूजा समझना चाहिए। **(म.पु. ३८/२७-२९)**

११. प्रश्न : चतुर्मुख एवं कल्पद्रुम पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर : महामुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिए। इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है जो चक्रवर्तियों के द्वारा किमिच्छक दान देकर की जाती है और जिसमें जगत् के सर्व जीवों की आशाएँ पूर्ण की जाती हैं, वह कल्पद्रुम नाम की पूजा कहलाती है। **(म.पु. ३८/३०-३१)**

१२. प्रश्न : अष्टाह्निक एवं इन्द्रध्वज पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारों प्रकार के देव नंदीश्वर द्वीप में प्रत्येक वर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास में आते हैं और बहुत स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए अपनी-अपनी विभूति के योग्य महिमा करते हैं। वे देव आसक्त चित्त होकर अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक पूर्वाह्ण, अपराह्ण, पूर्व-रात्रि और पश्चिम रात्रि में दो-दो पहर तक उत्तम भक्ति पूर्वक प्रदक्षिणा क्रम से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की विविध प्रकार से पूजा करते हैं। **(ति.प. ५/८३,१०३)** अकृत्रिम चैत्यालयों में और तीर्थङ्करों के पंच कल्याणकों में जो देव और इन्द्रों के द्वारा पूजा की जाती है वह इन्द्रध्वजपूजा कही जाती है। **(सं.भा.सं. ५५९)**

नोट - नन्दीश्वर द्वीप में दिन-रात का भेद नहीं होने से आठों पहर पूजा करने में बाधा नहीं है।

१३. प्रश्न : नाम एवं स्थापना पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अरहन्तादि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं वह नाम पूजा है। **(वसु. श्रा. ३८२)** आकारवान् वस्तु (जिनबिम्ब) में अरहन्तादि के गुणों का जो आरोपण करना है सो वह सद्भाव स्थापना पूजा है और अक्षत, वराटक आदि में अपनी बुद्धि से यह अमुक देवता है ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भाव स्थापना पूजा है। **(वसु. श्रा. ३८३-८४)**

नोट - हुण्डावसर्पिणी काल में दूसरी असद्भाव स्थापना पूजा नहीं करनी चाहिए क्योंकि कुलिंग-यतियों से मोहित इस लोक में संदेह हो सकता है। **(वसु. श्रा. ३८५)**

१४. प्रश्न : द्रव्य पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अर्हदादिकों के उद्देश्य से गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना यह द्रव्य पूजा है। तथा उठ करके खड़े होना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना आदि शरीर की क्रिया करना, वचनों से अर्हदादिक के गुणों का स्तवन करना यह भी द्रव्य पूजा है। **(भ.आ.वि. ४६)**

जलादि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की जो पूजा की जाती है उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिए। **(वसु.श्रा.४४८)**

१५. प्रश्न : द्रव्य पूजा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : द्रव्य पूजा तीन प्रकार की होती है-

(१) सचित्त द्रव्य पूजा (२) अचित्त द्रव्य पूजा (३) मिश्र द्रव्य पूजा।

सचित्त - प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान और गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सो सचित्त पूजा है।

अचित्त पूजा - तीर्थंकर आदि के शरीर की और द्रव्य श्रुत अर्थात् कागज आदि पर लिपिबद्ध शास्त्र की जो पूजा की जाती है, वह अचित्त पूजा है।

मिश्र पूजा - जो दोनों की पूजा की जाती है उसे मिश्र पूजा जानना चाहिए। **अथवा** - आगमद्रव्य और नोआगम द्रव्य आदि के भेद से अनेक प्रकार के द्रव्य निक्षेप को जानकर शास्त्र प्रतिपादित मार्ग से द्रव्य-पूजा करनी चाहिए। **(वसु. श्रा. ४४९-५१)**

१६. प्रश्न : क्षेत्र पूजा और काल पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षेत्र पूजा - जिन भगवान की जन्म कल्याणक भूमि, निष्क्रमण कल्याणक भूमि, केवल-ज्ञानोत्पत्ति स्थान, तीर्थ चिह्न स्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण भूमियों में पूर्वोक्त प्रकार से पूजा करनी चाहिए यह क्षेत्र पूजा कहलाती है। **(वसु. श्रा. ४५२)**

काल पूजा - जिस दिन तीर्थंकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमण काल, ज्ञान कल्याणक और निर्वाण कल्याणक हुए हैं, उस दिन भगवान का अभिषेक करें। तथा इस प्रकार नन्दीश्वर पर्व के आठ दिनों में तथा अन्य भी उचित पर्वों में जो जिनमहिमा की जाती है उसे काल पूजा जानना चाहिए। **(वसु.श्रा. ४५३-५५)**

१७. प्रश्न : भाव पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर : मन से अर्हन्तादि के गुणों का चिन्तन करना भाव पूजा है। **(भ.आ.वि. ४६)** परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र भगवान के अनन्त चतुष्टय आदि गुणों का कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है,

उसे निश्चय से भावपूजा जानना चाहिए। अथवा पंच णमोकार पदों के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जाप करे, अथवा- जिनेन्द्र स्तोत्र अर्थात् गुणगान को भाव पूजन जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. ४५६-५७)**

जो चार प्रकार का ध्यान किया जाता है वह भी भावपूजन है। **(वसु. श्रा. ४५८)**

१८. प्रश्न : निषीधिका किसे कहते हैं ?

उत्तर : कृत्रिम और अकृत्रिम जिनबिम्ब, सिद्धप्रतिबिम्ब, जिनालय, सिद्धालय, ऋद्धि सम्पन्न साधु, तत्सेवित क्षेत्र, अवधि- मन:पर्यय और केवलज्ञान के धारक मुनिप्रवर, अवधि आदि ज्ञानों के उत्पन्न होने के प्रदेश, उक्त ज्ञानियों से आश्रित क्षेत्र, सिद्ध भगवान के निर्वाण क्षेत्र, सिद्धों से समाश्रित सिद्धालय, सम्यक्त्वादि चार आराधनाओं से युक्त तपस्वी, उक्त आराधकों से आश्रित क्षेत्र, आराधक या क्षपक के द्वारा छोड़े गये शरीर के आश्रयवर्ती प्रदेश, योगस्थित तपस्वी, तदाश्रित क्षेत्र, योगियों के द्वारा उन्मुक्त शरीर के आश्रित प्रदेश और भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन इन तीन प्रकार के पण्डितमरण में स्थित साधु तथा पण्डितमरण जहाँ पर हुआ है, ऐसे क्षेत्र ये सब निषीधिका पद के वाच्य हैं।

नि-जो व्रतादिक के नियम से युक्त हो, **सि**-जो सिद्धि को प्राप्त हो या सिद्धि को पाने के अभिमुख, **धि**-जो धृति अर्थात् धैर्य बद्ध-कक्ष हो या - अर्थात् जिनशासन को धारण करने वाला हो, उसका भक्त हो। इन गुणों से युक्त पुरुष 'निसीधिया' पद का वाच्य है। **(प्रति. टीका प्रभाचंद्र)** अष्टापद, सम्मेदाचल, ऊर्जयन्त, चंपापुरी, पावापुरी, मायापुरी और हस्तिपालित सभा में तथा जीवलोक में जितनी भी निषीधिकाएँ हैं तथा ईषत् प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी तल के अग्रभाग पर स्थित सिद्ध, बुद्ध, कर्मचक्र से विमुक्त, नीराग, निर्मल, सिद्धों की तथा गुरु आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, कुलकर और चार प्रकार के श्रमणसंघ की पाँच महाविदेहों में और दश भरत और दश ऐरावत क्षेत्रों में जो भी निषिद्धिकाएँ हैं, उन्हें नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। **(प्र. पाठ)** साधु जिसस्थान में प्रवेश करे, उस स्थान के स्वामी से आज्ञा लेकर प्रवेश करे। यदि उस स्थान का स्वामी कोई मनुष्य है तो उससे पूछे और यदि मनुष्य नहीं है तो उस स्थान के अधिष्ठाता देवता को सम्बोधन कर उससे पूछे, इसी का नाम निसीहिका समाचार है। व्यन्तरादिक जीवों की बाधा दूर करने के लिए जो निषेधात्मक वचन कहे जाते हैं कि भो क्षेत्रपाल, यक्ष, हमलोग तुम्हारी अनुज्ञा से यहाँ निवास करते हैं, तुम लोग रुष्ट मत होना, इत्यादि व्यवहार को निषिद्धिका समाचार कहते हैं। **(आ.सा. २/११-१२)**

१९. प्रश्न : पाषाणादि की प्रतिमाओं में निश्चय से देव नहीं हैं देव तो भाव में होते हैं अत: जिनबिम्ब की पूजा से क्या लाभ ?

उत्तर : जैसे- अर्हदादि भव्यों को शुभोपयोग उत्पन्न करने में कारण हो जाते हैं, वैसे उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं। जैसे अपने पुत्र के समान ही दूसरे का सुन्दर पुत्र देखने से अपने पुत्र की याद आती है। इसी प्रकार अर्हदादि के प्रतिबिम्ब देखने से अर्हदादि के गुणों का स्मरण हो जाता है, इस स्मरण से नवीन अशुभ का संवरण होता है और नवीन शुभ कर्म के बन्ध में, बँधे हुए शुभ कर्म

के अनुभाग को बढ़ाने में तथा पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृति समूह के अनुभाग को घटाने में यह समर्थ है इसलिए समस्त इष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि करने में जिनबिम्ब हेतु होते हैं। अत: उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिए। **(भ.आ.वि. ४६)** हे मुनिगण ! आप अर्हन्त और सिद्ध की अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओं की भक्ति करो। शत्रुओं अथवा मित्रों की फोटो अथवा प्रतिमा दीख पड़ने पर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है। यद्यपि उस फोटो ने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है, परन्तु वह शत्रुकृत अपकार और मित्रकृत उपकार का स्मरण होने में कारण है। जिनेश्वर और सिद्धों के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागादिक गुण यद्यपि अर्हत्प्रतिमा में और सिद्ध प्रतिमा में नहीं हैं, तथापि उन गुणों का स्मरण होने में वे कारण अवश्य होते हैं, क्योंकि अर्हत् और सिद्धों का उन प्रतिमाओं में सादृश्य है। यह गुण-स्मरण अनुराग स्वरूप होने से ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इनसे नवीन कर्मों का अपरिमित संवर और पूर्व से बँधे हुए कर्मों की महानिर्जरा होती है। इसलिए आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होने में सहायक चैत्य-भक्ति हमेशा करो। **(भ.आ.वि. ३०१)**

नोट : पूजा के अष्ट द्रव्यादि विशेष देखें। **(वसु.श्रा.)**

२०. प्रश्न : जिनेन्द्र भगवान की पूजा का फल क्या है ?

उत्तर : अकेली जिनभक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है, इसमें विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है और मोक्ष प्राप्त होने तक सुखों की परम्परा देने में समर्थ है तथा सिद्ध परमेष्ठी, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओं में तीव्र भक्ति संसार का विनाश करने में समर्थ है। **(भ.आ. ७४५-७४६)**

जो पुरुष परम भक्ति से जिनवर के चरण-कमलों को नमस्कार करता है वह भावरूपी शस्त्र से संसार रूपी बेल के मूल मिथ्यात्वादि कर्म को नष्ट करता है। **(भा.पा. १५१)**

जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहन्त को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दु:खों से मुक्त होता है। **(मू. ५०६)**

जिनेन्द्रों के दर्शन से पापसंघात रूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं। जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म-कलाप का क्षय देखा जाता है। **(ध. ६/४२७-२८)**

परमात्मा के नाम मात्र की कथा से ही अनेक जन्मों के संचित किये पापों का नाश होता है। **(प.पं.विं. १०/४२)**

जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान का पूजन, दर्शन और स्तुति करते हैं वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य हो जाते हैं। **(प.पं.विं ६/१४)**

२१. प्रश्न : क्या जिनेन्द्र की पूजा आदि से कर्मों की निर्जरा भी होती है ?

उत्तर : हाँ, गणधर देवादि बारह गण उन पीठों पर (समवसरण में स्थित) चढ़कर और तीन

प्रदक्षिणा देकर बार-बार जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं, तथा सैकड़ों स्तुतियों के द्वारा कीर्तन कर कर्मों की असंख्यात गुणी श्रेणी रूप निर्जरा करके प्रसन्नचित्त हो अपने-अपने कोठों में बैठ जाते हैं। **(ति.प. ४/८८२-८३)** अरहन्त नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा का कारण है। **(ज.ध. १/९)**

२२. प्रश्न : श्रावक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : श्रावक तीन प्रकार के होते हैं-

(१) पाक्षिक श्रावक (२) नैष्ठिक श्रावक (३) साधक श्रावक। **(धर्म. सं. श्रा. २/२)**

(१) पाक्षिक श्रावक (२) चर्या श्रावक (३) साधक श्रावक **(चा.सा. ९६)**

२३. प्रश्न : पाक्षिक श्रावक किसे कहते हैं ?

उत्तर : मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार प्रकार की भावनाओं में वृद्धि को प्राप्त और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के वध के छोड़ने को तथा धर्म के लिए भी कभी जीवों के नहीं मारने को पक्ष कहते हैं। सम्यग्दृष्टि, अतिचार सहित मूलगुण और अणुव्रत का पालन करने वाला, जिन भगवान के पूजनादि में अनुरागी तथा आगे के व्रतों को धारण करने की इच्छा करने वाला पाक्षिक श्रावक कहा जाता है। **(धर्म.सं.श्रा. २/३-४)**

सदा अहिंसा रूप परिणाम करना पक्ष है। इस पक्ष को रखने वाला पाक्षिक श्रावक है। **(चा.सा.९६)**

२४. प्रश्न : चर्या श्रावक किसे कहते हैं ?

उत्तर : पहले कृषि आदि के आरम्भ से जो-जो दोष उत्पन्न हुए हैं उन्हें प्रायश्चित्तादि से शोधन करके अपने घर को छोड़ने वाले के चर्या नामक धर्म होता है। नामभेद से उसे निष्ठावान भी कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और उत्तम क्षमादि दश धर्म का पालन करने को निष्ठा कहते हैं। जो साधना करने की उत्कण्ठा से युक्त होता है वह नैष्ठिक कहा जाता है। **(धर्म सं. श्रा. २/५-६)** धर्म के लिए, देवता के लिए, मंत्र सिद्ध करने के लिए, औषध के लिए, आहार के लिए और अपने भोगोपभोग के लिए कभी हिंसा नहीं करते हैं। यदि किसी कारण से हिंसा हो गयी हो तो विधिपूर्वक प्रायश्चित्त कर विशुद्धता धारण करते हैं। तथा परिग्रह का त्याग करने के समय अपने कुल, धर्म और धन अपने वंश में उत्पन्न हुए पुत्र आदि को समर्पण कर जब तक वे घर का परित्याग करते हैं तब तक उनके चर्या कहलाती है। **(चा. सा. ९६)**

२५. प्रश्न : साधक श्रावक किसे कहते हैं ?

उत्तर : मरण समय में अन्न और शरीरादिकों में ममत्व को छोड़कर और ध्यान की शुद्धि से अपने आत्मा को शुद्ध करने को साधन नामक उत्तम धर्म कहते हैं। जो राग-द्वेषादिकों का नाश हो जाने से अपवाद

लिङ्ग को धारण करके समाधि मरण करने वाले अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का साधन करते हैं वे साधक श्रावक कहलाते हैं। **(धर्म सं. श्रा. २/७-८)**

जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवन के अन्त में अर्थात् मृत्यु समय शरीर, भोजन और मन, वचन, काय के व्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि का साधन करता है वह साधक कहलाता है। **(म.पु. ३९/१४९)** इसी तरह जिसमें सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं जो शरीर का कँपना, उच्छ्वास लेना, नेत्रों को खोलना आदि क्रियाओं का त्याग कर रहा है और जिसका चित्त लोक के ऊपर विराजमान सिद्धों में लगा हुआ है ऐसे समाधिमरण करने वाले का शरीर परित्याग करना साधकपना कहलाता है। **(चा.सा. ९६)**

२६. प्रश्न : श्रावक के कितने पद (प्रतिमाएँ) होते हैं ?

उत्तर : श्रावक के ग्यारह पद होते हैं-

(१) दार्शनिक श्रावक (२) व्रतिक श्रावक (३) सामायिक गुणसम्पन्न श्रावक (४) प्रोषधोपवास गुणसम्पन्न श्रावक (५) सचित्त विरति गुणसम्पन्न श्रावक (६) रात्रि भुक्ति विरति गुणसम्पन्न श्रावक (७) अब्रह्मविरति गुणसम्पन्न श्रावक (८) आरम्भविरति गुणसम्पन्न श्रावक (९) परिग्रहनिवृत्ति गुण सम्पन्न श्रावक (१०) अनुमतिविरति गुणसम्पन्न श्रावक (११) उद्दिष्टविरति गुणसम्पन्न श्रावक। **(र.क.श्रा. १३६-१४७)** श्रावक धर्म के बारह भेद कहते हैं-

(१) शुद्ध सम्यग्दृष्टि (२) मद्यादि स्थूल दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि (३) व्रतधारी (४) सामायिक व्रती (५) पर्वव्रती (६) प्रासुकाहारी (७) रात्रि भोजन त्यागी (८) मैथुन त्यागी (९) आरम्भ त्यागी (१०) परिग्रह त्यागी (११) कार्यानुमोद विरति (१२) उद्दिष्ट आहार विरति। **(का.अ. ३०५-६)**

(१) दार्शनिक (२) व्रती (३) सामायिक (४) प्रोषधोपवास (५) सचित्त विरत (६) दिवा मैथुन विरत (७) अब्रह्म विरत। (८) आरम्भविरत (९) परिग्रहविरत (१०) अनुमतिविरत (११) उद्दिष्टविरत। **(बृ.द्र.सं.टी. ४५)**

नोट : सम्यग्दृष्टि का विशेष देखें- **(६/२४)**

२७. प्रश्न : दार्शनिक श्रावक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है, पञ्च परमेष्ठियों के चरणों की शरण जिसे प्राप्त हुई है तथा जो आठ मूल-गुणों को धारण कर रहा है वह दार्शनिक श्रावक है। **(र.क.श्रा. १३७)** वैराग्य से जिसका मन भीगा हुआ है ऐसा जो श्रावक अपने चित्त को दृढ़ करके तथा निदान को छोड़कर उक्त व्रतों को पालता है वह दार्शनिक श्रावक है। **(का.अ. ३२९)**

जो पुरुष शंकादि दोषों से निर्दोष, संवेगादि गुणों से संयुक्त सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि दर्शन प्रतिमा वाला है। **(सु.र.सं. ८३३)** जो सम्यग्दर्शन से विशुद्धबुद्धि जीव पाँच उदुम्बर

सहित सात व्यसनों का परित्याग करता है वह प्रथम दर्शन प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक कहा गया है। चूँकि रात्रिभोजन करने वाले के ग्यारह में से एक भी प्रतिमा नहीं ठहरती है इसलिए रात्रिभोजन का परिहार[१] करना चाहिए। **(वसु. श्रा. २०५, ३१४)** सम्यग्दर्शन पूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग रूप आठ मूलगुणों को पालता हुआ जो जीव युद्ध आदि में प्रवृत्त होने पर भी पाप को बढ़ाने वाले शिकार आदि के समान बिना प्रयोजन जीवघात नहीं करता, उसको प्रथम दार्शनिक श्रावक कहते हैं। **(बृ.द्र. सं. टी. ४५)**

२८. प्रश्न : व्यसन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दुष्कर्म-द्यूत क्रीड़न व मद्यपानादि मनुष्य को कल्याणमार्ग से गिराते हैं उन्हें 'व्यसन' कहते हैं। **(नी.वा. १६/१)**

मनुष्य जिस असत् प्रवृत्ति से निरन्तर उत्तम स्थान से जघन्य स्थान को प्राप्त होता है उसे विद्वानों को 'व्यसन' जानना चाहिए। **(नी.वा. १६/१)** इस लोक, परलोक में हानिकर बुरी आदत का नाम व्यसन है। जुआ आदि सातों कुकर्मों के साधक कार्यों को उपव्यसन कहते हैं।

२९. प्रश्न : व्यसन कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : व्यसन अठारह प्रकार के हैं-

(१) स्त्रीआसक्ति (२) मद्यपान (३) शिकार खेलना (४) द्यूत क्रीड़ा (५) पैशून्य (६) दिन में शयन (७) परनिन्दा (८) गीत सुनने में आसक्ति (९) नृत्य देखने में आसक्ति (१०) वादित्र सुनने में आसक्ति (११) वृथागमन (१२) ईर्ष्या (१३) साहस (१४) अर्थदूषण (१५) अकारण वध (१६) द्रव्यहरण (१७) कर्कश वचन (१८) दण्डपारुष्य। **(नी.वा. १६/३३)**

व्यसन सात होते हैं-

(१) मांस खाना (२) मदिरा पीना (३) मधु (शहद) खाना (४) जुआ खेलना (५) जिन वृक्षों से दूध झरता है उनके फलों को खाना (६) वेश्यागमन (७) परस्त्री-सेवन। **(हरि. पु. १८/४८)**

---

१. जिस रात्रि में राक्षस, भूत और पिशाचों का संचार होता है, जिसमें सूक्ष्म जन्तुओं का समूह दिखाई नहीं देता, जिसमें स्पष्ट न दिखने से त्यागी हुई वस्तु भी खा ली जाती है, जिसमें घोर अन्धकार फैलता है, जिसमें साधुवर्ग का संगम नहीं है, जिसमें देव और गुरु की पूजा नहीं की जाती है, जिसमें खाया गया भोजन संयम का विनाशक है, जिसमें जीवित जीवों को भी खाने की सम्भावना रहती है, जिसमें संयमी पुरुष गमनागमन क्रिया भी नहीं करते हैं, ऐसे मदादि दोषों के आलयभूत रात्रि के समय धर्मकार्यों में कुशल पुरुष भोजन नहीं करते हैं, जो रात्रि में दीपकादि का प्रकाश करके सदा भोजन करते हैं वे स्वभावत: नीचे की ओर बहने वाले जल को वृक्षों के शिखरों पर ले जाना चाहते हैं, जो श्रद्धानी पुरुष रात्रिभोजन को जीवों के लिए सुखमयी कहते हैं, वे आग की उद्धत शिखाओं से विकरालता को प्राप्त हुए वनों को फलों का देने वाला कहते हैं। (अ.श्रा. ६/४०-५२)

(१) जुआ (२) मांस (३) मद्य (४) वेश्या (५) शिकार (६) चोरी (७) परस्त्री। इस प्रकार सात महापाप रूप व्यसन हैं। **(प. पं. विं. १/१६)**

केवल इतने ही व्यसन नहीं हैं किन्तु दूसरे भी बहुत से हैं। अल्पमति पुरुष समीचीन मार्ग को छोड़कर कुत्सित मार्ग में प्रवृत्त हुआ करते हैं। **(प. पं. वि. १/३२)**

व्यसन दो प्रकार के हैं -

(१) सहज[१] - (स्वाभाविक, जन्म से ही उत्पन्न होने वाले दु:ख)

(२) आहार्य - (कुसंग, मद्यपान, शिकार आदि के कारण उत्पन्न)। **(नी.वा. १६/२)**

३०. प्रश्न : पाँच उदुम्बर फल कौन-कौन से हैं।

उत्तर : बड़, पीपल, पाकर, ऊमर एवं कठूमर ये पाँच उदुम्बर फल हैं।[२]

३१. प्रश्न : प्रथम प्रतिमा वाले को किस-किस का अन्तराय करना चाहिए ?

उत्तर : ताजा चमड़ा, हड्डी, मांस, खून और जीव (मृत) आदि को देखना, रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, कुत्ता आदि से छूना, भोजन के पदार्थों में 'यह मांस की तरह है' इस प्रकार का बुरा संकल्प हो जाना, भोजन में मक्खी आदि का गिर पड़ना, त्याग की हुई वस्तु को खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदि की आवाज सुनना; ये सब भोजन में विघ्न पैदा करने वाले हैं। ये व्रत बीज की रक्षा के लिए बाड़ के समान हैं। इनके पालने से अतिप्रसङ्ग दोष की निवृत्ति होती है और तप की वृद्धि होती है।[३] **(य.ति.च. ७/५४-५५)**

३२. प्रश्न : व्रत प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व प्रतिमा का पालन करते हुए जो शल्य रहित हुआ अतिचार रहित, पाँचों अणुव्रतों को और सातों शीलों को धारण करता है वह गणधरदेवादिक व्रतियों के मध्य में व्रतिक श्रावक माना गया है। **(र. क. श्रा. १३८)**

जो धीर पुरुष सर्व प्रकार के सुखों के भण्डार और पवित्र स्वर्ग-मोक्ष रूप लक्ष्मी को आकृष्ट करने

---

१. सहज व्यसनों को धर्ममूलक श्रेयस्कर उपायों से और शास्त्रों में निरूपित उपाख्यानों के श्रवण से एवं योगी, साधु पुरुषों की संगति से दूर करे। दुष्ट पुरुषों के कुसङ्ग का त्याग भी आवश्यक है।

२. पंच उदुम्बर त्याग व्रत के अतिचार - अनजान फलों और शाकों को खाना, बिना विदीर्ण किये सेम, फलियाँ (कौंसे) भिण्डी, कचरिया आदि का खाना, तुच्छ फलों (जिनमें हिंसा अधिक, लाभ कम) उनको खाना, ये सब अतिचार हैं। उदुम्बर फलों के त्यागी को इन सबका भी त्याग करना चाहिए। (पं. मुन्नालाल न्यायतीर्थ)

३. अपने व्रतों की वृद्धि करने वाला गृहस्थ इन्द्रियों के व्यापार को जीत कर भृकुटि, नेत्र, हुंकार और अंगुलियों के द्वारा लोलुपता से प्रवृत्त होने वाले संकेतों को छोड़ कर मौन से भोजन करता है। (ध. प.)

में समर्थ ऐसे बारह व्रतों को आभूषणों के समान धारण करना है, उसे व्रतधारियों में श्रेष्ठ पुरुष व्रत-प्रतिमाधारी कहते हैं। **(अ. श्रा. ७/६८)**

जो पाँच अणुव्रतों का धारी हो, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों से युक्त हो, दृढ़चित्त-समभावी और ज्ञानी हो वह व्रती श्रावक है। **(का. अ. ३३०)**

३३. प्रश्न : सामायिक प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व की प्रतिमाओं का पालन करता हुआ जो चार बार तीन-तीन आवर्त करता है, चार प्रणाम करता है, कायोत्सर्ग से खड़ा होता है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी होता है, दो बार बैठकर नमस्कार करता है, तीनों योगों को शुद्ध रखता है और तीनों संध्याओं में वन्दना करता है वह सामायिक प्रतिमाधारी है। **(र.क.श्रा. १३९)** जो धीर श्रावक बारह आवर्त्त सहित चार प्रणाम और दो नमस्कारों को करता हुआ प्रसन्नतापूर्वक कायोत्सर्ग करता है और अपने स्वरूप का अथवा जिनबिम्ब का अथवा परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का अथवा कर्मविपाक का चिन्तन करते हुए ध्यान करता है उसके सामायिक प्रतिमा होती है। **(का. अ. ३७१-७२)** स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सम्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्व मुख या उत्तरमुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब पंच परमेष्ठी और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल वन्दना की जाती है वह सामायिक नाम का तीसरा प्रतिमास्थान है। **(वसु. श्रा. २७४-७५)**

जो आर्त्त और रौद्र ध्यान से रहित है, सांसारिक दु:खों का त्याग करना चाहता है और समस्त कषायरूप दोषों से मुक्त है, ऐसा जो पुरुष त्रिकाल-सामायिक करता है वह यथार्थ सामायिक में स्थित कहा गया है। **(अ.श्रा. ७/६९)**

नोट : विशेष देखें **(७/२१)**

३४. प्रश्न : प्रोषध प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व की प्रतिमाओं का पालन करता हुआ जो प्रत्येक मास में चारों पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपा कर प्रोषध सम्बन्धी नियम को करता हुआ एकाग्रता में तत्पर रहता है वह प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी है। **(र. क. श्रा. १४०)**

इस प्रतिमा में मास के अष्टमी और चतुर्दशी पर्व के इन चार दिनों में निरारम्भ रहकर चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, इसमें इन्द्रियाँ बहिर्मुखता से हटकर अन्तर्मुख हो जाती हैं। **(हरि. पु. ५८/१५४)** सप्तमी और तेरस के दिन दोपहर के समय जिनालय में जाकर सामायिक आदि क्रियाकर्म करके चार प्रकार के आहार को त्याग कर उपवास ग्रहण करें और घर का सब कार्य छोड़कर धर्मध्यान पूर्वक रात बितावें। फिर प्रात: काल उठकर सामायिकादि क्रियाकर्म करें। शास्त्र-स्वाध्याय पूर्वक दिन बिताकर सामायिक करें। फिर उसी तरह धर्मध्यान पूर्वक रात बितावें और प्रात: काल होने पर सामायिक और पूजन

आदि करके तीनों पात्रों का पड़गाहन कर भोजन करावें, फिर स्वयं भोजन करें, उनके प्रोषध प्रतिमा होती है। **(का.अ. ३७३-७६)**

३५. प्रश्न : सचित्त[१] विरत प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो ज्ञानी श्रावक सचित्त पत्र, सचित्त फल, सचित्त छाल, सचित्त मूल, सचित्त कोंपल और सचित्त बीज को नहीं खाता है वह सचित्त विरत है। जो वस्तु स्वयं नहीं खाता है उसे दूसरों को भी देना उचित नहीं है क्योंकि खाने वाले और खिलाने वाले में कोई अन्तर नहीं है। **(का.अ. ३७९-८०)**

पूर्व की प्रतिमाओं का पालन करते हुए जो दयामूर्त्ति अपक्व-कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को नहीं खाता है वह सचित्तत्यागी है। **(र.क.श्रा. १४१)** जहाँ पर हरित, त्वक् (छाल), पत्र, प्रवाल, कन्द, फल, बीज और अप्रासुक जल का त्याग किया जाता है वह सचित्त विनिवृत्ति वाला पाँचवाँ प्रतिमास्थान है। **(वसु. श्रा. २९५)**

३६. प्रश्न : सचित्त पदार्थ खाने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो दुष्ट अपनी जिह्वा की लम्पटता के कारण जीव सहित सचित्त पदार्थों को जान कर भी खाता है वह क्या अपने को अमर समझता है ? जो समस्त सचित्त पदार्थ को खाता है उसका मन निर्दय हो जाता है और मन के निर्दय होने से नरक को ले जाने वाला पाप उत्पन्न होता है। सचित्त पदार्थों का ग्रहण समस्त पापों की खान है, नरक में पहुँचाने के लिए चतुर है, दुष्ट पुरुष ही उसका ग्रहण करते हैं। इसमें अनेक जीव रहते हैं। यह विषय-सुखों को उत्पन्न करने वाला है और धीर-वीर धर्म का शत्रु है। **(प्र.श्रा. २२/७३-७६)** हे आत्मन् ! तूने बुद्धि से हीन होकर आहार की तीव्र इच्छा अथवा अहंकार के वश सचित्त अन्न-पान ग्रहण किया इसीलिए अनादि काल से तीव्र दुःख को प्राप्त हो रहा है। हे जीव ! तूने मान्यता के गर्ववश सचित्त कन्द मूल बीज पुष्प तथा पत्ता आदि खाकर अनन्त संसार में भ्रमण किया है। **(भा.पा. १००-१०१)**

३७. प्रश्न : सचित्त पदार्थ का त्याग करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जिस श्रावक ने सचित्त का त्याग किया है उसने दुर्जय जिह्वा को भी जीत लिया है तथा दयाभाव प्रकट किया है और जिनेश्वर के वचनों का पालन किया है। **(का.अ. ३८१)**

३८. प्रश्न : रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व की प्रतिमाओं का पालन करते हुए जो जीवों पर दयालुचित्त होता हुआ रात्रि में अन्न-पेय-स्वाद्य और लेह्य को नहीं खाता है वह रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारी श्रावक है। **(र.क.श्रा. १४२)** जो ज्ञानी श्रावक रात्रि में चारों प्रकार का आहार नहीं करता है और न दूसरों को रात्रि में भोजन कराता है वह

१. लवण वगैरह पार्थिव चीज भी सचित्त होती है। उसमें पृथ्वीकायिक जीव होते हैं जब तक कि उसे अग्नि पर पका न लिया जाय।

रात्रिभोजनत्यागी होता है। **(का. अ. ३८२)** अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा के लिए रात्रि में भोजन का त्याग अथवा उस समय अन्न खाने का त्याग करना छठी रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा या छठा अणुव्रत है। **(आ.सा. ५/७०)** रात्रिभोजनत्याग के अतिचारों का त्याग करना ही रात्रि भक्त व्रत है। **(चा.सा. ८५)**

३९. प्रश्न : रात्रिभोजन त्याग करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो रात्रिभोजन का त्याग[१] करता है वह एक वर्ष में छह महीने का उपवास करता है। रात्रिभोजन का त्याग करने के कारण वह भोजन व्यापार आदि सम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भ भी रात्रि को नहीं करता है। **(का.अ. ३८३)** बहुत कहने से क्या! जो पुरुष मन, वचन, काय से रात्रिभोजन को त्याग देता है वह निरन्तर अहिंसा का पालन करता है, ऐसा सार सिद्धान्त हुआ। **(पु.सि.उ. १३४)**

४०. प्रश्न : दिवामैथुनत्याग प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ प्रकारों से दिन में मैथुन का त्याग करता है वह प्रतिमा रूप गुणस्थान में छठा श्रावक अर्थात् छठी प्रतिमाधारी है। **(वसु. श्रा. २९६)**

छठी प्रतिमा का नाम रात्रिभक्त व्रत है। रात्रि में ही स्त्री-सेवन करने का व्रत लेना अर्थात् दिन में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिमा लेना रात्रि भक्त व्रत प्रतिमा है। **(चा.सा. ८५)**

४१. प्रश्न : ब्रह्मचर्य प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो ज्ञानी मन, वचन, काय से सब (प्रकार की) स्त्रियों की अभिलाषा नहीं करता वह दयालु ब्रह्मचर्य व्रत का धारी है। **(का.अ. ३८४)**

पूर्व की प्रतिमाओं का पालन करता हुआ जो शुक्र, शोणित रूप मल से उत्पन्न, मलिनता का कारण, मल-मूत्रादि को झराने वाले दुर्गन्ध से युक्त और ग्लानि को उत्पन्न करने वाले शरीर को देखता हुआ काम-सेवन से विरत होता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है। **(र.क.श्रा. १४३)** जो नौ प्रकार के मैथुन का सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदि से भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवीं प्रतिमा रूप गुण का धारी ब्रह्मचारी श्रावक है। **(वसु. श्रा. २९७)** जो विरक्त पुरुष स्त्री को मन, वचन, काय से गुणरत्न को चोरने वाली मानता हुआ पवित्र चारित्रपद के अनुसार विषय का त्यागी है वह ब्रह्मचारी है। **(अ.श्रा. ७/७३)** देवी, मानुषी, तिरश्ची, लेपमयी, काष्ठमयी, शिलामयी तथा चित्रलिखित भी स्त्री को देखकर जो काय, वचन और मन से उसकी इच्छा नहीं करता है उसके ब्रह्मचर्य प्रतिमा होती है। **(स. कौ. १९२)**

४२. प्रश्न : आरम्भत्याग प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो श्रावक आरम्भ नहीं करता, न दूसरे से कराता है और जो आरम्भ करता है उसकी

---

१. जो सूर्योदय से पहले किसी भी प्रकार के भोजन-पान को और सूर्यास्त से पहले कभी भी स्त्रीप्रसंग को नहीं करता वह छठा रात्रिभुक्तित्यागी गृहस्थ होता है।

अनुमोदना नहीं करता, हिंसा से भयभीत मन वाले उस श्रावक को आरम्भत्यागी कहते हैं। **(का.अ. ३८५)** पूर्व की प्रतिमाओं का पालन करते हुए जो प्राणघात के कारण सेवा, खेती तथा व्यापार आदि आरम्भ से निवृत्त होता है वह आरम्भत्याग प्रतिमा का धारक है। **(र.क. श्रा. १४४)** जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृह सम्बन्धी आरम्भ होता है उसे जो सदा के लिए त्याग करता है वह आरम्भ से निवृत्त हुई है बुद्धि जिसकी ऐसा आरम्भ त्यागी आठवाँ श्रावक कहा गया है। **(वसु. श्रा. २९८)** इस प्रतिमा में सभी प्रकार के आरम्भ का त्याग कर शरीर में भी निस्पृह हो जाते हैं, ऐसा त्यागी समता भाव से मरकर उत्तमगति को प्राप्त होता है। **(प.पु. ४/४७)** आरम्भादि सम्पूर्ण व्यापार के त्याग से अष्टम प्रतिमा है। **(द्र.सं. टी. ४५)**

४३. प्रश्न : परिग्रह त्याग प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व की प्रतिमाओं के व्रतपालन के साथ जो बाह्य के दश प्रकार के परिग्रहों में ममता छोड़कर निर्ममता में रत होता हुआ मायादि रहित स्थिर और संतोष वृत्ति धारण करने में तत्पर है वह चित्त में स्थित परिग्रह से विरक्त अर्थात् परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी है। **(र.क.श्रा. १४५)** जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्र मात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं करता, उसे नवम प्रतिमाधारी श्रावक जानो। **(वसु. श्रा. २९९)** जो ज्ञानी पुरुष पाप मान कर अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह को आनन्द पूर्वक छोड़ देता है उसे निर्ग्रन्थ (परिग्रह त्यागी) कहते हैं। **(का.अ. ३८६)** इस प्रतिमा में वस्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त परिग्रहों का मन, वचन, काय से त्याग किया जाता है। इसे परिग्रह-परिच्युति भी कहते हैं। **(म.पु.)** परिग्रह समस्त अनर्थों का मूल कारण है। जो महानुभाव वस्त्र और पात्र के सिवाय शेष समस्त प्रकार के परिग्रह का त्यागी है वह परिग्रह त्याग प्रतिमा धारक है। **(मल्लि पु. ७/५५)**

४४. प्रश्न : अनुमति त्याग प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व प्रतिमा के व्रतपालन के साथ जिसकी आरम्भ अथवा परिग्रह में या इस लोक सम्बन्धी कार्यों में अनुमति नहीं है, वह समबुद्धि वाला निश्चय करके अनुमति त्याग प्रतिमाधारी मानने योग्य है। **(र.क.श्रा. १४६)**

इस प्रतिमा का धारी घर के आरम्भ, विवाह आदि में, निज आहार-पान आदि में और धनोपार्जन में अनुमति देने का त्यागी होता है। **(वी.व.च. १८/६८)**

जो सर्व आरम्भ-परिग्रह से रहित है और धर्म में आसक्तचित्त जो पुरुष पाप-कार्यों में हिंसक मारी के समान प्रवीण अनुमति नहीं देता है वह अनुमतित्यागियों में प्रधान है। **(अ.श्रा. ७/७६)**

४५. प्रश्न : उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अच्छे-बुरे आहार में समचित्त रखने वाला जो पुरुष नव कोटि शुद्ध आहार को ग्रहण करता है, संसार रूपी महाराक्षसी से विशेष भयभीत उद्दिष्ट त्यागी गुणीजनों के द्वारा कहा गया है। **(अ.श्रा. ७/७७)**

४६. प्रश्न : उद्दिष्ट त्यागी के कितने भेद हैं ?

उत्तर : उद्दिष्ट त्यागी श्रावक के दो भेद हैं-

(१) एक वस्त्र रखने वाला (क्षुल्लक) (२) कौपीन मात्र परिग्रह वाला (ऐलक) प्रथम उत्कृष्ट श्रावक के श्रावक ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक होता है। विशेष यह है कि उसे नियम से केशों का लौंच करना चाहिए, पीछी रखनी चाहिए और पाणिपात्र में खाना चाहिए। **(वसु. श्रा. ३०१-११)** प्रथम उद्दिष्ट विरत है वह खण्ड वस्त्र रखता है, तथा अपने शिर-दाढ़ी के केशों का मुण्डन या कर्तन कराता है, वह भोजन के लिए बुलाया हुआ नहीं जाता है किन्तु भोजन के समय गोचरी के लिए स्वयं ही परिभ्रमण करता है और यथायोग्य भिक्षा प्राप्त होने पर बैठकर पाणिपात्र अथवा अन्य पात्र में भोजन करता है। भोजन करके पात्र का प्रक्षालन कर और गुरु के समीप जाकर चार प्रकार के आहार का त्याग कर अपनी आलोचना करता है। द्वितीय उद्दिष्ट विरत भी इसी प्रकार का (प्रथम उद्दिष्ट विरत जैसा) होता है, किन्तु वह लंगोटी मात्र रखता है, केशों का लुंचन करता है, पीछी को धारण करता है और पाणिपात्र में भोजन करता है। **(गु.श्रा. ३/७६-८०)**

नोट : ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को वीरचर्या, दिन का आतापन योग, सिद्धान्त रहस्य का अध्ययन और त्रैकालिक योग धारण करने का अधिकार नहीं है। **(गु.श्रा. ३/८०)**

४७. प्रश्न : मन्दिर, शून्यागार आदि में रहने वाले साधु के अगारी तथा वन, खेत-खलिहान आदि में रहने वाले गृहस्थ के अनगारी होने का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि यहाँ चारित्रमोह कर्म के उदय से घर के प्रति अनिवृत्ति परिणाम रूप भाव-अगार विवक्षित है अत: भाव अगारी व्यक्ति किसी कारणवश घर को छोड़कर वन में रहता है तो भी वह अगारी है और चारित्रमोहनीय के उदय के अभाव से निर्ग्रन्थ मुनि यदि किसी-द्रव्य-क्षेत्रादि के कारणवश शून्यागार, जिनमन्दिर आदि में रहता है तो भी वह अनगार है। **(रा.वा. २)**

४८. प्रश्न : क्या किसी एक पाप का त्याग करने वाला भी अणुव्रती हो सकता है ?

उत्तर : नहीं, हिंसादि पाँच पापों में से किसी एक पाप का एकदेश त्याग करने वाला गृहस्थ अणुव्रती नहीं हो सकता है अपितु पाँचों पापों से एकदेश निवृत्त होने वाला गृहस्थ ही अणुव्रती हो सकता है। **(रा. वा. उ. २०)**

अगारी का लक्षण-

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अणुव्रत: अगारी।

अर्थ - अणुव्रतों का धारक अगारी होता है।

१. प्रश्न : अणुव्रती किससे निवृत्त होता है ?

उत्तर : द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, इन त्रस प्राणियों के व्यपरोपण से मन, वचन, काय पूर्वक निवृत्त होने वाला अहिंसाणुव्रती होता है। यह संसारी प्राणी स्नेह, द्वेष और मोह के उद्रेक से असत्य बोलने में प्रवृत्ति करता है, उस असत्य से निवृत्त होने वाला सत्याणुव्रती होता है। पर-पीड़ाकारी तथा राजा के भय आदि से अवश्य ही छोड़ी हुई अदत्त वस्तु से निवृत्त होने वाला अचौर्याणुव्रती होता है। गृहीत तथा अनुपात्त (कुमारी और अगृहीत) पर स्त्री से विरक्त होने वाला ब्रह्मचर्याणुव्रती होता है तथा धन, धान्यादि इस प्रकार के बाह्य परिग्रह का स्वेच्छा से परिमाण करने वाला परिग्रह परिमाणाणुव्रती होता है। **(रा.वा. १-५)**

२. प्रश्न : इन व्रतों में अणुपना किस कारण है ?

उत्तर : सर्व सावद्य योग की निवृत्ति असम्भव होने से ये अणुव्रत कहलाते हैं।

३. प्रश्न : अणुव्रत पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इस संसार में जो श्रावक नि:शंकित आदि अंगों का पालन करते हैं, जैनधर्म का पालन कर प्रसन्न होते हैं, संतोष आदि सद्गुणों को धारण करने में तत्पर हैं, श्री जिनेन्द्रदेव और मुनियों के भक्त हैं, धर्मध्यान में लीन रहते हैं और जिनकी बुद्धि शुभ है ऐसे श्रावक पाँचों अणुव्रतों को पालन कर सुख देनेवाले अच्युत स्वर्ग को पाते हैं और फिर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। ये पाँचों अणुव्रत देवगति के सुख के घर हैं, ज्ञान रूपी रत्न के पिटारे हैं, मोक्ष की जड़ हैं, अनेक गुणों से सुशोभित हैं, दुर्गति रूपी घर को बन्द करने के लिए किवाड़ हैं तथा पापरूपी वृक्ष को जलाने के लिए अग्नि हैं। **(प्रश्नो. श्रा. १६/ १११-१२)**

श्रावक के अन्य व्रत

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥

दिग्-देश-अनर्थदण्ड-विरति-सामायिक-प्रोषधोपवास-उपभोग-परिभोग-परिमाण-अतिथिसंविभाग-व्रत-सम्पन्न: च।

अर्थ - अणुव्रती श्रावक दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग व्रत से सम्पन्न होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : स्थूल विरति श्रावक के ये पाँच अणुव्रत मात्र ही व्रत हैं कि अन्य भी कोई व्रत हैं ? अणुव्रती श्रावक के अन्य भी व्रत हैं उन्हें इस सूत्र द्वारा कहा गया है। **(रा.वा. उ. २१)**

२. प्रश्न : शीलव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : संसार के कारणभूत कर्मशत्रुओं से भयभीत श्रावक के गुरुसाक्षीपूर्वक ग्रहण किये गये व्रतों के रक्षण को शील कहते हैं। **(अ.श्रा. परि. १२/४१)** देव या गुरु की साक्षी पूर्वक जो व्रत पहले ग्रहण कर रखा है उसका खंडन नहीं होने देने को अर्थात् सावधानी पूर्वक उसकी रक्षा करने को मुनीश्वर शील कहते हैं। **(पूज्य. श्रा. ८०)**

जिस प्रकार कोट नगरों की रक्षा करते हैं उसी प्रकार शील व्रतों की रक्षा करते हैं अतएव व्रतों की रक्षा करने के लिए शीलों को भी पालना चाहिए। **(पु. सि. उ. १३६)**

३. प्रश्न : शीलव्रत कितने होते हैं ?

उत्तर : शीलव्रत सात होते हैं-

तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत। **(चा.सा. ३८)**

४. प्रश्न : गुणव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : ये गुणव्रत दया आदि व्रतों के कारण हैं और गुणों को बढ़ाने वाले हैं इसलिए धर्म की सिद्धि के लिए इनको सारभूत गुणव्रत कहते हैं। **(प्र.श्रा. १७/४)**

अहिंसादि व्रतों की वृद्धि के लिए तथा उपकार के लिए जो व्रत हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं। **(धर्म. सं. श्रा. ४/२)**

अहिंसादि पाँच अणुव्रत एवं मद्य, मांस, मधु के त्याग रूप आठ मूलगुणों की वृद्धि करने वाले व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। **(र.क.श्रा. ६७)**

५. प्रश्न : गुणव्रत कितने होते हैं ?

उत्तर : गुणव्रत तीन होते हैं-

(१) दिग्विरति (२) देशविरति (३) अनर्थदण्ड विरति। **(त.सू. ७/२१)**

(१) दिग्व्रत (२) अनर्थदण्ड व्रत (३) भोगोपभोग परिमाणव्रत। **(र.क.श्रा. ६७)**

६. प्रश्न : दिग्व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : मरण पर्यन्त सूक्ष्म पापों की विनिवृत्ति के लिए दशों दिशाओं का परिमाण करके इसके बाहर मैं नहीं जाऊँगा। इस प्रकार संकल्प करना या निश्चय कर लेना दिग्व्रत है। **(र. क. श्रा. ६८)** पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं में योजनों का प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओं में गमन नहीं करना, यह प्रथम दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है। **(वसु. श्रा. २१४)** जिनका परिहार करना अशक्य है ऐसे क्षुद्र जन्तुओं से दिशाएँ व्याप्त हैं। अत: उन जन्तुओं की रक्षा करने के लिए दशों दिशाओं में गमनागमन की निवृत्ति करना दिग्विरति है। **(रा.वा. १५)**

जीवों का घात आदि न हो ऐसी पवित्र अभिलाषा से दिशाओं के अन्दर यह परिमाण कर लेना कि अमुक दिशा में मैं इतने कोस तक जाऊँगा, उससे आगे न जाऊंगा वह दिग्विरति नामका गुणव्रत है।

दशों दिशाओं में अपनी इच्छानुसार आने-जाने की मर्यादा करके उसका उल्लंघन नहीं करना, इसे दिग्व्रत नाम का गुणव्रत कहा गया है। **(सु. र. सं. ७९२)**

७. प्रश्न : दिशा किसे कहते हैं एवं उनका व्यवहार किस प्रकार होता है ?

उत्तर : परमाणुओं की मर्यादा से विभाजित किये गये जो आकाश के श्रेणीबद्ध प्रदेश हैं वे ही दिशा के नाम से कहे जाते हैं। आकाश की प्रदेश श्रेणियों में ही सूर्य की गति, उदय और अस्त से परिछिन्न होने के कारण पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर, ऊर्ध्व, अध: दिशा तथा आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान इन विदिशाओं का व्यवहार होता है। **(रा.वा. १-२)**

८. प्रश्न : दिशाओं की मर्यादा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : दिग्व्रती को दिग्व्रत ग्रहण करने में प्रसिद्ध समुद्र, नदी, अटवी, वन, पर्वत, जनपद (देश) और योजनों के परिमाण से मर्यादा करनी चाहिए। जैसे-मैं उत्तर दिशा में हिमालय पर्वत से या इतने कोसों से आगे कभी नहीं जाऊंगा और न लेन-देन आदि करूंगा। **(र.क.श्रा. ६९ टी.)**

उन दिशाओं का परिमाण पर्वत आदि प्रसिद्ध चिह्नों से तथा योजनादि की गिनती से कर लेना चाहिए। **(रा.वा. १६)**

९. प्रश्न : दिशाओं के भाग में (बाहर) गमन न करने पर भी स्वीकृत क्षेत्र मर्यादा के कारण पापबन्ध होता है इसलिए दिशाओं का परिमाण व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, क्योंकि दिग्विरति का उद्देश्य निवृत्तिप्रधान होने से बाह्य क्षेत्र में हिंसादि की निवृत्ति करने के कारण कोई दोष नहीं है। जो पूर्ण रूप से हिंसादि की निवृत्ति करने में असमर्थ है पर उस सकल विरति के प्रति आदरशील है वह श्रावक जीवननिर्वाह हो या न हो, अनेक प्रयोजन होने पर भी स्वीकृत क्षेत्र-मर्यादा को नहीं लांघता अत: हिंसानिवृत्ति होने से वह व्रती है। **(रा.वा. १७)**

१०. प्रश्न : दिग्व्रत धारण करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : परिग्रह की प्रवृद्ध इच्छा वाले किसी व्यक्ति को इस दिशा में अमुक जगह जाने पर बिना प्रयत्न के मणि-मोती आदि उपलब्ध होते हैं, इस प्रकार अन्य के द्वारा प्रोत्साहित करने पर भी दिग्व्रत के कारण बाहर जाने की और मणि-मोती आदि की सहज प्राप्ति की लालसा का निरोध होने से दिग्व्रत श्रेयस्कर है। **(रा.वा. १८)** यद्यपि दिग्व्रतधारी गृहस्थों के महाव्रत नहीं होते, तथापि हिंसादिक का एकदेश त्याग करने वाले और दिग्व्रत धारण करने वाले गृहस्थों को महापुण्य की प्राप्ति होती है। इस दिग्व्रत को धारण करते समय बुद्धिमान गृहस्थों को अपने स्वार्थ को वश में कर जीवन पर्यन्त के लिए नियम करना चाहिए। **(प्र.श्रा. १७/११-१३)**

११. प्रश्न : दिग्विरति से बाहर दिशाओं में महाव्रत की प्रसिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : अहिंसाणुव्रती परिमित दिशा की अवधि के बाहर मन, वचन और काययोग तथा कृत, कारित, अनुमोदना आदि सर्वविकल्पों के द्वारा हिंसादि सर्व सावद्यों से निवृत्त (विरक्त) हो जाता है अत: दिग्विरतिव्रतधारी के दिग्विरति के बाहर महाव्रतत्व जानना चाहिए। **(रा.वा. १९)** मर्यादा से बाहर सूक्ष्म पापों की निवृत्ति होने से दिग्व्रतधारियों के अणुव्रत पंच महाव्रतों की सदृशता को प्राप्त होते हैं। प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध आदि के मन्द होने से अतिशय मन्द रूप चारित्र मोहनीय परिणाम महाव्रत की कल्पना को उत्पन्न करते हैं और वे परिणाम बड़े कष्ट से जानने में आने योग्य हैं। **(र. क. श्रा. ७०-७१)**

१२. प्रश्न : देशविरत किसे कहते हैं ?

उत्तर : दिग्व्रत में प्रमाण किये हुए विशाल देश में काल के विभाग से प्रतिदिन त्याग करना सो अणुव्रतधारियों का देशावकाशिक व्रत होता है। **(र.क.श्रा. ९२)** जिस देश में रहते हुए व्रतभंग का कारण उपस्थित हो, उस देश में नियम से जो गमन-निवृत्ति की जाती है उसको दूसरा देशव्रत नाम का गुणव्रत जानना चाहिए। **(गुण. श्रा. ३/३३)** दिग्व्रत के भीतर यावज्जीवन के लिए किये हुए वृहत् परिमाण के अन्तर्गत कुछ समय के लिए जो ग्राम, नगर आदि की अवधि की जाती है उससे बाहर नहीं जाना सो देशव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत है। **(हरि. पु. ५८/१४५)** दिग्व्रत के परिमाण में से क्षेत्र की मर्यादा बाँधकर जो प्रतिदिन यह परिमाण कर लेता है कि आज मैं अमुक घर तक जाऊंगा वा मन्दिर तक जाऊंगा, मन्दिर के बाहर नहीं जाऊंगा वह देशावकाशिक नाम का शिक्षाव्रत है। **(चा.सा. ४४)** जो श्रावक लोभ और काम को घटाने के लिए तथा पाप को छोड़ने के लिए वर्ष आदि की अथवा प्रतिदिन की मर्यादा करके, पहले दिग्व्रत में किये हुए दिशाओं के प्रमाण को तथा भोगोपभोग परिमाणव्रत में किये हुए इन्द्रियों के विषयों के परिमाण को और भी कम करता है उसके देशावकाशिक नाम का शिक्षाव्रत है। **(का.अ. ३६७-६८)**

१३. प्रश्न : देशव्रत की मर्यादा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : (देशव्रती) घर, मोहल्ला, ग्राम, खेट, नदी, वन और योजनों की मर्यादा करने को वृद्ध तपस्वी जन देशावकाशिक व्रत की सीमा बतलाते हैं। वर्ष, ऋतु, अयन, मास, चातुर्मास, पक्ष और नक्षत्र के आश्रय से नियत प्रदेश में रहने के नियम करने को ज्ञानी जन देशावकाशिक व्रत की काल मर्यादा कहते हैं। **(र. क. श्रा. ९३-९४)**

१४. प्रश्न : देशविरति व्रत का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : दिग्विरति के समान मैं मेरे इस घर, तालाब के मध्य भाग को छोड़कर देशान्तर में नहीं जाऊंगा, इस देशविरति की निवृत्ति में दिग्विरति के समय मर्यादा के बाहर क्षेत्र में महाव्रतों की सिद्धि होती है। **(रा.वा. २०)** सीमाओं के अन्त में परवर्ती क्षेत्र में स्थूल और सूक्ष्म पाँचों पापों के सम्यक् प्रकार से त्याग हो जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा महाव्रतों का साधन किया जाता है अर्थात् महाव्रत सिद्ध किये जाते हैं। **(र.क. श्रा. ९५)** यह देशावकाशिक शिक्षाव्रत विशेष रूप से जीव की हिंसा का निरोधक होने

से निर्मलता का कारण है इसलिए मोक्ष को प्राप्त कराने वाला माना जाता है। इस प्रकार दिशा और देश का नियम करने वाले का चित्त अवधि से बाहर के पदार्थों में हिंसा, लोभ और उपभोग आदि का त्याग होने के कारण काबू (वश) में हो जाता है। **(य.ति.च. ७/१८१)** देशावकाशिक व्रत को धारण करने वाले पुरुष के संतोष धारण होता है, जीवों पर दया करने रूप महा पुण्य की प्राप्ति होती है और तृष्णा लोभ आदि उसके सब विकार नष्ट हो जाते हैं। **(प्र.श्रा. १८/१०)**

१५. प्रश्न : दिग्व्रत और देशव्रत में क्या अन्तर है ?

उत्तर : दिग्व्रत जीवन भर (सर्वकाल) के लिए होता है और देशव्रत यथाशक्ति नियत काल के लिए होता है। **(रा.वा. २०)**

दिग्विरति के समान देशविरति भी विशुद्धि को करने वाली है अत: कथञ्चित् भेद नहीं भी है। **(श्लो. ५/६०९)**

१६. प्रश्न : अनर्थदण्डव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : बिना उपकार, बिना प्रयोजन पापक्रियाओं में प्रवृत्ति करना अनर्थदण्ड है। मन, वचन, काय की पाप कार्यों में निष्प्रयोजन प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है; उस अनर्थदण्ड से निवृत्ति, विरमण-विरति अनर्थदण्डविरति है। **(रा.वा. ४)** दिशाओं की मर्यादा के भीतर निरर्थक पाप-योगों से विरमण करने को व्रतधारियों में अग्रणी गणधरदेव आदि ने अनर्थदण्डव्रत कहा है। **(र.क.श्रा. ७४)** जिससे अपना कुछ प्रयोजन तो सधता नहीं, केवल पाप बँधता है उसे **अनर्थ** कहते हैं। **(का.अ. ३४३)**

लोहे के शस्त्र, तलवार, कुदाली वगैरह तथा दण्ड और पाश आदि के बेचने का त्याग करना, झूठी तराजू तथा कूट मान आदि के बाटों को कम नहीं रखना तथा बिल्ली कुत्ता आदि क्रूर प्राणियों का संग्रह नहीं करना सो यह तीसरा अनर्थदण्ड त्याग नाम का गुणव्रत जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. २१६)** जिन-जिन कार्यों से व्यर्थ ही पाप का आस्रव होता हो उन कार्यों का जहाँ पर त्याग हो एवं अपध्यान खोटे ध्यान आदि का भी त्याग हो वह अनर्थदण्ड व्रत है। बिना प्रयोजन ही जीवों को दण्ड देना अनर्थदण्ड कहा जाता है एवं उसका त्याग कर देना अनर्थदण्ड व्रत नाम का गुणव्रत है। **(म.पु.)**

१७. प्रश्न : अनर्थदण्ड कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अनर्थदण्ड पाँच प्रकार का होता है-

(१) पापोपदेश (२) हिंसादान (३) अपध्यान (४) दु:श्रुति (५) प्रमादचर्या। **(र.क.श्रा. ७५)**

१८. प्रश्न : पापोपदेश अनर्थदण्ड किसे कहते हैं ?

उत्तर : कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि का तथा स्त्री-पुरुष के समागम का जो उपदेश दिया जाता है वह दूसरा (पापोपदेश) अनर्थदण्ड है। **(का.अ. ३४५)**

वणिक् अथवा वधक आदि को सावद्य कार्यों में प्रवृत्त कराने वाले पापपूर्वक वचनों का उपदेश पापोपदेश है। **(प. पु.)**

बिना प्रयोजन किसी पुरुष को आजीविका के कारण विद्या, वाणिज्य, लेखन-कला, खेती, नौकरी और शिल्प आदिक नाना प्रकार के काम तथा धन्धा करने का उपदेश देना पापोपदेश अनर्थदण्ड कहलाता है। **(पु.सि. उ. १४२)**

तिर्यञ्चों को क्लेश पहुँचाने का (जिससे गाय-बैल आदि जानवरों को कष्ट झेलना पड़े।) उन्हें बधिया करने आदि का उपदेश देना, तिर्यञ्चों के व्यापार करने का उपदेश देना, हिंसा-आरम्भ और दूसरे को छल-कपट से ठगने की कथाओं का प्रसंग उठाना, ऐसी कथाओं का बार-बार कहना, व्यापार आदि के लिए इतना प्रेरित करना कि वह पूजा, पाठ, दान, खाना, पीना आदि भी भूल जावे यह पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है। **(र.क.टी. ७६)**

१९. प्रश्न : पापोपदेश अनर्थदण्ड कितने प्रकार का है ?

उत्तर : पापोपदेश अनर्थदण्ड चार प्रकार का होता है-

(१) क्लेश वाणिज्य (२) तिर्यग्वाणिज्य (३) वधकोपदेश (४) आरम्भोपदेश।

क्लेश वाणिज्य - 'इस देश में दासी-दास सुलभ हैं इनको अमुक देश में ले जाकर विक्रय (बेचना) करने पर प्रचुर अर्थ लाभ होता है' इत्यादि पापसंयुत वचन बोलना क्लेशवाणिज्य पापोपदेश है।

तिर्यग्वाणिज्य - 'गाय, भैंस आदि पशुओं को इस देश से ले जाकर अन्य देश में बेचने पर बहुत धन लाभ होगा' इत्यादि पशुओं के व्यापार का मार्ग बताना तिर्यग्वाणिज्य पापोपदेश है।

वधकोपदेश - वागुरिक (शिकारी), सौकरिक (वधिक), शाकुनिक (पक्षियों को पकड़ने वाले) आदि व्यक्तियों को 'हरिण, सुअर, पक्षी आदि प्राणी इस देश में क्षेत्र, पर्वत आदि पर बहुत रहते हैं' इत्यादि वचनों के द्वारा शिकार के योग्य प्राणियों का स्थान आदि बताना वधकोपदेश है।

आरम्भोपदेश - आरम्भोपदेशकार्य करने वाले किसान आदि को भूमि, नीर, अग्नि, पवन और वनस्पति आदि के आरम्भ, छेदन-भेदन आदि के उपाय बताना आरम्भोपदेश नामका पापोपदेश है। **(रा.वा. २१)**

२०. प्रश्न : पापोपदेश अनर्थदण्ड किसके होता है ?

उत्तर : हाथी, घोड़े आदि तिर्यञ्चों के बाँधने, उनके खरीदने-बेचने के लिए, जीवों की हिंसा करने, खेती आरम्भ आदि के वचन कहने के लिए, विवाह के लिए, झूठ, चोरी, परिग्रह के लिए, कुगुरु-कुदेव आदि की पूजा करने के लिए, पाप-बढ़ाने-मिथ्यात्व सेवने के लिए, घर के निंद्य व्यापार के लिए, श्रेष्ठ धर्म की क्रियाओं को रोकने के लिए, धन कमाने के लिए, दीक्षा लेने से रोकने के लिए जो अज्ञानी

जीव दूसरे लोगों को उपदेश दिया करते हैं, उनके भगवान जिनेन्द्र ने पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड कहा है। **(प्रश्नो. श्रा. १७/२८-३१)**

२१. प्रश्न : हिंसादान अनर्थदण्ड किसे कहते हैं ?

उत्तर : विष, शस्त्र, रस्सी, कश (कोड़ा) और दण्ड आदि हिंसा के उपकरणों का देना हिंसादान अनर्थदण्ड है। **(रा.वा. २१)**

हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुदाली, आग, अस्त्र, शस्त्र, विष और सांकल आदि देने को ज्ञानीजन हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं। कसाई, भील, शिकारी, धीवर आदि जो हिंसात्मक वृत्ति वाले हैं (उनको आवश्यकता पड़ने पर अपना शस्त्र आदि देना या शस्त्र विद्या सिखाना आदि हिंसादान अनर्थदण्ड है।) **(र. क. श्रा. टी. ७७)**

बिलाव आदि हिंसक जीवों को पालना, लोहे का तथा लोहे आदि के आयुधों का व्यापार करना, देना-लेना, लाख, खल तथा आदि शब्द से विष आदि का देना-लेना, व्यापार करना चौथा (हिंसादान) अनर्थदण्ड है। **(का.अ. ३४७)**

तलवार आदि सब प्रकार के शस्त्र, कुदाल, कुठार, लकड़ी, रस्सी, अग्नि, सांकल आदि जो-जो बैल-घोड़ा, पशुओं के मारने वा बाँधने के कारण हों, जो-जो हिंसा के उपकरण हों, चक्की-ऊखली, चूलि, बुहारी आदि पाप उत्पन्न करने वाले हों तथा विष आदि और भी जो-जो जीवों के घातक हों, उन सबको दूसरों के लिए देना हिंसादान कहलाता है क्योंकि ये सब कर्मों के बन्ध के कारण हैं। **(प्र.श्रा. १७/३६-३८)**

२२. प्रश्न : अपध्यान अनर्थदण्ड किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरे के दोष कहना तथा परस्त्री में अपने मन की इच्छा करना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है। **(स. कौ. ७/४२५)**

'दूसरे की जय-पराजय, वध, बन्ध, अङ्गच्छेद, धन-हरण आदि कैसे हों' इत्यादि मन के द्वारा चिन्तन करना अपध्यान है। **(रा.वा. २१)**

दूसरे के दोषों को ग्रहण करना, दूसरे की लक्ष्मी की वाञ्छा करना, दूसरे की स्त्री को राग सहित देखना, दूसरे के कलह को देखना आदि कार्य करना पहला अनर्थदण्ड है। **(का.अ. ३४४)**

द्वेष से किसी प्राणी के वध, बन्धन और छेद (कान आदि काटना) आदि का चिन्तन करना तथा राग से परस्त्री आदि का चिन्तन करना इसे जिनशासन में निपुण पुरुषों ने अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड कहा है। **(र. क. श्रा. ७८)**

जो मूर्ख लोग राग अथवा द्वेष से दूसरों के वध-बन्धन का, उच्चाटन, मारण, वशीकरण आदि का, शोक-क्लेश का, महादु:ख देने का, दूसरे के भोगोपभोग के पदार्थ को हरण करने का, परस्त्री के हरण

करने का, अथवा किसी के द्रव्य मारने का चिन्तन करते हैं, उसको अपध्यान कहते हैं। **(प्रश्नो. श्रा. १७/५७-५८)**

२३. प्रश्न : दुःश्रुति अनर्थदण्ड किसे कहते हैं ?

उत्तर : हिंसा, राग, काम आदि की वृद्धि करने वाली दुष्ट कथाओं का सुनना और दूसरों को सिखाना आदि व्यापार अशुभ-श्रुति है। **(रा.वा. २१)**

आरम्भ, परिग्रह (संग्रहवृत्ति), साहस (व्यर्थ की कल्पना), मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और काम भाव के प्रतिपादन द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रों का सुनना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है। **(र.क.श्रा. ७९)**

एकान्त मतावलम्बियों के द्वारा बनाये गये कुशास्त्र, भांडक्रिया, हास्य और कौतूहल का कथन करने वाले शास्त्र, वशीकरण मंत्रप्रयोग के शास्त्र, स्त्रियों की चेष्टाओं का कथन करने वाले कामशास्त्र आदि का सुनना-सुनाना, पढ़ना-पढ़ाना, दूसरे के दोषों की कथा करना, सुनना अन्तिम (दुःश्रुति) अनर्थदण्ड है। **(का.अ. ३४८)**

राग-द्वेष आदि भावों को बढ़ाने वाली, अज्ञान भाव से भरी हुई दुष्ट कथाओं को सुनना, बनाना, एकत्र करना या सीखना आदि का त्याग करने का नाम दुःश्रुति अनर्थदण्ड व्रत है। **(पु.सि.उ. १४५)**

जो द्रव्य कमाने की, व्यापार-खेती आरम्भ आदि करने की, घर बनाने की, शिल्प शास्त्र की, पशुओं के पालन करने की, युद्ध वर्णन करने की, मिथ्या एकान्त मत को पुष्ट करने की, वशीकरण आदि के कारणों की, कुधर्म-कुशास्त्र, कुदेव-कुगुरु की, कुसंस्कार की और राग प्रकट करने की कथाएँ कही वा सुनी जाती हैं और जिन्हें मूर्ख लोग ही कहते वा सुनते हैं उसे दुःश्रुति कहते हैं। यह दुःश्रुति अनेक पाप और दुःख देने वाली और स्वर्ग-मोक्ष रूपी घर को बन्द करने के लिए अर्गल के समान है। जो अज्ञानी लोग राजकथा, चोर कथा, भोजन कथा, स्त्री कथा आदि विकथाओं को सुनते हैं वह भी स्वाध्याय से रहित दुःश्रुति ही है। **(प्र.श्रा. १७/६२-६३)**

२४. प्रश्न : प्रमादचर्या अनर्थदण्ड किसे कहते हैं ?

उत्तर : बिना प्रयोजन पृथिवी, जल, अग्नि और पवन के आरम्भ करने को, वनस्पति छेदने को, पर्यटन करने को और दूसरों को पर्यटन कराने को भी प्रमादचर्या नामा अनर्थदण्ड कहते हैं। **(र.क. श्रा. ८०)**

बिना प्रयोजन जमीन का खोदना, वृक्षादि को उखाड़ना, दूब आदिक हरी घास को रौंदना या खोदना, पानी सींचना, फल, फूल, पत्र आदि को तोड़ना इत्यादि पापक्रियाओं को करना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है। **(पु.सि.उ. १४३)**

बिना प्रयोजन के वृक्षादि को छेदना, भूमि का कूटना, पानी का सींचना आदि पाप कार्य प्रमादचरित नाम का अनर्थदण्ड है। **(सर्वा. ७०३)**

२५. प्रश्न : अनर्थदण्ड व्रत धारण करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो पुरुष इस प्रकार अन्य भी अनर्थदण्डों को जानकर उनका त्याग करता है वह निरन्तर निर्दोष अहिंसाव्रत का पालन करता है। **(पु.सि.उ. १४७)**

२६. प्रश्न : शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : शिक्षा जिनमें प्रधान है वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं। उनके चार विकल्प हैं। आगे की प्रतिमाओं का अभ्यास बढ़ाने के लिए इन्हें धारण करना चाहिए। **(धर्म. सं. श्रा. ४/३२)**

२७. प्रश्न : शिक्षाव्रत कितने होते हैं ?

उत्तर : शिक्षाव्रत चार होते हैं-

(१) भोगपरिमाण (२) सामायिक (३) प्रोषधोपवास (४) अतिथि संविभाग। **(भ.आ. २०७६)**

(१) देशावकाशिक (२) सामायिक (३) प्रोषधोपवास (४) वैयावृत्य। **(र.क.श्रा. ९१)**

(१) भोगविरति (२) परिभोग विरति(३) अतिथि संविभाग(४) सल्लेखना। **(वसु.श्रा.२१६-७२)**

(१) सामायिक (२) प्रोषधव्रत (३) अतिथि पूजा (४) सल्लेखना। **(चा.पा. २५)**

(१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) उपभोग-परिभोग परिमाण (४) अतिथि-संविभाग। **(त.सू. २१)**

२८. प्रश्न : सामायिक शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीरादि की चेष्टा और मन की व्यग्रता या कलुषता से निवृत्ति होने पर अन्तरात्मा (मानसिक) में उत्पन्न विकल्पों की विशिष्ट निवृत्ति सामायिक व्रत है। **(र.क.श्रा. १००)**

मन, वचन, काय की क्रियाओं का अपने-अपने विषयों से हटकर आत्मा के साथ तल्लीन होने से द्रव्य तथा अर्थ दोनों से आत्मा के साथ एकरूप हो जाना ही समय का अभिप्राय है, समय ही जिसका प्रयोजन हो उसे सामायिक कहते हैं। **(चा.सा. ५०)** देववन्दना करते समय संक्लेशरहित चित्त से सर्व प्राणियों में समता भाव रखना सामायिक है। **(का.अ. ३५२ टी.)**

जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने का जो उपदेश है, उसे समय कहते हैं और उसमें उसके इच्छुकजनों के जो-जो काम बतलाये गये हैं उन्हें सामायिक कहते हैं। **(य.ति.च. ८/२)**

'सम्' उपसर्ग का अर्थ एकरूप है। जैसे घी संगत है, तेल संगत है, जब यह कहा जाता है तब संगत का अर्थ एकीभूत होता है। सामायिक में मूल शब्द 'समय' है। इसका अर्थ है एक साथ जानना व

गमन करना ही समय है, समय ही सामायिक है अथवा-समय अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है। **(सर्वा. ७०३)**

सब प्राणियों में समता भाव धारण करना, संयम के विषय में शुभ विचार रखना तथा आर्त्त एवं रौद्र ध्यानों का त्याग करना, सामायिक व्रत माना है। **(प. पं. विं. ६/८)** सम्पूर्ण रूप (नवकोटि) से की हुई मर्यादा के भीतर या बाहर भी किसी नियत समय पर्यन्त पाँचों पापों का त्याग करने को सामायिक कहते हैं। **(र.क.श्रा. ९७)**

२९. प्रश्न : सामायिक कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : सामायिक चार प्रकार की होती है –

(१) द्रव्य सामायिक (२) क्षेत्र सामायिक (३) काल सामायिक (४) भाव सामायिक, अथवा - सामायिक छह प्रकार की होती है–

(१) नाम सामायिक (२) स्थापना सामायिक (३) द्रव्य सामायिक (४) क्षेत्र सामायिक (५) काल सामायिक (६) भाव सामायिक।

३०. प्रश्न : द्रव्य आदि सामायिक किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य सामायिक - सचित्त और अचित्त द्रव्यों में राग और द्वेष का निरोध करना द्रव्य सामायिक है।

क्षेत्र सामायिक - ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मटम्ब, पट्टन, द्रोणमुख और जनपद आदि में राग और द्वेष का निरोध करना अथवा अपने निवासस्थान में कषाय का निरोध करना क्षेत्र सामायिक है।

काल सामायिक - बसन्त आदि छह ऋतु विषयक कषाय का निरोध करना काल सामायिक है।

भाव सामायिक - जिसने समस्त कषायों का निरोध कर दिया है तथा मिथ्यात्व का वमन कर दिया है और जो नयों में निपुण है ऐसे पुरुष को बाधा रहित और अस्खलित जो छह द्रव्य विषयक ज्ञान होता है, वह भाव सामायिक है। **(ज.ध. १/९८)**

३१. प्रश्न : नाम आदि सामायिक किसे कहते हैं ?

उत्तर : नाम सामायिक - शुभ नाम और अशुभ नाम को सुनकर राग-द्वेष आदि का त्याग करना नाम सामायिक है।

स्थापना सामायिक - सुस्थित, सुप्रमाण, सब अवयवों से पूर्ण, तदाकार, मन को आह्लाद करने वाली मूर्त्तियों आदि में तथा दु:स्थित, प्रमाणरहित, अवयव की पूर्णतारहित अतदाकार मूर्त्तियों आदि में राग-द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है।

द्रव्य सामायिक - सोना, चाँदी, मोती, माणिक्य आदि तथा लकड़ी, मिट्टी का ढेला और कंटक आदिकों में समान भाव रखना, उनमें राग-द्वेष नहीं करना **द्रव्य सामायिक** है।

क्षेत्र सामायिक - बगीचे, नगर, कूप, बावड़ी आदि रम्य (मन को अच्छे लगने वाले) क्षेत्रों में तथा रूक्ष, मरुस्थल, कंटकयुक्त विषम, हड्डी तथा पाषाण सहित आदि अरण्य क्षेत्रों में राग-द्वेष का अभाव होना **क्षेत्र सामायिक** है।

काल सामायिक - प्रावृड्, वर्षा, हेमन्त आदि छह ऋतुओं में रात्रि-दिवस तथा शुक्ल-कृष्ण पक्ष इन कालों में राग-द्वेष का त्याग करना **काल सामायिक** है।

भाव सामायिक - सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना और अशुभ परिणामों का त्याग करना यह **भाव सामायिक** है। **(मू.आ. ५१८)**

३२. प्रश्न : सामायिक किसके होती है ?

उत्तर : जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ को, शत्रु-मित्र को, इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग को, तृण-कांचन को, चन्दन और कुठार को समभाव से देखता है और मन में पंच नमस्कार मंत्र को धारण कर उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से संयुक्त अर्हन्त जिनके स्वरूप का और सिद्ध भगवान के स्वरूप का ध्यान करता है, अथवा संवेग सहित अविचल अंग होकर एक क्षण को भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होती है। **(वसु. श्रा. २७६-७८)**

३३. प्रश्न : सामायिक के समय कितनी बातों का ध्यान रखना चाहिए ?

उत्तर : सामायिक करने के लिए सात बातें जाननी चाहिए-

(१) क्षेत्र (२) काल (३) आसन (४) विलय (५) मन:शुद्धि (६) वचनशुद्धि (७) काय शुद्धि। **क्षेत्र**-स्थान। **काल**-समय। **आसन**-मुद्रा। **विलय**-ध्यान, तन्मयता का होना विलय है। **मन:शुद्धि** - कलुषता का अभाव, व्यग्रता का अभाव। **वचन शुद्धि** - अंतर्बाह्य जल्परहित वचन शुद्धि। **काय शुद्धि** - शरीर की शुद्धि, निर्मलता। **(का.अ. ३५२ टी.)**

३४. प्रश्न : सामायिक करने के लिए कैसा क्षेत्र आवश्यक है ?

उत्तर : जहाँ पर चित्त में विक्षोभ उत्पन्न न हो ऐसे एकान्त स्थान में, वनों में, वसतिकाओं में अथवा चैत्यालयों में प्रसन्नचित्त से सामायिक करना चाहिए। **(र.क.श्रा. ९९)** जहाँ बहुत लोगों, पशुओं या बाजों का कोलाहल न हो, जहाँ बहुत मनुष्य आदि के मिलने का स्थान न हो, शरीर को कष्ट देने वाले डाँस, मच्छर, बिच्छू, साँप, खटमल, सिंह, विट पुरुष-स्त्री, नपुंसक, पशु, मांस, रक्त, पीप, हड्डी, मल, मूत्र, मृतक, कलेवर आदि न हों वहाँ सामायिक करना चाहिए। **(का.अ.टी. ३५३)** जिसमें कोई उपद्रव न हो और एकान्त हो ऐसे मकान, वन तथा चैत्यालय आदि सामायिक के लिए योग्य देश है। **(चा.सा.५०)**

३५. प्रश्न : सामायिक कब करनी चाहिए ?

उत्तर : शरीर और वचन की चेष्टा तथा मन की व्यग्रता अथवा मन की कलुषता से विनिवृत्ति होने पर मानसिक विकल्पों को विशिष्ट रूप से दूर करते हुए उपवास और एकासन के दिन विशेषरूप से सामायिक को बढ़ाना चाहिए। तथा उपवास और एकाशन के सिवाय अन्य दिनों में भी सामायिक को बढ़ाना चाहिए। **(र. क. श्रा. १०० टी.)** आलस्य से रहित और चित्त की एकाग्रता से युक्त पुरुष के द्वारा हिंसात्याग आदि पाँच व्रतों की पूर्ति का कारण सामायिक प्रतिदिन भी योग्य विधि के अनुसार बढ़ाने योग्य है। **(र.क.श्रा. १०१)**

३६. प्रश्न : सामायिक का काल कितना है ?

उत्तर : ज्ञानी पुरुष चोटी के बाल, मुट्ठी व वस्त्र के बाँधने की तथा पर्यङ्क आसन से या कायोत्सर्ग आसन से सामायिक करने को स्थान (खड़े होना) वा उपवेशन (बैठना) अथवा सामायिक करने योग्य समय को जानते हैं। **(र. क. श्रा. ९८)** विनय संयुक्त गणधर देव आदि ने पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न इन तीनों कालों में छह-छह घटी सामायिक का काल कहा है। **(का.अ. ३५४)**

३७. प्रश्न : सामायिक कौन से आसन से करना चाहिए ?

उत्तर : सामायिक शिक्षाव्रत के धारक श्रावकों को आत्महित में उद्यत होते हुए पद्मासन व खड्गासन इन दो आसनों में से किसी एक आसन से सामायिक करना चाहिए। **(सु.र.सं. ८०७)** पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्गासन ये आसन ध्यान के योग्य माने गये हैं। जिस-जिस आसन से सुख रूप उपविष्ट मुनि अपने मन को निश्चल कर सके वही सुन्दर आसन मुनियों को स्वीकार करना चाहिए। **(ज्ञा. २८/१०-११)**

३८. प्रश्न : सामायिक में क्या विचार करना चाहिए ?

उत्तर : मैं अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य, दु:खमय और पररूप संसार में निवास करता हूँ। मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् मोक्ष शरणरूप, शुभरूप, नित्य, सुखमय एवं आत्मस्वरूप है। इस प्रकार सामायिक में ध्यान करना चाहिए। **(र.क.श्रा. १०४)** अपने स्वरूप का अथवा जिनबिम्ब का अथवा पंच परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का अथवा कर्मविपाक का चिन्तन करते हुए ध्यान करता है उसके सामायिक प्रतिमा होती है। **(का. अ. ३७२)**

मैं एक हूँ, निर्भय हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, ज्ञानी-योगीन्द्रों के ज्ञान का विषय हूँ, इसके सिवाय जितने भी स्त्री, धन आदि संयोगी भाव हैं वे सब मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

मैं निश्चय से सदा एक शुद्ध दर्शन-ज्ञानात्मक और अरूपी हूँ। मेरा परमाणु मात्र भी अन्य कुछ नहीं है। मैं न पर-पदार्थों का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं, मैं तो ज्ञानस्वरूप अकेला ही हूँ, न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण ही हूँ। न मैं पर पदार्थों का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं। यहाँ

मेरा कुछ नहीं है। जो केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभाव से युक्त सुखस्वरूप और केवल वीर्य स्वभाव है, वही मैं हूँ। इस प्रकार ज्ञानी जीव को विचार करना चाहिए। **(ति.प. ९/२८-५०)**

३९. प्रश्न : सामायिक किस विधि से करनी चाहिए ?

उत्तर : पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके नीचे गवासन से बैठकर अष्टांग नमस्कार करना चाहिए और खड़े होकर सामायिक दण्डक[१] पढ़ना चाहिए-

---

१. सामायिक दण्डक - णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं॥

चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरहंते सरणं पव्वज्जामि सिद्धे सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं पव्वज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्दीव दो समुद्देसु पण्णारस कम्मभूमिसु जाव अरहंताणं भयवंताणं आदियराणं तित्थयराणं जिणाणं जिणोत्तमाणं केवलियाणं सिद्धाणं बुद्धाणं परिणिव्वुदाणं अंतयडाणं पारयडाणं, धम्मायरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं धम्मवर चाउरंग चक्कवट्टीणं देवाहिदेवाणं णाणाणं दंसणाणं चरित्ताणं सया करेमि किरियम्मं।

करेमि भंते। सामाइयं सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामि जावजीवं तिविहेण मणसा वचिया काएण ण करेमि ण कारेमि अण्णं करंतं पि ण समणुमणियामि। तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि गरहामि अप्पाणं जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि ताव कायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

चतुर्विंशति स्तव -

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
णरपवर लोय महिए विहुयरयमले महापुण्णे॥१॥
लोयस्सुज्जोययरे धम्मत्तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो॥२॥
उसहमजियं च वंदे संभवमभिणं दणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे॥३॥
सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि॥४॥
कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं चड्णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं तह पासं वडढमाणं च॥५॥
एवं मए अभित्थुआ विहुयरयमला पहीण जरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु॥६॥
कित्तिय वंदिय महिया एए लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं देंतु समाहिं च मे बोहिं॥७॥
चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहिय पयासंता।
सायर इव गम्भीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥८॥

सिद्ध भक्ति- तव-सिद्धे णय-सिद्धे संजम-सिद्धे चरित्त-सिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि॥

यह दण्डक पढ़कर श्वासोच्छ्वास (२७ श्वासोच्छ्वास) पूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए और तीन आवर्त्त करके उसके बाद चतुर्विंशति स्तव पढ़ना चाहिए।

इसी प्रकार दिशाओं में तीन-तीन आवर्त्त और एक-एक नमस्कार करके जिस दिशा में बैठकर सामायिक करना है उस दिशा में बैठकर नमस्कार करना चाहिए। सामायिक का काल पूर्ण होने पर पूर्ववत् विधि करके पुन: गवासन से नमस्कार करना चाहिए।

पूर्व या उत्तर दिशा में बैठकर गवासन से अष्टांग नमस्कार करके पुन: खड़े होकर कायोत्सर्ग करके दिग्वन्दना करना चाहिए।

दिग्वन्दना विधि

प्राग्दिग्विदिगन्तरत: केवलि जिन सिद्ध साधु गण देवा:।
ये सर्वर्द्धि-समृद्धा योगीश्वरांस्तानहं वन्दे ॥

हिन्दी - पूर्व दिशा में अरहंत जी, सिद्ध जी, आचार्य जी, उपाध्याय जी, सर्व साधु जी, सामान्य केवली, श्रुतकेवली, गणधर देव, वृषभादि चौबीस तीर्थंकर, कृत्रिमाकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय, तीन कम नौ कोटि मुनिराजों को मेरा मन, वचन, काय से बारम्बार नमस्कार हो।

इसी प्रकार चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त्त एवं एक-एक नमस्कार करना चाहिए। इसके पश्चात् बैठकर अष्टांग नमस्कार करके प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं[१] समय तक सामायिक करूंगा अर्थात् आरम्भ-परिग्रह छोड़कर समता भाव से पंच परमेष्ठी भगवान, बारह भावना आदि का चिन्तन करूंगा। सामायिक के पश्चात् पुन: पूर्ववत् आवर्त आदि करके सामायिक पूरी करनी चाहिए। एवं सामायिक में लगे दोषों की आलोचना करके भगवान से क्षमा मांग कर प्रायश्चित्त के रूप में एक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

आलोचना विधि

हे भगवन् ! मेरी सामायिक में प्रमाद से, अज्ञान से अथवा कषाय से जो भी दोष लगा हो उसकी मैं आलोचना, निन्दा, गर्हा करता हूँ और दोषों के लिए क्षमा चाहता हूँ। उन दोषों की निवृत्ति के लिए एक कायोत्सर्ग करता हूँ।

*(**नोट** - यह विधि यद्यपि किसी शास्त्र में नहीं लिखी गई है लेकिन परम्परा से ऐसी विधि मैंने देखी है, सुनी है वही लिखी है।)*

इच्छामि भंते! सिद्ध भत्तिं काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचरित्त जुत्ताणं अट्ठविह कम्ममुक्काणं अट्ठगुण संपण्णाणं उड्ढलोय मत्थयम्मि पइट्ठियाणं तवसिद्धाणं णयसिद्धाणं संजमसिद्धाणं चरित्तसिद्धाणं अदीदाणागद वट्टमाण कालत्तय सिद्धाणं सव्वसिद्धाणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्ख-क्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिण गुण सम्पत्ति होउ मज्झं॥

१. ४८ मिनट, ६० मिनट, २ घण्टा आदि का प्रमाण करना।

४०. प्रश्न : सामायिक करते समय श्रावक कैसा लगता है ?

उत्तर : सामायिक करते समय श्रावक भी, आश्चर्य है कि, संयत हो जाता है जैसे- किसी पर्व में कोई श्रावक सामायिक संयम अर्थात् समता भाव को ग्रहण करके श्मशान में स्थित हो गया है, खड़ा हो गया है। उस समय उसके पुत्र, पौत्र, नाती, बन्धुजन आदि के मरण अथवा उनको पीड़ा देना आदि महाउपसर्ग हो रहा है या स्वयं के ऊपर उपसर्ग हो रहे हैं तो भी वह सामायिक व्रत से च्युत नहीं हुआ अर्थात् सामायिक के समय एकाग्रता रूप धर्मध्यान से चलायमान नहीं हुआ उस समय वह श्रमण होता है। क्योंकि सामायिक के काल में आरम्भ सहित सारा परिग्रह भी नहीं है इसलिए उस समय गृहस्थ उपसर्ग के कारण वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है। **(र.क.श्रा. १०२)**

सामायिक को स्वीकृत करने वाला गृहस्थ स्थिर समाधि अथवा गृहीत अनुष्ठान को न छोड़ते हुए मौनधारी होकर शीत उष्ण तथा दंशमशक परीषह को और उपसर्ग को भी सहन करे। **(र.क.श्रा. १०३)**

इतने क्षेत्र में इतने काल तक अवधारित सामायिक में अवस्थित के महाव्रत होता है। ऐसा पूर्ववत् (दिग्व्रत-देशव्रत में जिस प्रकार महाव्रत की सिद्धि होती है) सामायिक में अणु और स्थूल हिंसा आदि से निवृत्त होने के कारण महाव्रतपना समझना चाहिए। **(रा.वा. २३)** विषय और कषायों से निवृत्त होकर सामायिक में वर्तमान गृहस्थ महाव्रती होता है। **(चा.सा.)**

४१. प्रश्न : यदि वह उस समय भाव श्रमण हो गया तो उसके श्रावकपना कैसे रहा ?

उत्तर : वह भावश्रमण नहीं है किन्तु श्रमण के सदृश उसे समझना चाहिए क्योंकि उस समय उसके प्रत्याख्यान कषाय का उदय मन्दतर है। यहाँ पर कथा (सुदर्शन आदि की) कही जा सकती है इसलिए बहुलता से सामायिक करना चाहिए। **(मू.आ. ५३३)** यद्यपि सामायिक में सर्व सावद्य निवृत्ति हो जाती है तथापि संयमघाती चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण इसे संयत नहीं कह सकते। **(रा.वा. २४)** इसे महाव्रती उपचार से कहा है। जैसे- पुरवासी भण्डार आदि सर्व बाह्य व्यापारों में तत्पर है और स्नान, अनुलेपन, शयनादि अभ्यन्तर अन्त:पुर के किसी भी व्यापार को नहीं करता हुआ भी चैत्र राजकुल में सर्वत्र है, ऐसा उपचार से कहा जाता है, उसी प्रकार हिंसादि सर्व बाह्य व्यापारों में अनासक्त बुद्धि वाला अभ्यन्तर संयम के घातक कर्मोदय से अपादित मन्द अविरति परिणाम होने पर भी सामायिकव्रती सामायिक काल में उपचार से महाव्रती कहा जाता है, इसीलिए एकादशाङ्ग पाठी, निर्ग्रन्थलिङ्गधारी अभव्य के भी महाव्रत पालन करने के कारण देशसंयत भाव और संयतभाव नहीं होने पर भी उपरिम ग्रैवेयक तक उत्पत्ति बन जाती है। **(रा.वा. २५)**

४२. प्रश्न : सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमा में क्या अन्तर है ?

उत्तर : पहले व्रत प्रतिमा में बारह व्रतों के अन्तर्गत सात शील व्रतों में सामायिक नाम का व्रत कहा है वही सामायिक इस सामायिक प्रतिमा पालन करने वाले श्रावक के व्रत हो जाता है जबकि दूसरी प्रतिमा वाले के वही शील रूप रहता है। **(चा.सा. ७६)** व्रत प्रतिमा में एक बार, दो बार अथवा तीन

बार सामायिक होती है जबकि सामायिक प्रतिमा में निश्चलता से तीन बार सामायिक करने योग्य है ऐसा जानना चाहिए। **(चा.पा. २५ टी.)**

४३. प्रश्न : सामायिक करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : सामायिक करने वाला यदि अभव्य भी हो और वह निर्ग्रन्थ रूप धारण कर ग्यारह अंग का पाठी हो तो वास्तव में असंयम भाव धारण करने पर भी बाह्य महाव्रतों के पालन करने से वह उपरिम ग्रैवेयक के विमानों में अहमिन्द्रों के स्थान में जाकर उत्पन्न हो जाता है, यदि वही भव्य जीव सम्यग्दर्शन से अपने आत्मा को पवित्र कर ले और फिर सामायिक धारण करे तो फिर उसकी क्या बात। **(चा.सा. ५०)**

४४. प्रश्न : प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध है जो धारणे और पारणे के दिन प्रोषध सहित गृहारम्भादि को छोड़कर उपवास करके (प्रोषधोपवास) आरम्भ (प्रारम्भ) करता है वह प्रोषधोपवास है। **(र.क.श्रा. १०९)** चतुर्दशी तथा अष्टमी के दिन सदा व्रत-विधान की इच्छा से चार तरह के भोजन के त्याग करने को प्रोषधोपवास जानना चाहिए। **(र.क.श्रा. १०६)** पर्व के दिन में जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। **(सर्वा. ७०३)** जो श्रावक सदा दोनों पर्वों में स्नान, विलेपन, भूषण, स्त्रीसंसर्ग, गंध, धूप-आदि का त्याग करता है, वैराग्य रूपी भूषण से भूषित होकर, उपवास या एक बार भोजन वा निर्विकृति भोजन करता है, उसके प्रोषधोपवास नामका शिक्षाव्रत होता है। **(का. अ. ३५८-५९)**

उपवास करना या प्रोषध के साथ किया गया उपवास प्रोषधोपवास है। **(रा.वा. ८)** माह के चारों पर्वों में अपनी शक्ति के अनुसार उपवास, एकस्थान, एक भक्त अथवा रस परित्याग किया जाता है वह प्रोषध शिक्षाव्रत है। **(स.कौ. ४२५)**

नोट - निर्विकृति का लक्षण देखें **(७/२२)**

४५. प्रश्न : आहार कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : आहार चार प्रकार का होता है-

(१) अशन (२) पेय (३) स्वाद्य (४) खाद्य। **(अ. श्रा. ६/९७)**

(१) अन्न (२) पान (३) खाद्य (४) लेह्य। **(र. क.श्रा. १०९)**

अशन - मूंग, भात आदि अशन है। **(र. क. श्रा. ६/१०९)**

पेय - दूध, जल आदि पेय हैं। **(अ. श्रा. ६/९७)**

पेय - दाख आदि का रस पान है। **(भगवती आराधना)**

स्वाद्य - तांबूल, दाड़िमादि स्वाद्य है। **(अ. श्रा. ६/९७)**

खाद्य - पुआ आदि खाद्य है। **(अ. श्रा. ६/९७)**

अन्न - दाल, भात आदि अन्न है। **(र. क. श्रा. १०६ टी)**

लेह्य - रबड़ी आदि लेह्य है। **(र. क. श्रा. ११० टी)**

४६. प्रश्न : प्रोषधोपवास कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : प्रोषधोपवास तीन प्रकार का होता है : (१) उत्तम प्रोषधोपवास (२) मध्यम प्रोषधोपवास (३) जघन्य प्रोषधोपवास। **(वसु.श्रा. २८०)**

४७. प्रश्न : उत्तम (उत्कृष्ट) प्रोषधोपवास किसे कहते हैं ?

उत्तर : सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथिजन के भोजन के अन्त में स्वयं भोज्य वस्तु का भोजन कर और वहीं पर मुखशुद्धि को करके मुँह और हाथ-पाँव को धोकर वहीं उपवास सम्बन्धी नियम करके पश्चात् जिनेन्द्र भवन जाकर और जिन भगवान को नमस्कार करके गुरु के सामने वन्दना पूर्वक क्रम से कृतिकर्म करके, गुरु की साक्षी से विधिपूर्वक उपवास ग्रहण करना चाहिए तथा शास्त्रवाचना आदि उपर्युक्त विधि से दिवस व्यतीत करके तथा अपराह्निक वन्दना करके रात्रि के समय अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग में स्थित होकर, भूमि का प्रतिलेखन करके और अपने शरीर के प्रमाण बिस्तर लगाकर रात्रि में कुछ समय तक जिनालय में अथवा अपने घर में सोकर अथवा पूरी रात्रि कायोत्सर्ग में बिताकर प्रात: काल उठकर वन्दना विधि से जिन भगवान को नमस्कार कर तथा देव-शास्त्र और गुरु की द्रव्य वा भावपूजन करके पूर्वोक्त विधान से सारा दिन और रात्रि व्यतीत कर पारणा (नवमी या पूर्णमासी) के दिन पुन: पूर्व के समान पूजन करने के पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथि को दान देकर जो भोजन करता है उसके निश्चय से उत्तम प्रोषधोपवास होता है। **(वसु. श्रा. २८१-८९)**

४८. प्रश्न : मध्यम एवं जघन्य प्रोषधोपवास किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार उत्कृष्ट प्रोषधोपवास विधान कहा गया है, उसी प्रकार से मध्यम भी जानना चाहिए। विशेषता यह है कि जल को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। जरूरी कार्य को समझकर सावद्य रहित यदि अपने घर के आरम्भ को करना चाहे तो उसे भी कर सकता है, किन्तु शेष विधान पूर्व समान है। जो अष्टमी आदि पर्व के दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, अथवा एकभक्त को करता है, उसे जघन्य प्रोषधोपवास समझना चाहिए। **(वसु. श्रा. २९०-९२)**

४९. प्रश्न : प्रोषधोपवास के दिन क्या-क्या नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : उपवास के दिन पाँचों पापों का, शृंगार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अञ्जन तथा नश्य (सूंघने योग्य) वस्तुओं का त्याग करे। **(र. क. श्रा. १०७)** प्रोषधोपवासी श्रावक को अपने शरीर के संस्कार के कारण स्नान, गंध, माला और आभरणादि का त्याग करना चाहिए। **(सर्वा. ७०३)**

प्रोषध के दिन शिर से स्नान करना, उबटन करना, सुगन्धित द्रव्य लगाना, माला पहनना, बालों आदि का सजाना, देह का संस्कार करना तथा अन्य भी राग के कारणों को छोड़ देना चाहिए। **(वसु. श्रा. २९३)**

५०. प्रश्न : प्रोषधोपवास के दिन क्या करना चाहिए ?

उत्तर : श्रावक उपवास को ग्रहण कर शास्त्र-वाचन, धर्मकथा श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा, चिंतन, पठन-पाठनादि के उपयोग द्वारा दिवस बितावे। **(वसु. श्रा. २८४)** उपवास के दिन आलस्य रहित हो कानों से अतिशय उत्कंठित होता हुआ धर्म रूपी अमृत को पीवे तथा दूसरों को पिलावे अथवा ज्ञान-ध्यान में तत्पर रहे। **(र. क. श्रा. १०८)** प्रोषधोपवास करने वाले को पवित्र स्थान में, चैत्यालय में या अपने प्रोषधोपवास के लिए नियत किये गये घर में धर्मकथा के सुनने-सुनाने और चिन्तन करने में मन को लगाकर उपवास करना चाहिए। **(सर्वा. ७०३)**

५१. प्रश्न : प्रोषधोपवास करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो ज्ञानी आरम्भ को छोड़कर उपशम भाव पूर्वक एक भी उपवास करता है वह बहुत भवों में संचित किये हुए कर्म को लीला मात्र में क्षय कर देता है। तथा जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भ करता है वह अपने शरीर को सुखाता है, उसके लेशमात्र भी कर्मों की निर्जरा नहीं होती है। **(का. अ. ३७७-७८)**

जो जीव इस प्रकार सम्पूर्ण पाप क्रियाओं से परिमुक्त होकर सोलह पहर व्यतीत करता है उसके इतने समय तक निश्चय पूर्वक सम्पूर्ण अहिंसाव्रत होता है। भोगोपभोग के हेतु से स्थावर जीवों की हिंसा होती है किन्तु उपवासधारी पुरुष के भोगोपभोग के निमित्त से जरा भी हिंसा नहीं होती है क्योंकि वचनगुप्ति होने से झूठ वचन नहीं है, मैथुन, अदत्तादान और शरीर में ममत्व का अभाव होने से क्रमश: अब्रह्म, चोरी व परिग्रह का अभाव है। उपवास में पूर्ण अहिंसा व्रत की पालना होने के अतिरिक्त अवशेष चारों व्रत भी स्वयमेव पलते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसाओं से रहित प्रोषधोपवास करने वाला पुरुष उपचार से महाव्रतीपने को प्राप्त होता है। अन्तर केवल इतना रह जाता है कि चारित्रमोह के उदयरूप होने के कारण संयम स्थान को प्राप्त नहीं करता है। **(पु. सि. उ. १५७-६०)**

५२. प्रश्न : उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : विषयों के परिमाण के भीतर विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आसक्तियों को कृश करने के लिए प्रयोजनभूत भी इन्द्रिय विषयों का परिगणन करना, सीमा निर्धारण करना भोगोपभोग परिमाण[1]

१. 'जब तक मेरी इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती, तब तक के लिए मेरे सब का त्याग है' इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए णमोकारमंत्र का स्मरण करके फिर सोना चाहिए। दैववशात् यदि आयुक्षीण हो जाय तो त्याग से विशेष लाभ होता है अत: व्रती का कर्त्तव्य है कि जिस काल में वह भोग न करता हो उस काल को अव्रतदशा में न जाने दे। **(य. ति. च. ७/९०-९१)**

नामक गुणव्रत है। **(र. क. श्रा. ८२)** जो अपनी सामर्थ्य जानकर भोजन, ताम्बूल, वस्त्र आदि का परिमाण करता है उसको भोगोपभोग परिमाण नामक गुणव्रत होता है। **(का. अ. ३५०)**

उपभोग और परिभोग के पदार्थों का यावज्जीवन त्याग करना अथवा अमुक समय की मर्यादा में अमुक वस्तुओं का परिमाण करना उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। **(रा. वा. २७)**

५३. प्रश्न : उपभोग और परिभोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : भोजन, पान, गन्ध और माला आदि उपभोग हैं।

पाँच इन्द्रियों के विषयभूत जो भोजन आदि पदार्थ एक बार भोग कर छोड़ दिये जाते हैं वे भोग कहलाते हैं, जैसे (भोजन, पुष्प, गंधविलेपनादि) **(र. क. श्रा. ८३)** ओढ़ना-बिछाना, अलंकार, शयन, आसन, घर, यान, वाहन आदि परिभोग हैं। **(सर्वा. ७०३)** पाँच इन्द्रियों के विषयभूत जो पदार्थ एक बार भोगकर पुन: भोगने के योग्य होते हैं वे उपभोग कहलाते हैं जैसे- वस्त्र, मकान, स्त्री आदि। **(र. क. श्रा. ८३)**

५४. प्रश्न : भोग परिसंख्यान व्रत कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : भोग परिसंख्यान व्रत पाँच प्रकार का होता है-

(१) त्रसघात (२) प्रमादकारक (३) बहुस्थावरघात (४) अनिष्ट (५) अनुपसेव्य।

त्रसघात - त्रसघात की निवृत्ति के लिए मधु, मांस आदि का हमेशा के लिए त्याग करना चाहिए।

प्रमादकारक - प्रमाद को करने वाली, कार्याकार्य के विवेक को नष्ट करने वाली और मोह को करने वाली मदिरा का अवश्य त्याग करना चाहिए।

बहुस्थावरघात - केतकी के पुष्प, अर्जुन के पुष्प आदि बहुत जन्तुओं के उत्पत्ति स्थान हैं तथा अदरक, मूली, गीली हल्दी, नीम के फूल आदि अनन्तकाय कहे जाते हैं, इनके सेवन से अल्पफल और बहु विघात होता है अत: इनका त्याग ही कल्याणकारी है।

अनिष्ट - यान, वाहन, गाड़ी, रथ, घोड़ा, अलंकार आदि में 'इतने मुझे इष्ट हैं, रखना हैं, अन्य अनिष्ट हैं' इस प्रकार विचार कर अनिष्ट से निवृत्ति करना चाहिए। क्योंकि जब तक अभिसन्धिपूर्वक (अभिप्राय पूर्वक) वस्तु का त्याग नहीं किया जाता है तब तक वह व्रत नहीं माना जा सकता है।

अनुपसेव्य - जो स्व को इष्ट है परन्तु शिष्ट जनों के लिए उपसेव्य नहीं है, धारण करने योग्य नहीं है, ऐसे विचित्र प्रकार के वस्त्र, विकृतवेष, आभरण आदि अनुपसेव्य पदार्थों का यावज्जीवन अथवा शक्ति अनुसार कुछ समय के लिए त्याग करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

भोगोपभोग में नियम और यम रूप से दो प्रकार का त्याग कहा गया है।

नियम : जिसमें काल की मर्यादा है वह तो नियम कहलाता है। **(र.क.श्रा. ८७)**

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को नियम कहते हैं। **(य.ति.च. ८/४८३)**

आगमोक्त विधि का आचरण करना और आगमविरोधी खोटे आचरण का त्याग करना नियम है। **(नी.वा. १/२३)**

यम - बाह्य और अभ्यन्तर शौच-संतोष, तप, स्वाध्याय और ध्यान को यम कहते हैं। **(य.ति.च. ८/४८३)** जीवन पर्यन्त के लिए जो त्याग किया जाता है वह यम है। **(य.ति.च. ८/३०४)**

५५. प्रश्न : नियम किस विधि से करना चाहिए ?

उत्तर : भोजन, सवारी, शयन, स्नान, कुम्कुमादि लेपन, पुष्प, माला, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार, कामभोग, संगीत और गीत इन विषयों में आज एक दिन अथवा एक रात, एक पक्ष, एक मास अथवा ऋतु (दो मास), अयन (छह मास), वर्ष इस प्रकार काल के विभाग से त्याग करना नियम है। **(र.क.श्रा. ८८-८९)**

५६. प्रश्न : भोगोपभोग परिमाण व्रती को और भी किस-किस का त्याग करना चाहिए ?

उत्तर : जिनेन्द्र भगवान के चरणों की शरण को प्राप्त हुए श्रावकों को द्वीन्द्रियादिक त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए मधु, मांस का त्याग करना चाहिए तथा प्रमाद से बचने के लिए मद्य का त्याग करना चाहिए। मूली, गीला अदरक (उपलक्षण से आलू, घुइयां, गाजर, सकरकंद आदि) मक्खन, नीम के फूल (सभी प्रकार के फूल), केतकी के फूल और इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी अल्पफल और बहुत जीवों का घात होने से छोड़ने के योग्य हैं। जो वस्तु प्रासुक होने पर भी अनिष्ट है अर्थात् उदरशूल आदि का कारण होने से प्रकृति (स्वास्थ्य) के अनुकूल नहीं है उसे छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार गोमूत्र, ऊँटनी का दूध, शंखचूर्ण, पान का उगाल, लार, मूत्र, पुरीष तथा खकार आदि वस्तुएँ अनुपसेव्य हैं। जो शिष्ट मनुष्यों के सेवन करने योग्य नहीं हैं, उन्हें भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि अनिष्टपन और अनुपसेव्य होने के कारण छोड़ने योग्य विषय से अभिप्राय पूर्वक जो निवृत्ति होती है वही व्रत कहलाता है। **(र.क.श्रा. टी. ८४-८६)**

५७. प्रश्न : भोगोपभोग परिमाण व्रत धारण करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : निश्चय करके इन देशव्रती श्रावकों के भोगोपभोग के हेतु से स्थावर जीवों की हिंसा होती है, किन्तु उपवासधारी पुरुष के भोग-उपभोग के त्याग से लेश मात्र भी हिंसा नहीं होती है। जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादा रूप भोगों से तृप्त होकर अधिकतर भोगों को छोड़ देता है उसका बहुत हिंसा के त्याग से उत्तम अहिंसाणुव्रत होता है अर्थात् अहिंसाव्रत का उत्कर्ष होता है। **(पु. सि.उ. १५८-६६)** भोगोपभोग की संख्या नियत कर लेने से मन और इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। मनुष्यों के तृष्णा, क्रोध, लोभ आदि सब विकार वा अन्तरङ्ग शत्रु नष्ट हो जाते हैं। भोगों में संतोष धारण करने से मनुष्यों को संतोषजन्य सुख

प्राप्त होता है, कीर्ति और प्रतिष्ठा बढ़ती है तथा भोगोपभोग की अनेक सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं। ज्ञानी पुरुषों को भोगोपभोगों का परिमाण नियत कर लेने से इस संसार में आनन्द प्राप्त होता है, स्वर्ग-मोक्ष का साधन महाधर्मध्यान प्रगट होता है तथा परलोक में इन्द्र चक्रवर्ती आदि की ऋद्धियाँ और विभूतियाँ प्राप्त होती हैं और तीनों लोकों को क्षोभ उत्पन्न करने वाला तीर्थंकर पद प्राप्त होता है। **(प्र.श्रा. १७/१२६-२९)** जो गृहस्थ संतोष रूपी अमृत को पीकर भोगों की तृष्णा का त्याग कर देते हैं वे जैन शास्त्रों में मुनियों के समान माने जाते हैं। **(प्र. श्रा. १७/१३४)**

५८. प्रश्न : अतिथि संविभाग व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : मोक्षार्थी, संयमपरायण, शुद्धमति अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष आहार देना चाहिए। उस मुनि के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को बढ़ाने वाले पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि धर्मोपकरण भी देने चाहिए। परमश्रद्धा और भक्ति से उन यतियों के लिए योग्य औषधि और वसतिका भी देनी चाहिए। **(रा.वा. २८)**

श्रद्धा आदि गुणों से युक्त जो ज्ञानी श्रावक सदा तीन प्रकार के पात्रों को दान की नौ विधियों के साथ स्वयं दान देता है उसके तीसरा (अतिथि संविभाग) शिक्षाव्रत होता है। यह चार प्रकार का दान सब दानों में श्रेष्ठ है और सब सुखों का तथा सिद्धियों का करने वाला है। **(का. अ. ३६०)**

अपने आने की तिथि का संकेत किये बिना घर आये अतिथि को शक्ति के अनुसार आदर-पूर्वक लोभ रहित होकर विधिपूर्वक भिक्षा, औषधि, उपकरण तथा आवास देना अतिथि संविभागव्रत है। **(प. पु. १४/१९९-२०१)**

५९. प्रश्न : अतिथि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो संयम का नाश न करते हुए विहार करें, उन्हें अतिथि कहते हैं अथवा जिनकी कोई तिथि नियत न हो अर्थात् अनियमित समय में गमन करते हों उन्हें अतिथि कहते हैं। **(चा.सा. ६०)** पाँचों इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में लगना ही पाँच तिथियाँ हैं यत: इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति करना संसार का कारण है। जो उनसे मुक्त हो गया है, उसे अतिथि कहते हैं। **(यश.ति.च. ८/४२१)** जो संयम की वृद्धि के लिए निरन्तर भ्रमण करता रहता है वह अतिथि है। **(हरि. पु. ५८/१५८)**

६०. प्रश्न : अतिथि संविभाग व्रत पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : पात्रदान (अतिथि संविभाग) करने से हिंसा की पर्याय लोभ कषाय का अभाव या विनाश होता है इसलिए दान देना मानों हिंसा से छूटना अथवा अहिंसा का पालन ही है। **(पु.सि.उ. १७२)**

जो दाता पात्रदान की इच्छा रखता हुआ अपने लिए बनाया हुआ आहार मुनि को देता है तथा दु:ख और विषाद (पश्चाताप) से रहित होता है, वही निर्लोभ दाता है और उसके ही अहिंसाव्रत का पालन होता है। **(पु.सि. उ. १७४)**

६१. प्रश्न : सल्लेखना शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर : मरण के समय नि:स्पृह होकर कोई वस्तु मेरी नहीं है और न मैं किसी का हूँ इस प्रकार का निर्ममत्व भाव रखना सल्लेखना शिक्षाव्रत है। **(स.कौ. ७/४२५)** वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रहों को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर जो श्रावक गुरु के समीप मन-वचन-काय से अपनी भले प्रकार आलोचना करके पान (पेय पदार्थ) के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है उसे उपासकाध्ययन सूत्र में सल्लेखना नामका शिक्षाव्रत कहा गया है। **(वसु. श्रा. २७१-२७२)**

६२. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द आगे कहे जाने वाले गृहस्थ धर्म के समुच्चय की अभिव्यक्ति के लिए है। 'च' शब्द से संगृहीत गृहस्थ धर्म क्या है ? 'च' शब्द से गृहस्थ धर्मों में संगृहीत होने वाली सल्लेखना है। **(रा.वा.)**

सल्लेखना

सल्लेखना का लक्षण

मारणान्तिकीं सल्लेखना जोषिता ॥२२॥

(मारणान्तिकीं) मरण के अन्त में होने वाली (सल्लेखना) सल्लेखना को (जोषिता) उत्साह पूर्वक करना चाहिए।

अर्थ - मरण के समय होने वाली सल्लेखना को उत्साह पूर्वक करना चाहिए।

१. प्रश्न : सल्लेखना[१] किसे कहते हैं ?

उत्तर : अच्छी प्रकार से काय और कषाय का लेखन (कृश) करना सल्लेखना है। निष्प्रतिकार उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष होने पर, बुढ़ापा आने पर और मृत्युदायक रोग होने पर धर्मार्थ शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। **(र.क.श्रा. १२२)** बाहरी शरीर और अभ्यन्तर कषायों का उत्तरोत्तर काय और कषाय के पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए भले प्रकार लेखन करना सल्लेखना है। **(सर्वा. ७०५)**

२. प्रश्न : सल्लेखना कब करना चाहिए ?

उत्तर : श्रामण्य धर्म की हानि करने वाली अतिशय वृद्धावस्था आने पर, निष्प्रतिकार देव, मनुष्य व तिर्यञ्चकृत उपसर्ग आ जाने पर, अनुकूल (कषायाभिभूत) शत्रु जब चारित्र का नाश करने को उद्युक्त हो जाय, भयंकर दुष्काल आ पड़ने पर, हिंसक पशुओं से पूर्ण भयानक वन में दिशा भूल जाने पर, कंकर-पत्थर के कारण जहाँ चलना दुष्कर हो, ऐसे जंगल में फँस जाने पर, आँख, कान व जंघा बल अत्यन्त क्षीण

१. संकल्पपूर्वक मरण की तैयारी ही सल्लेखना है।

हो जाने पर तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी तत्सदृश कारणों के होने पर मुनि या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान के योग्य समझे जाते हैं। **(भ.आ.वि. ७०-७३)**

जरा, रोग, इन्द्रिय व शरीर बल की हानि तथा षड़ावश्यक का नाश होने पर सल्लेखना होती है। **(रा.वा. ११)**

श्रेष्ठ मुनियों को किसी निमित्त, शास्त्र आदि के द्वारा अपना मरण निकट जानकर समाधि के लिए शीघ्र उद्यम करना चाहिए। **(मू.प्र. २६४७)** दुर्निवार-भयंकर मरण के निश्चय को जान कर निश्चय बुद्धि वाला धीर पुरुष बांधवों को पूछकर, मोह छोड़कर आगमानुसार सल्लेखना धारण करता है। **(अ.श्रा. ६/९८)**

३. प्रश्न : सल्लेखना कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : सल्लेखना दो प्रकार की होती है-

(१) अभ्यन्तर सल्लेखना (२) बाह्य सल्लेखना। **(भ. आ. २०८)**

(१) भाव सल्लेखना (२) द्रव्य सल्लेखना। **(पं.का. १७३)**

४. प्रश्न : बाह्य एवं अभ्यन्तर सल्लेखना किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाह्य सल्लेखना - बल को बढ़ाने वाले सब रसों को त्याग कर प्राप्त हुए रूखे आहार से कोई एक नियम विशेष लेकर अपने शरीर को क्रम से कृश करता है, वह बाह्य सल्लेखना है।

अभ्यन्तर सल्लेखना - क्रोधादि कषायों को कृश करना अभ्यन्तर सल्लेखना है।

५. प्रश्न : द्रव्य एवं भाव सल्लेखना किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य सल्लेखना - भाव सल्लेखना के लिए कायक्लेश रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है।

भाव सल्लेखना - कषाय रहित अनन्त ज्ञानादि गुण लक्षण परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों को कृश करना भाव सल्लेखना है। **(पं.का. १७३ टी.)**

६. प्रश्न : सल्लेखना में शरीर को किस प्रकार कृश करना चाहिए ?

उत्तर : क्रम से अनशनादि तप को बढ़ाते हुए यतिराज अपने शरीर को कृश कर शरीर सल्लेखना करते हैं। क्रम से आहार कम-कम करते-करते क्षपक अपना देह कृश करता है। प्रतिदिन लिये गये नियम के अनुसार कभी उपवास और कभी वृत्ति परिसंख्यान इस क्रम से तपश्चरण कर क्षपक शरीर कृश करता है। नाना प्रकार के रसवर्जित, अल्प, रूक्ष ऐसे आचाम्ल भोजन से अपने सामर्थ्य के अनुसार क्षपक मुनि देह को कृश करता है। नाना प्रकार के उग्र-नियम ले-लेकर संयम की विराधना न करता हुआ स्वशक्ति अनुसार शरीर को कृश करता है। **(भ.आ.वि. २४८-२५०)** सल्लेखना के समय क्षपक को बेला, तेला

करके वा पन्द्रह दिन वा एक महीने का उपवास करके और भी तपश्चरण के बारह भेदों को धारण करके अनुक्रम से अपने शरीर को कृश करना चाहिए। तदनन्तर उस धर्मबुद्धि को धारण करने वाले यति को धर्म-ध्यान और समाधि की प्राप्ति के लिए थोड़ा-थोड़ा करके अन्न का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और केवल उष्ण जल रख लेना चाहिए। तदनन्तर वह मुनि परलोक में उत्तम गति प्राप्त करने के लिए वा मोक्ष प्राप्त करने के लिए युक्तिपूर्वक जल पीने का भी त्याग कर देता है और फिर सदा के लिए उपवास धारण कर लेता है। **(मू. प्र. २७५५-५७)**

७. प्रश्न : सल्लेखना में कषायों को किस प्रकार कृश किया जाता है ?

उत्तर : क्षपक कषाय की सल्लेखना करता हुआ कहता है कि मैं समस्त जीवों के अपराध को क्षमा करता हूँ। तथा मुझसे जो अपराध बने हों उनको तीनों लोकों के समस्त जीव क्षमा कर देवें। तथा सुख देने वाली मेरी मैत्री जीवों में हो। समस्त गुणों में मेरा अनुराग हो, मैं किसी के साथ बैर भाव नहीं रखता, मैं राग को, कषाय के सम्बन्ध, द्वेष, हर्ष, दीनता रूप परिणामों को, स्नेह को, रति-अरति, जुगुप्सा को तथा और भी कर्मजन्य जो आत्मा के विकार हैं, उन सबका मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक त्याग कर देता हूँ, मैं अपने हृदय में समस्त जीवों के लिए दया धारण करता हूँ, तथा सबसे शत्रुता व मित्रता का त्याग करता हूँ, मैं अपने शरीर से भी ममत्व का सर्वथा त्याग करता हूँ, मैं तीनों लोकों के समस्त पदार्थों में निर्ममत्व धारण करता हूँ। **(मू. प्र. २७३५-४०)**

८. प्रश्न : आचाम्ल, निर्विकृति तथा कांजी आहार किसे कहते हैं ?

उत्तर : आचाम्ल[१] - गर्म कांजी में शुद्धाहार मिलाकर आहार करना आचाम्ल है। **(मू.प्र. १८१४)** उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पाँच दिन के उपवास के बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार आचाम्ल को करते हैं। **(भ. आ. २५३)**

निर्विकृति - दूध, दही आदि पाँचों रसों से रहित नीरस आहार करना निर्विकृति है।

कांजी आहार - भात के मांड को कांजी आहार कहते हैं। **(मू. प्र. १८१५)**

९. प्रश्न : सल्लेखना वाले को कैसा आहार देना चाहिए ?

उत्तर : शरीर सल्लेखना के लिए जो तपों के अनेक विकल्प कहे हैं उनमें आचाम्ल भोजन करना उत्कृष्ट विकल्प है, ऐसा महर्षिगण कहते हैं। दो, तीन, चार, पाँच आदि दिनों के उत्कृष्ट उपवास होने के अनन्तर मित और हल्का ऐसा कांजी भोजन ही क्षपक बहुश: करता है। आचाम्ल से कफ का क्षय होता है, पित्त का उपशम होता है और वात का क्षरण (प्रकोप नहीं) होता है, इसलिए आचाम्ल में प्रयत्न करना

---

१. अम्लं चतुर्थो रस: स एव प्रायेण व्यंजने यत्र भोजने ओदनकुलमाषासक्तुप्रभृतिके तदाचाम्लं। आयंविलमपि तिविहं उक्किट्ठं-जहण्ण-मज्झिम भेदेहिं। तिविहं जं विउलपूवाहं पकप्पए तत्थ ॥१०२॥ मिय-सिंधव-मुंठि-निरीमेही सोवच्चलं च विउलवडे, हिंगुसुगंधिसु पए पकप्पए साध्यं वस्थु ॥१०३॥ **(-अभिधानराजेन्द्र)**

चाहिए। जो आहार कटुक, तिक्त, आम्ल, कषायला, नमकीन, मधुर, विरस, दुर्गन्धयुक्त, अस्वच्छ, उष्ण और शीत नहीं है ऐसा आहार क्षपक को देना चाहिए। जो पेय पदार्थ क्षीणशरीरी क्षपक को दिया जाता है, वह कफ को उत्पन्न करने वाला नहीं होना चाहिए और स्वच्छ होना चाहिए। क्षपक को देने से जो पथ्य-हितकर होगा ऐसा ही पानक देने योग्य है। **(भ. आ. २५२, २५३, ७००, १४८५-८६)**

पानक का सेवन करने वाले क्षपक को पेट के मल की शुद्धि के लिए मांड की तरह मधुर विरेचन पिलाना चाहिए। **(भ. आ. ७०१)**

१०. प्रश्न : क्या सल्लेखना के लिए रत्नत्रय की आराधना अन्त समय में करनी चाहिए ?

उत्तर : मरण समय में रत्नत्रय की विराधना करने वाले विराधक को दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है। परन्तु दीक्षा, शिक्षा काल में विराधना हो गयी हो तो मरणकाल में रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाने से संसार का नाश हो जाता है अत: मरण काल में रत्नत्रय से परिणति करनी चाहिए। ऐसा हमारा अभिप्राय है। परन्तु इतर कालों में की गयी आराधना भी विफल नहीं होती, उससे कर्म का संवर व निर्जरा होती है तथा घाती कर्मों का क्षय करने में निमित्त होगी, ऐसा हम समझते हैं। **(भ.आ.वि. १८)**

पूर्व काल में जिस जीव ने रत्नत्रय की आराधना नहीं की है वह मरण समय उसकी आराधना कर ले ऐसा व्यक्ति स्थाणु के दृष्टान्त को प्राप्त होता है अर्थात् बिल्कुल उस अन्धे व्यक्ति की भाँति है जो कि अकस्मात् स्थाणु से सर टकरा जाने के कारण नेत्रवान हो गया और साथ ही उस स्थाणु की जड़ में पड़े रत्न का लाभ भी जिसे हो गया है। **(भ.आ.वि. २४)**

मरणसमय में रत्नत्रय की सिद्धि के लिए सर्वदा ग्रहणकाल, शिक्षाकाल, प्रतिसेवनाकाल, सल्लेखना काल इन सब कालों में परिकर्म अर्थात् सम्यग्दर्शनादि कारणकलाप-सामग्री की प्राप्ति अवश्य कर लेनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने वाले को मरण समय में सुख पूर्वक आराधना की सिद्धि हो जाती है। जैसे राजपुत्र शस्त्रविद्या का नित्य अभ्यास करता है और उसी से वह युद्ध में उस प्रकार का कर्म करने को समर्थ होता है। इसी प्रकार साधु भी आराधना के योग्य नित्य अभ्यास करता है, इसी से वह जितेन्द्रिय होता हुआ मरण के समय ध्यान करने को समर्थ हो जाता है। **(भ.आ. १८-२१)**

११. प्रश्न : सल्लेखना करने वाला आराधक कैसा होता है ?

उत्तर : जो श्रेष्ठ संस्कारों वाला हो, प्रसन्नहृदय हो, त्यागी हो, क्षमाशील हो, पुरुषार्थी हो, स्व-पर विवेक से सहित हो, शुभ वचन रूपी रत्नों की माला से सुशोभित हो, शूरवीर हो, शीलवान हो, गुणों में स्थिर रुचि रखने वाला हो और अत्यन्त स्वाभिमानी हो, ऐसा भव्य जीव निर्दोष तथा स्वभाव से सुन्दर आराधना रूपी नायिका को सिद्ध कर सकता है। **(आ.सा. १०/५४)**

१२. प्रश्न : कौन आराधना (सल्लेखना) करने के योग्य नहीं होता है ?

उत्तर : जो नष्टबुद्धि हैं, जिनकी आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा रूप संज्ञाएँ

उत्पन्न हुई हैं और जो मायाचार परिणाम से युक्त हैं, वे जीव आर्त्तरौद्र ध्यान रूप असमाधि से भवान्तर को प्राप्त करते हैं। वे कर्मक्षय के करने वाले आराधक नहीं हो सकते हैं। **(मू.आ. ६०)**

१३. प्रश्न : क्या सल्लेखना करने वाले को आत्महत्या का दोष लगता है ?

उत्तर : नहीं, मरण किसी को भी इष्ट नहीं है। जैसे नाना प्रकार की विक्रेय वस्तुओं के देने-लेने और संचय में लगे हुए किसी व्यापारी को अपने घर का नाश होना इष्ट नहीं है, फिर भी परिस्थिति वश उसके विनाश के कारण आ उपस्थित हों तो यथा-शक्ति वह उनको दूर करता है, इतने पर भी यदि वे दूर न हो सकें तो जिससे विक्रेय वस्तुओं का नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है। उसी प्रकार पण्य (बेचने योग्य) स्थानीय व्रत और शील के संचय में जुटा हुआ गृहस्थ भी उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जायें तो जिससे अपने गुणों में बाधा नहीं पड़े, इस प्रकार उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हों तो जिससे अपने गुणों का नाश न हो इस प्रकार प्रयत्न करता है। इसलिए इसके आत्मघात नाम का दोष कैसे हो सकता है! **(सर्वा. ७०५)**

सल्लेखनाधारी के जीवन और मरण दोनों में आसक्ति नहीं है। जिस प्रकार तपस्वी शीत-उष्ण जन्य सुख-दु:ख आदि को नहीं चाहता और यदि बिना चाहे सुख-दु:ख आदि आ जाते हैं तो वह राग-द्वेष का अभाव होने से सुख-दु:ख कृत कर्मों का बन्धक भी नहीं होता, उसी प्रकार अर्हत्प्रणीत सल्लेखना को करने वाला व्रती जीवन और मरण दोनों के प्रति अनासक्त रहता है परन्तु यदि मरण के कारण उपस्थित हो जाते हैं तो राग-द्वेष आदि न होने से उसे आत्मवध का दोष नहीं लगता है। **(रा.वा. ९)**

अथवा - प्रमाद का अभाव होने से सल्लेखना में आत्मघात का दोष नहीं लगता है क्योंकि राग-द्वेष, मोह आदि से कलुषित व्यक्ति शस्त्रादि से अभिप्राय पूर्वक अपना घात करता है तब आत्मघात का दोष लगता है परन्तु सल्लेखनाधारी के राग-द्वेष आदि कलुषताएँ नहीं हैं अत: उसके आत्मवध के दोष का स्पर्श भी नहीं है। **(रा.वा. ७)**

अथवा - स्वसमय का विरोध आता है। जैसे- सभी पदार्थ क्षणिक हैं इस प्रकार कहने वाले क्षणिकवादी के यहाँ स्वसमय विरोध है। इसी प्रकार सब मतों में जानना चाहिए। **(रा.वा. १०)**

१४. प्रश्न : मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्व आयु, इन्द्रिय और बल का क्षय होना मरण है। स्वकीय परिणामों से गृहीत आयु आदि प्राणों का कारणवश क्षय होने को बुद्धिमान मरण मानते हैं। **(रा.वा. १)** आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना गया है। **(ध. १/२३५)** मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये एकार्थवाचक हैं। **अथवा** प्राणों के परित्याग का नाम मरण है। अन्य आयु का उदय आने पर पूर्व आयु का विनाश होना मरण है। **(भ.आ.वि. २५)**

अथवा - अनुभूयमान आयु नामक पुद्गल का आत्मा से विनष्ट होना मरण है।

१५. प्रश्न : मरण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : मरण **सत्रह** प्रकार का होता है-

(१) आवीचि मरण (२) तद्भव मरण (३) अवधिमरण (४) आद्यन्त मरण (५) बाल मरण (६) पण्डित मरण (७) अवसन्न मरण (८) बाल पंडित मरण (९) ससल्ल मरण (१०) बलाय मरण (११) वासट्ट मरण (१२) विप्पाणस मरण (१३) गिद्ध पुट्ठ मरण (१४) भक्त प्रत्याख्यान मरण (१५) प्रायोपगमन मरण (१६) इंगिनी मरण (१७) केवलीमरण। **(भ.आ.वि. २५)**

मरण संक्षेप से **पाँच** प्रकार के होते हैं-

(१) पण्डित-पण्डित मरण (२) पण्डित मरण (३) बाल पण्डित मरण (४) बाल मरण (५) बाल-बाल मरण। **(म.क. २९)**

मरण **तीन** प्रकार के होते हैं-

(१) बाल जीवों का मरण (२) बाल पण्डितों का मरण (३) पण्डित मरण। **(मू. ५९)**

मरण **दो** प्रकार के होते हैं-

(१) नित्य मरण (२) तद्भव मरण। (रा.वा. १२)

१६. प्रश्न : आवीचि आदि मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : (१) आवीचिमरण - प्रतिक्षण आयु के एक-एक निषेक का उदय में आकर समाप्त होना आवीचिमरण है।

(२) तद्भवमरण - वर्तमान आयु का समाप्त होना अर्थात् मरण कर अन्य भव में चले जाना तद्भवमरण है।

(३) अवधिमरण - इस वर्तमान पर्याय का जैसा मरण हुआ वैसा आगामी पर्याय का होना, जितनी और जो आयु वर्तमान में भोग रहा है, उतनी वैसी आयु आगे के भव में भी होना अवधिमरण है।

(४) आद्यन्तमरण - वर्त्तमान की आयु के समान आगे की पर्याय में आयु नहीं होना, विभिन्न प्रकार होना आद्यन्तमरण है।

(५) बाल मरण - पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान वाले जीवों के मरण को बालमरण कहते हैं।

(६) पण्डितमरण - छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान वालों के मरण को पण्डित मरण कहते हैं।

(७) ओसण्ण मरण - पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनियों के मरण को ओसण्ण मरण कहते हैं।

(८) बालपण्डित मरण - पंचम गुणस्थान वालों के मरण को बालपण्डित मरण कहते हैं।

(९) सशल्य मरण - निदान आदि शल्ययुक्त जीवों के मरण को सशल्य मरण कहते हैं।

(१०) बलाका मरण - विनय, गुप्ति, समिति, ध्यान, शुभभाव आदि से रहित होकर मुनियों का जो मरण होता है वह बलाका मरण है।

(११) वोसट्ट मरण - इन्द्रिय आदि के आधीन होकर मरण करना वोसट्टमरण है।

(१२) विप्पाणस मरण - भयंकर उपसर्ग आदि से अथवा अन्य किसी कारण से संयम में दोष नहीं लग जाय, मैं ऐसी वेदना सहन नहीं कर सकता और नहीं सहा जाय तो चारित्र में दूषण उपस्थित होगा ऐसी स्थिति में अर्हन्त के निकट आलोचना करके श्वासनिरोध द्वारा कोई मुनिराज मरण करे तो उसे विप्पाणस मरण कहते हैं।

(१३) गिद्धपिट्ठमरण - उपर्युक्त कारणों के होने पर जो मुनि शस्त्र द्वारा प्राणत्याग करते हैं उसे गिद्धपिट्ठमरण कहते हैं।

(१४) भक्त प्रत्याख्यानमरण - काय और कषाय को कृश करके विधिपूर्वक संन्यास धारण कर मरना भक्त प्रत्याख्यान मरण है।

(१५) इंगिनीमरण - जिसमें मुनि अपनी सेवा दूसरों से नहीं कराते, स्वयं करते हुए आहारत्याग पूर्वक प्राण छोड़ देते हैं, वह इंगिनी मरण है।

(१६) प्रायोपगमन मरण - आहार त्याग कर वन में अकेले रहकर काष्ठ के समान शरीर का त्याग कर ध्यान में लीन रहते हुए प्राणत्याग करना प्रायोपगमन मरण है।

(१७) केवली मरण - चौदहवें गुणस्थान में अर्हन्तदेव का निर्वाण होना केवली मरण है। **(भ.आ.के आधार से)**

१७. प्रश्न : पण्डित-पण्डित मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षीणकषाय केवली भगवान पण्डित-पण्डित मरण करते हैं। **(भ.आ. २७)** केवली भगवान जो अपने शरीर को छोड़कर मोक्ष के लिए गमन करते हैं, वह तीनों लोकों में उत्तम और वन्दनीय पण्डित-पण्डित मरण कहलाता है। **(मू.प्र. २६९०)**

१८. प्रश्न : पण्डित-मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यवहार में, सम्यक्त्व में, ज्ञान में और चारित्र में पण्डित के मरण को पण्डित मरण कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र में पाण्डित्य के प्रकर्ष से रहित जिसका पाण्डित्य होता है उसे पण्डित कहते हैं। **(भ.आ.वि. २६)**

१९. प्रश्न : पण्डित कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : पण्डित चार प्रकार के होते हैं-

(१) व्यवहार पण्डित (२) सम्यक्त्व पण्डित (३) चारित्र पण्डित (४) ज्ञान पण्डित।

व्यवहार पण्डित - लोक, वेद, समय इनके व्यवहार में जो निपुण हैं वे व्यवहार पण्डित हैं। अथवा - जो अनेक शास्त्रों के जानकार तथा शुश्रूषा, श्रवण, धारणा आदि बुद्धि के गुणों से युक्त हैं उनको व्यवहार पण्डित कहते हैं।

सम्यक्त्व पण्डित - क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शन से जीव दर्शनपण्डित होता है।

ज्ञान पण्डित - मति आदि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान से जो परिणत हैं उनको ज्ञानपण्डित कहते हैं।

चारित्र पण्डित - सामायिक, छेदोपस्थापना आदि पाँच प्रकार के चारित्र में से किसी में प्रवृत्ति करने वाले को चारित्र पण्डित कहते हैं। **(भ.आ.वि. २५)**

२०. प्रश्न : पण्डित मरण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : पण्डित मरण तीन प्रकार का होता है-

(१) भक्त प्रतिज्ञामरण (२) इंगिनी मरण (३) प्रायोपगमन मरण। **(म.क. ३२)**

(१) भक्त प्रत्याख्यान मरण (२) इंगिनी मरण (३) प्रायोपगमन मरण। **(भ.आ.वि. २८)**

२१. प्रश्न : भक्त प्रत्याख्यान मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस संन्यास में अपने और दूसरे दोनों के द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्त प्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं। **(ध. १/२५)**

इस मरण में मुनि संघ से अपनी वैयावृत्य कराता है या स्वयं करता है। **(भ.आ.वि. २०५४)**

भक्त शब्द का अर्थ आहार है और प्रतिज्ञा शब्द का अर्थ त्याग होता है। उस आहार का त्याग करके मरण करना भक्त प्रत्याख्यान है। यद्यपि आहार का त्याग इतर दोनों मरणों में भी होता है, तो भी इस लक्षण का प्रयोग रूढ़िवश मरण विशेष में ही कहा गया है। **(भ.आ.वि. २८)**

२२. प्रश्न : भक्त प्रत्याख्यान मरण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : भक्त प्रतिज्ञा मरण दो प्रकार का होता है-

(१) सविचार भक्त प्रतिज्ञामरण (२) अविचार भक्त प्रतिज्ञामरण। **(म. क. ७०)**

२३. प्रश्न : सविचार भक्त प्रतिज्ञा मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : (नाना प्रकार से चारित्र पालना, चारित्र में विहार करना विचार है) इस विचार के अर्हं, लिंग, आदि चालीस अधिकारों का वर्णन है। उस विचार के साथ जो वर्तता है वह सविचार है। जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह व बलयुक्त है और जिसका मरण काल सहसा उपस्थित नहीं हुआ है अर्थात् जिसका मरण दीर्घकाल के अनन्तर प्राप्त होगा ऐसे साधु के मरण को सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। **(भ.आ.वि. ६४)**

जिसकी आयु अभी दीर्घकालीन है उसके सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण होता है। इस मरण की विवक्षा करने के इच्छुक बुद्धिमान पुरुष को ४० सूत्रों को मरणकण्डिका से जानना चाहिए। **(म.क. ७०-७१)**

२४. प्रश्न : अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसकी आयु अत्यल्प है उसके अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण होता है। **(म. क. ७०)** वीर्यधारी योगी मुनि के अकस्मात् जिसका रोकना कठिन है, ऐसे मरण के उपस्थित हो जाने पर चेष्टा रहित, शक्ति रहित उस साधु के अविचार भक्त प्रत्याख्यान नाम का समाधिमरण होता है। **(म.क. २०८४)**

जो उन अर्हं, लिंगादि रूप विचार के विकल्पों के साथ नहीं वर्तता सो अविचार है। जिसको सामर्थ्य नहीं है और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित हुआ है ऐसे पराक्रमरहित साधु के मरण को अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। **(भ.आ.वि. ६४)**

पराक्रम रहित मुनि को सहसा मरण उपस्थित होने पर अविचार भक्त-प्रत्याख्यान करना योग्य है। **(भ.आ.मू. २००५)**

२५. प्रश्न : अविचार भक्त प्रत्याख्यान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अविचार भक्त प्रत्याख्यान तीन प्रकार का है-

(१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर (३) परम निरुद्ध। **(भ.आ. २००६)**

२६. प्रश्न : निरुद्ध अविचार प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : रोगों से पीड़ित होने के कारण जिसका जंघाबल क्षीण हो गया है और जो परगण में जाने को समर्थ नहीं है, वह मुनि निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान करता है। निरुद्ध नाम के अविचार भक्त प्रतिज्ञा को करने वाला मुनि जब तक बल और वीर्य हैं तब तक अपनी आवश्यक क्रियायें एवं शारीरिक क्रियायें स्वयं करता है, और जब बल रहित होता है तब संघ के द्वारा उपकृत होकर संघ की सहायता लेकर उक्त क्रियायें करता है। इस तरह अपने संघ में रह कर जो समाधिमरण किया जाता है वह निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहलाता है। इसमें जो क्रम सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण में कहा है, वही सर्व क्रम होता है। **(म.क. २०८६-८८)**

२७. प्रश्न : निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण दो प्रकार का है-

(१) प्रकाश (२) अप्रकाश।

प्रकाश - जो जनता द्वारा जाना जाय वह प्रकाश अविचार भक्त त्याग कहलाता है। **(म.क. २०९०)**

क्षपक के मनोबल अर्थात् धैर्य, क्षेत्र, काल उसके बान्धव आदि कारणों का विचार करके क्षपक के उस निरुद्ध विचार भक्त प्रत्याख्यान को प्रगट करते हैं अर्थात् अनुकूल कारणों के होने पर तो वह मरण प्रगट कर दिया जाता है।

अप्रकाश - यदि क्षुधादि परीषहों को सहन करने में समर्थ नहीं है या वसति एकांत में नहीं है, या अति रूक्ष (ग्रीष्मादि) काल है, या परिवार के लोग विघ्न कर रहे हों तो उस समाधि को प्रगट नहीं करना चाहिए। **(भ.आ. २०१०-११)**

जो जनता द्वारा ज्ञात नहीं है उसे अप्रकाश भक्तत्यागमरण समझना चाहिए। **(म.क. २०८९)**

२८. प्रश्न : निरुद्धतर भक्त प्रत्याख्यान मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जल, अग्नि, विष, जंगली क्रूर पशु आदि के द्वारा घोर उपसर्ग उपस्थित होने पर तथा सन्निपात रोग, तीव्र शूल रोग आदि के होने पर तत्काल मरण का प्रसंग प्राप्त होता है **अथवा** ये जलादि उपसर्ग एवं शूल आदि रोग शीघ्र जीवन को हर लेते हैं, जैसे- सूर्य किरणें अंधकार को हर लेती हैं। इन जलादि के उपसर्ग उपस्थित होने पर एवं सन्निपात आदि रोगों के उपस्थित होने पर मुनिजन जब तक बोलने की शक्ति नष्ट नहीं होती जब तक इन्द्रियों में श्रवण आदि की शक्ति समाप्त नहीं होती, चेष्टा नष्ट नहीं होती उक्त तीव्र कष्ट वेदना के कारण अपना धैर्य बल तथा हेय-उपादेय का विचार करने की बुद्धि समाप्त नहीं होती, तब तक ही उक्त वेदना आदि से अपनी आयु क्षीण होती देखकर धीर-वीर मुनिराज गुरु के निकट आलोचना करके शरीर का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार अपने संघ में स्थित रहकर मरण के उक्त कारणों के अकस्मात् उपस्थित होने पर सल्लेखना ग्रहण की जाती है उसे प्राज्ञजन निरुद्धतर भक्त त्याग मरण कहते हैं। इसमें शेष विधि पूर्व के समान है। **(म.क. २०९१-९४)**

सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्च्छा, तीव्र शूल-रोग इत्यादि से तत्काल मरण का प्रसंग प्राप्त होने पर जब तक वचन व कायबल शेष रहता है और जब तक तीव्र वेदना से चित्त आकुलित नहीं होता तब तक आयुष्य को प्रतिक्षण क्षीण होता जानकर शीघ्र ही अपने गण के आचार्य आदि के पास अपने पूर्ण दोषों की आलोचना करनी चाहिए। इस प्रकार निरुद्धतर नाम के दूसरे अविचार भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप है। **(भ.आ.वि. २०१२-१४)**

२९. प्रश्न : निरुद्धतम भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब व्याधि वा क्रूर पशु-पक्षियों द्वारा एवं विष आदि के द्वारा वाणी आदि की शक्ति समाप्तप्राय: होने लगती है तब निर्मल बुद्धि वाले मुनिराज के निरुद्धतम अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण होता है। जिसको रोकना अशक्य है ऐसी भयानक वेदना अपने जीवन को हरण करती देखकर धीर साधु जिनेन्द्र आदि के समक्ष अर्थात् अपने मन में जिनेन्द्र देव को विराजमान कर शीघ्र ही दोषों की आलोचना करता है। जो आराधना विधि पहले विस्तार से श्रुतपारगामी आचार्यों द्वारा कही गयी है वह विधि इस निरुद्धतम अविचार भक्त त्याग में होती है। **(म.क. २०९५-९७)** व्याघ्रादि उपर्युक्त कारणों से पीड़ित साधु के शरीर का बल और वचन बल यदि क्षीण हो जाय तो परमनिरुद्ध नाम का मरण प्राप्त होता है।

३०. प्रश्न : भक्त प्रत्याख्यानमरण का काल कितना है ?

उत्तर : भक्त प्रत्याख्यान मरण का उत्कृष्ट काल जिनेन्द्र भगवान ने बारह वर्ष कहा है। **(भ.आ. २५४)**

भक्त प्रत्याख्यान विधि तीन प्रकार की है-

(१) जघन्य (२) मध्यम (३) उत्कृष्ट।

जघन्य का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है।

इन दोनों के अन्तरालवर्ती सर्व काल प्रमाण मध्यम भक्त प्रत्याख्यान है। **(ध. १/२४)**

३१. प्रश्न : बारह वर्ष की सल्लेखना का काल किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए ?

उत्तर : बारह वर्ष के काल को व्यतीत करने के लिए-

प्रथम चार वर्ष अनेक प्रकार के कायक्लेशों द्वारा बितावे।

आगे के चार वर्षों में दूध, दही, घी, गुड़ आदि रसों का त्याग कर शरीर को कृश करे।

दो वर्ष तक आचाम्ल व निर्विकृति भोजन ग्रहण करे।

एक वर्ष तक केवल आचाम्ल भोजन ग्रहण कर रहता है।

छह महीने तक मध्यम तपों द्वारा शरीर को क्षीण करता है।

अन्तिम छह माह में उत्कृष्ट तपों द्वारा शरीर क्षीण करता है। **(भ.आ. २५५-५६)**

३२. प्रश्न : भक्त प्रत्याख्यान किस आचार्य के चरणों में करना चाहिए ?

उत्तर : जो समस्त भव्य जीवों का हित करने में तत्पर हों, पंचाचार-पालन करने में तत्पर हों, सर्वश्रेष्ठ हों, आगम में कुशल हों, बुद्धिमान हों, कभी क्षुब्ध न होते हों, परमार्थ के ज्ञाता हों, जो किसी मुनि के द्वारा आलोचना किये हुए दोषों को कभी प्रगट नहीं करते हों, और जो सर्वोत्तम हों, ऐसे उत्तम

आचार्य को अपनी समाधि के लिए निर्यापक बनाना चाहिए। **(भ.आ. के आधार से)**

जो संसार से भयभीत है, जो पापकर्मभीरु है और जिसको जिनागम का सर्वस्वरूप मालूम है, ऐसे आचार्य के चरण मूल में वह क्षपक समाधिमरणोद्यमी होकर आराधना (सल्लेखना) की सिद्धि करता है। **(भ.आ.के आधार से)**

(१) आचारवान (२) आधारवान (३) व्यवहारवान (४) कर्त्ता (५) आयापायदर्शनोद्यत और (६) उत्पीलक होता है, इसके अतिरिक्त वह अपरिस्रावी निर्वापक, प्रसिद्धकीर्त्तिमान और निर्यापन गुणों से पूर्ण होना चाहिए। **(भ.आ. ४१९-२०)**

जो आचार्य स्वयं पंचाचार में तत्पर रहते हैं, जो अपनी सब चेष्टाएँ समितियों के अनुसार ही करते हैं वे क्षपक को निर्दोष तथा पंचाचार में प्रवृत्ति करा सकते हैं (इसलिए गुणों में प्रवृत्त होने वाले दोषों से रहित ऐसे आचार्य निर्यापक समझने चाहिए।) **(म. क. ४४०)**

३३. प्रश्न : यदि उपर्युक्त गुणों से युक्त आचार्य न मिलें तो क्या सल्लेखना नहीं करना चाहिए?

उत्तर : यदि उपर्युक्त सर्व आचारवत्व आदि गुणों के धारक आचार्य या उपाध्याय प्राप्त न हों तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि वा बालाचार्य यत्न से व्रतों में प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधने के लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं। जिन गुणों का ऊपर वर्णन किया है ऐसे ही गुणी मुनि निर्यापक होते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल का विचित्र परिवर्तन हुआ करता है इसलिए कालानुसार प्राणियों के गुणों में भी जघन्यता मध्यमता और उत्कृष्टता आती है। जिस समय जैसे शोभन गुणों का होना सम्भव रहता है उस समय वैसे गुणधारक मुनि को निर्यापक व परिचारक समझकर ग्रहण करना चाहिए। **(भ.आ. ६२९, ६६९)**

३४. प्रश्न : योग्य निर्यापक का अन्वेषण कितने दिन तक करना चाहिए ?

उत्तर : जिसको समाधिमरण की इच्छा है ऐसा मुनि पाँच सौ, छह सौ, सात सौ अथवा इससे भी अधिक योजन तक विहारकर शास्त्रोक्त नियपिक की शोध करता है। वह एक, दो, तीन वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक खेदयुक्त न होता हुआ जिनागम से निर्णीत निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है। निर्यापक की शोध करने के लिए विहार करने से क्षपक को आचारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणों का प्रकाशन होता है, आत्मा की शुद्धि होती है, संक्लेश परिणाम नष्ट होते हैं, आर्जव, मार्दव, लाघव, सन्तुष्टि, आह्लाद आदि गुण प्रगट होते हैं। **(भ.आ. ४०३-४, ४११)**

३५. प्रश्न : सल्लेखना के समय कितने निर्यापक होते हैं ?

उत्तर : योग्यायोग्य आहार को जानने में कुशल, क्षपक के चित्त का समाधान करने वाले प्रायश्चित्त ग्रन्थ के रहस्य को जानने वाले आगमज्ञ, स्व व पर का उपकार करने में तत्पर निर्यापक या

परिचारक उत्कृष्टत: अड़तालीस होते हैं। संक्लेश परिणाम युक्त काल में वे चार तक भी होते हैं और अतिशय संक्लिष्ट काल में दो निर्यापक भी क्षपक के कार्य को साध सकते हैं। परन्तु जिनागम में एक निर्यापक का किसी भी काल में उल्लेख नहीं है। यदि एक ही निर्यापक होगा तो उसमें आत्मत्याग, क्षपक का त्याग और प्रवचन का भी त्याग हो जाता है। एक निर्यापक से दु:ख उत्पन्न होता है और रत्नत्रय में एकाग्रता के बिना मरण हो जाता है। धर्मदूषण और दुर्गति भी होती है। **(भ.आ.वि. ६४७, ६७१, ७३)** जिनेश्वर के मार्ग में मुनियों की सल्लेखना के समय बयालीस आचार्यों द्वारा, जिसका नाम उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है (वह) दिया जाने के कारण देहत्याग व्यवहार से धर्म है। **(नि.सा. ९२)**

नोट : निर्यापकों के कार्य देखें **(भ. आ.)**

३६. प्रश्न : सल्लेखना (भक्त प्रत्याख्यान) के समय कितने प्रतिक्रमण किये जाते हैं ?

उत्तर : आराधना में तीन ही प्रतिक्रमण कहे गये हैं-

(१) सर्वातिचार प्रतिक्रमण (२) त्रिविध आहार त्याग प्रतिक्रमण (३) उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।

सर्वातिचार प्रतिक्रमण - दीक्षा काल का आश्रय लेकर आज तक जो भी दोष हुए हैं उन्हें सर्वातिचार कहा गया है। सल्लेखना ग्रहण करके क्षपक पहले यह सर्वातिचार प्रतिक्रमण करता है।

त्रिविध आहार त्याग प्रतिक्रमण - तीन प्रकार के आहार का त्याग करना द्वितीय प्रतिक्रमण है।

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण - अन्त में यावज्जीवन मोक्ष के लिए पानक वस्तु का भी त्याग कर देना उत्तमार्थ नामक प्रतिक्रमण कहलाता है।

और भी प्रतिक्रमण हैं-

योग प्रतिक्रमण - तीन प्रकार के योगों का निग्रह करना योग प्रतिक्रमण है।

इन्द्रिय प्रतिक्रमण - पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना इन्द्रिय प्रतिक्रमण है।

शरीर प्रतिक्रमण - पाँच प्रकार के शरीर का त्याग करना अथवा उन्हें कृश करना शरीर प्रतिक्रमण है।

कषाय प्रतिक्रमण - सोलह भेद रूप कषायों और नव नोकषायों का निग्रह करना, उन्हें कृश करना, यह कषाय प्रतिक्रमण है। **(मू.आ. १२०)**

३७. प्रश्न : समाधि के समय निर्यापक की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : जिस प्रकार रत्न और स्वर्ण से भरी हुई तथा नगर के समीप पहुँची हुई कोई नाव बिना मल्लाहों के अपने प्रमाद से ही समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी अमूल्य रत्नों से भरी हुई और मोक्षरूपी द्वीप के समीप पहुँची हुई क्षपक रूपी नाव बिना निर्यापकाचार्य के अपने प्रमाद से ही संसार रूपी समुद्र में डूब जाती है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है इसलिए

बुद्धिमान मुनियों को समाधिमरण धारण करने के लिए निर्यापकाचार्य अवश्य तलाश कर लेना चाहिए ? **(मू. प्र. २६५३-५५)**

३८. प्रश्न : चारित्रहीन निर्यापक का आश्रय लेने से क्या हानि है ?

उत्तर : पंचाचार से भ्रष्ट आचार्य क्षपक को वसतिका, उपकरण, संस्तर, भक्तपान, उद्गमादि दोष सहित देगा। वह वैराग्य रहित मुनियों को उनकी शुश्रूषा करने के लिए नियुक्त करेगा, जिससे क्षपक का आत्महित होना अशक्य है, वह क्षपक की सल्लेखना को लोक में प्रकट कर देगा, उसके लिए लोगों से पुष्पादि लाने को कहेगा, उसके सामने परिणामों को बिगाड़ने वाली कथाएँ कहेगा अथवा योग्यायोग्य का विचार किये बिना कुछ भी बकने लगेगा। वह न तो क्षपक को रत्नत्रय में करने योग्य उपदेश देगा और न उसको रत्नत्रय से च्युत होने से रोक सकेगा। उसके निमित्त पट्टकशाला, पूजा, विमान आदि के अनेक आरम्भ लोगों से करायेगा, इसलिए ऐसे आचार्य के सहवास में क्षपक का हित होना शक्य नहीं है। **(भ.आ. ४२५-२८)**

३९. प्रश्न : योग्य निर्यापक के चरणों में समाधि लेने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो आचार्य सूत्रार्थज्ञ है उसके पादमूल में जो क्षपक समाधि के लिए रहेगा उसको अनेक गुणों की प्राप्ति होगी-

(१) उसके संक्लेश परिणाम नहीं होते, न ही रत्नत्रय में कोई बाधा होती है। इसलिए आधार गुणयुक्त आचार्य का आश्रय लेना ही क्षपक के लिए योग्य है।

(२) रोग से ग्रसित क्षपक आचार्य के द्वारा की गयी सेवा-शुश्रूषा से सुखी होता है, इसलिए प्रकुर्वी गुण के धारक आचार्य के पास ही रहना श्रेयस्कर है।

(३) निर्यापकाचार्य की वाणी धैर्य उत्पन्न कराती है, वह आत्मा के हित का वर्णन करती है, मधुर और कर्णाह्लादक होती है। यदि ऐसी वाणी का प्रयोग न करें तो क्षपक आराधना का त्याग करेगा, इस प्रकार से क्षपक का मन आह्लादित करने वाले आचार्य निर्यापक होते हैं। **(भ.आ. ४६०, ५०७)**

४०. प्रश्न : सल्लेखना (भक्तप्रत्याख्यान) कहाँ करनी चाहिए ?

उत्तर : सर्वप्रथम गुरु से पूछ कर मन-वचन-काय की शुद्धता से युक्तिपूर्वक वचनों से समस्त मुनियों से क्षमा मांगनी चाहिए एवं अपने मन में सबको क्षमा करके अपना मोह नाश करने के लिए दो-तीन मुनियों को साथ लेकर तथा अपने गण का त्याग कर समाधि धारण करने के लिए वहाँ से चल देना चाहिए। फिर अनुक्रम से चलकर किसी परगण में विराजमान प्रसिद्ध आचार्य के समीप पहुँचना चाहिए और उन आचार्य की अच्छी तरह परीक्षा कर तथा उनको नमस्कार कर अपना कार्य निवेदन करना चाहिए। **(मू.प्र. २६४८-५०)**

४१. प्रश्न : स्वगण में सल्लेखना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : स्वगण में रहने से आज्ञालोप, कठोरवचन, कलह, दु:ख, विषाद, खेद आदि निर्भयता स्नेह, कारुण्य, ध्यानविघ्न और असमाधि ये दोष उत्पन्न होते हैं। **(भ.आ. ३८७)**

मुनियों को अंतिम समय में अपने गण में प्रवेश नहीं करना चाहिए। उस समय अपने गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह में प्रवेश करना अच्छा है क्योंकि विवाह में भी राग की उत्पत्ति होती है और अपने गण में भी राग की उत्पत्ति होती है। **(मू.प्र. २६०१)**

४२. प्रश्न : परगण में समाधि करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जिस प्रकार मिट्टी और जल के अभाव में बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता तथा बिना अंकुर के वह न बढ़ सकता है और न उस पर फल लग सकते हैं उसी प्रकार शिष्य आदि की संगति से उत्पन्न हुए राग-द्वेष के अभाव से परगण में मुनियों को कर्म और कषायों की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। **(मू.प्र. २६०३-४)**

४३. प्रश्न : भक्त प्रत्याख्यान का फल क्या है ?

उत्तर : इस प्रकार उपर्युक्त भक्त प्रत्याख्यान की उत्कृष्ट आराधना का पालन कर मुनिराज केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। सम्पूर्ण कर्मक्लेश से मुक्त होकर लोकाग्रशिखरवासी सिद्ध परमेष्ठी होते हैं। उसी भक्त प्रत्याख्यान की मध्यम आराधना का पालन कर शरीर का त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेश्या को धारण कर अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेश्या के स्वामी बनकर अनुत्तरवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पालने में पूर्ण दक्ष, उत्कृष्ट तप-ध्यान आदि नियमों के धारक, ईर्यापथ आस्रव को जिन्होंने प्राप्त किया है अर्थात् कल्पवासी देवत्व की प्राप्ति योग्य शुभास्रव को जो प्राप्त हो गये हैं ऐसे मुनिराज 'लवसत्तम' देव होते हैं। अर्थात् मरकर नवग्रैवेयक, अनुदिश विमान में रहने वाले देव हो जाते हैं।

तेजो लेश्या के धारक ऐसे क्षपक की भक्त प्रत्याख्यान आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना के आराधक क्षपक सौधर्मादिक स्वर्गों में देव होते हैं। इन देवों से हीनदेवों में इनका जन्म नहीं होता है। **(भ.आ. १९२३-३४)**

४४. प्रश्न : इंगिनीमरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : इस मरण में मुनिराज दूसरों से वैयावृत्य नहीं कराते हैं तथा आहार-पानी आदि का त्याग करके एकाकी, वन में शरीर का त्याग करके कदाचित् उठना, बैठना, चलना, फैलाना, संकोचना, सोना आदि अपनी टहल स्वयं करते हैं, दूसरे से नहीं करवाते हैं, कदाचित् बिना करवाये कोई करे तो आप मौन रखते हैं। **(भ.आ. २०५८)**

जो योगी अपने आत्मा के इशारे से आत्मा के अभिप्राय के अनुसार अपने मरण को सिद्ध कर लेते हैं उसे इंगिनी मरण कहते हैं। **(मू.प्र. २६८६)**

४५. प्रश्न : इंगिनी मरण के योग्य कौन होता है ?

उत्तर : जो व्यक्ति जिनदीक्षा के योग्य है, योग्य साधु वेष जिसने धारण किया है, जिसने जैन आगम का भली प्रकार से अभ्यास किया है, विनयी और शांत है, दीक्षा के अनन्तर जिसने अपने संघ को रत्नत्रय की साधना में निष्पन्न किया है, इंगिनीमरण को प्राप्त करने की जिसकी इच्छा है, परिणामों की निर्मलता की श्रेणी में जो स्थित है, तपो भावना, श्रुत-भावना आदि श्रेष्ठ भावना से भावित है मन जिसका एवं काय और कषायों को जिसने कृश किया है वही इंगिनी मरण के योग्य होता है। **(म.क. २१०४-५)**

४६. प्रश्न : इंगिनीमरण की विधि क्या है ?

उत्तर : सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान इसकी भी विधि समझनी चाहिए।

(१) अपने गण को साधु आचरण के योग्य बनाकर इंगिनीमरण साधने के लिए परिणत होता हुआ पूर्व दोषों की आलोचना करता है।

(२) संघ का त्याग करने के पहले अपने स्थान पर दूसरे आचार्य को स्थापित करता है और बाल वृद्ध आदि सभी गण से क्षमा के लिए प्रार्थना करता है।

(३) स्वगण से निकल कर अन्दर बाहर के समान ऊँचे और ठोस स्थंडिल का आश्रय लेता है वह स्थंडिल निर्जन्तुक पृथिवी वा शिलामय होना चाहिए।

(४) ग्रामादि से याचना करके लाये हुए तृण उस पूर्वोक्त स्थंडिल पर यत्नपूर्वक बिछाकर संस्तर तैयार करे जिसका सिराहना पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रखे।

(५) तत्पश्चात् अर्हन्त आदिकों के समीप रत्नत्रय में लगे दोषों की आलोचना कर रत्नत्रय को शुद्ध करे।

(६) सम्पूर्ण आहारों के विकल्पों का तथा बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का यावज्जीवन त्याग करे।

(७) कायोत्सर्ग से खड़े होकर या बैठकर या लेटकर एक करवट से पड़े हुए वे मुनिराज स्वयं अपने शरीर की क्रिया करते हैं।

(८) जगत् के सभी पुद्गल दु:ख रूप या सुखरूप परिणमित होकर उनको दु:खी-सुखी करने को उद्यत होवें तो भी उनका मन ध्यान से च्युत नहीं होता है।

(९) वे मुनि वाचना आदि स्वाध्याय का त्याग कर सूत्रार्थ का अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं।

(१०) इस प्रकार आठों पहरों में निद्रा का त्याग करके एकाग्र मन से तत्त्वों का विचार करते हैं। यदि बलात् निद्रा आ गयी तो निद्रा लेते हैं।

(११) स्वाध्याय काल और शुद्धि आदि क्रियाएँ उनको नहीं हैं, श्मशान में भी ध्यान कर सकते हैं।

(१२) यथाकाल षड़ावश्यक कर्म नियमित रूप से करते हैं।

(१३) सूर्योदय व सूर्यास्त में प्रयत्नपूर्वक उपकरणों की प्रतिलेखना करते हैं।

(१४) पैरों में काँटा चुभने और नेत्र में रजकण पड़ जाने पर वे स्वयं नहीं निकालते और दूसरा निकाले तो मौन धारण करते हैं।

(१५) तप के प्रभाव से प्रगट वैक्रियिक आदि ऋद्धियों का उपयोग नहीं करते हैं।

(१६) रोगादि का प्रतिकार नहीं करते हैं तथा मौन पूर्वक रहते हैं। **(भ.आ. २०२७-५३)**

४७. प्रश्न : इंगिनी मरण करने वाले की कौनसी गति होती है ?

उत्तर : इंगिनी नाम के समाधिमरण में चार प्रकार की आराधना को करने वाले उन बुद्धिमान मुनियों में से कोई तो मोक्ष को प्राप्त करते हैं और कोई वैमानिक देव होते हैं। यह इंगिनीमरण स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों को देने वाला है, निर्मल है, कषायों का नाश करने में कुशल है। जो योगिराज विघ्नरहित इस मरण को पूजते हैं वे अजर-अमर सिद्ध होते हैं। **(म.क. २१३२-३३)**

४८. प्रश्न : प्रायोपगमन मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : इस मरण में मुनिराज स्वयं की वैयावृत्य स्वयं भी नहीं करते और दूसरों से भी नहीं कराते हैं। सूखे काष्ठ के समान या मृतक के समान काय की सर्वक्रियाओं का यावज्जीवन त्याग करके धर्मध्यान सहित मरण करते हैं। वह प्रायोपगमन मरण है। **(भ.आ. २०५८)** जो धीर-वीर एकाकी मुनि पाप रूपी मनुष्यों के स्थान को छोड़कर प्राय: निर्जन वन में चले जाते हैं और अपने शरीर को किसी एक ही निश्चल आसन से विराजमान कर उस शरीर का त्याग कर देते हैं उसे प्रायोपगमन मरण कहते हैं। **(मू.प्र. २६८७-८८)**

४९. प्रश्न : प्रायोपगमन मरण को किन-किन नामों से कहा जाता है ?

उत्तर : प्रायोपगमन मरण को अनेक नामों से कहा जाता है-

(१) प्रायोपवेशन (२) प्रायेणोपगम (३) प्रायेणापगम (४) प्रायोपगमन।

प्रायोपवेशन - चूँकि इस संन्यास में तपस्वी साधु रत्नत्रय रूपी शय्या पर उपविष्ट होता है, बैठता है इसलिए इसका प्रायोपवेशन नाम सार्थक है।

प्रायेणोपगम - इस संन्यास में अधिकतर रत्नत्रय की प्राप्ति होती है इसलिए इसे प्रायेणोपगम भी कहते हैं।

प्रायेणापगम - इस संन्यास को धारण करने पर अधिकतर कर्म रूपी शत्रुओं का अपगम-नाश हो जाता है, इसलिए इसे प्रायेणापगम भी कहते हैं।

प्रायोपगमन - उस विषय के जानकार उत्तम मुनियों ने इस संन्यास का एक नाम प्रायोपगमन भी बतलाया है और उसका अर्थ यह कहा है कि जिसमें प्राय: करके संसारी जीवों के रहने योग्य नगर, ग्राम आदि से हटकर किसी वन में जाना पड़े उसे प्रायोपगमन कहते हैं। **(म.पु. ११/९५-९७)**

५०. प्रश्न : प्रायोपगमन मरण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : प्रायोपगमन मरण दो प्रकार का है-

(१) नीहार (२) अनीहार।

नीहार - निश्चय से यद्यपि यह मरण अनीहार (अचल) है परन्तु उपसर्ग की अपेक्षा इसको चल भी माना जाता है। उपसर्ग के वश होने पर अर्थात् किसी देव आदि के द्वारा उठाकर अन्यत्र ले जाये जाने पर स्वस्थान के अतिरिक्त यदि अन्यस्थान में मरण होता है तो उसको नीहार प्रायोपगम मरण कहते हैं।

अनीहार - जो उपसर्ग के अभाव में स्वस्थान में ही होता है उसको अनीहार कहते हैं। **(भ.आ. २०६२-६४)**

५१. प्रश्न : प्रायोपगमन मरण किस विधि से होता है ?

उत्तर : इसकी विधि इंगिनी-मरण के समान ही है लेकिन कुछ विशेषताएँ हैं-

(१) इसमें तृण का निषेध है, क्योंकि यहाँ स्व व पर दोनों के प्रयोग (शुश्रूषा) आदि का निषेध है।

(२) ये मुनि अपने मूत्र व विष्ठा तक का भी निराकरण न स्वयं करते हैं और न अन्य से कराते हैं।

(३) सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति व त्रस जीवनिकायों में यदि किसी ने उनको फेंक दिया तो वे शरीर से ममत्व छोड़कर अपनी आयु समाप्ति होने तक वहीं निश्चल पड़े रहते हैं।

(४) यदि कोई उनका अभिषेक करे या गंध, पुष्पादि से उनकी पूजा करे तो वे न उनके ऊपर क्रोध करते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न ही उनका निराकरण करते हैं।

(५) जिसके ऊपर मुनि ने अपना कोई अंग रख दिया है, उस पर से यावज्जीवन वे उस अंग को नहीं हिलाते हैं। **(भ.आ. २०५८-६२)**

५२. प्रश्न : प्रायोपगमनमरण के योग्य कौन होता है ?

उत्तर : कषाय और काय की कृशता को जिसने साध लिया है ऐसा योगी इस मरण को करता है, इस कारण से इसमें मलमूत्र भी नहीं करता है।

५३. प्रश्न : बालपण्डित मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : बारह व्रतों को पालने वाला गृहस्थ सहसा मरण आने पर, जीवित की आशा न रहने पर अथवा बन्धुओं ने जिसको दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दी है, ऐसे प्रसंग में शरीर सल्लेखना और कषाय सल्लेखना न करके भी आलोचना कर नि:शल्य होकर घर में ही संस्तर पर आरोहण करता है। ऐसे गृहस्थ की मृत्यु को बालपण्डितमरण कहते हैं। **(भ.आ.वि. २०७७)**

संयतासंयत जीव बालपण्डित कहलाते हैं क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के वध से विरत न होने से ये बाल हैं और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के वध से विरत होने से पण्डित हैं इसलिए इनका मरण भी बाल पण्डित मरण है। **(मू. ५९)**

सूक्ष्म रूप से पाँच पापों में प्रवृत्ति करने के कारण बाल कहलाता है तथा त्रस जीवों की रक्षा करते हैं, स्थूल मिथ्याभाषण का त्याग करते हैं इस प्रकार से स्थूल रीति से पाँच पापों का त्याग कर देते हैं इसीलिये वे पण्डित कहलाते हैं इस प्रकार वे श्रावक बाल-पण्डित कहलाते हैं। उन अणुव्रत पालन करने वाले सम्यग्दृष्टि श्रावकों का जो मरण है उसे बाल पण्डित-मरण कहते हैं। **(मू.प्र. २६८३-८४)**

५४. प्रश्न : बाल कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : बाल पाँच प्रकार के होते हैं-

(१) अव्यक्त बाल (२) व्यवहार बाल (३) ज्ञान बाल (४) दर्शन बाल (५) चारित्र बाल।

(१) अव्यक्त बाल - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को नहीं जानता है तथा उनका आचरण करने में जिसका शरीर असमर्थ है, वह अव्यक्त बाल है।

(२) व्यवहार बाल - लोकव्यवहार, वेद का ज्ञान, शास्त्रज्ञान जिसको नहीं है वह व्यवहार बाल है।

(३) दर्शन बाल - तत्त्वार्थ श्रद्धान रहित मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन बाल हैं।

(४) ज्ञान बाल - जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान जिनको नहीं है वे ज्ञान बाल हैं।

(५) चारित्र बाल - चारित्रहीन प्राणी को चारित्र बाल कहते हैं। **(भ.आ.वि. २५)**

५५. प्रश्न : बाल-बाल मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित मिथ्यादृष्टियों की जो मृत्यु होती है उसको बाल-बाल मरण कहते हैं। **(मू.प्र. २६८१)** मिथ्यात्व कर्म के उदय से जिनका चित्त संक्लिष्ट है ऐसे कुबुद्धि, नष्ट बुद्धि वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के बाल-बाल मरण होता है। **(म.क. ३)** जिस जीव ने जिनेन्द्रवचन की श्रद्धा नहीं की है उस जीव ने अतीत काल में अनेक बार बाल-बाल मरण किये हैं। **(म.क. ४५)**

५६. प्रश्न : कौन-कौन से मरण बाल-बाल मरण में गर्भित हैं ?

उत्तर : जो शस्त्र से अपना मरण स्वयं करते हैं या किसी के द्वारा तलवार आदि से जिनका मरण हो जाता है, यहाँ 'शस्त्रग्रहण' शब्द से स्वयं शस्त्र से आत्मघात करना या शस्त्र के द्वारा मारा जाना दोनों विवक्षित हैं। अत: यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया है। विष-मरण कराने वाली वस्तु का भक्षण कर लेना, अग्नि में जलकर मरना, जल में प्रवेश कर उच्छ्वास के रुक जाने से प्राणों का त्याग करना, पाप क्रिया वही हुआ भाण्ड द्रव्य उसका सेवन करके मरना अर्थात् पापप्रवृत्ति करके मरना। **अथवा -** पापी जीवों का जो मरण है वह अनाचार भांडसेवी मरण है। ये मरण जन्म-मरण की परम्परा को करने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि ये सभी मरण संसार के कारण हैं और पापक्रिया रूप हैं अत: ये बालमरण कहलाते हैं। **अथवा** अनाचार-सेवन करने रूप ये मरण संसार के ही हेतु हैं। ये सदाचारी जीव के नहीं होते हैं। यहाँ बालमरण शब्द से बाल-बाल मरण को ही ग्रहण करना चाहिए। **(मू.आ. ७४)**

५७. प्रश्न : किस-किस मरण को किस-किस नाम से कहा जाता है ?

उत्तर : नरकगति व भवनत्रिक देवगति हीन है, अत एव वहाँ से निकलने के लिए उद्वर्तन अर्थात् उद्धार होना कहा है।

तिर्यञ्च - मनुष्य गतियाँ सामान्य हैं, अतएव उनसे निकलने के लिए 'काल करना' शब्द का प्रयोग किया है।

सौधर्मादिक विमानवासी देवों की गति उत्तम है, अतएव वहाँ से निकलने के लिए च्युत होना शब्द का प्रयोग किया गया है।

जहाँ देवगति सामान्य से निकलने का उल्लेख किया गया है वहाँ भवनत्रिक व सौधर्मादिक दोनों की अपेक्षा करके उद्वर्तित और च्युत इन दोनों शब्दों का ग्रहण किया है। **(ध. ६/४७७-७८)**

५८. प्रश्न : सल्लेखना का अलग से कथन क्यों किया है ?

उत्तर : सल्लेखना का अलग कथन करने के कारण-

(१) सभी व्रती सल्लेखना के सम्मुख नहीं होते हैं, यह दिग्व्रत आदि के समान अनिवार्य नहीं है।

(२) घर का त्याग करने वाले के लिए यह उपदेश है, घर का त्याग कर देने पर उस गृहस्थ के श्रावक व्रत रूप से ही सल्लेखना होती है। इस विशेष अर्थ को प्रगट करने के लिए अलग-अलग सूत्र किये हैं।

(३) यह सल्लेखना अणुव्रती के ही नहीं होती है अपितु महाव्रती साधु के भी होती है। इन तीन अर्थों का विशेष प्ररूपण करने के लिए पूर्व सूत्र के साथ एक योग नहीं करके अलग से सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. १२-१४)**

५९. प्रश्न : श्रावकों के लिए भक्त प्रत्याख्यान की विधि क्या है ?

उत्तर : स्नेह, वैर, परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ (श्रावक) प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और चाकरों (नौकरादि) से भी क्षमा करावे और आप भी सबको क्षमा करे। छल-कपट रहित और कृत-कारित-अनुमोदना सहित किये हुए समस्त पापों की आलोचना करके मरण पर्यन्त रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करे। शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता और अरति त्याग करके तथा अपने बल और उत्साह को प्रगट करके संसार के दु:ख रूपी संताप को दूर करने वाले अमृत रूप शास्त्रों के श्रवण से मन को प्रसन्न करे। क्रम-क्रम से आहार को छोड़कर पान (दुग्ध-छाछ आदि) बढ़ावे और बाद में उसे भी छोड़कर कांजी और गरम पानी को बढ़ावे। तत्पश्चात् उष्ण जलपान का भी त्याग करके और शक्ति-अनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मंत्र को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़े। **(र.क.श्रा. टी. १२४-२८)।**

६०. प्रश्न : सल्लेखना करने वाला कहाँ जाता है ?

उत्तर : सल्लेखना करने वाले स्वर्गों में अनुत्तर भोग-भोगकर वहाँ से चयकर उत्तम मनुष्यभव में जन्म धारण कर सम्पूर्ण ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं। पीछे वे जिनधर्म अर्थात् मुनि धर्म व तप आदि का पालन करते हैं। शुक्ल लेश्या की प्राप्ति कर वे आराधक शुक्लध्यान से संसार का नाश करते हैं और कर्म रूपी कवच को फोड़कर सम्पूर्ण क्लेशों का नाश कर मुक्त होते हैं। **(भ.आ.वि. १९३६-३९)** पिया है धर्म रूपी अमृत जिसने ऐसा सल्लेखनाधारी जीव समस्त प्रकार के दु:खों से रहित होता हुआ, अपार दुस्तर और उत्कृष्ट उदय वाले मोक्ष रूपी सुख के समुद्र का पान करता है। **(र.क.श्रा. १३०)**

इस गृहस्थ धर्म का पालन कर जो समाधिपूर्वक मरण करता है, वह उत्तम देव-पर्याय को प्राप्त होता है, और वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्यत्व प्राप्त करता है। **(प. पु. १४/२०३)**

६१. प्रश्न : सल्लेखना करने वाले के अधिक-से-अधिक कितने भव शेष रहते हैं ?

उत्तर : जो यति एक भव में समाधिमरण से मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसार में भ्रमण नहीं करता।[१] उसकी सात-आठ भव धारण करने के बाद अवश्य मुक्ति होती है। **(मू.आ. ११८)**

बालपण्डितमरण से मरण करने वाला श्रावक उत्कृष्टता से सात भवों में नियम से सिद्ध होता है। **(भ.आ. २०८०-८१)**

जो चार प्रकार की इस आराधना को उत्कृष्ट रूप से आराधता है वह उसी भव में मुक्त होता है, जो मध्यम रूप से आराधता है वह तृतीय भव से मुक्त होता है और जो जघन्य रूप से आराधता है वह सातवें भव में सिद्ध होता है। **(भ.आ. २१५४-५६)**

ऐसा जीव अधिक-से-अधिक आठ भवों में रत्नत्रय का पालन कर अन्त में निर्ग्रन्थ हो सिद्ध पद

१. जो विवेकी गृहस्थ निदान, मिथ्यात्व और कषायरहित होकर संन्यासविधि करता है, वह मनुष्यों और देवों के सुखों को भोग कर त्रिगुणित सात (३×७)=२१ भवों में मुक्ति प्राप्त कर लेता है। (ध.प.)

को प्राप्त होता है। **(प.पु. १४/२०४)**

सल्लेखना करने वाला उत्कृष्ट से दो-तीन भव ग्रहण करता है अर्थात् दो-तीन भव तक संसार में रहता है और जघन्य से सात-आठ भव ग्रहण करता है। **(पा.प्रति)**

६२. प्रश्न : किस गुणस्थान में कौनसा मरण होता है?

उत्तर : बाल-बाल मरण प्रथम एवं दूसरे गुणस्थान में, बालमरण-चौथे में, बालपण्डितमरण - पंचम में, पण्डित मरण - छठे से ग्यारहवें तक और पण्डित-पण्डितमरण - चौदहवें गुणस्थान में।

दूसरे गुणस्थान में यद्यपि मिथ्यात्व नहीं है तथापि अनन्तानुबन्धी कषायजन्य अध्यवसाय जीवित है अत: वहाँ बाल-बाल मरण है। तीसरे, बारहवें एवं तेरहवें गुणस्थान में मरण नहीं होता है।

६३. प्रश्न : सूत्र में सेविता न कह कर जोषिता क्यों कहा है ?

उत्तर : सूत्र में प्रीति अर्थ के लिए 'जोषिता' कहा है अर्थात् सल्लेखना के प्रति अन्तरंग में प्रीति नहीं होने पर बलात् (जबरन) सल्लेखना नहीं कराई जा सकती है अत: 'प्रीति पूर्वक सेवन करना' इस अर्थ को ग्रहण करने के लिए सूत्र में सेविता न कह कर 'जोषिता' कहा है। **(रा.वा. ४)**

सम्यग्दर्शन के अतिचार

सम्यग्दर्शन के अतिचार

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा: सम्यग्दृष्टेरतिचारा: ॥२३॥

शंका-कांक्षा-विचिकित्सा-अन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवा: सम्यग्दृष्टे: अतिचारा:। (शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टि-प्रशंसासंस्तवा:) शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि- प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव ये **(सम्यग्दृष्टे:)** सम्यग्दर्शन के **(अतिचारा:)** अतिचार हैं।

अर्थ - शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

शंका - जिनोपदिष्ट तत्त्वों में शंका करना शंका अतिचार है।

कांक्षा - सांसारिक भोगों की वांछा करना कांक्षा अतिचार है।

विचिकित्सा - मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा है।

अन्यदृष्टिप्रशंसा - मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान, चारित्रादि की मन से प्रशंसा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है।

अन्यदृष्टिसंस्तव - मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान, चारित्रादि की वचन से प्रशंसा करना अन्यदृष्टि-संस्तव है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यह सम्यग्दर्शन निरपवाद है या सापवाद ? मोहनीय कर्म की अवस्था विशेष से किसी किसी के सापवाद सम्यग्दर्शन भी होता है। सम्यग्दर्शन के वे अपवाद (अतिचार) कौन-कौन से हैं उन्हें बताने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. २३)**

२. प्रश्न : सम्यग्दर्शन के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं-[१]

(१) तत्त्व में शंका करना (२) संसार के भोगों की वाञ्छा करना (३) मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना (४) मन से मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना (५) वचन से मिथ्यादृष्टियों की संस्तुति करना। **(रा.वा. १)**

(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) परदृष्टि प्रशंसा (५) अनायतन सेवा।

(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) परदृष्टि प्रशंसा (५) प्रत्यक्ष ही उदार मनुष्यों में दोषादि लगाना। **(प. पु. १०५/२१२)**

सम्यग्दर्शन के आठ अतिचार हैं-

(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) मूढ़दृष्टि (५) अनुपगूहन (६) अस्थितीकरण (७) अवात्सल्य (८) अप्रभावना। **(हरि. ५८/१६२)**

(१) तत्त्वों में शंका करना (२) साधना के फलस्वरूप किसी अभ्युदय की आकांक्षा करना (३) विवेक को नष्ट होने देना (४) दूसरों के सदोष सिद्धान्तों की अनावश्यक प्रशंसा करना (५) अनायतन सेवन। **(व.चा. ३१/७०)**

३. प्रश्न : शंका अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'मैं अकेला हूँ, तीन लोक में मेरा कोई नहीं है', इस प्रकार बुखार व गलगण्ड आदि रोग समूह के आक्रमण से होने वाली मृत्यु से भयभीत होने को शंका कहते हैं। अथवा - यह तत्त्व है या अतत्त्व है ? यह व्रत है या यह व्रत है ? यह देव है या यह देव है, इस प्रकार के संशय को शंका कहते हैं। ऐसी

---

१. (१) अस्थिर मन से सन्मार्ग का आराधन करना **शंका** दोष है। इसके होने पर मनुष्य सन्मार्ग में अधिक समय तक लगा नहीं रह सकता है। (२) सन्मार्ग का आराधन करके भी इन्द्रियों का ही पोषण चाहना **कांक्षा** दोष है। इससे समय पर मांसाशनादि जैसे कामों में भी प्रवृत्त हो सकता है। (३) सन्मार्गानुयायी जनों से नफरत करना **विचिकित्सा** दोष है जिससे सन्मार्ग को छोड़कर उन्मार्गगामी बन सकता है। (४)-(५) उन्मार्गगामियों की मन से सराहना और वचन से उनकी तारीफ करना भी दूषण है। ऐसा करने से उन्मार्ग को प्रोत्साहन मिलता है।
ये पाँचों सम्यग्दर्शन के दोष है, अतिचार हैं।

शंकित चित्तवृत्ति वाले सम्यग्दृष्टि का सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं होता और न उसे अभिलषित वस्तु प्राप्त होती है जैसे नपुंसक मानवको अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं होती है। **(य.ति.च. ६/१५०-५२)**

४. प्रश्न : विचिकित्सा दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैन तीर्थंकरों द्वारा कहा गया यह उग्र तप सत्यता का मन्दिर न होने से प्रशंसनीय नहीं है एवं यह तप रूपी वस्तु सदोष है इस प्रकार के मानसिक अभिप्राय को विचिकित्सा (दोष) कहते हैं। **(य.ति.च. ६/१६९)**

५. प्रश्न : यदि जुगुप्सा अतिचार है तो मिथ्यात्वादि में जुगुप्सा करना भी अतिचार हो जायेगा ?

उत्तर : यहाँ (भी) नियत विषय में जुगुप्सा को अतिचार रूप से माना है। रत्नत्रय में, रत्नत्रय में से किसी एक में अथवा रत्नत्रय के धारी में कोप आदि के निमित्त से होने वाली जुगुप्सा का यहाँ ग्रहण है। अत: उसका दर्शन या ज्ञान या चारित्र अच्छा नहीं है। जिसकी जहाँ यह श्रद्धा होती है कि यह श्रेष्ठ नहीं है वह उसकी जुगुप्सा करता है अत: रत्नत्रय के माहात्म्य में अरुचि होना अतिचार है। **(भ.आ.वि. ४३)**

६. प्रश्न : यदि कांक्षा अतिचार है तो सम्यग्दृष्टि और श्रावक के भोजन आदि की प्रमत्त संयत मुनिराज के परिषहादि आने पर खान-पान की तथा भव्य जीव के मोक्ष की आकांक्षा होती है वह सम्यग्दर्शन का अतिचार कहलाएगी ?

उत्तर : कांक्षा मात्र अतिचार नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन से, व्रत धारण से, देवपूजा से, तप से उत्पन्न हुए पुण्य से मुझे अमुक कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रुविनाश अथवा सातिशय स्त्रीपना, पुरुषपना प्राप्त हो, इस प्रकार की कांक्षा करना सम्यग्दर्शन का अतिचार है। **(भ.आ.वि. ४३)**

७. प्रश्न : सम्यक्त्व होने पर अतिचार लगना उचित है लेकिन शंका अतिचार कैसे हो सकता है क्योंकि संशय तो मिथ्यात्व के भेदों में गिना है ?

उत्तर : संशय के होने पर भी सम्यग्दर्शन रहता है अत: उसको अतिचार कहना उचित है। श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष न होने से, उपदेष्टा के अभाव से अथवा उसके वचनों की निपुणता न होने से या निर्णयकारी शास्त्र-वचन के प्राप्त न होने से अथवा काललब्धि के अभाव से यदि किसी विषय का निर्णय नहीं होता है, तथापि ''इसे सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही मैं श्रद्धान करता हूँ'' ऐसी भावना करने वाले के सम्यग्दर्शन का अभाव कैसे हो सकता है। **(भ.आ.वि. ४३)**

८. प्रश्न : प्रशंसा और संस्तव में क्या अन्तर है ?

उत्तर : मन और वचन के विशेष से प्रशंसा और संस्तव में भेद है। मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान-चारित्रादि गुणों का मन से अभिनन्दन करना प्रशंसा है तथा वचनों से मिथ्यादृष्टियों के विद्यमान एवं अविद्यमान गुणों का उद्भावन, कथन करना संस्तवन है, यह इन दोनों में भेद हैं। **(रा.वा. १)**

९. प्रश्न : सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, अत: आठ अतिचार क्यों नहीं कहे ?

उत्तर : यद्यपि सम्यग्दर्शन के आठ अंग बताये हैं और उनके प्रतिपक्षी दोष भी आठ हो सकते हैं, परन्तु इन पाँचों में ही सबका अन्तर्भाव हो जाता है। पाँच व्रतों एवं सात शीलों में पाँच-पाँच अतिचार कहने की इच्छा वाले आचार्य महाराज ने प्रशंसा और संस्तव में शेष का अन्तर्भाव होने से सम्यग्दर्शन के भी पाँच ही अतिचार कहे हैं, इसमें कोई दोष नहीं है। **(रा.वा. ४)**

१०. प्रश्न : सम्यग्दर्शन में अतिचार किस कारण लगते हैं ?

उत्तर : दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान से विचलित होने पर सम्यग्दर्शन में अतिचार लगते हैं। **(रा.वा. ३)**

११. प्रश्न : सूत्र में 'सम्यग्दृष्टे:' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : यद्यपि यहाँ पर अगारी का प्रकरण है और आगे भी अगारी का प्रकरण रहेगा तथापि इस सूत्र में अगारी गृहस्थ सम्यग्दृष्टि के अतिचार नहीं बताये हैं क्योंकि यहाँ सम्यग्दृष्टि का ग्रहण उभय (गृहस्थ एवं मुनि) अर्थ के लिए है। अर्थात् ये अतिचार गृहस्थ सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि मुनि दोनों के हैं। **(रा.वा.२)**

व्रतों के अतिचार

व्रत और शील के अतिचार

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥

(व्रतशीलेषु) व्रत और शीलों में (यथाक्रमं) क्रमश: (पञ्च-पञ्च) पाँच-पाँच अतिचार लगते हैं।

अर्थ - पाँच व्रतों और सात शीलों के क्रमश: पाँच-पाँच अतिचार हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यहाँ कोई कहता है कि व्रत और शील रूपी पत्तों से अञ्चित (व्याप्त) जिन-धर्म रूपी कमल की कर्णिका के आकार स्वरूप सम्यग्दर्शन के अगार और अनगार में साधारण शंका आदि अतिचारों का कथन किया। अब व्रतों और शीलों के अतिचारों की गणना करनी चाहिए। अत: अब गृहीत व्रतों और शीलों के अतिचारों की इयत्ता को इस सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(रा.वा. उ. २४)**

सम्यग्दर्शन के अतिचार कहे, क्या इसी प्रकार व्रत और शीलों के भी अतिचार होते हैं ? हाँ, यह कहकर अब उन अतिचारों की संख्या का निर्देश करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ७०८)**

२. प्रश्न : व्रतों में दोष कितने प्रकार से लगते हैं ?

उत्तर : प्रत्येक व्रत के दोष पाँच/चार प्रकार से लगते हैं-

(१) अतिक्रम (२) व्यतिक्रम (३) अतिचार (४) अनाचार (५) आभोग।

(१) अतिक्रम (२) व्यतिक्रम (३) अतिचार (४) अनाचार। **(प्रा. चू. १४६ टी.)**

३. प्रश्न : अतिक्रम आदि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अतिक्रम आदि के लिए दृष्टान्त कहते हैं-

एक बूढ़े बैल के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है। कोई बूढ़ा बैल धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देखकर उसकी बाड़ के समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन में इच्छा करता है यह **अतिक्रम** दोष है। पुन: वह बैठा-बैठा ही बाड़ के किसी छिद्र से भीतर मुख डालकर एक ग्रास धान्य खाने की अभिलाषा करे तो वह **व्यतिक्रम** दोष है। अपने स्थान से उठकर और खेत की बाड़ को तोड़कर भीतर घुसने का प्रयत्न करना **अतिचार** नामका दोष है। पुन: खेत में घुसकर एक ग्रास घास खाता है और निकल आता है तो वह उसका **अनाचार** नामका दोष है और खेत के स्वामी द्वारा डण्डों से पीटे जाने पर भी घास खाना नहीं छोड़ता है तो आभोग नामका दोष है। जिस प्रकार अतिक्रमादि दोषों को बूढ़े बैल पर घटाया गया है, उसी प्रकार से व्रतों पर भी घटित कर लेना चाहिए। **(प्रा.चू. १४६ टी.)**

अतिक्रम - मन सम्बन्धी शुद्धि की हानि को अतिक्रम कहते हैं।

व्यतिक्रम - शील रूपी बाड़ का उल्लंघन करना व्यतिक्रम है।

अतिचार - पाँचों इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति अतिचार है।

अनाचार - पाँच इन्द्रियों के विषयों में अति आसक्तता होना अनाचार है। **(द्वा.त्रि. ९)**

जैसे - संयत समूह के मध्य में रहते हुए भी जो विषयों की आकांक्षा होती है वह अतिक्रम, संयत के समुदाय को छोड़कर विषयों के उपकरण का अर्जन करने वाले संयत के व्यतिक्रम, व्रतों में शिथिलता होना या किंचित् रूप से असंयम का सेवन करना अतिचार और व्रतों का भंग होना या सर्वथा स्वेच्छा से प्रवर्त्तन करना अनाचार है। **(मू. १०२८ आ.)**

४. प्रश्न : सूत्र में शील पद का ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि व्रत पद के ग्रहण से उसकी सिद्धि होती है।

उत्तर : सूत्र में शील पद का ग्रहण करना निष्फल नहीं है, क्योंकि विशेष का ज्ञान कराने के लिए और व्रतों की रक्षा करने के लिए शील है इसलिए यहाँ शील पद के ग्रहण करने से दिग्विरति आदि लिये जाते हैं। **(सर्वा. ७०९)**

यद्यपि दिग्विरति आदि शील की अभिसन्धिपूर्वक निवृत्ति होने से व्रत ही हैं तथापि ये शील विशेष रूप से व्रतों के परिरक्षण के लिए होते हैं अत: 'शील' शब्द इस विशेष अर्थ का द्योतन करने के लिए है तथा शील के ग्रहण से दिग्विरति आदि का ग्रहण होता है अत: इनका पृथक् शील शब्द से निर्देश किया है। **(रा.वा. १)**

५. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि आगे कहे गये अतिचार गृहस्थों के व्रतों के हैं ?

उत्तर : यद्यपि इस सूत्र में गृहस्थ और मुनि आदि विशेषण नहीं है तथापि आगे कहे जाने वाले वध, बन्धन, छेद आदि वचन के सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि ये अतिचार गृहस्थों के व्रतों के हैं अत: आगे के अतिचार के सामर्थ्य से यहाँ गृहस्थ के व्रतों का ग्रहण होता है क्योंकि 'वधबन्ध.....' आदि गृहस्थों के ही व्रतों के अतिचार हो सकते हैं, अनगार के नहीं। **(रा.वा. २)**

६. प्रश्न : सूत्र में 'पञ्च' शब्द द्वित्व क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'पञ्च' शब्द का वीप्सा अर्थ में दो बार ग्रहण किया है। इसका प्रयोजन यह है कि जो भिन्न-भिन्न निर्देश में व्रत-शील कहे गये हैं, वे प्रत्येक पाँच अतिचार सहित हैं। **(श्लो. ६/६२८)**

यद्यपि सूत्र में लाघव के लिए 'शष्' प्रत्यय करके पञ्चश: शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता था तथापि अर्थ को स्पष्ट करने के लिए (प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार हैं, सभी के नहीं) पञ्च शब्द का द्वित्व निर्देश किया है। **(रा.वा. ३)**

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधा: ।।२५ ।।

बन्ध-वध-छेद-अतिभार-आरोपण-अन्नपान-निरोधा: ।

अर्थ - बन्ध, वध, छेद, अतिभार लादना और अन्नपाननिरोध ये अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : कोई कहता है कि यदि एक-एक व्रत और शील के पाँच-पाँच अतिचार हैं तो सर्व प्रथम कथित अहिंसाणुव्रत के अतिचार कौन-कौन से हैं, उनको कहना चाहिए। जिनकी निवृत्ति होने पर अहिंसाणुव्रत निर्दोष होता है, अत: अहिंसाणुव्रत के अतिचार कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २५)**

२. प्रश्न : अहिंसाणुव्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : (१) बन्ध (२) वध (३) छेद (४) अतिभारारोपण (५) अन्नपाननिरोध।

अतिभारारोपण - अत्यन्त लोभ के कारण बैल आदि पर उचित भार से अधिक भार लादना अतिभारारोपण है।

अन्नपाननिरोध - गाय, भैंस, नौकर आदि को समय पर भोजन-पानी आदि नहीं देना अन्नपाननिरोध है। **(र.क.श्रा. ५४ टी.)**

(१) प्रमाण से अधिक भार लादना (२) घात - लाठी से मारना। (३) छेद - कान नासिका आदि अंग छेदना (४) अन्न-जल का रोकना। (५) बन्ध - वांछित स्थान पर नहीं जाने देना। **(अ.श्रा. ७/३)**

छेदना, बाँधना, पीड़ा देना, अधिक भार लादना, आहार का रोकना अथवा आहार बचाकर रखना ये पाँच अतिचार हैं। **(र. क. श्रा. ५४)**

३. प्रश्न : बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : इच्छित देश में जाने के उत्सुक के लिए उस गमन के प्रतिबन्ध के हेतु खूँटे आदि में रस्सी से इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्ट देश में गमन न कर सके वह बन्ध कहलाता है। इच्छित स्थान पर जाने से रोकने के लिए रस्सी आदि से बाँधना बन्ध है। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : वध किसे कहते हैं ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'वध' शब्द का अर्थ डण्डा, कोड़ा, बेंत आदि से पीटना है न कि प्राणिहत्या क्योंकि प्राणिहत्या से विरक्ति तो व्रत धारणकाल में ही हो चुकी है। **(रा.वा. २)**

डण्डे, कोड़े आदि से पीटना वध है।

५. प्रश्न : अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार किस युक्ति से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : आगम और अनुमान प्रमाण से इनकी सिद्धि होती है। अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार आगम परम्परा से चले आ रहे हैं क्योंकि ये क्रोध, लोभ-आदि कषाय भावों से उत्पन्न होते हैं और वे क्रोधादि अहिंसा व्रत के मल हैं। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि के अतिचारों का निरूपण करते हुए मालिन्य हेतुत्वात् (मलिनता हेतु देकर) कहकर पूर्व में अनुमान प्रयोग से सिद्ध किया है उसी प्रकार यहाँ भी मलिनता का हेतु होने से ये अतिचार सिद्ध हैं। **(श्लो. ६/६२९)**

६. प्रश्न : इनको अतिचार क्यों कहा गया है?

उत्तर : शक्ति से अधिक भार लादने और कठिन लम्बा रास्ता पार कराने से आयु पूर्ण होने से पहले ही पशु की मृत्यु हो सकती है अर्थात् वह अकाल में ही मरण को प्राप्त हो सकता है। अत: पशुओं पर उनकी क्षमता के अनुसार ही बोझा लादना चाहिए तथा उन्हें अल्प समय तक ही कम दूरी तक ही चलाना चाहिए। जैनाचार्यों ने अहिंसाव्रत के अतिचारों में अतिभारारोपण अतिचार बताया है। अत: दयालु व्यक्ति को शक्ति के बाहर बोझा-भार नहीं लादना चाहिए। अधिक तेज चाल से भी नहीं चलाना चाहिए। **(नी.वा. ८/१०)**

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्रभेदाः ॥२६॥

मिथ्या-उपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमंत्रभेदाः।

अर्थ - मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद, ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

१. प्रश्न : सत्याणुव्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : (१) मिथ्योपदेश (२) रहोभ्याख्यान (३) कूटलेखक्रिया (४) न्यासापहार (५) साकारमंत्रभेद। **(रा.वा.)**

(१) परिवाद (२) रहोभ्याख्यान (३) पैशुन्य (४) कूटलेखकरण (५) न्यासापहार। **(र.क.श्रा.५६)**

(१) न्यासापहार (२) परमंत्रभेद (३) मिथ्योपदेश (४) परकूटलेख (५) दूसरे की गुप्त चेष्टाओं को प्रकाशित करना। **(अ. श्रा. ७/४)**

२. प्रश्न : मिथ्योपदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर : अभ्युदय (स्वर्ग) और नि:श्रेयसार्थक (मोक्ष) क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति कर देना या उनके प्रति विपरीत बात कहना मिथ्योपदेश है। **(रा.वा. १)**

परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश है। अभ्युदय और मोक्ष प्रयोजन वाले क्रियाविशेषों में दूसरे को अन्यथा प्रवृत्ति कराना परिवाद या मिथ्योपदेश है। **(र.क.श्रा. ५६)**

अभ्युदय और मोक्ष की कारणभूत क्रियाओं में किसी दूसरे को विपरीत मार्ग में लगा देना या मिथ्यावचनों द्वारा दूसरों को ठगना मिथ्योपदेश है। **(सर्वा. ७१२)**

३. प्रश्न : अभ्युदय और नि:श्रेयस् सुख किसे कहते हैं ?

उत्तर : सातावेदनीय आदि प्रशस्त कर्म-प्रकृतियों के तीव्र अनुभाग के उदय से उत्पन्न हुआ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देव संबंधी दिव्य सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजा, अधिराज, महाराजाधिराज परमेश्वर आदि मनुष्य संबंधी मानुष्य सुख को अभ्युदय सुख कहते हैं। अरिहंत और सिद्धों के अतीन्द्रिय सुख को नैश्रेयस् सुख कहते हैं। **(ध.पु. १/ ५७-५९)** तीर्थंकर और कल्पातीत (सिद्ध) इनके अतीन्द्रिय, अतिशयरूप, आत्मोत्पन्न, अनुपम और श्रेष्ठ सुख को नि:श्रेयस् सुख कहते हैं। **(ति.प. १/४९)**

४. प्रश्न : रहोभ्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्त्री और पुरुषों के द्वारा एकान्त में किये गये रहस्य का उद्घाटन करना रहोभ्याख्यान है। **(रा.वा. २)**

संवृत (गुप्त) का प्रकाशन रहोभ्याख्यान है। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : न्यासापहार किसे कहते हैं ?

उत्तर : धरोहर रखने वाला पुरुष अपनी धरोहर की संख्या भूलकर अल्पसंख्यांक द्रव्य को मांग रहा है, तो उससे कहना कि हाँ, ऐसा ही है, उसे न्यासापहारिता कहते हैं। **(र.क.श्रा. ५६)**

सुवर्ण आदि गहना रखने वाले द्वारा कम मांगने पर जानते हुए भी 'जो तुम मांगते हो ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञा वचन कहना, उसको कम देना न्यासापहार नाम का अतिचार है। **(रा.वा. ४)**

धरोहर में चांदी आदि को रखने वाला कोई उसकी संख्या भूलकर यदि उसे कमती लेने लगा तो 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करना न्यासापहार है। **(सर्वा. ७१२)** हिरण्य आदि निक्षेप में अल्पसंख्या का अनुज्ञा वचन न्यासापहार है। **(चा.सा. २५)**

६. प्रश्न : कूटलेखक्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : ''किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से यह कहना कि उसने ऐसा कहा है या ऐसा अनुष्ठान किया है'' इस प्रकार वञ्चन के निमित्त लेख लिखना कूटलेख क्रिया है। **(रा.वा. ३)**

दूसरे ने न कुछ कहा और न कुछ किया तो भी अन्य किसी की प्रेरणा से 'उसने ऐसा कहा है और ऐसा किया है' इस प्रकार छल से लिखना कूटलेख क्रिया है। **(सर्वा. ७१२)**

दूसरे के द्वारा अनुक्त अथवा अकृत किसी कार्य के विषय में ऐसा कहना कि 'यह उसने कहा है अथवा किया है' इस प्रकार धोखा देने के अभिप्राय से कपटपूर्ण लेख लिखना कूटलेखक्रिया है। **(र.क. श्रा. ५६ टी.)**

७. प्रश्न : कूटलेखक्रिया को किस प्रकार अतिचार कहा जाएगा?

उत्तर : जैसे आजकल राजकीय कानून के प्रहार से बचने के लिए गृहस्थ देता है एक हजार रुपये किन्तु रसीद लिखवाता है उससे अधिक की, ताकि मुकदमा होने पर असल रकम आपत्ति से मुक्त रही आवे। व्रती गृहस्थ का भाव धन के अपहरण का नहीं है किन्तु कार्य तद्रूप सा दिखता है। अत: इसे अतिचार कहा है। यदि वह गृहस्थ लेख के अनुसार असल से अधिक द्रव्य लेता है तो वह अनाचार हो जाएगा। **(चारित्र चक्रवर्ती)**

८. प्रश्न : साकारमंत्रभेद किसे कहते हैं ?

उत्तर : अर्थ (प्रयोजन) वश, प्रकरणवश, शरीर के विकारवश या भ्रू-क्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्षावश डाह से उसे प्रकट कर देना साकारमंत्रभेद है। **(सर्वा. ७१२)**

अंगविकार तथा भौंहों का चलाना आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्षा से उसे प्रकट कर देना पैशुन्य है। **(र.क.श्रा. ५६)**

९. प्रश्न : सत्याणुव्रत के ये अतिचार किस कारण से लगते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार अहिंसाणुव्रत में संक्लेशवश पाँच अतिचार लग जाते हैं उसी प्रकार सत्याणुव्रत के भी ये पाँच अतिचार हो जाते हैं, क्योंकि वंचक शास्त्रों का उपदेश, दम्पतियों की रहस्यमय

क्रिया का प्रकाश करना अनृतमूलक होने से सत्य का दोष है तथा आत्मविशुद्धि का मिथ्योपदेश के साथ विरोध है। **(श्लो. ६/६३१)**

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

स्तेन-प्रयोग-तत्-आहृत-आदान-विरुद्ध-राज्यातिक्रम-हीन-अधिक-मान-उन्मान-प्रतिरूपक-व्यवहाराः।

अर्थ - स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध राज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : अचौर्याणुव्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) स्तेनप्रयोग (२) तदाहृतादान (३) विरुद्धराज्यातिक्रम (४) हीनाधिक-मानोन्मान (५) प्रतिरूपक व्यवहार। **(सर्वा. ७१३)**

(१) कृत्रिम व्यवहार (२) स्तेनप्रयोग (३) तदाहृतादान (४) मान वैपरीत्य (५) विरुद्ध राज्यातिक्रम। **(अ. श्रा. ७/५)**

(१) चौरप्रयोग (२) चौरार्थादान (३) विलोप (४) सदृशसन्मिश्र (५) हीनाधिक विनिमान। **(र.क.श्रा. ५८)**

२. प्रश्न : स्तेनप्रयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग बतलाना वा दूसरे के द्वारा उसको चोरी में प्रयुक्त-प्रवृत्त करना और उस चोरी की वा चोर की मन से प्रशंसा करना, चोरी करना अच्छा मानना, ये सब स्तेनप्रयोग हैं। **(रा.वा. १)**

किसी को चोरी के लिए स्वयं प्रेरित करना या दूसरे के द्वारा प्रेरित कराना या प्रयुक्त हुए की अनुमोदना करना स्तेनप्रयोग है। **(सर्वा. ७१३)**

चोर को त्रिधा चोरी में प्रयुक्त करना स्तेनप्रयोग है।

३. प्रश्न : तदाहृतादान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने द्वारा जिसके उपाय नहीं बताये गये हैं और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसे चोर के, चोरी करके लाये हुए द्रव्य को खरीदना तदाहृतादान है। **(रा.वा. १)**

अपने द्वारा अप्रयुक्त असम्मत चोर द्वारा लायी हुई वस्तु को ले लेना तदाहृतादान है। **(सर्वा. ७१३)**

नोट : रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इसे चौरार्थादान के नाम से कहा गया है।

४. प्रश्न : तदाहृतादान में क्या दोष है ?

उत्तर : चोरी का माल खरीदने से चोर को चोरी की प्रेरणा मिलती है। **(र.क.श्रा. ५८ टी.)**

चोरी का माल खरीदने से परपीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। यहाँ (तदाहृतादान में) न्यायमार्ग को छोड़कर अन्य प्रकार से वस्तु ली गई है इसलिए अतिचार है। **(सर्वा. ७१३)**

५. प्रश्न : विरुद्धराज्यातिक्रम किसे कहते हैं ?

उत्तर : उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना अतिक्रम है। राज्य-परिवर्तन के समय अल्पमूल्य वाली वस्तुओं को अधिक मूल्य की बताना विरुद्धराज्यातिक्रम है। **(रा.वा. ३)**

यदि वहाँ अल्प मूल्य में वस्तुएँ मिल गयीं तो उन्हें महंगा बेचने का प्रयत्न करना विरुद्ध-राज्यातिक्रम है। **(सर्वा. ७१३)**

उचित न्याय को छोड़कर अन्य प्रकार से पदार्थ का ग्रहण करना विलोप कहलाता है। इसे ही विरुद्धराज्यातिक्रम कहते हैं। जिस राज्य के साथ अपने राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध निषिद्ध है अर्थात् जिस राज्य में अपने राज्य की वस्तुओं का आना-जाना राज्य की ओर से निषिद्ध किया गया है उसे विरुद्धराज्य कहते हैं। विरुद्ध राज्य में महंगी वस्तुएँ अल्प मूल्य में मिलती हैं ऐसा मानकर वहाँ से स्वल्प मूल्य में वस्तुओं को खरीदना और तस्कर व्यापार के द्वारा अपने राज्य में लाकर अधिक मूल्य में बेचना विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है। **(र.क.श्रा. टी. ५८)**

६. प्रश्न : हीनाधिक मानोन्मान किसे कहते हैं ?

उत्तर : बड़े मान (तौलने या मापने के बाट आदि) से लेना और छोटे मान से देना वैपरीत्य है। **(अ. श्रा. ७/५ हिन्दी)**

जिनसे वस्तुओं वा विनिमान=आदान-प्रदान, लेन-देन होता है उन्हें विनिमान कहते हैं। इन्हीं को मानोन्मान भी कहते हैं।

मान - जिसमें भरकर या जिससे तौल कर कोई वस्तु ली या दी जाती है उसे मान कहते हैं जैसे- प्रस्थ, तराजू आदि।

उन्मान - जिससे नापकर कोई वस्तु ली या दी जाती है उसे उन्मान कहते हैं। **जैसे** - फुट, गज आदि।

किसी वस्तु को देते समय हीन मान-उन्मान का और खरीदते समय अधिक मान-उन्मान का प्रयोग करना हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है। **(र. क.श्रा. टी. ५८)**

दूसरे को देते समय कम बाटों से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बाटों का प्रयोग करना हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है। **(रा.वा. ४)**

७. प्रश्न : प्रतिरूपक व्यवहार किसे कहते हैं ?

उत्तर : समान रूप-रङ्ग वाली नकली वस्तु असली वस्तु में मिलाकर असली वस्तु के भाव से बेचना जैसे- घी को तैल आदि से मिश्रित करना अथवा कृत्रिम बनावटी नकली सोना-चाँदी के द्वारा धोखा देते हुए व्यापार करना सदृश सन्मिश्र कहलाता है। **(र.क.श्रा. टी. ५८)**

कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वञ्चना पूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है। **(रा.वा. ५)**

झूठे सुवर्णादि बनवाना कृत्रिम व्यवहार है। **(अ.श्रा. ७/५ हिन्दी)**

८. प्रश्न : स्तेनप्रयोगादि को अतिचार क्यों कहा है?

उत्तर : तराजू व माप अव्यवस्थिति व्यवहार को दूषित करने वाली मायाचारी है। वस्तुएँ लेनदेन करते समय तौलने के बटखरे कमबेशी रखना और मापने के द्रोणी आदि पात्र भी छोटे-बड़े रखना व्यवहार को विकृत कर देता है। क्रय-विक्रय की वस्तुओं में मनमाना मूल्य बढ़ा कर विक्रय करते हैं एवं धन संचय करते हैं, इससे प्रजा को कष्ट होता है। दारिद्र्यजन्य पीड़ा होती है। जिस देश में व्यापारी अन्याय से अनावश्यक अन्न का अधिक संचय करके रखते हैं, प्रजा को नहीं देते हैं, वहाँ अन्य तंत्रकार्य भी स्थगित हो जाते हैं। चतुष्पदों - पशुओं की व्यवस्था नहीं हो पाती है, फलत: देश नष्ट हो जाता है। **(नी.वा. ८/१३-२३)**

ब्रह्मचर्य के अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमना-नङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा: ॥२८॥

परविवाहकरण-इत्वरिका-परिगृहीता-अपरिगृहीता-गमन-अनङ्गक्रीडा-कामतीव्र-अभिनिवेशा: ।

अर्थ - परविवाहकरण, परिगृहीता इत्वरिका गमन, अपरिगृहीता इत्वरिका गमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश, ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : ब्रह्मचर्याणुव्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) परविवाहकरण (२) परिगृहीता इत्वरिका गमन (३) अपरिगृहीता इत्वरिका गमन (४) अनङ्ग क्रीड़ा (५) कामतीव्राभिनिवेश। **(रा.वा.)**

(१) अन्यविवाहकरण (२) अनङ्गक्रीड़ा (३) विटत्व (४) विपुलतृषा (५) इत्वरिका गमन। **विटत्व**-शरीर से कुचेष्टा करना और मुख से अश्लील भद्दे वचनों का प्रयोग करना विटत्व है।**(र.क.श्रा. ६०)**

२. प्रश्न : परविवाहकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : सातावेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कन्या के वरण को विवाह कहते हैं। दूसरे के विवाह को परविवाह कहते हैं और पर के विवाह करने को परविवाहकरण कहते हैं। **(रा.वा.१)**

कन्या का ग्रहण विवाह है। किसी अन्य का विवाह परविवाह है और इसका करना परविवाहकरण है। **(सर्वा. ७१४)**

कन्यादान को विवाह कहते हैं। अपनी या अपने आश्रित भाई आदि की सन्तान को छोड़कर अन्य लोगों की सन्तानों का विवाह प्रमुख (संयोजक) बनकर करना अन्य विवाहकरण है। **(र.क.श्रा. ६०)**

३. प्रश्न : परिगृहीता इत्वरिकागमन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसका स्वभाव अन्य पुरुषों के पास आना-जाना है वह इत्वरी कहलाती है। इत्वरी अर्थात् अभिसारिका। इसमें भी जो अत्यन्त कुत्सिता होती है वह इत्वरिका कहलाती है। यहाँ कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय होकर इत्वरिका शब्द बना है। जिसका कोई एक पुरुष भर्त्ता है वह परिगृहीता कहलाती है। **(सर्वा. ७१४)** अयन शील को इत्वरी कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गाननृत्यादि कला और चारित्रमोह नामक स्त्रीवेद के उदय से विशिष्ट अंगोपांग के लाभ से जो पर-पुरुषों को प्राप्त होती है, पर-पुरुषों का सेवन करती है, उनको अपने आधीन करती है, वह इत्वरी कहलाती है और कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय करने से इत्वरिका शब्द की निष्पत्ति होती है। जो एक पुरुष के द्वारा परिणीत है, वह फिर भी परपुरुषरमणशील है वह परिगृहीता इत्वरिका है, इसके साथ सम्बन्ध रखना परिगृहीताइत्वरिका गमन है। **(रा.वा.२)**

४. प्रश्न : अपरिगृहीता इत्वरिकागमन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसका कोई पुरुष स्वामी नहीं है, जो वेश्या या व्यभिचारिणी होने से दूसरे पुरुषों के पास आती-जाती रहती है ऐसी अपरिगृहीता इत्वरिका का गमन करना अपरिगृहीता इत्वरिका गमन है। **(सर्वा. ७१४)** जो वेश्या रूप से वा पुंश्चली रूप से पर-पुरुषों को सेवन करती है, जिसका कोई स्वामी नहीं है वह अपरिगृहीता इत्वरिका है। इससे सम्बन्ध रखना, उसके यहाँ आना-जाना अपरिगृहीता-इत्वरिका गमन है। **(रा.वा. २)** स्वेच्छाचारिणी और अगृहीत कुलटा स्त्रियों के पास जाना अगृहीतेत्वरिका गमन है। **(हरि.पु. ५८/१७५)**

५. प्रश्न : अनङ्गक्रीड़ा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनंगों से क्रीड़ा अनङ्गक्रीड़ा है। पुरुष का लिंग (प्रजनन) और स्त्री की योनि कामसेवन के अङ्ग हैं। उन अङ्गों को छोड़कर अन्यत्र अंगों में क्रीड़ा करना अनङ्गक्रीड़ा है। **(रा.वा. ३)**

६. प्रश्न : कामतीव्राभिनिवेश किसे कहते हैं ?

उत्तर : काम का प्रवृद्ध परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है। काम की तीव्र प्रवृत्ति, सतत कामवासना से पीड़ित रहकर विषयसेवन में लगे रहना कामतीव्राभिनिवेश है। **(रा. वा. ४)** कामविषयक बढ़ा हुआ परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है। **(सर्वा. ७१४)**

७. प्रश्न : दीक्षिता आदि का सेवन करना अतिचार है, उनका इसमें ग्रहण क्यों नहीं किया?

उत्तर : दीक्षिता, अतिबाला तथा पशु आदि में मैथुन प्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेश का फल है अत: कामतीव्राभिनिवेश के ग्रहण से इनकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि छोड़ने योग्य दीक्षिता, अतिबाला, तिर्यञ्चनी आदि में मैथुन की वृत्ति कामतीव्राभिनिवेश से ही होती है। **(रा. वा. ५)**

८. प्रश्न : ब्रह्मचर्य के इन अतिचारों की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : ब्रह्मचर्य के बहुभाग का विघात करने में समर्थ होने के कारण इन अतिचारों की सिद्धि होती है। जो-जो व्रतों के विनाशक हैं वे-वे अनाचार हैं तथा व्रतों को मलिन करने वाले कार्य अतिचार कहलाते हैं। इसी प्रकार स्वदार-संतोष व्रत का विघात करने योग्य सभी परिणाम चतुर्थ व्रत के अतिचार हैं। **(श्लो. ६/६३४)**

९. प्रश्न : इन अतिचारों को करने से क्या हानि है ?

उत्तर : इन कार्यों को करने से राजभय, लोकापवाद, पापकर्मों का आगमन आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। **(रा.वा. ५)**

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥२९ ॥

क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य-प्रमाण-अतिक्रमाः।

अर्थ - क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य इन परिग्रहों[1] का परिमाण करके उनका उल्लंघन करना परिग्रह परिमाण-अणुव्रत के अतिचार हैं।

क्षेत्र - चावल आदि धान्यों की उत्पत्ति का स्थान।

वास्तु - आगार, भवन, घर आदि वास्तु है।

हिरण्य - चांदी आदि का व्यवहार। रजत के व्यवहार तंत्र को हिरण्य कहते हैं। अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते हैं।

---

१. पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक श्रावक के अयोग्य अनारम्भ, त्रसवध, व्यर्थस्थावरघात, परदारागमनादिक, असंयम के कारणभूत वास्तु-क्षेत्र आदि बाह्य परिग्रह का त्याग करे। (सा.ध. ६१)

सुवर्ण - प्रतीति में आने वाला सोना प्रसिद्ध है।

धन - गाय, भैंस आदि धन है।

धान्य - चाँवल, गेहूँ, मूंग, तिल, आदि धान्य हैं।

दासी - नौकरानी स्त्री वर्ग दासी है।

दास - नौकर पुरुषवर्ग दास है।

कुप्य - कपास एवं केलि आदि के वस्त्र और चन्दन आदि वस्तुएँ कुप्य है।

१. प्रश्न : परिग्रह परिमाणाणुव्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : परिग्रह परिमाणाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम (२) हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम (३) धन-धान्य प्रमाणातिक्रम (४) दासी-दास प्रमाणातिक्रम। (५) कुप्य प्रमाणातिक्रम। **(रा. वा. १)**

(१) अतिवाहन (२) अतिसंग्रह (३) अतिविस्मय (४) अतिलोभ (५) अतिभार वहन। **(र.क.श्रा. ६२)**

२. प्रश्न : अतिवाहन अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : लोभ की तीव्रता को कम करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभ के आवेश से अधिक वाहन रखता है। बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुख से पार कर सकते हैं उससे अधिक मार्ग पर उन्हें चलाता है तो उसकी यह क्रिया अतिवाहन कहलाती है। इस व्रतधारी किसी मनुष्य ने बैल आदि की संख्या तो कम कर ली परन्तु उनकी संख्या के अनुपात से खेती तथा मार्ग का यातायात कम नहीं किया इसलिए उन कम किये हुए बैल आदि को ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थिति में अतिवाहन नाम का अतिचार लगता है। **(र.क.श्रा.टी. ६२)**

३. प्रश्न : अतिसंग्रह अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'यह धान्यादिक आगे चलकर अधिक लाभ देगा' इस लोभ के वश से कोई उसका अत्यधिक संग्रह करता है। उसका यह कार्य अतिसंग्रह नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा.टी. ६२)**

४. प्रश्न : अतिविस्मय किसे कहते हैं ?

उत्तर : संगृहीत वस्तु को वर्तमान भाव से बेच देने पर किसी का मूल भी वसूल नहीं हुआ और दूसरे के द्वारा ठहरकर बेचने पर उसे अधिक लाभ हुआ, इस स्थिति में लोभ के आवेश से अतिविस्मय अतिखेद करता है। यह अतिविस्मय नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा.टी. ६२)**

५. प्रश्न : अतिलोभ एवं अतिभारारोपण किसे कहते हैं ?

उत्तर : अतिलोभ - विशिष्ट लाभ मिलने पर भी और भी अधिक लाभ की इच्छा से कोई अधिक लोभ करता है तो उसका वह अतिलोभ नाम का अतिचार है।

अतिभारारोपण - लोभ के आवेश से अधिक भार लादना अतिभारारोपण नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा. ६२)**

६. प्रश्न : प्रमाणातिक्रम किसे कहते हैं ?

उत्तर : तीव्र लोभ के वशीभूत होकर इनकी मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। 'मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण आदि परिग्रह की अतिलोभ के कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। **(श्लो. ६/६३५-३६)**

७. प्रश्न : पाँचवें व्रत के अतिचार किस युक्ति से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : क्षेत्रादि में स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक ग्रहण किये गये व्रतों में अतिक्रमण संतोष के एकदेशघात के कारण ही होते हैं, जो संतोष का किंचित् भी घात नहीं करते हैं ऐसे दान, पूजन आदि अतिचार नहीं हैं, प्रत्युत् संतोषवर्धक और परिमाणव्रत के पोषक गुण हैं। **(श्लो. ६/६३६)**

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

ऊर्ध्व-अधः-तिर्यक्-व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृति-अन्तराधानानि।

अर्थ - ऊर्ध्वातिक्रम, अधोतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पाँच दिग्विरति के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : दिग्व्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) ऊर्ध्वातिक्रम (२) अधोऽतिक्रम (३) तिर्यग्व्यतिक्रम (४) क्षेत्रवृद्धि (५) स्मृत्यन्तराधान।

ऊर्ध्वातिक्रम - मर्यादित पर्वत और समभूमि आदि से ऊपर चढ़ना ऊर्ध्वातिक्रम है।

अधोतिक्रम - मर्यादित अधोभाग से अधिक कूपादि में उतरना अधोतिक्रम है।

तिर्यग्व्यतिक्रम - भूमि के बिल, गुफा आदि में प्रवेश करके मर्यादा का उल्लंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम है।

क्षेत्रवृद्धि - लोभ कषाय के वशीभूत होकर स्वीकृत मर्यादा का परिमाण बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। **(रा.वा.२-५)**

स्मृत्यन्तराधान - निश्चित की गई मर्यादा को भूल जाना। 'इतने योजनादि से आगे नहीं जाऊँगा' ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी उसको भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है। **(रा.वा. ८)**

२. प्रश्न : क्षेत्रवृद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व दिशा में योजन आदि के द्वारा मर्यादा करके पुन: लोभ कषाय के कारण उस मर्यादा से अधिक दिशा की इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि है। **(रा.वा. ५)**

३. प्रश्न : इन अतिचारों का परिग्रह परिमाण व्रत में अन्तर्भाव हो जाता है अत: पुन: कहना पुनरुक्ति दोष है ?

उत्तर : परिग्रह परिमाण व्रत में इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि उसका अधिकरण भिन्न है और इनका अधिकरण भिन्न है। परिग्रह परिमाण व्रत में क्षेत्र, वास्तु आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों का परिमाण किया जाता है। परन्तु दिग्व्रत में दिशाओं में जाने की मर्यादा की जाती है। इस प्रकार दोनों का विषय भिन्न-भिन्न है। यद्यपि इस दिशा में लाभ होगा तो मेरा जीवन है, नहीं होगा तो मरण है, तथापि दूसरी दिशा में लाभ होने पर भी गमन नही करूंगा। स्वीकृत मर्यादा से आगे लाभ होने पर भी गमन नहीं करना दिग्विरति है। दिशाओं में क्षेत्र, वास्तु आदि के समान परिग्रह बुद्धि से आत्मसात् करके परिमाण नहीं किया जाता, अत: इसका अर्थ विशेष जानना चाहिए। **(रा.वा. ६)**

४. प्रश्न : व्यतिक्रम किसे कहते हैं एवं व्यतिक्रम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : परिमाण की गयी दिशा की अवधि का उल्लंघन कर देना अतिक्रम कहा जाता है। विशेष रूप से अतिक्रम कर देना व्यतिक्रम है। वह व्यतिक्रम ऊर्ध्व व्यतिक्रम, अधोदिशा व्यतिक्रम तथा तिर्यग्व्यतिक्रम के भेद से तीन प्रकार का होता है। **(श्लो. ६/६३७)**

५. प्रश्न : दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन किस कारण से होता है ?

उत्तर : दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन प्रमाद, मोह एवं चित्त व्यासंग (चित्त के अन्य स्थान पर चले जाने) से होता है। **(रा.वा. ७)** प्रमाद एवं अज्ञान के कारण ऊर्ध्वातिक्रम आदि अतिचार होते हैं। **(र. क. श्रा. ७३)**

देशव्रत के अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपा: ॥३१॥

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूप-अनुपात-पुद्गलक्षेपा:।

अर्थ - आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशव्रत के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : देशव्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : देशव्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) आनयन (२) प्रेष्यप्रयोग (३) शब्दानुपात (४) रूपानुपात (५) पुद्गलक्षेप। **(रा.वा.)**

(१) प्रेषण (२) शब्द (३) आनयन (४) रूपाभिव्यक्ति (५) पुद्गलक्षेप। **(र.क.श्रा. ९६)**

(१) आनयन (२) योज्य योजन (प्रयोग) (३) पुद्गलक्षेप (४) जल्पन (५) शरीर संज्ञा। **(अ.श्रा. ७/९)**

२. प्रश्न : आनयन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने द्वारा संकल्पित देश में ठहरे हुए पुरुष को प्रयोजनवश किसी वस्तु को लाने की आज्ञा करना आनयन है। **(सर्वा. ७१८)** मर्यादा से बाह्य क्षेत्र में रहने वाले लोगों को प्रयोजनवश यह आज्ञा देना कि 'तुम अमुक वस्तु लाओ' आनयन नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा. ९६)**

३. प्रश्न : प्रेष्यप्रयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्वयं मर्यादित देश में रहकर 'तुम यह काम करो' इस प्रकार कह कर दूसरे को मर्यादा के बाहर भेजना प्रेषण नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा. ९६)**

स्वीकृत देश की मर्यादा से बाहर स्वयं न जाकर और दूसरे को न बुला कर भी प्रेष्य (नौकर) के द्वारा इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्यप्रयोग है। **(रा.वा. २)** 'ऐसा करो' इस प्रकार काम में लगाना प्रेष्य-प्रयोग है। **(सर्वा. ७१८)**

४. प्रश्न : शब्दानुपात किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पुरुष किसी उद्योग में जुटे हैं उन्हें उद्देश्य कर खाँसना आदि शब्दानुपात है। **(सर्वा. ७१८)** मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले नौकरों का उद्देश्य लेकर खड़े होकर खाँसी या अन्य प्रकार से शब्द करके नौकरों से कार्य कराना शब्दानुपात है। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : रूपानुपात किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्वयं मर्यादित क्षेत्र के भीतर स्थित रहकर बाह्य क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को अपना शरीर दिखलाना रूपाभिव्यक्ति नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा. ९६)** मेरे रूप को (मुझे) देखकर ये 'शीघ्र ही कार्य करेंगे' इस अभिप्राय से अपने शरीर को दिखाना रूपानुपात है, ऐसा निर्णय किया जाता है। **(रा.वा.४)** जो पुरुष किसी उद्योग में जुटे हैं उन्हें अपना शरीर दिखाना रूपानुपात है। **(सर्वा. ७१८)**

६. प्रश्न : पुद्गलक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर : नौकर-चाकरों का उद्देश्य लेकर उनको संकेत करने के लिए कंकड़ पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप कहा जाता है। **(रा.वा. ५)** ढेला आदि फेंकना पुद्गलक्षेप है। **(सर्वा. ७१८)**

७. प्रश्न : इनको अतिक्रम-अतिचार क्यों कहते हैं ?

उत्तर : स्वयं उल्लंघन न करके दूसरों से करवाता है, इसलिए ये अतिचार हैं। यदि स्वयं उल्लंघन करता है तो व्रत का ही लोप हो जाता है। **(रा.वा. ६)**

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्य-असमीक्ष्य-अधिकरण-उपभोग-परिभोग-अनर्थक्यानि।

अर्थ - कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोग परिभोग-अनर्थक्य, ये अनर्थदण्ड के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : अनर्थदण्ड के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : अनर्थदण्ड के पाँच अतिचार हैं-

(१) कन्दर्प (२) कौत्कुच्य (३) मौखर्य (४) असमीक्ष्याधिकरण (५) उपभोग परिभोगानर्थक्य। **(त.सू. ७/३२)**

(१) कन्दर्प (२) कौत्कुच्य (३) मौखर्य (४) अतिप्रसाधन (५) असमीक्ष्याधिकरण। **(र.क.श्रा.८१)**

खोटे उपदेश से ठगी, आरम्भ और हिंसा का प्रवर्त्तन करना, शक्ति से अधिक बोझ लादना और दूसरों को अधिक कष्ट देना आदि कर्म अनर्थदण्ड व्रत को हानि पहुँचाते हैं। इस प्रकार के कार्यों से अनर्थदण्ड व्रत में दोष लगता है। **(य.ति.च. ७/१८९)**

अतिप्रसाधन - भोगोपभोग की सामग्री का अधिक संग्रह करना।

२. प्रश्न : कन्दर्प किसे कहते हैं ?

उत्तर : काम को उत्तेजित करने वाले भद्दे वचन बोलना कन्दर्प माना गया है। **(र.क.श्रा.८१)** राग की तीव्रता से हास-परिहास से मिश्रित वचन बोलना कन्दर्प है। चारित्रमोह के उदय से अपादित राग के उद्रेक से हास्य युक्त अशिष्ट वचन का प्रयोग करना कन्दर्प कहा जाता है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : कौत्कुच्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : हास्य वचन और राग के उद्रेक के साथ काय की दुष्ट चेष्टाओं में राग का समावेश होने से हास्य वचन और अशिष्ट वचन इन दोनों के साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है। **(रा.वा. २)** भद्दे वचन बोलते हुए हाथ आदि अङ्गों से शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। **(र. क.श्रा. ८१)**

परिहास और असभ्यवचन इन दोनों के साथ दूसरे के लिए शारीरिक कुचेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है। **(सर्वा. ७१९)**

४. प्रश्न : कन्दर्प और कौत्कुच्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर : कन्दर्प में तो तीव्र राग से युक्त हास्य वचन और शिष्ट जनों के अयोग्य अशिष्ट वचन ये दोनों होते हैं परन्तु कौत्कुच्य में हास्य वचन, अशिष्ट वचन और दूषित काय चेष्टाएँ इन तीनों से मिश्रित परिणाम होता है। **(श्लो. ६/६३९)**

५. प्रश्न : मौखर्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : ढीठता को लिये हुए नि:सार कुछ भी बहुत बकवास करना मौखर्य है। **(सर्वा. ७१९)** आवश्यकता से अधिक निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य है। **(र.क.श्रा. ८१)** शालीनता का त्याग कर निर्लज्जतापूर्वक बकवास करना मौखर्य है। **(रा.वा. ३)**

६. प्रश्न : असमीक्ष्याधिकरण कितने प्रकार का है ?

उत्तर : अधिकरण तीन प्रकार का है-

(१) मानसाधिकरण (२) वाचनिक अधिकरण (३) कायिक अधिकरण।

मानसाधिकरण - निरर्थक काव्य आदि का चिन्तन करना मानसाधिकरण है।

वाचनिक अधिकरण - निष्प्रयोजन पीड़ादायक कुछ भी बकवास करना, अनर्गल प्रलाप करना वाचनिक अधिकरण है।

कायिक अधिकरण - बिना प्रयोजन चलते हुए, ठहरते हुए, बैठते हुए सचित्त एवं अचित्त पत्र, पुष्प, फलों का छेदन-भेदन, कुट्टन, क्षेपण आदि करना, अग्नि, विष, क्षार आदि पदार्थ देना आदि जो क्रिया की जाती है वह कायिक अधिकरण है। **(रा.वा. ५)**

ये सर्व असमीक्ष्याधिकरण हैं।

७. प्रश्न : उपभोग परिभोग अनर्थक्य अतिचार का उपभोग-परिभोग व्रत में अन्तर्भाव हो जाता है अत: भोगोपभोगानर्थक्य कहना पुनरुक्त दोष है ?

उत्तर : उपभोग परिभोग अनर्थक्य में पुनरुक्त दोष नहीं है। उसमें अर्थों की अनवधारणा है क्योंकि उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में इच्छानुसार परिमाण किया जाता है, और सावद्य का परित्याग किया जाता है, परन्तु यहाँ आवश्यकता का विचार है जो संकल्पित भी है। परन्तु यदि आवश्यकता से अधिक है तो अतिक्रम कहा जाता है। **(रा.वा. ७)**

८. प्रश्न : यदि यह अतिचार उपभोग परिभोग व्रत में अन्तर्भूत नहीं है तो उसके अतिचारों में इसका अन्तर्भाव हो सकता है अत: उपभोग-परिभोगानर्थक्य शब्द का ग्रहण निरर्थक है ?

उत्तर : यह 'उपभोग परिभोगानर्थक्य' निष्प्रयोजन नहीं है क्योंकि उपभोग परिभोग परिमाणव्रत के अतिचारों में सचित्त सम्बन्धादि रूप से मर्यादा अतिक्रम विवक्षित है अत: इसका वहाँ कथन नहीं किया है। **(रा.वा. ७)**

सामायिक व्रत के अतिचार

योगदु:प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।।३३ ।।

योग-दु:प्रणिधान-अनादर-स्मृति-अनुपस्थानानि।

अर्थ - योग (काय, वचन, मन) का दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : सामायिक शिक्षाव्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) कायदुष्प्रणिधान (२) वचन दुष्प्रणिधान (३) मनो दुष्प्रणिधान (४) अनादर (५) स्मृत्यनुपस्थान। **(त.सू. ७/३३)**

(१) काय दुष्प्रणिधान (२) वचन दुष्प्रणिधान (३) मनो दुष्प्रणिधान (४) अनादर (५) अस्मरण। **(र. क. श्रा. १०५)**

२. प्रश्न : काय आदि दुष्प्रणिधान किसे कहते हैं ?

उत्तर : काय दुष्प्रणिधान - क्रोधादि कषायों के वश होकर शरीर के अवयवों का विचित्र विकृत रूप हो जाना काय दुष्प्रणिधान है।

वचन दुष्प्रणिधान - वर्ण संस्कार का अभाव तथा अर्थ के आगमकत्व में चपलता वाचनिक दुष्प्रणिधान है।

मानसिक दुष्प्रणिधान - मन का अनर्पितत्व होना, अन्यथा होना, मन का उपयोग नहीं लगना मानसिक दुष्प्रणिधान है।

अनादर - अनुत्साह को अनादर कहते हैं।

स्मृत्यनुपस्थान - एकाग्रता का न रहना ही स्मृत्यनुपस्थान है। **(रा.वा. २-४)**

३. प्रश्न : दुष्प्रणिधान किसे कहते हैं ?

उत्तर : दुष्प्रणिधान यानी अन्यथा प्रवर्तना। प्रणिधान, प्रयोग और परिणाम ये एकार्थवाची हैं। दुष्ट - जो पाप परिणाम उसे दुष्प्रणिधान कहते हैं। **(रा.वा.२)** वचन, काय और मन ये तीन योग हैं इनकी खोटी प्रवृत्ति करने को दुष्प्रणिधान कहते हैं। **(र.क.श्रा. १०५)**

दुष्ट प्रणिधान अथवा दुष्ट प्रवृत्ति को दु:प्रणिधान कहते हैं **अथवा** अन्यथा रूप प्रवृत्ति करना भी दुष्प्रणिधान है। **(चा.सा. ५२)**

४. प्रश्न : स्मृत्यनुपस्थान और मनोदु:प्रणिधान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : मनोदुष्प्रणिधान में अन्य विचार तो नहीं आते परन्तु जिस विषय का विचार किया जाता है उसमें भी क्रोधादि का आवेश आ जाता है अर्थात् उदासीनता से मन का अवस्थान मनोदु:प्रणिधान है। परन्तु स्मृत्यनुपस्थान में मानसिक विकल्प चलते रहते हैं, चित्त में एकाग्रता नहीं आती है अथवा रात्रि और दिन की नित्य क्रियाओं को ही प्रमाद की अधिकता से भूल जाता है। **(रा.वा. ५)** सामायिक व्रत में अन्य का चिन्तन करना मनो दु:प्रणिधान है और नित्य करने योग्य क्रियाओं को भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। **(श्लो.६/६४१)** क्रोधादि कषायों के आवेश से अथवा सामायिक में उदासीनता रखने के कारण बहुत थोड़ी देर तक सामायिक में चित्त लगाना मनोदु:प्रणिधान है और चिन्तन के परिस्पन्दन होने से अर्थात् बदल जाने से चित्त को एकाग्र न रखना, स्थिर न रखना स्मृत्यनुपस्थान है। **(चा.सा. ५२)**

५. प्रश्न : सामायिक के ये अतिचार किस युक्ति से सिद्ध हैं ?

उत्तर : योगदुष्प्रणिधान आदि सामायिक शील के एकदेशघातक होने से अतिचार हैं। तथा ये पाँच सामायिक शील के पोषक भी नहीं हैं तथा सर्वथा विनाशक भी नहीं हैं अपितु मलिन करने वाले हैं अत: अतिचार हैं। **(श्लो. ६/६४२)**

प्रोषधोपवास के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणा-नादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग-आदान-संस्तर-उपक्रमण-अनादर-स्मृति-अनुपस्थानानि।

अर्थ - अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान, ये पाँच प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : प्रोषधोपवास व्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग (२) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान (३) अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जित संस्तरोपक्रमण (४) अनादर (५) स्मृत्यनुपस्थान **(त.सू. ७/३४)**

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पाँचवाँ अस्मरण अतिचार कहा है।

२. प्रश्न : अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग आदि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग - बिना देखी और बिना शोधी भूमि पर मल-मूत्रादि का त्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान - बिना देखी, बिना शोधी भूमि पर अर्हत् या आचार्य आदि के पूजा के उपकरण, वस्त्र, पात्रादि पदार्थों का उठाना, रखना, ग्रहण करना आदि अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण - बिना देखी, बिना शोधी भूमि पर बिछौना आदि बिछाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण है।

अनादर - भूख-प्यास आदि के कारण आवश्यक क्रियाओं में उत्साह नहीं रखना अनादर है।

स्मृत्यनुपस्थान - रात्रि और दिन की क्रियाओं को प्रमाद की अधिकता के कारण भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। **(रा.वा. ३-५)**

अस्मरण - अनेकाग्रता अर्थात् एकाग्रता का नहीं होना अस्मरण है। **(र.क.श्रा. ११०)**

३. प्रश्न : अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित का क्या अर्थ है ?

उत्तर : दयार्द्र पुरुष का 'जन्तु है या नहीं' इस प्रकार विचार पूर्वक देखना, नेत्र इन्द्रिय का जो व्यापार है वह प्रत्यवेक्षण है तथा कोमल पिच्छिकादि उपकरण से भूमि आदि का शोधन करना प्रमार्जन है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन नहीं करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित है। **(रा.वा. १-३)**

स्वामिसमन्तभद्राचार्य ने **रत्नकरण्डश्रावकाचार** में इसे 'अदृष्टमृष्ट' शब्द से कहा है- 'यहाँ जीव-जन्तु है या नहीं', इस प्रकार चक्षु से देखना दृष्ट कहलाता है और कोमल उपकरण से प्रमार्जन करना मृष्ट कहलाता है। जिसमें ये दोनों न हों उसे अदृष्टमृष्ट कहते हैं। **(र.क.श्रा. ११० टी.)**

'अमितगति श्रावकाचार' में 'अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित' के स्थान पर 'गतोपयोग' शब्द का ग्रहण किया है।

४. प्रश्न : अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित का सम्बन्ध किस-किस के साथ करना चाहिए ?

उत्तर : 'अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित' का सम्बन्ध उत्सर्ग, आदान तथा संस्तरोपक्रम के साथ करना चाहिए जिससे प्रोषधोपवास के तीन अतिचार हो जाते हैं। **(श्लो. ६/६४३)**

५. प्रश्न : ये तीन अतिचार किस कारण से लगते हैं ?

उत्तर : अदृष्टमृष्टग्रहण (आदान) अतिचार उसके होता है जो भूख से पीड़ित होकर अर्हन्त आदि की पूजा के उपकरण तथा अपने वस्त्र आदि को बिना देखे और बिना शोधे ग्रहण करता है।

अदृष्टमृष्ट विसर्ग (उत्सर्ग) अतिचार उसके होता है जो भूख से पीड़ित होने के कारण बिना देखी, बिना शोधी भूमि में मलमूत्र छोड़ता है। अदृष्टमृष्ट संस्तरण अतिचार उसके होता है जो भूख से पीड़ित होने के कारण बिना देखे, बिना शोधे स्थान पर बिस्तर आदि बिछाता है। **(र. क. श्रा. टी. ११०)**

६. प्रश्न : इनको प्रोषधोपवास के अतिचार क्यों कहा है ?

उत्तर : बिना देखे-शोधे मल-मूत्रादि-क्षेपण आदि कार्य प्रोषधोपवास का (एकदेश) घात करने वाले होने से अतिचार कहे गये हैं। **(श्लो. ६/६४३)**

उपभोग-परिभोग संख्यान व्रत के अतिचार

सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।।३५ ।।

सचित्ताहार-सचित्तसम्बन्धाहार-संमिश्र-अभिषव-दुःपक्वाहाराः ।

अर्थ - सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तमिश्राहार, अभिषव तथा दुःपक्वाहार ये उपभोग-परिभोग परिसंख्यान व्रत के पाँच अतिचार हैं।

१. प्रश्न : उपभोग-परिभोग व्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : उपभोग-परिभोग व्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) सचित्ताहार (२) सचित्तसम्बन्धाहार (३) सचित्तसंमिश्राहार (४) अभिषव[१] (५) दुःपक्वाहार। **(रा.वा)**

(१) विषय रूपी विष से उपेक्षा नहीं होना (२) भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना (३) अतिलौल्य (वर्तमान विषयों में अतिलम्पटता रखना) (४) अतितृषा (आगामी विषयों की अधिक तृष्णा रखना (५) अतिअनुभव, वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्ति से अनुभव करना। **(र.क.श्रा. ९०)**

२. प्रश्न : सचित्तसम्बन्ध तथा सचित्त संमिश्र में क्या अन्तर है ?

उत्तर : सचित्त सम्बन्ध में केवल संसर्ग विवक्षित है तथा सचित्त संमिश्र में सूक्ष्म जन्तुओं से आहार ऐसा मिला होता है जिसका विभाग करना अशक्य होता है। अर्थात् मिली हुई, एकमेक हुई वस्तु को संमिश्र कहते हैं या नानाजातीय द्रव्यों का समाहार (समूह) सूक्ष्म जन्तुओं से मिला हुआ आहार जिसमें गर्भित है, वह सचित्त संमिश्र आहार है। **(रा.वा. ४)**

३. प्रश्न : उपभोग-परिभोग परिमाण करने वाले की सचित्त संमिश्र में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर : प्रमाद तथा मोह के कारण क्षुधा, तृषा से पीड़ित व्यक्ति की जल्दी-जल्दी में सचित्त सम्बन्ध, सचित्त संमिश्र आदि में भोजन, पान, अनुलेपन, वस्त्र आदि के लिए प्रवृत्ति हो जाती है। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : दुःपक्वाहार किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अच्छी तरह नहीं पका हुआ हो वह दुष्पक्व कहलाता है। जो चावल, दाल आदि ऊपर के पक गए हैं किन्तु भीतर नहीं पके हों अर्थात् अच्छी तरह से पके हुए नहीं हों वा जिस खाद्य पदार्थ का अधिक पाक हो जाए वह आहार दुःपक्व कहलाता है। **(रा.वा. ६)**

---

१. अभिषव दो प्रकार का होता है- द्रव और वृष्य। चार पहर रात के भिगोये हुए चावल वगैरह द्रव कहलाते हैं। इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाली उरद की बनी हुई चीज वगैरह वृष्य है।

द्रव, वृष्य और अभिषव इनका एक अर्थ है। जो ठीक तरह से नहीं पका है वह दु:पक्व है। **(सर्वा.७२२)**

५. प्रश्न : दु:पक्वाहार करने में क्या दोष है ?

उत्तर : दुष्पक्व भोजन से इन्द्रियों में मद की वृद्धि होती है। सचित्त वस्तु के खाने से वायु आदि दोषों का प्रकोप हो सकता है फिर उनका प्रतिकार करने वाली क्रियाओं में पाप लगता है और अतिथि उसे ग्रहण नहीं करते हैं अत: वह त्याज्य है। **(रा.वा. ६)**

६. प्रश्न : अनुप्रेक्षा अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : विषय भोग विष के समान हैं क्योंकि जिस प्रकार विष, प्राणियों को दाह तथा संताप आदि करता है, उसी प्रकार विषय भी प्राणियों को दाह और संताप आदि उत्पन्न करते हैं। इस विषय रूपी विष से उपेक्षा नहीं होती अर्थात् उनके प्रति आदर का भाव रहना अनुप्रेक्षा नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा. ९० टी.)**

७. प्रश्न : अनुस्मृति अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : विषयों का अनुभव-उपभोग विषय सम्बन्धी वेदना के प्रतिकार के लिए किया जाता है सो विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी फिर से संभाषण तथा आलिङ्गन आदि में जो आदर है वह अत्यन्त आसक्ति का जनक होने से अतिचार माना जाता है। विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी सौन्दर्यजनित सुख का साधन होने से विषयों का बार-बार स्मरण करना यह अनुस्मृति नामका अतिचार है। अत्यन्त आसक्ति का कारण होने से यह अतिचार माना जाता है। **(र.क.श्रा. ९० टी)**

८. प्रश्न : अतिलौल्य अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : विषयों में अत्यन्त गृद्धता रखना अर्थात् विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी बार-बार उसके अनुभव की आकांक्षा रखना अतिलौल्य नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा. ९०)**

९. प्रश्न : अतितृषा एवं अति-अनुभव अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : आगामी भोगोपभोग आदि की अत्यधिक गृद्धता के साथ प्राप्ति की आकांक्षा रखना अतितृषा नाम का अतिचार है। और नियतकाल में भी जब भोग और उपभोग का अनुभवन करता है तब अत्यन्त आसक्ति से करता है वेदना के प्रतिकार की भावना से नहीं, यह अत्यनुभव नामका अतिचार है। **(र.क.श्रा. ९० टी)**

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार-

सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेशमात्सर्य-कालातिक्रमा: ॥३६॥

सचित्त-निक्षेप-अपिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-काल-अतिक्रमा: ।

अर्थ - सचित्तनिक्षेप, सचित्त-अपिधान, परव्यपदेश,[१] मात्सर्य[२] और कालातिक्रम[३] ये अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं।

१. प्रश्न : अतिथि संविभाग व्रत के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : अतिथि संविभाग व्रत के पाँच अतिचार हैं-

(१) सचित्त निक्षेप (२) सचित्तापिधान (३) परव्यपदेश (४) मात्सर्य (५) कालातिक्रम। **(सर्वा. ७२३)**

(१) मत्सर (२) कालातिक्रम (३) सचित्तनिक्षेप (४) सचित्तापिधान (५) अन्यव्यपदेश। **(अ.श्रा. ७/१४)**

(१) हरित पिधान (२) हरित निधान (३) अनादर (४) अस्मरण (५) मत्सरत्व। **(र.क.श्रा.१२१)**

२. प्रश्न : सचित्तनिक्षेप और सचित्तापिधान किसे कहते हैं ?

उत्तर : सचित्त कमल पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु सचित्तनिक्षेप कहलाती है। **(रा.वा.१)** हरे कमल पत्र आदि पर आहार को रखना हरितपिधान नामका अतिचार है। **(र.क.श्रा. १२१ टी)** अपिधान और आवरण ये एकार्थवाची हैं। प्रकरणवश सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : मात्सर्य और अस्मरण अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : अतिथि को आहार देते समय आदर भाव के बिना देना मात्सर्य है। **(रा.वा. ४)** अन्य दाता के दान तथा गुणों के विषय में सहनशीलता का नहीं होना मत्सरत्व कहलाता है। **(र.क.श्रा. १२१ टी)** देते हुए भी आदर का अभाव होना अनादर कहा है। **(र.क.श्रा.टी. १२१)** आहारादि दान इस समय ऐसे पात्र के लिए देना चाहिए अथवा देने योग्य वस्तुओं में यह वस्तु दी है अथवा नहीं दी है इस प्रकार की स्मृति का अभाव होना अस्मरण कहलाता है। **(र.क.श्रा. १२१)**

४. प्रश्न : परव्यपदेश अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरे दाता ने जो द्रव्य देने को रखा है उसे स्वयं देना अथवा दूसरे पर देने का भार सौंप देना कि मुझे काम है तुम दे देना अथवा और बहुत देने वाले हैं अत: मैं देकर क्या करूंगा, इस प्रकार दूसरे के बहाने से स्वयं दान न देना परव्यपदेश है। **(का.अ. ३६५-६६ टी.)**

---

१. आज मुझे आवश्यक कार्य है अत: मैं पात्रदान नहीं कर सकता, आप करिएगा। इस प्रकार कह कर दूसरे को खड़ा करना। इसको दूसरी तरह से यों समझना कि क्या करूँ, मालिक ने आज मुझे ही दान करने के लिए कहा अत: दे रहा हूँ। ऐसा विचार **परव्यपदेश** है।

२. दूसरे दातारों की बड़ाई को न देख करके पात्रों में आदर न होते हुए भी दान देना **मात्सर्य** भाव है। अभिप्राय यह है कि यदि मैं नहीं दूंगा तो लोग मुझे हीन दृष्टि से देखेंगे।

३. समय हो चुका है, पात्र भूखा मर रहा है, इसका विचार न लगाकर पगचम्पी करते रहना **कालातिक्रम** है।

दाता दूसरे स्थान पर है, यह देय पदार्थ भी दूसरे का है, ऐसा कहकर अर्पण करना परव्यपदेश है। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : सचित्तनिक्षेप आदि अतिचार किस प्रमाण से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये विषय का गुरु परम्परा के अनुसार अब तक इसी प्रकार किया गया है, क्योंकि ये दोष अतिथिसंविभाग शील का एकदेश विघात करने वाले हैं, इस प्रकार आगमगम्य विषय भी अनुमान प्रमाण से पुष्ट होते हैं। **(श्लो. ६/६४७ भावार्थ)**

सल्लेखना के अतिचार

सल्लेखना के अतिचार

जीवितमरणाशंसामित्रानुराग-सुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

जीवित-मरण-आशंसा-मित्र-अनुराग-सुख-अनुबन्ध-निदानानि।

अर्थ - जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान, ये सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : सातों ही शीलों के अतिचार बहुत भेदों में कह दिये गये, अब मरण विशेष के निष्पादन में समर्थ, बिना किसी की प्रेरणा के स्वयं अपने मन से धारण की हुई सल्लेखना के अतिचार कौन-कौन से हैं, उनके वर्णन के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३७)**

२. प्रश्न : सल्लेखना के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं-

(१) जीविताशंसा (२) मरणाशंसा (३) मित्रानुराग (४) सुखानुबन्ध (५) निदान। **(रा.वा.)**

(१) जीविताशंसा (२) मरणाशंसा (३) भय (४) मित्रस्मृति (५) निदान। **(र.क.श्रा. १२९)**

३. प्रश्न : जीविताशंसा[1] किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह शरीर अवश्य त्यागने योग्य है, जल के बुलबुले के समान अनित्य है। ऐसे इस शरीर की स्थिति किस प्रकार रखी जाए, कैसे यह बहुत काल तक टिका रहे, इत्यादि रूप से शरीर के ठहरने की अभिलाषा **जीविताशंसा** है, ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा. २)**

सल्लेखना धारण कर ऐसी इच्छा रखना कि मैं कुछ समय तक और जीवित रहता तो अच्छा होता, यह जीविताशंसा नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा. १२९)**

---

१. अपने मन में ऐसा सोचते रहना कि मैंने सल्लेखना तो प्रारम्भ कर दी है परन्तु यदि आयुष्य ज्यादा हुई तो कैसे क्या होगा- इसे जीविताशंसा कहते हैं।

जीने की चाह करना जीविताशंसा है। **(सर्वा. ७२४)**

४. प्रश्न : मरणाशंसा[१] किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा होने पर ऐसी इच्छा रखना कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जाती तो अच्छा होता, यह मरणाशंसा नाम का अतिचार है। **(र.क.श्रा. १२९)** जीवन के संक्लेश के कारण मरण के प्रति चित्त का अनुरोध मरणाशंसा है। रोगादि की तीव्र पीड़ा के कारण जीवन में संक्लेश होने पर मरण के प्रति चित्त का प्रणिधान होना मरणाशंसा है। **(रा. वा. ३)**

५. प्रश्न : मित्रानुराग किसे कहते हैं ?

उत्तर : बचपन में जिनके साथ धूलि में खेले हैं, जिन्होंने आपत्ति में सहायता दी है और सुख-उत्सव आदि में जो सहयोगी बने हैं उन मित्रों का स्मरण करना मित्रानुराग है। **(रा.वा. ४)**

बाल्य आदि अवस्थाओं में जिनके साथ क्रीड़ा की थी, ऐसे मित्रों का बार-बार स्मरण करना मित्रस्मृति नामका अतिचार है। **(र.क.श्रा. १२९)**

६. प्रश्न : सुखानुबन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्वानुभूत प्रीति विशेष की स्मृति समन्वाहार सुखानुबन्ध है। मैंने यह खाया, इस प्रकार के पलंग पर सोया था, इस प्रकार की क्रीड़ा करता था, इत्यादि पूर्वभुक्त क्रीड़ा, शयन, भोग का स्मरण करना सुखानुबन्ध कहा जाता है। **(रा.वा ५)**

अनुभव में आये हुए विविध सुखों का पुन: पुन: स्मरण करना सुखानुबन्ध है। **(सर्वा. ७२४)**

७. प्रश्न : निदान किसे कहते हैं ?

उत्तर : भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके कारण चित्त नियम से दिया जाता है वह निदान है। **(सर्वा. ७२४)**

विषय - सुखों की उत्कट अभिलाषा भोगाकांक्षा है। उस भोगाकांक्षा से जिसमें नियत रूप से चित्त दिया जाता है वह निदान है। **(रा.वा. ६)**

८. प्रश्न : भय अतिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : इहलोक भय और परलोक भय की अपेक्षा भय के दो भेद हैं। मैंने सल्लेखना धारण की तो है परन्तु मुझे क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा अधिक समय तक सहन न करना पड़े, इस प्रकार का भय होना इहलोक भय कहलाता है और इस प्रकार के दुर्धर-कठिन अनुष्ठान के करने से परलोक में विशिष्ट फल होगा या नहीं, ऐसा भय रखना परलोक भय है। **(र.क. श्रा. १२९)**

---

१. मैंने सल्लेखना ले ली है। अब कोई घोर परीषह या उपसर्ग आ गया तो बड़ी कठिनाई हो जाएगी, शीघ्र मरण हो जावे तो अच्छा, ऐसे विचार मरणाशंसा है।

९. प्रश्न : सल्लेखना के ये अतिचार कैसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : जीविताशंसा आदि सल्लेखना के अतिचार हैं क्योंकि ये समाधिमरण हेतु उपयोगी हो रही उत्कृष्ट आत्मविशुद्धि की क्षति का कारण हैं, अत: अतिचार हैं। **(श्लो. ९/६४८)**

दान

दान का लक्षण

अनुग्रहार्थं-स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

अनुग्रहार्थं-स्वस्य-अतिसर्ग: दानम्।

(अनुग्रहार्थं) अनुग्रह-उपकार के लिए **(स्वस्य)** धन का **(अतिसर्ग:)** त्याग करना **(दानं)** दान है।

अर्थ - स्व और पर के उपकार के लिए अपने धन का त्याग करना दान है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यहाँ शिष्य कहता है कि आपने तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के कथन में 'शक्ति अनुसार त्याग' 'शक्ति अनुसार तप' बताया है तथा सात प्रकार के शीलव्रतों के वर्णन में भी अतिथिसंविभाग कहा है जिसका दूसरा नाम दान है परन्तु दान का लक्षण कहीं पर भी नहीं कहा, उस दान का लक्षण कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३८)**

२. प्रश्न : दान किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'स्व' शब्द धन का पर्यायवाची है। स्व शब्द के आत्मा, आत्मीय जाति, धन आदि अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु यहाँ पर 'स्व' शब्द का अर्थ 'धन' का पर्यायवाचक ग्रहण करना चाहिए। स्व पर का अनुग्रह करने के लिए धन का त्याग करना दान है। **(रा.वा. २)**

रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रदान करने की इच्छा का नाम दान है। **(ध. १३/३८९)**

सात गुणों सहित और कौलिक (कुल सम्बन्धी), आचरणिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित दाता के द्वारा सूना रहित गृह सम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का नवधा-भक्ति पूर्वक जो आहारादि के द्वारा गौरव किया जाता है वह दान माना जाता है। **(र.क.श्रा. ११३)**

३. प्रश्न : 'अनुग्रहार्थम्' किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्व और पर का उपकार अनुग्रह है, स्वोपकार एवं परोपकार को अनुग्रह कहते हैं। **(शां.पु. ११/८७)**

स्वोपकार - साधुओं को दान देने से दाता के पुण्य का संचय होता है, वह स्वोपकार है। **(रा.वा.१)**

दान देने से विशेष पुण्य बन्ध होता है तथा इससे जो यश फैलता है वह अपना उपकार कहलाता है। **(शां. पु. ११/८८)**

परोपकार - शुद्ध आहारादि का ग्रहण करने से साधुओं के ज्ञान-ध्यान की वृद्धि होती है, वह परोपकार है। **(रा.वा. १)**

जिस दान से पात्र के प्राणों की रक्षा होती है, फल स्वरूप वह पात्र धर्मध्यान, व्युत्सर्ग, षट्-आवश्यक, तप एवं व्रत का पालन करता है, जिससे उसका चित्त स्थिर रहता है, उसकी क्षुधा का भी नाश होता है उसे आरोग्य सुख पहुँचता है एवं वह शास्त्रों का पठन-पाठन करने में समर्थ होता है वह परोपकार है। **(शां. पु. ११/८९, ९०)**

४. प्रश्न : सूना किसे कहते हैं एवं वे कितने होते हैं ?

उत्तर : जीवघात के प्रमुख स्थानों को सूना कहते हैं।[१]

सूना पाँच होते हैं-

(१) खण्डनी (२) पेषणी (३) चुल्ली (४) उद्कुम्भ (५) प्रमार्जनी।

खण्डनी - ओखली (जिसमें कूटा जाता है) वह खण्डनी है।

पेषणी - चक्की जिसमें पीसा जाता है वह पेषणी है।

चुल्ली - जिस पर भोजन बनाया जाता है वह चुल्ली है।

उद्कुम्भ - जहाँ पानी के घड़े आदि रखे जाते हैं वह उद्कुम्भ है।

प्रमार्जनी - बुहारी - जिससे झाड़ू लगाई जाती है वह प्रमार्जनी है। **(र.क.श्रा. ११३ टी.)**

५. प्रश्न : नवधाभक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : (१) प्रतिग्रह (२) उच्चस्थान (३) पादोदक (पाद प्रक्षालन) (४) अर्चा करना (पूजा) (५) प्रणाम करना (नमोऽस्तु) (६) मन:शुद्धि (७) वचन शुद्धि (८) काय शुद्धि (९) एषणा शुद्धि।

प्रतिग्रह - पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर अथवा अन्यत्र से विमार्गण कर, खोजकर, नमस्कार हो, 'ठहरिए' ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए।

---

१. खण्डनी, पेषणी, चुल्ली, उद्कुम्भ और प्रमार्जनी पाँच तो ये और छठा द्रव्य का उपार्जन। गृहस्थ के ये छह आरम्भ सदा होते रहते हैं। (उ. श्रा. २४४-४५)

उच्चस्थान - पुन: अपने घर में ले जाकर निरवद्य (निर्दोष) तथा ऊँचे स्थान पर बिठाकर तदनन्तर उनके चरणों को धोना चाहिए।

पादोदक - पवित्र पादोदक (गंधोदक) को शिर में लगाना चाहिए।

अर्चा - पुन: जल, गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से पूजन करना अर्चा है।

प्रणाम - तदनन्तर अर्चा के बाद चरणों के सामने पुष्पाञ्जलि क्षेपण कर वन्दना करना प्रणाम है।

मन:शुद्धि - आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर मन:शुद्धि करना मन:शुद्धि है।

वचनशुद्धि - निष्ठुर और कर्कश आदि वचनों के त्याग करने को वचनशुद्धि जानना चाहिए।

कायशुद्धि - सब ओर से सम्पुटित और विनीत अंग रखने वाले दातार के कायशुद्धि होती है।

एषणा शुद्धि - चौदह मल दोषों से रहित, यतना से (यत्न पूर्वक) शोधकर संयमी जन को जो आहार दिया जाता है वह एषणा शुद्धि है। **(वसु. श्रा. २२५-३१)**

६. प्रश्न : क्या अपने मांस को देना दान है ?

उत्तर : 'अनुग्रहार्थं स्वस्य' इस विशेषण से अपने मांस को देना (शिर चढ़ाना, पशुबलि आदि) दान करने का निषेध हो जाता है क्योंकि मांस अपने और दूसरे का अपकार करने वाला है तथा मांस, रक्त आदि धन नहीं है, दोनों के अपकार का ही हेतु है इसलिए सूत्र में आये 'स्व' शब्द से मांसादि देने का निषेध हो जाता है। **(श्लो. ६/६४९-५०)**

७. प्रश्न : मांस-दान से क्या हानि है ?

उत्तर : जो मूढ़ मांस का दान करते हैं और जो लोलुपी मांस को ग्रहण करते हैं, वे हिंसा मार्ग के प्रवर्तक दोनों (दाता-पात्र) ही मरकर नरक में निवास करते हैं। जो मूढ़बुद्धि धर्म के लिए मांस को देते हैं, वे निश्चय से कालकूट विष को खाकर जीने की इच्छा करते हैं। **(अ.श्रा. ९/६७-६८)**

दान के फलविशेष

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष: ॥३९॥

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्-तत्-विशेष:।

(विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्) विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से (तद्विशेष:) उस दान के फल में विशेषता होती है।

अर्थ - विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दाता विशेष एवं पात्र विशेष से दान के फल में विशेषता प्राप्त होती है।

विधि विशेष - प्रतिग्रहादि नवधा भक्ति को विधि विशेष कहते हैं।

द्रव्य विशेष - तप स्वाध्याय आदि की वृद्धि का कारणभूत द्रव्य विशेष है।

दातृ विशेष - सात गुणों से युक्त दाता विशेष है।

पात्र विशेष - मोक्ष के कारणभूत गुणों का संयोग जिसमें है वह पात्र विशेष है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यहाँ शिष्य कहता है कि दान का फल सबको समान मिलता है कि उसमें कुछ विशेषता है ? उस दान के विशिष्ट फल को या फल में भेद करने वाले कारणों को कहते हैं क्योंकि सबको समान फल नहीं मिलता। दान में होने वाले फल विशेष को बताने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ३९)**

२. प्रश्न : दान के फल में विशेषता किन-किन कारणों से आती है ?

उत्तर : विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दातार विशेष तथा पात्र विशेष से दान के फल में विशेषता आती है। **(त.सू. ७/३९)**

गृहस्थों को विधि के अनुसार, देश के अनुसार, अपनी शक्ति के अनुसार, आगम के अनुसार, पात्र के अनुसार एवं समय-ऋतु के अनुसार दान देना चाहिए। इस प्रकार दान देने से दान के फल में विशेषता आती है। **(स.कौ. ४/३३०)**

३. प्रश्न : दान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : दान तीन प्रकार का होता है-

(१) शास्त्र दान (२) अभय दान (३) आहार दान। **(म.पु. ५६/६७)**

(१) राजस दान (२) तामसदान (३) सात्त्विक दान। **(य.ति.च. ८/३७४)**

दान चार प्रकार का है- (१) आहारदान (२) औषधदान (३) उपकरणदान (४) आवासदान **(र.क. श्रा. ११७)**

(१) दया दत्ति (२) पात्र दत्ति (३) समदत्ति (४) अन्वय दत्ति। **(म.पु. ३८/३५)**

(१) करुणादान (२) औषधदान (३) शास्त्रदान (४) अभयदान। **(वसु.श्रा. २३५-३८)**

(१) अभयदान (२) अन्नदान (३) औषध दान (४) ज्ञानदान। **(अ.श्रा. ९/८३)**

४. प्रश्न : आहारदान किसे कहते हैं ?

उत्तर : हिंसा आदि दोषों से तथा आरम्भ से दूर रहने वाले मुनि आदि पात्रों को उनके शरीर की स्थिति के लिए विधिपूर्वक आहार देना आहारदान है। यह दान देने और लेने वाले दोनों को ही परम्परया कर्मनिर्जरा एवं साक्षात् पुण्यास्रव का कारण है।

हिंसादि दोषों से दूर रहने वाले ज्ञानियों को उनके शरीर आदि की रक्षा के लिए शुद्ध आहार देना आहारदान है। **(म.पु. ५६/७१)**

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य यह चार प्रकार का श्रेष्ठ आहार नवधा-भक्ति से तीन प्रकार के पात्रों को देना चाहिए अर्थात् तीन प्रकार के पात्रों को देना आहारदान है। **(वसु. श्रा. २३४)**

नवधा भक्ति : (१) **प्रतिग्रह** - पड़गाहन करना (२) **उच्चासन** - उच्चासन पर विराजमान होने की प्रार्थना (३) **पादप्रक्षालन** - गुरु के चरणों को धोकर गन्धोदक लेना (४) **पूजन** - अष्ट द्रव्य से पूजा करना (५) **प्रणाम** - गवासन पूर्वक नमस्कार करना (६) **मन:शुद्धि** - मन में वैर-विरोध, ईर्षा, आदि परिणाम न होना (७) **वचनशुद्धि** - वचनों से कठोर, कटुक आदि वचन नहीं बोलना (८) **कायशुद्धि**- शरीर की शुद्धि (९) **एषणशुद्धि** - भोजन की शुद्धि। **(र.क.श्रा.टी. ११३)**

५. प्रश्न : आहारदान किस विधि से देना चाहिए ?

उत्तर : पूर्वोक्त नवधा भक्ति ही आहारदान की विधि है। **(रा.वा. १)**

जिसने स्नान से पवित्र होकर धोती दुपट्टा धारण किया है, जो अपने भवन के द्वार पर खड़ा है, आकुलता से रहित है, ऐसा श्रावक स्वयं आये हुए तपोधन को देखकर नमोऽस्तु....., तिष्ठ... ऐसी ध्वनि करता हुआ अत्यन्त हर्ष के साथ उन्हें स्वीकार अर्थात् पड़गाहता है। (और नवधा भक्ति पूर्वक आहार देता है)। **(अ.श्रा. १०/४०)**

६. प्रश्न : विधि पूर्वक दान देने से क्या फल मिलता है ?

उत्तर : संक्लेश रहित पात्र को प्रतिग्रह आदि नवधा भक्ति पूर्वक दान देने वाले दाता को सातिशय पुण्य का आस्रव होता है। किञ्चित् संक्लेश युक्त बहुभाग विशुद्धि से मध्यम श्रेणी का पुण्यास्रव होता है और बहुत संक्लेश युक्त अल्प विशुद्धि से स्वल्प पुण्य का आस्रव होता है अर्थात् निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट विशुद्धि से किये गये प्रतिग्रह आदि विधि से दाता को स्वल्प, मध्यम और उत्कृष्ट अनुभाग वाले पुण्य का आस्रव होता है। **(श्लो. ६/६५२)**

७. प्रश्न : द्रव्य विशेष क्या है ?

उत्तर : हित-मित-प्रासुक शुद्ध अन्न-पान, निर्दोष हितकारी औषध, निराकुल-स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओं को आवश्यकता के अनुसार सुपात्र में देता है, वह मोक्षमार्ग में अग्रगामी होता है। **(र.सा. २४)**

८. प्रश्न : कैसा द्रव्य आहार में देना चाहिए ?

उत्तर : दिये जाने वाले अन्न आदि में ग्रहण करने वाले के तप, स्वाध्याय के परिणामों की वृद्धि की कारणभूतता है, वा जो ग्रहण करने वाले के तप, स्वाध्याय, ध्यान और परिणामों की शुद्धि आदि की वृद्धि का कारण हो वह द्रव्य विशेष है। **(रा.वा. ३)**

मुनिराज की प्रकृति शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म या पित्त रूप में से कौनसी है, कायोत्सर्ग वा गमनागमन से कितना परिश्रम हुआ है, शरीर ज्वरादि से पीड़ित तो नहीं है। उपवास से कण्ठ शुष्क तो नहीं है, इत्यादि बातों का विचार करके उसके उपचार स्वरूप आहार देना चाहिए। **(र.सा. २२)**

जिस पुरुष का जो अन्न पेट में पहुँचने पर ध्यान, तप और ब्रह्मचर्य के द्वारा सुखपूर्वक जीर्ण हो जाए (पच जाय) वह अन्न पात्र को भी संसार से पार उतारता है और दान देने वाले दाता को भी पार उतारता है। इस प्रकार उत्तम पात्र को जो निर्दोष, प्रासुक, शुद्ध, निर्मल, योग्य, मन और देह को सुखकारक आहार दिया जाता है, वही श्रेष्ठ देय द्रव्य गिना जाता है। **(प्रा.भा.सं. देवसेनकृत १६२-१६३)** भिक्षा में जो अन्न दिया जाता है वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण, स्वाध्याय आदि को बढाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है। **(चा.सा. ७०)**

९. प्रश्न : कैसा द्रव्य आहार में नहीं देना चाहिए ?

उत्तर : जिस दान से महापात्रता नष्ट हो जाय; मोह, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता आदि उत्पन्न हो जाँय, जीवों का घात हो, वचन दुष्ट या कठोर कहने पड़ें, मनुष्यों को राग-द्वेष उत्पन्न हो जाय, लोक-निन्दा हो वा और भी अनेक पाप हों, ब्रह्मचर्य का घात हो, मन मलिन हो जाय, आर्त्त-रौद्र ध्यान की प्रवृत्ति हो जाय, धर्म-ध्यान-शुक्लध्यान में विघ्न हो जाय, मद उत्पन्न हो जाय, इन्द्रियाँ आदि अपने व्यापार में लग जाँय, गुण नष्ट हो जाँय, व्रत छूट जाँय, रत्नत्रय में दोष लग जाय, ऐसा दान उत्तम विद्वानों को कण्ठगत प्राण होने पर भी नहीं देना चाहिए। **(प्र.श्रा. २०/१५६-५९)**

१०. प्रश्न : द्रव्य की विशेषता से दान के फल में विशेषता किस प्रकार आती है ?

उत्तर : पात्रों के गुणों की वृद्धि करने वाला द्रव्य यदि अर्पित किया जाता है तो वह दाता को पुण्यास्रव कराने वाला होता है। दोषों (शारीरिक एवं आत्मीय) की वृद्धि करने वाला द्रव्य यदि पात्र को समर्पित किया जायेगा तो वह दाता को पापास्रव कराने वाला होगा। तथा कुछ गुण और कुछ दोषों दोनों को मिश्रित करने वाला द्रव्य यदि पात्र को दिया जायेगा तो पुण्य-पाप दोनों का मिश्र आस्रव कराने वाला होगा। **(श्लो. वा. ६/६५३)**

११. प्रश्न : दान देने वाला दातार कैसा होता है ?

उत्तर : पात्र के प्रति ईर्षा का नहीं होना, त्याग में विषाद नहीं होना, देने की इच्छा रखने वाले में, देने वाले में वा जिसने दान दिया है उन सबमें प्रीति होना, कुशल अभिप्राय होना, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना और निदान नहीं करना, ये सब दाता की विशेषताएँ हैं। **(रा.वा. ४)** जो विनीत हो, धर्मात्मा हो, अन्य पुरुषों से सेव्य हो, दान के कालक्रम का वेत्ता हो, व्रतियों के लिए दिये गये द्रव्य को जो अपना मानता हो और शेष द्रव्य को पुत्र-स्त्री आदि लुटेरों के द्वारा लूटा गया जैसा मानता हो, साधुजन तो मेरे दोनों लोकों में सुख देने वाले हैं और ये बन्धुजन दोनों लोकों में दु:ख करने वाले हैं ऐसा जो अपने हृदय में देखता हो वही दाता प्रशंसा के योग्य है। जो गृहकार्य में लगाये

गये धन को यहीं रहने वाला जानता है, धर्मकार्य में यथोचित लगाये गये धन को अपने साथ जाने वाला मानता है वही यथार्थ में दाता है। **(अ.श्रा. ९/१२-१९)**

अभ्यास पूर्वक दान देना, दान देने में विषाद नहीं करना, जो दान देने की इच्छा रखता है, जो दान देता है और जिसने दान दिया है उसके प्रति सदा प्रेम प्रगट करना, अपने दान देने की कुशलता, संसार में प्रसिद्धि हो, मेरे घर रत्नों की वर्षा हो, देव लोग भी मेरी प्रशंसा करें, इत्यादि प्रत्यक्ष फलों की इच्छा न रखना, दान देते हुए किसी को नहीं रोकना, निदान नहीं करना और श्रद्धादि सात गुणों को धारण करना तथा और भी ऐसे गुणों को धारण करना दाता की विशेषता है। **(चा.सा. ७०)**

१२. प्रश्न : दातार के कितने गुण होते हैं ?

उत्तर : दातार के सात गुण कहे गये हैं :- (१) भक्ति (२) तुष्टि (३) श्रद्धा (४) विज्ञान (५) अलोलुपता (६) सत्त्व (७) क्षमा।

(१) श्रद्धा (२) शक्ति (३) भक्ति (४) विज्ञान (५) अलुब्धता (६) क्षमा (७) त्याग। **(म.पु. २०/८२)**

(१) श्रद्धा (२) तुष्टि (३) भक्ति (४) विज्ञान (५) अलुब्धता (६) क्षमा (७) सत्य। **(र.क.श्रा. ११३ टी)**

अथवा दातार के अनेक गुण हैं - (१) संतोष (२) श्रद्धा (३) विनय (४) भक्ति (५) लोभहीनता (६) क्षमा (७) जीव रक्षा निरतता (८) गुण ग्राहकता (९) कालज्ञता। **(सु.र.सं. ४७४)**

१३. प्रश्न : श्रद्धादि गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : श्रद्धा - साधु को दान देने वाला पुरुष सदा ही अभीष्ट फल पाता है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा जिसके हृदय में नित्य रहती है उस श्रावक को श्रद्धा गुण से युक्त कहा गया है। श्रद्धा आस्तिक्य गुण को कहते हैं, श्रद्धा (आस्तिक्य) के न होने पर दान देने में अनादर हो सकता है।

भक्ति - जो पुरुष आलस्य रहित तथा शान्त है और धर्म को धारने वाले की सेवा में स्वयं तत्पर रहता है उसे ज्ञानीजनों ने भक्ति गुण से युक्त दाता कहा है।

पात्र के गुणों में आदर करना सो भक्ति नाम का गुण है।

तुष्टि - जिसके चित्त में पहले दिये गये दान में और अभी वर्तमान में दिये जाने वाले दान में संतोष है और देय वस्तु में जिनकी बुद्धि लोभ रहित है ऐसे दातार को जिनेन्द्र देव ने संतोष गुण युक्त कहा है।

विज्ञान - द्रव्य, क्षेत्र आदि को विचार करके जो बुद्धिमान श्रावक साधु को दान देता है उसे विज्ञानगुणयुक्त दाता कहते हैं। दान देने आदि के क्रम का ज्ञान होना सो विज्ञान नाम का गुण है।

अलोलुपता (अलुब्धता) - जो योगिजनों को मन, वचन, काय से भी सांसारिक फल की याचना नहीं करता हुआ दान देता है वह अलोलुपी श्रावक है।

दान देने की शक्ति को अलुब्धता कहते हैं।

सत्त्व - जो अल्प धनिक होकर भी भक्ति के भार से नम्रीभूत श्रावक आश्चर्य करने वाला दान देता है वह सत्त्वगुण से युक्त दाता सात्त्विक श्रावक है।

क्षमा - क्रोध रूप मलिन परिणाम का फल महान् दुर्निवार है, ऐसा सोच कर जो क्रोध नहीं करता है उसको क्षमावान कहते हैं।

सहनशीलता होना क्षमा गुण है। **(अ.श्रा. ९/३-१०)**

शक्ति - दान देने में आलस्य नहीं करना सो शक्ति नामका गुण है।

त्याग - उत्तम द्रव्य दान में देना सो त्याग है।

१४. प्रश्न : दातार कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : दातार तीन प्रकार के होते हैं-

(१) उत्कृष्ट दातार (२) मध्यम दातार (३) जघन्य दातार।

उत्कृष्ट दातार - साधु को आया सुनकर दान देने में बुद्धि करने वाला पुरुष उत्तम दाता कहा जाता है।

मध्यम दातार - साधु को देखकर दान देने वाला पुरुष मध्यम दाता कहलाता है।

जघन्य दातार - जो सुनकर, देखकर पीछे दान देता है वह जघन्य दाता कहलाता है।

अदाता - जो ताड़न, पीड़न, चोरी करके, रोष करके, तृष्णादि दोषों को करके या भयभीत होकर दान देता है उसे जिनेन्द्र देव ने दाता नहीं (अदाता) कहा है। **(अ.श्रा. ९/४०-४१)**

१५. प्रश्न : आहारदान का फल क्या है ?

उत्तर : जो पुरुष आहार देता है, उसके द्वारा शम, तप, दया, धर्म, संयम, नियम और दम आदि सभी गुण दिये जाते हैं। जो पुरुष भक्ति से व्रतियों को आहार देता है उसके घर में मनोवांछित और प्रशंसनीय भोजन सामग्री कभी क्षय को प्राप्त नहीं होती है, वह सभी कल्याणों का भाजन होता है जैसे समुद्र सर्व जलों का भाजन होता है। जैसे उत्तम स्त्रियाँ सौभाग्यशाली पुरुष के पास स्वयं आती हैं उसी प्रकार आहार दान करने वाले धन्य पुरुष के पास सर्व प्रकार की लक्ष्मियाँ अन्वेषण करके स्वयमेव शीघ्र आती हैं। आहारदान से तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि की सम्पदा प्राप्त होती है। चक्षु को आनन्द देती हुई चन्द्रमा की किरणों के समान दान देने से लक्ष्मी क्षीण नहीं होती है।

पृथ्वी के दान और प्रासुक आहार के दान के फल में तृण पर पड़ी पानी की बूंद और समुद्र के समान अन्तर है। सूर्य की किरणों के समान आहारदान देने वाले के साथ-साथ भोग जाते हैं। **(अ.श्रा.११/१५-२२)**

भोजन-दान देने पर तीनों ही दान दिये होते हैं। क्योंकि प्राणियों के भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है, भोजन के बल से ही साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है, और भोजन दान देने पर प्राणों की भी रक्षा होती है।

जो पुरुष इस लोक और परलोक के फल की इच्छा से रहित होकर परम भक्तिपूर्वक दान देता है वह समस्त संघ को रत्नत्रय में स्थापित करता है। उत्तम पात्र विशेष को उत्तम भक्ति से एक दिन भी दिया हुआ उत्तम दान इन्द्र पद के सुख को देता है। **(का.अ. ३६३-६४)**

१६. प्रश्न : पात्र विशेष किसे कहते हैं ?

उत्तर : मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र से जो युक्त है वह पात्र है। विशुद्ध गुणों को धारण करने से उस पात्र को पात्र-भाजन के समान जानना चाहिए। अथवा अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देने के कारण यान-पात्र-जहाज के समान समझना चाहिए।

दु:ख रूपी लहरों से व्याप्त, महा भयंकर, संसार रूपी समुद्र में उत्कृष्ट पात्र प्राणियों को अनायास ही तारने वाला है। जिस प्रकार समीचीन जहाज समुद्र में अपने ऊपर बैठे हुए पुरुष को तार देता है उसी प्रकार समीचीन उत्कृष्ट पात्र संसार-सागर में से अपने दातार को तार देता है जो रागादि दोषों से छुआ भी नहीं गया हो और जो अनेक गुणों से सहित हो ऐसा पुरुष पात्र कहलाता है। **(म.पु. २०/१३९)**

१७. प्रश्न : पात्र कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : पात्र **तीन** प्रकार के होते हैं-

(१) उत्तम पात्र (२) मध्यम पात्र (३) जघन्य पात्र। **(प्रा. भा. सं. ४९७)**

पात्र **दो** प्रकार के होते हैं-

(१) कम या अधिक ज्ञान वाला वेदमय पात्र।

(२) थोड़ा या बहुत तपश्चरण करने वाला तपोमय पात्र। **(प्रा.भा.सं. ५०५)**

पात्र **पाँच** प्रकार के होते हैं-

(१) समयी (शास्त्रज्ञ) (२) साधक (३) साधु (४) सूरि (आचार्य) (५) समय-दीपक (जैन शासन के प्रभावक)। **(य.ति.च. ८/३५१)**

१८. प्रश्न : उत्तम पात्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करता है। जो जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणा स्थान के भेद को जानकर जीवों की रक्षा करता है और सूर्य के समान परोपकार में तत्पर है; जैसे- सूर्य अन्धकार से दूर रहता है उसी प्रकार मुनि राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-काम-लोभ से दूर रहते हैं। जिन्होंने हृदय में निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र के आनन्द को प्राप्त किया

है, जो मुक्ति लक्ष्मी को वश में करने वाला है, जिसका शरीर उग्र कायक्लेश से कृश चलते हुए लक्ष्मी के मन्दिर के समान शोभित होता है, जिसकी प्रवृत्ति पाप से रहित है, जो इन्द्रियविजेता है, जो पूजा और अपमान, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ में राग-द्वेष से रहित है, ऐसा साधु उत्तम पात्र है। **(अ.श्रा. १०/५-२३)**

व्रत-नियम सहित संयमी साधु उत्तम पात्र है। **(वसु. २२१)**

जो व्रत, शील आदि से सहित सम्यग्दृष्टि है वह उत्तम पात्र है। **(म. पु. २०/१४१)**

जो प्राणी हिंसा से विरत, परिग्रह से रहित और राग-द्वेष से शून्य है उन्हें जिनेन्द्रदेव ने उत्तमपात्र कहा है। **(प.पु. १४/५३)**

१९. प्रश्न : मध्यम पात्र कौन होता है ?

उत्तर : जो पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान सम्यग्दर्शन रूपी आभूषण से युक्त है, जो पाँच अणुव्रत और सात शील रूप लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त है, जिसका चित्त सामायिक में लगा है, जिसका शरीर प्रोषधोपवास से सूख गया है, जो सचित्त आहार से निवृत्त है, जो दिवामैथुन का त्यागी है, जो असंयम से दूर है, जिसके परिग्रह की इच्छा का नाश हो गया है, जो पापकार्यों की कभी अनुमोदना नहीं करता है, जो उद्दिष्ट आहार से निवृत्त है, जो संसारभ्रमण से भयभीत है, जो उपासकाचार की विधि में प्रवीण है, जो समस्त कषाय की प्रवृत्ति से निवृत्त है, जो संसार के नाश में उद्यमी है वह मध्यम पात्र कहलाता है। **(अ.श्रा. १०/२७-३०)** ग्यारह प्रतिमा स्थानों में स्थित श्रावक मध्यम पात्र है। **(वसु. श्रा. २२२)** जो व्रत शील आदि की भावना से रहित सम्यग्दृष्टि है वह मध्यम पात्र है। **(म.पु. २०/१४०)** जो रत्नत्रय से युक्त है, श्रावक धर्म को पालने में सदा तत्पर है, धर्म और संवेग से सुशोभित है। प्रोषधोपवास आदि आवश्यकों को करने वाला है, देव, शास्त्र, गुरु का भक्त है और दान-पूजा आदि कर्त्तव्यों को सदा पालन करता है ऐसा श्रावक मध्यम पात्र है। **(प्र.श्रा. २०/१४-१५)**

२०. प्रश्न : जघन्य पात्र कौन होता है ?

उत्तर : जो चन्द्रमा की किरण के समान निर्मल सम्यग्दर्शन से युक्त है, जन्म, जरा, मरण की पीड़ा से भयभीत है, जो चार प्रकार के संघ में हित (प्रीति स्वभाव) से युक्त है; जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त है, जो जिन-शासन का प्रकाशक है, जो निरन्तर अपनी निन्दा-गर्हा करने में प्रवीण है, जो आत्म तत्त्व और परतत्त्व के विचार में पण्डित है, व्रताचरण में जो उत्सुक मनवाला है, जिनभाषित तत्त्व में विचक्षण है, धर्म के फल को देखने में संतुष्ट है, मोक्ष के अलावा और किसी फल को नहीं चाहता है, जिसका चित्त दया से द्रवित है ऐसा अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। **(अ.श्रा. १०/३१-३३)**

जो पुरुष मिथ्यादृष्टि है परन्तु मन्द कषाय होने से व्रत-शील आदि का पालन करता है वह जघन्य पात्र कहलाता है। **(म.पु. २०/१४०)**

जो सम्यग्दृष्टि है, श्री जिनशासन का भक्त है, जो पूजा-प्रतिष्ठा आदि करने में तत्पर है, संवेगादि गुणों से सुशोभित है, जिसको सात तत्त्वों एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि का पूर्ण श्रद्धान है, जो आठ मूलगुणों से विभूषित है ऐसा असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। **(प्र.श्रा. २०/१६-१७)** अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को जघन्य पात्र जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. २२२)**

२१. प्रश्न : वेदमय एवं तपोमय पात्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : वेदमय पात्र - वेद नाम सिद्धान्तशास्त्र का है। जो पुरुष सिद्धान्तशास्त्र को जानता है, उसके अर्थ को जानता है, नौ पदार्थ और छह द्रव्यों को जानता है, सभी गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवसमास को जानता है, परमात्मा के स्वरूप को जानता है, जीव का स्वभाव, कर्मों का स्वभाव और कर्म संयुक्त जीवों का स्वभाव विशेष रूप से जानता है वह वेदमय पात्र कहा जाता है।

तपोमय पात्र - जो जिनदेव के द्वारा उपदेश दिये गये बाह्य और अभ्यन्तर तपश्चरण के द्वारा अपना समय व्यतीत करता है और ब्रह्मचर्य का दृढ़ रूप से पालन करता है, ज्ञानवान है, वह तपोमय पात्र कहा जाता है। **(प्रा.भा.सं. ५०६-०८)**

२२. प्रश्न : पात्र को ही दान क्यों देना चाहिए ?

उत्तर : जिस प्रकार लोहे की बनी हुई नाव समुद्र से दूसरे को पार नहीं कर सकती उसी प्रकार कर्मों के भार से दबा हुआ दोषवान पात्र किसी को संसार समुद्र से पार नहीं कर सकता, इसलिए जो मोक्ष के साधनस्वरूप दिगम्बर भेष को धारण करते हैं, जो शरीर की स्थिति और ज्ञानादि गुणों की सिद्धि के लिए आहार की इच्छा करते हैं, जो बल, आयु, स्वाद और शरीर को पुष्ट करने की इच्छा नहीं करते, जो केवल प्राण धारण करने के लिए थोड़े से ग्रासों से ही संतुष्ट हो जाते हैं और जो निज तथा पर को तारने वाले हैं ऐसे उपर्युक्त गुणों से सहित मुनिराज ही पात्र हो सकते हैं, उनके लिए दिया हुआ आहार अपुनर्भव (मोक्ष) का कारण है। **(म.पु. २०/१४४-४८)**

२३. प्रश्न : पात्रदान से सम्यग्दृष्टि कहाँ उत्पन्न होता है ?

उत्तर : अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत जीव तीनों प्रकार के पात्रों को दान देकर स्वर्गों में महर्द्धिक देव होते हैं। वहाँ सैकड़ों अप्सराओं के मध्य नाना प्रकार के देवसुखों को भोगकर आयु के अन्त में वहाँ से च्युत होकर माण्डलिक राजा आदि में उत्पन्न होकर वहाँ नाना प्रकार के मनुष्यों के सुखों को भोगकर भयरहित होते हुए वे कोई भी वैराग्य का कारण देखकर प्रतिबोध को प्राप्त हो, राज्य लक्ष्मी को छोड़कर और संयम को ग्रहण कर, कितने ही केवलज्ञान को उत्पन्न कर निर्वाण प्राप्त करते हैं और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्व को पुन: पुन: प्राप्त कर सात-आठ भव के पश्चात् नियम से कर्मक्षय करते हैं। **(वसु. श्रा. २६५-६७)**

पात्र को दान देकर सम्यग्दृष्टि अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जाता है। पात्रदानी सम्यग्दृष्टि पुण्यहीन को दुर्लभ ऐसी चक्रवर्ती आदि की सम्पदा को प्राप्त कर निराकुलता से काल व्यतीत करता है, पात्रदान से क्या

नहीं मिलता है, सब कुछ मिलता है। वह स्वर्ग की महान् लक्ष्मी को भोगकर दो-तीन भव में ध्यान रूपी अग्नि से कर्म को नष्टकर आपदरहित मोक्ष को प्राप्त करता है। जिनभाषित व्रत का पालक जीव मुनिराज को दान देकर जघन्य से सात-आठ भव में कर्मवन को काटकर मोक्ष प्राप्त करता है। निर्मल सम्यक्त्व रूपी जल से वृद्धि को प्राप्त पात्रदान रूपी पूजनीक वृक्ष ऐसा फल देता है कि उसका वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है। **(अ.श्रा. ११/१२२-२५)**

बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्य पात्र दान देने से और ऐसे ही तिर्यञ्च पात्रदान की अनुमोदना करने से उत्तम भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं। **(वसु. श्रा. २४९)**

२४. प्रश्न : पात्रदान देकर मिथ्यादृष्टि कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : उत्तम पात्र को दान देने अथवा उनके लिए की गई दान की अनुमोदना से जीव जिस भोग भूमि में उत्पन्न होते हैं उसमें जीवन पर्यन्त नीरोग रह कर सुख से बढ़ते रहते हैं। **(म.पु. ९/८५)**

जो मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट पात्र को दान देता है वह उत्तम भोगभूमि में जाता है। **(अ.श्रा. ११/६२)**

मिथ्यादृष्टि मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोग भूमि में और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि में जाता है। **(वसु. श्रा. २४६-४७)**

२५. प्रश्न : कुपात्र कौन होता है ?

उत्तर : कुपात्र लोक में कुबुद्धि और स्व-पर वञ्चक होता है, यह तत्त्वज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि कुपात्र पाषाण के जहाज के समान स्व और पर को डुबोने वाला जानना चाहिए। **(अ.श्रा. १०/३४-३५)**

जो स्थूल हिंसा से निवृत्त है परन्तु मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र के धारक हैं, वे कुपात्र कहलाते हैं। **(हरि. पु. ७/११४)**

२६. प्रश्न : कुपात्र को दान देने से क्या फल मिलता है ?

उत्तर : कुपात्रदान के प्रभाव से मनुष्य भोगभूमि में तिर्यञ्च होता है अथवा कुमानुष कुलों में उत्पन्न होकर अन्तरद्वीपों का उपभोग करता है। **(हरि.पु. ७/११५)** कुपात्रदान से जीव कुभोगभूमि में जाता है। जैसे कोई खोटी भूमि में बीज बोकर सुक्षेत्र के फल को प्राप्त नहीं होता। जो अन्तरद्वीप, लवणसमुद्र, कालोदधि समुद्र आदि छ्यानवे कुभोग भूमि के टापू पर उत्पन्न मनुष्य और म्लेच्छ खण्ड में उत्पन्न मनुष्य हैं वे सब यथायोग्य कुपात्रदान के ही फलस्वरूप हैं। उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में तिर्यञ्च भी कुपात्रदान के फल से होते हैं। वे कुपात्रदान रूपी वृक्ष के फलों को भोगते हैं, कुपात्रदान के फल से ही आर्यखण्ड में दासी-दास, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ता आदि भोगवंत जीवों में उत्पन्न होते हैं, कुपात्रदान के फल से आर्यखण्ड में नीच जाति के जीवों में भोगों की प्राप्ति होती है। **(अ.श्रा. ११/८४-८८)**

२७. प्रश्न : अपात्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दयारहित हो जीव को मारता है, झूठे और कठोर वचन बोलता है, बिना दिए धन

को हरता है, कामबाण से पीड़ित होकर स्त्री का सेवन करता है, नाना दोष करने वाले परिग्रह से सहित होता है, मदिरा पीता है, मांस खाता है, पाप करने में प्रवीण है, दृढ़ कुटुम्ब परिग्रह के पिंजरे सहित है, समताशील गुणव्रत से रहित है उस विषयलोलुपी को आचार्य अपात्र कहते हैं। **(अ.श्रा. १०/३६-३८)**

तीव्र कषायों से युक्त व्रत, शील आदि से रहित मिथ्यादृष्टि पात्र नहीं है अर्थात् अपात्र है। **(म.पु. २०/१४१)**

२८. प्रश्न : अपात्रदान का फल क्या है ?

उत्तर : अपात्र के लिए दिया गया जो धन है वह व्यर्थ है। जैसे जलती-अग्नि में डाला गया बीज अंकुरित नहीं होता है। अपात्रदान का फल मात्र पाप ही है, बड़ा अनर्थ करने वाला है जैसे- अपथ्य भोजन रोग को ही देता है। सुन्दर भोजन बनाकर अपात्र को देने का अर्थ पुष्टकारी धान्य को उत्पन्न करके जलाना है। **(अ.श्रा १०/५२-५५)**

जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है और जो विषय-कषाय में अधिक हैं, ऐसे पुरुषों के प्रति सेवा, उपकार या दान कुदेव रूप में, कुमानुष रूप में फलता है। **(प्र.सा. २५७)**

जिस प्रकार नीम के वृक्ष में पड़ा हुआ पानी कडुआ हो जाता है, कोदों में दिया पानी मदकारक हो जाता है और सर्प के मुख में पड़ा दूध विष हो जाता है उसी प्रकार अपात्र के लिए दिया हुआ दान विपरीत फल को करने वाला हो जाता है। **(हरि. पु. ७/११८)**

जिस प्रकार ऊसर खेत में बोये गये बीज से कुछ भी नहीं उगता है, उसी प्रकार अपात्र में दिया गया दान भी फलरहित जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. २४२)**

२९. प्रश्न : क्या अपात्र में दिया गया दान सर्वथा दु:ख देने वाला होता है ?

उत्तर : जिस वस्तु से दाता और पात्र का अन्तरंग विशुद्ध हो जाय ऐसी वस्तु (खाद्य, ज्ञान, पुस्तकादि) हो वह अपात्र के लिए भी दी जाय तो परिपाक में नियम से सफल ही होगी। जो वस्तु संक्लेशों के द्वारा दाता एवं पात्र की दुर्गति कर देने वाली है वह पात्र के लिए अत्यधिक भी दी जाय तो वह कभी भी सफल नहीं हो सकती है। स्याद्वाद सिद्धान्त में सब घटित होता है। **(श्लो. ६/६५७)**

३०. प्रश्न : औषधि दान किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्तम आदि पात्रों के देह में कोई व्याधि हो, तो उसे ज्ञात कर बुद्धिमानों को हिंसा आदि पाप कर्मों से रहित प्रस्तुत की गई रोग-क्लेश आदि दूर करने वाली औषधि उन पात्रों को देना औषधदान है। **(शां. पु. ११/९६)**

३१. प्रश्न : औषधिदान क्यों देना चाहिए ?

उत्तर : यत: रोग सहित साधु तप नहीं कर सकता। अत: उसके रोग को दूर करने के लिए प्रासुक

औषधि देना योग्य है। यत: देह के बिना धर्म संभव नहीं और धर्म बिना सुख मिलना संभव नहीं है अत: देह की रक्षा के लिए साधु को औषधि देना चाहिए। संयम का आधार शरीर है। अत: तपस्वियों के शरीर की मुक्ति चाहने वाले पुरुष प्रासुक औषधियों से प्रयत्न पूर्वक उनकी रक्षा करें। **(अ.श्रा. ९/१००-२)** संयमी साधुओं के शारीरिक, मानसिक व आगन्तुक व्याधियों की पीड़ा होने पर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उनकी उपेक्षा करने से उनके रत्नत्रय की विराधना होती है और श्रावकों का अधर्मकार्य प्रगट होता है अत: औषधिदान करना चाहिए। **(य.ति.च. ८/३८०-३८१)**

रोगियों के लिए देह के रोगों की नाशक औषधि देना चाहिए क्योंकि देह के विनाश होने पर आत्मा को ज्ञान कैसे प्राप्त होगा और ज्ञान के अभाव में फिर मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार मोक्ष के हेतु सदा औषधिदान देना चाहिए, जिससे कि यह स्वयं इस भव में व्याधि से रहित रहे। **(पू.श्रा. ६८)**

शरीर के नीरोग रहने पर ही चूँकि समीचीन ज्ञान, शान्ति, दान्ति, तप, ध्यान, मौन और व्रत से सम्पन्न सब ही कार्य कल्याण के कारण होते हैं, इसलिए मनुष्य को तीव्र रोगों के विस्तार से जिनका शरीर पीड़ित हो रहा है उन साधुओं को निर्दोष औषधि प्रदान करना चाहिए, कारण कि ऐसा करने से उनकी उक्त रोगों से रक्षा होती है और इससे यथार्थ सुख के साधनभूत सम्यग्ज्ञानादि को धारण करने में समर्थ होते हैं। **(सु.र.सं. ४७९)**

३२. प्रश्न : कैसी औषधि दान में देना चाहिए ?

उत्तर : दान देने योग्य औषधि निर्दोष हो, प्रासुक हो, प्रशंसनीय हो, अनिन्द्य हो, भक्ष्य हो और म्लेच्छ आदि नीच जनों के स्पर्श रहित हो, ऐसी उत्तम औषधि ही श्रेष्ठ पुरुषों को दान देनी चाहिए। यदि पात्रों के लिए निन्द्य और अस्पृश्य औषधि दी जाती है तो वह दाता उसके देने से भव-भव में नरकग्राम में जाने वाला होता है। **(उ.श्रा. २३५-३६)**

३३. प्रश्न : औषधि दान देने से क्या फल मिलता है ?

उत्तर : औषधि दान के फल को कहने में कोई समर्थ नहीं है। मैं ऐसा मानता हूँ कि जो इस लोक में औषधि दान के फल को कहना चाहता है वह समुद्र के पानी को चुल्लुओं से मापना चाहता है। **(अ.श्रा. ११/३२-३३)**

औषधि देने वाला रोगी नहीं होता, उसके रोग उसी प्रकार दूर रहते हैं जिस प्रकार अग्नि का सेवन करने वाले के शीत दूर रहता है। उसके सिद्ध के समान महात्मा के सुख को कैसे कहें। यहाँ सिद्ध के समान कहा है सो उसके सिद्ध के समान रोग नहीं होता है इसलिए समानता देखकर उपमा दी गई है। औषधि देने वाला दीप्ति का भण्डार, कीर्ति का मन्दिर, सुन्दरता का समुद्र होता है। उसका यश सदा बना रहता है। जो औषधि देकर मुक्ति के लिए योगी के मन, वचन, काय को रागरहित करता है उसके धर्म का वर्णन कोई भी करने में समर्थ नहीं है। उसने साधु को औषधि देकर चारित्र, दर्शन, ज्ञान, विनय, नीति ये दिये ऐसा समझना चाहिए। **(अ.श्रा. ११/३२-४१)**

पवित्र वाणी बोलने वाली वृषभसेना नाम की श्रेष्ठिपुत्री औषधिदान से सर्वौषधि ऋद्धि से मण्डित हुई। **(उ. श्रा. २३७)**

जो मनुष्य अतिशय सुखप्रद औषधियों को देता है उसे, जिस प्रकार जल में डूबे हुए प्राणी को अग्नि बाधा नहीं पहुँचा सकती, उसी प्रकार वात आदि से उत्पन्न होकर समस्त अंगों से पीड़ित करने वाले रोग बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं। वह जन्म से मरण पर्यन्त अतिशय सुखी रहकर विशिष्ट कुल, शरीर, स्थान, कान्ति और प्रताप से युक्त होता है। **(सु.र. सं. ४९६)**

३४. प्रश्न : शास्त्र दान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मनुष्यों को सिद्धान्तग्रन्थों का उद्धार करने के लिए अवश्य द्रव्य देना चाहिए क्योंकि सिद्धान्तग्रन्थों का उद्धार करने से ही मनुष्यों का ज्ञान व सुख आदि सफल होते हैं। **(प्र.श्रा. २०-२२८)**

उन्नत बुद्धि के धारक भव्य जीवों को जो भक्ति से पुस्तक का दान किया जाता है अथवा उनके लिए तत्त्व का व्याख्यान किया जाता है उसे विद्वद्-जन श्रुतदान कहते हैं। **(प.पं.विं. ७/१०)**

जो आगम लिखवा कर यथायोग्य पात्रों को दिये जाते हैं, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए तथा जिन-वचनों का अध्यापन करना, पढ़ाना भी शास्त्रदान है। **(वसु.श्रा. २३७)** सत्पुरुषों का उपकार करने की इच्छा से शास्त्र का व्याख्यान करना या पठन सामग्री देना शास्त्रदान है।

३५. प्रश्न : कैसा शास्त्र दान में देना चाहिए ?

उत्तर : जिस शास्त्र से संसार का छेद हो, मोक्ष की प्राप्ति हो, मोह का नाश हो, मन शान्त हो, अकार्यों से छूटे, कार्य में प्रवृत्ति हो, पदार्थ के सच्चे स्वरूप का प्रकाशन हो तथा अन्यथा स्वरूप का निषेध हो, संयम के भाव उत्पन्न हों और सम्यक्त्व का पोषण हो ऐसा शास्त्र मुक्ति के लिए देना चाहिए। **(अ.श्रा. ११/४२-४५)**

३६. प्रश्न : शास्त्रदान देने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो शास्त्रदान देता है वह सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और लोकालोक के स्वरूप को जानता है। तथा क्रम से कर्मों का क्षय करता है। कहा है- शास्त्रदान देना चाहिए जिसके द्वारा अज्ञानी पुरुष भी चराचर सहित तीनों लोकों को जान लेता है। **(स.कौ. ४/३२४)**

जिस शास्त्रदान से केवलज्ञान होता है तो और मतिज्ञान आदि का कहना ही क्या ? दूसरे ज्ञान तो सहज ही प्राप्त होते हैं। ज्ञानदान से लोक में पूज्य मनुष्य और देव की लक्ष्मी को भोगकर मुक्ति को प्राप्त करता है। शास्त्रदान से चार पुरुषार्थों की सिद्धि होती है, शास्त्रदान संतों में पूज्य होता है, वादियों को जीतने वाला होता है, सभा को रंजायमान करने वाला वाग्मी (वक्ता) होता है, नवीन ग्रन्थों की रचना करने वाला कवि होता है, माननीय होता है, विख्यात शिक्षा (बुद्धि) वाला होता है। **(अ.श्रा. ११/४७-५०)**

शास्त्रदान देने वाले और लेने वाले दोनों के कर्मों का संवर एवं निर्जरा होती है और पुण्य बन्ध होता है। यह निजानन्द रूप मोक्षप्राप्ति का कारण है। **(म.पु. ५६/७२)**

३७. प्रश्न : शास्त्रदान को श्रेष्ठ क्यों माना गया है ?

उत्तर : संसार में ज्ञान से बढ़कर अन्य दान नहीं है और ज्ञान शास्त्र के बिना नहीं हो सकता। वास्तव में, शास्त्र ही हेय-उपादेय तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला श्रेष्ठ साधन है। शास्त्र का अच्छी तरह व्याख्यान करना, सुनना, चिन्तन करना, शुद्ध बुद्धि होने पर ही भव्य जीव हेय पदार्थ को छोड़कर और हितकारी पदार्थों को ग्रहण कर व्रती बनते हैं, मोक्षमार्ग का अवलम्बन लेकर क्रम-क्रम से इन्द्रियों तथा मन को शान्त करते हैं और अन्त में शुक्ल ध्यान का अवलम्बन लेकर अविनाशी मोक्षपद प्राप्त करते हैं अत: सब दानों में शास्त्रदान ही श्रेष्ठ है। **(म.पु. ५६/७३-७५)**

३८. प्रश्न : ज्ञानदान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अज्ञान को हरण करने वाला दूसरा त्याग ज्ञानदान है। यह ज्ञानदान सिद्धान्तशास्त्र के गोचर है अर्थात् सिद्धान्तशास्त्रों का पढ़ाना ज्ञानदान है। सिद्धान्त शास्त्र के शब्द, अर्थ वा शब्द-अर्थ दोनों जो श्रेष्ठ पात्रों के लिए दिये जाते हैं उसको ज्ञानदान कहते हैं। **(मू.प्र. २९९१-९२)**

३९. प्रश्न : ज्ञानदान से क्या फल मिलता है ?

उत्तर : जो सम्यग्ज्ञान अग्नि के समान कर्म रूपी वन को जलाता है, माता के समान दु:ख से रक्षा करता है, गुरु के समान समीचीन नीति को बतलाता है, स्वामी के समान पोषण करता है और तत्त्व-अतत्त्व को प्रगट करने में दक्ष है, उस स्पष्ट पवित्र एवं निर्मल सम्यग्ज्ञान को मनुष्य ज्ञानदान के द्वारा ही प्राप्त करता है। **(सु.र.सं. ४९४)**

ज्ञानदान के सिद्ध हो जाने पर कुछ थोड़े से ही भवों में मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है। तथा जिसके प्राप्त होने पर तीनों लोकों के प्राणी उत्सव की महिमा करते हैं। **(प.पं.विं. ७/१०)**

४०. प्रश्न : अभयदान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मरण से भयभीत जीवों का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सब दानों का शिखामणि रूप अभयदान जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. २३८)** जिस पर अनुग्रह करना आवश्यक है ऐसे दु:खी प्राणियों को दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धता से अभयदान देना **दयादत्ति** है।

निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन परिणाम रूप जो निज भावों का अभयदान, निज जीव की रक्षा और व्यवहार नय से पर प्राणियों के प्राणों की रक्षा रूप अभयदान यह स्वदया और परदया स्वरूप अभयदान है। **(प.प्र. २/१२७)**

मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक तथा तत्त्वज्ञाता मुनि द्वारा कर्मबन्ध के कारणों को छोड़ने हेतु प्राणी-पीड़ा का परित्याग करना अभयदान है, ऐसा करने से जीव निर्भय होता है। **(म.पु. ५६/७०-७२)**

४१. प्रश्न : अभयदान का क्या फल मिलता है ?

उत्तर : जिस महापुरुष ने जीवों की प्रीति का आश्रय लेकर अभयदान दिया उस महात्मा ने कौनसा तप नहीं किया और कौनसा दान नहीं दिया, क्योंकि अभयदान में सब तप, दान आ जाते हैं। **(ज्ञा. ८/५४)** अभयदान से रहित तीन प्रकार का दान व्यर्थ है। चूँकि आहार-औषधि और शास्त्र के दान की विधि से क्रमश: क्षुधा, रोग, अज्ञानता का भय नष्ट होता है अतएव वह एक अभयदान ही श्रेष्ठ है। **(प. पं. विं. ७/११)** अभयदान के फल को कल्पकाल पर्यन्त भी हजारों जिह्वाओं के माध्यम से भी नहीं कहा जा सकता है। अभयदान से कामदेव के समान सुन्दर शरीर मिलता है, मेरु के समान स्थिरता, समुद्र के समान गंभीरता और सूर्य के समान प्रभाशीलता मिलती है। सबका प्यारा होता है, सुन्दर होता है, सौम्य, त्यागी, भोगी और यश भण्डार होता है, दीर्घायु और नीरोग शरीर होता है, अभयदान से तीर्थंकर, चक्रवर्ती की सम्पदा क्षणभर में मिलती है, इसी से पण्डितों से मान्य और आपद रहित सम्पदा प्राप्त होती है, अभयदान से ही भूत-भविष्यत् और वर्तमान में असम्भवनीय सुख भी प्राप्त होता है। **(अ.श्रा. ११/९-१२)**

४२. प्रश्न : उपकरण दान किसे कहते हैं ?

उत्तर : विद्वान लोग धर्म के आधारभूत जिन-भवन में चन्दोवा, घण्टा, चामर, दीपक, झल्लरी, ताल, कंसाल, भृंगार, कलश आदि उत्तम-उत्तम धर्मोपकरण देकर महापुण्य सम्पादन करते हैं। **(प्र.श्रा. २०/१७४)**

जिनालय के निमित्त जो कुछ पृथिवी आदि का दान किया जाता है वह यहाँ धार्मिक संस्कृति का कारण होकर अंकुरित होता हुआ अतिशय दीर्घकाल तक रहता है। इसलिए उस दाता के द्वारा जैन शासन ही किया गया है।[१] **(प.पं.विं. २/५१)**

४३. प्रश्न : उपकरण दान देने का क्या फल मिलता है ?

उत्तर : जो भव्य जीव भक्ति से कुन्दुरु के पत्ते के बराबर जिनालय तथा जौ के बराबर जिन प्रतिमा का निर्माण कराते हैं उनके पुण्य का वर्णन करने के लिए यहाँ वाणी भी समर्थ नहीं है। फिर जो भव्य जीव उन दोनों (जिनालय, जिन प्रतिमा) का ही निर्माण कराता है उसके विषय में क्या कहा जाय ? फिर जो भव्य प्राणी विशाल जिनभवन का निर्माण कराकर उसमें मनोहर जिनप्रतिमा को प्रतिष्ठित कराता है उसको तो नि:सन्देह अपरिमित पुण्य का लाभ होने वाला है। **(प.पं.विं. ७/२२)**

संसार में चैत्यालय के होने पर अनेक भव्य जीव यात्राओं, अभिषेकों, सैकड़ों महोत्सवों, अनेक प्रकार के पूजा-विधानों, चंदोवों, नैवेद्यों, अन्य उपहारों, ध्वजाओं, कलशों, तोर्यत्रिकों (गीत, नृत्य, वादित्र) जागरणों तथा घंटा, चामर और दर्पणादिकों के द्वारा उत्कृष्ट शोभा का विस्तार करके निरन्तर पुण्य

१. उपकरणदान तीन प्रकार के हो सकते हैं- (१) यात्रा करा देना क्योंकि तीर्थक्षेत्र सम्यक्त्व के कारणभूत हैं। इसी प्रकार जिनमन्दिर बनाना, जिनबिम्बस्थापन, पंचकल्याणक करना आदि में भी जानना चाहिए। (२) शास्त्रवितरण करना, छपवाना आदि ज्ञानदान है। (३) पीछी कमण्डलु देना चारित्र के उपकरण दान हैं।

उपार्जन करते हैं। **(प.पं.विं. ७/२३)** । जिन मन्दिर में घण्टा समर्पण करने वाला पुरुष घंटाओं के शब्द से व्याप्त श्रेष्ठ विमानों में सुरसमूह से सेवित होकर अप्सराओं के मध्य क्रीड़ा करता है।

छत्र प्रदान करने से शत्रु रहित होकर पृथ्वी को एकछत्र भोगता है। चामरों के दान से चामरों के समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है। भगवान का अभिषेक करने से मनुष्य सुदर्शन मेरु के ऊपर क्षीरसागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा अभिषिक्त किया जाता है।

जिनमंदिर में पताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है तथा षट्-खण्ड का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है। **(वसु. श्रा. ४८९-९२)**

४४. प्रश्न : करुणादान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अति वृद्ध, बालक, मूक (गूंगा), अन्ध, बधिर, देशान्तरीय (परदेशी) और रोगी दरिद्री जीवों को करुणादान दे रहा हूँ, ऐसा कहकर (समझकर) यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए। यही करुणादान है। **(वसु. श्रा. २३५)**

करुणा भाव से, अथवा औचित्य देखकर दयालु पुरुष को अपनी शक्ति के अनुसार वृद्ध, दीन और कष्ट में पड़े हुए अन्य जीवों को भी दान देना चाहिए। **(गु.श्रा. ३/४९)**

४५. प्रश्न : दयादत्ति आदि किसे कहते हैं ?

उत्तर : दयादत्ति - अनुग्रह करने योग्य प्राणियों के समूह पर दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ उनके भय दूर करने को पण्डित लोग दयादत्ति मानते हैं।

पात्रदत्ति - महातपस्वी मुनियों के लिए सत्कार पूर्वक पड़गाहन करके जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदत्ति कहते हैं।

समदत्ति - गर्भाधानादि क्रिया-मंत्र और व्रत आदि से जो अपने समान है तथा जो संसार-समुद्र को पार कर लेने वाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिए पृथिवी-सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्र के लिए समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति, समदत्ति है।

सकलदत्ति - अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुल-पद्धति तथा धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करने को सकलदत्ति (अन्वय दत्ति) कहते हैं। **(म.पु. ३८/३६-४१)**

४६. प्रश्न : कुदान किसे कहते हैं ?

उत्तर : गौ, कन्या, सुवर्ण, घोड़ा, घर, पृथ्वी, तिल, रथ और दासी आदि का दान करना कुदान है, इन कुदानों को अज्ञानी ही किया करते हैं। **(प्र.श्रा. २०/१४९)**

४७. प्रश्न : कुदान देने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो अत्यन्त अज्ञानी पुरुष पुण्यार्थ गाय का दान देता है वह बन्धन, घात आदि से उत्पन्न पाप करता है।

जो पापों का महासागर कन्यादान करता है वह घर, मैथुन, हिंसा आदि से उत्पन्न समस्त पापों को करता है।

जो पापोत्पादक सुवर्ण का दान करता है वह हिंसा, मोह आदि से उत्पन्न महापाप करता है।

जो अज्ञानी हाथी, घोड़ा, रथ, दासी, पृथ्वी, तिल आदि का दान करता है वह हिंसात्मक महापाप करता है।

पुण्योपार्जन के लिए धन का दान तो कभी देना ही नहीं चाहिए क्योंकि धन का दान महा-मोह उत्पन्न करने वाला और रत्नत्रय का नाशक है।

हलाहल विष दे देना अच्छा लेकिन कुपात्रों में व्रत और ज्ञान का घातक कुदान देना अच्छा नहीं, क्योंकि विष से एक भव में ही प्राण नष्ट होते हैं परन्तु कुपात्रों को कुदान देने से अनेक भवों में दु:ख भोगने पड़ते हैं। जो अज्ञानी उत्तम मुनियों के लिए पापोत्पादक कुदान देता है वह सम्यक् चारित्र का घात करने से उत्पन्न पाप से नरक में ही पड़ता है। संसार में कृपण होना अच्छा परन्तु कुदान से होने वाले अनेक दु:खों के कारण और पापों के महासागर ऐसे दाता के दुर्गुण होना अच्छा नहीं। कुदान देने वाला महापापी होता है और भव-भव में दरिद्रता धारण करता है। **(प्र.श्रा. २०/१५०-६३)**

४८. प्रश्न : दान नहीं देने वाला कैसा होता है ?

उत्तर : जो पुरुष तपस्वियों को दान नहीं देता है उस स्वार्थी में एवं पशु में कुछ भी अन्तर नहीं है।

जिस घर में योगीश्वर को दान दिया जाता है वही उच्च घर है। जहाँ दान नहीं दिया जाता है उसे पण्डित लोग शरद् ऋतु के बादलों का मण्डल कहते हैं। जो घर योगीश्वर के चरणोदक से लीपा गया है वह सौध (घर) है और शेष मनुष्य रूप चरने वाले पशु का बन्धन है, दान देने वाला गृहस्थ माना जाता है और जो दान नहीं देता है, वह पक्षी के समान गृहस्थ नहीं माना जाता है ? जहाँ योगीश्वर का आहार न हो उस घर में कुबेर के समान सम्पत्ति से, उस समुद्र के पानी एवं उस घर के भोजन से क्या ? जो घर आये अतिथि का पड़गाहन नहीं करता है वह हाथ में आये चिन्तामणि को खोता है। जो अपने धन को साधु के लिए नहीं देता है वह अपने आप को ही ठगता है। जो योगी को भोजन कराता है, वह धन का स्वामी है; जो अपने धन से मुनि को भोजन नहीं कराता है वह धन की रखवाली करने वाला गुलाम है। **(अ.श्रा. ९/१७-२९)**

४९. प्रश्न : क्या तिर्यञ्च भी दान दे सकता है ?

उत्तर : हाँ, जब तिर्यञ्च संयतासंयत जीव सचित्त भक्षण (भोजन) के प्रत्याख्यान अर्थात् व्रत को ग्रहण कर लेते हैं तब उनके लिए सल्लकी के पत्ते आदि का दान करने वाले तिर्यञ्चों के दान देना मान लेने में कोई विरोध नहीं है। **(ध. ७/१२३)**

बंदर ने भी अपने पूर्व भव में की गई चिकित्सा के फलस्वरूप वन में मुनिराज के घाव जो उसके ही कृत उपसर्गों से हुए थे, उनकी योग्य चिकित्सा करके औषधि दान दिया। **(श्रेणिक चरित्र पृ. १८५)**

५०. प्रश्न : क्या दान देना धर्म है ?

उत्तर : लोक में अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक पात्र के लिए एक बार भी किया गया दान जैसे अनन्त फल को करता है वैसे फल को गृह (घर) की अनेक झंझटों से उत्पन्न हुए पाप समूहों के द्वारा कुबड़े (शक्तिहीन) किये गये गृहस्थव्रत नहीं करते हैं। **(प. पं. विं. २/१३)** ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय-कषाय के आधीन हैं, इससे इनके आर्त्त-रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण निश्चय रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग-परम धर्म का तो ठिकाना ही नहीं है। वह सम्यक्त्व पूर्वक आहार दान देता है तो परम्परा से मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिए दान देना ही गृहस्थों का परम धर्म है। **(प.प्र.टी. २/१११-४)**

५१. प्रश्न : सर्वोत्कृष्ट दान कौनसा है ?

उत्तर : जिस अभयदान से जीव का शरीर पुष्ट होता है, जैसे- समभाव से महाव्रत पुष्ट होते है। उस अभयदान के फल को कहने में कौन समर्थ है। केवलज्ञान सदृश दूसरा ज्ञान नहीं है, मोक्षसुख से बढ़कर और कोई सुख नहीं है और आहारदान से दूसरा उत्तम दान नहीं है। और जो कोई भी तीन-लोक में सुन्दर वस्तुएँ हैं वे सभी वस्तुएँ अभयदान करने वाले को लीला मात्र में शीघ्र आकर प्राप्त होती हैं। **(अ.श्रा. ११/२५-३०)**

जैसे - जल निश्चय से रुधिर को धो देता है वैसे ही अतिथियों के प्रति पूजन (नवधा भक्ति पूर्वक आहारदान) गृहकार्यों में संचित हुए पापों को नष्ट करता है। **(र.क.श्रा. ११४)**

५२. प्रश्न : दान के फल में विशेषता किस प्रकार आती है ?

उत्तर : विधि आदि की विशेषता से दाता के दान के फल में बड़ा भारी अन्तर पड़ता है। जैसे भूमि, प्रकाश, वायु, वृष्टि आदि विशेष कारणों से फलों की विशेषताएँ होती हैं। **(रा.वा. ६)** दान नौ प्रकार की विशुद्धतापूर्वक दिया जाता है, वही अनेक फल वाला होता है। दाता की विशुद्धता दान में दी जाने वाली वस्तु तथा दान लेने वाले पात्र को पवित्र करती है। दी जाने वाली वस्तु की पवित्रता देने वाले और लेने वाले को पवित्र करती है। इसी प्रकार लेने वाले की विशुद्धि देने वाले पुरुष को और देय वस्तु को पवित्र करती है और अनेक फल देने वाली होती है। **(म.पु. २०/१३६-३७)** द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव इनके भेद से बाह्य कारण अनेक प्रकार के हैं तथा श्रद्धा विशेष, उत्साह विशेष, क्षयोपशम विशेष, विशुद्धि विशेष आदि परिणाम स्वरूप अन्तरंग कारण भी अनेक प्रकार के हैं अत: अन्तरंग-बहिरंग कारणों से कार्यों में अन्तर पड़ता है। **(श्लो. ६/६५२)**

इस प्रकार तत्त्वार्थ मञ्जूषा में सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : अष्टम अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : २६ कुल प्रश्न : ५४२

- प्रथम सूत्र में बंध के हेतुओं का कथन है।
- दूसरे-तीसरे में बन्ध का लक्षण एवं भेद कहे गये हैं।
- ४थे-५वें सूत्र में मूल प्रकृतियों के नाम एवं उत्तर भेदों की संख्या बताई है।
- छठे से तेरहवें सूत्र तक उत्तर प्रकृतियों के नाम हैं।
- १४वें से १७वें सूत्र तक उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का कथन है।
- १८वें से २०वें सूत्र तक जघन्य स्थिति बन्ध का वर्णन है।
- २१वें से २४वें सूत्र तक अनुभाग बन्ध का कथन है।
- २५वें-२६वें सूत्र में पुण्य-पाप प्रकृतियों का कथन है।

बन्ध के हेतु

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः ।।१ ।।

मिथ्यादर्शन-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगाः बन्धहेतवः।

(मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः) मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (बन्धहेतवः) बन्ध के हेतु हैं।

अर्थ - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं।

मिथ्यादर्शन - तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान मिथ्यादर्शन है।

अविरति - विरति का अभाव होना अविरति है।

प्रमाद - अच्छे कार्यों को करने में आदर भाव न होना प्रमाद है।

कषाय - जो आत्मा को कषती है, वह कषाय है।

योग - मन, वचन, काय की क्रियाओं को योग कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस उद्देश्य से लिखा गया है ?

उत्तर : यद्यपि छठे और सातवें अध्याय में विविध फल के अनुग्रहतन्त्रभूत आस्रव के प्रकरणवश विस्तारपूर्वक आत्मा के कर्मबन्ध के कारणों का वर्णन कर चुके हैं; फिर भी संक्षेप में बन्ध के हेतु कौन-कौन से हैं ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १)**

२. प्रश्न : बन्ध क्या है ?

उत्तर : बन्ध चेतन और अचेतन द्रव्यों का परिणाम है। यद्यपि बन्ध नामादि की अपेक्षा चार प्रकार का है तथापि वह द्रव्य एवं भाव की अपेक्षा दो अवस्थाओं को धारण करता है। उसमें जतुबन्ध, काष्ठ बन्ध, रज्जुबन्ध, बेड़ी का बन्ध आदि की अपेक्षा द्रव्य बन्ध बहुत प्रकार का है एवं भावबन्ध-नोकर्म बन्ध और कर्म बन्ध के भेद से दो प्रकार है। माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नोकर्मबन्ध है। जो कर्म बन्ध है उसको पुनर्भविक कर्म बन्ध सन्तति का सद्भाव होने से सादि-सान्त और पूर्णतया नाश न होने से अनादि-अनन्त जानना चाहिए। क्योंकि बीज और अंकुर के समान इसके प्रादुर्भाव की सन्तति चलती रहती है। यहाँ (आठवें अध्याय में) द्रव्य बन्ध का वर्णन न करके प्रकरण की सामर्थ्य से भाव-बन्ध का वर्णन किया गया है। **(रा.वा.उ.१)**

३. प्रश्न : बन्ध के प्रत्यय कितने हैं ?

उत्तर : राग, द्वेष और मोह ये तीन प्रत्यय हैं, इनसे कर्मों का आस्रव होता है। **(न.च.वृ. ३०१)**

बन्ध के निश्चय से चार प्रत्यय कहे गये हैं -

(१) मिथ्यात्व (२) अविरमण (३) कषाय (४) योग। **(स.सा. १७१)**

बन्ध के पाँच प्रत्यय कहे गये हैं-

(१) मिथ्यादर्शन (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग। **(त.सू. ८/१ सू.)**

कर्मबन्ध के मूल हेतु चार हैं-

(१) मिथ्यात्व (२) असंयम (३) कषाय (४) योग।

इनके उत्तर भेद सत्तावन हैं-

५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह प्रमाद। **(गो.क. ७८६)**

नैगम, संग्रह व्यवहार नय से ज्ञानावरणीय वेदना (१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) रात्रि भोजन (७) क्रोध (८) मान (९) माया (१०) लोभ (११) राग (१२) द्वेष (१३) मोह (१४) प्रेम (१५) निदान (१६) अभ्याख्यान (१७) कलह (१८) पैशुन्य (१९) रति (२०) अरति (२१) उपधि (२२) निकृति (२३) मान (२४) माया (२५) मोष (२६) मिथ्याज्ञान (२७) मिथ्यादर्शन और (२८) प्रयोग इन प्रत्ययों से होती है। इसी प्रकार शेष सात कर्मों के प्रत्ययों की प्ररूपणा करनी चाहिए। **(ध. १२/२७५-२८५)**

बन्ध के प्रत्यय दो हैं- (१) कषाय (२) योग। **(द्र.सं. ३३)**

पाँच मिथ्यात्व, पाँच अविरति, चार कषाय, तीन योग ये सब कर्मों के आस्रव के द्वार हैं, ऐसा आगम में भली प्रकार कहा गया है। **(बा.अ. ४७)**

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये ही संक्षेप से बन्ध के हेतु हैं। इससे अधिक जोकुछ कहना है सो इन्हीं का विस्तार है। **(तत्त्वा. ८)**

४. प्रश्न : सूत्र में सर्व प्रथम बन्ध के स्वरूप को न बताकर बन्ध के हेतुओं का निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर : कारण के अभाव में बन्ध का सामर्थ्य कहना वा बन्ध की वार्ता करना निस्सार है। क्योंकि यदि बन्ध बिना हेतुओं के माना जाता है तो अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग आता है अर्थात् मोक्ष कभी नहीं हो सकेगा, क्योंकि अकस्मात् मोक्ष का अभाव है। यदि अकस्मात् बन्ध, मोक्ष होता है तो कैसे होता है वा किससे होता है ? अकस्मात् बन्ध और मोक्ष ? यह प्रश्न उठता है, अत: बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया के विरोध का प्रसंग होने से बन्ध और मोक्ष अकस्मात् नहीं हैं। बन्ध को कहकर पुन: बन्ध के कारणों को कहना उपयुक्त नहीं है, इसलिए बन्ध के कारणों (हेतुओं) का निर्देश आदि में (पहले) किया गया है। **(रा.वा. उ. १)**

बन्ध के हेतु रहितपन, कूटस्थपन और अकारणपन की निवृत्ति के लिए पहले बन्ध के हेतुओं को कहा गया है। **(श्लो. ७/१)**

५. प्रश्न : पूर्व में मोक्ष के कारण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) कहे हैं अत: बन्ध के कारण पाँच कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : इस सूत्र में बन्ध के कारण पाँच कहे गये हैं अत: बिना कहे सामर्थ्य से उस बन्ध का विपर्यय होने से मोक्ष के कारण भी सूत्र द्वारा पाँच ही समझ लेने चाहिए। अत: स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार सूत्रकार का पूर्वापर विरोध नहीं है। **(श्लो. ७/१३)**

६. प्रश्न : मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अन्तरंग में वीतराग निज आत्मतत्त्व के अनुभव रूप रुचि के विषय में विपरीत अभिनिवेष (अभिप्राय) उत्पन्न कराने वाला है तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। **(वृ. द्र.सं.टी. ३०)**

छठे अध्याय में आस्रव के प्रकरण में कथित पच्चीस क्रियाओं में उल्लिखित मिथ्यात्व क्रिया में मिथ्यादर्शन अन्तर्भूत है। **(रा.वा. १)**

भगवान अर्हन्त परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्गाभास में मार्ग का श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है। **(नि.सा.ता. ९१)**

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं करना मिथ्यादर्शन है। **(भ.आ. ५५ वि.)**

७. प्रश्न : मिथ्यादर्शन कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : मिथ्यादर्शन तीन प्रकार का है-

(१) संशय (२) अभिगृहीत (३) अनभिगृहीत। **(भ.आ. ५५)** अथवा (१) आप्त, आगम, पदार्थों का अश्रद्धान (२) विपर्यय (३) संशय। **(य.ति.च. ६/११८)** मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है। (१) एकान्त मिथ्यादर्शन (२) विपरीत मिथ्यादर्शन (३) संशय मिथ्यादर्शन (४) वैनयिक मिथ्यादर्शन (५) आज्ञानिक मिथ्यादर्शन। **(रा.वा. २८)**

मिथ्यात्व दो प्रकार का है-

(१) नैसर्गिक मिथ्यादर्शन (२) परोपदेशिक मिथ्यादर्शन। **(रा.वा. ६)**

(१) मूढ़त्व (२) स्वभाव निरपेक्ष। **(न.च. वृ. ३०३)**

अथवा - (१) जीव के नास्तिक्य भावरूप (२) अन्य पदार्थों में जीव के अभिमान रूप। **(सि.वि.टी. ४/११)** एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व, इत्यादि मिथ्यात्व परिणाम अनेक प्रकार के हैं। **(भ.आ. २३ टी.)** जितने भी वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय होते हैं। इस वचन के अनुसार मिथ्यात्व के पाँच ही भेद हैं, यह कोई नियम नहीं समझना चाहिए किन्तु मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है, यह कहना उपलक्षण मात्र समझना चाहिए। **(ध. १/१६३)**

अथवा - मिथ्यात्व सात प्रकार का है-

(१) सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान इन दो को मोक्ष का साधन मानने वाला।

(२) सम्यग्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र से मोक्ष मानने वाला।

(३) सम्यग्ज्ञान और समयग्चारित्र से मोक्ष मानने वाला।

(४) सम्यग्दर्शन से मोक्ष मानने वाला।

(५) सम्यग्ज्ञान से मोक्ष मानने वाला।

(६) सम्यक् चारित्र से मोक्ष मानने वाला।

(७) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र इन तीनों को मोक्ष का कारण नहीं मानना। **(सु.र.सं. १४७)**

अथवा - (१) ऐकान्तिक (२) सांशयिक (३) मूढ (४) स्वाभाविक (५) वैनयिक (६) व्युद्ग्राहित (७) विपरीत। **(व.चा. ११/४)**

८. प्रश्न : नैसर्गिक मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो तत्त्वार्थ अश्रद्धान उत्पन्न होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। **(रा.वा.७)**

जिस प्रकार अंधेरे में काले वस्त्र से वेष्टित मनुष्य भीतर के अनेक प्रकार के चित्र को, अनेक वस्तुओं को नहीं देख सकता है उसी प्रकार अगृहीत मिथ्यात्व से तिरस्कृत जीव जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए यथार्थ वस्तुस्वरूप को नहीं देख सकता है। **(सु.र.स. १३६)**

दूसरे के उपदेश के बिना ही जो अश्रद्धान मिथ्यात्व कर्म के उदय से हो जाता है वह अनभिगृहीत (नैसर्गिक) मिथ्यात्व है। **(भ.आ.वि. ५५)**

९. प्रश्न : नैसर्गिक मिथ्यादर्शन कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : नैसर्गिक मिथ्यात्व अनेक प्रकार का है-

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्च, म्लेच्छ, शबर, पुलिन्द आदि स्वामियों के भेदों की अपेक्षा अनेक भेद हैं। **(रा.वा. २७)**

१०. प्रश्न : स्वाभाविक मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : स्वाभाविक मिथ्यात्व से जिसका अन्त:करण कलुषित हो चुका है वह जिस किसी सत्य शास्त्र को सुनता या पढ़ता है उसे ही अपनी मति के अनुसार कुमार्ग के समर्थन में लगाकर दूषित करता है। उसकी अवस्था साँप के समान होती है जिसे शक्कर मिला मिष्ट दूध पिलाया जाता है, किन्तु वह विष ही उगलता है। **(व.चा. ११/९)**

११. प्रश्न : परोपदेशिक मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार चमड़े के टुकड़ों से परिपूर्ण चमार का कुत्ता अन्नरूप भोजन की इच्छा नहीं करता है उसी प्रकार खोटे हेतु और उदाहरण रूप वचनों से परिपूर्ण पुरुष भी जिनेन्द्र द्वारा कथित यथार्थ वस्तु स्वरूप को अन्यथा स्वीकार करता है। वह गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। **(सु.र.सं. १३५)**

परोपदेश की मुख्यता से स्वीकार किया गया अश्रद्धान अभिगृहीत कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवादि द्रव्य नहीं हैं, यह स्वीकार करो। या जीवादि हैं किन्तु नित्य ही हैं इस प्रकार जब दूसरे के वचन को सुनकर जीवादि के अस्तित्व में या उनके अनेकान्तात्मक होने में जो अश्रद्धान या अरुचि उत्पन्न हो वह अभिगृहीत मिथ्यात्व है। **(भ.आ.वि. ५५)** पर के उपदेश वा कुशास्त्रों के सुनने से जो अतत्त्व श्रद्धान हो वह गृहीत मिथ्यात्व है। **(हरि. पु. ५८/१९४)**

१२. प्रश्न : परोपदेशिक मिथ्यात्व कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : परोपदेशिक मिथ्यात्व चार प्रकार का है-

(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानी (४) वैनयिक। **(रा.वा. ८)**

परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शन के अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। उनको भी लगाना चाहिए। परिणामों के विकल्प की अपेक्षा और अनुभाग भेद की अपेक्षा इस मिथ्यादर्शन के असंख्यात और अनन्त भेद भी होते हैं। **(रा.वा. २७)**

१३. प्रश्न : व्युद्ग्राहित मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : मिथ्यामार्गियों के भ्रान्त दृष्टान्तों पर श्रद्धा करने के कारण व्युद्ग्राहित मिथ्यादृष्टि को सन्मार्ग स्पष्ट होने पर भी सूझता नहीं है क्योंकि उसकी सद्बुद्धि उक्त संस्कारों के कारण पंगु हो जाती है फलत: उसकी वही दुर्दशा होती है जो उन लोगों की होती है जो जन्मांध चोरों के कहने में आकर घने जंगल में चले जाते हैं और वहीं विनाश के मुख में जा पड़ते हैं। **(व.चा. ११/१२)**

१४. प्रश्न : क्रियावादी के कितने भेद हैं ?

उत्तर : क्रियावादी के एक सौ अस्सी भेद हैं-

नीति-निश्चय, स्वभाव-वस्तु का स्वभाव, दैव-पूर्व कर्म का उदय, पौरुष-उद्यम, काल-समय। ये पाँच स्व-आप, पर-दूसरा, नित्य-स्थिर, अनित्य-अस्थिर। इन पाँच को चार से गुणा करने पर बीस होते हैं। इन बीस को नौ पदार्थों से गुणा करने पर एक सौ अस्सी भेद होते हैं। इनमें से एक-एक अंश का वाद करता है। **(हरि.पु. १०/५०)**

कौकल, कान्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारीत, अश्वमुण्ड आश्वलायन आदि के विकल्प से क्रियावादी मिथ्यादृष्टियों के चौरासी भेद हैं। **(रा.वा. ९)**

१५. प्रश्न : अक्रियावादी के कितने भेद हैं ?

उत्तर : अक्रियावादी के चौरासी भेद हैं

जीवादिक सात तत्त्व को स्वत: परत: से गुणा करने पर चौदह भेद हैं। इन चौदह को नियति, स्वभाव, काल, दैव, पौरुष इन पाँच से गुणा करने पर सत्तर भेद हैं।

नियति और काल ये दो भेद स्वत: से होते हैं, इनको सप्त तत्त्व से गुणा करने पर चौदह भेद हुए।

उपर्युक्त सत्तर और चौदह मिल कर चौरासी भेद हुए। (एक-एक भेद का छल-कपट से वाद करके मोक्ष के उपाय से विमुख होकर अक्रियावाद को मानता है उद्यम नहीं करता है। **(हरि.पु. १०/५१-५३)** मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि दर्शनों के भेद से अक्रियावादियों के एक सौ अस्सी भेद हैं। **(रा.वा. १०)**

१६. प्रश्न : अज्ञानवादी के कितने भेद हैं ?

उत्तर : अज्ञानवाद के ६७ भेद हैं-

नव पदार्थों तिन कूं सप्त भंगकरि गुणिए (नौ पदार्थों को अस्ति-नास्ति आदि सात भंग से गुणा करने पर) तरेसठ भेद हुए।

(१) कोई सद्भाव का पक्षी है, (२) कोई असद्भाव का पक्षी है (३) कोई सत्यासत्य का पक्षी है (४) और कोई अवक्तव्य का पक्षी है।

इस प्रकार तरेसठ में इन चार को मिलाने पर सड़सठ भेद होते हैं। **(हरि. १०/५४-५८)** साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, चारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्टिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनि आदि मतों के भेद से अज्ञानवाद मिथ्यात्व के सड़सठ भेद हैं। **(रा.वा.११)**

१७. प्रश्न : विनयवाद के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर : विनयवाद के बत्तीस भेद हैं-

मन, वचन, काय और दान से माता, पिता, देव, नृप, जाति, बाल, वृद्ध, तपस्वी इन आठ की विनय करना इस प्रकार (४८) बत्तीस भेद विनयवाद के हैं। **(हरि.पु. १०/५९-६०)** वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, ऐलापुत्र, औपमन्यु, इन्द्रदत्त, अयस्थूल आदिकों के मार्गभेद से वैनयिक बत्तीस होते हैं। **(रा.वा. १२)**

१८. प्रश्न : मूढ़त्व एवं स्वभाव निरपेक्ष मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : मूढ़त्व मिथ्यात्व : जिसके उदय से जीव तत्त्वों को विपरीत रूप से ग्रहण करता है। जो नास्तित्व से सापेक्ष अस्तित्व को अथवा अस्तित्व से सापेक्ष नास्तित्व को नहीं मानता है, वह द्रव्यमूढ़ होने के कारण सर्वत्र मूढ़ है।

स्वभाव निरपेक्ष : श्रुत के हेतु से होने वाला मिथ्यात्व स्वभाव निरपेक्ष होता है। मिथ्या प्रकृतियों के उदय के कारण वह क्षपण आदि भावों को प्राप्त नहीं होता है। **(न.च. वृ. ३०३-३०५)**

१९. प्रश्न : एकान्त मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'यह ऐसा ही है, इसी प्रकार है' इस प्रकार धर्म तथा धर्मी के विषय में एकान्त अभिनिवेश रखना एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे- यह सारा संसार ब्रह्म स्वरूप ही है, नित्य ही है, वा अनित्य ही है इत्यादि रूप से एकान्त की अवधारणा करना। **(रा.वा. २८)** जीवादि वस्तु का स्वभाव नित्यता ही है अनित्यता नहीं है। इसे एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं। **(भ.आ. २३)** सत् ही है, असत् ही है, एक ही है, अनेक ही है, सावयव ही है, निरवयव ही है, अनित्य ही है, नित्य ही है आदि एकान्त अभिनिवेश एकान्त मिथ्यात्व है। **(ध .पु. ८/२०)**

विज्ञान, नित्यत्व, सुखित्व, कर्तृत्व, विमुक्ति (अकर्तृत्व) और उस कर्तृत्व हेतुक कृतज्ञता आदि ये सर्वथा जीव के गुण नहीं हैं- विवक्षा भेद के अनुसार वे कथंचित् जीव के गुण हैं और कथंचित् नहीं भी है परन्तु एकान्त मिथ्यादृष्टि उन्हें सर्वथा ही जीवगुण मानता है। **(सु.र.सं. १३१)**

द्रव्य-पर्याय रूप पदार्थ में अथवा रत्नत्रय में किसी एक का ही निश्चय करना एकान्त मिथ्यात्व है। **(म. पु. ६२/३००)**

२०. प्रश्न : एकान्त मिथ्यात्व में कौन-कौन से वाद आते हैं ?

उत्तर : कालवाद, ईश्वरवाद, आत्मवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद, अज्ञानवाद, विनयवाद, पौरुषवाद, दैववाद, संयोगवाद, लोकवाद। ये मिथ्या वादों के भेद हैं। **(गो. क. ८७७-९४)**

अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, अपेक्ष-अनपेक्ष, दैव-पुरुषार्थ, अन्तरंग-बहिरंग, हेतु-अहेतु, अज्ञान से बन्ध और स्तोकज्ञान से मोक्ष, पर के दु:ख और अपने सुख करे तो पाप, पर के सुख और अपने दु:ख करे तो पुण्य। ऐसे दस पक्ष में सप्त भंग लगाकर सत्तर भंग हुए। इनका सर्वथा एकान्त मानना दूषण है। **(आ.मी. के आधार से)**

जिस मत में जीव को सर्वथा क्षणिक बताया है, उस मत में कर्मों को अन्य जीव करता है, उनके फलों को अन्य ही भोगता है तथा जो मछली आदि के भक्षण करने में दोष ही नहीं समझते उनका वह दु:ख देने वाला दुष्ट और केवल अपनी कुबुद्धि से कल्पना किया हुआ बौद्धमत एकान्त मिथ्यात्व है। **(प्र.श्रा. ४/१७-१८)**

२१. प्रश्न : ऐकान्तिक मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : एकान्त मिथ्यात्व ने जिस जीव के आत्मा को अपने अन्धकार से ग्रस लिया है, वह जीव, अजीव आदि के क्रम से इन तत्त्वों को समझ ही नहीं सकता है। ऐसा समझिए कि वह 'जन्म से अंधे' व्यक्ति के समान चित्र, मूर्त्ति आदि सुन्दर कार्यों को न तो देख सकता है और न जान ही सकता है। **(व.चा.११/५)**

२२. प्रश्न : विपरीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : सपरिग्रह मानव भी निर्ग्रन्थ है, केवली को कवलाहारी कहना, स्त्री को मुक्ति हो सकती है, इत्यादि कथन अथवा इस प्रकार की धारणा विपरीत मिथ्यात्व है। **(रा.वा. २८)** हिंसा, अलीकवचन, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह और अज्ञान इन से ही मुक्ति होती है, ऐसा अभिनिवेश विपरीत मिथ्यात्व है। **(ध. ८/२०)** दुर्गति में ले जाने वाली हिंसा को स्वर्गादि का हेतु मानना तथा अहिंसा को दुर्गति का कारण मानना विपर्यय मिथ्यात्व है। **(भ.आ.वि. २३)**

ज्ञान, ज्ञायक और ज्ञेय के यथार्थ स्वरूप का विपरीत निर्णय विपरीत मिथ्यादर्शन है। **(म.पु. ६२/३०१)** तीन मूढ़ता रूप मिथ्यात्व के वश से मनुष्य परिग्रह से सहित भी जनों को तपस्वी, बहुत प्रकार से किये जाने वाले प्राणियों के वध में भी धर्म तथा अनेक दोषों से संयुक्त देवों को भी यथार्थ देव बतलाया करता है। **(सु.र.सं. १३०)**

२३. प्रश्न : कौनसा मत विपरीत मिथ्यात्व है ?

उत्तर : जिस मत में जीवों की हिंसा से पुण्य बतलाया गया हो, स्नान से शुद्धि बतलाई गई हो, जिनके देव हिंसा आदि क्रूर कर्मों में लगे हुए हों, गुरु लोग काम की लालसा में लिप्त हों, जिसमें पशु, वृक्ष आदि की पूजा करना बतलाया हो और जहाँ मृत मनुष्यों का तर्पण बताया है, उसे विपरीत मिथ्यात्व समझना चाहिए। **(प्र.श्रा. ४/१९-२०)**

२४. प्रश्न : विपरीत मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है?

उत्तर : विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव संसार के प्रत्येक पदार्थ को उल्टा ही समझता है। उसकी मति इतनी दूषित हो जाती है कि वह किसी पदार्थ के वास्तविक रूप को परख ही नहीं सकता है। जैसे- पानी की धारा पर तेजी से बहती नौका पर बैठा नाविक आसपास के पर्वत, वन और भूमि को तेजी से दौड़ता हुआ देखता है, अपने आपको नहीं। **(व.चा. ११/१२)**

२५. प्रश्न : संशय मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र मोक्षमार्ग हो सकते हैं, या नहीं, इस प्रकार दोलित (संशयालु) चित्तवृत्ति संशय मिथ्यात्व है। **(रा.वा. २८)**

सर्वत्र संदेह ही है, निश्चय नहीं है इत्यादि अभिनिवेश संशय मिथ्यात्व है। **(ध. ८/२०)** जिसमें तत्त्वों का निश्चय नहीं है ऐसे ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धान को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। **(भ.आ.वि. ५५ टी.)** वस्तु के स्वरूप का कुछ भी निश्चय नहीं करना संशय मिथ्यात्व है। **(भ. आ. २३ टी.)** मिथ्यात्व के उदय से जिस मनुष्य के वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा निर्दिष्ट समस्त तत्त्व वैसे ही हैं अथवा नहीं हैं, ऐसा संदेह बना हुआ है उसे तत्त्व का निश्चय सर्वथा नहीं हो पाता है, उसे सांशयिक मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। **(सु.र.सं. १३३)**

२६. प्रश्न : संशय मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : जिस व्यक्ति का चित्त संदेह मिथ्यात्व के रंग से सराबोर है, वह यह भी नहीं निश्चित कर, पाता है कि हिंसा करना धर्म है अथवा अहिंसा पालन श्रेयस्कर है। जिस किसी विषय को सोचता है वहीं उसकी बुद्धि संदेह में पड़ जाती है। वह उस द्रष्टा के समान होता है जो बहुत दूर खड़े पशु को देखकर यह निर्णय नहीं कर पाता है कि वह कुत्ता है या गाय। **(व.चा. ११/६)**

२७. प्रश्न : किनके संशय मिथ्यात्व होता है ?

उत्तर : जो तीर्थंकर अरहन्तदेव में भी आहार-कल्पना करते हैं, स्त्रियों को भी मोक्ष होना बतलाते हैं, जो वर्द्धमान स्वामी का गर्भापहरण मानते हैं, जो लकड़ी, वस्त्र, पात्र आदि सबको धर्म का साधन मानते हैं वह दु:ख देने वाला सांशयिक मिथ्यात्व है। **(प्र.श्रा. ४/२२-२३)**

२८. प्रश्न : वैनयिक मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : सभी देवताओं और सभी शास्त्रों में बिना विवेक के समभाव रखना, सभी का समान विनय करना वैनयिक मिथ्यात्व है। **(रा.वा. २८)**

ऐहिक एवं पारलौकिक सभी सुख विनय से ही प्राप्त होते हैं न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवास जनित क्लेशों से, ऐसे अभिनिवेश का नाम वैनयिक मिथ्यात्व है। **(ध. ८/२०)** जिस प्रकार देवगृह के ऊपर स्थित ध्वजा वायु से कम्पित होकर स्थिर नहीं रहती है, चंचल रहती है उसी प्रकार विनय मिथ्यात्व के अधीन हुए प्राणी की प्रतीति (श्रद्धान) भी समस्त धर्मों रूप वायु से कम्पित होकर स्थिर नहीं रहती है। **(सु.र.सं. ७/५)** जिस मत में प्रतिदिन पात्र-अपात्रों की, देव-अदेवों की सबकी विनय की जाती हो वह तपस्वियों का विनय मिथ्यात्व कहलाता है। **(प्र.श्रा. ४/२१)** मन, वचन, काय से सभी देवों को प्रणाम करना, समस्त पदार्थों को मोक्ष का उपाय मानना विनय मिथ्यात्व है। **(म.पु. ६२/३०२)**

२९. प्रश्न : वैनयिक मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : विनीत मिथ्यात्व के नशे के कारण जिसका हृदय मूर्छित हो गया है वह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, नदी तथा अन्य जलाशय आदि को देवता मानता है। इतना ही नहीं उसकी समझ के अनुसार स्वर्ग में रहने वाले देवताओं के द्वारा आकाश में पताका भी फहरायी जाती है। **(व.चा. ११/१०)**

३०. प्रश्न : आज्ञानिक मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : हित और अहित की परीक्षा का न होना अर्थात् हेयोपादेय के विवेक से शून्य हृदय का होना आज्ञानिक मिथ्यात्व है। **(रा.वा. २८)**

नित्यानित्य विकल्पों से विचार करने पर जीवादि पदार्थ नहीं हैं अत एव सब अज्ञान ही है; ऐसे अभिनिवेश को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं। **(ध.पु. ८/२०)** अज्ञान मिथ्यात्व म्लेच्छ आदि जीवों के होता है, जो शून्यवादी हैं और जिनमें भक्ष्य-अभक्ष्य का कुछ विचार नहीं होता है। **(प्र.श्रा. ४/२४)** पाप से

युक्त और धार्मिक ज्ञान से रहित जीवों के इसके उदय से उत्पन्न परिणाम अज्ञान मिथ्यात्व है। **(म.पु. ६२/२९८)**

३१. प्रश्न : पुरुष के द्वारा रचित होने से अर्हन्त के वचनों को आगम कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर : अर्हन्त के परमागम को पुरुष रचित होने से अप्रमाण (परमागम नहीं है) कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वह अतिशय ज्ञानों का आकर है। इस आगम में नय, प्रमाण आदि अधिगम के उपायों से बन्ध-मोक्ष आदि का समर्थन तथा जीव-अजीवादि तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण है, अत: रत्नाकर की तरह आर्हत् आगम ही समस्त अतिशय ज्ञानों का आकर होने से परमागम है। **(रा.वा. १६)**

३२. प्रश्न : आर्हत् प्रवचन में दिया गया अतिशय ज्ञानों का 'आकर' हेतु अनेकान्तिक होने से वास्तविक हेतु नहीं है क्योंकि व्याकरण आदि का अतिशय अन्यत्र भी देखा जाता है ?

उत्तर : अतिशय ज्ञानों का आकर हेतु अन्यत्र मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अन्यत्र देखे जाने वाले अतिशय ज्ञानों का मूल उद्भवस्थान आर्हत् प्रवचन ही है। जैसे कि रत्नों का मूल उद्भवस्थान समुद्र है। कहा भी है यह सम्यक् सुनिश्चित है कि अन्य मतों में जो युक्तिवाद और अच्छी बातें चमकती हैं वे तुम्हारी ही हैं, वे सब चतुर्दश पूर्व रूपी महासागर से निकली हुई जिनवाक्य रूपी जल की बिन्दु हैं। **(रा.वा. १७)**

३३. प्रश्न : आर्हत् प्रवचन को सर्व अतिशय ज्ञानों का उत्पत्ति-स्थान कहना श्रद्धामात्र है, युक्तिसंगत नहीं है ?

उत्तर : आर्हत् प्रवचन को सर्व अतिशय ज्ञानों का उत्पत्तिस्थान कहना केवल श्रद्धागम्य नहीं है अपितु युक्तिसिद्ध है क्योंकि जैसे गाँव, नगर आदि अनेक स्थानों में रत्न प्राप्त होते देखे जाते हैं परन्तु उनका उत्पत्ति स्थान रत्नाकर समुद्र ही है, अधिकतर रत्न वहीं होते हैं। वैसे ही सर्वातिशय ज्ञान के मूल निधानत्व होने से आर्हत् प्रवचन ही सर्व अतिशय ज्ञानों का मूल आकर है, ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा. १८)**

३४. प्रश्न : मिथ्यादृष्टि कैसा होता है ?

उत्तर : (प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उदय से अतत्त्व में श्रद्धान करने वाला होता है इस जीव में स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता है।) आप्त-आगम और निर्ग्रन्थ गुरु पर ये विश्वास नहीं करते। ये जीव दान आदि पुण्य कार्यों से स्वर्ग के सुख भी पा लेते हैं। स्वर्ग में शान्त परिणामों के प्रभाव में काल आदि लब्धियाँ पाकर ये स्वयमेव अथवा दूसरों के निमित्त से समीचीन सम्यग्दर्शन रूप धर्म को प्राप्त कर सकते हैं। यह बात निकट काल में मोक्ष प्राप्त करने वाले भव्य मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा से कही है। परन्तु जो निरन्तर भोगों में आसक्त, पर-नारी-रमण और आरम्भ-परिग्रह के द्वारा पाप का संचय करते हैं, वे संसार में भटकते हैं।

३५. प्रश्न : मिथ्यात्व अनादि है या सादि ?

उत्तर : अभव्य जीव के मिथ्यात्व का न तो प्रारम्भ है अर्थात् अनादि है और न कभी समाप्ति ही होगी (अनन्त) अर्थात् वह काल द्रव्य के समान अनादि अनन्त है। किन्तु भव्य जीव का मिथ्यात्व अनादि होते हुए भी सांत (समाप्ति युक्त) होता है। तथा किन्हीं-किन्हीं भव्य जीवों का तो सान्त ही नहीं सादि भी होता है। **(व.चा. ११/१३)**

३६. प्रश्न : अविरति किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्तरंग में निज परमात्म स्वरूप की भावना से उत्पन्न परम सुख अमृत की प्रीति से विलक्षण तथा बाह्य विषय में व्रत आदि को धारण नहीं करना अविरति है। **(वृ.द्र.सं. ३० टी.)** व्रतों का पालन न करना, अच्छे कामों में आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असंयम कहते हैं। **(य.ति.च. ६/१२०)**

३७. प्रश्न : अविरति कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अविरति बारह प्रकार की होती है-

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक इन छह काय के जीवों की विराधना तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन विषयक असंयम इस प्रकार बारह प्रकार की अविरति है। **(रा.वा. २९)**

अथवा - अविरति पाँच प्रकार की होती है-

हिंसा अविरति (हिंसा से विरत नहीं होना), अनृत (झूठ) अविरति, चौर्य (स्तेय) अविरति, अब्रह्म अविरति और परिग्रह अविरति **(वृ.द्र.सं. ३० टी.)**

३८. प्रश्न : प्रमाद किसे कहते हैं ?

उत्तर : भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, शयनासन शुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि और वाक्य शुद्धि ये आठ शुद्धियाँ हैं तथा शुद्धि लक्षण आठ प्रकार का संयम है। उत्तम क्षमा आदि धर्मों में और संयम में अनुत्साह वा अनादर का भाव होना प्रमाद है। **(रा.वा. ३०)**

छठे गुणस्थान में व्रतों में संशय उत्पन्न करने वाली जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं यह बन्ध का कारण है। **(म.पु. ६२/३०५)** अंतरंग में प्रमाद रहित शुद्धात्मानुभव से डिगने रूप और बाह्य विषय में मूल-गुणों तथा उत्तरगुणों में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है। **(वृ. द्र.सं. ३० टी.)** चार संज्वलन कषाय एवं नव नोकषाय, इन तेरह के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है। **(ध.पु. ७/११)** व्रतों में दोष वा मल उत्पन्न करने वाली, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को प्रमाद कहते हैं। **(शा.पु. ४/११९)** अच्छे कार्यों के करने में आदर भाव का न होना यह प्रमाद है। कषाय के भार से भारी होने को आलस्य का होना कहा है, उसे प्रमाद कहते हैं। **(स.सा.आ. कलश. १९०)**

३९. प्रश्न : प्रमाद कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : भाव शुद्धि आदि आठ शुद्धि लक्षण संयम तथा उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों में अनुत्साह होना आदि के भेद से प्रमाद अनेक प्रकार का होता है। **(रा.वा. ३०)**

प्रमाद पाँच प्रकार का है-

विकथा, कषाय, इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति, निद्रा और स्नेह। अथवा - संक्लिष्ट हस्तकर्म,[१] कुशीलानुवृत्ति[२], बाह्यशास्त्र[३], काव्यरचना[४] और समिति में उपयोग न देना[५], ऐसे भी प्रमाद पाँच प्रकार का है। **(भ.आ. ६१३ वि.)**

चार कषाय, चार विकथा, पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा और एक प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद होते हैं। **(गो.जी. ३४)**

प्रमाद के सैंतीस हजार पाँच सौ भेद होते हैं-

पच्चीस विकथा, पच्चीस कषाय, पाँच इन्द्रिय एवं मन, पाँच निद्रा एवं मोह तथा प्रणय इनको परस्पर गुणा करने पर सैंतीस हजार पाँच सौ भेद होते हैं। **(गो.जी.जी.प्र. ४४)**

४०. प्रश्न : पच्चीस विकथाएँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : (१) राज कथा (२) भोजन कथा (३) स्त्री कथा (४) चोर कथा (५) धन कथा (६) बैर कथा (७) परपाखण्ड कथा (८) देश कथा (९) भाषा कथा (१०) गुणबन्ध कथा (११) दैवी कथा (१२) निष्ठुर कथा (१३) पर पैशून्य कथा (१४) कन्दर्प कथा (१५) अनुचित कथा (१६) भंडकथा (१७) मूर्खकथा (१८) आत्मप्रशंसा कथा (१९) परपरिवाद कथा (२०) पर-ग्लानि कथा (२१) परपीड़ा कथा (२२) कलह कथा (२३) परिग्रह कथा (२४) कृषि आदि आरम्भ कथा (२५) संगीत कथा। **(गो.जी.जी. ४४)**

स्त्री कथा, अर्थ कथा, भोजन कथा, राज कथा, चोर कथा, शत्रु कथा, दूसरे पाखंडियों की कथा, देश कथा, भाषा सम्बन्धी कथा, असंबद्ध प्रलाप (अकहा) विकथा, निष्ठुर कथा, पर पैशून्य कथा, कंदर्पिका कथा, कौत्कुच्य कथा, डंबरिका कथा, मौखरिकी कथा, आत्मप्रशंसा कथा, पर परिवादन कथा, जुगुप्सनता कथा, पर पीड़ा कारक कथा, सावद्यानुमोदिका कथा। **(पा.प्र.)**

४१. प्रश्न : विकथा आदि प्रमादों का निवारण किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : सत्य और अनुभय रूप वचन विकथा नामक प्रमाद को रोकते हैं। स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा नामक प्रमाद के प्रतिपक्षी हैं। इनमें लगे रहने से खोटी कथा का अवसर ही नहीं मिलता।

क्षमा, मार्दव, आर्जव कषाय नामक प्रमाद के विरोधी हैं।

ज्ञान की भावना, रागद्वेष के कारण इन्द्रिय विषयों से रहित देश में रहना, ज्ञान के द्वारा मन को

एकाग्र करना, इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष से उत्पन्न हुए दोषों का स्मरण करना और विषयों की उपलब्धि में आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नाम प्रमाद के विरोधी हैं।

निद्रा का विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग, संसार से भय, निद्रा के दोषों का चिन्तन, रत्नत्रय में अनुराग, अपने बुरे आचरणों का स्मरण करके शोक करना, आदि।

स्नेह प्रमाद का विरोधी 'बन्धुता अस्थिर है' ऐसा विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिए अनेक आरम्भ परिग्रह आदि की चिन्ता करनी होती है। धर्म साधन में विघ्न होता है, इत्यादि दोषों का चिन्तन करना। कषाय रूप प्रमाद को उपशम, दया एवं दम से, कषाय के दोषों को जानने से क्रोध आदि में निमित्त वस्तु से बचने से और कषायों के विरोधी क्षमा आदि परिणामों से कषाय को दूर किया जा सकता है ?

उपशम - कषाय वेदनीय कर्म के तिरोभाव (उदयाभाव) को उपशम कहते हैं।

दया - सब प्राणियों में करुणा होना दया है।

दम - कषायों के दोषों का विचार करके चित्त का निग्रह करना दम है। क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से तथा लोभ को संतोष से जीतना चाहिए। **(भ.आ.वि. १८३०-३३)**

४२. प्रश्न : कषाय एवं योग किसे कहते हैं ?

उत्तर : इनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से चार प्रकार की कषायों का उल्लेख इसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के ''इन्द्रिय कषायाव्रतक्रिया:'' **(त.सू. ६/५)** इस सूत्र में किया है, वही यहाँ जानना चाहिए। योग कायादि का विकल्प है, जिनका वर्णन ''कायवाङ्मन: कर्मयोग:'' **(त.सू. ६/१)** सूत्र में कर दिया है। **(रा.वा. ४-५)**

४३. प्रश्न : क्या मिथ्यादर्शनादि का वर्णन भी पूर्व में किया है ?

उत्तर : हाँ, मिथ्यादर्शन **(त.सू. ६/५)** सूत्र में उल्लिखित मिथ्यात्व क्रिया में अन्तर्भूत है, उस विरति की प्रतिपक्षभूत अविरति का वर्णन इसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के पाँचवें सूत्र में किया है तथा प्रमाद का अन्तर्भाव आज्ञाव्यापादन क्रिया और अनाकांक्षा क्रिया **(६/५ सू)** में हो जाता है। **(रा.वा. १-३)**

४४. प्रश्न : ये मिथ्यादर्शनादि सब मिलकर बन्ध के हेतु हैं या पृथक्-पृथक् ?

उत्तर : वाक्य की परिसमाप्ति की विचित्रता होने से ये मिथ्यादर्शनादि समुदाय रूप से भी तथा अवयव (पृथक्-पृथक्) रूप से भी दोनों ही बन्ध के कारण हैं। मिथ्यादर्शनादि समुदित और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के हेतु हैं, ऐसा जानना चाहिए क्योंकि वाक्य की परिसमाप्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है। **(रा.वा. ३१)**

४५. प्रश्न : कौन-कौन से गुणस्थान में बन्ध के कितने-कितने हेतु हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँचों बन्ध के हेतु हैं।

सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष चार बन्ध के हेतु हैं।

संयतासंयत नामक पाँचवें गुणस्थान में मिथ्यात्व के बिना शेष चार बन्ध के हेतु हैं। (१) अविरत-मिश्र (२) प्रमाद (३) कषाय (४) योग।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्रमाद आदि तीन बन्ध के हेतु हैं।

अप्रमत्त आदि (७, ८, ९, १०) गुणस्थानों में कषाय और योग दो बन्ध के हेतु हैं।

उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोग केवली के केवल एक योग बन्ध का हेतु है।

अयोगकेवली के बन्ध का कोई हेतु नहीं है। **(रा.वा. ३१)**

४६. प्रश्न : मिथ्यादर्शनादि ही बन्ध के हेतु हैं या इनके भेद-प्रभेद भी ?

उत्तर : मिथ्यादर्शनादि के जितने भी भेद-प्रभेद हैं उन सभी भेदों को बन्ध का कारण समझना चाहिए। मिथ्यादर्शनादि के सभी भेद एक आत्मा में एक साथ नहीं हो सकते हैं। एक आत्मा में एक साथ सर्व मिथ्यादर्शनादि और हिंसादि पाँचों पाप एक साथ नहीं हो सकते हैं। **(रा.वा. ३१)**

४७. प्रश्न : प्रमाद अविरति की पर्याय है अत: इसका पृथक् ग्रहण करना अनर्थक है ?

उत्तर : यह शंका उचित नहीं है क्योंकि विरत के भी विकथा, कषाय आदि प्रमाद स्थान देखे जाते हैं अत: प्रमाद और अविरति पृथक्-पृथक् हैं। **(रा.वा. ३२)**

४८. प्रश्न : कषाय और अविरति में क्या अन्तर है ?

उत्तर : हिंसादि अविरति और कषाय में एकता नहीं है क्योंकि इन दोनों में कार्य-कारणत्व है। कषाय कारण है और हिंसादि अविरति कार्य है। अत: कार्य-कारण दृष्टि से कषाय और अविरति पृथक्-पृथक् हैं। **(रा.वा. ३३)**

४९. प्रश्न : अमूर्त्तिक आत्मा के हाथ-पैर आदि नहीं है तथा पर-पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति का अभाव है तब वह मूर्त्त कर्मों का ग्रहण कैसे कर सकती है ?

उत्तर : 'पहले आत्मा और पश्चात् कर्मबन्ध' इस प्रकार कर्मबन्ध सन्तति के पूर्वापर भाव की अनवधारणा है। हम ऐसा नहीं मानते हैं कि पूर्व में आत्मा निष्कर्म था, पश्चात् कर्मों का बन्ध हुआ है या पूर्व में कर्म बाँधे हैं, पश्चात् आत्मा है। इस प्रकार कर्मबन्ध में सादि व्यवस्था नहीं है। आत्मा में ऐकान्तिक

अमूर्त्तत्व का निराकरण किया है जिससे आत्मा को ऐकान्तिक अमूर्त्त मानने में यह प्रसंग दिया जाय, किन्तु अनादि कार्मण शरीर से सम्बन्ध होने के कारण गरम लोहे का गोला जैसे पानी को खींचता है उसी प्रकार कषाय सन्तप्त आत्मा कर्मों को ग्रहण करता है। **(रा.वा.उ. २)**

बन्ध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥

सकषायत्वात्-जीवः कर्मणः योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते सः बन्धः।

(सकषायत्वात्) कषाय से युक्त होने से (जीवः) जीव (कर्मणो योग्यान्) कर्म के योग्य (पुद्गलान्) पुद्गलों को (आदत्ते) ग्रहण करता है। (सः) वह (बन्धः) बन्ध है।

अर्थ - जीव सकषाय होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है।

१. प्रश्न : सूत्र में पुनः 'कषाय' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : जठराग्नि के समान कर्म विशेष-आशय वाची होने से पुनः कषाय पद का ग्रहण किया है। जैसे- जठराग्नि के अनुसार आहार का पाक होता है उसी प्रकार कषाय होने पर तीव्र, मन्द और मध्यम कषायों के अनुसार कर्मों में स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं। इस तत्त्व की प्रतिपत्ति के लिए बन्ध के कारणों में निर्दिष्ट भी कषाय का यहाँ पुनः ग्रहण किया है।[१] **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'जीव' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अमूर्त्तिक, बिना हाथ-पैर वाला जीव कर्मों को ग्रहण कैसे करता है इस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्र में 'जीव' शब्द का ग्रहण किया है क्योंकि जीवन का अर्थ आयु है और आयु सहित जीव ही कर्मबन्ध करता है, आयु से रहित सिद्ध जीव कर्मों का ग्रहण नहीं करता है अतः जीव वचन का ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. २-३)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'कर्मणो योग्यान्' दोनों पृथक्-पृथक् विभक्ति क्यों दी है ?

उत्तर : वाक्यान्तर का ज्ञापन कराने के लिए 'कर्मणो योग्यान्' पृथक्-पृथक् विभक्ति का निर्देश किया है। 'कर्म से जीव सकषाय होता है' यह एक वाक्य है और सकषायी जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यह दूसरा वाक्य है। प्रथम में 'कर्मणः' शब्द हेतुवाचक है अर्थात् पूर्व कर्मोदय के कारण जीव सकषाय होता है, क्योंकि अकर्म (कर्म रहित) आत्मा के कषाय का लेप नहीं होता है, अतः जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है। द्वितीय वाक्य में 'कर्मणः' शब्द षष्ठी विभक्ति वाला है अर्थात् सकषाय जीव कर्मों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है अतः अर्थवश विभक्ति का परिणमन हो जाता है। इसलिए

---

१. सकषाय के साथ जो पंचमी विभक्ति दी है, वह हेतु रूप में है। अभिप्राय यह है कि तीव्र, मन्द या मध्यम जैसी जैसी कषाय होगी, उसी अनुरूप कर्मों में स्थिति और अनुभाग होंगे।

प्रथम वाक्य में 'कर्मण:' शब्द हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति है। दूसरे वाक्य में 'कर्मण:'यह षष्ठी विभक्ति है। तात्पर्य यह है कि कषाय सहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है।[१] **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'पुद्गल' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पुद्गल शब्द का ग्रहण कर्मों का पुद्गलों के साथ तादात्म्य बताने के लिए किया गया है अर्थात् कर्म पौद्गलिक हैं, यह पुद्गल शब्द से सूचित होता है। **(रा.वा. ५)**

५. प्रश्न : कर्म तो आत्मा का गुण है, वे पौद्गलिक कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : कर्म को आत्मा का गुण मानना उचित नहीं है क्योंकि अमूर्त्तिक आत्मा का गुण भी अमूर्त्तिक होगा और अमूर्त्तिक कर्म उपग्रह (उपकार) और उपघात कर नहीं सकते। जैसे- अमूर्तिक आकाश अमूर्तिक दिशाओं का उपघातक और अनुग्राहक नहीं है, उसी प्रकार अमूर्त्तिक कर्म भी अमूर्त्तिक आत्मा के उपघातक और अनुग्राहक नहीं हो सकते। **(रा.वा. ६)**

६. प्रश्न : सूत्र में 'आदत्ते' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : 'आदत्ते' इस शब्द का ग्रहण प्रतिज्ञा के उपसंहार के लिए है। इस सूत्र में यह प्रतिज्ञात है कि सकषायी जीव बन्ध का अनुभव करता है, उसका उपसंहार करने के लिए यह कहा जाता है कि जीव पुद्गलों को ग्रहण करता है। **(रा.वा. ७)**

७. प्रश्न : बन्ध किस प्रकार होता है ?

उत्तर : उन पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ उपश्लेष हो जाना ही बन्ध है। इसलिए मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आर्द्रीभूत आत्मा में चारों ओर से योग विशेष के कारण सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही अनन्त प्रदेशी कर्मयोग्य पुद्गलों के अविभागात्मक उपश्लेष को बन्ध कहते हैं। **(रा.वा. ८)**

बन्ध का स्वभाव मदिरा परिणाम के समान है, जैसे भाजन विशेष में प्रक्षिप्त विविध प्रकार के रस वाले बीज, पुष्प और फल आदि का मदिरा भाव से परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मा में ही स्थित पुद्गलों का योग और कषायों के कारण कर्म रूप परिणमन हो जाता है। **(रा.वा. ९)**

८. प्रश्न : मिथ्यादर्शनादि तो बन्ध के कारण हैं, वे बन्ध कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : यद्यपि यह सत्य है कि मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के कारण हैं, तथापि नवीन कर्मबन्ध के कारण होनेसे पूर्वोपात्त कर्म के हेतु से कार्यरूपता को प्राप्त होते हुए आत्मा की स्वतन्त्रता का विघात करते

---

१. कर्मण: इस पद को पंचमी और षष्ठी विभक्ति दोनों रूप मान कर 'सकषायत्वाज्जीव: कर्मण: और 'फिर कर्मणोयोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध:' इस तरह योगविभाग कर लेने से ऐसा अर्थ हो जाता है कि कर्म के निमित्त से यह जीव कषाययुक्त होता है एवं अपने आप में उसे स्थान देता है। उसी का नाम बन्ध है। यदि ऐसा अभिप्राय न होता तो 'कर्मयोग्यान्' ऐसा और भी अधिक सुन्दर और संक्षिप्त पद बन जाता।

हैं। अत: कार्य रूप से मिथ्यादर्शनादि परिणाम आत्मा को परतन्त्र करने के कारण कहे जाते हैं। आत्मा के द्वारा पुद्गल आत्मसात् किये जाते हैं अत: कर्मसाधन भी बन्ध शब्द है। ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, अनाम, अगोत्र, अनन्तरायादि पुरुष की शक्तियों का जो प्रतिबन्ध करता है वह बन्ध है यह कर्तृसाधन भी बन जाता है। **(रा.वा. ११)**

९. प्रश्न : सूत्र में 'स:' शब्द का प्रयोग क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'स:' शब्द अन्य की निवृत्ति के लिए है ''यही बन्ध है अन्य नहीं'' इस प्रकार अन्य की निवृत्ति के लिए वा 'यही बन्ध है, अन्य नहीं'' यह सूचना देने के लिए 'स:' शब्द का सूत्र में ग्रहण किया है। सूत्र में 'स:' शब्द देने से गुण-गुणी के बन्ध की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि यदि गुण-गुणी के बन्ध को बन्ध मान लेंगे तो मुक्ति का अभाव हो जायेगा, क्योंकि गुणी कभी अपने गुण स्वभाव को छोड़ दे तो गुणी का ही अभाव हो जायेगा और गुणी का अभाव हो जाने से मुक्ति का भी अभाव हो जायेगा। **(रा.वा. १०)**

१०. प्रश्न : कर्मों का उपचय-अपचय कैसे होता है ?

उत्तर : धान्य के कोठे के समान कर्मों का अव्यय दृष्टिगोचर होने से उसके उपचय (संग्रह), अपचय (व्यय) का सद्भाव पाया जाता है। जैसे- भण्डार से पुराने धान्य निकाल लिये जाते हैं और नवीन भर दिये जाते हैं अत: उसमें उपचय और अपचय देखा जाता है, उसी प्रकार अनादि कार्माण शरीर रूप कोष्ठागार में पुरातन कर्म फल देकर झड़ जाते हैं तथा कषाय और योग के कारण नवीन कर्म आकर बँध जाते हैं, इस प्रकार कर्मों का आना-जाना होता है। **(रा.वा. १२)**

११. प्रश्न : कषाय सहितपने से ही जीव के कर्मबन्ध होता है, यह किस प्रमाण से सिद्ध है?

उत्तर : कषाय सहितपने से यदि बन्ध की व्यवस्था नहीं मानी जायेगी तो मुक्तात्मा के समान इस संसारी जीव के बन्ध का अभाव हो जायेगा। परन्तु मुक्तात्मा के समान संसारी जीव बन्धरहित नहीं है। इस प्रकार अनुमान से सिद्ध है। सकषायपना हेतु तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है। जबकि 'मैं क्रोधी हूँ' 'मैं लोभी हूँ' इत्यादि स्वरूप वाले स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से शरीरधारी जीवों के कषाय सहितपने की स्वयं सिद्धि हो जाती है अत: प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सकषायी जीव के कर्म बन्ध होना सिद्ध होता है। **(श्लो. ७/२३)**

बन्ध के भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधय: ॥३॥

प्रकृति-स्थिति-अनुभव-प्रदेशा:-तत् विधय:।

(प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशा:) प्रकृति, स्थिति, अनुभव तथा प्रदेश (तद्विधय:) उस बन्ध के भेद हैं।

अर्थ - प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश ये बन्ध के भेद हैं।

प्रकृति बन्ध -प्रकृति का अर्थ स्वभाव है।

स्थिति बन्ध - अवस्थान। कर्म का अपने स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।

अनुभव बन्ध - कर्मों के रस (फलदान शक्ति) विशेष को अनुभव बन्ध कहते हैं।

प्रदेश बन्ध - इयत्ता (संख्या) के अवधारण को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र क्यों लिखा गया है ?

उत्तर : पूर्व सूत्र में सामान्य रूप से जो बन्ध प्रतिपादित किया है उसके भेद-प्रभेद कौन-कौन से हैं ? इस प्रकार शिष्य की जिज्ञासा होने पर उस बन्ध का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य महाराज ने यह सूत्र लिखा है। **(श्लो. ७/२६)**

२. प्रश्न : प्रकृतिबन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची शब्द हैं। जैसे- नीम की प्रकृति क्या है ? नीम का स्वभाव तिक्तता है, गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुर है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति अर्थज्ञान नहीं होने देना आदि कार्य जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे किये जाते हैं, वह प्रकृति बन्ध है और अपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है। **(रा.वा. ४)**

जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है ? यह प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति है। जो कर्म स्कन्ध वर्तमान काल में फल देता है और जो भविष्यत् में फल देगा, इन दोनों ही कर्मस्कन्धों की प्रकृतिसंज्ञा सिद्ध है। **(ध. पु. १२/३०३)** ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों का उस कर्म के योग्य ऐसा जो पुद्गल द्रव्य का स्वआकार है वह प्रकृति बन्ध है। **(नि.सा.टी. ४०)**

३. प्रश्न : दर्शनावरणादि कर्मों की प्रकृति क्या है ?

उत्तर : दर्शनावरणीय की प्रकृति अर्थ (पदार्थ) का दर्शन नहीं करने देना, **वेदनीय** का स्वभाव सुख-दु:ख का संवेदन कराना, **दर्शन मोहनीय** की प्रकृति तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होने देना, **चारित्र मोहनीय** की प्रकृति असंयम परिणाम, **आयु** का स्वभाव भवधारण, **नाम कर्म** की प्रकृति नारक आदि नाम व्यवहार कराना, **गोत्र** का स्वभाव ऊँच-नीच का व्यवहार कराना और **अन्तराय** कर्म का स्वभाव दान आदि में विघ्न करना है। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : प्रकृति अनुभाग क्यों नहीं हो सकती ?

उत्तर : प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृति योग के निमित्त से उत्पन्न होती है अत: उसकी कषाय से उत्पत्ति होने में विरोध आता है। भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले कार्यों में एकरूपता नहीं हो सकती, क्योंकि इसका निषेध है। दूसरे, अनुभाग की वृद्धि प्रकृति की वृद्धि में निमित्त होती है। क्योंकि उसके महान् होने पर प्रकृति के कार्य रूप अज्ञानादिक की वृद्धि देखी जाती है। इस कारण प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती, ऐसा जानना चाहिए। **(ध. पु. १२/९१-९२)**

५. प्रश्न : स्थितिबन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृति का अपने अर्थ का ज्ञान नहीं होना आदि स्वभाव से च्युत न होना स्थिति बन्ध है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का अपने मधुरता स्वभाव से च्युत न होना उसकी स्थिति है। **(रा.वा. ५)**

उत्कृष्ट, जघन्य तथा मध्य के भेदों रूप बढ़ती-घटती कर्मों की स्थिति कही गई है, उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। **(ज्ञा. ६/४८)**

योग के वश से कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों का कषाय के वश से जीव में एक स्वरूप से रहने के काल को स्थिति बन्ध कहते हैं। **(ध. पु. ६/१४६)**

६. प्रश्न : अनुभाग बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों के रसविशेष को अनुभाग बन्ध कहते हैं। जैसे-बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में तीव्र-मन्द आदि भाव से रसविशेष होता है अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उनमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है। उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की स्वकीय फलदान शक्ति के सामर्थ्य विशेष को अनुभव/अनुभाग बन्ध कहते हैं। **(रा.वा. ६)**

आठों कर्मों एवं जीव प्रदेशों के परस्पर में अन्वय के कारणभूत परिणाम को अनुभाग कहते हैं। **(ध. १२।९१)** ज्ञानावरण आदि कर्मों का परिणामों से होने वाला जो रस है वह अनुभाग बन्ध है। क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों की तीव्रता आदि परिणामों से उत्पन्न होने वाला सुखदायक और दु:खदायक अनुभव अनुभाग बंध कहलाता है। जैसे बकरी, गाय, भैंस, आदि के दूध में तीव्र, मन्द भाव से रस (माधुर्य) विशेष होता है वैसे ही कर्म पुद्गलों में तीव्र आदि भाव से जो शुभ और अशुभ अपने में होने वाली सामर्थ्य विशेष है वह अनुभाग बन्ध है। **(मू. १२४६)**

शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख-दु:ख रूप फल देने की शक्ति वाला अनुभाग बन्ध है। **(नि.सा.टी. ४०)**

७. प्रश्न : ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर : ज्ञानावरणीय कर्म भगवान के मुख पर ढके हुए वस्त्र के समान ज्ञान नहीं होने देता है, दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान राजा के सामान्य अवलोकन को रोकता है, वेदनीय कर्म शहद लपेटी तलवार के समान सुख-दु:ख देता है, मोहनीय कर्म मदिरा के समान भुलावे में डालता है, आयु कर्म खोड़े के समान किसी भव में रोके रखता है, नाम कर्म चित्रकार के समान नाना प्रकार के शरीरादि रचता है, गोत्र कर्म कुम्भकार के समान उच्च नीच कुल में उत्पन्न करता है तथा अन्तराय कर्म भण्डारी के समान दानादि कार्यों में विघ्न डालता है। **(गो.क.गा. २०)**

८. प्रश्न : प्रदेश बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा के कर्म रूप परिणत पुद्गलों, स्कन्धों के समूह में परमाणु के प्रमाण से कल्पित परिच्छेदों खण्डों की जो संख्या है वह प्रदेश बन्ध कहलाता है। **(हरि. पु. ५८/२१३)** जो जीव और कर्म इन दोनों के प्रदेशों का परस्पर अनुप्रवेश कहिये एकक्षेत्रावगाह होने से सम्बन्ध होता है, उसे बन्धरहित सर्वज्ञदेव ने प्रदेशबन्ध कहा है। **(ज्ञा. ६/४९)**

एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों से अनन्त एक भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणे ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेश बन्ध का स्वरूप है। **(वृ.द्र.सं. ३३ टी.)**

९. प्रश्न : कौन-कौनसा बन्ध किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : मन, वचन आदि योग के निमित्त से प्रकृति बन्ध एवं प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय की तारतम्यता से नाना प्रकार का स्थिति बन्ध एवं अनुभाग बन्ध होता है। **(रा.वा. ९-१०)**

१०. प्रश्न : कर्मबन्ध के विषय में कितने प्रश्न उठते हैं ?

उत्तर : साम्परायिक आस्रव से जो कर्म बँधते हैं उसके विषय में चार प्रश्न उठते हैं- (१) बँधे हुए कर्म का स्वभाव क्या है। (२) बँधे हुए कर्मों की स्थिति कितनी है अर्थात् उनका कर्म रूप से कितने काल तक अवस्थान रहेगा ? (३) बँधे हुए कर्म अपने स्वभाव के अनुसार न्यूनाधिक कितना काम करेंगे ? (४) कर्म रूप से पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की गणना कितनी है? **(सूत्र. के आधार से)**

११. प्रश्न : इन प्रकृति आदि बन्धों की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : बन्ध के भेद से, इस प्रकार ही बन्ध भिन्न-भिन्न हो रहा है, इन चार प्रकारों को अन्य प्रकारों से बन्ध के भेद नहीं हैं। आत्मा के साथ बँधने योग्य कर्म ही प्रकृति अवस्था में रहते हुए प्रकृति बन्ध नाम को प्राप्त करते हैं। वे ही कर्म आत्मा के प्रदेशों पर वर्तन करते हुए प्रदेशबन्ध नाम को प्राप्त करते हैं, वे ही कर्म एक समय आगे की स्थिति परिणति से आक्रान्त हो जाते हैं तब स्थिति बन्ध नाम पाते हैं तथा वे ही कर्म आत्मा के फल देने की प्रकर्ष शक्ति स्वरूप अनुभव पर्याय से युक्त हो जाते हैं तब अनुभव बन्ध व्यपदेश को प्राप्त होते है। इस प्रकार सुन्दर रूप से बन्ध की प्रकृतिबन्ध आदि विधियों को कहा है। **(श्लो. ७/२९)**

कर्मों की मूल प्रकृतियाँ

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीय मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

आद्यः ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयुः नाम-गोत्र-अन्तरायाः।

(आद्यः) प्रथम मूल प्रकृति (ज्ञानदर्शनावरणवेदनीय मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय हैं।

अर्थ - प्रथम मूल प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय हैं।

ज्ञानावरणीय - जो ज्ञान का आवरण करता है वह ज्ञानावरण कर्म है।

दर्शनावरणीय - आत्म विषयक उपयोग दर्शन है। उस दर्शन गुण का जो आवरण करता है वह दर्शनावरणीय कर्म है।

वेदनीय - जो अनुभव किया जाता है वह वेदनीय कर्म है।

मोहनीय - जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है।

आयु - जिसके उदय से जीव नरकादि पर्यायों को प्राप्त करता है वह आयु कर्म है।

नाम - जो नाना प्रकार की रचना निर्वृत्ति करता है वह नाम कर्म है।

गोत्र - जो उच्च और नीच कुल में ले जाता है वह गोत्र कर्म है।

अन्तराय - जो दो पदार्थों के अन्तर (मध्य) में आता है वह अन्तराय कर्म है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रश्न के उत्तर में लिखा गया है ?

उत्तर : प्रकृति बन्ध कितने प्रकार का होता है ? प्रकृति बन्ध दो प्रकार का है- मूल प्रकृति बन्ध और उत्तर प्रकृति बन्ध। उसमें से मूल प्रकृति बन्ध कौन-कौन से हैं, इस प्रश्न के उत्तर में यह सूत्र लिखा गया है। **(रा.वा.उ. ४)**

२. प्रश्न : कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जीव को परतन्त्र करते हैं, अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है, उन्हें कर्म कहते हैं। अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं- उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं। **(आप्त प.टी. ११५)**

जो लोक की अनेकरूपता के मूल रूप से हेतु हैं उन्हें कर्म कहते हैं। विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत, कर्म और ईश्वर ये कर्म के ही पर्यायवाचक नाम हैं। मधुर एवं कटु फल प्रदाता होने से इन्हें द्विविध (पुण्य-पाप) रूप भी कहा गया है तथा यह भी बताया गया है कि अपने कर्मों के अनुसार जीव को उसके शुभाशुभ फल भोगने पड़ते हैं। ये तब तक जीव के साथ रहते हैं जब तक उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का सद्भाव रहता है। इन कर्मों की निर्जरा का साधन तप है। ध्यानाग्नि से इनके भस्मीभूत होने पर परमपद की प्राप्ति होती है।

३. प्रश्न : कर्मबन्ध कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : कर्मबन्ध सामान्य से एक प्रकार का है।

कर्मबन्ध दो प्रकार का है- पुण्य-पाप।

कर्मबन्ध तीन प्रकार का है- अनादि सान्त, अनादि-अनन्त, सादि-सान्त अथवा भुजाकार, अल्पतर और अवस्थित।

कर्मबन्ध चार प्रकार का है- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।

बन्ध पाँच प्रकार का है- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।

बन्ध षट् प्रकार का है- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक, त्रस कायिक।

बन्ध सात प्रकार का है- राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ।

बन्ध आठ प्रकार का है- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों रूप।

इस प्रकार शब्द की अपेक्षा संख्यात विकल्प वाला है क्योंकि कर्म शब्द के वाचक शब्द संख्यात ही हैं।

बन्ध अध्यवसायस्थान विकल्प की अपेक्षा असंख्यात विकल्प वाला है।

बन्ध अनन्तानन्तप्रदेश स्कन्ध के परिणमन विधि की अपेक्षा अनन्त विकल्पवाला है तथा ज्ञानावरणादि अनुभाग के अविभाग परिच्छेद की अपेक्षा भी अनन्त विकल्प वाला होता है। **(रा.वा. १५)**

सामान्य की अपेक्षा कर्म एक प्रकार का है।

भेद की अपेक्षा कर्म दो प्रकार का है – (१) द्रव्य कर्म (२) भाव कर्म।

कर्म मूल प्रकृति की अपेक्षा आठ प्रकार का है - ज्ञानावरणादि।

कर्म उत्तर प्रकृति की अपेक्षा एक सौ अड़तालीस प्रकार का है।

बन्ध के कारणभूत कषायाध्यवसाय स्थानों की अपेक्षा असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश होते हैं उतने भेद रूप भी है। **(क.प्र. ६-७)** भ्रमर, मधुकर, शलभ, पतंग, इन्द्रगोप, शंख, मत्कुण, निंब, आम, जम्बु, जम्बीर और कदम्ब आदिक रूप से जितने कर्मों के फल पाये जाते हैं उतने ही कर्म भी हैं। (**ध.७/७०-७१)**

४. प्रश्न : ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। जो ज्ञान का आवरण करता है वह ज्ञानावरण है। **(रा.वा. २)**

बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है, ऐसा जानना चाहिए। **(ध. पु. १/३८३)** ज्ञानस्वरूप जीव के ज्ञान को रोकने वाला ज्ञानावरणीय प्रथम कर्म है। **(व.चा. ४/३)** प्रवाह रूप से अनादि बन्धन बद्ध ज्ञान का आवरण करने वाला पुद्गल स्कन्ध ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। **(ध. ६/९)**

ज्ञान, अवबोध, अवगम और परिच्छेद ये सब एकार्थवाची नाम हैं, उस ज्ञान को जो आवरण करता है वह ज्ञानावरणीय कर्म है। **(ध. पु. ६/६)**

सहज शुद्ध केवलज्ञान को अथवा अभेदनय से केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत 'ज्ञान' शब्द से कहने योग्य परमात्मा को जो आवृत करे सो ज्ञानावरण है। **(वृ.द्र. सं. ३१ टी.)** जिस प्रकार प्रतिमा के ऊपर पड़ा हुआ कपड़ा प्रतिमा का आच्छादक होता है, उसी प्रकार यह कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को ढकता है। **(क.प्र. २८)**

५. प्रश्न : दर्शनावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रतिहार की तरह जो आत्मा के सामान्य ग्रहण रूप दर्शनगुण को रोकता है वह दर्शनावरणीय है। **(क.प्र. २७)** पदार्थों के साक्षात्कार का बाधक दर्शनावरणीय दूसरा कर्म है। **(व.चा. ४/३)** अन्तरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है। **(ध.१/३८३)** जो दर्शन गुण को आवरण करता है वह दर्शनावरणीय कर्म है। जो पुद्गल स्कन्ध जीव के साथ समवाय सम्बन्ध को प्राप्त है और दर्शन-गुण का प्रतिबन्धक है वह दर्शनावरणीय कर्म है। **(ध. पु. ६-१०)**

आत्म विषयक उपयोग को दर्शन कहते हैं। इस प्रकार के दर्शन गुण को जो आवरण करता है, वह दर्शनावरणीय कर्म है। **(ध. ६/९-१०)**

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के साथ एक रूप से परिणत और जीव के साथ समन्वित दर्शन गुण को जो रोकने वाला है वह दर्शनावरण है ऐसा समझना चाहिए। **(मू. १२३१ आ.)** जो दर्शन को आवृत करता है वह दर्शनावरणीय है। जैसे- राजद्वार पर बैठा द्वारपाल राजा को नहीं देखने देता, उसी प्रकार दर्शनावरण दर्शन गुण को आच्छादित करता है। **(गो. क. जी.२०)**

६. प्रश्न : वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदन किया जाता है वह वेदनीय कर्म है। **(सर्वा. ७३८)** जीव के सुख और दु:ख के अनुभवन का कारण, मिथ्यात्व आदि के प्रत्ययों के वश से कर्म रूप पर्याय से परिणत और जीव के साथ समवाय सम्बन्ध को प्राप्त पुद्गल स्कन्ध वेदनीय के नाम से कहा जाता है। **(ध. ६/१०)**

शहद लपेटी तलवार की धार के समान जो सुख अथवा दु:ख को इन्द्रियों द्वारा अनुभव कराये वह वेदनीय कर्म है। **(क.प्र. १४-२७)**

जीव के सुख और दु:ख का उत्पादक कर्म वेदनीय है। **(ध. १५/६)** सुख-दु:ख में साता और असाता के अनुभव का द्योतक वेदनीय कर्म है। **(व.चा. ४/३)**

सुख-दु:ख के अनुभव करने में निमित्तभूत, पुद्गलस्कन्धों के समूहरूप तथा मिथ्यात्व आदि प्रत्यय के निमित्त से कर्म पर्याय से परिणत हुआ जीव उनसे समन्वित होने से वेदनीय है। **(मू. १२३२ आ.)**

७. प्रश्न : मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है। **(सर्वा. ७३८)** जो मोहन करता है वा जिसके द्वारा मोह कराया जाता है, वह मोहनीय है वा जो मोहित करता है वा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है। **(रा.वा.२)** जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और धार्मिक कार्यों में विकल करता है वह मोहनीय कर्म है। **(म.पु.)** जीव के स्वभाव को अन्यथा करने वाला मोहनीय चौथा कर्म है। **(व.चा. ४/३)**

८. प्रश्न : जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है ऐसी व्युत्पत्ति करने पर तो मदिरा, धूतरा, भार्या आदि के मोहनीयता का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यहाँ पर मोहनीय नामक द्रव्य कर्म का अधिकार है अत: कर्म के अधिकार में धतूरा, मदिरा, स्त्री आदि की सम्भावना नहीं है। **(ध.पु. ६/११)**

९. प्रश्न : मोह और ज्ञानावरण कर्म में कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि दोनों के उदय में ही आत्मा हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है ?

उत्तर : मोह और ज्ञानावरण कर्म में अर्थान्तर भाव है अत: दोनों एक नहीं है। क्योंकि पदार्थ का यथार्थ बोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सद्भूत अर्थ का अश्रद्धान मोह है, पर ज्ञानावरण से ज्ञान तथा सद्भूत या अन्यथा असद्भूत ग्रहण ही नहीं करता है। जैसे- अङ्कुर रूप कार्य के भेद से कारणभूत बीजों में भिन्नता देखी जाती है उसी प्रकार अज्ञान और चारित्रमोह, दर्शनमोहादि कार्यान्तर के दृष्टिगोचर होने से उनके कारणभूत ज्ञानावरण और मोह में भेद होना ही चाहिए। **(रा.वा. ४-५)**

१०. प्रश्न : आयु कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : आठ कर्मों में यह पाँचवाँ कर्म है। यह सुदृढ़ बेड़ी के समान जीव को किसी एक पर्याय में रोके रहता है। **(हरि.पु. ३/९७)** यह जीवों को मनचाहे स्थान पर नहीं जाने देता। यह दु:ख शोक आदि अशुभ वेदनाओं की खान है।

कर्मों के उदय से उत्पन्न मोह, अज्ञान, असंयम और मिथ्यात्व भाव से वृद्धि को प्राप्त इस अनादिकालीन संसार में जो मनुष्य को हलि या खोड़े के समान जीव को रोक रखे उसे आयु कर्म कहते हैं। **(क.प्र. ११)** जो भव धारण के प्रति जाता है वह आयु कर्म है। जो पुद्गल मिथ्यात्व आदि बंध कारणों के द्वारा नर-नारकादि भव धारण करने की शक्ति से परिणत होकर जीव में निविष्ट होते हैं, वे आयु इस संज्ञा वाले होते हैं। **(ध. ६/१२)**

आयु कर्म का उदय कर्म के द्वारा किये गये और अज्ञान, असंयम तथा मिथ्यात्व के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुए अनादि संसार की चार गतियों में जीव को उसी प्रकार रोके रहता है जैसे एक विशेष प्रकार का काष्ठ अपने छिद्र में पैर डालने वाले व्यक्ति को रोके रहता है। **(गो.क.जी. ११)**

११. प्रश्न : नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : नाम संज्ञा वाला कर्म जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी अथवा देव रूप करता है। **(प्र.सा. ११७)**

जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नाम कर्म है। **(सर्वा. ७३८)** जो नाना प्रकार की रचना, निर्वृत्ति करता है, वह नाम कर्म है। शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध आदि कार्यों के करने वाले जो पुद्गल जीव में निविष्ट हैं, वे नाम इस संज्ञा वाले होते हैं, ऐसा अर्थ कहा गया है। **(ध. ६/१३)** पशु-पक्षी आदि के अलग-अलग शरीरों का निर्माता छठा कर्म नाम है। **(व.चा. ४/४)** चित्रकार की तरह जो आत्मा को नाना योनियों में नरकादि पर्यायों द्वारा नमाता है अर्थात् ले जाता है वह नामकर्म है। **(क.प्र. सर्वा.)**

१२. प्रश्न : गोत्र कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके द्वारा जीव उच्च-नीच गूयते शब्द्यते (कहा जाता) है वह गोत्र कर्म है। **(सर्वा. ७३८)** जो उच्च और नीच कुल को ले जाता है वह गोत्र कर्म है। मिथ्यात्व आदि बन्ध कारणों के द्वारा जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त एवं उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराने वाला पुद्गल स्कन्ध 'गोत्र' इस नाम से कहा जाता है। **(ध. पु. ६/१३)**

गोत्र, कुल, वंश और संतान ये सब एकार्थवाची हैं। **(ध.पु. ६/७७-७८)**

जो उच्च-नीच का ज्ञान कराता है वह गोत्र कर्म है। **(ध. १३/३८७)**

सन्तान क्रम से चला आया जो जीव आचरण है उसकी गोत्र संज्ञा है। **(गो.क. १३)**

उच्च-नीच विभागों का कारण सातवाँ गोत्र कर्म है। **(व.चा. ४/४)**

शक्ति की अपेक्षा समान एक ही योनि के जीवों के भी उच्च और नीच वर्गों का विभाजक गोत्र कर्म है। **(व.चा. ४/४७)**

१३. प्रश्न : अन्तराय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : दाता-पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे वा जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य में अन्तर डाले उसे अन्तराय कहते हैं। अथवा जिसके रहने पर दाता आदि दानादि क्रियाएँ नहीं कर सके, दान आदि की इच्छा से पराङ्मुख हो जावे, वह अन्तराय कर्म है। **(रा.वा. २)**

जो इष्ट पदार्थों की प्राप्ति में विघ्नकारी होता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। **(हरि.पु. ३/९८)** ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, भोग आदि की प्राप्ति का प्रधान बाधक अन्तिम कर्म अन्तराय है। **(व.चा. ४/५)**

१४. प्रश्न : सूत्र में 'आद्यः' एकवचन एवं 'गोत्रान्तरायाः' बहुवचन का ग्रहण क्यों किया है?

उत्तर : सूत्र की आदि में द्रव्यार्थिक नय से 'आद्य:' एक वचन कहा है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से एक ही प्रकृति बन्ध है एवं पर्यायार्थिक नय से सूत्र के अन्त में '.... गोत्रान्तराया:' बहुवचन दिया है क्योंकि ज्ञान, दर्शन आदि विशेष की अपेक्षा प्रकृतिबन्ध अनेक प्रकार का है। **(रा.वा. १)**

१५. प्रश्न : एक ही बन्ध अनेक प्रकृति रूप कैसे हो जाता है ?

उत्तर : जिस प्रकार खाये हुए भोजन का अनेक विकार में समर्थ वात, पित्त, श्लेष्म, खल, रस, आदि रूप से परिणमन हो जाता है, उसी प्रकार बिना किसी प्रयोग के कर्म आवरण, अनुभव, मोहापादन, भवधारण, नाना जाति, नाम, गोत्र और व्यवच्छेदकरण समर्थ (अन्तराय) आदि शक्तियों से युक्त होकर आत्मा से बँध जाते हैं, सन्निधान को प्राप्त हो जाते हैं। **(रा.वा. ३)**

जैसे- आकाश से सामान्य रूप से गिरा हुआ मेघ का जल पात्रविशेष में पड़ कर विभिन्न रस रूप परिणमन कर जाता है, उसी प्रकार ज्ञानशक्ति का उपरोध करने से ज्ञानावरण सामान्यत: एक होकर भी अवान्तर शक्ति भेद से मति आवरण-श्रुतावरण आदि भेद रूप से परिणमन करता है। **(रा.वा. ७)**

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग रूप प्रत्ययों के आश्रय से उत्पन्न हुई आठ शक्तियों से संयुक्त जीव के सम्बन्ध से कार्मण पुद्गल स्कन्धों का आठ कर्मों के आकार से परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है। **(ध.पु. १२)**

१६. प्रश्न : एक ही पुद्गल में अनेक कार्य करने की शक्ति कैसे हो सकती है क्योंकि एक के अनेक रूप होने में विरोध है।

उत्तर : ऐसा ही स्वभाव है जैसे-एक ही अग्नि में दाह, पाक, प्रताप और प्रकाश का सामर्थ्य विरुद्ध नहीं है, उसी प्रकार एक ही पुद्गल में आवरण, सुख-दु:ख आदि में निमित्त होने की शक्ति है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

एक और अनेक लक्षण वाले द्रव्य के कथञ्चित् एकपना है और कथञ्चित् अनेकपना है, जैसे द्रव्यदृष्टि से पुद्गल कथञ्चित् एक है और अनेक परमाणुओं के स्निग्ध रूक्ष बन्ध से होने वाली विभिन्न स्कन्ध पर्यायों की दृष्टि से अनेक है, इसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार भिन्नजातीय पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु परमाणु से निष्पन्न भिन्नजातीय इन्द्रियों का एक ही दूध या घृत उपयोग करने पर उपकारक होता है ऐसा देखा जाता है उसी प्रकार भिन्न जातीय द्रव्यों का परस्पर उपकार होता है।

जैसे- इन्द्रियाँ भिन्न हैं वैसे ही उनमें होने वाली वृद्धियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे- पृथिवीजातीय दूध से तेजो जातीय चक्षु का उपकार होता है उसी तरह अचेतन कर्म से भी चेतन आत्मा का अनुग्रह आदि हो सकता है अत: भिन्नजातीय द्रव्यों में परस्पर उपकार मानने में कोई विरोध नहीं है। **(रा.वा. १०-१४)**

१७. प्रश्न : सूत्र में सर्वप्रथम ज्ञानावरण कर्म का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : ज्ञान से आत्मा का अधिगम होता है, अत: स्वाधिगम का निमित्त होने से वह प्रधान है

अत: आत्मा के प्रधान गुण ज्ञान का आवरक होने से सूत्र में सर्वप्रथम ज्ञानावरण कर्म का ग्रहण किया है। **(रा.वा. १६)**

व्याकरण का नियम है कि जिसमें अल्पाक्षर हो उसे पहले रखा जाता है। इसी कारण अल्पाक्षर वाला एवं पूज्य (प्रधान) गुण का आवरक होने से ज्ञानावरण का सर्व प्रथम ग्रहण किया है। **(गो.क.१६)**

१८. प्रश्न : ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अनाकार की उपलब्धि होने से ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण को कहा है क्योंकि साकार उपयोग रूप ज्ञान से अनाकार उपयोग रूप दर्शन अपकृष्ट है। अनभिव्यक्त का ग्रहण करने वाला होने से परन्तु उपलब्धि रूप होने से वेदनीय आदि की अपेक्षा प्रकृष्ट है अत: ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण का ग्रहण किया है। **(रा.वा. १७)**

१९. प्रश्न : वेदनीय आदि कर्मों के क्रम का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण के बाद वेदनीय का ग्रहण किया है क्योंकि वेदना ज्ञान-दर्शन की अव्यभिचारिणी है, ज्ञान-दर्शन रहित घटादि रूप विपक्ष में वेदना नहीं पाई जाती है।

ज्ञान-दर्शन आदि का विरोधी होने से वेदनीय के बाद मोह कर्म का ग्रहण किया गया है। क्योंकि मोही प्राणी न देखता है न जानता है और न सुख-दु:ख का अनुभव करता है।

आयु निमित्तक सुख-दु:ख होने से मोहनीय के समीप आयु का उल्लेख किया है। आयुकर्म के उदय के अनुसार ही प्राय: गति आदि नाम कर्म का उदय होता है अत: आयु के अनन्तर नाम कर्म का उल्लेख किया गया है। **(रा.वा. १८-२१)**

आयु कर्म के बल से जीव का विवक्षित भव या चतुर्गति रूप संसार में अवस्थान होता है इसलिए आयु कर्म के निर्देश के पश्चात् नाम कर्म का निर्देश किया है। **(क.प्र. १९)** शरीर आदि को प्राप्त जीव के ही शब्द की अभिव्यक्ति होती है अत: नाम के बाद गोत्र का ग्रहण किया है तथा परिशेष न्याय से अन्त में अन्तराय कर्म का ग्रहण किया है। **(रा.वा. २२)**

वीर्य शक्ति रूप है। वह जीव में (ज्ञानादिक शक्ति) तथा अजीव में (शरीरादि शक्ति रूप में) पाया जाता है उस वीर्य का आवरक होने से अन्त में अन्तराय कर्म को कहा है। **(गो.क. १६)**

२०. प्रश्न : यदि मोही जीव के ज्ञान-दर्शन-सुख आदि नहीं पाये जाते हैं तो मिथ्यादृष्टि से असंयत पर्यन्त जीवों के सुख-दु:ख आदि नहीं होने चाहिए ?

उत्तर : यहाँ क्वचित् विरोध देखा जाता है, सर्वत्र नहीं। क्योंकि यद्यपि मोही जीवों के भी ज्ञान-दर्शन, सुख-दु:ख आदि देखे जाते हैं फिर भी प्राय: मोहाभिभूत प्राणियों को हिताहित का विवेक आदि नहीं रहता है अत: मोह का ज्ञानादि से विरोध कह दिया गया है। **(रा.वा. १९)**

२१. प्रश्न : द्रव्य कर्म एवं भावकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्यकर्म - ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड को द्रव्य-कर्म कहते हैं। **(क.प्र.६)** जीव के जो द्रव्यकर्म हैं वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं। **(आप्त. प.टी. ११३)** **भावकर्म**- उस द्रव्य कर्म रूप पिण्ड में फल देने की जो शक्ति है उसे भावकर्म कहते हैं। अथवा - उस शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावों को भी भावकर्म कहते हैं। **(क.प्र. ६)**

जो भावकर्म हैं वे आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक हैं, क्योंकि आत्मा से कथंचित् अभिन्न रूप से स्ववेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि रूप हैं। **(आप्त.प.टी ११४)**

प्रकृति बन्ध

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च भेदा यथाक्रमम् ।।५।।

पञ्च-नव-द्वि-अष्टाविंशति-चतुः-द्विचत्वारिंशत् द्वि-पञ्च भेदाः यथाक्रमम्।

अर्थ - पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच, ये क्रमशः ज्ञानावरणादि कर्मों के उत्तर भेद हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?

उत्तर : मूल प्रकृति बन्ध आठ प्रकार का है, उनका तो वर्णन कर दिया गया है। अब उत्तर प्रकृति-बन्ध कितने प्रकार का है ? ऐसी पृच्छा होने पर आचार्य महाराज ने उत्तर प्रकृतियों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. उ. ५)**

२. प्रश्न : कर्म के मूल एवं उत्तर भेद क्यों किये गये हैं ?

उत्तर : मेधावी जीवों के अनुग्रहार्थ संग्रह नय का अवलम्बन लेकर कर्म प्रकृति के आठ मूल भेद किये हैं तथा मन्दबुद्धि जनों का अनुग्रह करने के लिए व्यवहार नय रूप पर्याय से परिणत उत्तर भेद कहे गये हैं।

३. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि पाँच आदि प्रकृति बन्ध के उत्तर भेद हैं ?

उत्तर : पूर्व सूत्र (चौथे) में 'आद्य' पद दिया है अतः द्वितीय शब्द के बिना कहे भी इस सूत्र में परिशेष न्याय से उत्तर प्रकृति बन्ध का बोध हो ही जाता है। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'यथाक्रमं' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : यथानुपूर्वी को यथाक्रम कहते हैं अतः इस सूत्र में दिये गये 'यथाक्रमं' पद के आधार से सूत्र का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए-

ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद, दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद, वेदनीय कर्म के दो भेद, मोहनीय

कर्म के अट्ठाईस भेद, आयु कर्म के चार भेद, नाम कर्म के बयालीस भेद, गोत्र कर्म के दो भेद तथा अन्तराय कर्म के पाँच भेद होते हैं। **(सर्वा. ७४०)**

५. प्रश्न : कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की सिद्धि किस प्रमाण से होती है ?

उत्तर : ''कार्यानुमेयानि कारणानि भवन्ति'' ज्ञान का आवरण आदि कार्य विशेषों से ज्ञानावरणादि उत्तर प्रकृतियों का अनुमान कर लिया जाता है। अवधिज्ञानी, मन:पर्यय ज्ञानी तथा केवलज्ञानी के मूल और उत्तर प्रकृतियों का प्रत्यक्ष प्रमाण से और मति-श्रुतज्ञानी जीवों के उन कर्मों की अनुमान प्रमाण से सिद्धि हो जाती है। **अथवा**

आत्मा में उपादान हेतु ज्ञान के होते हुए और काल, आकाश, पुस्तक आदि निमित्त कारणों के समान रूप से रहते हुए तथा योग्य देश में स्थित अवलम्बन कारण विषय के होते हुए आहार, परोपदेश, अभ्यास, सहपाठियों के साथ परामर्श करना आदि उपयोगी कारणों के मिल जाने पर भी किसी पुरुष के मति-श्रुतादि ज्ञानों की विशेष व्युत्पत्तियों का अभाव देखा जाता है, किसी के ज्ञान की वृद्धि देखी जाती है। अत: अनुमान द्वारा निर्णय किया जाता है कि इन बाह्य कारणों से भिन्न कोई अदृष्ट कारण कर्म और कर्म का क्षयोपशम अवश्य भिन्न-भिन्न है अर्थात् उनका अनुमान हो जाता है। **(श्लो. ७/४८-४९)**

ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

मतिश्रुतावधिमन: पर्ययकेवलानाम् ॥६॥

मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय-केवलानाम्।

अर्थ - मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण ये ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

मति ज्ञानावरण - जो मतिज्ञान का आवरण करता है वह मतिज्ञानावरण है।

श्रुतज्ञानावरण - श्रुतज्ञान का आवरण करने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरण है।

अवधिज्ञानावरण - अवधिज्ञान का आवरण करने वाला कर्म अवधिज्ञानावरण है।

मन:पर्ययज्ञानावरण - मन:पर्ययज्ञान का आवरण करने वाला कर्म मन:पर्ययज्ञानावरण है।

केवलज्ञानावरण - केवलज्ञान का आवरण करने वाला कर्म केवलज्ञानावरण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : वहाँ उत्तर प्रकृतियों के द्वारा आवरण किये जा रहे कौन-कौन से पाँच ज्ञान हैं जिन का ज्ञानावरण कर्म के द्वारा आवरण होता है इस प्रकार प्रश्न उठने पर उसके उत्तर रूप में यह सूत्र लिखा गया है। **(श्लो. ७/४२)**

२. प्रश्न : ज्ञानावरण के स्थान पर 'ज्ञानविनाशक' ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जीव के लक्षण स्वरूप ज्ञान और दर्शन का विनाश नहीं होता है। यदि ज्ञान और दर्शन का विनाश माना जायेगा तो जीव का ही विनाश हो जायेगा। क्योंकि लक्षण से रहित लक्ष्य पाया नहीं जाता है। ज्ञान का विनाश नहीं मानने पर यदि सर्व जीवों के ज्ञान का अस्तित्त्व प्राप्त होता है तो भी कोई विरोध नहीं है अथवा ''अक्षर का अनन्तवाँ भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है।'' इस सूत्र के अनुकूल होने से सर्व जीवों के ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध है। **(ध. ६/६-७)**

३. प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म की कितनी प्रकृतियाँ होती हैं?

उत्तर : ज्ञानावरण कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं- (१) अभिनिबोधक ज्ञानावरणीय (२) श्रुतज्ञानावरणीय (३) अवधिज्ञानावरणीय (४) मनः पर्ययज्ञानावरणीय (५) केवलज्ञानावरणीय **(ध. १३/२०९)**

ज्ञानावरण कर्म की असंख्यात प्रकृतियाँ हैं क्योंकि आवरण के योग्य ज्ञान के अंसख्यात लोकमात्र भेद पाये जाते हैं। **(ध. १२/४७९)**

४. प्रश्न : मतिज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : मतिज्ञानावरण कर्म स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध आदि को रोक देता है। अवग्रह मतिज्ञानावरणीय कर्म पदार्थ के साधारण ज्ञान को भी रोक देता है। अर्थ की विशेषताओं की जिज्ञासा मात्र का मूलोच्छेद करना ईहा मतिज्ञानावरणीय का काम है। विषय के निर्णयात्मक ज्ञान में अवाय मतिज्ञानावरणीय ही बाधक होता है।

धारणा मतिज्ञानावरणीय कर्म उक्त प्रकार से जाने हुए भी पदार्थ ज्ञान के दृढ़ संस्कार को नहीं होने देता है। **(व.चा. ४/११)**

५. प्रश्न : मतिज्ञानावरण कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर : आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म के चार भेद, चौबीस भेद, अट्ठाईस भेद, बत्तीस भेद, अड़तालीस भेद, एक सौ चवालीस भेद, एक सौ अड़सठ भेद, एक सौ बानवे भेद, दो सौ अठासी भेद, तीन सौ छत्तीस भेद और तीन सौ चौरासी भेद जानने चाहिए। **(ध. १३/२४१)** मतिज्ञानावरण की प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र हैं। **(ध. १२/५०२)**

नोट : जितने मतिज्ञान हैं उतने आवरक कर्म हैं; मतिज्ञान के भेद देखें १/१९।

६. प्रश्न : श्रुतज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : श्रुतज्ञान के पर्याय आदि बीस भेद होते हैं। प्रकट रूप में श्रुतज्ञानावरणीय कर्म यही फल देता है कि उससे आक्रान्त जीव न तो शास्त्र को ही समझता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थ को ही। तीसरी अवस्था भी होती है, जब प्राणी ग्रन्थ और विषयार्थ दोनों को स्वयं जानकर भी जब दूसरों को उपदेश देता है तो उनको भली भाँति नहीं समझा सकता है। **(व.चा. ४/१३-१४)**

७. प्रश्न : श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर : श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की संख्यात प्रकृतियाँ हैं। जितने अक्षर हैं और जितने अक्षर संयोग हैं उतनी श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं। उसी प्रकार श्रुत ज्ञानावरणीय की बीस प्रकार की पर्यायावरणीय आदि प्रकृतियाँ जाननी चाहिए। **(ध. १३/२४७)**

श्रुतज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र हैं। **(ध. १२/५०२)**

नोट : पर्याय, पर्याय समास आदि ज्ञानों का वर्णन (१/२०) में किया गया है।

८. प्रश्न : अवधि ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : भवप्रत्यय अवधिज्ञान का आवरण करने वाला भवप्रत्यय अवधिज्ञानावरणीय और क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान को आवरण करने वाला क्षयोपशम प्रत्यय अवधि ज्ञानावरणीय कर्म है। **(व.चा. ४/१५)**

जब-जब जीव के परिणाम क्रोधादि कुभावों से संक्लिष्ट होते हैं तब कर्मों के क्षय-उपशम (क्षयोपशम) दोनों विलीन हो जाते हैं। फलत: अवधिज्ञान का भी लोप हो जाता है। **(व.चा. ४/१८)**

९. प्रश्न : अवधि ज्ञानावरणीय कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के असंख्यात विकल्प हैं। **(ध. १२/५०१)**

१०. प्रश्न : मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : ऋजु एवं कुटिल इन दोनों प्रकार की मानसिक चेष्टाओं को जानने में समर्थ चेतना शक्ति को ढकने वाला कारण ही चौथा (मन:पर्यय) ज्ञानावरणीय है। ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का यही फल होता है कि ज्ञाता योजन पृथक्त्व में बैठे हुए प्राणियों के मनों में उठने वाले संकल्प विकल्पों को भी जानने में समर्थ नहीं होता है। विपुलमति मन:पर्यय ज्ञानावरणीय का फल यह है कि ज्ञाता ढाई द्वीप में रहने वाले प्राणियों के हृदयों में उठने वाले विचारों और भावों को भी नहीं जान सकता है यह क्षेत्र की अपेक्षा वर्णन है।

काल की अपेक्षा भी कम-से-कम दो-तीन भवों की बातों को और अधिक-से-अधिक असंख्यात भवों में घटी बातों को जानने में असमर्थ होना भी जीव पर मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण पड़ जाने से ही होता है। **(व.चा. ४/२०-२२)**

११. प्रश्न : मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ असंख्यात कल्प मात्र हैं। **(ध. १२/५०२)**

१२. प्रश्न : केवल ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा की वह विशेष योग्यता जिसके द्वारा यह जीवादि छहों द्रव्यों के सांगोपांग स्वभाव

और पर्यायों को तीनों लोकों और तीनों कालों में युगपत् जानता है, उसी असाधारण पूर्ण चैतन्य स्वरूप को केवल ज्ञानावरणीय कर्म पूर्ण रूप से ढक देता है। **(व.चा. ४/२३)**

१३. प्रश्न : केवलज्ञानावरणीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर : केवल ज्ञानावरणीय कर्म की एक ही प्रकृति है क्योंकि केवलज्ञान बहुत नहीं है। **(ध. १३/३४५)**

१४. प्रश्न : अक्षर का अनन्तवाँ भाग किस ज्ञान में उद्घाटित रहता है ?

उत्तर : सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपने जितने भव सम्भव हैं उनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्त शरीर को तीन मोड़ों के द्वारा ग्रहण करने वाले जीव के प्रथम मोड़ा के समय सर्व जघन्य (पर्याय ज्ञान) होता है जो नित्य निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान होता है। **(गो.जी. ३२०-२२)**

१५. प्रश्न : निगोदिया के कितने भव सम्भव हैं ?

उत्तर : एक अन्तर्मुहूर्त में एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छासठ हजार तीन सौ छत्तीस (६६३३६) बार मरण और उतने ही भवों-जन्मों को भी धारण कर सकता है। उनमें विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के अस्सीभव, त्रींद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के साठ भव, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के चालीस भव और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के चौबीस भव धारण कर सकता है।

एकेन्द्रियों में स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति इस प्रकार सम्पूर्ण ग्यारह प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों में से प्रत्येक के छह हजार बारह (६०१२) भेद होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर (८०+६०+४०+२४+(६०१२×११)=६६३३६ छासठ हजार तीन सौ छत्तीस भव होते हैं। **(गो. जी. १२३-२५)**

अष्ट पाहुड में इन्हें ही निगोद भव से कहा है-

हे आत्मन् ! तू निगोद के वास में एक अन्तर्मुहूर्त्त में छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ है। **(भा.पा. २८)**

नोट - अगली गाथा में उपर्युक्त प्रकार से भवों की संख्या बताई गयी है।

१६. प्रश्न : ज्ञान को आव्रियमाण किसलिए कहा है ?

उत्तर : अपने विरोधी द्रव्य के सन्निधान अर्थात् सामीप्य होने पर भी जो निर्मूलत: विनष्ट नहीं होता है उसे आव्रियमाण कहते हैं, आवरण करने वाले विरोधी द्रव्य को आवारक कहते हैं अर्थात् ज्ञान आव्रियमाण है और कर्म आवारक हैं। **(ध. ६/८)**

१७. प्रश्न : पूर्व सूत्र में कहे गये मतिज्ञान आदि का यहाँ ग्रहण करके 'मत्यादीनां' इस लघु सूत्र का निर्देश क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : यदि 'मत्यादीनां' ऐसा लघु सूत्र कहते तो 'मति आदि का आवरण है' इस अनिष्ट अर्थ का प्रसंग होता, अत: प्रत्येक के साथ मत्यावरण, श्रुतावरण, अवधि आवरण, मन:पर्ययावरण और केवलावरण इन सबका सम्बन्ध करने के लिए सबका पृथक् ग्रहण किया है। अर्थात् मति आदि प्रत्येक का आवरण भिन्न-भिन्न है, इस बात को सूचित करने के लिए मति आदि सबका सूत्र में उल्लेख किया है। **(रा.वा. २)**

१८. प्रश्न : लघु सूत्र के साथ पाँच संख्या का निर्देश करने से मति आदि पाँचों ज्ञानों का क्रमश: सम्बन्ध हो जायेगा ?

उत्तर : यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें मति आदि प्रत्येक के पाँच आवरणों का प्रसंग होगा और अनिष्टार्थ की प्राप्ति होगी। परन्तु पुन: प्रतिपद ग्रहण करने के सामर्थ्य से इष्ट अर्थ का ज्ञान कर सकते हैं। अत: इष्ट अर्थ की प्रतीति के लिए मति, श्रुत आदि का पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है। **(रा.वा.३)**

१९. प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म सत् रूप मतिज्ञानादि का आवरण करता है या असत् रूप मतिज्ञानादि का ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, क्योंकि आगमवचन से इसकी सिद्धि होती है। कथञ्चित् द्रव्यार्थिक दृष्टि से सत् विद्यमान मति आदि का आवरण होता है और कथञ्चित् पर्याय दृष्टि से अविद्यमान मति आदि का आवरण होता है। यदि एकान्त से सर्वथा सत् माना जाय तो फिर इन्हें क्षयोपशमजन्य नहीं कह सकेंगे और यदि सर्वथा एकान्त से असत् माना जाय तब भी ये क्षयोपशमजन्य नहीं हो सकेंगे, असत्व होने से क्योंकि जैसे- सत् रूप आकाश का मेघ पटलादि से आवरण देखा जाता है, उसी प्रकार 'सत् रूप' से विद्यमान मतिज्ञान आदि का आवरण मानने में कोई विरोध नहीं है। **(रा.वा. ५)**

अथवा - प्रत्याख्यानावरण के समान अर्थान्तर का अभाव है। जैसे प्रत्याख्यान कोई प्रत्यक्ष पदार्थ या पर्याय नहीं है जिसके आवरण से प्रत्याख्यानावरण हो किन्तु प्रत्याख्यानावरण कर्म के सान्निध्य से आत्मा में प्रत्याख्यान पर्याय उत्पन्न नहीं होती अत: प्रत्याख्यान का आवरणत्व कहा जाता है। उसी प्रकार मति आदि कोई प्रत्यक्षीभूत पर्याय नहीं है जिसके आवरण से मत्यादि आवरण के आवरणत्व हो। अर्थात् मत्यादि आवरण कहे जावें, परन्तु मति आदि आवरण के उदय से आत्मा मतिज्ञानादि पर्याय रूप से परिणमन नहीं कर सकता वा जिस कर्म के उदय से आत्मा में मतिज्ञानादि उत्पन्न नहीं हो सकते, उसे मतिज्ञानावरण कहते हैं वा वह मतिज्ञान का आवरण कहलाता है। **(रा.वा. ६)**

२०. प्रश्न : द्रव्य दृष्टि से अभव्य में भी मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान का अस्तित्व है तो वह भव्य हो जायेगा ?

उत्तर : द्रव्य दृष्टि से अभव्य में मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान का अस्तित्व होने मात्र से अभव्य में भव्यत्व का प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि भव्यत्व और अभव्यत्व का विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नहीं है अपितु सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति (प्रगटता) के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा है। **(रा.वा. ८)**

२१. प्रश्न : अभव्यों के मन:पर्यय एवं केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता अत: उनके मन:पर्ययावरण और केवलावरण नहीं होना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि द्रव्य दृष्टि से अभव्यों में भी मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान की शक्ति है। इसलिए अभव्यों में भी सत् रूप से मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान का आवरण होता है। तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अभव्यों में मन:पर्यय और केवलज्ञान नहीं है अत: द्रव्य दृष्टि से अभव्य के मन:पर्यय और केवलज्ञान की शक्ति विद्यमान रहते हुए भी जिनके उदय से वे प्रकट नहीं हो पाते, वे मन:पर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण अभव्य के भी हैं। **(रा.वा. ८.९)**

२२. प्रश्न : भव्य और अभव्य को किसकी उपमा दी जा सकती है ?

उत्तर : भव्य को कनक पाषाण एवं अभव्य को इतर (अन्ध) पाषाण की उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार जिसमें सुवर्ण पर्याय प्रकट होने की शक्ति-योग्यता है वा जो सुवर्ण भाव को प्राप्त होगा वह कनक पाषाण कहलाता है और जिसमें सुवर्ण पर्याय प्रकट होने की शक्ति नहीं है वह अन्ध पाषाण कहा जाता है। उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप पर्यायों की अभिव्यक्ति की योग्यता वाला है वह भव्य है और इससे विपरीत जिसमें सम्यग्दर्शनादि पर्यायों की अभिव्यक्ति की योग्यता नहीं है वह अभव्य है। **(रा.वा. ९)** अथवा -

अग्नि, जल, पात्र आदि का निमित्त मिलने पर मूंग तो सीझ जाता है परन्तु सैकड़ों मन लकड़ी जलाने पर भी टोरा (ठर्रा) मूंग (जो कभी नहीं सीझता) नहीं सीझता है उसी प्रकार भव्य और अभव्य को जानना चाहिए। **(श्लो. हिन्दी ७/४७)**

२३. प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म की पाँच ही प्रकृतियाँ क्यों होती हैं ?

उत्तर : मति आदिक पाँच ज्ञानों के आवरण करने वाले कर्म पाँच ही उक्त सूत्र में कहे गये हैं क्योंकि बहिरंग हेतुओं के होने पर भी मति आदिक ज्ञानों की उत्पत्ति का अभाव है। **(श्लो. ७/४८)**

२४. प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव की कैसी दशा हो जाती है ?

उत्तर : ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा का ज्ञान-सामर्थ्य लुप्त हो जाता है, जीव अज्ञ और अति दु:खी होता है, वह स्मृति शून्य और धर्म-श्रवण में निरुत्सुक हो जाता है और अज्ञानजन्य अवमानकृत अनेक दु:खों का अनुभव करता है। **(रा.वा. १०)**

वर्षा ऋतु के काले घने मेघ आकाश में धवल चन्द्रिका को फैला देने वाले पूर्णिमा के षोड़ष-कला

युक्त चन्द्रमा को जैसे अकस्मात् ही कहीं से आकर ढक लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म भी ज्ञान गुण वाले आत्मा को एक क्षण में ही आवृत कर लेता है। किसी एक ओर इकट्ठी हुई काई जिस प्रकार हाथ के आघात से हिलाये-डुलाये जाने पर क्षण भर में ही पूरी स्वच्छ जलराशि के ऊपर फैल जाती है। बिल्कुल इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव होता है। जिसकी आँखों की ज्योति नष्ट हो गयी फलत: आँखों में अन्धकार छा गया है ऐसा व्यक्ति सामने पड़े हुए द्रव्य को देखने में असमर्थ हो जाता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ने जिस जीव के ज्ञान पर पर्दा डाल दिया है वह पदार्थों के सत्य लक्षणों का विवेचन नहीं कर सकता है। **(व.चा. ४/४५-४८)**

दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-प्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलानां-निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धय: च।

(चक्षुरचक्षुरवधि केवलानां) चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन, (निद्रानिद्रानिद्रा-प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धयश्च) निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं।

अर्थ - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं।

चक्षुदर्शनावरण - चक्षु दर्शन के आवरण करने वाले कर्म को चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण - जो चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों के दर्शन का आवरण करता है वह अचक्षुदर्शनावरण है।

अवधि दर्शनावरण - जो अवधि दर्शन का आवरण करता है वह अवधि दर्शनावरण है।

केवल दर्शनावरण - जो केवलदर्शन का आवरण करता है वह केवल दर्शनावरण है।

निद्रा - मद आदि को दूर करने के लिए सोना निद्रा है।

निद्रा-निद्रा - निद्रा के ऊपर निद्रा आना निद्रा-निद्रा है।

प्रचला - जो आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला है।

प्रचला-प्रचला - प्रचला की पुन: पुन: आहित वृत्ति प्रचला-प्रचला है।

स्त्यानगृद्धि - स्वप्न में भी वीर्य विशेष का आविर्भाव होना स्त्यानगृद्धि है।

१. प्रश्न : दर्शनावरणीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं?

उत्तर : दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं- निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय **(ध. ६/३१)**

ज्ञानावरण और दर्शनावरण की असंख्यात प्रकृतियाँ हैं। **(ध. १२/४७९)**

चूंकि आवरण के योग्य ज्ञान और दर्शन के असंख्यात लोक मात्र भेद पाये जाते हैं अतएव उनके आवारक उक्त कर्मों की प्रकृतियाँ भी उतनी ही होनी चाहिए। **(ध. १२/४७९)**

२. प्रश्न : चक्षु एवं अचक्षुदर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से आत्मा चक्षुरिन्द्रिय रहित एकेन्द्रिय वा विकलेंद्रिय हो अथवा चक्षुरिन्द्रिय सहित पंचेन्द्रिय हो तो भी उसके नेत्रों में देखने का सामर्थ्य न हो अर्थात् अंधा, काना व न्यून दृष्टि हो, उसे चक्षुदर्शनावरण प्रकृति कहते हैं।

चक्षुदर्शनावरणी कर्म आँखों की पदार्थ देखने की सामर्थ्य को सर्वथा नष्ट कर देता है और अचक्षुदर्शनावरणी कर्म शेष स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मन की प्रतिभास करने की शक्ति को नष्ट कर देता है। **(व.चा. ४/५५)**

३. प्रश्न : इन दोनों की कितनी उत्तर प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर : चक्षु और अचक्षु दर्शनावरणी कर्म की प्रकृतियाँ पृथक्-पृथक् असंख्यात लोक मात्र है। **(ध. १२/४८७)**

४. प्रश्न : अवधि दर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : अवधिज्ञान के द्वारा जानने योग्य उत्कृष्ट और जघन्य पदार्थों के साधारण प्रतिभास को जो आवरण अपनी शक्ति से रोक देता है उसे अवधि दर्शनावरणी कहते हैं। **(व.चा. ४/५६)**

इस अवधि दर्शनावरणी कर्म की असंख्यात लोक प्रकृतियाँ हैं। **(ध. १२/४८०)**

५. प्रश्न : केवल दर्शनावरणी कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : केवलज्ञान के ज्ञेय त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों के सामान्य प्रतिभास में जो बाधक है उसे ही केवल दर्शनावरणी कहते हैं। **(व.चा. ४/५६)**

इस केवल दर्शनावरणी कर्म की एक प्रकृति है। **(ध. १२/५०२)**

६. प्रश्न : दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान की उत्पत्ति के निमित्तभूत प्रयत्न विशिष्ट स्वसंवेदन को दर्शन माना गया है। पदार्थों के आकार रूप विशेष अंश का ग्रहण न करके जो केवल सामान्य अंश का निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है उसे परमागम में दर्शन कहते हैं।

७. प्रश्न : चक्षु आदि दर्शनावरण के उदय में आत्मा की अवस्था कैसी होती है ?

उत्तर : चक्षु एवं अचक्षु दर्शनावरण के उदय में आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा आलोचन क्रिया में असमर्थ हो जाता है। एकेन्द्रिय भाव से और विकलेन्द्रिय भाव से तथा पंचेन्द्रियत्व होने पर भी इन्द्रियजन्य आलोचन के सामर्थ्य से रहित हो जाता है। अवधि दर्शनावरण के उदय से आत्मा अवधिदर्शन से रहित हो जाता है। केवल दर्शनावरण कर्म के उदय से केवलदर्शन का आविर्भाव नहीं होता है। वह जीव बहुत काल तक संसार में रहता है। **(रा.वा. १२-१४)**

८. प्रश्न : चक्षु आदि के साथ पृथक् विभक्ति का निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर : चक्षु आदि के साथ दर्शनावरण का सम्बन्ध होने से पृथक् विभक्ति का निर्देश किया है। चक्षु आदि में द्वन्द्व समास है। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण और केवल दर्शनावरण। इस प्रकार इनके साथ दर्शनावरण का सम्बन्ध है अत: उनमें पृथक् विभक्ति दी गई है। **(रा.वा.१)**

९. प्रश्न : निद्रा किसे कहते हैं ?

उत्तर : मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावट को दूर करते हुए विनोद के लिए सोना निद्रा है। **(सर्वा. ७४४)**

'नि' उपसर्ग पूर्वक 'द्राति' धातु से कुत्सित क्रिया में 'अङ्' प्रत्यय करने पर निद्रा शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसके सन्निधान से आत्मा निद्रा लेता है, कुत्सित कार्य करता है, वा स्वप्न में क्रिया करता है वह निद्रा है। **(रा.वा. २)** जिस प्रकृति के उदय से आधा जागता हुआ सोता है, धूलि से भरे हुए के समान नेत्र हो जाते हैं और गुरुभार को उठाये हुए के समान सिर अतिभारी हो जाता है वह निद्रा प्रकृति है। **(ध. १३/३५४)** निद्रा के उदय से जीव गमन करता हुआ भी खड़ा हो जाता है, बैठ जाता है, गिर पड़ता है, इत्यादि क्रियायें करता है। **(क.प्र. ५०)** दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ज्ञानज्योति का अस्त हो जाना निद्रा है। **(नि.सा. टी. ६)**

१०. प्रश्न : निद्रा के उदय में जीव की कैसी दशा होती है ?

उत्तर : निद्रा प्रकृति के तीव्र उदय से जीव अल्पकाल सोता है, उठाये जाने पर जल्दी उठ बैठता है और अल्प शब्द के द्वारा भी सचेत हो जाता है। **(ध. ६/३२)**

निद्रा प्रकृति के उदय से गिरता हुआ जीव जल्दी अपने आपको संभाल लेता है, थोड़ा-थोड़ा काँपता रहता है और सावधान सोता है। **(ध. ६/३२)**

निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से तम अवस्था होती है। **(रा.वा. १५)**

निद्रा के उदय से मनुष्य चलता-चलता खड़ा रह जाता है और खड़ा-खड़ा बैठ जाता है अथवा गिर पड़ता है। **(गो.क. २४)**

निद्रा दर्शनावरणी में वह शक्ति है कि वह चले जाते हुए जीव को तुरन्त कहीं रोक देती है, रुक कर खड़े हुए व्यक्ति को बिना विलम्ब बैठा देती है, बैठे हुए पुरुष को उसके बाद ही लिटा देती है और लेटे को तुरन्त निद्रामग्न कर देती है। **(व.चा. ४/५३)**

११. प्रश्न : निद्रा परिणाम की सिद्धि कैसे की जाती है ?

उत्तर : निद्रा कर्म और साता वेदनीय कर्म के उदय से निद्रा परिणाम की सिद्धि होती है। अर्थात् निद्रा दर्शनावरण और साता वेदनीय इन दोनों कर्मों के उदय से निद्रा आती है क्योंकि निद्रा के समय शोक, क्लम, श्रम आदि का नाश देखा जाता है। अत: साताकर्म का उदय तो स्पष्ट ही है (अथवा असातावेदनीय का भी इस समय मन्द उदय रहता है) **(रा.वा. ९)**

१२. प्रश्न : निद्रा-निद्रा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकृति के उदय से अति निर्भर होकर सोता है और दूसरों के द्वारा उठाये जाने पर भी नहीं उठता है वह निद्रा-निद्रा प्रकृति है। **(ध. १३/३५४)**

जिसके कारण उठाये जाने पर भी आँखें न खुल सकें उसे निद्रा-निद्रा कहते हैं। **(क.प्र. ४९)** निद्रा के ऊपर पुन: पुन: निद्रा आना निद्रा-निद्रा कहलाती है। **(रा.वा. ३)**

१३. प्रश्न : निद्रा-निद्रा के उदय में जीव की कैसी दशा हो जाती है ?

उत्तर : निद्रा-निद्रा प्रकृति के तीव्र उदय से जीव वृक्ष के शिखर पर, विषम भूमि पर अथवा जिस किसी प्रदेश पर घुरघुराता हुआ या नहीं घुरघुराता हुआ निर्भर अर्थात् गाढ़ निद्रा में सोता है। **(ध. ६/३१)**

निद्रा-निद्रा के उदय से जीव यद्यपि सोने में बहुत प्रकार सावधानी करता है परन्तु नेत्र खोलने को समर्थ नहीं होता है। **(गो. क. २३)**

निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से महातम अवस्था होती है। **(रा.वा. १५)** निद्रा-निद्रा दर्शनावरणी के प्रभाव से आदमी वृक्ष की शाखाओं और शिखरों पर भी सो जाता है, चौराहे पर या बीच सड़क पर भी मौज से खर्राटे भरता है तथा बार-बार जगाये जाने पर तथा स्वयं भी जागने का भरपूर प्रयत्न करके भी वह आँख नहीं खोल पाता है। **(व.चा. ४/५०)**

१४. प्रश्न : प्रचला दर्शनावरणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला है। जिस निद्रा से आत्मा में विशेष प्रचलन उत्पन्न होता है वा जो क्रिया आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला निद्रा है। वह शोकादि से उत्पन्न होती है। यह इन्द्रिय व्यापार से उपरत (निवृत्त) होकर बैठे बैठे के शरीर, नेत्र आदि में विकार क्रिया की सूचक है, अन्त: प्रीति का लव मात्र (थोड़ा) हेतु है, वह प्रचला है **(रा.वा. ४)**

जिस प्रकृति के उदय से आधे सोते हुए का सिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है, वह प्रचला प्रकृति है। **(ध. १३/३५४)**

१५. प्रश्न : प्रचला के उदय में जीव की कैसी दशा हो जाती है ?

उत्तर : प्रचला प्रकृति के तीव्र उदय से लोचन बालुका से भरे हुए के समान हो जाते हैं, सिर गुरुभार को उठाये हुए के समान हो जाता है और नेत्र पुन: पुन: उन्मीलन एवं निमीलन करने लगते हैं। **(ध. ६/३२)**

प्रचला दर्शनावरण कर्म के उदय से बैठे-बैठे ही घूमने लगता है। नेत्र और शरीर कम्पित हो जाते हैं, चलने लग जाते हैं और देखता हुआ भी नहीं देखता है। **(रा.वा. १६)** प्रचला के उदय से जीव नेत्र को किंचित् खोलकर सोता है। सोता हुआ भी कुछ-कुछ जानता रहता है। बार-बार मन्द सोता है अर्थात् बार-बार सोता और जागता रहता है। **(गो. क. २५)**

ये सब प्रचला दर्शनावरणी के लक्षण हैं कि आदमी आँखों को थोड़ा सा खोले रहता है अर्थात् पलक पूरे नहीं ढपते हैं तो भी फिर-फिर कर सो जाता है और बीच-बीच में कभी-कभी आँख भी खोल लेता है, इतना ही नहीं सोते हुए भी उसे अपने आस-पास की घटनाओं का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान रहता है। **(व.चा. ४/५४)**

१६. प्रश्न : प्रचला-प्रचला दर्शनावरणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से स्थित, निषण्ण अर्थात् बैठा हुआ भी सो जाता है, भूत से गृहीत हुए के समान शिर धुनता है, तथा वायु से आहत लता के समान चारों ही दिशाओं में लोटता है, वह प्रचला-प्रचला प्रकृति है। **(ध. १३/३५४)**

प्रचला की पुन: पुन: आवृत्ति होना प्रचला-प्रचला है। **(सर्वा. ७४४)**

जिसके कारण सोते हुए लार बहे तथा अंग चले, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। **(क.प्र. ५०)**

जिसके उदय से सुई आदि चुभाई जाने पर भी चेत न हो उसे प्रचला-प्रचला दर्शनावरण प्रकृति कहते हैं। **(हरि. पु.)**

१७. प्रश्न : प्रचला-प्रचला के उदय में जीव की कैसी दशा होती है ?

उत्तर : प्रचला-प्रचला प्रकृति के तीव्र उदय से बैठा या खड़ा हुआ मुँह से गिरती हुई लार सहित तथा बार-बार कँपते हुए शरीर और शिर युक्त होता हुआ जीव निर्भर सोता है। **(ध. ६/३१-३२)**

प्रचला-प्रचला के उदय से पुरुष मुख से लार बहाता है और उसके हस्त पादादि चलायमान हो जाते हैं। **(गो.क. २४)**

प्रचला-प्रचला के उदय से अत्यन्त ऊँघता है। बाण आदि के द्वारा शरीर के अवयव शिर, अंग, प्रत्यंग के छिद जाने पर भी जीव कुछ नहीं देख सकता है। **(रा.वा. १६)** यह सब प्रचला-प्रचला का ही प्रतिफल है जो सोते व्यक्ति के मुख से लार बहती है, बार-बार सोने वाला शरीर को इधर-उधर चलाता है तथा शिर को इतना अधिक मोड़ देता है मानों टूट ही जायेगा। **(व.चा. ४/५१)**

१८. प्रश्न : स्त्यानगृद्धि निद्रा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस निद्रा के उदय से चलता-चलता स्तम्भित किये गये के समान निश्चल खड़ा रहता है, खड़ा-खड़ा भी बैठ जाता है, बैठकर भी पड़ जाता है, पड़ा हुआ भी उठाने पर भी नहीं उठता है, सोता हुआ भी मार्ग में चलता है, मारता है, काटता है और बड़बड़ाता है वह स्त्यानगृद्धि प्रकृति है। **(ध.पु. १३/३५४)**

जिसके द्वारा आत्मा स्त्यान अर्थात् सोते समय गृद्धता करने लगे, किसी कर्म में सचेष्ट हो जावे और उसके उदय से यह जीव अत्यधिक कठिन काम कर ले वह स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणी कर्म है। **(हरि. पु. ५८/२२९)**

जिसके सान्निध्य से मानव अनेक रौद्र कर्म करता है, असम्भव कार्य भी कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्याय 'धातु' के अनेक अर्थ होते हैं, यहाँ पर स्वप्न अर्थ में 'स्त्यायन' गृहीत है। 'गृद्धि' का अर्थ दीप्ति है। जिसके उदय से स्त्यान (स्वप्न) में दीप्ति हो, बहुत से रौद्र, क्रूर, असंभव कार्य करता हो, वह स्त्यानगृद्धि निद्रा है। **(रा.वा. ६)**

१९. प्रश्न : स्त्यानगृद्धि के उदय में जीव की कैसी दशा हो जाती है ?

उत्तर : स्त्यानगृद्धि के तीव्र उदय से उठाया गया भी पुन: सो जाता है, सोता हुआ भी कुछ क्रिया करता रहता है, तथा सोते हुए भी बड़बड़ाता है और दाँतों को कड़कड़ाता है। **(ध. ६/३२)**

स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणी के उदय होने से व्यक्ति जगाकर खड़ा कर देने के तुरन्त बाद ही फिर सो जाता है, सोते-सोते ही उठकर कोई काम कर डालता है और नींद नहीं टूटती है, तथा सोते-सोते कुछ ऐसा बोलता है जिसमें पूर्वापर सम्बन्ध ही नहीं होता है। **(व.चा. ४/५२)**

२०. प्रश्न : स्त्यानगृद्धित्रिक का उदय कहाँ-कहाँ नहीं पाया जाता है ?

उत्तर : स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा तथा प्रचला-प्रचला इन तीन निद्राओं के समूह को स्त्यानगृद्धित्रिक कहते हैं। इन तीनों का उदय नीचे लिखे स्थानों में नहीं होता है-

(१) भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्च के नहीं होता है। **(गो. क.३०२-३)**

(२) कर्मभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्चों के इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व। **(गो.क. २८६)**

(३) आहारकऋद्धि और वैक्रियिक ऋद्धि उत्थापना करने के काल में। **(गो.क. २८६)**

(४) देव-नारकियों के इनका उदय नहीं होता है। **(गो.क. ३०४-२९०)**

(५) लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच एवं मनुष्यों के। **(गो.क. २९६, ३०१)**

(६) छठे गुणस्थान से आगे उदय नहीं होता है क्योंकि छठे में इनकी उदय-व्युच्छित्ति हो जाती है। **(गो.क. २६७)**

२१. प्रश्न : इन पाँचों निद्राओं की दर्शनावरण संज्ञा कैसे है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि आत्मा के चेतन गुण को अपहरण करने वाले और सर्व दर्शन के विरोधी कर्म के दर्शनावरणत्व के प्रति कोई विरोध नहीं है। **(ध. ६/३२)**

ये पाँचों ही प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय हैं क्योंकि वे स्वसंवेदन का विनाश करती हैं। **(ध. १३/३५५)**

२२. प्रश्न : नाना अधिकरण के अभाव में निद्रा-निद्रा और प्रचला-प्रचला का द्वित्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यहाँ नाना अधिकरण का अभाव नहीं है, क्योंकि कालादि के भेद से एक ही आत्मा में नानाधिकरण बन जाता है अत: कालभेद से भेद होकर वीप्सा अर्थ में द्वित्व बन जाता है। **अथवा-**

अभीक्ष्ण-सतत प्रवृत्ति बार-बार प्रवृत्ति अर्थ में द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा प्रयोग बन जाता है जैसे घर में घुस-घुस कर बैठा है अर्थात् बार-बार घर में घुस जाता है। यहाँ अभीक्ष्ण अर्थ में भी द्वित्व होता है। वा बार-बार प्रवृत्ति, सतत प्रवृत्ति आदि अर्थ में द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा एवं प्रचला-प्रचला प्रयोग बन जाता है। **(रा.वा. ७-८)**

वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

सदसद्वेद्ये ॥८॥

सत्-असत्-वेद्ये।

(सद्) साता (असत्) असाता (वेद्ये) वेदनीय कर्म है।

अर्थ - सातावेदनीय और असातावेदनीय के भेद से वेदनीय कर्म के दो भेद हैं।

सातावेदनीय - प्रशस्त वेद्य का नाम सद्वेद्य-सातावेदनीय है।

असातावेदनीय - अप्रशस्त वेद्य का नाम असद्वेद्य है।

१. प्रश्न : वेदनीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं।

उत्तर : वेदनीय कर्म के दो भेद हैं-

(१) साता वेदनीय (२) असाता वेदनीय। **(त.सू. ८/८)**

सातावेदनीय और असातावेदनीय इस प्रकार वेदनीय के दो ही स्वभाव हैं क्योंकि सुख व दु:ख रूप वेदनाओं से भिन्न अन्य कोई वेदना पायी नहीं जाती है। **(ध. १२/४८१)**

२. प्रश्न : अनन्त विकल्प रूप सुख के भेद से और दु:ख के भेद से वेदनीय कर्म की अनन्त शक्तियाँ क्यों नहीं कही गयी हैं ?

उत्तर : यदि पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन किया गया होता तो यह कहना सत्य था, परन्तु चूंकि

यहाँ द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन किया गया है, अतएव वेदनीय की उतनी शक्तियाँ सम्भव नहीं हैं, किन्तु दो ही शक्तियाँ सम्भव हैं। **(ध. १२/४८१)**

३. प्रश्न : साता वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार की जातियों से विशिष्ट देव आदि गतियों में अनुगृहीत (इष्ट) सामग्री के सन्निधान की अपेक्षा प्राणियों को शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव होता है वा प्रशस्त रूप सामग्री की प्राप्ति होती है वह साता वेदनीय कर्म है। **(रा.वा. १)**

रति मोहनीय कर्म के उदय से सुख के कारणभूत इन्द्रियों के विषयों का जो अनुभव कराता है वह साता वेदनीय कर्म है। **(गो.क.जी. २५)**

तीनों लोकों में प्राप्त होने वाले स्वास्थ्य, सेवकादि शारीरिक सुख अथवा प्रेम, प्रसन्नता आदि मानसिक सुख भी उक्त दान, दया आदि शुभ कर्मों के द्वारा बाँधे गये सातावेदनीय के फलोन्मुख होने पर ही प्राप्त होते हैं। **(व.चा. ४/६०)**

सत् का अर्थ सुख है। इसको ही यहाँ सात शब्द से ग्रहण किया जाता है जैसे कि पण्डुर को पाण्डुर शब्द से भी ग्रहण किया जाता है। सात का जो वेदन कराती है वह सातावेदनीय प्रकृति है। दु:ख के प्रतीकार करने में कारणभूत सामग्री मिलाने वाला और दु:ख के उत्पादक कर्मद्रव्य की शक्ति का विनाश करने वाला कर्म साता वेदनीय कहलाता है। **(ध. १३/३५७)**

साता यह नाम सुख का है, उस सुख को जो वेदन कराता है अर्थात् भोग कराता है, वह सातावेदनीय कर्म है। **(ध. ६/३५)**

इन्द्रियसुख (के कारण चन्दन, कर्पूर, माला, वनिता) आदि विषयों की प्राप्ति जिससे हो, वह सातावेदनीय है। **(क.प्र. १४)**

४. प्रश्न : असाता वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म का फल प्राणियों को नाना प्रकार की जाति विशेष से व्याप्त नरक, तिर्यञ्च, आदि गतियों में अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक और अति दु:सह जन्म, जरा, मरण, प्रिय वियोग, अप्रिय संयोग, व्याधि, वध और बन्ध आदि से उत्पन्न दु:ख का अनुभव होता है वा अनेक प्रकार के दु:खों की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से होती है वह असातावेदनीय कर्म है, अप्रशस्त वेदनीय असद्वेदनीय है। **(रा.वा. २)**

जो दु:ख स्वरूप इन्द्रिय विषयों का अनुभव करावे उसे असातावेदनीय कहते हैं। **(क.प्र. १४)**

सुख स्वभाव वाले जीव को दु:ख उत्पन्न करने वाला और दु:ख प्रशमन करने में कारणभूत द्रव्यों का अपसारक कर्म असातावेदनीय कहा जाता है। **(ध. १३/३५७)**

तीनों लोकों में जितने भी ताड़न, भेदन आदि शारीरिक और शोक, चिन्ता आदि मानसिक दु:ख होते हैं वे सबके सब जीव के साथ बँधे असातावेदनीय कर्म के ही परिपाक हैं। **(व.चा. ४/५९)**

५. प्रश्न : वेदनीय कर्म का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : सुख और दु:ख रूप कार्य अन्यथा हो नहीं सकते हैं। इस अन्यथानुपपत्ति से वेदनीय कर्म का अस्तित्व जाना जाता है क्योंकि कारण से निरपेक्ष कार्य उत्पन्न नहीं होता है। **(ध. पु. ६/११)**

मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदा: सम्यक्त्व-मिथ्यात्वतदुभयान्य-कषाय-कषायौ हास्यरत्यरतिशोक-भयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पाश्चैकश: क्रोधमानमायालोभा: ॥९॥

दर्शन-चारित्र-मोहनीय-अकषाय-कषाय-वेदनीय-आख्या: त्रि-द्वि-नव-षोडश भेदा:- सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयानि-अकषाय-कषायौ हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसक-वेदा: अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन-विकल्पा:- च-एकश: क्रोध-मान-माया-लोभा:।

अर्थ - दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय, कषायवेदनीय इनके क्रमश: तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय (सम्यग्मिथ्यात्व) ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय, ये दो चारित्रमोहनीय हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद, ये नौ अकषाय हैं। तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन, ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से सोलह कषाय वेदनीय हैं।

दर्शनमोहनीय - जो जीव की सामान्य श्रद्धा शक्ति को भ्रान्त कर देता है वह दर्शनमोहनीय है।

चारित्रमोहनीय - जीव के चारित्र को अन्यथा करने वाला चारित्र मोहनीय है।

अकषाय वेदनीय - ईषत् कषाय को अकषाय या नोकषाय कहते हैं।

कषाय वेदनीय - जो दु:ख रूप धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी खेत का कर्षण करते हैं वे कषाय वेदनीय हैं।

सम्यक् प्रकृति-जिसके उदय से आप्तादि की श्रद्धा में शिथिलता होती है वह सम्यक् प्रकृति है।

मिथ्यात्व - जिसके उदय से आप्तादि का विपरीत या अश्रद्धान होता है वह मिथ्यात्व है।

तदुभय - जिसके उदय से आप्तादि में तथा उनके प्रतिपक्षी कुगुरु आदि में युगपत् श्रद्धा होती है उसे तदुभय कहते हैं।

अनन्तानुबन्धी - अनन्त भवों को बाँधना ही जिसका स्वभाव है वह अनन्तानुबन्धी है।

अप्रत्याख्यानावरण - जो प्रत्याख्यान रूप नहीं है, वह अप्रत्याख्यानावरण है।

प्रत्याख्यानावरण - प्रत्याख्यान का जो आवरण करता है वह प्रत्याख्यानावरण कर्म है।

संज्वलन - जो यथाख्यात चारित्र को घातती है वह संज्वलन कषाय है।

हास्य - जिसके उदय से हँसी आवे उसे हास्य प्रकृति कहते हैं।

रति - जिसके उदय से विषयों में उत्सुकता वा आसक्तता होती है, वह रति है।

अरति - रति से उलटा अरति है।

शोक - जिसके उदय से सोच व चिंता हो वह शोक है।

भय - जिसके उदय से उद्वेग प्रगट हो, वह भय है।

जुगुप्सा - जिस कर्म के उदय से ग्लानि उत्पन्न होती है वह जुगुप्सा कर्म है।

स्त्रीवेद - जिस कर्म के उदय से पुरुष में आकांक्षा उत्पन्न होती है वह स्त्रीवेद है।

पुंवेद - जिस कर्म के उदय से स्त्री में आकांक्षा उत्पन्न होती है वह पुंवेद है।

नपुंसक वेद - जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों में आकांक्षा उत्पन्न होती है वह नपुंसक वेद है।

१. प्रश्न : मोहनीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर : मोहनीय कर्म दो प्रकार का है-

(१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय। **(ध. ६/३७)**

मोहनीय कर्म चार प्रकार का है-

(१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय (३) कषाय वेदनीय (४) अकषाय वेदनीय। **(गो.क.जी. ३३)**

पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर तो मोहनीय कर्म की असंख्यात लोकमात्र शक्तियाँ हैं क्योंकि अन्यथा उसके असंख्यातलोक मात्र उदयस्थान बन नहीं सकते। **(ध. १२/४८२)**

मोहनीय कर्म दो प्रकार का है (१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का है मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति।

चारित्र मोहनीय दो प्रकार का है- (१) कषाय वेदनीय (२) अकषाय वेदनीय (नोकषाय।

कषाय वेदनीय सोलह प्रकार का है- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ; अकषाय वेदनीय नौ प्रकार का है- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद। **(व.चा. ४/२७-३२)**

२. प्रश्न : मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ किस प्रमाण से सिद्ध होती हैं ?

उत्तर : जितने प्रकार के कार्य देखे जाते हैं उतने प्रकार के अंतरंग कारणों का अनुमान कर लिया जाता है। तत्त्वार्थ अश्रद्धान आदि अट्ठाईस प्रकार के कार्यों के अन्तरंग कारण अट्ठाईस कर्म होने चाहिए। **(श्लो. ७/५८)**

क्रोध, हास्यादि कारणों के मिलने पर भी धर्मात्मा पुरुषों के क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते हैं। दूसरे को इन क्रोधादि कारणों के बिना भी क्रोधादि भाव उत्पन्न हो जाते हैं अत: क्रोधादि के बाह्य में दीखने वाले गाली आदि को कारण मानने में व्यभिचार दोष आता है अत: अंतरंग कर्मों का मानना निर्दोष है। **(श्लो. ७/५८ हि.)**

३. प्रश्न : दर्शन मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। **(ध. ६/३८)** आप्त, आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। उस दर्शन को जो मोहित करता है, विपरीत कर देता है वह दर्शन मोहनीय है। **अथवा** - आप्त, आगम और पदार्थों में प्रत्यय, रुचि, श्रद्धा और दर्शन होता है उसका नाम दर्शन है। उसको मोहित करने वाला अर्थात् उससे भाव को उत्पन्न करने वाला कर्म दर्शन मोहनीय कहलाता है। **(ध. १३/३५७-५८)**

जिस कर्म के उदय से अनाप्त में आप्त बुद्धि और अपदार्थ में पदार्थबुद्धि होती है। **अथवा** आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धान की अस्थिरता होती है, अथवा दोनों में श्रद्धा होती है वह दर्शनमोहनीय कर्म है, यह अर्थ कहा गया है। **(ध. ६/३८)**

४. प्रश्न : दर्शनमोहनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : दर्शनमोहनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा एक ही प्रकार का है क्योंकि बन्ध मात्र मिथ्यात्व प्रकृति का ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन रूप घन की चोट लगने से उस मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं अत: सत्ता की अपेक्षा दर्शनमोहनीय तीन (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति) भेद वाला है तथा उदय भी तीन रूप में होता है। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : मिथ्यात्व प्रकृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से प्राणी सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से पराङ्मुख, तत्त्वार्थ श्रद्धान से निरुत्सुक, हिताहित का विभाग करने में असमर्थ और मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय है। **(रा.वा. २)** जिसके उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धा नहीं होती है वह मिथ्यात्व है, यह कोदों के तुष की तरह है। **(मू. १२३३ आ.)** मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से श्रद्धान गुण विकृत हो जाता है और अतत्त्व श्रद्धान रूप परिणति हो जाती है। **(हरि. पु. ५८/२३३)**

जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में अश्रद्धा होती है वह मिथ्यात्व प्रकृति है। **(ध. ६/३९)**

६. प्रश्न : सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व कर्म प्रक्षालन विशेष से क्षीण-अक्षीण मद शक्ति वाले कोदों धान्य के समान आधा शुद्ध और आधा अशुद्ध रस वाला होता है तब वह मिश्र उभय या सम्यक्त्वमिथ्यात्व कहलाता है। जिसके उदय से आत्मा के, आधे शुद्ध कोदों से जिस प्रकार मद होता है, उसी तरह के मिश्र भाव होते हैं। **(रा.वा. २)** सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप दोनों भावों के संयोग से उत्पन्न हुए भाव का उत्पादक कर्म सम्यग्मिथ्यात्व कहलाता है। **(ध. १३/३५८)**

जिससे तत्त्व तथा अतत्त्व दोनों का श्रद्धान हो वह सम्यग्मिथ्यात्व है। **(क.प्र. ५३)** जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में तथा उनके प्रतिपक्षियों में अर्थात्, कुदेव, कुशास्त्र और कुतत्त्वों में युगपत् श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है। **(ध. ६/३९)**

दुराचार को व्रत मानना और अतत्त्व को तत्त्व मानना मिथ्यात्व है तथापि जो मानव इस मूढता को सर्वथा नहीं छोड़ता और सम्यक्त्व के साथ-साथ किसी मूढ़ता का भी पालन करता है तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सेवने के कारण उसके समस्त धर्माचरण का लोप कर देना ठीक नहीं है और मिथ्यादृष्टि कहना अच्छा नहीं है। **(य. ति. च. ६/१४६-४७)**

जिसके उदय से तत्त्वों के श्रद्धान रूप, अश्रद्धान रूप दोनों प्रकार के भाव कोदों में मद शक्ति के समान वा दही गुड़ के मिले हुए स्वाद के समान होते हैं, उसे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं। **(हरि. पु. ५८/२३३)**

७. प्रश्न : सम्यक् प्रकृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब शुभ परिणामों से मिथ्यात्व का अनुभाग रोक दिया जाता है और जो उदासीन रूप से स्थित रहकर आत्मश्रद्धान को नहीं रोकती है वह सम्यक् प्रकृति है। **(रा.वा. ४)**

जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का मूल से विनाश तो नहीं होता, किन्तु स्थिरता व निष्कांक्षिता का घात होने से सम्यग्दर्शन में चल, मलिन आदि दोष लग जाते हैं, वह सम्यक् प्रकृति है। **(ज.ध. ५/१३०)**

जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता होती है वह सम्यक् प्रकृति है। **(ध. ६/३९)** अथवा उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में शिथिलता का उत्पादक और उसकी अस्थिरता का कारणभूत कार्य सम्यक् प्रकृति है। **(ध. १३/३५८)**

८. प्रश्न : इन तीनों (सम्यक्, मिश्र और मिथ्यात्व) प्रकृतियों में क्या अन्तर है ?

उत्तर : मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग से सम्यक्त्व प्रकृति का अनन्तगुणा हीन होता है। **(ध. ६/२३५)**

९. प्रश्न : चारित्र मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : पाप रूप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं, घातिया कर्मों को पाप कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ये पाप की क्रियायें हैं। इन पाप क्रियाओं के अभाव को चारित्र कहते हैं। उस चारित्र को जो मोहित करता है, आच्छादित करता है, उसे चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं।**(ध. ६/४०)**

राग का न होना चारित्र है। उसे मोहित करने वाला, उससे विपरीत भाव को उत्पन्न करने वाला कर्म चारित्र मोहनीय कहलाता है। **(ध. १३/३५८)**

जो आचरण करता है, अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है उसे जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है सो चारित्र मोहनीय है। **(गो.क.जी. ३३)**

१०. प्रश्न : चारित्र मोहनीय कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : चारित्र मोहनीय कर्म दो प्रकार का है-

(१) अकषाय वेदनीय (२) कषाय वेदनीय।

उदय स्थानों की विशेषता की अपेक्षा चारित्र मोहनीय कर्म के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं (क्योंकि तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर आदि अनेक भेदों के उदय में आने की अपेक्षा इसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं)। **(कर्म. प्र. ६१)**

११. प्रश्न : कषाय वेदनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : कषाय वेदनीय कर्म सोलह प्रकार का है-

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ। **(ध. ६/४०-४१)**

कषाय का उदय छह प्रकार का होता है-

(१) तीव्रतम (२) तीव्रतर (३) तीव्र (४) मन्द (५) मन्दतर (६) मन्दतम। **(ध. १/३९०)**

नोट - कषाय का लक्षण **(देखें ६/४)**

१२. प्रश्न : अनन्तानुबन्धी कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं। उस अनन्त को बाँधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी कहलाती है अर्थात् मिथ्यादर्शन को बाँधने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ अनन्तानुबन्धी हैं। **(रा.वा. ५)** अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यात्व अनन्त है। उस मिथ्यात्व की जो अनुबन्धिनी है वह अनन्तानुबन्धी है। **(गो. क. जी.३३)**

जिन कषायों के द्वारा जीव में उत्पन्न हुए संस्कार का अनन्त भवों में अवस्थान माना गया है **अथवा**

जिन क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुबन्ध अनन्त होता है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं, इनके द्वारा वृद्धिंगत संसार अनन्त भवों में अनुबन्ध को नहीं छोड़ता है इसलिए 'अनन्तानुबन्ध' यह नाम संसार का है। वह संसारात्मक अनन्तानुबन्धी जिनके होती है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया लोभ हैं। **(ध. ६/४१-४२)**

जो क्रोध-मान-माया-लोभ सम्यग्दर्शन व सम्यक् चारित्र का विनाश करते हैं तथा जो अनन्त भव के अनुबन्धन स्वभाव वाले होते हैं वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं **अथवा** अनन्त भवों में जिनका अनुबन्ध चला जाता है वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। **(ध. १३/३६०)**

१३. प्रश्न : अप्रत्याख्यानावरण कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से यह प्राणी ईषत् भी देशविरति (संयमासंयम) नामक व्रत को स्वीकार नहीं कर सकता, स्वल्प मात्र भी व्रत प्राप्त नहीं कर सकता है वह देशविरति प्रत्याख्यान (त्याग) का आवरण करने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है। **(रा.वा. ५)** (जो अ=ईषत् प्रत्याख्यान= संयम) देशसंयम को अल्पमात्र भी न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। **(गो. क. जी. ३३)**

अप्रत्याख्यान संयमासंयम का नाम है, आवरण करने वाले कर्म को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। **(ध. ६/४४)**

१४. प्रश्न : प्रत्याख्यानावरण कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से सकल विरति या सकल संयम को धारण नहीं कर सकता, वह समस्त प्रत्याख्यान का आवरण करने वाली प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय है। **(रा.वा. ५)**

प्रत्याख्यान का अर्थ महाव्रत है। उनका आवरण करने वाला कर्म प्रत्याख्यानावरणीय है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार प्रकार का है। **(ध.१३/३६०)**

१५. प्रश्न : संज्वलन कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'सं' एकीभाव अर्थ में रहता है। संयम के साथ अवस्थान होने से एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिनके सद्भाव में संयम चमकता रहता है वे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। **(सर्वा. ७५१)**

(जैसे विद्युत् का प्रकाश क्षण के अनन्तर नष्ट हो जाता है वह संज्वलन कषाय है। सं-सम्यक् शीघ्र ज्वलन - जलने वाला, नष्ट होने वाला ऐसी संज्वलन शब्द की निरुक्ति है। **(सि.सा. ९/८८)**

जो सम्यक् रूप से ज्वलित होता है वह संज्वलन कषाय है। **(ध. १३/३६०)** संज्वलन क्रोधादिक सकल कषाय के अभाव रूप यथाख्यात चारित्र का घात करते हैं। 'सं' अर्थात् समीचीन निर्मल यथाख्यात चारित्र को 'ज्वलन्ति' जो दहन करता है उसको संज्वलन कहते हैं, इस निरुक्ति से संज्वलन का उदय होने पर भी सामायिक आदि चारित्र के सद्भाव का अविरोध सिद्ध होता है। **(गो.जी.जी. २८३)**

जो संयम के साथ-साथ प्रकाशमान रहें एवं जिनके उदय से यथाख्यात चारित्र न हो वे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। **(हरि. ५८/२४१)**

१६. प्रश्न : चारित्र को नाश नहीं करने वाले संज्वलन कषायों के चारित्रावरण कैसे बन सकता है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि ये संज्वलन कषाय संयम में मल उत्पन्न करके यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होते हैं इसलिए इनके चारित्रावरण मानने में विरोध नहीं है। **(ध. ६/४४)**

१७. प्रश्न : क्रोध किसे कहते हैं ?[१]

उत्तर : अपने और पर के उपघात, अनुपकार आदि से आहित (प्राप्त) क्रूर परिणाम या अमर्ष का भाव क्रोध है। **(रा.वा. ५)**

क्रोध, रोष और समरम्भ इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। **(ध. ६/४१)** हृदय-दाह, अंगकम्प, नेत्ररक्तता और इन्द्रियों की अपटुता आदि के निमित्तभूत जीव के परिणाम को क्रोध कहते हैं। **(ध. १२/२८३)**

अपने या दूसरों के अपराध से अपना या दूसरों का नाश होना या नाश करना क्रोध है **अथवा** अशुभ भावों का उत्पन्न होना क्रोध है। **(य.ति.च. ८/४६७)** शान्तात्मा से पृथग्भूत यह जो क्षमारहित भाव है वह क्रोध है। **(स. सा. ता. १९९)** अन्तरंग में परम उपशम मूर्ति केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्वभाव परमात्मरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता आवेश रूप क्रोध है। **(द्र.सं. ३० टी.)**

जिसके उदय से अपने और पर के घात करने के परिणाम हों तथा पर के उपकार करने के अभाव रूप भाव वा क्रूर भाव हों सो क्रोध कषाय है।

१८. प्रश्न : क्रोध को किस-किस की उपमा दी है ?

उत्तर : क्रोध चार प्रकार का होता है-

(१) पत्थर रेखा सदृश (२) पृथ्वी रेखा सदृश (३) धूलि रेखा सदृश (४) जलरेखा सदृश।

(१) नगराजि सदृश (२) पृथिवीराजि सदृश (३) बालुकाराजि सदृश (४) उदकराजि सदृश। **(ज.ध. १२/१५२)**

---

१. क्रोध के आठ अनुचर हैं- १. परहिंसा २. दु:सा हस (परस्त्रीसेवन व कन्याओं को दूषित करना) ३. त्रिदोह ४. पौरोभाग्य (चुगली) करना ५. अर्थदूषण - आय से अधिक धन खर्च करना, अपात्रों को धन देना ६. ईर्ष्या ७. वाक्यपारुष्य - कठोर वचन बोलना ८. दण्ड पारुष्य - अन्याय से किसी का वध करना, जेल की सजा देना, धन का अपहरण कर लेना या उसकी जीविका नष्ट करना। **(य.ति.च.)**

१९. प्रश्न : कौनसा क्रोध नगराजि सदृश कहलाता है ?

उत्तर : 'नगराइसरिसो' यह शब्द पर्वत शिला भेद सदृश क्रोध का द्योतक है। सर्वकाल में अविनाश रूप साधर्म्य को देखकर यह उदाहरण कहा गया है। जैसे- पर्वत शिला भेद किसी भी दूसरे कारण से उत्पन्न होकर पुन: कभी दूसरे उपाय द्वारा सन्धान को प्राप्त नहीं होता, तदवस्थ बना ही रहता है। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम किसी भी जीव के किसी भी पुरुष विशेष में उत्पन्न होकर किसी भी दूसरे उपाय से उपशम को प्राप्त नहीं होता है प्रतिकार रहित होकर उस भव में भी उसी प्रकार बना रहता है और जन्मान्तर में भी उससे उत्पन्न हुआ संस्कार बना रहता है। इसी प्रकार का तीव्रतर क्रोध परिणाम नगराजि सदृश कहा जाता है। यहाँ 'राजि' शब्द अवयव के विच्छिन्न होने रूप पर्याय का वाचक है। **(ज.ध. १२/१५३)**

प्रथम प्रकार के क्रोध का जो संस्कार आत्मा पर पड़ता है वह इतना तीव्र होता है कि उसकी उपमा पत्थर पर खोदी गयी रेखा से दी जाती है। यही कारण है कि ये क्रोधादि जन्म-जन्मान्तरों में भी जाकर शान्त नहीं होते हैं और निमित्त सामने आते ही भड़क उठते हैं। **(व.चा. ४/६६)**

२०. प्रश्न : कौनसा क्रोध 'पृथिवीराजि' सदृश होता है ?

उत्तर : यह क्रोध पूर्व क्रोध (नगराजि सदृश) से मन्द अनुभाग वाला है क्योंकि चिरकाल तक अवस्थित होने पर भी इसका पुन: दूसरे उपाय से सन्धान (जुड़ जाना) हो जाता है। यथा, ग्रीष्मकाल में पृथिवी का भेद हुआ (गाडी गड़ार-दरार बन गयी)। पुन: वर्षाकाल में जल के प्रवाह से वह दरार भरकर उसी समय संधान को प्राप्त हो गई। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम चिरकाल तक अवस्थित रहकर भी पुन: दूसरे कारण से तथा गुरु के उपदेश आदि से उपशम भाव को प्राप्त होता है, वह इस प्रकार का तीव्र परिणाम भेद पृथिवी रेखा सदृश है। (यहाँ 'राजि' शब्द का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए)। **(ज.ध. १२/१५३)**

दूसरे प्रकार के क्रोध की जो छाप आत्मा पर पड़ती है उसे वैसा ही समझना चाहिए जैसा कि गीली पृथ्वी के सूखने पर उसमें पड़ी दरार होती है। यह संस्कार काफी समय बीतने पर अथवा शास्त्र रूपी जलवृष्टि से चित्त स्नेहार्द्र हो जाने पर उपशम को प्राप्त हो जाता है। **(व.चा. ४/६७)**

२१. प्रश्न : कौनसा क्रोध 'धूलिराजि' सदृश है ?

उत्तर : 'धूलिराजि सदृश' ऐसा कहने पर नदी के पुलिन आदि में बालुकाराशि के मध्य उत्पन्न हुई रेखा के समान क्रोध, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। वह अल्पतर काल तक रहता है, इसे देखकर कहा है। यथा, नदी के पुलिन आदि में बालुकाराशि के मध्य पुरुष के प्रयोग से या अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुई रेखा जैसे हवा के अभिघात आदि दूसरे कारण द्वारा शीघ्र ही पुन: समान हो जाती है अर्थात् रेखा मिट जाती है। इसी प्रकार यह क्रोध परिणाम भी मन्द रूप से उत्पन्न होकर गुरु के उपदेश रूपी पवन से प्रेरित होता हुआ अति शीघ्र उपशम को प्राप्त हो जाता है। यहाँ राई (राजि) शब्द रेखा का पर्यायवाची है। **(ज.ध. १२/१५४)**

प्रत्याख्यान क्रोध के उद्गार वैसे ही होते हैं जैसा कि बालू के ऊपर लिखा गया लेख, क्योंकि ज्यों ही उस पर ज्ञान रूपी तीव्र वायु के झोंके लगते हैं त्यों ही लेख की समस्त रेखाएँ भरकर एक ही हो जाती हैं। **(व.चा. ४/६८)**

२२. प्रश्न : कौनसा क्रोध 'उदकराजि' सदृश है ?

उत्तर : पर्वत शिला भेद के समान ही इस क्रोध को जानना चाहिए। किन्तु यह इससे भी मन्दतर अनुभाग वाला और स्तोकतर काल तक रहने वाला होता है। क्योंकि पानी के भीतर उत्पन्न हुई रेखा का बिना दूसरे उपाय के उस समय ही विनाश देखा जाता है। **(ज.ध. १२/१५४)**

२३. प्रश्न : मान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाति, ज्ञान, कुल, शरीर, तप, पूजा, ऐश्वर्य, बल आदि के मद के कारण दूसरों के प्रति नमने की वृत्ति नहीं होना मान कषाय है।

रोष से अथवा विद्या, तप, जाति आदि मद से अन्य के प्रति नम्र न होने (दूसरे के तिरस्कार) रूप भाव को मान कहते हैं। **(ध. १/३५१)**

मान, गर्व और स्तब्धत्व, ये एकार्थवाची हैं। **(ध. ६/४१)**

विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या इनके निमित्त से उत्पन्न उद्धतता रूप जीव का परिणाम मान कहलाता है। **(ध. १२/२८३)**

कवित्व कौशल के कारण समस्त जनों के द्वारा पूजनीयपने में कुल, जाति की विशुद्धि से, निरुपम बल से, सम्पत्ति की वृद्धि के विलास से, सात ऋद्धियों से अथवा शरीर-लावण्य रस के विस्तार से होने वाला आत्म-अहंकार वह मान है। **(नि.सा.ता. ११२)** विद्या, विज्ञान व ऐश्वर्य आदि के घमण्ड में आकर पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लंघन करना (आदर-सत्कार नहीं करना) मान है। अथवा युक्ति दिखा देने पर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ना मान है। **(य.ति.च. ८/४६७)**

शिष्टाचार विरुद्ध प्रकृतियों में दुराग्रह नहीं त्यागना अथवा यथार्थ आगम कथित बात को ग्रहण नहीं करना स्वीकार नहीं करना मान कषाय है। पाप कार्यों को न छोड़ना और कही हुई योग्य बात को नहीं मानना मान कषाय है। **(नी.वा. ४/५)**

२४. प्रश्न : मान को किस-किस की उपमा दी गयी है ?

उत्तर : मान चार प्रकार का है-

(१) पत्थर के खम्भे के समान (२) हड्डी के समान (३) गीली लकड़ी के समान (४) बेंत के समान। **(य.ति.च. ८/४७१)**

(१) शैल स्तम्भ सदृश (२) अस्थिस्तम्भ सदृश (३) दारु स्तम्भ सदृश (४) लता सदृश। **(रा.वा.५)**

(१) शैल घन सदृश (२) अस्थि सदृश (३) दारु सदृश (४) लता सदृश। **(ज.ध. १२/१५२)**

२५. प्रश्न : कौनसा मान शैलस्तम्भ के समान है ?

उत्तर : प्रथम प्रकार का (शैलस्तम्भ सदृश) मान इतना तीव्र और विवेकहीन होता है कि शास्त्रकारों ने उसे पत्थर के स्तम्भ के समान माना है इसीलिए अनन्तकाल बीत जाने पर भी उससे आक्रान्त जीव में तनिक भी मृदुता या विनम्रता नहीं आती है। **(व.चा. ४/७०)**

२६. प्रश्न : कौनसा मान अस्थि स्तम्भ सदृश है ?

उत्तर : पुराण पुरुष कहते हैं कि दूसरे मान का उदय आत्मा में हड्डी के समान कर्कशता ला देता है, परिणाम यह होता है कि जब जीव ज्ञान रूपी आग में काफी तपाया जाता है तो उसमें कुछ-कुछ विनम्रता आ ही जाती है। **(व.चा. ४/७१)**

२७. प्रश्न : कौनसा मान दारुस्तम्भ सदृश है ?

उत्तर : तृतीय प्रत्याख्यान मान का उभार होने पर जीव में उतनी ही कठोरता आ जाती है जितनी गीली लकड़ी में होती है, फलत: जब ऐसा जीव रूपी काष्ठ ज्ञानरूपी तेल से सराबोर कर दिया जाता है तो उसके उपरान्त ही वह सरलता से झुक जाता है। **(व.चा. ४/७२)**

२८. प्रश्न : कौनसा मान लता सदृश है ?

उत्तर : अन्तिम संज्वलन मान के संस्कार की बालों की घुंघराली लट से तुलना की है, आपातत: ज्यों ही उसे शास्त्र ज्ञान रूपी हाथ से स्पर्श करिये त्यों ही वह क्षणभर में ही सीधा और सरल हो जाता है। **(व.चा. ४/७३)**

२९. प्रश्न : माया किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरों को ठगने के लिए जो छल-कपट और कुटिल भाव होता है वह माया है। **(रा.वा.५)** अपने हृदय के विचारों को छुपाने की जो चेष्टा की जाती है उसे माया कहते हैं। **(ध. १२/२८३)**

३०. प्रश्न : माया कषाय को किस-किस की उपमा दी गयी है ?

उत्तर : माया कषाय का स्वभाव चार प्रकार का है-

(१) बाँस की जड़ के समान (२) बकरी के सींग के समान (३) गोमूत्र के समान (४) चामरों के समान। **(य.ति.च. ८/४७२)**

(१) बाँस वृक्ष की गठीली जड़ के सदृश (२) मेष (मेढ़े) के सींग के सदृश (३) गाय के मूत्र के सदृश (४) अवलेखनी (खुरपा) के सदृश। **(ज.ध. १२/१५५)**

नोट : यहाँ अवलेखनी शब्द से दाँत साफ करने का टुकड़ा दातुन या जीभी लेना चाहिए। **(ज.ध.१२)**

३१. प्रश्न : पहली माया किसके सदृश है ?

उत्तर : बाँस की टेढ़ीमेढ़ी जड़ की अंकुर युक्त गाँठ के सदृश पहली माया होती है। इसके टेढेपन के निष्प्रतिकारपने का आश्रय करके यह उदाहरण दिया गया है। जैसे-बाँस की जड़ की गाँठ नष्ट होकर तथा शीर्ण होकर भी सरल नहीं की जा सकती है, इसी प्रकार अतितीव्र वक्र भाव से परिणत माया परिणाम भी निरुपक्रम (उपाय-रहित) होता है। **(ज.ध. १२/१५५)**

प्रथम अनन्तानुबन्धी माया के उदय होने पर जीव की चित्तवृत्ति बिल्कुल बाँस की जड़ों के समान हो जाती है। इसी कारण उसके चाल-चलन और स्वभाव अत्यन्त उलझे तथा कुटिल हो जाते हैं और उनमें कभी भी सीधापन नहीं आता है। **(व.चा. ४/७४)**

३२. प्रश्न : मेढ़े के सींग सदृश आदि माया कैसे स्वभाव वाली है ?

उत्तर : यह माया पूर्व माया से मन्द अनुभाग वाली है, क्योंकि अतिवलित वक्रतर रूप से परिणत हुए भी मेढ़े के सींग अग्नितापादि दूसरे उपायों द्वारा सरल करना शक्य है। **(ज.ध. १२/१५५)**

अप्रत्याख्यानावरणी माया का आत्मा पर पड़ने वाला संस्कार मेढ़े के सींग के समान गुड़ीदार होता है। फलत: इस कषाय से आक्रान्त व्यक्ति मन में कुछ सोचता है और जो करता है वह इससे बिल्कुल भिन्न होता है। **(व.चा. ४/७५)**

३३. प्रश्न : 'गोमूत्र सदृश' माया किसके समान होती है ?

उत्तर : प्रत्याख्यानावरणी माया के उभार की तुलना चलते बैल के मूत्र से बनी टेढ़ी-मेढ़ी रेखा से होती है। परिणाम यह होता है कि उसकी सब ही चेष्टाएँ बैल के मूत्र के समान आधी सीधी और आधी कुटिल एवं कपटपूर्ण होती है। **(व.चा. ४/७६)**

३४. प्रश्न : चौथी माया कैसी है ?

उत्तर : अन्तिम प्रकार की माया का उभार आत्मा को चमरी मृग के रोम के समान कर देता है। अतएव ज्यों ही आत्मा रूपी रोम को आप ज्ञानरूपी यन्त्र में रखकर दबाते हैं- त्यों ही वह बिना विलम्ब अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। **(व.चा. ४/७७)**

३५. प्रश्न : लोभ किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के अनुग्राहक-उपकारक धन आदि की विशेष आकांक्षा लोभ है ?

गर्हा या कांक्षा को लोभ कहते हैं। **(ध. १/३५१)**

चेतन स्त्री-पुत्र आदिक में और अचेतन धन-धान्यादि पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार की चित्त

में उत्पन्न हुई विशेष तृष्णा को लोभ कहते हैं। **अथवा** इन पदार्थों की वृद्धि होने पर जो विशेष सन्तोष होता है और इनके विनाश होने पर जो महान् असंतोष होता है उसे लोभ कहते हैं। **(य.ति.च. ८/४६७)**

बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार जो अनुराग रूप बुद्धि होती है, वह लोभ है। **(ध. १२/२८३)** योग्य स्थान पर धनव्यय का अभाव है, वह लोभ है। **(नि.सा.ता. ११२)**

दान देने योग्य पुरुषों में अपना धन नहीं देना अथवा दूसरे के धन को चोरी आदि कर हड़पना लोभ है। **(नी.वा. ४/४)**

३६. प्रश्न : लोभ को किसकी उपमा दी गयी है ?

उत्तर : लोभ चार प्रकार का होता है-

(१) किरमिच रंग के सदृश (२) नीलरंग के सदृश (३) शरीर के मल के सदृश (४) हल्दी के रंग के सदृश। **(य.ति. च. ८/४७३)**

(१) कृमिराग सदृश (२) अक्षमल सदृश (३) पांशुलेप सदृश (४) हारिद्र वस्त्र सदृश। **(ज.ध.१२/१५५)**

(१) कृमिराग सदृश (२) कज्जल सदृश (३) कर्दम सदृश (४) हारिद्र वस्त्र सदृश। **(रा.वा.५)**

३७. प्रश्न : कृमिराग सदृश लोभ किसे कहते हैं ?

उत्तर : कृमिराग एक कीटविशेष होता है। वह नियम से जिस वर्ण के आहार को ग्रहण करता है, उसी वर्ण के अतिचिक्कण डोरे को अपने मल त्यागने के द्वार से निकालता है। क्योंकि उसका वैसा ही स्वभाव है। उस सूत्र द्वारा जुलाहे अति कीमती अनेक वर्ण वाले नाना वस्त्र बनाते हैं। उस वर्ण के रंग को यद्यपि हजार कलशों की सतत धारा द्वारा प्रक्षालित किया जाता है, नाना प्रकार के क्षार युक्त जलों द्वारा धोया जाता है तो भी उस रंग को थोड़ा भी दूर करना शक्य नहीं है, क्योंकि वह अतिनिकाचित स्वरूप है, अग्नि से जलाये जाने पर भी भस्मपने को प्राप्त होते हुए उस कृमिराग से अनुरक्त हुए वस्त्र के उस वर्ण का रंग कभी छूटने योग्य न होने से वैसा ही बना रहता है। इसी प्रकार जीव के हृदय में स्थित अतितीव्र लोभ परिणाम, जिसे कृश नहीं किया जा सकता, वह कृमिराग के रंग के सदृश कहा जाता है। **(ज.ध. १२/१५६)** प्रथम लोभ के उदय होने पर आत्मा पर वैसा ही अमिट संस्कार पड़ जाता है जैसा कि कीड़ों के खून से बनाये गये लाल रंग (कागज) का होता है। अत एव ऐसे आत्मा को जब शास्त्रज्ञान रूपी ज्वाला में जलाया जाता है तब भी वह लोभ का संस्कार उसे नहीं छोड़ता है। **(व.चा. ४/७८)**

३८. प्रश्न : अक्षमल सदृश लोभ कैसा है ?

उत्तर : यह लोभ निकृष्ट वीर्य वाला और तीव्र अवस्था परिणत होता है। यह अक्षमल सदृश होता है। रथ के चक्के को या गाड़ी के तुम्ब को धारण करने वाली लकड़ी 'अक्ष' कहलाती है और उसका

मल अक्षमल है। अर्थात् अक्षांजन के स्नेह से गीला हुआ मषी मल अति चिक्कण होने से उस अक्षमल को सुखपूर्वक दूर करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार यह लोभ परिणाम भी निधत्त स्वरूप होने से जीव के हृदय में अवगाढ होता है इसलिए उसे दूर करना शक्य नहीं है। **(ज.ध. १२/१५६)**

अप्रत्याख्यानावरणी लोभ से आत्मा पर वैसा ही रंग चढ़ जाता है जैसा कि नीले रंग का किसी धवल वस्तु पर आता है, परिणाम यह होता है कि ज्यों ही जीव अपने आपको ज्ञानरूपी जल में धोता है त्यों ही आत्मा तुरन्त ही शुचि और स्वच्छ हो जाता है। **(व.चा. ४/७९)**

३९. प्रश्न : कौनसा लोभ कर्दम सदृश होता है ?

उत्तर : जिस प्रकार पैर में लगा हुआ धूलि का लेप पानी के द्वारा धोने आदि उपायों द्वारा सुखपूर्वक दूर कर दिया जाता है, वह चिरकाल तक नहीं ठहरता, उसी के समान उत्तरोत्तर मन्द स्वभाव वाला यह लोभ का भेद भी चिरकाल तक नहीं ठहरता। पिछले लोभ से अनन्त गुणी हीन सामर्थ्य वाला होता हुआ थोड़े ही काल में थोड़े से प्रयत्न द्वारा दूर हो जाता है। **(ज.ध. १२/१५६-५७)**

प्रत्याख्यानावरणी लोभ के उभार की गीले कीचड़ के साथ तुलना की गयी है फलत: ज्यों ही प्राणी आत्मा को शास्त्राभ्यास रूपी जल से भली भाँति धोता है त्यों ही इस लोभ का नामो-निशां भी आत्मा से गायब हो जाता है। **(व.चा. ४/८०)**

४०. प्रश्न : कौनसा लोभ हारिद्र वस्त्र के समान होता है ?

उत्तर : जो लोभ की चौथी मन्दतर अवस्था विशेष है, वह हारिद्र वस्त्र के समान कही गयी है। हल्दी से रंगा वस्त्र हारिद्र कहलाता है। जैसे- हल्दी के द्रव से रंगे गये वस्त्र का वर्ण रंग चिरकाल तक नहीं ठहरता, वायु और आतप आदि के निमित्त से ही उड़ जाता है, उसी प्रकार यह लोभ का भेद मन्दतम अनुभाग से परिणत होने के कारण चिरकाल तक आत्मा में नहीं ठहरता है। क्षण मात्र में ही दूर हो जाता है इसी प्रकार प्रकर्ष और अप्रकर्ष वाले तीव्र और मन्द अवस्था के भेद से विभक्त होने के कारण लोभ भी चार प्रकार का कहा गया है। **(ज.ध. १२/१५७)**

४१. प्रश्न : इन कषायों का वासना काल कितना है ?

उत्तर : संज्वलन कषाय का वासना काल - अन्तर्मुहूर्त।

अप्रत्याख्यान कषाय का वासना काल - एक पक्ष (१५ दिन)।

प्रत्याख्यान कषाय का वासना काल- छह माह।

अनन्तानुबंधी कषाय का वासना काल संख्यात-असंख्यात अनन्त भव हैं। **(गो.क. ४६)**

४२. प्रश्न : अकषाय वेदनीय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अकषाय में 'अ' निषेध अर्थ में नहीं है परन्तु ईषद् अर्थ में 'नञ्' समास है। जिस प्रकार

कुत्ता स्वामी का इशारा पाकर बलवन्त हो जाता है और जीवों को मारने के लिए प्रवृत्ति करता है तथा स्वामी के इशारे से वापिस आ जाता है; उसी प्रकार क्रोधादि कषायों के बल पर ही ईषत् प्रतिषेध होने पर हास्यादि नोकषायों की प्रवृत्ति होती है, क्रोधादि कषायों के अभाव में ये निर्बल रहती हैं। इसलिए हास्यादि को ईषत् कषाय, अकषाय या नोकषाय कहते हैं। **(रा.वा. ३)** जिस कर्म के उदय से जीव नोकषाय का वेदन करता है उसे नोकषाय वेदनीय कहते हैं। **(ध. १३/३५९)**

४३. प्रश्न : कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय में क्या अन्तर है ?

उत्तर : (१) कषाय वेदनीय चारित्र का आवरण करने वाली है और अकषाय वेदनीय के चारित्र को आवरण करने का विरोध है।

(२) कषाय वेदनीय की अपेक्षा नोकषाय वेदनीय में कर्म की स्थितियों के अनुभाग और उदय की अपेक्षा अल्पता पायी जाती है। **(ध.पु. ६/४५-४६ के आधार से)**

४४. प्रश्न : अकषाय वेदनीय कितने प्रकार का है ?

उत्तर : अकषाय वेदनीय कर्म नौ प्रकार का है-

(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद (८) पुंवेद (९) नपुंसक वेद। **(रा.वा. ४)**

४५. प्रश्न : हास्य कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से हँसी आती है वह हास्य कर्म है। **(सर्वा. ७५०)**

हँसने को हास्य कहते हैं। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के हास्य निमित्तक राग उत्पन्न होता है उस कर्म स्कन्ध की उपचार से हास्य संज्ञा है। **(ध. ६/४७)**

जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार का परिहास उत्पन्न होता है वह हास्यकर्म है। **(ध. १३/३६१)** हास्य नोकषाय के उदय होने पर यह जीव प्रसन्नता के अवसर पर, साकूत क्रोध में तथा कहीं पर अपमान होने के बाद अकेले ही या अन्य लोगों के सामने भी प्रकट कारण के बिना ही हँसता है अथवा अपने आप कुछ बड़बड़ाता जाता है। **(व.चा. ४/८३)**

४६. प्रश्न : रति अकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : रमने को रति कहते हैं अथवा जिसके द्वारा जीव विषयों में आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते हैं। **(ध. ६/४७)**

जिन कर्म स्कन्ध के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों में राग उत्पन्न होता है, उनकी रति संज्ञा है। **(ध. ६/४७)**

जब किसी जीव के रति नोकषाय का उदय होता है तो उसे उन दुष्ट लोगों से ही अधिक प्रीति होती

है जो पापमय कर्मों के करने में ही सदा लगे रहते हैं,जिनके कर्मों का परिणाम कुफल प्राप्ति ही होता है तथा निष्कर्ष शुद्ध अहित ही होता है। **(व.चा. ४/८४)**

मनोहर वस्तुओं में परम प्रीति सो रति है। **(नि.सा.ता. ६)**

जिसके द्वारा रमता है उसका अथवा रमण मात्र का नाम रति है। जिन कर्म स्कन्धों के उदय से कुत्सित में रमता है या जिनके द्रव्यादि में रति उत्पन्न होती है उनका नाम रति है। **(मू. १२३५) आ.**

४७. प्रश्न : अरति नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से आत्मा के देश आदि में उत्सुकता उत्पन्न होती है, वह रति नाम का द्रव्य कर्म है। इससे विपरीत अरति कर्म है। **(क.प्र. ६२)**

यह अरति नोकषाय का ही फल है जो जीव ज्ञानार्जन के साधन, व्रतपालन का शुभ अवसर, तप तपने की सुविधाएँ, ज्ञानाभाव मार्जन की सामग्री, लौकिक और पारलौकिक सम्पत्ति (द्रव्य) तथा अन्य सुखों के कारणों की प्राप्ति हो जानेपर भी अपने आपको उनमें नहीं लगा सकता है। **(व.चा. ४/८५)**

जिन कर्म स्कन्धों के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों में जीव के अरुचि उत्पन्न होती है, उनकी अरति संज्ञा है। **(ध. ६/४७)**

जो रमता नहीं है अथवा जिसके द्वारा रति को प्राप्त नहीं किया जाता है वह अरति है। जिस पुद्गल स्कन्ध के उदय से द्रव्य, क्षेत्र आदि में अरति-अप्रीति उत्पन्न होती है वह अरति है। **(मू. १२३५)आ.**

४८. प्रश्न : शोक नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : शोक करना और जो शोक किया जाता है वह शोक है। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शोक उत्पन्न होता है उसका नाम शोक है। **(मू.आ. १२३५)** सोच करने को शोक कहते हैं अथवा जो विषाद उत्पन्न करता है उसे शोक कहते हैं। जिन कर्म स्कन्धों के उदय से जीव के शोक उत्पन्न होता है उनकी शोक संज्ञा है। **(ध. ६/४७)** जब प्राणी हर एक बात से उदासीन हो जाता है, लम्बी-लम्बी सांस छोड़ता है, मन को नियन्त्रित नहीं कर पाता है फलत: मन सब तरफ से अव्यवस्थित होकर चक्कर काटता है, इन्द्रियाँ इतनी दुर्बल हो जाती हैं कि वे अपना कार्य भी नहीं कर पाती हैं तथा बुद्धि विचार नहीं कर सकती है, तब समझिए कि उसके शोक नोकषाय का उदय है। **(व.चा. ४/८७)**

४९. प्रश्न : भय नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से उद्वेग होता है वह भय है। **(सर्वा. ७५०)**

परचक्र के आगमनादि का नाम भय है। **(ध. १३/३३६)**

भीति को भय कहते हैं। उदय में आये हुए जिन कर्म स्कन्धों के द्वारा जीव के भय उत्पन्न होता है उनकी कारण में कार्य के उपचार से 'भय' यह संज्ञा है। **(ध. ६/४७)** पर-चक्र के आगमनादि का नाम

भय है। **अथवा** जिस कर्म के उदय से जीव के सात प्रकार का भय उत्पन्न होता है वह भयकर्म है। **(ध. १३/३६१)** जिसके कारण अनर्थ से डरे, वह भय है।

श्मशान, राजद्वार, अन्धकार आदि सात भय के स्थानों पर किसी साधारण से साधारण भय के कारण के उपस्थित होते ही कोई प्राणी एकदम काँपने लगता है, उसकी बोली बन्द हो जाती है या वह हकला-हकला कर बोलने लगता है, यह सब भय नोकषाय का ही प्रभाव है। **(व.चा. ४/८६)**

५०. प्रश्न : जुगुप्सा नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से अपने दोषों का आच्छादन करना हो (और अन्य के कुल, शील आदि में दोष प्रकट करना हो अथवा तिरस्कार व ग्लानि रूप भाव हों) वह जुगुप्सा नोकषाय है। **(हरि. पु. ५८/२३६)**

ग्लानि करना जुगुप्सा है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से द्रव्य आदि में ग्लानि उत्पन्न होती है उनका जुगुप्सा यह नाम है। **(मू. १२३५ आ.)** जिसके उदय से अपने दोषों का संवरण (ढकना) और पर के दोषों का आविष्करण (प्रगट करना) होता है वह जुगुप्सा है। **(सर्वा. ७५०)**

कुत्सा या ग्लानि को जुगुप्सा कहते हैं।[१] तहाँ अपने दोषों को ढाँकना जुगुप्सा है और दूसरे के कुल-शील आदि में दोष लगाना, आक्षेप करना, जुगुप्सा है। जो पुण्यहीन व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों के परमप्रिय भोगों और उपभोगों की प्राप्ति करके भी उनसे घृणा करता है या ग्लानि का अनुभव करता है, समझिए उसे जुगुप्सा नोकषाय ने जोरों से दबा रखा है। **(व.चा. ४/८८)**

५१. प्रश्न : स्त्रीवेद नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दोषों से स्वयं अपने को और दूसरों को आच्छादित करती है वह स्त्री है और स्त्री रूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। **अथवा-** जो पुरुष की आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं। जिसका अर्थ पुरुष की चाह करने वाली होती है। जो अपने को स्त्री रूप अनुभव करती है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा वेदन करने को वेद कहते हैं और स्त्री रूप वेद को स्त्रीवेद कहते हैं। **(ध. १/३४२)** जिसके उदय से स्त्री-सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद है। **(सर्वा. ७५०)** जिन कर्मस्कन्धों के उदय से पुरुष के प्रति आकांक्षा उत्पन्न होती है, उन कर्मस्कन्धों की स्त्रीवेद यह संज्ञा है। **(मू. १२३५ आ.)**

जिस नोकषाय के उदय से कोमलता, अस्फुटता, क्लीवता, कामावेश, नेत्र-विभ्रम, आस्फालन, पुरुष की इच्छा आदि स्त्रीभावों को आत्मा प्राप्त होती है, वह स्त्रीवेद है। **(रा.वा. ४)**

पुरुषत्व के दर्शन होते ही जो जीव पुरुष को प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। स्त्रीवेदधारी जीव पुरुष को देखते ही ऐसा द्रवित हो उठता है जैसे कि लाख आग छुआते ही बह (पिघल) पड़ती है। **(व.चा. ४/८९)**

---

१. हास्य कषाय हास्य को, रति कषाय प्रीति को, अरति कषाय अप्रीति को, शोक रुदन को, भय भय को और जुगुप्सा ग्लानि जो पैदा करती है। (पं.सं. गाथा १५३)

५२. प्रश्न : लोक में मृदु स्तनादि चिह्न से स्त्रीवेद की प्रतीति होती है ?

उत्तर : शरीर में जो स्तन, योनि आदि चिह्न हैं वे नामकर्म के उदय के कारण होते हैं अत: द्रव्य से पुरुष वेद का उदय होते हुए भी भाव से स्त्री वेद का या नपुंसक वेद का उदय हो सकता है। द्रव्य स्त्रीवेद के उदय में भाव से पुंवेद अथवा नंपुसक वेद का तथा द्रव्य से नपुंसक वेद का उदय होने पर भी भाव से स्त्रीवेद या पुंवेद का उदय हो सकता है। शरीर का आकार तो नामकर्म की रचना है और भाव-वेद मोहनीय कर्म के उदय से होता है। **(रा.वा. ४)**

५३. प्रश्न : पुंवेद नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से स्त्री के प्रति आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी पुंवेद संज्ञा है। **(मू. १२३५) आ.**

जिसके उदय से पुरुष सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह पुंवेद है। **(रा.वा. ४)**

जिसके कारण अपने को पुरुष मानता हुआ स्त्री में रमण करने की इच्छा करता है वह पुंवेद है। स्त्री का साक्षात्कार होते ही जो जीव स्त्री को पाने के लिए आकाश-पाताल एक कर देता है, यह पुंवेद का ही कार्य है। पुरुषवेद युक्त प्राणी स्त्री को देखते ही वैसा ही पिघल जाता है जैसे जमे घी का घड़ा अग्नि के स्पर्श होते ही क्षण-भर में ही पानी-पानी हो जाता है। **(व.चा. ४/९८)**

५४. प्रश्न : नपुंसक वेद नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से ईंट के अवे की अग्नि के सदृश दोनों (स्त्री-पुरुष) में आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी नपुंसक वेद संज्ञा है। **(मू.आ.१२३५)** जिसके उदय से नपुंसक सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है, वह नपुंसक वेद है। **(सर्वा. ७५०)**

जो भाव से न स्त्री रूप है और न पुरुष रूप है, तथा द्रव्य की अपेक्षा जो स्त्रीलिंग और पुरुषलिंग से रहित है, ईंटों को पकाने वाली अग्नि के समान वेद की प्रबल वेदना से युक्त है और सदा कलुषित चित्त है, उसे नपुंसक वेद जानना चाहिए। **(पं.सं. १०७)**

ईंटों के अवे के समान जब किसी प्राणी में काम उपभोग सम्बन्धी भयंकर विकलता होती है, तथा अत्यन्त निन्दनीय कुरूपपना होता है, समझिए यह सब नपुंसकवेद का ही परिपाक है। **(व.चा. ४/९१)**

(जिसके कारण अपने को नपुंसक मानता हुआ स्त्री और पुरुष इन दोनों पर भी आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी नपुंसक वेद यह संज्ञा है।)

५५. प्रश्न : करुणा का कारणभूत कर्म करुणा कर्म है, यह क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि, करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित मानने में विरोध आता है तथा अकरुणा को संयमघाती कर्मों के फल रूप से स्वीकार किया गया है। **(ध. १३/३६२)**

आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।।१० ।।

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि।

अर्थ - नारक, तिर्यञ्च, मानुष्य और दैव ये चार प्रकार की आयु हैं।

नरकायु - नारकियों में होने वाले भवधारण के कारण को नारकायु कहते हैं।

तिर्यगायु - तिर्यञ्च में होने वाले भवधारण के कारण को तिर्यञ्चायु कहते हैं।

मानुषायु - मनुष्य भव में होने वाले भवधारण के कारण को मानुषायु कहते हैं।

दैवायु - देव भव में होने वाले भवधारण के कारण को देवायु कहते हैं।

१. प्रश्न : आयु कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : आयु कर्म के सामान्य से दो भेद हैं।[१]

(१) भवायु (२) अद्धायु। **(भ.आ.वि. २५)**

आयु कर्म के चार भेद हैं-

(१) नरकायु (२) तिर्यगायु (३) मनुष्य आयु (४) देव आयु। **(त.सू. ८/१०)**

पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर तो आयु की प्रकृतियाँ भी असंख्यात लोकमात्र हैं। क्योंकि कर्म के उदय रूप विकल्प असंख्यात लोकमात्र पाये जाते हैं। **(ध. १२/४८३)**

२. प्रश्न : नारकायु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके निमित्त से तीव्र शीत-उष्ण वेदनाकारक नरकों में भी दीर्घकाल तक प्राणी जीवित रहता है वह नारकायु है। **(रा.वा. ५)**

जिन कर्म स्कन्धों के उदय से तीव्र शीत-उष्ण वेदना से युक्त, अधोगति स्वभाव वाले नरकों में दीर्घकाल तक जीते हुए जीवों का जो अवस्थान होता है उनकी नारकायु संज्ञा है। **(मू. १२३६) आ.**

जो कर्म नरक भव को धारण कराता है, वह नारकायु कर्म है। **(ध. १३/३६२)** जो आत्मा को नारक शरीर में धारण कराता है वह नरकायुष्क है। **(क.प्र. ६६)** नरकायु कर्म के उदय से प्राणी अचिन्त्य वेदना वाले नरकों के बिलों में जिसके सुनने से करुणा हो आवे ऐसे शब्द करते हुए उत्पन्न होते हैं और पाँच प्रकार के दुःख भोगते हैं। **(ज्ञा. ३५/२२)**

३. प्रश्न : तिर्यगायु किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्राणी तिर्यञ्च आयु के उदय से त्रस-स्थावर दो भेद रूप तिर्यञ्च गतियों में उत्पन्न होकर केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं। **(ज्ञा. ३५/२१)**

जिसका उदय होने पर क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि अनेक दु:खों के स्थानभूत तिर्यञ्च पर्याय में यह प्राणी जीवित रहता है, वा दु:ख-कारक तिर्यञ्च पर्याय को धारण करता है उसे तिर्यग्योन की आयु जानना चाहिए। **(रा.वा. ६)**

जिन कर्मस्कन्धों के उदय से तिर्यञ्चभव में अवस्थान होता है वह तिर्यञ्चायु है। **(मू १२३६ आ.)** जो जीव को तिर्यञ्च-शरीर में धारण कराता है, वह तिर्यगायुष है। **(क.प्र. ६६ टी.)** जो कर्म तिर्यञ्च भव को धारण कराता है, वह तिर्यञ्चायु कर्म है। **(ध. १३/३६२)**

४. प्रश्न : मनुष्यायु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से शारीरिक, मानसिक, अत्यधिक सुख-दु:ख से भरे हुए मानुष पर्याय में जन्म होता है वा जिसके उदय से प्राणी मानुष भव धारण करता है। वह मानुषायु कहलाती है। **(रा.वा. ७)**

जो कर्म मनुष्य भव को धारण कराता है, वह मनुष्यायु कर्म है। **(ध. १३/३६२)** जिन कर्मस्कन्धों के उदय से मानुष भव में अवस्थान होता है वह मानुषायु है। **(मू. १२३६ आ.)** प्राणी मनुष्यायु नामा कर्म के उदय योग से मनुष्यत्व को पाकर कुछ सुख-दु:ख से व्याप्त है बुद्धि जिनकी ऐसे होकर नाना प्रकार के प्रपञ्चों से काल यापन करते हैं। **(ज्ञा. ३५/२०)**

५. प्रश्न : दैवायु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से शारीरिक, मानसिक सुख स्वरूप देव पर्याय में जन्म होता है वह दैवायु है। वा जिस कर्म के उदय से प्राय: कर शारीरिक-मानसिक सुखों से युक्त देव पर्याय में जन्म होता है उसे दैवायु जानना चाहिए। **(रा.वा. ८)**

जिन कर्मस्कन्धों के उदय से देव भव में अवस्थान होता है वह दैवायु है। **(मू. १२३६ आ.)** दैवायु उत्पन्न करने वाले कर्म के उदय से प्राणी स्वर्ग में उत्पन्न होकर विख्यात है प्रभाव जिसका और सुखामृत आस्वादन में आसक्त है चित्त जिसका ऐसा देव होकर स्वर्ग के सुख भोगता है। **(ज्ञा. ३५/१९)**

६. प्रश्न : क्या देवों में सुख-ही-सुख है ?

उत्तर : नहीं, देवों में कभी- कभी देवांगना आदि के वियोग से, दूसरे महर्द्धिक देवों की महाविभूति को देखने से, देवपर्याय की समाप्ति के सूचक, आज्ञा-हानि, माला के मुरझाने, आभूषण एवं शरीर की कान्ति आदि की हीनता देखने से मानसिक दु:ख होता है। **(रा.वा. ८)**

देवों को इन्द्र आदि महाऋद्धिधारी देवों की विक्रिया आदि ऋद्धियों को तथा सम्पदा को देखकर मानसिक दु:ख होता है। इन्द्र आदि महाऋद्धि वाले देवों को पाँच इन्द्रियों के विषय सुख की तृष्णा से तथा प्रिय देवाङ्गना आदि के वियोग से दु:ख होता है। जिन जीवों का सुख पाँच इन्द्रियों के स्पर्श आदि के अधीन है उनकी तृप्ति कैसे हो सकती है ? तृप्ति न होने से भोगों की तृष्णा निरन्तर बनी रहती है जिसके कारण

वे सदा दु:खी रहते हैं।

यद्यपि देवों को शारीरिक दु:ख प्राय: नहीं होते हैं क्योंकि उनके सुवैक्रियिक शरीर है किन्तु मानसिक दु:ख होता है तथा शारीरिक दु:ख से मानसिक दु:ख प्रचुर होता है। जिसको मानसिक दु:ख या चिन्ता होती है उसको विषय भोग की सुखदायक सामग्री भी दु:खदायक लगती है। **(का.अ. ५८-६१)**

देवों का सुख उनकी नवशरीर विक्रिया आदि मनोहर विषयों के आधीन है, वह विषयसुख भी कालान्तर में द्रव्यान्तर के सम्बन्ध से दु:ख का कारण बन जाता है क्योंकि देवियों की लेश्या, आयु व बल देवों से भिन्न प्रकार के होते हैं। इसलिए वे देवाङ्गनाएँ कालान्तर में दु:खदायक बन जाती हैं। अन्य सुख-दायक इष्ट सामग्री का परिणमन भी इच्छानुसार नहीं होने से वह इष्ट सामग्री भी दु:ख का कारण हो जाती है।

७. प्रश्न : इन आयुओं की नरकायु आदि संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : नरकादि भवों के सम्बन्ध से आयु भी नारक, तैर्यग्योन आदि कहलाती है। जैसे- नारक भव के सम्बन्ध से आयु में नारक व्यपदेश होता है और नरक में होने वाली आयु नारकायु कहलाती है। इसी प्रकार तिर्यञ्च योनि में होने वाली तैर्यग्योन, मनुष्य में होने वाली मानुष और देवों में होने वाली दैवायु कहलाती है। **(रा.वा. १)**

८. प्रश्न : जीवन-मरण का कारण आयु है तो क्या अन्नादि जीवन का कारण नहीं है ?

उत्तर : नहीं, जीवन का मूल कारण आयु है, अन्नादि नहीं। क्योंकि अन्नादि आयु के अनुग्राहक (उपकार करने वाले) हैं। जैसे- घटादि की उत्पत्ति में मूलकारण मिट्टी का पिण्ड है और दण्डादि सहायक हैं उसी प्रकार भवधारण का मूल कारण आयु है और अन्नादि उसके उपग्राहक हैं। देव-नारकियों में अन्नादि का अभाव होने पर भी भव धारण होता है तथा अन्नादि के सन्निधान में भी क्षीण आयु वाले का मरण देखा जाता है, अत: अन्नादि भव-धारण का मूल कारण नहीं है। **(रा.वा. ३-४)**

नाम कर्म

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

गति-जाति-शरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थान-संहननस्पर्शरसगन्धवर्णानु-पूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतय: प्रत्येक शरीरत्रस-सुभग-सुस्वर शुभसूक्ष्म पर्याप्तिस्थिरादेययश: कीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११।

गति-जाति-शरीर-अंगोपांग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-

---

१. भवायु - भवधारण में कारण आयुकर्म को भवायु कहते हैं।
अद्धायु - द्रव्य के स्थितिकाल को अद्धायु कहते हैं। (भ.आ.वि. २५)

आनुपूर्वी-अगुरुलघु-उपघात-परघात-आतप-उद्योत-उच्छ्वास-विहायोगतय:-प्रत्येक-शरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिर-आदेय-यश:कीर्ति-स-इतराणि-तीर्थकरत्वं च।

अर्थ - गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायो-गति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यश:कीर्ति, तथा (सेतराणि) इनसे विपरीत साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दु:स्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयश:कीर्ति और तीर्थंकर ये नाम कर्म की बयालीस प्रकृतियाँ हैं।

गति - जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है वह गति है।

जाति - गतियों में अव्यभिचारी सादृश से एकीभूत स्वभाव को जाति कहते हैं।

शरीर - जिसके उदय से आत्मा के लिए शरीर की रचना होती है वह शरीर नाम कर्म है।

अंगोपांग-जिस कर्म के उदय से अंग और उपांग की स्पष्ट रचना हो, वह अंगोपांग नामकर्म है।

निर्माण-जिस कर्म के उदय से दोनों प्रकार के अंग और उपांग निर्मित होते हैं वह निर्माण नामकर्म है।

बन्धन - उदयप्राप्त पुद्गल स्कन्धों का परस्पर संश्लेष सम्बन्ध होना शरीर बन्धन नामकर्म है।

संघात - शरीरों के परमाणुओं का परस्पर छिद्र रहित प्रवेशानुप्रवेश होकर एकरूप हो जाना संघात नामकर्म है।

संस्थान - जिसके उदय से औदारिकादि शरीर के आकार की रचना हो वह संस्थान नामकर्म है।

संहनन - जिसके उदय से हड्डियों की सन्धि में बन्ध विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है।

स्पर्श-जिसके उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुरूप स्पर्श उत्पन्न होता है वह स्पर्श नामकर्म है।

रस - जिसके उदय से जीव के शरीर में तिक्त आदि रस उत्पन्न होते हैं वह रस नामकर्म है।

गन्ध - जिसके उदय से जीव के शरीर में गन्ध उत्पन्न होती है वह गन्ध नामकर्म है।

वर्ण - जिसके उदय से शरीर में वर्ण उत्पन्न होता है वह वर्ण नामकर्म है।

आनुपूर्वी - जिसके उदय से विग्रह गति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता है वह आनुपूर्वी नामकर्म है।

अगुरुलघु-जिन कर्म स्कन्धों के द्वारा अगुरुलघुपना है, उन पुद्गल स्कन्धों की अगुरुलघु संज्ञा है।

उपघात - जिसके उदय से स्वयंकृत बन्धन हो वह उपघात नामकर्म है।

परघात - जिसके उदय से शरीर में परघात करने के कारणभूत पुद्गल निष्पन्न हों वह परघात नामकर्म है।

आतप - जिसके उदय से शरीर में आतप होता है वह आतप नामकर्म है।

उद्योत - जिसके उदय से शरीर में उद्योत (चमक) उत्पन्न हो वह उद्योत नामकर्म है।

उच्छ्वास - जिसके उदय से उच्छ्वास और निश्वास रूप कार्य के उत्पादन में समर्थ होता है वह श्वासोच्छ्वास नामकर्म है।

विहायोगति - जिसके उदय से जीव का आकाश में गमन हो वह विहायोगति नामकर्म है।

प्रत्येक शरीर-जिसके उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

त्रस - जिसके उदय से जीव दो इन्द्रिय आदि जंगम जीवों में जन्म लेता है वह त्रस नामकर्म है।

सुभग - स्त्री-पुरुषों के सौभाग्य को उत्पन्न करने वाला सुभग नामकर्म है।

सुस्वर - जिसके उदय से मधुर स्वर होता है वह सुस्वर नामकर्म है।

शुभ - जिसके उदय से रमणीयता होती है वह शुभ नामकर्म है।

सूक्ष्म - जिसके उदय से सूक्ष्म शरीर की रचना होती है वह सूक्ष्म नामकर्म है।

पर्याप्ति - जिसके उदय से आत्मा अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है वह पर्याप्ति नाम कर्म है।

स्थिर - स्थिर भाव का निवर्तक स्थिर नाम कर्म है। जिस कर्म के उदय से दुष्कर उपवास आदि तप करने पर भी अंग-उपांग की स्थिरता रहती है, वह स्थिर नामकर्म है।

आदेय - जिसके उदय से प्रभा से युक्त शरीर होता है वह आदेय नामकर्म है।

यशस्कीर्ति - जिसके उदय से पुण्य गुणों का ख्यापन हो वह यशस्कीर्ति नामकर्म है।

साधारण - जिसके उदय से एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है।

स्थावर - जिसके उदय से प्राणी स्थावर काय में उत्पन्न होता है वह स्थावर नामकर्म है।

दुर्भग - जिसके उदय से स्त्री और पुरुषों के दौर्भाग्य उत्पन्न होता है वह दुर्भग नामकर्म है।

दुस्वर - जिसके उदय से कर्कश स्वर की प्राप्ति होती है वह दुस्वर नामकर्म है।

अशुभ - जिसके उदय से अरमणीयता उत्पन्न होती है वह अशुभ नामकर्म है।

बादर - जिसके उदय से अन्य जीवों को बाधाकारक शरीर प्राप्त होता है वह बादर नाम कर्म है।

अपर्याप्ति - जिसके उदय से आहार आदि किसी भी पर्याप्ति को पूर्ण करनेकी सामर्थ्य नहीं होती है वह अपर्याप्ति नाम कर्म है।

अस्थिर - स्थिर नामकर्म से विपरीत फलदायक अस्थिर नामकर्म है।

अनादेय - जिसके उदय से निष्प्रभ शरीर प्राप्त होता है वह अनादेय नामकर्म है।

अयशस्कीर्ति - पाप, दोषों को ख्यापन करने वाली अयशस्कीर्ति है।

तीर्थंकर - आर्हन्त्य पद की कारणभूत तीर्थंकर कर्म प्रकृति है।

१. प्रश्न : नामकर्म का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : शरीर संस्थान, वर्ण आदि कार्यों के भेद अन्यथा नहीं हो सकते हैं, इस अन्यथानुपपत्ति से नाम कर्म का अस्तित्व जाना जाता है। **(ध. पु. ६/१३)**

२. प्रश्न : नामकर्म की कितनी उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं ?

उत्तर : नामकर्म की बयालीस पिण्ड प्रकृतियाँ हैं-

(१) गति (२) जाति (३) शरीर (४) शरीर बन्धन (५) शरीर संघात (६) शरीर संस्थान (७) शरीर अंगोपांग (८) शरीर संहनन (९) वर्ण (१०) गन्ध (११) स्पर्श (१२) रस (१३) आनुपूर्वी (१४) अगुरुलघु (१५) उपघात (१६) परघात (१७) उच्छ्वास (१८) आतप (१९) उद्योत (२०) विहायोगति (२१) त्रस (२२) स्थावर (२३) बादर (२४) सूक्ष्म (२५) पर्याप्त (२६) अपर्याप्त (२७) प्रत्येक शरीर (२८) साधारण शरीर (२९) स्थिर (३०) अस्थिर (३१) शुभ (३२) अशुभ (३३) सुभग (३४) दुर्भग (३५) सुस्वर (३६) दु:स्वर (३७) आदेय (३८) अनादेय (३९) यश: कीर्ति (४०) अयश:कीर्ति (४१) निर्माण (४२) तीर्थंकर। **(ध. ६/५०)**

नामकर्म की असंख्यात लोकमात्र प्रकृतियाँ हैं। **(ध. १२/४८३)** कारण के बिना कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसकायिक आदि (जीवों में उनकी उक्त पर्यायों रूप) अनेक कार्य देखे जाते हैं। इसलिए जितने कार्य हैं उतने उनके कारण रूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए। **(ध. ७/७०)**

जीव के शारीरिक आकार-प्रकारों का निर्माता नामकर्म दो प्रकार का है।

(१) शुभ और (२) अशुभ।

नाम कर्म के मुख्य भेदों की अपेक्षा बयालीस भेद होते हैं।

अवान्तर भेदों की अपेक्षा तेरानवे भेद हो जाते हैं। **(व.चा. ४/३५)**

पिण्ड और अपिण्ड प्रकृति के भेद से नाम कर्म बयालीस प्रकार का है। **(क.प्र. ६६)**

३. प्रश्न : नाम कर्म की पिण्ड-अपिण्ड प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : पिण्ड प्रकृतियाँ चौदह हैं- १. गति २. जाति ३. शरीर ४. बन्धन ५. संघात ६. संस्थान

७. अंगोपांग ८. विहायोगति ९. संहनन १०. वर्ण ११. गन्ध १२. रस १३. स्पर्श १४. आनुपूर्वी। अपिण्ड प्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं- १. अगुरुलघु २. उपघात ३. परघात ४. उच्छ्वास ५. आतप ६. उद्योत ७. त्रस ८. स्थावर ९. बादर १०. सूक्ष्म ११. पर्याप्त १२. अपर्याप्त १३. प्रत्येक शरीर १४. साधारण शरीर १५. स्थिर १६. अस्थिर १७. शुभ १८. अशुभ १९. सुभग २०. दुर्भग २१. सुस्वर २२. दु:स्वर २३. आदेय २४. अनादेय २५. यश:कीर्ति २६. अयश:कीर्ति २७. निर्माण एवं २८. तीर्थंकर। **(क.प्र. ९५-९८)**

४. प्रश्न : गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : गति कर्मोदय जनित पर्याय 'गति' है **अथवा** चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। **(गो.जी. १४६)**

जहाँ गमन किया जाय वह गति है इस प्रकार निरुक्ति अर्थ करने पर ग्राम-नगरादि स्थानों को भी गति मानने का प्रसंग आता है क्योंकि रूढ़ि के बल से गति नाम कर्म द्वारा जो पर्याय निष्पन्न की जाती है उसमें गति शब्द का प्रयोग किया जाता है। गति नाम कर्म के उदयाभाव के कारण सिद्धगति अगति कहलाती है। **(ध. ७/६)**

गति नामकर्म से जो चेष्टा विनिवृत्त की जाती है उसको गति जानना चाहिए **अथवा** - जिसके निमित्त से चतुर्गति में जाते हैं, वह गति है। **(पं.सं. १/५९)** गति, भव और संसार एकार्थवाची हैं। जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है वह गति है। जिस कर्म के उदय से जीव में रहने से आयु कर्म की स्थिति रहती है और शरीर आदि कर्म उदय को प्राप्त होते हैं उसे गति कहते हैं। मिथ्यात्वादि कारणों से कर्म अवस्था को प्राप्त जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से वह अवान्तर-गमनरूप अवस्था होती है उसका गति नाम सार्थक है। **(मू. १२३६ आ.)**

नोट : यदि गति नाम कर्म न हो तो जीव गतिरहित हो जायेगा। **(मू. १२३६) आ.।**

५. प्रश्न : गति नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : गति नाम कर्म चार प्रकार का है-

(१) नरकगति (२) तिर्यञ्च गति (३) मनुष्य गति (४) देवगति। **(सर्वा. २६५)**

गति नाम कर्म सामान्य से एक प्रकार का है।

गति नाम कर्म दो प्रकार का है- सिद्ध गति और असिद्ध गति।

गति नाम कर्म तीन प्रकार का है- देवगति, अदेवगति और सिद्ध गति।

गति नाम कर्म के चार भेद हैं- नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्य गति और देवगति।

गति नाम कर्म के पाँच भेद हैं- नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्ध गति।

इस तरह गति समास अनेक भेदों से भिन्न है।

अथवा - गति नाम कर्म के आठ भेद हैं-

मनुष्यनी, मनुष्य, नारक, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, योनिनी, देव, देवियाँ और सिद्ध। **(ध. ७/५२०-२२)**

६. प्रश्न : नरक गति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कारण से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में तथा एक-दूसरे में रत नहीं हैं, जो हिंसादि असमीचीन कार्यों में व्यापृत रहते हैं उन्हें निरत कहते हैं और उनकी गति को निरतगति कहते हैं। **अथवा-**

जो नर अर्थात् प्राणियों को काता (पीड़ा) देता है, पीसता है वह नरक है।

नरक यह एक कर्म है। इससे जिनकी उत्पत्ति होती है वे नारक हैं और उनकी गति नारक गति है **अथवा-**

जिस गति का उदय सम्पूर्ण अशुभ कर्मों के उदय का सहकारी कारण है वह नरक गति है। जो परस्पर प्रीति नहीं रखते हैं वे नरता हैं और उनकी गति नरत गति है। **(ध. १/२०२-२०३)**

द्रव्य - खाद्य व पेय पदार्थ।

क्षेत्र - भूतल आदि स्थान।

काल-उस गति सम्बन्धी प्रथम समय से लगा कर अन्तिम समय आयु पर्यन्त का समय काल है।

भाव - चैतन्य के पर्याय रूप भाव है। **(गो.जी.जी. १४७)**

'निर्गत' कहिये गया है 'अय:' पुण्य कर्म जिनसे ऐसे जो निरय, तिनकी गति सो निरय गति जानना चाहिए। **(गो.जी.जी. १४७)**

७. प्रश्न : तिर्यञ्च गति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मन, वचन, काय की कुटिलता को प्राप्त हैं, जिनके आहारादि की संज्ञा सुव्यक्त (सबके सामने प्रकट) है, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके पाप की बहुलता पायी जाती है वे तिर्यञ्च कहे जाते हैं। **(गो.जी. १४८)** समस्त जाति के तिर्यञ्चों में उत्पत्ति का जो कारण है वह तिर्यञ्च गति है **अथवा** तिर्यञ्च गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए तिर्यञ्च पर्यायों का समूह तिर्यञ्च गति है। **अथवा** - तिरस्, वक्र, कुटिल ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं अत: जो कुटिल भाव को प्राप्त होते हैं वे तिर्यञ्च हैं, तिर्यञ्चों की गति तिर्यञ्चगति है। **(ध. १/२०३)**

८. प्रश्न : मनुष्य गति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जीव निरन्तर हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त तथा धर्म-अधर्म के विषय में विचार करके निश्चय करते हैं, अवधारण करते हैं, आचरण करते हैं, सूक्ष्म रहस्य को जानते हैं, दूरदर्शी

हैं वे मनुष्य हैं **अथवा** जब भोग भूमि का काल समाप्त होने लगा और कर्म भूमि का काल प्रारम्भ होने लगा तब प्रतिश्रुति प्रथम मनु से लेकर भरत चक्रवर्ती पर्यन्त सोलह मनु युग की आदि में हुए जिन्होंने उस समय की कठिनाइयों को दूर करने का उपाय प्रजा को बतलाया और 'जीवन सुख रूप रहे' ऐसा उपदेश दिया, इसलिए वे पिता के तुल्य हुए। कर्म-भूमि में जो मनुष्य हैं वे सब उनकी संतान हैं, मनु की सन्तान होने के कारण उनकी भी मनुष्य संज्ञा है। **(गो. जी. मन्द. १४९)**

जो मनुष्य को सम्पूर्ण पर्यायों में उत्पन्न कराता है, उसे मनुष्य कहते हैं। **अथवा** मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए मनुष्य पर्यायों के समूह को कार्य में कारण के उपचार से मनुष्यगति कहते हैं अथवा जो मन से निपुण हैं या उत्कट अर्थात् सूक्ष्म विचार आदि सातिशय उपयोग से युक्त हैं उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गति को मनुष्यगति कहते हैं। **(ध. १/२०३-०४)**

९. प्रश्न : देवगति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो देव पर्याय के कारण अणिमा आदि आठ गुणों के द्वारा क्रीड़ा करते हैं, तीनों लोक में परिवार सहित बिना रुकावट के विहार करते हैं, पंच परमेष्ठी की स्तुति करते हैं, सदा पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों से सुखी रहते हैं, रूप, लावण्य और यौवन से जिनका वैक्रियिक शरीर जाज्वल्यमान रहता है वे जीव देव हैं। **(गो.जी. १५१ मन्द.)** इन देवों की गति को देवगति कहते हैं। जो अणिमादि आठ ऋद्धियों की प्राप्ति के बल से क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं और देवों की गति को देवगति कहते हैं।

अथवा-

जो अणिमादि ऋद्धियों से युक्त देव इस प्रकार के शब्द, ज्ञान और व्यवहार में कारणभूत पर्याय का उत्पादक है, ऐसे देवगति नाम कर्म के उदय को देवगति कहते हैं। **(ध. १/२०४) अथवा** - देवगति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई पर्याय को कार्य में कारण के उपचार से देवगति कहते हैं। **(ध. १/२०४)** जो दिव्य स्वरूप अणिमादि आठ गुणों के द्वारा निरन्तर क्रीड़ा करते हैं और जिनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिए उन्हें देव कहते हैं। **(गो.जी. १५१)**

जो देवगति में होने वाले या पाये जाने वाले परिणामों, परिणमनों से सदा सुखी रहते हैं और जो अणिमा-महिमा आदि आठ गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहतरूप से विहार करते हैं और रूप लावण्य यौवन आदि से जिनका वैक्रियिक शरीर सदा प्रकाशमान रहता है, उनको परमागम में देव कहा है। **(गो.जी. १५१ मन्द.)**

१०. प्रश्न : सिद्ध गति किसे कहते है?

उत्तर : एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँच प्रकार की जाति, बुढ़ापा, मरण, भय, अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, इनसे होने वाले दुःख, आहारादि विषयक संज्ञाएँ- वा ञ्छाएँ और रोग आदि की व्याधि इत्यादि विरुद्ध विषय जिस गति में नहीं पाये जाते, उसको सिद्ध गति कहते हैं। **(गो.जी. १५२)**

जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनन्त सुख रूपी अमृत के अनुभव करने वाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्मबंध को कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अंजन से रहित हैं, नित्य हैं, सम्यकत्वादि आठ मुख्य गुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते है। उनकी गति को सिद्धगति कहते हैं। **(गो.जी. ६८)**

११. प्रश्न : जाति नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : नरकादि गतियों में अव्यभिचारी (अविरोधी) सादृश एकीकृत भाव जाति नामकर्म है। **(रा.वा. २)** जो कर्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भाव का बनाने वाला है वह जाति नाम कर्म है। **(ध. १३/३६३)**

जिस कर्मस्कन्ध से जीवों के अत्यन्त सदृशता उत्पन्न होती है, वह कर्मस्कन्ध कारण में कार्य के उपचार से 'जाति' इस नाम वाला कहलाता है। **(ध. ६/५१)**

उन नरकादि गतियों में जिस अव्यभिचारी सादृश से एकपने का बोध होता है वह जाति है और इसका निमित्त जाति नामकर्म है। **(सर्वा. ७५५)**

१२. प्रश्न : जाति नामकर्म कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : जाति नामकर्म पाँच प्रकार का है-

(१) एकेन्द्रिय जाति नामकर्म (२) द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म (३) त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म (४) चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म (५) पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म। **(रा.वा. २)**

१३. प्रश्न : एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों के साथ एकेन्द्रिय भाव से सादृशता होती है वह एकेन्द्रिय नामकर्म कहलाता है।

वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म भी अनेक प्रकार का है। यदि ऐसा न माना जाय तो जामुन, नीम, आम, नींबू, कदम्ब, इमली, शाली, धान्य, जौ और गेहूँ आदि जातियों का भेद नहीं हो सकता है। **(ध.६/६७-६८)**

१४. प्रश्न : द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीवों की द्वीन्द्रियत्व की अपेक्षा समानता होती है वह द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म कहलाता है। वह भी अनेक प्रकार का है, अन्यथा शंख, मातृवाह, क्षुल्लक, वराटक (कौड़ी), अरिष्ठ, शुक्ति (सीप), गंडोला, और कुक्षि-कृमि (पेट में उत्पन्न होने वाला कीड़ा) आदि जातियों का भेद नहीं बन सकता है। **(ध. ६/६८)**

१५. प्रश्न : त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीवों की त्रीन्द्रिय भाव की अपेक्षा समानता होती है वह त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म है। वह भी अनेक प्रकार का है अन्यथा कुन्थु, मत्कुण (खटमल), जूं, बिच्छू, गोम्ही, इन्द्रगोप और पिपीलिका आदि का भेद नहीं हो सकता। **(ध. ६/६८)**

१६. प्रश्न : चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीवों की चतुरिन्द्रिय भाव की अपेक्षा समानता होती है वह चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म है। वह कर्म अनेक प्रकार का है, अन्यथा भ्रमर, मधुकर, शलभ, पतंग, दंशमशक और मक्खी आदि जातियों का भेद नहीं हो सकता है। **(ध. ६/६८)**

१७. प्रश्न : पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीवों की पंचेन्द्रियपने की अपेक्षा समानता होती है, वह पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म है। वह कर्म अनेक प्रकार का है, अन्यथा देव, नारकी, सिंह, अश्व, हस्ती, वृक, व्याघ्र और चीता आदि जातियों का भेद बन नहीं सकता। **(ध. ६/६८)**

१८. प्रश्न : यदि पारिणामिक (परिणमन कराने वाले) कारण के सदृश परिणाम नहीं होता है, तो सदृश परिणाम रूप कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, इस अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से उसके कारणभूत कर्म का अस्तित्व भले ही सिद्ध होवे। किन्तु गंगा नदी की बालुका आदि में पारिणामिक सदृश परिणाम पाया जाता है, इसलिए हेतु के अनेकान्तिक होने से सदृश परिणाम अपने कारणीभूत कर्म के अस्तित्व को नहीं सिद्ध करता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, गंगानदी की बालुका के पृथिवीकायिक नाम-कर्म के उदय से सदृश परिणामता मानी गयी है। दूसरी बात यह है कि यदि जीव के द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल स्कन्धों का सदृश परिणाम पारिणामिक भी हो, तो हेतु अनैकान्तिक होवे। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उस प्रकार का अनुपलम्भ (प्राप्ति नहीं) है। यदि जीवों का सदृश परिणाम कर्म के अधीन न होवे, तो चतुरिन्द्रिय जीव घोड़ा, हाथी, भेड़िया, बाघ और छवल्ल आदि के आकार वाले हो जायेंगे। तथा पंचेन्द्रिय जीव भी भ्रमर, मत्कुण, शलभ, इन्द्रगोप, क्षुल्लक, अक्ष और वृक्ष आदि के आकार वाले हो जायेंगे। किन्तु इस प्रकार है नहीं, क्योंकि इस प्रकार के वे पाये नहीं जाते तथा प्रतिनियत सदृश परिणामों में अवस्थित वृक्ष आदि पाये जाते हैं। इसलिए जीवों का सदृश परिणाम पारिणामिक नहीं है, यह सिद्ध हुआ **(ध. ६/५१-५२)**

१९. प्रश्न : जाति नाम कर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि जाति नाम कर्म न हो तो खटमल-खटमलों के साथ, बिच्छू बिच्छुओं के साथ, धान्य-धान्य के साथ और शाली-शाली के साथ समान नहीं होंगे, किन्तु इनमें परस्पर सदृशता दिखाई देती है। **(मू. १२३६ आ.)**

२०. प्रश्न : शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नाम कर्म है। **(रा.वा. ३)** जिस कर्मस्कन्ध के उदय से आहार वर्गणा, तैजस वर्गणा और कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्ध शरीर के योग्य परिणाम से परिणत होकर जीव के साथ सम्बन्धित होते हैं, उसकी शरीर संज्ञा है। **(मू. १२३६ आ.)**

जिस कर्म के उदय से आहार वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध शरीर योग्य परिणामों के द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं, उस कर्म स्कन्ध की शरीर यह संज्ञा है। **(ध. ६/५२)**

२१. प्रश्न : शरीर नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : शरीर नाम कर्म पाँच प्रकार का है-

(१) औदारिक शरीर नामकर्म (२) वैक्रियिक शरीर नामकर्म (३) आहारक शरीर नामकर्म (४) तैजस शरीर नामकर्म (५) कार्मण शरीर नामकर्म। **(मू. १२३६)**

२२. प्रश्न : यदि शरीर नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि शरीर नामकर्म जीव के न हो, तो जीव के अशरीरता का प्रसंग आता है। शरीर रहित होने से अमूर्त्त आत्मा के कर्मों का होना भी सम्भव नहीं है क्योंकि मूर्त्त पुद्गल और अमूर्त्त आत्मा के सम्बन्ध होने का अभाव है। अमूर्त्त आत्मा और मूर्त्त पुद्गल का सम्बन्ध नहीं हो तो कोई हानि नहीं है, ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि वैसा मानने पर सभी संसारी जीवों के सिद्धों के समान होने की आपत्ति से संसार के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। **(ध. ६/५२)** यदि शरीर नाम कर्म न हो तो आत्मा मुक्त हो जायेगा। **(मू.१२३६ आ.)**

२३. प्रश्न : अंगोपांग नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से सिर, पीठ, जांघ, बाहु, उदर, नल, हाथ और पैर इन आठ अंगों की तथा ललाट, नासिका, आँख, अंगुलि आदि उपांगों की रचना होती है, विवेक (विभाजन) होता है उसे अंगोपांग नाम कर्म कहते हैं। **(रा.वा. ४)** जिस कर्म स्कन्ध के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की निष्पत्ति होती है उस कर्मस्कन्ध का शरीर अंगोपांग यह नाम है। **(ध. ६/५४)**

२४. प्रश्न : अंगोपांग नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : अंगोपांग नाम कर्म तीन प्रकार का है-

(१) औदारिक शरीर अंगोपांग (२) वैक्रियिक शरीर अंगोपांग (३) आहारक शरीर अंगोपांग। **(रा.वा. ४)**

नोट : तैजस और कार्मण शरीर के अंगोपांग नहीं होते हैं, क्योंकि उनके हाथ, पाँव, गला आदि अवयवों का अभाव है। **(ध. ६/७३)**

२५. प्रश्न : औदारिकादि अंगोपांग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके निमित्त से औदारिक शरीर में अंगोपांग की रचना होती है वह औदारिक शरीर अंगोपांग है।

जिसके निमित्त से वैक्रियिक शरीर में अंगोपांग की रचना होती है वह वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म है।

जिसके निमित्त से आहारक शरीर में अंगोपांग की रचना होती है वह आहारक शरीर अंगोपांग नामकर्म है। **(रा.वा.४)**

२६. प्रश्न : शरीर में अंग और उपांग कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : शिर में मूर्धा, कपाल, मस्तक, ललाट, शंख, भौंह, कान, नाक, आँख, अक्षिकूट, हनु (ठोड़ी), कपोल, ऊपर और नीचे के ओष्ठ, सृक्वणी (चाप) तालु और जीभ आदि उपांग हैं। तथा शरीर में दो हाथ, दो पैर, नितम्ब, पीठ, हृदय और मस्तक ये आठ अंग हैं। **(ध. पु. ६/५४)**

मस्तक की हड्डी, मस्तक, ललाट, भुजसन्धि, कान, नाक, नेत्र, अक्षिकूप, ठुड्डी, गाल, ओंठ, ओंठ के किनारे, तालु, जीभ, गर्दन, स्तन-चूचुक, अंगुलि आदि उपांग हैं। **(मू. १२३६ आ.)**

नलक, हाथ, पैर, पेट, नितम्ब, छाती, पीठ और शिर ये शरीर के आठ अंग हैं। **(मू. १२३६ आ.)**

२७. प्रश्न : निर्माण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके द्वारा जाति कर्म के अनुसार इन्द्रियों के आकार, तद्-तद् स्थान और शरीर प्रमाण उनकी रचना की जाती है वह निर्माण नाम कर्म है। **(रा.वा. ५)** जिस कर्म के उदय से जीवों के दोनों प्रकार के निर्माण होते हैं, उस कर्म की निर्माण संज्ञा है। **(ध. पु. ६/६६)**

नियत-निश्चित, मान-माप को निर्माण कहते हैं। जिस कर्म के उदय से दोनों निमान होते हैं वह निमान नामकर्म है। **(मू. १२३९) आ.**

२८. प्रश्न : निर्माण नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : निर्माण नामकर्म दो प्रकार का है-

(१) प्रमाण निर्माण (२) स्थान निर्माण। **(रा.वा. ५)**

२९. प्रश्न : प्रमाण निर्माण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाति नामकर्म के उदय की अपेक्षा नेत्रादि का आश्रय करके यथाप्रमाण हो, वह प्रमाण निर्माण नाम कर्म है। **(गो.क.जी. ३३)** जाति नामकर्म की सहायता से जो नाक, कान आदि की, योग्य लंबाई, चौड़ाई आदि का प्रमाण लिये रचना करता है सो प्रमाण निर्माण नामकर्म है। **(हरि. पु. ५८/२४९)**

काल को और जाति को आश्रय करके जीवों के प्रमाण को निर्माण करने वाला प्रमाण निर्माण नामकर्म है। **(ध. ६/६६)**

३०. प्रश्न : स्थान निर्माण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाति नाम कर्म के उदय की अपेक्षा नेत्रादिक जिस स्थान पर होने चाहिए उसी स्थान पर हों वह स्थाननिर्माण नामकर्म है। **(गो.क.जी. ३३)**

कान, आँख, नाक आदि अंगों का अपनी जाति के अनुरूप अपने-अपने स्थान पर जो नियामक कर्म है, वह संस्थान निर्माण नामकर्म कहलाता है। **(ध. ६/६६)** जाति नामकर्म के उदय की सहायता से जो नाक, कान आदि को योग्य स्थान में निर्माण करता है वह स्थान निर्माण नामकर्म है। **(हरि. पु. ५८-२४९)**

३१. प्रश्न : यदि निर्माण नामकर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि प्रमाण निर्माण नामकर्म न हो तो जंघा, बाहु, शिर और नासिका आदि का विस्तार और आयाम लोक के अन्त तक फैलने वाले हो जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि उस प्रकार से पाया नहीं जाता है। यदि संस्थान निर्माण नाम कर्म न हो तो अंग, उपांग और प्रत्यंग संकर और व्यतिकर स्वरूप हो जावेंगे किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/६६)**

यदि यह (निर्माण) कर्म न हो तो आत्मा कान, नेत्र, नाक आदि अवयवों का अपनी जाति के अनुरूप स्थान का और प्रमाण का नियम न बन सकेगा। **(मू. १२३९ आ.)**

३२. प्रश्न : बन्धन नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए पुद्गलों का अन्योन्य प्रदेश-संश्लेष जिसके निमित्त से होता है वह बन्धन नामकर्म है। **(सर्वा. ७५५)**

शरीर के लिए आये हुए, जीव सम्बद्ध पुद्गल स्कन्धों का जिन जीव सम्बद्ध और उदयप्राप्त पुद्गलों के साथ परस्पर बन्ध किया जाता है उन पुद्गल स्कन्धों की 'शरीर बन्धन' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से अथवा कर्तृ निर्देश से है। **(ध. ६/५२-५३)** शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों का परस्पर प्रदेश संश्लेष जिसके द्वारा होता है वह बन्धन नाम कर्म कहलाता है। यही अस्थि आदि का परस्पर बन्धन करता है। **(रा.वा. ६)**

३३. प्रश्न : बन्धन नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : बन्धन नाम कर्म पाँच प्रकार का होता है-

(१) औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म (२) वैक्रियिक शरीर बन्धन नाम कर्म (३) आहारक शरीर बन्धन नाम कर्म (४) तैजस शरीर बन्धन नाम कर्म (५) कार्माण शरीर बन्धन नाम कर्म। **(मू. १२३६ आ.)**

औदारिक बन्धन नामकर्म - जिसके उदय से औदारिक बन्धन हो वह औदारिक बन्धन नामकर्म है।

नोट : इसी प्रकार वैक्रियिक आदि बन्धन नामकर्म के उदय से वैक्रियिक आदि बन्धन होते हैं। **(हरि. पु. ५८/२५०)**

३४. प्रश्न : यदि बन्धन नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि बन्धन नामकर्म न हो तो शरीर के प्रदेश लकड़ियों के ढेर के समान परस्पर पृथक्-पृथक् रहेंगे। **(रा.वा. ६)**

यदि शरीर बन्धन नाम कर्म जीव के न हो तो बालुका द्वारा बनाये गये पुरुष शरीर के समान जीव का शरीर होगा, क्योंकि परमाणुओं का परस्पर बन्धन नहीं है। **(ध. ६/५३)**

३५. प्रश्न : संघात नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से औदारिकादि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर निश्छिद्र रूप से संश्लिष्ट संगठन हो जाता है वह संघात नामकर्म है। **(रा.वा. ७)**

जिसके उदय से औदारिक आदि पाँच शरीरों के प्रदेशों में से अपने-अपने शरीर के प्रदेश परस्पर में अन्योन्य प्रवेश स्वरूप तथा छिद्र रहित एकत्व सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वह संघात नाम कर्म है। **(सुख बो. त. वृ. ४८०)**

जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणुओं का परस्पर में छिद्र-रहित प्रवेशानुप्रवेश होकर एकरूपता आ जावे उसे संघात नामकर्म कहते हैं। **(मू. १२३६) आ.।**

३६. प्रश्न : संघात नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संघात नाम कर्म पाँच प्रकार का है-

(१) औदारिक शरीर संघात नामकर्म (२) वैक्रियिक शरीर संघात नामकर्म (३) आहारक शरीर संघात नामकर्म (४) तैजस शरीर संघात नामकर्म (५) कार्मण शरीर संघात नामकर्म। **(मू. १२३६) आ.।**

औदारिक शरीर : संघात जिसके उदय से औदारिक शरीर में छिद्र रहित संधियाँ (जोड़) हों वह औदारिक संघात है।

इसी प्रकार जिसके उदय से वैक्रियिक संघात आदि हों उन्हें वैक्रियिक संघात आदि नामकर्म जानना चाहिए। **(हरि. पु. ५८/२५१)**

३७. प्रश्न : संघात नामकर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि संघात नामकर्म न हो तो जीव का शरीर तिल के लड्डू के समान हो जावे। **(मू. १२३६ आ.)** यदि शरीर संघात नामकर्म जीव के न हो, तो तिल के मोदक के समान अपुष्ट शरीर वाला जीव हो जावे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि तिल के मोदक के समान संश्लेष रहित परमाणुओं वाला शरीर नहीं पाया जाता है। **(ध. ६/५३)**

३८. प्रश्न : संस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाति नामकर्म के उदय से परतन्त्र जिन कर्म स्कन्धों के उदय से शरीर का आकार बनता है वह शरीर संस्थान नामकर्म है। **(ध. ६/५३)**

३९. प्रश्न : संस्थान नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संस्थान नामकर्म छह प्रकार का होता है-

(१) समचतुरस्र संस्थान (२) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान (३) स्वाति संस्थान (४) कुब्जक संस्थान (५) वामन संस्थान (६) हुण्डक संस्थान। **(रा.वा. ८)**

४०. प्रश्न : समचतुरस्र संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : चतुर का अर्थ शोभन है, सब ओर से चतुर समचतुर कहलाता है। समान मान और उन्मान वाला, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। समचतुर ऐसा जो शरीर संस्थान वह समचतुरस्रसंस्थान है। उस संस्थान के निर्वर्तक कर्म की भी कारण में कार्य से यही संज्ञा है। **(ध. १३/३६८)**

ऊपर, नीचे और मध्य में कुशल शिल्पी के द्वारा रचित समचक्र की तरह समान रूप से शरीर के अवयवों का सन्निवेश होना, आकार बनना समचतुरस्र संस्थान नामकर्म है। **(रा.वा. ८)**

समान चौकोन वस्तु के समान समचतुरस्र है। यह कर्म शरीर के सभी अवयवों को समप्रमाण उत्पन्न करने वाला है। **(मू. १२३६) आ.**

इससे सुन्दर शरीर-रचना होती है। इससे शरीर की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई हीनाधिक नहीं होती, सम विभक्त होती है। (चारों ओर से मनोहर अंगोपांग का समान विभाजन इसी से होता है)। **(म.पु. १५/३३)**

४१. प्रश्न : न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : न्यग्रोध वटवृक्ष को कहते हैं। उसके सघन घेरे के समान जिसका आकार हो वह न्यग्रोध परिमण्डल है। जिसके नाभि के ऊपर के सभी अवयवों में बहुत परमाणु रहते हैं ऐसा वटवृक्ष के आकार सदृश न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान है, यह आयतवृत्त के समान है। **(मू. १२३६) आ.**

न्यग्रोध का अर्थ वट का वृक्ष है और परिमण्डल का अर्थ सब ओर का मण्डल। न्यग्रोध के परिमण्डल के समान जिस शरीर संस्थान का परिमण्डल होता है वह न्यग्रोध परिमण्डल शरीर संस्थान है। जो शरीर नीचे सूक्ष्म और ऊपर विशाल होता है वह न्यग्रोधपरिमण्डल शरीर संस्थान है। कार्य में कारण के उपचार के कारण इस कर्म की यह संज्ञा है। **(ध. १३/३६८)**

४२. प्रश्न : स्वाति संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : न्यग्रोध से उल्टा ऊपर लघु और नीचे भारी, बांम्बी की रचना समान स्वाति संस्थान है। **(रा.वा. ८)** स्वाति नाम बल्मीक या शाल्मलि वृक्ष का है। उसके आकार के समान आकार जिस शरीर का है, वह स्वाति संस्थान है। **(ध. ६/७१)**

स्वाति शब्द का अर्थ बामी अथवा शाल्मलि वृक्ष है, उसके आकार के सदृश जिसका आकार हो वह स्वाति संस्थान है। इसमें नाभि के नीचे के अवयव बड़े होते हैं और ऊपर के अवयव छोटे होते हैं। **(मू. १२३६) आ.**

४३. प्रश्न : कुब्जक संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : कुब्ज-कुबड़े का शरीर कुब्ज शरीर है। उसके आकार के समान जिसका आकार हो, वह कुब्जक संस्थान है। जिस कर्म के उदय से शाखाओं में दीर्घ है वह कुब्ज शरीर संस्थान नामकर्म है। **(मू. १२३६) आ.**

कुबड़े शरीर को कुब्ज शरीर कहते हैं। उस कुब्ज शरीर के संस्थान के समान संस्थान जिस शरीर का होता है, वह कुब्ज शरीर संस्थान है। जिस कर्म के उदय से शाखाओं की दीर्घता और मध्य भाग की ह्रस्वता होती है उसकी कुब्ज शरीर संस्थान यह संज्ञा है। **(ध. ६/७१)**

४४. प्रश्न : वामन संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : सभी अंग-उपांगों को छोटा बनाने में कारणभूत वामन संस्थान है। **(रा.वा. ८)** बौने के शरीर को वामन शरीर कहते हैं। वामन शरीर के संस्थान के समान संस्थान जिसमें होता है वह वामन शरीर संस्थान है। जिस कर्म के उदय से शाखाओं के ह्रस्वता और शरीर के दीर्घता होती है वह वामन शरीर संस्थान नाम कर्म है। **(ध. ६/७१)** वामन का शरीर वामन शरीर है। उसका संस्थान वामन संस्थान है। इस कर्म के उदय से शाखाओं में दीर्घता और शरीर में ह्रस्वपना रहता है। **(मू. १२३६) आ.**

४५. प्रश्न : हुण्डक संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : विषम (समानता रहित) अनेक आकार वाले पाषाणों से भरी हुई मशक के समान सर्व ओर से विषम आकार को हुण्ड कहते हैं। हुण्ड के शरीर को हुण्डक शरीर कहते हैं। उसके संस्थान के समान संस्थान जिसके होता है उसका नाम हुण्ड शरीर संस्थान है। जिस कर्म के उदय से पूर्वोक्त पाँच संस्थानों से व्यतिरिक्त, इकतीस भेद भिन्न अन्य संस्थान उत्पन्न होता है, वह शरीर हुंड संस्थान संज्ञा वाला है। ऐसा

जानना चाहिए। **(ध. ६/७२)** विषम पत्थरों से भरे हुए पर्वत के समान जिसका विषम-हुण्ड आकार हो वह हुण्डक शरीर संस्थान है। इसके उदय से पूर्वोक्त पाँच संस्थानों के अतिरिक्त बीभत्स संस्थान होता है। **(मू. १२३६) आ.**

सर्व अंगों और उपांगों की बेतरतीब हुण्ड की तरह रचना हुण्डक संस्थान है। **(रा.वा. ८)**

४६. प्रश्न : इकतीस प्रकार का हुण्डक संस्थान कौन-कौनसा है ?

उत्तर : सर्व अवयवों में नियत स्वरूप वाले पाँच संस्थानों में से दो, तीन, चार व पाँच संस्थानों के संयोग से हुंड संस्थान अनेक भेद भिन्न उत्पन्न होता है। इस निर्देश के आधार से हुण्ड संस्थान को ध्रुव मानकर हुण्ड संस्थान के द्विसंयोगी आदि भंग कुल मिलकर इकतीस उत्पन्न होते हैं जो इस प्रकार हैं-

द्विसंयोगी- पाँच, त्रिसंयोगी $(\frac{५\times४}{१\times२})$ = दस, चतुः संयोगी $\frac{५\times४\times३}{१\times२\times३}$ = दस, पंच संयोगी $\frac{५\times४\times३\times२}{१\times२\times३\times४}$ = पाँच, छह संयोगी, $\frac{५\times४\times३\times२\times१}{१\times२\times३\times४\times५}$ = एक।

इस प्रकार हुण्ड संस्थान के समस्त संयोगी भंग = ५+१०+१०+५+१=३१ होते हैं। **(ध. ६/७२)**

४७. प्रश्न : एकेन्द्रिय जीवों के छहों संस्थान क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि प्रत्येक अवयव से प्ररूपित लक्षण वाले पाँच संस्थानों को समूह रूप से धारण करने वाले एकेन्द्रिय के पृथक्-पृथक् छह संस्थानों का विरोध है। **(ध. ६/११२)**

४८. प्रश्न : विकलेन्द्रियों के एक हुण्डक संस्थान कैसे हो सकता है क्योंकि उनके छहों संस्थान पाये जाते हैं ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं, क्योंकि सर्व अवयवों में नियत स्वरूप वाले पाँच संस्थानों के होने पर दो, तीन, चार और पाँच संस्थानों के संयोग से हुण्डक संस्थान अनेक भेद-भिन्न उत्पन्न होता है। वे पाँच संस्थान प्रत्येक अवयव के प्रति इस प्रकार के आकार वाले होते हैं। यह नहीं जाना जाता है, क्योंकि आज उस प्रकार के उपदेश का अभाव है और उन संयोगी भेदों के नहीं ज्ञात होने पर इन जीवों के 'अमुक संस्थानों के संयोगात्मक ये भंग हैं', यह नहीं जाना जा सकता है अतएव सभी विकलेन्द्रिय जीव हुण्डक संस्थान वाले होते हुए भी आज नहीं जाने जाते हैं, यह बात सिद्ध हुई। **(ध. ६/१०८)**

४९. प्रश्न : किन-किन जीवों के कौन-कौन-सा संस्थान होता है ?

उत्तर : भवनवासी आदि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सभी देवों के समचतुरस्र संस्थान ही होता है। **(गो.क. ३०४)** भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्चों के समचतुरस्र संस्थान ही होता है। **(गो.क. ३०३)** सातों नरकों के नारकियों के हुण्डक संस्थान ही होता है। **(गो.क. २९१)**

तिर्यञ्च अपर्याप्त एवं मनुष्य अपर्याप्त के एक हुण्डक संस्थान होता है। **(गो.क. २९७-३०१)** एकेन्द्रिय, विकलत्रयों के एक हुण्डक संस्थान है। **(गो.क. ३०७-९)** सामान्य मनुष्य एवं पंचेन्द्रिय

तिर्यञ्चों के छहों संस्थान होते हैं। **(गो.क. २९८, २९४)** तेरहवें गुणस्थान तक छहों संस्थान का उदय भजनीय है। **(गो.क. २७१)** तीर्थंकर के जीव बालक के समचतुरस्र संस्थान होता है। (जन्मातिशय) तीर्थंकर, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती के नियम से समचतुरस्र संस्थान होता है। **(ति.प. ४/१३८१)**

५०. प्रश्न : बन्धन, संघात और संस्थान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं- मिल जाते हैं, वह औदारिक बन्धन नामकर्म है और इस बन्धन नामकर्म के उदय से एकरूप बन्धन से बँधे हुए शरीर भाव को प्राप्त हुए परमाणुओं का जिस कर्म के उदय से औदार्य-चिकने रूप से एकमेक हो जाते हैं, वह औदारिक संघात नामकर्म है, और जिस कर्म के उदय से शरीर स्कन्धों की आकृति बनती है वह संस्थान नामकर्म है। इस प्रकार इनमें महान् अन्तर है। अर्थात् बन्धन नाम कर्म के उदय से परमाणु मिल जाते हैं परन्तु तिल के लड्डू के समान छिद्र सहित रहते हैं, संघात के उदय से वे चिकने आटे के लड्डू के समान सर्वत्र एकमेक हो जाते हैं, जबकि संस्थान नामकर्म शरीर का आकार बनाता है। इसी प्रकार सब शरीरों के बारे में जानना चाहिए। **(मू. १२३६ आ.)**

५१. प्रश्न : संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अस्थिजाल का बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। **(रा.वा. ९)**

जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की निष्पत्ति होती है वह शरीर संहनन नामकर्म है। **(ध. १३/३६४)**

जिस कर्म के उदय से हड्डियों की सन्धि में बन्ध विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। **(मू. १२३७ आ.)**

जिसके उदय से अस्थि पंजर आदि के बन्धनों में विशेषता हो वह संहनन नामकर्म है। **(हरि. पु. ५८/१५४)**

५२. प्रश्न : संहनन कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : संहनन छह प्रकार के होते हैं-

(१) वज्रवृषभनाराच संहनन (२) वज्र नाराच संहनन (३) नाराच संहनन (४) अर्ध नाराच संहनन (५) कीलक संहनन (६) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन। **(रा.वा. ९)**

५३. प्रश्न : वज्रवृषभनाराच संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अस्थि समूह और स्नायुवेष्टन वज्र के समान अभेद्य हों और

नाराच-कीली भी वज्र की हों, अर्थात् वज्र की हड्डियाँ वज्र के वेष्टन से वेष्टित हों और वज्र की कीलियों से कीलित हों, वह वज्रवृषभनाराच संहनन है। **(मू. १२३७ आ.)** जिस कर्म के उदय से वज्रमय हड्डियाँ वज्रमय वेष्टन से वेष्टित और वज्रमय नाराच से कीलित होती हैं, वह वज्रवृषभनाराच शरीर संहनन है। **(ध. ६/७३)** जिसमें दोनों हड्डियों की सन्धियाँ वज्राकार हों, प्रत्येक हड्डी में वलय बन्धन और नाराच हो, ऐसा सुसंहत बन्धन वज्रवृषभ नाराच संहनन है। **(सुख बो. त. बृ. ४८१)** जिससे बाँधा जावे उसे वृषभ कहते हैं और जो वज्र के समान अभेद्य अर्थात् जिसका भेद नहीं किया जा सके उसे वज्र कहते हैं। नाराच नाम कीले का है। (जैसे- किवाड़ के कब्जों के बीच लोहे का कीला होता है।) अत: जिस शरीर में वज्र की हड्डियाँ हों, वज्र का वृषभ, वज्र का नाराच हो उसे वज्रवृषभनाराच संहनन कहते हैं। **(गो.क. ३३)**

५४. प्रश्न : किन-किन जीवों के वज्रर्षभनाराच संहनन ही होता है ?

उत्तर : भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्चों के, सयोग केवली के, पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के तथा सातवें नरक में जाने वाले सैनी (मनुष्य-तिर्यञ्च) जीवों के प्रथम वज्रर्षभनाराच संहनन ही होता है। **(गो.क. ३०२, २७१, ३०, ३१)**

चक्रवर्तियों के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। **(ति.प. ४/१३८२)**

नव बलदेवों के, नव नारायणों के, नव प्रतिनारायणों के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। **(ति.पं.४/१३७१)**

चौदह कुलकरों के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। **(हरि. ७/१७३)**

पाँच क्षपकों (८, ९, १०, १२, १३वें) में वज्रर्षभनाराच संहनन ही होता है। **(क.प्र.टी. ८७ अज्ञाताचार्यकृत)**

५५. प्रश्न : वज्रनाराच संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें रचना वज्रवृषभनाराच संहनन के समान हो परन्तु बन्धन वलय से रहित हो, वह वज्रनाराच संहनन है। **(रा.वा. ९)**

जिसके उदय से नाराच (कील) और संहनन (हाहो) तो वज्रमय हों और वृषभ (वेष्टन) सामान्य हो वह वज्रनाराच संहनन है। **(हरि. ५८/२५४)**

जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन तो वज्र की कीलियों से कीलित हों किन्तु ऋषभ-स्नायु वेष्टन न हो वह वज्रनाराचसंहनन है। **(मू. १२३७)** आ. अस्थिबन्ध ही जिस कर्म के उदय से वज्र वृषभ से रहित होता है वह कर्म वज्रनाराच शरीर संहनन नाम से कहा जाता है। **(ध. ६/७३-७४)**

५६. प्रश्न : नाराच संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से हड्डियों का बन्धन वज्र विशेषण से रहित, साधारण नाराच कीलियों से कीलित हो वह नाराच संहनन है। **(मू. १२३७) आ.**

वही वज्राकार बन्धन और वलय बन्धनसे रहित हो पर नाराच युक्त होने पर नाराच-संहनन कहलाता है। **(रा.वा. ९)**

जिसके उदय से दोनों अस्थियाँ वज्राकार नहीं होती हैं, वलय बन्धन भी नहीं होती किन्तु नाराचयुक्त (कील सहित) शरीर होता है वह नाराच संहनन है। **(सुख बो. त. बृ. ४८१)**

५७. प्रश्न : अर्धनाराच संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से शरीर के एक पार्श्व में तो नाराच होता है और एक पार्श्व में नाराच नहीं होता है वह अर्धनाराच संहनन है। **(सुख बो. त. वृ. ४८१)**

वही एक तरफ नाराच युक्त तथा दूसरी तरफ नाराच रहित अवस्था में अर्धनाराच है। **(रा.वा. ९)**

जिस कर्म के उदय से हड्डियों का समूह नाराच से आधा कीलित हो अर्थात् एक तरफ कीलित हो, दूसरी तरफ नहीं, वह अर्धनाराच संहनन चौथा है। **(मू. १२३७) आ.**

५८. प्रश्न : कीलक संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से वज्र रहित हड्डियाँ और कीलें होती हैं वह कीलक शरीर संहनन नाम कर्म है। **(ध. ६/७४)**

जिसके उदय से हड्डियाँ वज्र के वेष्टन से वेष्टित न हों और वज्रनाराच से कीलित भी न हों वह कीलक संहनन पाँचवाँ है। **(मू. १२३७) आ.**

जिसके उदय से शरीर कील युक्त होता है वह कीलक संहनन है। **(सुख बो. त.वृ. ४८१)** जिसमें दोनों हड्डियों के छोरों में कीलें लगी हों वह कीलक संहनन है। **(रा.वा. ९)**

जिसके उदय से वज्र की हड्डियाँ न हों, किन्तु वे (हड्डियाँ) परस्पर नोक व गड्ढे के द्वारा फँसी हुई हों उसे कीलक संहनन कहते हैं। **(गो.क. ३३)**

५९. प्रश्न : असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें भीतर हड्डियों का परस्पर बन्ध न हो, मात्र बाहर से सिरा, स्नायु, मांस आदि लपेट कर संघटित की गयी हों। वह असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन है। **(रा.वा. ९)**

जिसके उदय से अस्थियाँ परस्पर में प्राप्त न होकर सरीसृप के शरीर की तरह सिराओं से बँधी होती है। उसे असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन कहते हैं। **(गो.क. जी. ३३)**

जिस कर्म के उदय से सरीसर्प अर्थात् सर्प की हड्डियों के समान परस्पर में असंप्राप्त और शिराबद्ध

हड्डियाँ होती हैं वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म है। **(ध. ६/७४)** जिस कर्म के उदय से अन्दर हड्डियों में परस्पर में सन्धि न हो और वे बाहर भी सिरा और स्नायु से जुड़ी हुई न हों, हड्डियों के ऐसे बन्धन को असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन कहते हैं। **(मू. १२३७ टी.) आ.**

६०. प्रश्न : किन-किन जीवों के असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन ही होता है ?

उत्तर : लब्ध्यपर्याप्त तिर्यञ्च, लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि जीवों के असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन ही होता है। **(गो.क. २९७, ३०१, ३०७)**

६१. प्रश्न : कहाँ-कहाँ कितने संहनन होते हैं ?

उत्तर : अवसर्पिणी के चौथे काल में ६ संहनन।

अवसर्पिणी के पंचम काल में ३ संहनन। (अन्तिम)

अवसर्पिणी के छठे काल में १ संहनन। (अन्तिम)

सर्वविदेहों में ६ संहनन।

विद्याधर तथा म्लेच्छ तिर्यञ्च मनुष्यों में ६ संहनन।

नागेन्द्र पर्वत से परे तिर्यञ्चों में ६ संहनन।

कर्मभूमिया स्त्रियों के अन्तिम ३ संहनन।

असंख्यात वर्षायुष्क (भोगभूमिया जीवों के प्रथम संहनन।) **(क.प्र.टी. ८८-९० अज्ञात अ.)**

६२. प्रश्न : कौनसे संहनन वाला मरकर कौन-से स्वर्ग में उत्पन्न होता है ?

उत्तर : सृपाटिका संहनन से सहित जीव स्वर्ग में उत्पन्न हों तो सौधर्म युगल से चौथे लान्तवकापिष्ठ स्वर्ग युगल पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

कीलक संहनन वाले इनसे ऊपर दो युगल तक अर्थात् बारहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। नाराच, वज्रनाराच, वज्रर्षभनाराच संहनन वाले मनुष्य नव ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं। वज्रनाराच और वज्रवृषभनाराच संहनन वाले नव अनुदिश विमानों तक जाते हैं। वज्रर्षभनाराच संहनन वाले मनुष्य पंच अनुत्तर विमानों तक उत्पन्न होते हैं। **(गो.क. २९-३०)**

६३. प्रश्न : कौन से संहनन वाला कौन से नरक में जा सकता है ?

उत्तर : छह संहनन वाले सैनी जीव यदि नरक में उत्पन्न हों तो मेघा नामक तीसरे नरक पर्यन्त जा सकते हैं।

सृपाटिका संहनन बिना शेष पाँच संहनन वाले अरिष्टा नामक पंचम पृथ्वी तक जाते हैं। अर्धनाराचादि चार संहनन वाले माघवी नामक छठी पृथ्वी तक जाते हैं।

वज्रर्षभनाराच संहनन वाले माघवी नामक सप्तम पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं। **(गो.क. ३१)**

नोट - कर्मभूमि की स्त्रियों के अन्तिम तीन संहनन होते हैं। आदि के तीन संहनन नहीं होते ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। **(गो.क. ३२)**

६४. प्रश्न : किन-किन जीवों के कौन-कौन सा संहनन होता है ?

उत्तर : विकलचतुष्क (द्वीन्द्रिय से असंज्ञी तक) जीवों में छठा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन होता है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिया जीवों में पहला वज्रऋषभनाराच संहनन होता है। अवसर्पिणी के चौथे काल में छहों संहनन वाले, पंचम काल में अन्तिम तीन संहनन वाले और छठे काल में अन्तिम एक सृपाटिका संहनन वाले जीव होते हैं। सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रों में तथा विद्याधर, म्लेच्छ मनुष्यों में और तिर्यञ्चों में छहों संहनन वाले जीव कहे गये हैं। नागेन्द्र पर्वत से परवर्ती तिर्यञ्चों में भी छहों संहनन कहे गये हैं। कर्मभूमि की महिलाओं के अन्तिम तीन संहननों का उदय होता है, उनके आदि के तीन संहनन नहीं होते, ऐसा जिनेन्द्र देवों ने कहा है। **(क.प्र. ८८-९०)**

मिथ्यात्वादि सात गुणस्थानों में छहों संहनन वाले जीव, अपूर्व आदि उपशम श्रेणी के चार गुणस्थानों में आदि के तीन संहनन वाले जीव और अपूर्वकरण आदि क्षपक श्रेणी के पाँच (८, ९, १०, १२, १३) गुणस्थानों में प्रथम संहनन वाले जीव पाये जाते हैं। **(क.प्र. ८७)**

नोट : देव, नारकी एवं एकेन्द्रियों के संहनन नहीं पाया जाता है। **(गो.क.)**

६५. प्रश्न : स्पर्श नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से शरीर में स्पर्श का प्रादुर्भाव होता है वह स्पर्श नामकर्म है। **(सुख बो. त. वृ. ४८१)** जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुरूप स्पर्श उत्पन्न होता है वह स्पर्श नामकर्म है। **(मू. १२३७) आ.**

जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति प्रतिनियत स्पर्श उत्पन्न होता है, उस कर्म स्कन्ध की कारण में कार्य के उपचार से 'स्पर्श' संज्ञा है। **(ध. ६/५५)**

६६. प्रश्न : स्पर्श नाम कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : स्पर्श नाम कर्म आठ प्रकार का है-

(१) **कर्कश** स्पर्श नामकर्म (२) **मृदु** स्पर्श नामकर्म (३) **गुरु** स्पर्श नामकर्म (४) **लघुक** स्पर्श नाम कर्म (५) **स्निग्ध** स्पर्श नाम कर्म (६) **रूक्ष** स्पर्श नामकर्म (७) **शीत** स्पर्श नामकर्म (८) **उष्ण** स्पर्श नामकर्म।

कर्कश नामकर्म - जिस कर्म स्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल कठोर होते हैं वह कर्कश नामकर्म है।

इसी प्रकार से शेष स्पर्शों का अर्थ कर लेना चाहिए। **(मू. १२३७) आ.**

६७. प्रश्न : यदि स्पर्श नाम कर्म नहीं हो तो क्या होगा ?

उत्तर : यदि स्पर्श नाम कर्म न हो, तो जीव का शरीर अनियत स्पर्श वाला होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, कमल के स्वपुष्प, फल और कमलनाल आदि में नियत स्पर्श पाया जाता है। **(ध. ६/५६)**

इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी उत्पल, कमल आदि में प्रतिनियत स्पर्श देखा जाता है। **(मू. १२३७) आ.**

६८. प्रश्न : रस नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के प्रतिनियत तिक्त आदि रस उत्पन्न हों, उस कर्म स्कन्ध की रस यह संज्ञा है। **(मू. १२३७ आ.)** जिसके उदय में शरीर में रस उत्पन्न होता है वह रस नाम कर्म है। **(सुख बो. त. वृ. ४८१)**

६९. प्रश्न : रस नाम कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : रस नाम कर्म पाँच प्रकार का होता है-

(१) **तिक्त** रस नाम कर्म (२) **कटुक** रस नाम कर्म (३) **कषाय** रस नामकर्म (४) **अम्ल** रस नाम कर्म (५) **मधुर** रस नामकर्म।

तिक्तरस - जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल परमाणु तिक्तरस स्वरूप परिणत हो जावें वह तिक्त रस नाम कर्म है।

इसी तरह शेष रसों का भी अर्थ कर लेना चाहिए। **(मू. १२३७) आ.**

७०. प्रश्न : रस नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : इस (रस नाम कर्म) के अभाव में जाति के अनुरूप निश्चित रस नहीं हो सकेगा। किन्तु नीम आदि में प्रतिनियत रस पाया जाता है। **(मू. १२३७) आ.**

इस कर्म के अभाव में जीव के शरीर में जाति-प्रतिनियत रस नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि नीम, आम और नीबू आदि में नियत रस पाया जाता है। **(ध. ६/५५)**

७१. प्रश्न : गन्ध नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के प्रतिनियत गन्ध उत्पन्न होता है, उस कर्मस्कन्ध की 'गन्ध' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से की गई है। **(ध. ६/५५)**

जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुसार गन्ध उत्पन्न होती है उसकी संज्ञा गंध है। **(मू. १२३७) आ.**

जिस कर्म के उदय से शरीर में गन्ध उत्पन्न होती है। **(हरि. पु. ५८/२५९)**

७२. प्रश्न : गन्ध नामकर्म कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : गन्ध के दो भेद हैं-

(१) सुरभि गन्ध (२) असुरभि गन्ध। **(मू. १२३७) आ.** (१) सुगंध नाम कर्म (२) दुर्गन्ध नाम कर्म। **(हरि. पु. ५८/२५९)**

(१) सुरभि गन्ध (२) दुरभि गन्ध। **(ध. १३/३७०)**

सुरभिगन्ध - जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल परमाणु सुरभि-गन्ध से युक्त हों वह सुरभिगन्ध नामकर्म है।

असुरभिगन्ध - जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल दुर्गन्धित हो जाएँ वह असुरभिगन्ध है। **(मू. १२३७) आ.**

७३. प्रश्न : गन्ध नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि गन्ध नामकर्म न हो तो जीव के शरीर की गन्ध अनियत हो जायेगी, लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि हाथी और बाघ आदि में नियत गन्ध पाई जाती है। **(ध. पु. ६/५५)**

इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि हाथी, बकरी आदि के शरीर में उस जाति के अनुरूप गन्ध पाई जाती है। **(मू. १२३७) आ.**

७४. प्रश्न : वर्ण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से शरीर में वर्ण उत्पन्न होता है वह वर्ण नामकर्म है। **(मू. १२३७)आ.**

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में वर्ण की उत्पत्ति होती है उस कर्मस्कन्ध की 'वर्ण' संज्ञा है। **(ध. ६/५५)**

७५. प्रश्न : वर्ण नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : वर्ण नामकर्म पाँच प्रकार का होता है-

कृष्ण वर्ण नाम कर्म, नील वर्ण नाम कर्म, रुधिर वर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नाम-कर्म तथा शुक्ल वर्ण नाम कर्म। **(मू. १२३७) आ.**

कृष्ण वर्ण - जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गलों को कृष्णता प्राप्त होती है, वह कृष्ण वर्ण नामकर्म है। इसी प्रकार नीलादि वर्णों को जानना चाहिए। **(मू. १२३७) आ.**

७६. प्रश्न : वर्ण नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि वर्ण नामकर्म नहीं होगा तो शरीर वर्णशून्य हो जायेगा। **(मू. १२३७) आ.** इस कर्म के अभाव में अनियत वर्ण वाला शरीर हो जाएगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता क्योंकि भौंरा, कोयल, हंस और बगुला आदि में निश्चित वर्ण पाये जाते हैं। परन्तु जो कार्य निर्हेतुक होता है, उसमें कोई नियम नहीं होता है, क्योंकि निर्हेतुक कार्य में नियम के मानने में विरोध है। **(ध. ६/५५)**

७७. प्रश्न : स्पर्शादि गुण अचेतन के हैं, वे चेतन के कैसे हो सकते हैं?

उत्तर : यद्यपि ये स्पर्शादि गुण पुद्गल के स्वभाव हैं तथापि जीव के शरीर में इनका प्रादुर्भाव कर्मोदयकृत है। इस प्रकार स्पर्शादि नामकर्म के उदय से उस-उस जाति के स्पर्श, रस आदि होते हैं। **(रा.वा. १०)**

७८. प्रश्न : शरीर अचेतन है उसमें कर्मोदय का अभाव होने से स्पर्शादि कैसे होंगे?

उत्तर : अणु और स्कन्ध रूप पुद्गलों में जो स्पर्शादिक होते हैं वे उन्हीं के स्वभाव रूप होते हैं, वे पुद्गल के स्पर्शादि विभाव रूप नहीं हैं न कर्मकृत हैं, पुद्गल में तो कर्मोदय का अभाव ही है। **(सुख.बो.त.वृ. ४८२)**

७९. प्रश्न : आनुपूर्वी नाम कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर : पूर्वायु के नाश हो जाने पर, पूर्व के निर्माण नामकर्म की निवृत्ति होने पर विग्रह गति में जिसके उदय से पूर्व के तैजस-कार्मण शरीर का विनाश न हो उसे आनु पूर्वी नामकर्म कहते हैं। **(हरि.पु. ५८/२६१ आधार से)**

पूर्व और उत्तर शरीर के अन्तराल में एक, दो अथवा तीन समय तक होने वाला जो जीव के प्रदेशों का आकार विशेष जिस कर्मस्कन्ध के उदय से होता है उसका नाम आनुपूर्वी है। **(मू. १२३७) आ.**

जिसने पूर्व शरीर को छोड़ दिया है, किन्तु उत्तर शरीर को ग्रहण नहीं किया है, जो आठ कर्मस्कन्धों के साथ एक रूप हो रहा है, और जो हंस के समान धवलवर्ण वाले विस्रसोपचयों से उपचित पाँच वर्ण वाले कर्मस्कन्धों से संयुक्त हैं, ऐसे जीव के विशिष्ट मुखाकार रूप से जीव प्रदेशों का जो परिपाटी क्रमानुसार परिणमन होता है उसे आनुपूर्वी कहते हैं। **(ध. १३/३७१)**

विशेष : जीव प्रदेशों के विशिष्ठ संस्थान को मुख कहते हैं। **(ध. १३/३७१)**

८०. प्रश्न : आनुपूर्वी नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : आनुपूर्वी नामकर्म चार प्रकार का है-

(१) नरक-गत्यानुपूर्वी (२) तिर्यक्गत्यानुपूर्वी (३) मनुष्य-गत्यानुपूर्वी (४) देव-गत्यानुपूर्वी। **(रा.वा. ११)**

(१) नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी (२) तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी (३) मनुष्य गतिप्रायोग्यानुपूर्वी (४) देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी। **(मू. १२३७ आ.)**

८१. प्रश्न : नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से नरक गति को गये हुए और विग्रहगति में वर्तमान जीव के नरकगति के योग्य संस्थान होता है, वह नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म है। **(ध. ६/७६)** जिस कर्म स्कन्ध के उदय से मनुष्य अथवा तिर्यञ्च अपनी आयु पूर्ण करके पूर्व शरीर को छोड़कर नरकगति के अभिमुख होता है उस समय विग्रहगति में उदय तो नरक गत्यानुपूर्वी का होता है परन्तु उस समय आत्मा का आकार पूर्व शरीर के अनुसार मनुष्य वा तिर्यञ्च का बना रहता है वह नरक गत्यानुपूर्वी नामकर्म है। **(रा.वा. ११)**

८२. प्रश्न : नरकगत्यानुपूर्वी कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म की प्रकृतियाँ अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र तिर्यक् प्रतर रूप बाहुल्य को श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी है, उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं। **(ध. १३/३७१)**

नोट : इसी प्रकार तिर्यग्गत्यानुपूर्वी आदि के लक्षण जानने चाहिए।

८३. प्रश्न : तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म की प्रकृतियाँ लोक को जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों के भेदों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी है। उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं। **(ध. १३/३७५-३७६)**

८४. प्रश्न : देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम कर्म की प्रकृतियाँ नौ सौ योजन बाहल्य रूप तिर्यक् प्रतरों को जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी है। उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं। **(ध. १३/३८३)**

८५. प्रश्न : मनुष्य गत्यानुपूर्वी नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम कर्म की प्रकृतियाँ ऊर्ध्वकपाट छेदने से निष्पन्न पैंतालीस लाख योजन बाहल्य वाले तिर्यक् प्रतरों को जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी है। इसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं। **(ध. १३/३७७)**

८६. प्रश्न : संस्थान-विशेष से आकार-विशेष उत्पन्न होता है अत: आनुपूर्वी की कल्पना व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि शरीर ग्रहण के प्रथम समय से ऊपर उदय में आने वाले उस संस्थान नाम कर्म का विग्रहगति के काल में उदय का अभाव पाया जाता है। **(ध. ६/५६)**

८७. प्रश्न : विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बना रहना तो निर्माण नाम कर्म का फल है आनुपूर्वी के उदयकृत पूर्व आकार नहीं है ?

उत्तर : विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बने रहना निर्माण नामकर्म का कार्य नहीं है, क्योंकि पूर्व शरीर के नष्ट होते ही निर्माण नाम कर्म का उदय समाप्त हो जाता है। उसके नष्ट होने पर आठ कर्म के पिण्ड रूप कार्मण और तैजस शरीर के सम्बद्ध रहने वाले आत्मप्रदेशों का आकार विग्रहगति में पूर्व शरीर के आकार रूप बना रहता है। उसका कारण आनुपूर्वी का उदय है, निर्माण नाम कर्म का नहीं। **(रा.वा.११)**

८८. प्रश्न : आनुपूर्वी नामकर्म का उदय कहाँ और कितने समय तक रहता है ?

उत्तर : आनुपूर्वी नामकर्म का उदय विग्रहगति में ही होता है। इसका उदय अधिक-से-अधिक तीन समय एवं जघन्य से एक समय है। ऋजुगति में पूर्व शरीर के आकार का विनाश होने पर शीघ्र ही उत्तर शरीर के योग्य पुद्गलों का जो ग्रहण होता है वह निर्माण नाम कर्म के उदय का व्यापार है। **(रा.वा. ११)**

८९. प्रश्न : आनुपूर्वी नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि यह आनुपूर्वी नामकर्म नहीं हो तो विग्रहगति के काल में जीव अनियत संस्थान वाला हो जायेगा किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जाति प्रतिनियत संस्थान विग्रहकाल में पाया जाता है। **(ध.६/५६)**

इस कर्म का अभाव नहीं हो सकता है क्योंकि विग्रहगति में उस अवस्था के लिए निश्चित आकार उपलब्ध होता है और उत्तर शरीर ग्रहण करने के प्रति गमन की उपलब्धि भी पाई जाती है। **(मू. १२३७) आ.**

९०. प्रश्न : अगुरुलघु नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्मस्कन्ध के उदय से यह जीव अनन्तानन्त पुद्गलों से पूर्ण होकर भी लोहपिण्ड के समान गुरु होकर न तो नीचे ही गिर जाता है और न रुई के समान हल्का होकर ऊपर ही चला जाता है, वह अगुरुलघु नामकर्म है। **(मू. १२३७) आ.**

९१. प्रश्न : अगुरुलघु नामका गुण सर्व जीवों में पारिणामिक है क्योंकि अशेष कर्मों से रहित सिद्धों में भी पाया जाता है। इसलिए अगुरुलघु नामकर्म का कोई फल न होने से उसका अभाव मानना चाहिए ?

उत्तर : यहाँ उक्त शंका का परिहार करते हैं- यह उपर्युक्त दोष तब प्राप्त होता, यदि अगुरुलघु नामकर्म जीवविपाकी होता। किन्तु यह कर्म पुद्गल विपाकी है। क्योंकि गुरु स्पर्श वाली अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा आरब्ध शरीर के अगुरुलघुता उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो गुरु भार वाले शरीर से संयुक्त यह जीव उठने के लिए भी समर्थ नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि शरीर के केवल हल्कापन और केवलभारीपन पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/११४)**

९२. प्रश्न : धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में अगुरुलघुत्व कैसे होता है ?

उत्तर : धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्यों में अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व के कारण अगुरुलघुत्व है, नाम कर्म की अपेक्षा नहीं। अनादिकालीन कर्मबन्धन बद्ध जीवों में कर्मोदय कृत अगुरुलघुत्व है और कर्मबन्धन रहित मुक्त जीवों में स्वाभाविक अगुरुलघुत्व है। **(रा.वा. १२)**

९३. प्रश्न : अगुरुलघुत्व तो जीव का स्वाभाविक गुण है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि संसार अवस्था में कर्म-परतन्त्र जीव में उस स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का अभाव है। यदि कहा जाय कि स्वभाव का विनाश मानने पर जीव का विनाश प्राप्त होता है, क्योंकि, लक्षण के विनाश होने पर लक्ष्य का विनाश होता है, ऐसा न्याय है सो यह बात भी नहीं है अर्थात् अगुरुलघु नामकर्म के विनाश हो जाने पर भी जीव का विनाश नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शन को छोड़कर अगुरुलघुत्व जीव का लक्षण नहीं है, चूंकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ जीव का अगुरुलघुत्व कर्म के द्वारा नहीं किया जाता है, किन्तु जीव में भरा हुआ जो पुद्गल स्कन्ध है, वह जिस कर्म के उदय से जीव के भारी या हल्का नहीं होता है, वह अगुरुलघु कर्म यहाँ विवक्षित है। अतएव यहाँ पर जीव-विषयक अगुरुलघुत्व का ग्रहण नहीं करना चाहिए। **(ध. ६/५८)**

९४. प्रश्न : अगुरुलघु नाम कर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि जीव के अगुरुलघु नामकर्म न हो तो या तो जीव लोहे के गोले के समान भारी हो जायेगा अथवा आक के तूल के समान हल्का हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। **(ध. पु. ६/५८)**

९५. प्रश्न : उपघात नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्वयं प्राप्त होने वाले घात को उपघात-आत्मघात कहते हैं। जो कर्म अवयवों को जीव की पीड़ा का कारण बना देता है, अथवा जीव पीड़ा के कारण स्वरूप विष, खड्ग, पाश आदि द्रव्यों को जीव के लिए ढोता है वह उपघात नाम कर्म है। **(ध. ६/५९)** पास आकर घात होना उपघात है। जिस कर्म के उदय से अपने द्वारा ही किये गये गलपाश आदि बन्धन और पर्वत से गिरना आदि निमित्तों से अपना घात हो जाता है वह उपघात नाम कर्म है। **अथवा** जो कर्म जीव के अपने ही पीड़ा में कारण-भूत बड़े-बड़े सींग, उदर आदि अवयवों को रचता है वह उपघात है। **(मू. १२३७) आ.**

''उपेत्य घात: उपघात:'' अपने घात का नाम उपघात है। जिसके उदय से अपने अंगों से अपना ही घात हो उसे उपघात नामकर्म कहते हैं। जैसे बड़े सींग आदि। **(गो.क. ३३)** जिसके उदय से उद्बन्धन और मरुस्थल में गिरना, वायु से गिरना आदि निमित्तक उपघात होता है वह उपघात नामकर्म है। **(सर्वा. ७५५)** जो विष सेवन कर, अग्नि में जलकर मर जाते हैं या ऐसे शरीर के अवयव जिनसे अपना घात होता है वे सब उपघात नामकर्म के विपाक हैं।[१] **(रावा. १३)**

१. जिसके उदय से अपने आपका नाश करने वाले अंगोपांग हों, जैसे-हिरण के नाभ्यण्डक (नाभि में)।

९६. प्रश्न : जीव को पीड़ा करने वाले अवयव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : महाशृंग, लम्बे स्तन, विशाल तोंद वाला पेट आदि जीव को पीड़ा करने वाले अवयव हैं। **(ध. ६/५९)**

९७. प्रश्न : जीव के दु:ख उत्पन्न करने में असाता वेदनीय कर्म का व्यापार होता है ?

उत्तर : जीव के दु:ख उत्पन्न करने में असातावेदनीय कर्म का व्यापार रहा आवे, किन्तु उपघात कर्म भी उस असातावेदनीय का सहकारी कारण होता है, क्योंकि उसके उदय के निमित्त से दु:खकर पुद्गल द्रव्य का सम्पादन होता है। **(ध. ६/५९)**

९८. प्रश्न : यदि उपघात नाम कर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि उपघात नामकर्म जीव के न हो, तो वात, पित्त और कफ से दूषित शरीर से जीव के पीड़ा नहीं होनी चाहिए। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/५९)**

९९. प्रश्न : परघात नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर जीवों के घात को परघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में पर को घात करने कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं, वह परघात नामकर्म कहलाता है। **(ध. ६/५९)**

परजीवों का घात परघात है। जिस कर्म के उदय से पर के घात के लिए कारण साँप की दाढ़ और बिच्छू की पूँछ आदि रूप से उत्पन्न हुए शरीर के पुद्गल होते हैं। **अथवा,** पर शस्त्र आदि के द्वारा जो आघात होता है वह परघात नामकर्म है। **(मू. १२३७ आ.)** जिसके निमित्त से परकृत शस्त्रादि के द्वारा घात होता है वह परघात नामकर्म है। 'पर' शब्द अन्य का पर्यायवाची है। जिस कर्म के उदय से फलक, कवच आदि आवरण का सन्निधान होने पर भी पर प्रयुक्त शस्त्र आदि के द्वारा घात होता है, पर के मारण-ताड़न आदि होते हैं वह परघात नामकर्म है। **(रा.वा. १४)**

जिसके उदय से अन्य का घात करने योग्य अंग हैं उसे परघात नामकर्म कहते हें जैसे- तीक्ष्ण सींग आदि। **(गो.क.जी. ३३)**

जिसके उदय से अन्य शस्त्रादि का निमित्त पाकर व्याघात होता है वह परघात नामकर्म है। **(सर्वा. ७५५)**

१००.प्रश्न : परघात के कारण क्या-क्या हैं ?

उत्तर : साँप की दाढ़ों में विष, बिच्छू की पूंछ में विष, परदु:ख के कारणभूत पुद्गलों का संचय, सिंह, व्याघ्र और छल्ल (शबल-चीता) आदि में (तीक्ष्ण) नख और दन्त तथा सिंगी, वत्स्यनाभि और धतूर आदि विषैले वृक्ष पर को दु:ख उत्पन्न करने वाले हैं। **(ध. ६/५९)**

तीक्ष्ण सींग, नख, सर्पादि की दाढ़ में विष आदि परघात के कारण हैं। **(गो.क. ३३)**

१०१.प्रश्न : आतप नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सब तरफ से तपना आतप है। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव का शरीरआतप रूप होता है अर्थात् उसमें अन्य को संतप्त करने वाला प्रकाश उत्पन्न होता है वह आतप नामकर्म है। **(मू. १२३७) आ.**

जिसके उदय से आतपन होता है, वह आतप नामकर्म है। **अथवा** जिसके उदय से आत्मा तपती है, जो सूर्य आदि में ताप का निर्वर्तक है वह आतप नामकर्म है। **(रा.वा. १५)**

उष्णता सहित प्रकाश को आतप कहते हैं।[१] **(ध. ६/६०)**

जिसके उदय से सूर्य के समान भारी आतपकारी शरीर हो वह आतप नामकर्म है। **(हरि. पु. ५८/२६४)**

१०२.प्रश्न : उष्णता सहित प्रकाश को आतप कहेंगे तो तेजस्कायिक जीवों में भी आतप नामकर्म होगा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि तेजस्कायिक नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई उसकी अग्नि की उष्ण प्रभा में सकल प्रभाओं की अविनाभावी उष्णता का अभाव होने से उसका आतप के साथ समानता का अभाव है। **(ध. ६/६०)**

१०३.प्रश्न : यदि आतप नामकर्म न हो तो क्या होगा ?

उत्तर : यदि आतप नामकर्म न हो तो पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर रूप सूर्य-मण्डल में आतप का अभाव हो जाय। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/६०)**

इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूर्य के विमान आदिकों में होने वाले पृथिवीकायिकों में ऐसा तापकारी प्रकाश दीखता है। **(मू. १२३७) आ.**

१०४.प्रश्न : आतप नामकर्म किन-किनके होता है ?

उत्तर : आतप नामकर्म का उदय सूर्य के बिम्ब में उत्पन्न होने वाले बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त जीवों के होता है (अथवा सूर्यकान्तमणि में भी होता है) **(गो.क. ३३)**

आतप नाम कर्म का उदय सूर्य के विमान में जो बादर पर्याप्त जीव पृथ्वीकायिक मणिस्वरूप होते हैं उन्हीं के होता है, अन्य के नहीं। **(हरि. पु. ५८/२६४)**

१०५.प्रश्न : उद्योत नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : उद्योतित होना चमकना उद्योत है। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में उद्योत

---

१. जिसके उदय से औरों को संताप देने वाला शरीर हो उसे आतप नाम कर्म कहते हैं।

ठण्डा प्रकाश उत्पन्न होता है वह उद्योत नामकर्म है।[१] **(मू. १२३८) आ.** जिसके द्वारा प्रकाशित किया जाता है, अथवा प्रकाश मात्र को उद्योत कहते हैं, प्रकाश का जो निमित्त है वह उद्योत नामकर्म है। **(सुख बो. त.वृ. ४८३)**

१०६.प्रश्न : उद्योत नामकर्म का उदय किस-किसके होता है ?

उत्तर : उद्योत नामकर्म का उदय चन्द्र के विमान में स्थित पृथ्वीकाय, एकेन्द्रिय जुगनू आदि तिर्यञ्चों में होता है। **(रा.वा. १६)**

१०७.प्रश्न : उद्योत नामकर्म का उदय नहीं हो तो क्या होगा ?

उत्तर : यदि उद्योत नामकर्म का उदय नहीं हो तो चन्द्र, नक्षत्र, तारा और खद्योत (जुगनू) आदि के शरीर में उद्योत (प्रकाश) नहीं होगा किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता। **(ध. ६/६०)**

इसका भी अभाव नहीं कह सकते क्योंकि चन्द्रमा और नक्षत्रों के विमानों में होने वाले पृथिवीकायिक जीवों के शरीर में तथा जुगनू आदि के शरीरों में उद्योत देखा जाता है। **(मू. १२३७) आ.**

१०८.प्रश्न : अग्नि, आतप और उद्योत में क्या अन्तर है ?

उत्तर : आग के मूल और प्रभा दोनों ही उष्ण रहते हैं। (अत: उसके उष्ण स्पर्श नाम कर्म का उदय है) जिसकी प्रभा अर्थात् किरणों में उष्णपना हो उसको आतप कहते हैं तथा जिसकी प्रभा भी उष्णता रहित हो उसके उद्योत नामकर्म का उदय जानना। **(गो.क. ३३)**

१०९.प्रश्न : उच्छ्वास नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : उच्छ्वसित होना उच्छ्वास है। जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास और नि:श्वास कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उच्छ्वास नि:श्वास नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.** जो उच्छ्वास प्राणापान का कारण होता है, वा जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास होता है, वह उच्छ्वास नामकर्म है। **(रा.वा. १७)**

सांस लेने को उच्छ्वास कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास और नि:श्वास रूप कार्य के उत्पादन में समर्थ होता है, उस कर्म की 'उच्छ्वास' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से है। **(ध. ६/६०)**

११०.प्रश्न : यदि उच्छ्वास नामकर्म नहीं होगा तो क्या होगा ?

उत्तर : यदि उच्छ्वास नामकर्म नहीं होगा तो जीव श्वास रहित हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि संसार में उच्छ्वास से रहित जीव पाये नहीं जाते हैं। **(ध. ६/६०)**

---

१. जिसके उदय से उजाला करने वाला शरीर हो वह उद्योत नामकर्म है।

१११.प्रश्न : विहायोगति नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : विहाय का अर्थ आकाश होता है और आकाश में गमन का कारण विहायोगति नामकर्म है। **(रा.वा. १८)**

आकाश में जो गति है वह विहायोगति है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से जीव का आकाश में गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है। **(मू. १२३७)**

११२.प्रश्न : विहायोगति नामकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : विहायोगति नामकर्म दो प्रकार का है-

(१) प्रशस्त विहायोगति (२) अप्रशस्त विहायोगति।

प्रशस्तविहायोगति - जिस कर्म के उदय से सिंह, हाथी, हंस, बैल आदि के समान प्रशस्त गमन होता है वह प्रशस्त विहायोगति नामकर्म है।

अप्रशस्त विहायोगति - गधा, ऊँट, (सियार, कुत्ता) आदि की अप्रशस्त गति में जो कर्म कारण है वह अप्रशस्त विहायोगति है। **(रा.वा. १८)**

११३.प्रश्न : क्या विहायोगति का उदय पक्षियों में ही होता है ?

उत्तर : विहायोगति का उदय आकाशगामी पक्षियों में ही नहीं है अपितु सभी प्राणियों में विहायोगति है क्योंकि अवगाहन शक्ति के योग से सभी की आकाश में ही गति होती है। **(रा.वा. १८)**

११४.प्रश्न : विहायोगति नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : इस कर्म का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि एक वितस्ति मात्र पैर में स्थित जीव के प्रदेशों से भूमि का अवगाहन करके सम्पूर्ण जीव प्रदेशों का आकाश में गमन देखा जाता है। **(मू. १२३८ आ.)**

मनुष्य-तिर्यञ्चों का भूमि पर गमन भी विहायोगति नामकर्म के उदय से ही होता है। क्योंकि वितस्ति मात्र पाँव वाले जीव-प्रदेशों के द्वारा भूमि को व्याप्त करके जीव के समस्त प्रदेशों का आकाश में गमन पाया जाता है। **(ध. ६/६१)**

११५.प्रश्न : प्रत्येक शरीर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक आत्मा के उपभोग के कारण शरीर को प्रत्येक शरीर कहते हैं। एक आत्मा के प्रति प्रत्येक है 'प्रत्येक शरीरं' प्रत्येक शरीर। शरीर नामकर्म के उदय से रचित शरीर जिस कर्म के उदय से एक ही आत्मा के उपभोग का कारण हो अर्थात् जिसका स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। **(रा.वा. १९)** शरीर नामकर्म के उदय से रचा हुआ और एक आत्मा के लिए उपभोग का कारण शरीर

जिस कर्म के उदय से होता है वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.** जिस कर्म के उदय से जीव प्रत्येकशरीरी होता है, उस कर्म की 'प्रत्येक शरीर' यह संज्ञा है। **(ध. ६/६२)**

११६.प्रश्न : यदि प्रत्येक शरीर नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि प्रत्येक शरीर नामकर्म न हो, तो एक शरीर में एक जीव का ही उपलम्भ नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि प्रत्येकशरीरी जीवों का सद्भाव बाधारहित पाया जाता है। **(ध. ६/६२)**

११७.प्रश्न : साधारण शरीर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से एक ही शरीर बहुत सी आत्माओं के उपभोग का कारण होता है वा एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है। **(रा.वा. २०)** अनेक आत्माओं के लिए उपभोग हेतुक शरीर जिससे होता है वह साधारण शरीर नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

जिस कर्म के उदय से जीव साधारण शरीरी होता है उस कर्म की साधारण शरीर यह संज्ञा है। **(ध. ६/६३)**

११८.प्रश्न : साधारण शरीर नामकर्म के उदय से जीव कैसा होता है ?

उत्तर : साधारण जीवों के साधारण आहार आदि चार पर्याप्तियाँ होती हैं और उनका जन्म-मरण, श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि सभी होते हैं। जब एक जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति होती है उस समय उसके साथ अनन्तानन्त जीवों की आहारादि पर्याप्तियों की निर्वृत्ति हो जाती है। जब एक जीव जन्मता है तो उसके साथ अनन्तानन्त जीवों का जन्म होता है। जब एक जीव का मरण होता है तब उसके साथ अनन्तानन्त जीवों का मरण होता है। जिस समय एक जीव श्वास ग्रहण करता है या छोड़ता है उसी समय अनन्तानन्त प्राणी श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं। जब एक जीव आहारादि का अनुग्रह करता है, आहार ग्रहण करता है तो उस समय एक साथ अनन्तानन्त जीव आहारादि ग्रहण करते हैं, जिस समय एक जीव का अग्नि-विषादि के द्वारा उपघात होता है उसी समय अनन्तानन्त जीवों का उपघात होता है। **(रा.वा. २०)**

११९.प्रश्न : यदि साधारण शरीर नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि साधारण शरीर नामकर्म न हो, तो सभी जीव प्रत्येकशरीरी हो जावेंगे। ऐसा है नहीं क्योंकि प्रतिपक्षी के अभाव में विवक्षित जीव के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। **(ध. ६/६३)**

१२०.प्रश्न : त्रस नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीवों के त्रसपना होता है, उस कर्म की त्रस यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से है। **(ध. ६/६१)**

जिस कर्म के उदय से जीव त्रसों में उत्पन्न होता है वह त्रस नामकर्म है। **(मू. १२३८ आ.)**

जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय आदि जंगम जीवों में जन्म लेता है, वह त्रस नाम कर्म है। **(रा.वा.२१)** जिस कर्म के उदय से जीवों के गमनागमन भाव होता है वह त्रस नामकर्म है। **(ध. १३/३६५)**

१२१.प्रश्न : त्रस नामकर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि त्रस नामकर्म न हो, तो द्वीन्द्रिय आदि जीवों का अभाव हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि द्वीन्द्रिय आदि जीवों का सद्भाव पाया जाता है। **(ध. ६/६१)**

१२२.प्रश्न : स्थावर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप पंच स्थावर एकेन्द्रियों में जन्म लेता है, पाँच स्थावर काय में उत्पन्न होता है वह स्थावर नामकर्म है। **(रा.वा. २२)**

जिस कर्म के उदय से जीव स्थावरपने को प्राप्त होता है, उस कर्म की स्थावर यह संज्ञा है। **(ध. ६/६१)**

१२३.प्रश्न : स्थावर नामकर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि स्थावर नाम कर्म न हो, तो स्थावर जीवों का अभाव हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि स्थावर जीवों का सद्भाव पाया जाता है। **(ध. ६/६१)**

१२४.प्रश्न : स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर और एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं तो स्थावर व एकेन्द्रिय में क्या भेद है?

उत्तर : एकेन्द्रिय नामकर्म में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति भेद नहीं हैं। इनमें एकेन्द्रिय नाम कर्म इन्द्रिय की मुख्यता रखता है। जिस जीव के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होगी वह एकेन्द्रिय जीव कहलाएगा किन्तु स्थावर नामकर्म काय की मुख्यता रखता है। एकेन्द्रिय होकर भी वह जीव पृथ्वी आदि में से किस काय को धारण करेगा यह स्थावर नामकर्म का कार्य है। **(ध.पु. ६/६७)**

१२५.प्रश्न : सुभग नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से स्त्री और पुरुष में परस्पर प्रीति से उत्पन्न हुआ सौभाग्य होता है वह सुभग नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

रूपवान हो या कुरूप हो, जिस कर्म के उदय से अन्य प्राणी उसमें प्रीति करते हैं, जो सबको प्यारा लगता है वह सुभग नाम कर्म है। **(रा.वा. २३)**

स्त्री और पुरुष के सौभाग्य को उत्पन्न करने वाला सुभग नामकर्म है। **(ध. ६/६५)**

१२६.प्रश्न : दुर्भग नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : रूपादि गुणों से सहित होते हुए भी लोगों को जिसके उदय से अप्रीतिकर प्रतीत होता है उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं। **(मू. १२३८ आ.)**

रूपवान, सौन्दर्यवान होते हुए भी जिस कर्म के उदय से दूसरों को प्यारा न लगे, दूसरे उससे प्रीति न करे, किन्तु जो दूसरों की अप्रीति का कारण होता है, अप्रीतिकर प्रतीत होता है, वह दुर्भग नामकर्म है। **(रा.वा. २४)**

स्त्री-पुरुष के दौर्भाग्य को उत्पन्न करने वाला दुर्भग नामकर्म है। **(ध. ६/६५)**

१२७.प्रश्न : सुस्वर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अन्य जनों को मोहित करने वाले मनोज्ञ स्वर हों, जिसका स्वर सबको कर्णप्रिय हो, वह सुस्वर नामकर्म है। **(रा.वा. २५)**

जिस कर्म के उदय से कानों को प्यारा लगने वाला स्वर होता है वह सुस्वर नामकर्म है। **(ध. १३/३६६)** सुस्वर नाम मधुर नाद का है। जिस कर्म के उदय से जीवों का मधुर स्वर होता है, वह कर्म सुस्वर कहलाता है। **(ध. ६/६५)**

जिसके उदय से स्वर शोभन-मधुर और मनोज्ञ होता है वह सुस्वर नाम कर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

१२८.प्रश्न : दु:स्वर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से अमनोज्ञ स्वर होता है वह दु:स्वर नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.** अमधुरस्वर को दु:स्वर कहते हैं जैसे- गधा, ऊँट और सियार आदि जीवों का स्वर दु:स्वर होता है। **(ध. ६/६५)**

जिसके उदय से जीव के बुरा स्वर उत्पन्न होता है वह दु:स्वर नामकर्म कहलाता है। **(ध. ६/६५)** जिसके उदय से कर्कश, अमनोज्ञ, कर्णकटु स्वर की प्राप्ति हो, वह दु:स्वर नामकर्म है। **(रा.वा. २६)**

१२९.प्रश्न : शुभ नामकर्म किसे कहते हैं।

उत्तर : जिसके उदय से अंगोपांग-नामकर्म से उत्पन्न हुए अंगों और उपांगों में रमणीयता आती है वह शुभ नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

जिसके उदय से देखने या सुनने पर प्राणी रमणीय प्रतीत हो, वह शुभ नामकर्म है। **(रा.वा. २७)** जिस कर्म के उदय से चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व और वासुदेवत्व आदि ऋद्धियों के सूचक शंख, अंकुश और कमल आदि चिह्न अंग-प्रत्यंगों में उत्पन्न होते हैं वह शुभ नामकर्म है। **(ध. १३/३६५)**

१३०.प्रश्न : अशुभ नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : शुभ से विपरीत अशुभ नामकर्म है। देखने व सुनने वाले को रमणीय प्रतीत नहीं होता है, वह अशुभ नामकर्म है। **(रा.वा. २८)**

जिस कर्म के उदय से अशुभ लक्षण उत्पन्न होते हैं वह अशुभ नामकर्म है। **(ध. १३/३६५)** अंगों और उपांगों में अशुभता को उत्पन्न करने वाला अशुभ नामकर्म है। **(ध. ६/६४-६५)** जिसके उदय से अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न अंगों और उपांगों में रमणीयता नहीं होती है वह अशुभ नामकर्म है। **(मू. १२३८ आ.)**

१३१.प्रश्न : सूक्ष्म नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीव सूक्ष्मता को प्राप्त होता है उस कर्म की सूक्ष्म यह संज्ञा है। **(ध. ६/६२)** जिस कर्म के उदय से जीव सूक्ष्मों में उत्पन्न होता है वह सूक्ष्म नामकर्म है। **(मू. १२३८ आ.)** सूक्ष्म शरीर की रचना का कर्त्ता सूक्ष्म नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है वह सूक्ष्म नामकर्म है। **(रा.वा. २९)**

जो किसी से रुकता नहीं है और किसी को रोकता नहीं है, जिसका किसी के द्वारा घात नहीं होता, वह सूक्ष्म नामकर्म है। **(रा.वा. ३०)**

जिन जीवों का पृथ्वी से, जल से, आग से और वायु से प्रतिघात नहीं होता, उन्हें सूक्ष्मकायिक जानो। **(का.अ. १२७)**

आधार की अपेक्षा रहित जिनका शरीर है वे सूक्ष्म जीव हैं। जिनकी गति का जल, स्थल आधारों के द्वारा प्रतिघात नहीं होता है और अत्यन्त सूक्ष्म परिणमन के कारण वे जीव सूक्ष्म कहे हैं।

१३२.प्रश्न : सूक्ष्म जीवों का शरीर सूक्ष्म होने से ही अन्य मूर्त्त द्रव्यों के द्वारा आघात को प्राप्त नहीं होता है, इसलिए मूर्त द्रव्यों के साथ प्रतिघात का नहीं होना सूक्ष्म नामकर्म के उदय से नहीं मानना चाहिए ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त्त पदार्थों के द्वारा आघात को नहीं प्राप्त होने से सूक्ष्म संज्ञा को प्राप्त होने वाले सूक्ष्म शरीर से असंख्यातगुणी हीन अवगाहना वाले और बादर नामकर्म के उदय से बादर संज्ञा को प्राप्त होने वाले बादर शरीर की सूक्ष्मता के प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त्त पदार्थों से प्रतिघात नहीं होगा, ऐसी आपत्ति आयेगी। **(ध. १/२५३)**

१३३.प्रश्न : बादर जीवों से सूक्ष्म जीवों की अवगाहना अधिक भी है अत: वे प्रतिघात रहित कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : यद्यपि बादर अपर्याप्त वायुकायिकादि जीवों की अवगाहना स्तोक है और इससे लेकर सूक्ष्म पर्याप्त वायुकायिकादिक पृथिवीकायिक पर्यन्त जीवों की जघन्य वा उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यात गुणी है अत: महान् है तो भी सूक्ष्म नामकर्म की सामर्थ्य से अन्य पर्वतादिक से भी उनका प्रतिघात नहीं होता है, उनमें वे निकलकर चले जाते हैं। जैसे-जल की बूँद वस्त्र से रुकती नहीं है, निकल जाती है वैसे सूक्ष्म शरीर जानना। **(गो.जी.जी. १८४)**

१३४.प्रश्न : यदि सूक्ष्म नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि सूक्ष्म नामकर्म न हो, तो सूक्ष्म जीवों का अभाव हो जावे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि अपने प्रतिपक्षी के अभाव में बादर कायिक जीवों के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। **(ध. ६/६२)**

१३५.प्रश्न : बादर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अन्य को बाधा देने वाले शरीर में जीव का जन्म होता है वह बादर नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को बाधाकारक शरीर प्राप्त होता है वह स्थूल नामकर्म है। **(रा.वा. ३०)**

जिस कर्म के उदय से जीव बादरकाय वालों में उत्पन्न होता है, उस कर्म की 'बादर' यह संज्ञा है। **(ध. ६/६१)**

बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची नहीं है, किन्तु बादर नामक नामकर्म का वाचक है इसलिए उस बादर नामकर्म के उदय के सम्बन्धसे जीव भी बादर कहा जाता है। **(ध. १/२५२)**

१३६.प्रश्न : बादर जीवों की अवगाहना सूक्ष्म जीवों से छोटी भी होती है अत: उन्हें अप्रतिघाती कहना चाहिए ?

उत्तर : बादर नामकर्म के उदय से अल्प शरीर होने पर भी दूसरों के द्वारा प्रतिघात होता है; जैसे सरसों वस्त्र से निकलती नहीं तैसे ही बादर शरीर जानना। **(गो.जी.जी. १८४)**

१३७.प्रश्न : ऋद्धिधारी मुनिराज का शरीर तो बादर है वह पर्वत आदि में ये कैसे निकल जाता है ?

उत्तर : यद्यपि ऋद्धिप्राप्त मुनियों का शरीर बादर है तो भी वज्र, पर्वत आदि में से निकल जाता है, रुकता नहीं है, यह तप जनित अतिशय की ही महिमा है। क्योंकि तप, विद्या, मणि, मंत्र, औषधि की शक्ति के अतिशय का माहात्म्य अचिन्त्य होता है। सभी वादी इस बात से सहमत हैं कि वस्तु का स्वभाव तर्कगोचर नहीं है।

नोट : यहाँ (बादर-सूक्ष्म के लक्षण में) अतिशयवानों का ग्रहण नहीं है इसलिए अतिशय रहित है। **(गो. जी.जी. १८४)** वस्तु के विचार में पूर्वोक्त शास्त्र का उपदेश ही बादर-सूक्ष्म जीवों का सिद्ध हुआ। **(गो.जी.जी. १८४)**

१३८.प्रश्न : बादर नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि बादर नामकर्म न हो तो बादर जीवों का अभाव हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं,

क्योंकि प्रतिघाती शरीर वाले जीवों की भी उपलब्धि होती है। **(ध. ६/६१)**

१३९.प्रश्न : बादर और सूक्ष्म नामकर्म में क्या अन्तर है ?

उत्तर : बादर नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त्त पदार्थों से आघात करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है और सूक्ष्म नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त्त पदार्थों के द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है, यही इन दोनों में भेद है। **(ध. १/२५३)**

१४०.प्रश्न : पर्याप्ति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से आत्मा अन्तर्मुहूर्त में आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है, पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं। **(रा.वा. ३१)** जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्त होता है, उस कर्म की 'पर्याप्त' यह संज्ञा है। **(ध. ६/६२)** पर्याप्तियों को पूर्ण करने की शक्ति के कारण जो पुद्गलस्कन्ध हैं उन पुद्गल स्कन्धों की निष्पत्ति को जिनेन्द्रदेव ने पर्याप्ति कहा है। **(का.अ.१३५)** जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्तियों के द्वारा आत्मा अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्ति को प्राप्त कर लेता है वह पर्याप्ति नामकर्म है। **(सुख बो. त.वृ. ४८५)**

१४१.प्रश्न : पर्याप्तियाँ कितनी होती हैं ?

उत्तर : पर्याप्तियाँ छह होती हैं-

(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति (६) मन: पर्याप्ति। **(रावा. ३१)**

१४२.प्रश्न : आहार पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से आहार वर्गणा रूप आये हुए पुद्गल स्कन्ध, जो कि अनन्त परमाणु रूप होकर भी स्कन्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं और आत्मा के द्वारा रोके गये क्षेत्र में स्थित हैं, जो अमूर्त्तिक होकर भी इन कर्मस्कन्धों के सम्बन्ध से मूर्त्तिक भाव को प्राप्त हो रहे हैं ऐसी आत्मा का समवेत रूप से जो पुद्गल स्कन्ध का एकक्षेत्रावगाही रूप से आश्रय कर रहे हैं उन पुद्गल स्कन्धों में खल और रस पर्याय से परिणमन करने की शक्ति का नाम आहार पर्याप्ति है। **(मू. १२३८) आ.।**

१४३.प्रश्न : शरीर पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : आहार पर्याप्ति में जो पुद्गल खल और रस रूप हुए हैं उनमें से खल भाग को तो तिल की खली के समान हड्डी आदि स्थिर अवयव रूप से एवं रस भाग को तिल के तेल समान रस, रुधिर, मज्जा, वीर्य आदि द्रव अवयव पदार्थ रूप से परिणमन कराने की शक्ति की सामर्थ्य का होना शरीर पर्याप्ति है। **(मू. १२३८) आ.** जिस कारणसे जीव शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करके उन्हें औदारिक-वैक्रियिक, आहारक शरीर के स्वरूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का होना शरीर पर्याप्ति है। **(मू. १०४७) आ.**

तिल की खली के समान उस खल भाग को हड्डी आदि कठिन अवयव रूप से और तिल के तेल समान रस भाग को रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयव रूप से परिणमन करने वाले औदारिकादि तीन शरीरों की शक्ति से युक्त पुद्गल स्कन्धों की प्राप्ति को शरीर पर्याप्ति कहते हैं। **(ध. १/२५७)**

१४४.प्रश्न : इन्द्रिय पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : योग्य देश में स्थित जो रूप आदि से विशिष्ट पदार्थ हैं उनको ग्रहण करने की शक्ति का निष्पन्न होना इन्द्रिय पर्याप्ति है। **(मू. १२३८ आ.)**

योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों के ग्रहण करने रूप शक्ति की उत्पत्ति के निमित्त भूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। **(ध. १/२५७)**

जिस कारण से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियों के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके यह आत्मा अपने विषयों को जानने में समर्थ होता है, उस कारण की पूर्णता का नाम इन्द्रिय पर्याप्ति है। **(मू. १०४७) आ.**

१४५.प्रश्न : इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होते ही इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों का ग्रहण क्यों नहीं होता?

उत्तर : इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जाने पर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पायी जाती है। **(ध. १/२५७)**

१४६.प्रश्न : इन्द्रिय प्राण एवं इन्द्रिय पर्याप्ति में क्या अन्तर है ?

उत्तर : नहीं, पाँचों इन्द्रिय प्राणों का इन्द्रिय पर्याप्ति में भी अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय आदि का आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशम स्वरूप इन्द्रियों को और क्षयोपशम की अपेक्षा बाह्य पदार्थों का ग्रहण करने की शक्ति को उत्पन्न करने में निमित्तभूत पुद्गलों के प्रचय को एक होने में विरोध आता है। **(ध. २/४१४)**

१४७.प्रश्न : श्वासोच्छ्वास (आनपान) पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कारण से यह जीव श्वासोच्छ्वास के योग्य द्रव्यों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप रचना करने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का नाम आनपान पर्याप्ति है। **(मू. १०४७ आ.)**

उच्छ्वास और नि:श्वास रूप शक्ति की पूर्णता के निमित्तभूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को आनपान पर्याप्ति कहते हैं। **(ध. १/२५७-५८)**

उच्छ्वास निकलने की शक्ति की पूर्णता का नाम आनपान पर्याप्ति है। **(मू. १२३८ आ.)**

१४८.प्रश्न : श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति एवं श्वासोच्छ्वास प्राण में क्या अन्तर है ?

उत्तर : उच्छ्वास-निश्वास प्राण कार्य हैं और आत्मोपादान कारक है तथा उच्छ्वास-नि:श्वास

पर्याप्ति कारण है और पुद्गलोपादान निमित्तक है अत: इन दोनों में भेद समझ लेना चाहिए। **(ध. २/४१४)**

इन्द्रिय के विषय और अविषय की अपेक्षा दोनों में अन्तर है। श्वासोच्छ्वास नामकर्म के उदय से पंचेन्द्रिय जीव के जो शीत उष्ण आदि से उत्पन्न दु:ख के कारण लम्बे उच्छ्वास नि:श्वास होते हैं और जो श्रोत्र इन्द्रिय, स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होते हैं, उनके द्वारा ग्राह्य होते हैं। परन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति सर्व संसारी जीवों के होती है और श्रोत्र तथा स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा अनुभव में नहीं आती है। यही दोनों में अन्तर है। **(रा.वा. ३२)**

१४९.प्रश्न : भाषा पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : भाषा-वर्गणाओं के प्रचार की भाषा के आकार से परिणमन करने की शक्ति की पूर्णता का होना भाषा पर्याप्ति है। **(मू. १२३८) आ.**

जिस कारण से सत्य, असत्य, उभय और अनुभय इन चार प्रकार की भाषा के योग्य पुद्गल द्रव्यों का आश्रय लेकर उन्हें चतुर्विध भाषा रूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की समर्थता का नाम भाषा पर्याप्ति है। **(मू. १०४७) आ.** भाषा वर्गणा के स्कन्धों के निमित्त से चार प्रकार की भाषा रूप से परिणमन करने की शक्ति के निमित्तभूत नोकर्म पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं। **(ध.१/२५८)**

१५०.प्रश्न : भाषा पर्याप्ति और वचनबल प्राण में क्या अन्तर है ?

उत्तर : वचन बल भाषा पर्याप्ति में अन्तर्भूत नहीं होता है, क्योंकि आहार वर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचय का और उससे उत्पन्न हुई भाषा वर्गणा के स्कन्धों का श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्याय से परिणमन करने रूप शक्ति की परस्पर समानता का अभाव है। **(ध. २/४१४)**

१५१.प्रश्न : मन:पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कारण से सत्य, असत्य आदि चार प्रकार के मन के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके उन्हें चार प्रकार की मन:पर्याप्ति से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस करण की पूर्णता को मन:पर्याप्ति कहते हैं। **(मू. १०४७) आ.** अनुभूत अर्थ के स्मरण रूप शक्ति के निमित्तभूत मनोवर्गणा के स्कन्धों से निष्पन्न पुद्गल प्रचय को मन:पर्याप्ति कहते हैं। **अथवा** द्रव्यमन के आलम्बन से अनुभूत अर्थ के स्मरणरूप शक्ति की उत्पत्ति को मन:पर्याप्ति कहते हैं। **(ध. १/२५८)** मनोवर्गणा द्वारा निष्पन्न हुए द्रव्यमन अवलम्बन से अनुभूत पदार्थ के स्मरण की शक्ति की उत्पत्ति मन: पर्याप्ति है। **(मू. १२३८) आ.**

१५२.प्रश्न : मनोबल और मन:पर्याप्ति में क्या अन्तर है ?

उत्तर : मनोबल का मन:पर्याप्ति में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि मनोवर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचय को और उससे उत्पन्न हुए आत्मबल (मनोबल) को एक मानने में विरोध आता है। **(ध. २/४१४)**

१५३.प्रश्न : किन-किन जीवों के कितनी-कितनी पर्याप्तियाँ होती हैं ?

उत्तर : पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पति कायिक पर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय और आनप्राण ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण और भाषा ये पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं।

संज्ञी जीवों के आहार आदि मन:पर्याप्ति पर्यन्त छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। **(मू. १०४८-४९)**

१५४.प्रश्न : इन पर्याप्तियों की पूर्णता का काल कितना-कितना है ?

उत्तर : शरीर को ग्रहण करने के प्रथम समय से लेकर एक अन्तर्मुहूर्त में आहार पर्याप्ति पूर्ण होती है।

शरीर पर्याप्ति आहारपर्याप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती है। इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्ति के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है। भाषा पर्याप्ति भी आनपान पर्याप्ति के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है। मन: पर्याप्ति भी भाषा पर्याप्ति के एक अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् पूर्ण होती है। इन छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत् होता है क्योंकि जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु पूर्णता क्रम से होती है। **(ध. १/२५७-५८)**

१५५.प्रश्न : पर्याप्तियों का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल कितना है ?

उत्तर : पर्याप्तियों का स्थिति काल तिर्यञ्च और मनुष्यों के जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण है, कुछ कम उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट तीन पल्योपम है। देव-नारकियों का जघन्य से दस-हजार वर्ष और उत्कृष्ट से तैंतीस सागरोपम प्रमाण पर्याप्तियों का काल है। यहाँ पर पर्याप्तियों एवं जीवित अवस्था का काल समान कहा गया क्योंकि स्थितिकाल पृथक् से नहीं कहा गया है। **(मू. १०५० आ.)**

१५६.प्रश्न : किन-किन जीवों के कितने-कितने समय में पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं ?

उत्तर : ये पर्याप्तियाँ तिर्यञ्च और मनुष्यों के एक समय कम दो घड़ी (१ समय कम ४८ मिनट) काल रूप अन्तर्मुहूर्त्त में पर्याप्त होती हैं तथा उपपाद से जन्म लेने वाले देव-नारकियों के शरीर-अवयवों की रचना रूप पर्याप्तियों की पूर्णता प्रति समय होती है। **(मू. १०५०) आ.**

नारकी एक अन्तर्मुहूर्त्त काल में छह पर्याप्तियों को पूर्ण कर आकस्मिक भय से युक्त होता है। **(ति.प. २/३१४)**

भवनवासियों के भवन में उत्पन्न होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर लेते हैं। **(ति.प. ३/२१०)**

सुरलोक के देव एक मुहूर्त्त में ही छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर लेते हैं। **(ति.प. ८/५९०)**

१५७.प्रश्न : देव-नारकियों एवं मनुष्य-तिर्यञ्चों की पर्याप्तियों की पूर्णता में ऐसा अन्तर क्यों है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि देव और नारकियों के शरीर के सर्व अवयवों की पूर्णता पर्याप्तियों की पूर्णता के काल में ही हो जाती है, शेष सभी जीवों के नहीं होती, क्योंकि जिस काल में देव-नारकियों के आहार आदि कारणों की पूर्णता होती है उसी काल में उनके शरीर आदि कार्यों की रचना पूर्ण हो जाती है। पुन: तिर्यञ्च और मनुष्यों के लघु काल के द्वारा आहार आदि कारणों की पूर्णता रूप पर्याप्ति हो जाती है किन्तु शरीर आदि की पूर्णता बहुत काल में हो पाती है। इसलिए सभी उपपाद जन्म वालों के समय-समय में पर्याप्तियाँ होती हैं और तिर्यञ्च, मनुष्यों के अन्तर्मुहूर्त से होती है, ऐसा कहा गया है। **(मू. १०५० आ.)**

१५८.प्रश्न : पर्याप्ति और प्राण में क्या अन्तर है ?

उत्तर : पर्याप्ति और प्राण में हिमवान और विन्ध्याचल के समान भेद पाया जाता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मन रूप शक्तियों की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। यही इन दोनों में अन्तर है। **(ध. १/२५८)**

कारण और कार्य के भेद से भी इनमें भेद पाया जाता है (पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य है)। तथा पर्याप्तियों में आयु का सद्भाव नहीं होने से और मन बल, वचन बल तथा श्वासोच्छ्वास इन प्राणों के अपर्याप्त अवस्था में नहीं पाये जाने से भी पर्याप्ति और प्राणों में भेद समझना चाहिए। **(ध. १/२५९)**

इन्द्रियादि में विद्यमान जीवन के कारणपने की अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्ति की पूर्णता मात्र को पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवन के कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। **(ध. १/२५९-६०)**

इस प्रकार दोनों में भेद समझना चाहिए।

नोट : प्राणों का विशेष वर्णन देखें **(२/१४)**

१५९.प्रश्न : यदि पर्याप्ति नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि पर्याप्ति नामकर्म न हो, तो सभी जीव अपर्याप्त ही हो जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि पर्याप्त जीव का भी सद्भाव पाया जाता है। **(ध. ६/६२)**

१६०.प्रश्न : अपर्याप्त नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : छह पर्याप्तियों की पूर्णता का न होना अपर्याप्ति है। **(मू. १२३८) आ.** जिस कर्म के उदय से जीव आहारादि छहों पर्याप्तियों में से किसी भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सकता, पर्याप्तियों को पूर्ण करने में असमर्थ होता है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। **(रा.वा. ३३)**

जो पर्याप्तियों के अभाव का हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। **(सर्वा. ७५५)**

१६१.प्रश्न : अपर्याप्तक (लब्ध्यपर्याप्तक) किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपर्याप्त नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिन जीवों के शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करके मरने रूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है, उन्हें अपर्याप्त कहते हैं। **(ध. १/२७०)**

अपर्याप्त नामकर्म के उदय से एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके (उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में ही) मरण को प्राप्त हो जाते हैं। वे लब्धि अपर्याप्त कहे गये हैं। **(गो.जी. १२२)**

जो जीव श्वास के अठारहवें भाग में मर जाता है, एक भी पर्याप्ति को समाप्त नहीं कर पाता, उसे लब्धि अपर्याप्त कहते हैं। **(का.अ. १३७)**

१६२.प्रश्न : निर्वृत्यपर्याप्तक किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर्याप्ति नामकर्म के उदय से एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों की सम्पूर्णता की शक्ति से युक्त होते हैं। जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, उतने काल तक अर्थात् एक समय कम शरीर पर्याप्ति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवस्था को निवृत्ति अपर्याप्त कहते हैं। **(गो.जी. १२१)**

जीव पर्याप्ति को ग्रहण करते हुए जब तक मन:पर्याप्ति समाप्त नहीं कर लेता तब तक निर्वृत्य-पर्याप्त कहा जाता है। और जब मन:पर्याप्ति पूर्ण कर लेता है तब पर्याप्त कहलाता है। **(का.अ. १३६)**

१६३.प्रश्न : स्थिर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्थिर भाव का निर्वर्तक स्थिर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से दुष्कर उपवास आदि तप करने पर भी अंग-उपांग की स्थिरता रहती है वह स्थिर नामकर्म है। **(रा.वा. ३४)** जिस कर्म के उदय से रसादि सात धातुओं की स्थिरता होती है वह स्थिर नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर आदि सात धातुओं की स्थिरता, अविनाश, अगलन (गलना न हो) हो वह **स्थिर नामकर्म** है। **(ध. ६/६३)**

१६४.प्रश्न : सात धातु एवं उपधातु कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : रस, रुधिर, मेद, मज्जा, हड्डी, मांस और शुक्र ये सात धातुएँ हैं। **(मू. १२३८) आ.** वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि ये सात उपधातु हैं। **(हरि. ५८/२७६)**

१६५.प्रश्न : इन सात धातुओं का परिणमन किस क्रम से होता है ?

उत्तर : रस से रक्त बनता है, रक्त से मांस उत्पन्न होता है, मांस से मेदा पैदा होती है, मेदा से हड्डी बनती है, हड्डी से मज्जा पैदा होती है, मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है और शुक्र से प्रजा (सन्तान) उत्पन्न होती है।

दो हजार पाँच सौ चौरासी कला और ८ $\frac{८}{७}$ काष्ठा काल तक रस स्वरूप से रहकर रुधिर रूप परिणत होता है। वह रुधिर भी उतने ही काल तक रुधिर रूप से रह कर मांस स्वरूप परिणत होता है, इसी प्रकार शेष धातुओं का भी परिणमन-काल कहना चाहिए। इस तरह एक मास के द्वारा रस शुक्र रूप से परिणत होता है। **(ध. ६/६३-६४)**

१६६.प्रश्न : स्थिर नामकर्म न हो तो क्या होगा ?

उत्तर : यदि स्थिर नामकर्म न हो तो रस, रुधिर आदि धातुओं का स्थिरता के अभाव में गलना ही होगा। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि हानि और वृद्धि के बिना इन धातुओं का अवस्थान देखा जाता है। **(ध. ६/६३)**

१६७.प्रश्न : अस्थिर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि और शुक्र, इन धातुओं का परिणमन होता है, वह अस्थिर नामकर्म है। **(ध. ६/६३)**

जिस कर्म के उदय से इन धातुओं में उत्तरोत्तर अस्थिर रूप परिणमन होता जाता है वह अस्थिर नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

स्थिर नामकर्म से विपरीत फलदायक अस्थिर नामकर्म है, जिस कर्म के उदय से एक आदि थोड़े से उपवास करने पर या साधारण शीत-उष्ण आदि से ही शरीर में अस्थिरता आ जाती है, या शरीर के अंगोपांग कृश हो जाते हैं, वह अस्थिर नामकर्म है। **(रा.वा. ३५)**

जिस कर्म के उदय से रसादिकों का आगे की धातुओं स्वरूप से परिणमन होता है वह अस्थिर नामकर्म है। **(ध. १३/३६५)**

१६८.प्रश्न : अस्थिर नामकर्म नहीं होगा तो क्या होगा ?

उत्तर : अस्थिर नामकर्म के अभाव में धातुओं के क्रमश: परिवर्तन का नियम न रहेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर अनवस्था प्राप्त होती है। **(ध. ६/६४)**

१६९.प्रश्न : विग्रहगति में स्थिर और अस्थिर नामकर्म का उदय नहीं मानना चाहिए क्योंकि वहाँ सप्त धातुओं का अभाव है ?

उत्तर : ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सयोग केवली भगवान में परघात प्रकृति के समान विग्रहगति में उन (स्थिर-अस्थिर) प्रकृतियों का अव्यक्त उदय रूप से अवस्थान रहता है। **(ध. ६/६४)**

१७०.प्रश्न : आदेय नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : आदेयता, ग्रहणीयता और बहुमान्यता ये तीनों शब्द एक अर्थ वाले हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के आदेयता उत्पन्न होती है वह आदेय नामकर्म कहलाता है। **(ध. ६/६५)**

जिस कर्म के उदय से आदेय-प्रभा सहित शरीर होता है वह आदेय नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से दृष्ट और इष्ट प्रभा से युक्त शरीर की प्राप्ति होती है, वह आदेय नामकर्म है। **(रा.वा. ३६)**

जिसके उदय से जीव आदेय वाच्य-मान्य वचन वाला होता है वह आदेय है। **(मू. १२३८) आ.**

१७१.प्रश्न : अनादेय नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से अनादेय-निष्प्रभ शरीर होता है वह अनादेय नामकर्म है। **अथवा** जिसके उदय से आदेय से विपरीत अर्थात् जीव अनादेय वाच्य-अमान्य वचन वाला होता है वह अनादेय नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

जिस कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी जीव गौरव को प्राप्त नहीं होता है वह अनादेय नामकर्म है। **(ध. १३/३६६)**

१७२.प्रश्न : यशस्कीर्ति नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : यश नाम गुण का है, उसके उद्भावन (प्रकटीकरण) को कीर्त्ति कहते हैं। जिसके उदय से विद्यमान या अविद्यमान गुणों का उद्भावन लोगों के द्वारा किया जाता है, उस कर्म की 'यश:कीर्त्ति' यह संज्ञा है। **(ध. ६/६५-६६)**

पुण्य गुणख्यापन में कारण कर्म यशस्कीर्ति नामकर्म है। पुण्य गुणों का ख्यापन जिस कर्म के उदय से होता है उसे यशस्कीर्ति नामकर्म जानना चाहिए। **(रा.वा. ३८)**

पुण्य गुणों का ख्यापन करने वाला यश:कीर्ति नामकर्म है। **अथवा** जिस कर्म के उदय से विद्यमान और अविद्यमान गुणों की ख्याति होती है वह यश:कीर्ति नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

१७३.प्रश्न : यश और कीर्त्ति इन दोनों में अविशेषता होने से यशस्कीर्ति कहना पुनरुक्त दोष है ?

उत्तर : यश का अर्थ गुण है और कीर्ति का अर्थ विस्तार है। अत: यश और कीर्त्ति दोनों एकार्थवाची नहीं हैं। **(रा.वा. ३८)**

१७४.प्रश्न : अयश:कीर्त्ति नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : यश:कीर्त्ति से विपरीत अयश:कीर्ति नामकर्म है, जिसके उदय से विद्यमान अथवा अविद्यमान भी दोषों की प्रसिद्धि हो जावे वह अयश:कीर्त्ति नामकर्म है। **(मू. १२३८)आ.**

जिस कर्म के उदय से विद्यमान या अविद्यमान अवगुणों का उद्भावन लोक द्वारा किया जाता है, उस कर्म की 'अयश:कीर्ति' यह संज्ञा है। **(ध. ६/६६)**

१७५.प्रश्न : तीर्थंकर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : आर्हन्त्य पद की कारणभूत तीर्थंकर कर्मप्रकृति है, जिसके उदय से अचिन्त्य विशेष विभूति-युक्त आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है, उसको तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति समझना चाहिए। **(रा.वा. ४०)**

जिस कर्म के उदय से जीव की त्रिलोक में पूजा होती है, वह तीर्थंकर नामकर्म है। **(ध. ६/६७)** जिस कर्म के उदय से तीनों लोक में पूजा का हेतु परम आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है वह परमोत्कृष्ट तीर्थंकर नामकर्म है। **(मू. १२३८) आ.**

जिस कर्म के उदय से जीव पाँच महा कल्याणकों को प्राप्त करके तीर्थ अर्थात् बारह अंगों की रचना करता है, वह तीर्थंकर नामकर्म है। **(ध. १३/३६६)**

१७६.प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति के समान यहाँ चक्रवर्ती पद आदि की उत्पत्ति में भी कोई कर्म-प्रकृति निमित्त होनी चाहिए ?

उत्तर : तीर्थंकर प्रकृति के समान गणधर आदि कर्मप्रकृति नहीं है, क्योंकि गणधरत्व आदि में अन्य निमित्त कारण है, नामकर्म प्रकृति नहीं। प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से गणधर पद प्राप्त होता है। चक्रवर्तित्व, वासुदेव, बलदेव आदि पद उच्चगोत्र निमित्तक हैं अत: इनका पृथक् निर्देश नहीं किया है। **(रा.वा. ४१)**

१७७.प्रश्न : चक्रवर्तित्व आदि के समान तीर्थंकर पद भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम वा उच्चगोत्र कर्म के निमित्त से हो जायेगा, अत: तीर्थंकर प्रकृति से कोई प्रयोजन नहीं है ?

उत्तर : तीर्थंकर प्रकृति का फल तीर्थ की प्रवृत्ति करना है, वह तीर्थ प्रवृत्ति रूप फल तीर्थंकर प्रकृति के उदय से ही होता है, उच्च गोत्र के उदय से नहीं, क्योंकि उच्च गोत्री तो चक्रवर्ती आदि भी हैं, परन्तु वे तीर्थंकर नहीं हैं अत: तीर्थंकर प्रकृति का पृथक् निर्देश किया है। **(रा. वा. ४२)**

१७८.प्रश्न : विहायोगति पर्यन्त प्रकृतियों का प्रत्येकशरीर आदि प्रकृतियों के साथ एक समास क्यों नहीं किया ?

उत्तर : विहायोगति आदि में प्रतिपक्षी का अभाव है अत: इनका प्रत्येकशरीर आदि के साथ एकत्व भाव का अभाव है और प्रत्येकशरीर आदि प्रकृतियों का सेतर यानी प्रतिपक्ष से सम्बन्ध करना है अत: सबका एक समास नहीं किया है। **(रा.वा. ४३)**

१७९.प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति का पृथक् ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : सर्व शुभ कर्म प्रकृतियों में तीर्थंकर प्रधानभूत है, सर्वोत्कृष्ट है, अन्त्य है। प्रत्यासन्ननिष्ठ (चरम शरीरी) के ही इसका उदय देखा जाता है, अत: सूत्र में इस तीर्थंकर प्रकृति का पृथक् निर्देश किया गया है। **(रा.वा. ४४-४५)**

गोत्र कर्म के भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

उच्चैः नीचैः च ।

अर्थ - उच्च गोत्र और नीच गोत्र, ये गोत्र कर्म के दो भेद हैं।[१]

उच्च गोत्र - जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म होता है वह उच्च गोत्र है।

नीच गोत्र - निन्दनीय कुल में जन्म होना नीचगोत्र है।

१. प्रश्न : उच्च गोत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से लोकपूजित, महत्त्वशाली, इक्ष्वाकुवंश, उग्रवंश, कुरुवंश, हरिवंश और ज्ञानी आदि विशेष कुल में जन्म होता है, वह उच्चगोत्र है। **(रा.वा. २)**

गोत्र, कुल, वंश, सन्तान ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। जिस कर्म के उदय से जीवों के उच्चगोत्र, कुल या वंश होता है वह उच्चगोत्र कर्म है। **(ध. ६/७७-७८)**

गोत्र कर्म निष्फल है यह बात नहीं है, क्योंकि जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त हैं उन पुरुषों की परम्परा को उच्च गोत्र कहा जाता है तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्च गोत्र है।[२] **(ध. १३/३८९)**

२. प्रश्न : गोत्र कर्म कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : गोत्र कर्म के दो भेद हैं – १. उच्च गोत्र और २. नीच गोत्र।

गोत्र कर्म के छह भेद हैं – १. उच्च उच्च २. उच्च ३. उच्च नीच ४. नीच उच्च ५. नीच ६. नीच नीच गोत्र।

१. उच्च उच्च : जिनका उच्च कुल हो और उच्च आवरण हो जैसे शलाका पुरुष। **२. उच्च गोत्र :** आचरण सम्बन्धी ज्ञान। **३. उच्च नीच :** उच्च कुल में उत्पन्न हो लेकिन आचरण निम्न हो। **४. नीच उच्च :** नीच कुल में जन्म हो और आचरण भी नीच हो। **५. नीच गोत्र :** खोटा कुल, सामान्य आचरण हो। **६. नीच नीच :** नीच कुल में जन्म लेकिन आचरण उच्च हो। **(ध.पु. ७ के आधार से)** सूत्र में दिये गये 'च' से सम्भवत: इन छह भेदों को ग्रहण कर सकते हैं।

३. प्रश्न : किन-किन जीवों के उच्च गोत्र का ही उदय पाया जाता है ?

---

१. कर्मभूमि में पैदा होने वाले मनुष्यों में गोत्रपरिवर्तनशीलता होती है। इसी बात को सूत्रकार ने 'चकार' से सूचित किया है।

२. जो उचितज्ञाता, सन्तोषधारणादि परिणामों के द्वारा देवों के साथ समानता रखते हों, वे उच्चगोत्र वाले हैं।

उत्तर : (१) भवनत्रिक, वैमानिक देव, सभी देवियों के उच्च गोत्र का ही उदय है। **(गो.क.३०४)**

(२) भोगभूमिया मनुष्यों के उच्चगोत्र का ही उदय है। **(गो.क. ३०२)**

(३) चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, तीर्थंकर, तीर्थंकर के माता-पिता आदि महापुरुषों के उच्च गोत्र का ही उदय होता है।

(४) संयमासंयम को पालने वाले तिर्यञ्चों के उच्चगोत्र पाया जाता है। **(ध. १५/१५२)**

४. प्रश्न : नीच गोत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से निन्दनीय, दरिद्री, अप्रसिद्ध, दु:खित, परम्परा से नीच आचरण करने वाले दु:खाकुल और हीन कुल में प्राणियों का जन्म होता है वह नीचगोत्र है। **(रा.वा.३)** उच्चगोत्र से विपरीत कर्म नीचगोत्र है, जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार नहीं है, साधु आचार वालों के साथ जिसने सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त नहीं हैं उन पुरुषों की परम्परा को नीच गोत्र कहा जाता है तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म नीचगोत्र है। **(ध.१३/३८९)**[१]

५. प्रश्न : किन जीवों के नीच गोत्र का ही उदय पाया जाता है ?

उत्तर : (१) सभी नरकों में नारकियों के नीच गोत्र का ही उदय होता है। **(गो.क. २९०)**

(२) कर्म भूमिया एवं भोग भूमिया सभी तिर्यञ्चों के नीचगोत्र का उदय होता है। **(गो.क. २९४)**

(३) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों के नीच गोत्र का ही उदय होता है। **(गो.क. २९५)**[२]

अन्तराय कर्म के उत्तर भेद

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्याणाम्।

अर्थ - दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं।

दानान्तराय - जिसके उदय से देने की इच्छा होने पर भी न दे सके, वह दानान्तराय कर्म है।

लाभान्तराय - जिसके उदय से लाभ की इच्छा होने पर भी लाभ नहीं हो पाता वह लाभान्तराय कर्म है।

---

१. जो लोग निर्विचार चेष्टा, क्रूरपना, मायाचार आदि परिणामों के द्वारा नारकियों और पशुओं से समानता लिये हुए हैं, वे नीच हैं, ऐसा समझना चाहिए।

२. कुभोगभूमि के मनुष्यों के समान आचार-व्यवहार होने से उनमें सदा ही नीचता मानी गई है।

भोगान्तराय - जिसके उदय से भोगने की इच्छा होने पर भी भोग नहीं कर सकता है, वह भोगान्तराय कर्म है।

उपभोगान्तराय - जिसके उदय से उपभोग की इच्छा होने पर भी उपभोग नहीं कर सकता है, वह उपभोगान्तराय कर्म है।

वीर्यान्तराय - जिसके उदय से कार्य करने का उत्साह होने पर भी निरुत्साहित हो जाता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

१. प्रश्न : भोग और उपभोग में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों सुखानुभव में निमित्त हैं?

उत्तर : यद्यपि भोग और उपभोग दोनों सुखानुभव में निमित्त हैं तथापि एक बार भोगने में आने वाली गन्ध, माला, स्नान, वस्त्र, अन्न, पानादि वस्तुओं में भोग का व्यपदेश होता है और शय्या, आसन, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ आदि बार-बार भोगने में आने वाली वस्तुओं में उपभोग व्यपदेश होता है। **(रा.वा. ३)**

२. प्रश्न : अन्तराय कर्म के उदय से जीव की कैसी स्थिति बनती है ?

उत्तर : जो प्राणी दूसरों के दान देने और पाने में बाधक होते हैं वे भव-भव में दरिद्र ही होते हैं।

जो किसी को होते हुए लाभ में अकारण ही अडंगा लगा देते हैं उनकी सम्पत्ति कमाने की इच्छा असफल ही रहती है। अपने-अपने पुण्य के फलस्वरूप भोगों का रस लेने वालों के मार्ग में जो बाधक होते हैं वे स्वयं भी सब ही भोगों से वञ्चित रह जाते हैं।

जिन्होंने दूसरे के उपभोग भोगने के मार्ग में रोड़े अटकाये हैं वे सम्पत्ति आदि साधनों को पाकर भी उपभोगों के आनन्द से वञ्चित ही रह जाते हैं।

दूसरों की शक्ति वीर्य के विकास मार्ग में जो काँटे बोते हैं वे भी इस संसार में शक्तिहीन और अक्षम होते हैं। **(व.चा. ४/१०१-३)**

कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

आदितः तिसृणां-अन्तरायस्य च त्रिंशत्-सागरोपम-कोटीकोट्यः परा स्थितिः।

(आदितस्तिसृणां) आदि के तीन कर्मों की (अन्तरायस्य च) तथा अन्तराय कर्म की (त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोट्यः) तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण (परा) उत्कृष्ट (स्थितिः) स्थिति होती है।

अर्थ - आदि के तीन कर्मों की तथा अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए लिखा गया है ?

उत्तर : स्थिति-बन्ध कितने प्रकार का होता है ? स्थिति-बन्ध दो प्रकार का होता है- उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और जघन्य स्थितिबन्ध। यदि स्थितिबन्ध दो प्रकार का है तो कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना है, ऐसा प्रश्न होने पर सर्वप्रथम ज्ञानावरणादि कर्मों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रमाण बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १४)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'आदि' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'आदि' शब्द का ग्रहण मध्य और अन्त के कर्मों की निवृत्ति के लिए है। आदि के ही तीन लेना, मध्य के और अन्त के तीन नहीं ग्रहण करना इसलिए आदि शब्द का ग्रहण किया है। यहाँ प्रकार अर्थ में 'तस्' प्रत्यय हुआ है। व्याकरण के नियमानुसार 'आद्यादिभ्य: उपसंख्यानं' इस सूत्र से आदि शब्द में 'तस्' प्रत्यय हुआ है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'तिसृणां' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'तिसृणां' शब्द का ग्रहण अवधारणा के लिए है। यदि तीन (तिसृणां) का ग्रहण नहीं करते तो अवधारणा नहीं होती, सिर्फ आदि का ही ग्रहण होता अत: अवधारणा के लिए सूत्र में 'तिसृणां' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'परा' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'परा' इस शब्द का ग्रहण जघन्या स्थिति की निवृत्ति के लिए है, परा और उत्कृष्टा ये एकार्थवाची हैं। **(रा.वा. ५)**

५. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'कोटीकोट्य:' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'कोटीकोट्य:' पद राजपुरुष की तरह बहुवचन है। जैसे- राजा का पुरुष राजपुरुष, इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास है वैसे ही कोटियों की कोटी इसमें षष्ठी तत्पुरुष समास जानना चाहिए। एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोटाकोटी होता है। **(रा.वा. ४)**

६. प्रश्न : ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी बँधती है ?

उत्तर : ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ अन्तराय की पाँच तथा असातावेदनीय इन बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मूल प्रकृतियों के समान तीस कोड़ा-कोड़ी सागर है। सातावेदनीय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। **(गो.क. १२८)**

७. प्रश्न : इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति किसके बँधती है ?

उत्तर : संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की तीस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है। **(रा.वा. ६)**

८. प्रश्न : पर्याप्तक एकेन्द्रिय आदि जीवों के इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : पर्याप्तक एकेन्द्रिय के ज्ञानावरणादि कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध $\frac{३}{७}$ सागर अर्थात् एक सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण होता है।

द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के पच्चीस सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण ($\frac{७५}{७}$)।

त्रीन्द्रिय पर्याप्तक के पचास सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण ($\frac{१५०}{७}$)।

चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक के सौ सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण ($\frac{३००}{७}$)।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के एक हजार सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण ($\frac{३०००}{७}$)।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है। **(रा.वा.७)**

९. प्रश्न : अपर्याप्तक एकेन्द्रियादि जीवों के इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त:कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है।

एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के असंख्यात भाग कम अपने पर्याप्तक की अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम $\frac{३}{७}$ सागर प्रमाण है।

इसीप्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण अपनी-अपनी पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति में से पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम है। **(रा.वा.७)**

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति-

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

सप्तति: मोहनीयस्य।

अर्थ - मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र क्यों लिखा गया है ?

उत्तर : जिस कर्म की स्थिति का उल्लंघन करके जो अन्य (अन्तराय) की स्थिति कही गई है,

उस वेदनीय कर्म के अन्त में कथित कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है, ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तर रूप में यह सूत्र लिखा गया है। **(रा.वा. उ. १५)**

२. प्रश्न : मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना है ?

उत्तर : मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'सागरोपम' आदि पद नहीं है फिर ऐसा अर्थ कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर : 'सागरोपम कोटीकोट्य: परा स्थिति:' इसका अनुवर्तन ऊपर के सूत्र (१४) से कर लेना चाहिए। जिससे यह अर्थ हो जाता है। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है। **(रा.वा.१)**

५. प्रश्न : पर्याप्तक एकेन्द्रियादि जीवों के दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय पर्याप्तक के मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध एक सागर प्रमाण है। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के पच्चीस सागर, त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के पचास सागर, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकों के सौ सागर, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के एक हजार सागर तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के सत्तर कोटा कोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है। **(रा.वा. १)**

६. प्रश्न : क्या मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट बन्ध सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है ?

उत्तर : नहीं, कुछ अन्तर है- मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति का उत्कृष्ट बन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है। अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का चालीस कोटाकोटी सागर प्रमाण, हास्य, रति तथा पुरुष वेद का दस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

अरति-शोक, भय, जुगुप्सा तथा नपुंसक वेद का बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। स्त्रीवेद का पन्द्रह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। **(गो.क. १२८-१३३)**

७. प्रश्न : पर्याप्तक एकेन्द्रिय आदि जीवों में चारित्र मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : पर्याप्तक एकेन्द्रिय के अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध $\frac{४}{७}$ सागर, हास्य-रति तथा पुरुष वेद का $\frac{१}{७}$ सागर, अरति-शोक, भय-जुगुप्सा का $\frac{२}{७}$ सागर तथा स्त्री वेद का $\frac{३}{१४}$ सागर प्रमाण होता है।

पर्याप्त द्वीन्द्रिय के अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध $\frac{१००}{७}$ सागर, हास्यादि का $\frac{२५}{७}$ सागर, अरति आदि का $\frac{५०}{७}$ सागर तथा स्त्रीवेद का $\frac{७५}{७}$ सागर प्रमाण होता है।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि जीवों का प्रमाण जानना चाहिए। **(गो.क. १४५)**

८. प्रश्न : अपर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवों के इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : अपर्याप्तक एकेन्द्रिय के मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण, द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पच्चीस सागर प्रमाण, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पचास सागर प्रमाण, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम सौ सागर प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम एक हजार सागर प्रमाण तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के अन्त:कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(रा.वा.१)**

नोट : यह मोहनीय कर्म की सामान्य स्थिति की अपेक्षा कहा गया है। उसकी उत्तर प्रकृतियों का जो अपना-अपना उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है उसी के अनुसार त्रैराशिक करना चाहिए।

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति-

विंशतिर्नामगोत्रयो: ॥१६॥

विंशति: नामगोत्रयो:।

(नामगोत्रयो:) नाम और गोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध (विंशति:) बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

अर्थ - नाम और गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

१. प्रश्न : नाम एवं गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : नाम कर्म का सामान्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। तथा उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का वर्णन आगे किया जायेगा। **(क.प्र. १२२)**

गोत्र कर्म में से उच्चगोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध दस कोटाकोटी सागर प्रमाण तथा नीच गोत्र का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(क.प्र. १२५-२७)**

२. प्रश्न : नाम एवं गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : नाम कर्म के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के स्वामी को आगे बतायेंगे।

गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं। **(गो.क. १३८)**

३. प्रश्न : उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्थितिबन्ध के कारण तीव्र मन्दादि रूप स्थिति बन्धाध्यवसाय-स्थानों में उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के लिए कारण ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम हैं। इनके पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण खण्ड करके अंतिम खण्ड में तीव्र कषाय रूप जो परिणाम हैं उन्हें उत्कृष्ट संक्लेश कहते हैं। **(गो.क. १३७-३८)**

४. प्रश्न : ईषत् संक्लेश एवं मध्यम संक्लेश परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध के कारणभूत असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम के पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण खण्ड करके प्रथम खण्ड में जितने परिणाम हैं वे अल्प कषाय रूप हैं इनको ईषत् संक्लेश कहते हैं। एवं दोनों खण्डों के बीच जो खण्ड हैं उनमें जो परिणाम यथासम्भव पाये जाते हैं उनको मध्यम संक्लेश परिणाम कहते हैं। **(गो.क.जी. १३७-३८)**

इसी प्रकार उत्कृष्ट से एक-एक समय घटते हुए जघन्य स्थिति पर्यन्त जितने स्थिति के भेद हैं, उन सभी को जानना चाहिऐ। **(गो.क. १३७-३९)**

५. प्रश्न : पर्याप्तक एकेन्द्रिय आदि जीवों के नाम और गोत्र का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों के पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के पचास सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकों के सौ सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के एक हजार सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। **(रा.वा.१)**

६. प्रश्न : अपर्याप्तक जीवों के नाम-गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के नाम-गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त: कोटाकोटी प्रमाण, एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के असंख्यातवें भाग कम एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के संख्यातवें भाग कम पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के संख्यातवें भाग कम पचास सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के सौ सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, पंचेन्द्रिय असंज्ञी अपर्याप्तक के एक हजार सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण जानना चाहिए। **(रा.वा.१)**

७. प्रश्न : गति और जाति नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है, मनुष्यगति का पन्द्रह (१५) कोटाकोटी सागर, देवगति का दस कोटाकोटी

सागर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जाति का अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। **(गो.क. १२८-३३)**

८. प्रश्न : गति नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : नरकगति एवं देवगति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीव करते हैं। तिर्यञ्च का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध (मिथ्यादृष्टि) देव व मिथ्यादृष्टि नारकी करते हैं। मनुष्यगति का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले करते हैं। **(गो.क. १३७-३८)**

९. प्रश्न : जाति नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मिथ्यादृष्टि देव एवं पंचेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्अ संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गति के जीव करते हैं।

विकलत्रय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीव करते हैं। **(गो.क. १३७-३८)**

१०. प्रश्न : शरीरबन्धन संघात एवं अंगोपांग नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : औदारिक, वैक्रियिक, तैजस तथा कार्मण शरीर का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है।

आहारक शरीर का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त:कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (इसी प्रकार पाँच संघात एवं पाँच बन्धन जानने चाहिए।)

औदारिक एवं वैक्रियिक अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध बीस कोटा कोटी सागर प्रमाण है।

आहारक शरीर अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त: कोटाकोटी सागर प्रमाण है। **(गो.क. १२८-१३३)**

११. प्रश्न : शरीर एवं शरीर-अंगोपांग का बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : औदारिक शरीर एवं औदारिक शरीरांगोपांग नाम कर्म का बन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारकी जीव ही करते हैं।

वैक्रियिक शरीर एवं वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च जीव ही करते हैं।

आहारक शरीर और आहारक शरीरांगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध प्रमत्तगुणस्थान के अभिमुख संक्लेश परिणामी अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव करता है। **(गो.क. १३६-३८)**

१२. प्रश्न : निर्माण नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना और किसके होता है ?

उत्तर : निर्माण नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(गो.क. १३१)** इसका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीवों के होता है। **(गो.क. १३८)**

१३. प्रश्न : संस्थान एवं संहनन का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : समचतुरस्र संस्थान एवं वज्रर्षभनाराच संहनन का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध दस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान एवं वज्रनाराचसंहनन का बारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। स्वाति संस्थान एवं नाराच संहनन का चौदह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। कुब्जक संस्थान एवं अर्धनाराचसंहनन का सोलह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। वामन संस्थान एवं कीलक संहनन का अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

हुण्डक संस्थान एवं असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन का बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(गो.क. १२९)**

१४. प्रश्न : संस्थान एवं संहनन का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : आदि के पाँच संहनन एवं छहों संस्थानों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं।

असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध (मिथ्यादृष्टि) देव एवं नारकी करते हैं। **(गो.क. १३८)**

१५. प्रश्न : स्पर्शादि चार, चार आनुपूर्वी, अगुरुषट्क एवं विहायोगति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास तथा अप्रशस्त विहायोगति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

मनुष्य गत्यानुपूर्वी का पन्द्रह कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

देवगत्यानुपूर्वी एवं प्रशस्त विहायोगति का दस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण होता है। **(गो.क. १२८-३३)**

१६. प्रश्न : स्पर्शादि उपर्युक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : नरक गत्यानुपूर्वी एवं देव गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीव ही करते हैं।

तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी एवं उद्योत नामकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारकी जीव ही करते हैं।

आतप नामकर्म को (मिथ्यादृष्टि) देव बाँधते हैं।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास एवं विहायोगति का उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं। **(गो.क. १३८)**

१७. प्रश्न : प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्त, स्थिर, आदेय, यशस्कीर्ति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : प्रत्येक शरीर, त्रस, पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। सुभग, सुस्वर, शुभ, स्थिर, आदेय और यशस्कीर्ति का दस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

सूक्ष्म नामकर्म का अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(गो. क. १२९-३३)**

१८. प्रश्न : उपर्युक्त प्रत्येक शरीर आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : सूक्ष्म को छोड़कर शेष प्रत्येक शरीर आदि उपर्युक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं।

सूक्ष्म प्रकृति का बन्ध (उपर्युक्त परिणाम वाले) मनुष्य और तिर्यञ्च जीव ही करते हैं। **(गो.क. १३८)**

१९. प्रश्न : साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दु:स्वर,अशुभ, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय तथा अयशस्कीर्ति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : साधारण शरीर, अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर, अस्थिर, अनादेय तथा अयशस्कीर्ति का बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(गो.क. १२९-३३)**

२०. प्रश्न : उपर्युक्त साधारण शरीर आदि नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : साधारण शरीर एवं अपर्याप्तक नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च (संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त) जीव ही करते हैं।

स्थावर नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध (मिथ्यादृष्टि) देव करते हैं। दुर्भग, दु:स्वर, अशुभ, बादर, अस्थिर, अनादेय तथा अयशस्कीर्ति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं। **(गो.क. १३८)**

२१. प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना एवं किसके होता है ?

उत्तर : तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त:कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(गो.क.१३३)** तीर्थंकर प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति को (दूसरे या तीसरे) नरक में जाने के सम्मुख हुआ (क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि) असंयत मनुष्य ही बाँधता है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाले नरकगति के अभिमुख असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तीव्र संक्लेश पाया जाता है। **(गो.क. १३६)**

आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमाणि-आयुषः।

(आयुषः) आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध (त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि) तैंतीस सागरोपम प्रमाण होता है।

अर्थ - आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध तैंतीस सागरोपम प्रमाण होता है।

१. प्रश्न : आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना है ?

उत्तर : आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध तैंतीस सागरोपम प्रमाण है। **(त.सू. ८/१६)**

नोट : नरकादि आयु का पृथक्-पृथक् स्थिति-बन्ध पूर्व में बताया जा चुका है।

२. प्रश्न : इन चारों आयु का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : देवायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अप्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख प्रमत्त गुणस्थान वाले जीव करते हैं। शेष तीन आयु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च जीव ही करते हैं। **(गो.क. १३६-३८)**

३. प्रश्न : सूत्र में पुन: 'सागरोपम' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में सागरोपम का प्रकरण होने पर भी पुन: 'सागरोपम' पद का ग्रहण कोटाकोटी की निवृत्ति के लिए है। उत्कृष्ट स्थिति के लिए 'परा स्थिति:' पद का अनुवर्तन कर लेना चाहिए। **(रा.वा.१)**

४. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पल्य के आठवें भाग से कुछ अधिक है (क्योंकि वह ज्योतिष्क देवों में जा सकता है)। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवों के एक पूर्व कोटि प्रमाण है क्योंकि वह नरक, देव एवं भोगभूमि में नहीं जा सकता। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के तैंतीस सागर (नरक सम्बन्धी), मनुष्यों के तैंतीस सागर (नरक एवं स्वर्ग सम्बन्धी) भोगभूमिया मनुष्य तिर्यञ्चों के दो सागर क्योंकि वे दूसरे स्वर्ग से आगे नहीं जाते, देव-नारकियों के एक पूर्व कोटि प्रमाण क्योंकि वे नरक, देव एवं भोगभूमि में नहीं जाते।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति-

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

(वेदनीयस्य) वेदनीय कर्म की (अपरा) जघन्य स्थिति (द्वादशमुहूर्ता) बारह मुहूर्त प्रमाण होती है।

अर्थ - वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण होता है।

१. प्रश्न : वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : वेदनीयकर्म में सातावेदनीयकर्म का जघन्य स्थिति बन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण तथा असाता वेदनीय का जघन्य स्थिति-बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण होता है। **(ध. ६/१८४)**

२. प्रश्न : सर्वप्रथम वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध क्यों कहा है ?

उत्तर : अन्य कर्मों की जघन्य स्थिति से इस सातावेदनीय कर्म का कुछ विशेष जघन्य बन्ध है अत: आनुपूर्वी (क्रम) का उल्लंघन करके सर्वप्रथम स्वसंवेद्य जिसका फल है ऐसे वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध कहा है। **(रा.वा.उ. १८)**

३. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध कितना होता है?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के असंख्यातवें भाग कम $\frac{३}{७}$ सागर, द्वीन्द्रिय जीव के पल्य के संख्यातवें भाग कम $\frac{७५}{७}$ सागर, त्रीन्द्रिय जीव के पल्य के संख्यातवें भाग कम $\frac{१५०}{७}$ सागर, चतुरिन्द्रिय जीव के पल्य के संख्यातवें भाग कम $\frac{३००}{७}$ सागर तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के पल्य के संख्यातवें भाग कम $\frac{३०००}{७}$ सागर प्रमाण होता है। **(ध. ६/१९६)**

४. प्रश्न : वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : वेदनीय कर्म में साता वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध सूक्ष्म साम्पराय क्षपक अपने अन्तिम समय में करता है **(ध. ६/१८६)** तथा असाता वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव करता है। **(गो.क. १४३)**

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

नाम-गोत्रयो: अष्टौ।

(नामगोत्रयो:) नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध (अष्टौ) आठ मुहूर्त प्रमाण होता है।

अर्थ - नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण है।

१. प्रश्न : क्रम का उल्लंघन करके नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध पहले क्यों कहा है ?

उत्तर : आनुपूर्वी विशेष का उल्लंघन करके जघन्य स्थिति का वर्णन करने पर मोहनीय कर्म और आयु कर्म से व्यवहित अर्थात् जिनका बन्ध मोहनीय एवं आयु कर्म के आधीन है, ऐसे नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति कितनी है ? ऐसी शंका होने पर आचार्य महाराज ने यहाँ नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति कही है। **(रा.वा.उ. १९)**

२. प्रश्न : नाम कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध कितना एवं किसके होता है ?

उत्तर : नाम कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण होता है। **(त.सू. ८/१९)**

नोट : शेष उत्तर प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध एवं उसके स्वामी का विचार आगे किया जा रहा है।

३. प्रश्न : गति एवं जाति नामकर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : तिर्यग्गति एवं मनुष्यगति का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम $\frac{२}{७}$ सागर (सागरोपम के सात भागों में से दो भाग) प्रमाण होता है। **(ध. ६/१९०)** नरकगति एवं देवगति नामकर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन सागरोपम सहस्र के दो बटे सात भाग प्रमाण होता है। **(ध. ६/१९४)**

४. प्रश्न : गति एवं जाति का जघन्य स्थिति बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति एवं एकेन्द्रिय आदि पाँच जाति नाम कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र सर्वजघन्य स्थिति बन्ध पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/१९२)** नरकगति एवं देवगति की जघन्या स्थिति सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के द्वारा बाँधी जाती है। **(ध. ६/१९४)**

एकेन्द्रिय आदि जाति का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन सागरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण होता है। **(ध. ६/१९०)**

५. प्रश्न : शरीर एवं अंगोपांग नामकर्म का जघन्य स्थिति बन्ध कितना है ?

उत्तर : औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर एवं औदारिक अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण है। **(ध. ६/१९०)** वैक्रियिक शरीर एवं वैक्रियिक अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन सागरोपम सहस्र के दो बटे सात भाग है। **(ध. ६/१९४)**

आहारक शरीर एवं आहारक अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध अन्त: कोटाकोटी सागर प्रमाण है। **(ध. ६/१९७)**

६. प्रश्न : शरीर एवं अंगोपांगों का जघन्य स्थिति-बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर एवं औदारिक शरीर अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि अन्यत्र सर्व जघन्य स्थिति बन्ध पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/१९२)**

वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नाम कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के द्वारा किया जाता है। **(ध. ६/१९४)**

आहारक शरीर एवं आहारक शरीर अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध अपूर्वकरण के चरम समय से लेकर सप्तमभाग तक उतरे हुए अपूर्वकरण क्षपक के होता है। **(ध. ६/१९७)** आहारक शरीर एवं आहारक शरीर अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध क्षपक श्रेणी वालों के अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के समय आठवें गुणस्थान के छठे भाग में नियम से होता है। **(गो.क. १४१)**

७. प्रश्न : निर्माण, संस्थान, संहनन, स्पर्शादि चार, अगुरुलघु षट्क, दो विहायोगति, प्रत्येक शरीरादि दस एवं इससे विपरीत साधारण शरीरादि दस प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : निर्माण, छह संहनन, छह संस्थान, स्पर्शादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, प्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्त, स्थिर, आदेय, साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दु:स्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय एवं अयश: कीर्ति इन बयालीस प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण है। **(ध. ६/१९०)**

८. प्रश्न : उपर्युक्त निर्माणादि अयश:कीर्ति पर्यन्त प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : उपर्युक्त निर्माणादि अयश:कीर्ति पर्यन्त प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में ग्रहण करना चाहिए क्योंकि अन्यत्र सर्वजघन्य स्थिति बन्ध पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/१९२)**

यश:कीर्ति का जघन्य स्थितिबन्ध चरमसमयवर्ती सकषायी जीव के होता है। **(ध. ६/१९८)**

९. प्रश्न : गत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : तिर्यग्गत्यानुपूर्वी एवं मनुष्य गत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भाग है। **(ध. ६/१९०)** नरक गत्यानुपूर्वी एवं देवगत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन सागरोपम सहस्र के दो बटे सात भाग है। **(ध. ६/ १९४)**

१०. प्रश्न : गत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : तिर्यग्गत्यानुपूर्वी एवं मनुष्य गत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध सर्वविशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों में ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र सर्व जघन्य स्थिति बन्ध पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/१९२)**

नरकगत्यानुपूर्वी एवं देवगत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के होता है। **(ध. ६/१९४)**

११. प्रश्न : इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के सिवाय अन्यत्र क्यों नहीं पाया जाता है ?

उत्तर : विशिष्ट जातियों की विशुद्धि को देखकर ही स्थितिबन्ध के जघन्यता संभव है इसलिए बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के सिवाय उसका अन्यत्र पाया जाना संभव नहीं है। **(ध. ६/१९२)**

१२. प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबन्ध कितना एवं किसके होता है ?

उत्तर : तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबन्ध अन्त: कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। **(ध. ६/१९७)** यह अपूर्वकरण के चरम समय से लेकर सप्तम भाग तक उतरे हुए अपूर्वकरण क्षपक के होता है। **(ध. ६/१९७)**

तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबन्ध क्षपक श्रेणी वालों के अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के समय आठवें गुणस्थान के छठे भाग में नियम से होता है। **(गो.क. १४१)**

१३. प्रश्न : गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : गोत्र कर्म में से उच्च गोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण तथा नीच गोत्र का पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण है। **(ध. ६/१९०)**

१४. प्रश्न : गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : उच्चगोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध चरम समयवर्ती सकषायी जीव के होता है। **(ध. ६/१९८)** नीच गोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र सर्वजघन्य स्थितिबन्ध पाया नहीं जाता है। **(ध. ६/१९२)**

१५. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के नाम और गोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के असंख्यातवें भाग कम दो बटे सात सागर, द्वीन्द्रिय जीव के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पचास बटे सात ($\frac{५०}{७}$) सागर, त्रीन्द्रिय जीव के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम सौ बटे सात ($\frac{१००}{७}$) सागर, चतुरिन्द्रिय जीव के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम दो सौ बटे सात ($\frac{२००}{७}$) सागर तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम दो हजार बटे सात ($\frac{२०००}{७}$) सागर प्रमाण है। **(ध. ६/१९४-१९६)**

शेष कर्मों की जघन्य स्थिति-

शेषाणामान्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

शेषाणां-अन्तः मुहूर्त्ता।

(शेषाणां) शेष (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय) कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध (अन्तर्मुहूर्ता) अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है।

अर्थ - शेष ज्ञानावरणादि पाँच कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है।

१. प्रश्न : किन-किन कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ?

उत्तर : पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण (चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन), लोभ संज्वलन और पाँचों अन्तराय, इन पन्द्रह कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। **(ध. ६/१८२)**

२. प्रश्न : इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : पाँच ज्ञानावरण एवं चार दर्शनावरण कर्म तथा पाँच अन्तराय का जघन्य स्थिति बन्ध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव के होता है तथा संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्ति करण गुणस्थान में होता है। **(गो.क. १५१)**

३. प्रश्न : दर्शनावरण की पाँच निद्राओं का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : दर्शनावरण की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यान गृद्धि इन पाँच निद्राओं का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के तीन बटे सात भाग प्रमाण है। **(ध. ६/१८४)**

४. प्रश्न : निद्रादि प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध किसके होता है ?

उत्तर : निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला तथा स्त्यानगृद्धि इन पाँच प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक के होता है। **(गो.क. १४३)**

५. प्रश्न : मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : मिथ्यात्व कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के सात बटे सात भाग प्रमाण है।

अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के चार बटे सात भाग प्रमाण है।

क्रोध संज्वलन का जघन्य स्थितिबन्ध दो मास प्रमाण है।

मान संज्वलन का जघन्य स्थिति बन्ध एक मास प्रमाण है।

माया संज्वलन का जघन्य स्थिति बन्ध एक पक्ष प्रमाण है।

पुरुष वेद का जघन्य स्थिति बन्ध आठ वर्ष है।

स्त्रीवेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भाग है। **(ध. ६/१८६-९०)**

नोट : सम्यक् प्रकृति एवं सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध नहीं होता है।

६. प्रश्न : मिथ्यात्व कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कौन करता है ?

उत्तर : बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के आबाधास्थान विशेष स्वरूप एक रूप अधिक, आवली के असंख्यातवें भाग से एक आबाधा काण्डक को गुणा करके उसमें से एक कम करके सागरोपम में से घटा देने पर मिथ्यात्व कर्म की जघन्य स्थिति उत्पन्न होती है। **(ध. ६/१८७)**

७. प्रश्न : बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों में अथवा सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक में मिथ्यात्व का जघन्य स्थिति बन्ध क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं क्योंकि बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों में अथवा सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवों में वीचारस्थानों की बहुलता का अभाव है। **(ध. पु. ६/१८७)**

८. प्रश्न : अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : अनन्तानुबन्धी चतुष्क का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव करते हैं।

अप्रत्याख्यान चतुष्क एवं प्रत्याख्यान चतुष्क का भी इसी प्रकार जानना चाहिए। **(गो.क. १४३)** संज्वलन क्रोध, मान, माया का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण क्षपक के होता है। संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान में होता है। **(गो.क. १५१)**

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेद का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव करता है। **(ध. ६/१९२)** पुरुष वेद का जघन्य स्थिति बन्ध अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में होता है। **(गो.क. १५१)**

९. प्रश्न : आयु कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : नरकायु एवं देवायु का जघन्य स्थितिबन्ध दस हजार (१०,०००) वर्ष प्रमाण तथा मनुष्य आयु और तिर्यञ्च आयु का अन्तर्मुहूर्त अर्थात् क्षुद्रभव या उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है। **(गो.क. १४२)**

१०. प्रश्न : चार आयुओं का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : नरकायु का जघन्य स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक या असंज्ञी पर्याप्तक जीव करते हैं। विशेष यह है कि सर्व विशुद्धि से विशुद्ध संज्ञी जीव या संक्लिष्ट परिणाम युक्त असंज्ञी जीव नरकायु का जघन्य स्थितिबन्ध करता है। **देवायु** का जघन्य स्थितिबन्ध विशुद्धि से परिणत मिथ्यादृष्टि असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव या तत्योग्य संक्लेश से परिणत संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव करता है। **मनुष्य** एवं **तिर्यंच** आयु का जघन्य स्थितिबन्ध तत्योग्य संक्लेश से युक्त कर्मभूमिया तिर्यञ्च, मनुष्यों के होता है। **(पं.सं. ४३७-३९)**

११. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के इन कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के ज्ञानावरणीय कर्म का जघन्य स्थिति बंध पल्य के असंख्यातवें भाग कम एक सागर, द्वीन्द्रिय के पल्य के संख्यातवे भाग कम २५ सागर, त्रीन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम पचास सागर, चतुरिन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम सौ सागर प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम एक हजार सागर प्रमाण होता है। **(ध.६/१९६)**

१२. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के दर्शनावरणीय एवं अन्तराय का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीवों के दर्शनावरणीय एवं अन्तराय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के असंख्यातवें भाग कम तीन बटे सात ($\frac{३}{७}$) सागर, द्वीन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम पचहत्तर बटे सात ($\frac{७५}{७}$) सागर, त्रीन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम एक सौ पचास बटे सात ($\frac{१५०}{७}$) सागर, चतुरिन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम तीन सौ बटे सात ($\frac{३००}{७}$) सागर, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम तीन हजार बटे सात ($\frac{३०००}{७}$) सागर प्रमाण होता है। **(ध. ६/१९५)**

१३. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के मोहनीय कर्म का पल्य के असंख्यातवें भाग कम एक सागर, कषाय वेदनीय का पल्य के असंख्यातवें भाग कम चार बटे सात ($\frac{४}{७}$) सागर तथा नोकषाय का पल्य के असंख्यातवें भाग कम दो बटे सात ($\frac{२}{७}$) सागर प्रमाण है।

द्वीन्द्रिय जीवों के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पच्चीस सागर, कषाय वेदनीय का पल्योपम के संख्यातवें भाग कम सौ बटे सात ($\frac{१००}{७}$) सागर, नोकषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातवें भाग कम पचास बटे सात ($\frac{५०}{७}$) सागर प्रमाण होता है।

त्रीन्द्रिय जीवों के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पचास (५०) सागर, कषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातवें भाग कम दो सौ बटे सात ($\frac{२००}{७}$) सागर तथा नोकषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातवें भाग कम सौ बटे सात ($\frac{१००}{७}$) सागर प्रमाण होता है।

चतुरिन्द्रिय जीवों के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध पल्य के संख्यातवें भाग कम सौ (१००) सागर, कषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातवें भाग कम चार सौ बटे सात ($\frac{४००}{७}$) सागर प्रमाण है तथा नोकषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातवें भाग कम ($\frac{२००}{७}$) सागर प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के संख्यातवें भाग कम एक हजार सागर, कषाय वेदनीय का चार हजार बटे ७ सागर ($\frac{४०००}{७}$) सागर तथा नोकषाय वेदनीय का दो हजार बटे सात ($\frac{२०००}{७}$) सागर प्रमाण है। **(ध. ६/१९४-९५)**

१४. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के आयु कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है?

उत्तर : एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आयु कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। **(रा.वा. ३/३९)**

अनुभागादि बन्ध

अनुभव/अनुभाग बन्ध का लक्षण-

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

विपाकः- अनुभवः।

(विपाकः) फल देने को **(अनुभवः)** अनुभाग बन्ध कहते हैं।

अर्थ - उदय में आकर कर्मों के फल देने को अनुभव कहते हैं।

१. प्रश्न : विपाक किसे कहते हैं ?

उत्तर : नाना प्रकार के विशिष्ट पाक का नाम विपाक है। अनुग्रह और उपघात करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों के पूर्वास्रव के कारण तीव्र, मन्द भाव निमित्तक विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। **अथवा-**

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेद जनित विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। **(रा.वा.१)** कर्म के उदय एवं उदीरणा को विपाक कहते हैं। **(ध. १४/१०)** विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक का नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायों के तीव्र, मन्द आदि रूप भावास्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होना विपाक है। **अथवा** - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेद से उत्पन्न हुआ वैश्व रूप नाना प्रकार का पाक विपाक है। इसी को अनुभाग कहते हैं। **(सर्वा. ७७४)**

२. प्रश्न : अनुभाग कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अनुभाग दो प्रकार का होता है-

(१) शुभ अनुभाग (२) अशुभ अनुभाग। **अथवा -**

अनुभाग बन्ध चार प्रकार है - उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध, अनुत्कृष्ट अनुभाग बन्ध, जघन्य अनुभाग

बन्ध तथा अजघन्य अनुभाग बन्ध। इनमें से उत्कृष्टादि बन्ध भी चार-चार प्रकार का है। सादि, अनादि, ध्रुव एवं अध्रुव।

३. प्रश्न : शुभ एवं अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध किन परिणामों से होता है ?

उत्तर : शुभ परिणामों की प्रकर्षता से शुभ प्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभाग पड़ता है और अशुभ प्रकृतियों में निकृष्ट अनुभाग पड़ता है।

अशुभ परिणामों की प्रकर्षता से अशुभ प्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभाग और शुभ प्रकृतियों में जघन्य अनुभाग पड़ता है। **(रा.वा.१)**

सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध विशुद्ध परिणामों से होता है और असातावेदनीयादि अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध संक्लेश परिणामों से होता है, तथा इनसे विपरीत संक्लेश परिणामों से शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है तथा विशुद्ध परिणामों से अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है। **(गो.क. १६३)**

४. प्रश्न : कर्मों का अनुभाग किस रूप में फलता है ?

उत्तर : आठ कर्मों की मूल प्रकृतियों का अनुभव स्वमुख से ही प्रवृत्त होता है। आयु, दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय को छोड़कर तुल्य जातीय उत्तर प्रकृतियों का अनुभव परमुख से भी प्रवृत्त होता है।

नरकायु के मुख से तिर्यञ्चायु या मनुष्यायु का विपाक नहीं होता है और दर्शन मोह-चारित्रमोह रूप से और चारित्र मोह दर्शन मोह रूप से विपाक को प्राप्त नहीं होता है। **(सर्वा. ७७४)**

५. प्रश्न : कर्म प्रकृतियों का अनुभाग कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अघातिया कर्मों में शुभ प्रकृतियों का अनुभाग चार प्रकार का है- गुड़, खांड, शर्करा और अमृत। जैसे इनमें क्रम से अधिक-अधिक मिठास होने से सुखदायक है वैसे प्रशस्त प्रकृति के स्पर्धक भी होते हैं।

अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग चार प्रकार का है-

(१) नीम (२) कांजीर (३) विष (४) कालकूट (हलाहल)। जिस प्रकार निम्ब, काञ्जीर, विष और हलाहल एक दूसरे की अपेक्षा अधिक-अधिक कटु होने से दु:खदायक हैं; उसी प्रकार निम्ब भाग, काञ्जीर भाग, विषभाग और हलाहल भाग रूप अप्रशस्त प्रकृतियों के स्पर्धक दु:ख के कारण हैं।

घातिया कर्मों का अनुभाग चार प्रकार का है-

(१) लता (२) काष्ठ (३) हड्डी (४) शैल।

लता भाग से लेकर दारु भाग के अनन्तवें भाग पर्यन्त शक्तिरूप स्पर्धक देशघाती हैं। शेष दारु के अनन्त बहु भाग से अस्थि और शैल रूप स्पर्धक सर्वघाती हैं। **(गो.क.जी. १८०)**

६. प्रश्न : ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय कर्म का जघन्य बंध किसके है ?

उत्तर : ज्ञानावरण की पाँच, पाँच अन्तराय, चक्षुदर्शनावरण आदि चार तथा निद्रा-प्रचला इन सोलह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध (क्षपक श्रेणी वाले के) अपनी-अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के समय होता है। **(गो.क. १७०)** स्त्यान-गृद्धि का जघन्य अनुभाग बन्ध अपने गुणस्थान में जो संयमगुण को धारण करने के सम्मुख हुआ है ऐसा विशुद्ध परिणामी जीव बाँधता है। **(गो.क. १७०-७१)**

नोट : ज्ञानावरणादि की बन्ध व्युच्छित्ति १०वें गुणस्थान में एवं निद्रा-प्रचला की ८वें गुणस्थान के दूसरे भाग में होती है।

७. प्रश्न : मोहनीय कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : अनन्तानुबन्धी चतुष्क का जघन्य अनुभाग बन्ध (सातिशय) मिथ्यादृष्टि के, अप्रत्याख्यान चतुष्क का (संयम के सम्मुख) असंयत सम्यग्दृष्टि के, प्रत्याख्यान चतुष्क का (संयम के सम्मुख) देशसंयत पंचम गुणस्थानवर्ती के होता है।

संज्वलन चतुष्क का अपनी व्युच्छित्ति के स्थान में (क्षपक श्रेणी में स्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीव के) होता है। **(गो.क. १७०-७१)**

हास्य, रति, भय, जुगुप्सा का अपनी व्युच्छित्ति के स्थान में (अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय) में करता है।

अरति, शोक को अप्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख हुए विशुद्ध प्रमत्त-गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है।

स्त्रीवेद एवं नपुंसक वेद को चारों गति के विशुद्ध परिणामी जीव बाँधते हैं। पुरुष वेद को अपनी बन्ध व्युच्छित्ति के स्थान अर्थात् (क्षपक श्रेणी में स्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती) जीव जघन्य अनुभाग सहित बाँधता है। **(गो.क. १७०-७५)**

८. प्रश्न : वेदनीय एवं आयु कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : साता एवं असाता वेदनीय का जघन्य अनुभाग बंध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि जीव के होता है। **(गो.क.जी. १७७)** चारों आयु का जघन्य अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च बाँधता है। **(गो.क.जी. १७२)**

९. प्रश्न : चारों गति का जघन्य अनुभाग बंध कौन करता है ?

उत्तर : नरकगति को जघन्य अनुभाग सहित (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य-तिर्यञ्च जीव ही बाँधता है।

तिर्यञ्चगति को सप्तम नरक में (सम्यक्त्व के अभिमुख) विशुद्ध नारकी जीव बाँधता है।

मनुष्यगति एवं देवगति को परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव बाँधता है। **(गो.क. १७२-७७)**

१०. प्रश्न : पाँच जाति का जघन्य अनुभाग बंध कौन करता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जाति का जघन्य अनुभाग बन्ध नरक बिना शेष तीन गति वाले तीव्र-विशुद्ध व संक्लेश रहित मध्यम परिणामी जीव करते हैं। **(गो.क. १७३)**

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति का जघन्य अनुभाग बन्ध मनुष्य व तिर्यञ्चों के होता है।

पंचेन्द्रिय जाति का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति के संक्लेश परिणामी जीव करते हैं। **(गो.क. १७२-७५)**

११. प्रश्न : पाँच शरीर एवं तीन अंगोपांग का जघन्य अनुभाग बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : औदारिक शरीर एवं औदारिक शरीर अंगोपांग का जघन्य अनुभाग बन्ध (संक्लिष्ट) देव एवं नारकियों के होता है।

वैक्रियिक शरीर एवं वैक्रियिक शरीर अंगोपांग का बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीव करते हैं।

आहारक शरीर-आहारक शरीर अंगोपांग इन दो शुभ प्रकृतियों को प्रमत्त-गुणस्थान के सम्मुख हुआ संक्लेश परिणाम वाला अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है।

तैजस एवं कार्मण शरीर का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति सम्बन्धी संक्लिष्ट परिणामी जीवों के होता है। **(गो.क.जी. १७२-७५)**

१२. प्रश्न : निर्माण, संघात एवं संहनन नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है?

उत्तर : निर्माण नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति सम्बन्धी संक्लिष्ट जीवों के, समचतुरस्र आदि छह संस्थान एवं वज्रर्षभनाराचादि छह संहननों का परिवर्तमान मध्यम परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि जीव करता है। **(गो.क. १७२-७७)**

१३. प्रश्न : प्रशस्त एवं अप्रशस्त स्पर्शादि का जघन्य अनुभाग बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : प्रशस्त स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति सम्बन्धी संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

अप्रशस्त वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श का अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के स्थान में अर्थात् अपूर्वकरण गुणस्थान में स्थित क्षपक के होता है। **(गो.क. १७५-७७)**

१४. प्रश्न : चार आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात एवं परघात का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : मनुष्य गत्यानुपूर्वी एवं देवगत्यानुपूर्वी का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

नरक गत्यानुपूर्वी का मनुष्य एवं तिर्यञ्च करता है।

तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी का सप्तम नरक में (सम्यक्त्व के अभिमुख) विशुद्ध नारकी जीव करता है।

अगुरुलघु एवं परघात का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति का संक्लेश परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

उपघात का जघन्य अनुभाग बन्ध अपनी व्युच्छित्ति के स्थान अर्थात् अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती बन्ध व्युच्छित्ति से पहले समय में करता है। **(गो.जी. १७०-७७)**

१५. प्रश्न : आतप, उद्योत, उच्छ्वास एवं विहायोगति का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : आतप नाम कर्म का बन्ध तीव्र परिणामी भवनत्रिक से ईशान स्वर्ग तक के संक्लेश परिणामी (मिथ्यादृष्टि) देव के होता है।

उद्योत नामकर्म का बन्ध संक्लिष्ट परिणामी (मिथ्यादृष्टि) देव-नारकी करते हैं।

उच्छ्वास का बन्ध चारों गति के संक्लेश परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। अप्रशस्त विहायोगति एवं प्रशस्त विहायोगति का बन्ध मध्यम परिणामों से युक्त (मिथ्यादृष्टि) जीव के होता है। **(गो.क. १७३-७७)**

१६. प्रश्न : प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, त्रस, स्थावर, सुभग-दुर्भग एवं सुस्वर-दुस्वर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : प्रत्येक शरीर एवं त्रस नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति के संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

साधारण शरीर का मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च के होता है।

स्थावर नामकर्म का मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि देव, मनुष्य एवं तिर्यञ्च करते हैं।

सुभग-दुर्भग एवं सुस्वर-दु:स्वर नामकर्म का मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। **(गो.क. १७२-७७)**

१७. प्रश्न : शुभ-अशुभ, सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त एवं स्थिर-अस्थिर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : शुभ-अशुभ एवं स्थिर-अस्थिर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है।

सूक्ष्म एवं अपर्याप्तक नामकर्म का मिथ्यादृष्टि मनुष्य एवं तिर्यञ्च के होता है।

बादर एवं पर्याप्त नामकर्म का चारों गति के तीव्र परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। **(गो.क. १७२-७७)**

१८. प्रश्न : आदेय-अनादेय एवं यश:कीर्ति-अयश:कीर्ति नामकर्म का जघन्य अनुभाग किसके होता है ?

उत्तर : आदेय-अनादेय का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

यश:कीर्ति एवं अयश:कीर्ति नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है। **(गो.क. १७७)**

१९. प्रश्न : तीर्थंकर नामकर्म एवं गोत्र कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध नरक के सम्मुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के होता है।

नीच गोत्र का जघन्य अनुभाग बन्ध सातवें नरक में सम्यक्त्व के सम्मुख विशुद्ध परिणामी नारकी जीव के होता है।

उच्च गोत्र का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करता है। **(गो.क. १७३-७७)**

२०. प्रश्न : ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यान चतुष्क, प्रत्याख्यान चतुष्क, संज्वलन चतुष्क, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, नपुंसक वेद एवं पुरुष वेद का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध (चारों गति के तीव्र परिणामी) मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। **(गो.क.जी. १६८)**

२१. प्रश्न : वेदनीय एवं आयु कर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : साता वेदनीय का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक-श्रेणी में होता है। असातावेदनीय का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि ही करते हैं।

तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के होता है। देवायु का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं। नरकायु का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि के होता है। **(गो.क. १६५-६८)**

२२. प्रश्न : चार गति एवं पाँच जाति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : नरकगति नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि (मनुष्य-तिर्यञ्च) करते हैं। तिर्यञ्च गति नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि (देव-नारकी) के होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति का अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि (मनुष्य-तिर्यञ्च) करते हैं, पंचेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी वाले करते हैं।

मनुष्यगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध देव-नारकी असंयत सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन के लिए तीन करण करते हुए अनिवृत्ति करण के अन्त समय में वर्तमान जीव के होता है।

देवगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी वाले जीव करते हैं। एकेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध संक्लेश परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि देव अपनी आयु के छह माह शेष रहने पर करता है। **(गो.क.जी. १६६-६८)**

२३. प्रश्न : शरीर एवं अंगोपांग नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : औदारिक शरीर एवं औदारिक शरीर अंगोपांग का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध सम्यग्दृष्टि देव-नारकी के होता है। वैक्रियिक शरीर और वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक शरीर अंगोपांग, तैजस-कार्मण शरीर का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक के होता है। **(गो.क. १६६)**

२४. प्रश्न : निर्माण, छह संस्थान एवं छह संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है?

उत्तर : निर्माण एवं समचतुरस्र संस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक के होता है। न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पाँच संस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध तीव्र परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

वज्रऋषभ नाराच संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध सम्यग्दृष्टि देव-नारकी के होता है। वज्रनाराचादि चार संहननों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध (चारों गति के तीव्र परिणामी) मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

असंप्राप्तासृपाटिका संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि देव-नारकी करते हैं। **(गो.क. १६६-६९)**

२५. प्रश्न : प्रशस्त-अप्रशस्त वर्णादि चार एवं अनुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध कौन करता है?

उत्तर : प्रशस्त वर्ण, गन्ध, स्पर्श और रस का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी में स्थित जीव करता है। अप्रशस्त वर्णादि का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध (चारों गति के) तीव्र परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

नरक गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि (मनुष्य-तिर्यञ्चों) के होता है। तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव-नारकियों के होता है।

मनुष्य गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध सम्यग्दृष्टि देव-नारकी करते हैं। देवगत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक (अपूर्वकरण-गुणस्थानवर्ती) जीव करता है। **(गो.क.जी. १६६-६९)**

२६. प्रश्न : अगुरुलघु षट्क एवं विहायोगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : अगुरुलघु, परघात एवं प्रशस्त विहायोगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक-अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं।

उपघात एवं अप्रशस्त विहायोगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध चारों गति के तीव्र परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

सातवें नरक में उपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि विशुद्ध नारकी उद्योत का तीव्र अनुभाग बन्ध करता है क्योंकि अति विशुद्ध के उद्योत प्रकृति का बन्ध नहीं होता। आतप का, विशुद्ध परिणामवाला मिथ्यादृष्टि देव अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर तीव्र अनुभाग बन्ध करता है।

उच्छ्वास का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव करता है। **(गो.क.जी. १६६-६९)**

२७. प्रश्न : प्रत्येकशरीर आदि तीर्थंकर पर्यन्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, बादर, पर्याप्त, स्थिर, आदेय, यश: कीर्ति तथा तीर्थंकर नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी में होता है। स्थावर, दुर्भग, दु:स्वर, अशुभ, अस्थिर, अनादेय तथा अयश:कीर्ति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध चारों गति के तीव्र परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

साधारण शरीर, सूक्ष्म तथा अपर्याप्त नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध संक्लेश परिणाम युक्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च करते हैं। **(गो.क.जी. १६६-६९)**

२८. प्रश्न : गोत्र एवं अन्तराय कर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : उच्चगोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी में होता है। अन्तराय का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध चारों गति के तीव्र परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। **(गो.क. १६६-६९)**

२९. प्रश्न : परिवर्तमान मध्यम परिणाम और अपरिवर्तमान मध्यम परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो परिणाम संक्लेश अथवा विशुद्धि से प्रतिसमय बढ़ते ही जावें या घटते ही जावें, पुन: पूर्वावस्था को प्राप्त न हों उन्हें अपरिवर्तमान परिणाम कहते हैं। तथा जो परिणाम एक अवस्था से दूसरी

अवस्था को प्राप्त होकर पुन: पूर्वावस्था को प्राप्त हो सकें वे परिवर्तमान परिणाम हैं। **(गो.क.जी. १७७)**

उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से परिणाम तीन प्रकार के हैं। यहाँ सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि परिणामों से जघन्य अनुभाग बन्ध नहीं होता, क्योंकि अप्रशस्त-प्रकृतियों के अनुभाग से अनन्तगुणा अनुभाग प्रशस्त प्रकृतियों का होता है। अत: उनमें अनन्तगुणी वृद्धि का प्रसङ्ग है। तथा सर्वोत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से भी जघन्य अनुभाग बन्ध नहीं होता क्योंकि तीव्र संक्लेश से अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग की वृद्धि का प्रसंग आता है अत: जघन्य अथवा उत्कृष्ट परिणामों का निराकरण करने के लिए परिवर्तमान मध्यम परिणामों से पूर्वोक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है। **(गो.क.जी. १७७)**

३०. प्रश्न : कर्मों का विपाक कितने प्रकार से होता है ?

उत्तर : कर्मों का विपाक चार प्रकार से होता है-

(१) **पुद्गल विपाकी** (जो शरीर के आश्रय से फल दे)- शरीर नाम कर्म से लेकर स्पर्श पर्यन्त पचास प्रकृतियाँ, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और निर्माण ये बासठ प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी हैं।

(२) **क्षेत्र विपाकी** (जो क्षेत्र विशेष अर्थात् एक भव से दूसरे भव में जाते समय फल देती हैं) चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ हैं।

(३) **भवविपाकी** (जो भव अर्थात् पर्याय विशेष में फल देती हैं) चार आयु भव विपाकी हैं।

(४) **जीव विपाकी** (जो जीव में अपना फल देती हैं) शेष सभी प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं। **(रा.वा. ८/२३)**

इन कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है-

स यथानाम ॥२२॥

(स) वह अनुभव (यथानाम) अपने नाम के अनुसार फल देता है।

अर्थ - नामानुसार कर्मों का फल प्राप्त होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : पूर्व में उपार्जित नाना प्रकार के कर्मों का विपाक अनुभव है। यह तो जान लिया परन्तु यह नहीं जाना कि उनका अनुभाग प्रसंख्यात है कि अप्रसंख्यात ? ऐसा प्रश्न होने पर यह प्रसंख्यात अनुभव में आता है यह बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. १ उ./२२)**

२. प्रश्न : ज्ञानावरणादि कर्मों का क्या अनुभव है ?

उत्तर : ज्ञानावरण का फल ज्ञान का अभाव करना है। दर्शनावरण का भी फल दर्शन-शक्ति का उपरोध करना है, इत्यादि रूप से सब कर्मों की सार्थक संज्ञा जाननी चाहिए। **(सर्वा. ७७६)**

नोट - ज्ञानावरणादि का स्वभाव देखें- (८/४)

फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है, उसे कहते हैं-

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

तत: च निर्जरा।

अर्थ - फल देकर कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि विपाक अनुभव है तो कर्म आवरण के समान आत्मा में स्थित रहते हैं कि फल देकर नष्ट हो जाते हैं ? इस शंका के उत्तर में यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. २३ उ.)** यदि विपाक का नाम अनुभव है ऐसा स्वीकार करते हो तो अनुभूत होने पर वह कर्म आभरण के समान अवस्थित रहता है या फल देने के बाद वह झड़ जाता है ? इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ७७७)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द अन्य निमित्तों का समुच्चय करने के लिए दिया है। **'तपसा निर्जरा च'** यह आगे कहेंगे, अत: 'च' का प्रयोजन यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से निर्जरा होती है और अन्य प्रकार से भी होती है। **(सर्वा. ७७८)**

३. प्रश्न : निर्जरा क्या है ?

उत्तर : पूर्वोपार्जित कर्म का झड़ जाना ही निर्जरा है। आत्मा को सुख वा दु:ख देकर खाये हुए ओदनादि आहार के मल की तरह स्थिति के क्षय हो जाने के कारण अवस्थान का अभाव होने से पूर्वोपार्जित कर्मों का झड़ जाना नष्ट हो जाना ही निर्जरा है। **(रा.वा.१)** जिस प्रकार भात आदि का मल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है उसी प्रकार आत्मा को पीड़ा (दु:ख) और अनुग्रह (सुख) रूप फल देकर पूर्व प्राप्त स्थिति का नाश हो जाने से स्थिति न रहने के कारण कर्म की निवृत्ति का होना निर्जरा है। **(सर्वा. ७७८)**

४. प्रश्न : निर्जरा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : निर्जरा दो प्रकार की होती है-

(१) विपाकजा निर्जरा (२) अविपाकजा निर्जरा। **अथवा**

(१) द्रव्य निर्जरा (२) भाव निर्जरा। **(द्र.सं. ३६)**

भाव निर्जरा के दो भेद :- (१) सविपाक निर्जरा (२) अविपाक निर्जरा **(भ.आ. १८४१)**

अथवा

(१) अबुद्धिपूर्वा निर्जरा (२) कुशलपूर्वा। **(रा.वा. ९/७)**

(१) एकदेश निर्जरा (२) सर्वदेश निर्जरा।

५. प्रश्न : विपाकजा निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनेक जाति विशेष रूपी भँवर युक्त चारगति रूपी संसार महासमुद्र में चिरकाल तक परिभ्रमण करने वाले इस जीव के क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभवोदयावलि रूपी स्रोतों में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्म का फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है। **(सर्वा. ७७८)**

चिरकाल से संसार भ्रमण करने वाले प्राणी के शुभाशुभ कर्मों का औदयिक भावों से उदयावलि स्रोतों से क्रम से यथाकाल प्रविष्ट होकर जिसका साता-असाता वा अन्यतर जिस रूप में बन्ध हुआ है उसका उस रूप में स्वाभाविक फल देकर स्थिति समाप्त करके निवृत्त हो जाना, उदयागत कर्म का परिमुक्त होकर विनाश को प्राप्त हो जाना ही विपाकजा निर्जरा है। **(रा.वा.२)**

६. प्रश्न : अविपाकजा निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म विपाक काल को प्राप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् जिन कर्मों का अभी उदयकाल नहीं आया है, उन्हें भी औपक्रमिक क्रिया विशेष के सामर्थ्य से, अनुदीर्ण कर्मों को भी बलात् उदयावलि में लाकर पका देना, अनुभव करना अविपाक निर्जरा है, जैसे- कच्चे आम, पनस आदि फलों को प्रयोग से पका दिया जाता है। **(रा.वा. २)**

आम और पनस को औपक्रमिक क्रिया विशेष के द्वारा जिस प्रकार अकाल में पका लेते हैं उसी प्रकार जिसका विपाक काल अभी नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी औपक्रमिक क्रियाविशेष की सामर्थ्य से उदयावलि के बाहर स्थित जो कर्म बलपूर्वक उदीरणा द्वारा उदयावलि में प्रविष्ट कराके अनुभवा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है। **(सर्वा. ७७८)**

७. प्रश्न : अबुद्धिपूर्वा एवं कुशलपूर्वा निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अबुद्धिपूर्वा - नरकादि गतियों में कर्मफल विपाक से होने वाली अबुद्धिपूर्वा निर्जरा है, वह अकुशलानुबन्धा है क्योंकि वह पापबन्ध की कारण है।

कुशलपूर्वा - परीषहजय और तप आदि से होने वाली निर्जरा कुशलमूला है जो शुभ कर्म का बन्ध करती है या सर्वथा बन्धरहित होती है। **(रा.वा. ९/७)**

८. प्रश्न : एकदेश एवं सर्वदेश निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : देशनिर्जरा - चतुर्गति में परिभ्रमण करते हुए जीवों के (समय पाकर) कर्मों के क्षय होनेसे जो निर्जरा होती है उसको देशनिर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सदा त्याग करने योग्य है।

सर्वनिर्जरा - बुद्धिमान लोग जो मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवर के साथ-साथ तपश्चरण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बहुत से कर्मों की निर्जरा करते हैं उसको सर्व निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा ग्रहण करने योग्य है।

९. प्रश्न : द्रव्य एवं भावनिर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य निर्जरा - जो कर्म झड़ते हैं वह द्रव्य निर्जरा है। **(द्र.सं. ३६ टी.)**

शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से नीरसीभूत पूर्वोपार्जित कर्मपुद्गलों का संवर पूर्वक भाव से एकदेशक्षय होना द्रव्य निर्जरा है। **(पं.का.ता. १४४)**

भाव निर्जरा : जीव के जिन भावों से पुद्गल कर्म झड़ते हैं, वे जीव के परिणाम भावनिर्जरा हैं। कर्मशक्ति के निर्मूलन में समर्थ जीव का शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है। **(पं.का.ता. १४४) (द्र.सं. ३६ टी.)**

१०. प्रश्न : संवर के बाद निर्जरा का कथन करना चाहिए क्योंकि जैसा उद्देश्य होता है वैसा ही निर्देश होता है ?

उत्तर : यद्यपि संवर के बाद निर्जरा के कथन का क्रम आता है फिर भी अनुभव के अनुवाद का परिहार करने के लिए यहाँ कहा गया है, क्योंकि वहाँ पर निर्जरा का पाठ करने पर पुन: **'विपाकोऽनुभव:'** का पुनर्कथन करना पड़ता अत: लाघव के विचार से विपाक के बाद ही निर्जरा का वर्णन कर दिया गया है। **(रा.वा. ४)**

थोड़े में बोध कराने के लिए यहाँ निर्जरा का उल्लेख किया है। संवर के बाद पाठ देने पर **'विपाकोऽनुभव:'** इसका फिर से कथन करना पड़ता। **(सर्वा. ७७८)**

प्रदेश बन्ध

नामप्रत्यया: सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा: ॥२४॥

नाम-प्रत्यया: सर्वत:-योगविशेषात्-सूक्ष्म-एक-क्षेत्र-अवगाहस्थिता: सर्व-आत्म-प्रदेशेषु-अनन्तानन्त-प्रदेशा:।

(नामप्रत्यया:) अपने नाम के अनुसार (सर्वत:) सभी भवों में (योगविशेषात्) योग की विशेषता से (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के सभी प्रदेशों में (सूक्ष्म) सूक्ष्म (एक क्षेत्रावगाहस्थिता:) एकक्षेत्रावगाह रूप से स्थित (अनन्तानन्तप्रदेशा:) अनन्तानन्त कर्म पुद्गल आते हैं, वह प्रदेशबन्ध है।

अर्थ - अपने नाम के अनुसार, सभी भवों में योग विशेष से आने वाले, आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही, अनन्तानन्त कर्मपुद्गल प्रदेशबन्ध है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उस प्रदेश बन्ध के कथन में इनका निर्देश करना चाहिए कि यह प्रदेशबन्ध किन कारणों से होता है ? कब होता है ? कहाँ से होता है ? किस स्वभाव वाला होता है ? किसमें होता है ? कितने परिमाण में होता है ? उसके लिए यह यथासंख्य परिगृहीत प्रश्न की अपेक्षाभेद से सूत्र का वर्णन किया है। **(रा.वा. उ.२४)**

२. प्रश्न : 'नाम प्रत्यया:' इस पद का नामकर्म है कारण जिनका, ऐसा समास करना चाहिए ?

उत्तर : 'नामप्रत्यया:' इस पद का नामकर्म है कारण जिनका ऐसा विग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर ग्रन्थ (आगम) का विरोध आता है, अर्थात् ऐसा समास करने पर सर्व कर्म प्रकृतियों का नामकर्म ही कारण हो जायेगा, अत: आगम के विरुद्ध होने से नाम के अनुसार ही प्रदेशबन्ध होता है। नामप्रत्यय इससे हेतु का निर्देश किया है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'सर्वत:' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सभी भवों में होने वाला 'सर्वत:' कहा जाता है। अन्यत: भी देखा जाता है, इस प्रकार 'तस्' प्रत्यय करने पर सर्व भवों में होने वाला 'सर्वत:' ऐसा बनता है। इस 'सर्वत:' शब्द से काल का ग्रहण किया गया है। एक जीव के अतिक्रान्त अनन्त भव और आगामी असंख्यात संख्यात एवं अनन्त भव होते हैं। उन सर्व भवों में कर्मों का आस्रव होता है। **(रा.वा. २)**

सर्वत: प्रदेश बन्ध सभी भवों में होता है। **'सर्वेषु भवेषु इति सर्वत: '** यह इसकी व्युत्पत्ति है। सर्व शब्द से **''दृश्यतेऽन्यतोऽपि''** इस सूत्र द्वारा 'तसि' प्रत्यय करने पर 'सर्वत:' पद बनता है। इस पद द्वारा काल का ग्रहण किया गया है। एक-एक जीव के व्यतीत हुए अनन्तानन्त भव होते हैं और आगामी संख्यात, असंख्यात व अनन्तानन्त भव होते हैं। **(सर्वा. ७८०)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'योगविशेषात्' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'योगविशेष' वचन निमित्त के निर्देश के लिए है। मन, वचन, काय रूप योग का लक्षण पूर्व (छठे अध्याय) में कह दिया गया है। परस्पर विशिष्य होता है वह विशेष है। योग विशेष मन, वचन, काय के निमित्त से कर्म रूप पुद्गलों का आगमन होता है, अत: इस योगविशेष से निमित्त का निर्देश किया गया है। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : सूत्र में 'सूक्ष्म' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'सूक्ष्म' पद का ग्रहण कर्मयोग्य पुद्गलों के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिए किया है। कर्म रूप से ग्रहण करने योग्य पुद्गल सूक्ष्म हैं, स्थूल नहीं। **(रा.वा. ४)**

६. प्रश्न : लोक में कितने पुद्गल द्रव्य कर्म रूप होने के योग्य हैं ?

उत्तर : एक अथवा अनेक क्षेत्रों में स्थित पुद्गल द्रव्य के अनन्तवें भाग पुद्गल-परमाणुओं का समूह कर्म रूप होने योग्य है। और शेष (अनन्त बहुभाग) भाग प्रमाण कर्मरूप होने के अयोग्य है।

पुद्गल द्रव्य कर्म चार प्रकार के हैं-

(१) एक क्षेत्र योग्य (२) एकक्षेत्र अयोग्य (३) अनेक क्षेत्र योग्य (४) अनेक क्षेत्र अयोग्य।

इन सभी के सादि - अनादि आदि के भेद से आठ भेद होते हैं। **(गो.क. १८७)**

७. प्रश्न : एकक्षेत्र एवं अनेक क्षेत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक शरीर से रुके हुए स्थान को एकक्षेत्र कहते हैं। यद्यपि शरीर अवगाहना के स्थान जघन्य अवगाहना से उत्कृष्ट पर्यन्त अथवा समुद्घात की अपेक्षा लोकपर्यन्त है तथापि बहुत जीव घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की (जघन्यरूप) अवगाहना को धारण करने वाले हैं अत: मुख्यता से एकक्षेत्र का प्रमाण घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग मात्र कहा है। इतने प्रमाण क्षेत्र के बहुत प्रदेश हैं अत: प्रदेशों की अपेक्षा ये भी अनेक क्षेत्र हैं तथापि विवक्षा से यहाँ इस क्षेत्र को एक क्षेत्र कहा है। इस क्षेत्र को छोड़कर अवशेष लोकाकाश के सर्वक्षेत्र अनेकक्षेत्र हैं। **(गो.क. १८६)**

८. प्रश्न : सादि एवं अनादि द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट समयप्रबद्ध के प्रमाण को अतीतकालीन समयों से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उसे सर्व जीव राशि के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण प्राप्त होवे वह सर्व सादि द्रव्य का प्रमाण है। तथा इस सादि द्रव्य को सर्व पुद्गलराशि के प्रमाण में से घटाने पर जो शेष रहे वह अनादि पुद्गल द्रव्य का प्रमाण है। **(गो.क. १८८)**

९. प्रश्न : योग्य सादि द्रव्य तथा अयोग्य सादि द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक क्षेत्र सम्बन्धी सादि द्रव्य में अनन्त का भाग देने पर एक भाग प्रमाण एक क्षेत्र सम्बन्धी कर्मरूप होने योग्य सादि द्रव्य है। तथा अवशेष भाग प्रमाण एक क्षेत्र सम्बन्धी अयोग्य सादि द्रव्य है।

इसी प्रकार अनेक क्षेत्र सम्बन्धी सादि द्रव्य में अनन्त का भाग देने पर एक भाग प्रमाण अनेकक्षेत्र स्थित योग्य सादि द्रव्य तथा शेष भाग प्रमाण अनेक क्षेत्र अयोग्य सादि द्रव्य जानना चाहिए। **(गो.क.१८९)**

१०. प्रश्न : योग्य अनादि द्रव्य एवं अयोग्य अनादि द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक क्षेत्र में स्थित योग्य द्रव्य में से योग्य सादि द्रव्य को घटा देने पर एक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य प्राप्त होता है, तथा एक क्षेत्र स्थित अयोग्य द्रव्य में से अयोग्य सादि द्रव्य को घटा देने पर एक क्षेत्र स्थित अयोग्य अनादि द्रव्य आता है। इसी प्रकार अनेक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य में से योग्य सादि द्रव्य के घटा देने पर अनेक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य आता है।

अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य (अनादि) द्रव्य में से अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य सादि द्रव्य को घटा देने पर अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य अनादि द्रव्य प्राप्त होता है। **(गो.क. १९०)**

११. प्रश्न : जीव कौन-कौनसी वर्गणाओं को ग्रहण करता है ?

उत्तर : यह जीव योग व मिथ्यात्व के निमित्त से प्रति समय कर्म रूप परिणमने योग्य समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणुओं को ग्रहण करके कर्म रूप परिणमाता है। उनमें किसी समय तो पहले ग्रहण किये हुए सादि द्रव्य परमाणुओं को ही ग्रहण करता है तथा किसी समय अभी तक नहीं ग्रहण किए गये अनादि द्रव्य रूप परमाणुओं को ग्रहण करता है एवं कभी-कभी दोनों रूप परमाणुओं को ग्रहण करता है। **(गो.क. १९०)**

१२. प्रश्न : सूत्र में 'एकक्षेत्रावगाहः' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'एकक्षेत्रावगाह' वचन क्षेत्रान्तर की निवृत्ति के लिए है। आत्मप्रदेश और कर्म पुद्गल वर्गणाओं का अधिकरण (आधार) एक ही है, भिन्न-भिन्न अधिकरण नहीं हैं अतः भिन्न अधिकरण की निवृत्ति के लिए 'एकक्षेत्रावगाह' यह पद दिया गया है। **(रा.वा.५)**

१३. प्रश्न : सूत्र में 'स्थिताः' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'स्थिताः' पद का प्रयोग क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए है। स्थित ही कर्म भाव को प्राप्त होते हैं, चलते हुए नहीं। इस प्रकार क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए 'स्थिताः' इस पद का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ६)**

१४. प्रश्न : सूत्र में ''सर्वात्मप्रदेशेषु'' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में सर्व आत्मप्रदेशों में कहने पर एक प्रदेश आदि का निषेध किया गया है। एक, दो, तीन, चार आदि प्रदेशों में आत्मा के कर्मप्रदेशों की प्रवृत्ति नहीं है अपितु ऊपर, नीचे, बीच में सब जगह सर्वात्म प्रदेशों में व्याप्त होकर प्रत्येक आत्मप्रदेश में कर्म पुद्गल स्थित है। इस बात का ज्ञान कराने के लिए 'सर्वात्मप्रदेशेषु' यह पद दिया है। **(रा.वा. ७)**

१५. प्रश्न : सूत्र में 'अनन्तानन्तप्रदेशाः' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : अनन्तानन्त प्रदेश वचन का ग्रहण प्रमाणान्तर के निराकरण के लिए है। ये न तो संख्यात हैं न असंख्यात हैं न अनन्त हैं अपितु अनन्तानन्त हैं, इसका प्रतिपादन करने के लिए अनन्तानन्त शब्द का ग्रहण है। एक समय में आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करने के लिए ये पुद्गल स्कन्ध अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। वे घनाङ्गुल के असंख्येय भाग रूप क्षेत्रावगाही एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात समय की स्थिति वाली पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श वाली तथा आठ प्रकार के कर्म रूप से परिणमन करने के योग्य पुद्गल वर्गणायें आत्मा के द्वारा योगों के कारण आत्मसात् की जाती हैं। **(रा.वा. ८)**

१६. प्रश्न : एक समय में ग्रहण किये गये समयप्रबद्ध का बँटवारा किस क्रम से होता है ?

उत्तर : सभी मूल प्रकृतियों में आयु कर्म का भाग स्तोक है, नाम व गोत्र कर्म का भाग आपस में समान है तो भी आयुकर्म के भाग से अधिक है। अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन तीन घातिया कर्मों का भाग आपस में समान है तो भी नाम व गोत्र कर्म से अधिक है। इससे अधिक मोहनीय कर्म का भाग है तथा मोहनीय कर्म से भी अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। **(गो.क. १९२)**

१७. प्रश्न : कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में बँटवारा किस प्रकार होता है ?

उत्तर : उत्तर प्रकृतियों में मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण के भेदों में क्रम से हीन-हीन द्रव्य है।

नाम व अन्तराय कर्म के भेदों में क्रम से अधिक-अधिक द्रव्य है।

वेदनीय, गोत्र और आयु कर्म के भेदों में बँटवारा नहीं होता क्योंकि इनकी एक काल में एक ही प्रकृति बँधती है। अत: इनको मूल प्रकृति के समान ही द्रव्य मिलता है। **(गो.क. १९६)**

पुण्य प्रकृतियाँ-

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

सद् वेद्य-शुभ-आयु:- नाम- गोत्राणि-पुण्यम्।

अर्थ - सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभगोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : बन्ध पदार्थ के अनन्तर पुण्य-पाप के वर्णन का कथन है, उस पुण्य-पाप का वर्णन बन्ध में अन्तर्भूत है, ऐसा वर्णन किया है। यहाँ पुण्यबन्ध क्या है ? और पापबन्ध क्या है ? ऐसी आशंका होने पर पुण्य प्रकृतियों की परिगणना करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. २५)**

२. प्रश्न : पुण्य प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : सातावेदनीय, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु तथा नाम कर्म की-मनुष्यगति-देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्र-संस्थान, वज्र-वृषभनाराचसंहनन, प्रशस्त वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श, मनुष्य एवं देव गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण एवं तीर्थंकर तथा गोत्र कर्म में से उच्च गोत्र ये बयालीस प्रकृतियाँ शुभ हैं। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : तिर्यञ्च गति अशुभ है, तिर्यञ्चायु शुभ क्यों है ?

उत्तर : यद्यपि तिर्यञ्चगति अशुभ है और तिर्यञ्चायु शुभ है क्योंकि तिर्यञ्च गति में कोई जाना नहीं चाहता है, परन्तु तिर्यञ्चगति में पहुँच जाने पर वहाँ से निकलना कोई नहीं चाहता है अत: आयु पुण्य प्रकृति है और तिर्यञ्चगति अशुभ है। **(रा.वा. २)**

पाप प्रकृतियाँ-

अतोऽन्यत् पापम् ॥२६॥

अत: अन्यत्-पापम्।

अर्थ - पुण्य प्रकृति से बची शेष प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं।

१. प्रश्न : पाप प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, छब्बीस मोहनीय (सम्यक् प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व बिना) पाँच अन्तराय की तथा नामकर्म में से तिर्यञ्चगति, नरकगति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर पाँच संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन को छोड़कर पाँच संहनन, अप्रशस्त स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय तथा अयशस्कीर्ति, ये चौंतीस प्रकृतियाँ नामकर्म की तथा नरकायु, असाता वेदनीय और नीच गोत्र ये मिलकर बयासी पाप प्रकृतियाँ हैं।

२. प्रश्न : ये कर्म प्रकृतियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : ये कर्म प्रकृतियाँ दो प्रकार की होती हैं-

(१) घाती कर्मरूप (२) अघाती कर्म रूप। **(ध. ७/६२)**

घाती कर्म - जो जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं वे घातिया कर्म हैं। **(क.प्र. ९)** जो जीव के देवत्व गुण का घात करते हैं उन्हें घातिया कर्म कहते हैं।

अघातिया कर्म - जो जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करने में असमर्थ हैं वे अघातिया कर्म हैं। **(क.प्र. ९)**

३. प्रश्न : कौन-कौन से कर्म घातिया हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन कर्मों की घातिया संज्ञा है। **(क.प्र. ९)**

४. प्रश्न : इन्हें घाती कर्म क्यों कहते हैं ?

उत्तर : केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य और क्षायिक सम्यक्त्व तथा 'च' शब्द से सूचित क्षायिक चारित्र और क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग रूप क्षायिक गुणों को, तथा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक गुणों को भी ये ज्ञानावरणादि कर्म घात करते हैं इसलिए इन्हें घातिया कर्म कहते हैं। **(क.प्र. १०)**

केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य रूप जो अनेक भेद-भिन्न-भिन्न जीवगुण हैं, उनके उक्त कर्म विरोधी होते हैं इसलिए वे घातिया कर्म कहलाते हैं। **(ध. ७/६२)**

५. प्रश्न : घातिया कर्म कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : घातिया कर्म दो प्रकार के हैं-

(१) देशघाती (२) सर्वघाती।

देशघाती - एकदेश रूप से आत्मगुणप्रच्छादक शक्तियाँ देशघाती स्पर्धक कहे जाते हैं। **(द्र.सं. ३४ टी.)**

सर्वघाती - अपने से प्रतिबद्ध जीव के गुण को पूरी तरह से घातने का जिस अनुभाग का स्वभाव है उस अनुभाग को सर्वघाती कहते हैं। **(ज.ध. ५/११)**

सर्व प्रकार से आत्मगुण प्रच्छादक कर्मों की शक्तियाँ सर्वघाती स्पर्धक कहे जाते हैं। **(द्र.सं. ३४ टी.)**

६. प्रश्न : कौनसी प्रकृतियाँ देशघाती हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरण की चार (केवलज्ञानावरण के बिना), दर्शनावरण की तीन (चक्षुदर्शनादि), अन्तराय की पाँच, सम्यक् प्रकृति, संज्वलन चतुष्क और नौ नोकषाय इस प्रकार ये छब्बीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं। **(रा.वा. २३/७)**

७. प्रश्न : कितनी प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं ?

उत्तर : केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पाँच निद्राएँ, अनन्तानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यान चतुष्क, प्रत्याख्यान चतुष्क, मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व ये इक्कीस (२१) सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं। **(रा.वा. २३/७)**

८. प्रश्न : जीवविपाकी कर्म प्रकृतियों को घातिया क्यों नहीं माना ?

उत्तर : नहीं माना, क्योंकि उनका काम अनात्मभूत सुभग, दुर्भग आदि जीव की पर्यायें उत्पन्न करना है, जिससे उन्हें जीव गुण विनाशक मानने में विरोध उत्पन्न होता है। **(ध. ७/६३)**

नोट : जीवविपाकी कर्म, देखें **(८/२१)**

९. प्रश्न : अघातिया कर्म कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिया कर्म हैं। **(क.प्र. ९)**

१०. प्रश्न : वेदनीय कर्म को घातिया कर्म क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं कहा, क्योंकि वह घातिया कर्मों का सहायक मात्र है और घातिया कर्मों के बिना अपना कार्य करने में असमर्थ है तथा उसमें प्रवृत्ति रहित है। इसी बात को बताने के लिए वेदनीय को घातिया कर्म नहीं कहा है। **(ध. ७/६३)**

इस प्रकार तत्त्वार्थमञ्जूषा में आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : नवम अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : ४७ कुल प्रश्न : ९६७

- पहले-दूसरे सूत्र में संवर का लक्षण एवं कारण कहे गये हैं।
- तीसरे सूत्र में तप की महिमा कही गयी है।
- चौथे से सातवें सूत्र तक गुप्ति, समिति, धर्म एवं अनुप्रेक्षा के भेद कहे हैं।
- ८वें, ९वें सूत्र में परीषह सहन करने का कारण एवं परीषहों के नाम कहे गये हैं।
- १०वें से १२वें सूत्र में गुणस्थानों में परीषहों का कथन है।
- १३वें से १६वें सूत्र तक कर्म विशेष से होने वाले परीषह विशेष कहे हैं।
- १७वें सूत्र में एक साथ होने वाले परीषहों की संख्या है।
- १८वें सूत्र में चारित्र का कथन है।
- १९वें, २०वें सूत्र में बाह्य एवं अभ्यन्तर तप का कथन है।
- २१वें सूत्र में तप के उत्तर भेदों की संख्या कही है।
- २२वें से २६वें सूत्र तक उत्तर भेदों के नाम हैं।
- २७वें सूत्र में ध्यान का लक्षण कहा है।
- २८वें, २९वें सूत्र में ध्यान के नाम एवं हेतु कहे हैं।
- ३०वें से ३४वें सूत्र तक आर्त्तध्यानों के नाम एवं स्वामी कहे हैं।
- ३५वें सूत्र में रौद्रध्यान के नाम एवं स्वामी कहे हैं।
- ३६वें सूत्र में धर्मध्यानों के नाम हैं।
- ३७वें से ४४वें सूत्र तक शुक्लध्यान के नाम एवं विशेषताएँ बतायी गयी हैं।
- ४५वें सूत्र में निर्जरा के स्थान बताये गये हैं।
- ४६वें सूत्र में निर्ग्रन्थों के नाम कहे गये हैं।
- ४७वें सूत्र में निर्ग्रन्थों की विशेषताएँ कही गयी हैं।

गुणस्थान

संवर

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

अर्थ - आस्रव का निरोध (रुकना) संवर है।

नोट - संवर का लक्षण देखें (१/४)

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अनादिकालीन संतति से आगत, सांसारिक सुख-दुःख का कारण, आठ प्रकार विशेषों से उपचित मूर्त्ति, नाना जाति रूप शरीर को उत्पन्न करने में समर्थ, आत्म परिणामों से उपार्जित और सर्व आत्मप्रदेशों को वेष्टित करने में समर्थ जो कर्मबन्ध है, वह किसी भी उपाय से किसी के भी अत्यन्त क्षय नहीं होता है क्या ? किन्हीं-किन्हीं भव्यात्माओं के कर्मों का अत्यन्त विनाश होता है। इस बात की सिद्धि के लिए भगवान अर्हन्तदेव ने कर्मों के नाश का कारण कहा है। उस कारण को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है अथवा **(रा.वा.उ. १)** यहाँ कोई प्रश्न करता है कि प्राप्त किया है वैचित्र्य जिसने ऐसे नाना प्रकार के आस्रव से अपादित ज्ञानावरणादि कर्म किस प्रकार बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकते ? इस प्रश्न के उत्तर रूप यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.)**

बन्ध पदार्थ का निर्देश कर चुके हैं। अब उद्देश्य प्राप्त संवर का कथन करना चाहिए अतः यह 'आस्रवनिरोधः संवरः' सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ७८४)**

२. प्रश्न : आस्रवनिरोध क्या है ?

उत्तर : कर्मों के आगमन के निमित्तों का अप्रादुर्भाव ही आस्रवनिरोध है। बहुत विकल्पों वाले कर्मागम के निमित्तों का वर्णन पूर्व में किया है। उस कर्मागम के निमित्तभूत मन, वचन और काय के प्रयोग का स्वात्मलाभ हेतु के सन्निधान से उत्पन्न नहीं होना आस्रव निरोध है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : संवर का विवेचन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : संवर का विवेचन करने के लिए गुणस्थानों का वर्णन करना चाहिए। **(रा.वा. १०)**

४. प्रश्न : गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञदेव ने उसी गुणस्थान वाला और उन परिणामों को गुणस्थान कहा है। **(गो.जी.गा. ८)**

संक्षेप और ओघ यह गुणस्थान की संज्ञा है और वह मोह तथा योग के निमित्त से उत्पन्न होती है। गुणस्थान की सामान्य संज्ञा भी समझना चाहिए। **(गो.जी. ३)**

५. प्रश्न : गुणस्थान कितने होते हैं ?

उत्तर : गुणस्थान चौदह होते हैं-

(१) मिथ्यादृष्टि (२) सासादन सम्यग्दृष्टि (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्र (४) असंयत या अविरत सम्यग्दृष्टि (५) संयतासंयत या देशविरत (६) प्रमत्तसंयत या प्रमत्त विरत (७) अप्रमत्तसंयत (८) अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत (९) अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत (१०) सूक्ष्म साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत (११) उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ (१२) क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ (१३) सयोग केवली (१४) अयोग केवली। **(ध. १/१६३-९३)**

६. प्रश्न : मिथ्यादृष्टि गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यादर्शन के उदय से वशीकृत आत्मा मिथ्यादृष्टि है। इस मिथ्यात्व के कारण जीव को तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होता है। **(रा.वा. १२)**

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या परिणामों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला हो जाता है। जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता, रुचिकर नहीं होता। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओं के पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित और हित के करने वाले भी वचनों का यथार्थ श्रद्धान नहीं करता। किन्तु इससे विपरीत आचार्याभासों के द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव का अर्थात् पदार्थ के विपरीत स्वरूप का इच्छानुसार श्रद्धान करता है। **(गो.जी. १७-१८)**

७. प्रश्न : मिथ्यादर्शन की निवृत्ति किस प्रकार होती है ?

उत्तर : मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला अनादि मिथ्यादृष्टि तथा छब्बीस सत्ताईस अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला सादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव जब प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने के सम्मुख होता है तब-

(१) अनन्तगुणी विशुद्धि को निरंतर बढ़ाते हुए अन्तर्मुहूर्त तक शुभ परिणामों से युक्त होता है।

(२) कोई एक मनोयोग, कोई एक वचनयोग एवं औदारिक एवं वैक्रियिक में से किसी एक काय योग वाला है।

(३) जिसकी कषायें हीयमान होती हैं। (४) साकार (ज्ञान) उपयोगी होता है।

(५) किसी एक वेद से युक्त होता है। (६) जो संक्लेश परिणाम से रहित होता है।

(७) वर्धमान शुभ परिणामों के प्रताप से सर्व कर्मप्रकृतियों की स्थिति का खण्डन करता है।

(८) अशुभ कर्म प्रकृतियों के अनुभाग रस को दूर (हीन) करता है।

(९) शुभ कर्म प्रकृतियों के अनुभाग रस को बढाता हुआ तीन करणों को प्रारम्भ करता है।

(१०) अनिवृत्तिकरण काल के संख्यात भाग बीत जाने पर होने वाले अन्तरकरण रूप परिणामों के द्वारा मिथ्यादर्शन कर्म के उदय का घात करता है। **(रा.वा. १३)**

८. प्रश्न : तीन करण कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर : (१) अथाप्रवृत्तकरण (२) अपूर्वकरण (३) अनिवृत्तिकरण। **(रा.वा. १३)**

(१) अध: प्रवृत्तकरण (२) अपूर्वकरण (३) अनिवृत्तिकरण। **(गो.जी. ४७)**

९. प्रश्न : अथाप्रवृत्तकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : कालादि लब्धि से आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति को अन्त:कोटा कोटी प्रमाण करके अथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में प्रवेश करता है। यह करण पूर्व में कभी भी प्राप्त नहीं हुआ है अतएव इसका अथाप्रवृत्तकरण यह नाम सार्थक है। ''यथेदं करणं न तथा प्राक् प्रवृत्तमित्यथाप्रवृत्तमिति''। इसके प्रथम समय में अल्प जघन्य विशुद्धि होती है, इस प्रकार अनन्तगुणी विशुद्धि की वृद्धि अन्तर्मुहूर्त की समाप्ति तक होती रहती है। उसके बाद प्रथम समय में उत्कृष्ट अनन्तगुणी, द्वितीय समय में उत्कृष्ट अनन्तानन्त गुणी विशुद्धि होती है, विशुद्धि का यह क्रम अथाप्रवृत्तकरण के चरम समय तक चलता रहता है। इस करण के धारी नाना जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण परिणामों के विकल्प हैं, वे कोई सम हैं और कोई विषम (असमान) हैं। इनके समुदाय रूप अथाप्रवृत्तकरण है। **(रा.वा. १३)**

नोट : विशेष देखें गोम्मटसार जीवकाण्ड **(गाथा ४८ से ५३)**।

१०. प्रश्न : इसे अध: प्रवृत्तकरण क्यों कहते हैं ?

उत्तर : अध: प्रवृत्त के काल में ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणाम के सदृश अर्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं, इसलिए प्रथम करण को अध: प्रवृत्तकरण कहा गया है। **(गो.जी. ४८)**

११. प्रश्न : अध:प्रवृत्तकरण में क्या-क्या कार्य होते हैं ?

उत्तर : अध:प्रवृत्तकरण में स्थिति काण्डकघात, अनुभाग काण्डकघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण नहीं होता है, क्योंकि इन अध:प्रवृत्त परिणामों में पूर्वोक्त चतुर्विध कार्यों के उत्पादन करने की शक्ति का अभाव है।

इस परिणाम से नीचे लिखे कार्य होते हैं -

(१) केवल अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा प्रति समय विशुद्धि को प्राप्त होता है।

(२) अप्रशस्त कर्मों के द्विस्थानीय अर्थात् निम्ब और कांजीर रूप अनुभाग को समय-समय के प्रति अनन्त गुणित हीन बाँधता है।

(३) प्रशस्त कर्मों के गुड़ खाण्ड आदि चतु:स्थानीय अनुभाग को प्रतिसमय अनन्त गुणित बाँधता है।

(४) (स्थिति बन्धापसरण) अध: प्रवृत्तकरण काल में स्थितिबन्ध का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। एक-एक स्थिति-बन्ध काल के पूर्ण होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन अन्य स्थिति को बाँधता है। इस प्रकार संख्यात हजार बार स्थिति बन्धापसरणों के करने पर अध: प्रवृत्तकरण का काल समाप्त होता है। **(ध. पु. ६/२२३)**

१२. प्रश्न : अपूर्वकरण परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस करण के प्रथम समय में जघन्य विशुद्धि अल्प है, उसी अपूर्वकरण के प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि उससे अनन्तगुणी है। द्वितीय समय में जघन्य विशुद्धि प्रथम समय से अनन्तगुणी है, उत्कृष्ट विशुद्धि उससे अनन्तगुणी है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तक समझना चाहिए। इस प्रकार इस करण के धारी (नाना जीवों के) असंख्य लोक प्रमाण परिणाम नियम से विषम ही होते हैं। इनका समुदाय रूप अपूर्वकरण है। इनमें अत्यन्त अपूर्व-अपूर्वता होने से इसकी अपूर्वकरण संज्ञा सार्थक है। **(रा.वा. १३)**

१३. प्रश्न : अपूर्वकरण में कौन-कौन से आवश्यक होते हैं ?

उत्तर : अपूर्वकरण के प्रथम समयतैं लगाय यावत् सम्यक्त्व मोहनीय-मिश्रमोहनीय का पूरणकाल, जो जिस कालविषैं गुण संक्रमणकरि मिथ्यात्व को सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय रूप परिणमावै है, तिस काल का अन्त समय पर्यन्त चार आवश्यक होते हैं। **(ल.सा.-५३)**

अपूर्वकरण में चार आवश्यक होते हैं-

(१) गुणश्रेणी (२) गुणसंक्रमण (३) स्थितिखण्डन (४) अनुभाग खण्डन।

तथा स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तरहीन होता जाता है। अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध अनन्तगुणाहीन और प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुणा अधिक बाँधता है। **(रा.वा. १३)**

१४. प्रश्न : गुणश्रेणी आदि किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुणश्रेणी - गुण शब्द का अर्थ गुणकार है तथा उसकी श्रेणी आवलि या पंक्ति का नाम गुणश्रेणी है। **(ध. १२/८०)**

गुणसंक्रमण - जहाँ पर प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी क्रम से परमाणु प्रदेश अन्य प्रकृति रूप परिणमे सो गुणसंक्रमण है। **(गो.क. जी. ४१)**

स्थितिखण्डन - स्थितिकाण्डक घात में स्थिति सत्त्व घटता है। **(क्ष.सा. ४१८)**

काण्डक - सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग को काण्डक कहते हैं। **(ज.ध. ५/३३४)**

नोट - अनुभाग काण्डकघात के बिना स्थितिघात सम्भव नहीं है। **(ध. १२/३१)**

अनुभाग खण्डन - प्रारम्भ किये गये प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा जो घात निष्पन्न होता है वह अनुभाग काण्डक घात है। **(ध. १२/३२)**

नोट - शुभ प्रकृतियों का अनुभाग काण्डकघात नियम से नहीं होता है। **(ल.सा. ८०)**

१५. प्रश्न : अनिवृत्तिकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्तर्मुहूर्त मात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय में रहने वाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीर के आकार, वर्ण आदि (बाह्य) रूप से परस्पर भेद को प्राप्त होते हैं उस प्रकार जिन परिणामों के द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं। उनके प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से बढते हुए एक से ही (समान विशुद्धि वाले) परिणाम पाये जाते हैं। **(ध. १/१८७)**

समान (एक) समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेद रहित वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं।

अथवा - निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामों की निवृत्ति-व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें ही अनिवृत्तिकरण कहते हैं। **(ध. १/१८५)**

यहाँ भी अपूर्वकरण के समान चार आवश्यक होते हैं। **(रा.वा. १३)**

१६. प्रश्न : इन तीनों करणों का काल कितना-कितना है ?

उत्तर : तीनों ही करण प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त कालमात्र स्थितियुक्त हैं तथापि ऊपर-ऊपर तैं संख्यात गुणक्रम लिये हैं। अनिवृत्तिकरण का काल स्तोक है। तातैं अपूर्वकरण का संख्यात गुणा है। तातैं अध:प्रवृत्त करण का संख्यातगुणा है। **(ल.सा. ३४)**

१७. प्रश्न : इन तीनों करणों में कितने-कितने परिणाम होते हैं ?

उत्तर : अध:प्रवृत्तकरण में असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं और ये ऊपर-ऊपर सदृश वृद्धि को प्राप्त होते गये हैं। **(गो.जी. ४९)**

अपूर्वकरण में असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं। वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रतिसमय समानवृद्धि को लिये हैं। **(गो.जी. ५३)**

अनिवृत्तिकरण में जितने समय होते हैं उतने ही परिणाम होते हैं क्योंकि वहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है। **(गो.जी. ५७)**

अपूर्वकरण में प्रथम समय के योग्य विशुद्धियों का प्रमाण असंख्यातलोक है, दूसरे समय की योग्य विशुद्धियों का प्रमाण असंख्यात लोक है। इस प्रकार यह क्रम अपूर्वकरण के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। **(ध. ६/२२०)**

१८. प्रश्न : अन्तरकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : विवक्षित कोई निषेकनिका सर्व द्रव्य कौं अन्य निषेकनि विषैं निक्षेपण करि तिनि निषेकानि का जो अभाव करना उसे अन्तरकरण कहते हैं। **(ल.सा. ८४)**

१९. प्रश्न : मिथ्यात्व के उदय से कितनी प्रकृतियाँ बँधती हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व के उदय से १६ प्रकृतियाँ बँधती हैं-

(१) मिथ्यात्व (२) नपुंसक वेद (३) नरक आयु (४) नरकगति (५) एकेन्द्रिय जाति (६) द्वीन्द्रिय जाति (७) त्रीन्द्रिय जाति (८) चतुरिन्द्रिय जाति (९) हुण्डक संस्थान (१०) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन (११) नरक गति प्रायोग्यानुपूर्वी (१२) आतप (१३) स्थावर (१४) सूक्ष्म (१५) अपर्याप्त (१६) साधारण शरीर।

मिथ्यात्व के अभाव में इनका बन्ध रुक जाता है। अर्थात् पहले गुणस्थान में इनकी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। **(रा.वा. २५)**

२०. प्रश्न : सासादन गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली शेष रहता है, तब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी एक कषाय का उदय आ जाने से यह जीव सम्यक्त्व की विराधना करके सासादन सम्यग्दृष्टि बन जाता है। आसादना-विराधना ये एकार्थवाची हैं, सम्यक्त्व की आसादना के साथ रहे उसे सासादन कहते हैं, आसादना सहित सम्यग्दर्शन जिसके है वह सासादन सम्यग्दृष्टि है। सासादन सम्यग्दृष्टि यह सार्थक संज्ञा है। **(रा.वा. १३)**

मिथ्यादर्शन का अभाव होने पर भी जिनकी आत्मा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से कलुषित हो रही है, जिनके छह आवली काल के भीतर मिथ्यात्व का उदय निश्चित है, वे जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हैं।

सम्यग्दर्शन के विमुख होकर जो अनन्तानुबन्धी के तीव्र उदय से उत्पन्न हुआ तीव्रतर संक्लेश रूप दूषित मिथ्यात्व के अनुकूल परिणाम होता है, वह सासादन है। **(ज.ध. ७/३१३)** आदि सम्यक्त्व के काल में एक समय से लेकर छह आवली तक काल शेष रहने पर अन्यतर अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाने से सम्यक्त्व की विराधना हो जाती है वह सासादन गुणस्थान है। सम्यग्दर्शन रूपी रत्नगिरि के शिखर से गिरकर मिथ्यात्व रूपी भूमि के अभिमुख है, अतएव सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं। **(गो.जी. १९-२०)**

२१. प्रश्न : सासादन गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है ?

उत्तर : सासादन गुणस्थान में पच्चीस प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति होती है-

(१) निद्रा-निद्रा (२) प्रचला-प्रचला (३) स्त्यानगृद्धि (४) अनन्तानुबन्धी क्रोध (५) अनन्तानुबन्धी मान (६) अनन्तानुबन्धी माया (७) अनन्तानुबंधी लोभ (८) स्त्रीवेद (९) तिर्यञ्चायु (१०) तिर्यञ्चगति (११) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान (१२) स्वाति संस्थान (१३) कुब्जक संस्थान (१४) वामन संस्थान (१५) वज्रनाराच संहनन (१६) नाराच संहनन (१७) अर्धनाराच संहनन (१८) कीलक संहनन (१९) तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी (२०) उद्योत (२१) अप्रशस्त विहायोगति (२२) दुर्भग (२३) दु:स्वर (२४) अनादेय (२५) नीचगोत्र। अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से ये प्रकृतियाँ बँधती हैं। इनको एकेन्द्रिय आदि सासादन गुणस्थान पर्यन्त के जीव बाँधते हैं।

अनन्तानुबन्धी का अभाव हो जाने पर तृतीयादि गुणस्थानों में इनका बन्ध रुक जाता है। **(रा.वा.२७)**

२२. प्रश्न : सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है, क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के उपयोग से जैसे कुछ मिला हुआ मद परिणाम होता है उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से आत्मा तत्त्वार्थ श्रद्धान और अश्रद्धान रूप मिश्र परिणाम वाला होता है। यह सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। **(रा.वा. १४)** पूर्व स्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ-साथ अरहन्त भी देव हैं, ऐसे अभिप्राय वाला पुरुष इस गुणस्थान में पाया जाता है। **(ध. १/१६८)**

सम्यग्मिथ्यात्व रूप मिश्र परिणाम जात्यन्तर सर्वघाती सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय का कार्य है। यह मिश्र परिणाम न सम्यक्त्व रूप है और न मिथ्यात्व रूप है। जिस प्रकार दही और गुड़ का परस्पर मिश्रण होने से जात्यन्तर पृथग्भाग उत्पन्न हो जाता है जिसे पृथक् करना शक्य नहीं है उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व रूप मिश्र भाव जानना चाहिए। **(गो.जी. २१-२२)**

२३. प्रश्न : मुझे तो चाहे किसी एक देव से मतलब है अथवा सब देव वन्दनीय हैं, निन्दा किसी की नहीं करनी चाहिए इस प्रकार वैनयिक और संशय मिथ्यादृष्टि मानता है, तब उनमें तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है ?

उत्तर : वैनयिक मिथ्यादृष्टि तथा संशयमिथ्यादृष्टि तो सभी देवों में तथा सब शास्त्रों में से किसी एक की भक्ति के परिणाम से मुझे पुण्य होगा ऐसा मानकर संशय रूप से भक्ति करता है उसको किसी एक देव में निश्चय नहीं है और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के दोनों में निश्चय है। **(बृ.द्र.सं. १३ टी.)**

२४. प्रश्न : तीसरे गुणस्थान में क्या-क्या विशेषताएँ होती हैं ?

उत्तर : सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की विशेषताएँ-

(१) इसमें सकल संयम एवं देशसंयम नहीं होता है।

(२) इस गुणस्थान में कभी आयु का बन्ध नहीं होता है।

(३) सम्यक्त्व या मिथ्यात्व परिणामों में से जिस परिणाम में पहले आयुबन्ध किया है नियम से उस सम्यक्त्व या मिथ्यात्व परिणाम को प्राप्त होकर मरण करता है।

(४) इस गुणस्थान में मरण नहीं होता है।

(५) यहाँ मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है। **(गो.जी. २३-२४)**

नोट : इस गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की बन्ध व्युच्छित्ति नहीं होती है।

२५. प्रश्न : असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन से युक्त होकर भी जो आत्मा चारित्र मोह कर्म के उदय से अत्यन्त अविरत परिणाम वाला है उसे असंयत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थगुणस्थानवर्ती) कहते हैं। **(रा.वा. १५)**

जो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त नहीं है तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरक्ति रहित है, किन्तु जिसकी जिनेन्द्र के उपदेश पर श्रद्धा है वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है। **(गो.जी. २९)**

जो स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादि अनन्त गुण का आधारभूत निज परमात्म द्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रियसुख आदि परद्रव्य त्याज्य हैं, इस तरह सर्वज्ञदेव प्रणीत निश्चय व व्यवहार नय को साध्य-साधक भाव से मानता है परन्तु भूमिरेखा सदृश क्रोध आदि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से मारने के लिए कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भाँति आत्मनिन्दा से सहित होकर इन्द्रिय-सुख का अनुभव करता है, यह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवर्ती का लक्षण है। **(वृ. द्र.सं. १३ टी.)**

२६. प्रश्न : अप्रत्याख्यानावरणकृत असंयम से बँधनेवाली कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर : अप्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से बँधने वाली प्रकृतियाँ-

(१) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध (२) अप्रत्याख्यानावरण मान (३) अप्रत्याख्यानावरण माया (४) अप्रत्याख्यानावरण लोभ (५) मनुष्य आयु (६) मनुष्य गति (७) औदारिक शरीर (८) औदारिक शरीर अंगोपांग (९) वज्रवृषभ नाराच संहनन (१०) मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्वी।

इन दस प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थान पर्यन्त ही होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाने से आगे के गुणस्थानों में इनका बन्ध नहीं होता है। **(रा.वा. २७)**

२७. प्रश्न : संयतासंयत गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : देशघाती संज्वलन एवं हास्यादि नोकषाय का उदय रहता है तथापि अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव होने से संयमासंयम लब्धि होती है। इस संयमासंयम लब्धि के होने पर उसके योग्य प्राणी और इन्द्रिय विषयक विरताविरत परिणाम वाला संयतासंयत नामक गुणस्थानवर्ती है। **(रा.वा. १६)**

प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सकल संयम नहीं होता, किन्तु स्तोक व्रत होते हैं। इसलिए देशव्रत, अणुव्रत या देशसंयम रूप पंचम गुणस्थान होता है। जो जीव जिनेन्द्रदेव में अद्वितीय श्रद्धा रखता हुआ एक ही समय में त्रस जीवों की हिंसा से विरत है और स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत है वह विरताविरत होता है। **(गो.जी. ३०-३१)**

२८. प्रश्न : प्रत्याख्यानावरण कषाय के निमित्त से किन-किन प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर : प्रत्याख्यानावरण कषाय के निमित्त से चार प्रकृतियों का बन्ध होता है - (१) प्रत्याख्यानावरण क्रोध (२) प्रत्याख्यानावरण मान (३) प्रत्याख्यानावरण माया (४) प्रत्याख्यानावरण लोभ।

एकेन्द्रिय आदि संयतासंयत नामक पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त जीव इनको बाँधते हैं। उसके आगे प्रमत्तादि गुणस्थानों में प्रत्याख्यानावरण जनित अविरति का अभाव होने से उपरितन गुणस्थान में इन चार प्रकृतियों का आस्रव नहीं होता है। **(रा.वा. २७)**

२९. प्रश्न : असंयम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : असंयम तीन प्रकार का होता है-

(१) अनन्तानुबन्धी के उदय से होने वाला असंयम।

(२) अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से होने वाला असंयम।

(३) प्रत्याख्यान कषाय के उदय से होने वाला असंयम। **(रा.वा. २६)**

नोट : असंयम का लक्षण देखें **(२/६)**

३०. प्रश्न : प्रमत्तसंयत गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : संयम प्राप्त होते हुए भी जो प्रमादयुक्त है, वह प्रमत्तसंयत है। अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय वा उपशम होने पर अथवा प्राप्त उदय के क्षय हो जाने पर अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान स्वरूप आठ कषायों के वर्तमान में उदय में आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी उदय में आने वालों का सदवस्था रूप उपशम एवं संज्वलन और हास्यादि नोकषायों का उदय होने पर संयमलब्धि होती है तब आभ्यन्तर संयम परिणामों के अनुसार बाह्य साधनों के सन्निधान को स्वीकार करता हुआ यह संयमके योग्य प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम का पालन करता है, परन्तु पन्द्रह प्रमादों के वशीभूत होकर कभी-कभी चारित्र परिणामों से स्खलित सा होता रहता है अत: प्रमत्तसंयत कहलाता है। **(रा.वा. १७)**

संज्वलन और नोकषाय के उदय से संयम होता है, इस संयम के साथ मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी है, अत: वह प्रमत्तविरत है। जो समल गुण-शील से युक्त है अतएव महाव्रती है, व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद में वास करता है अतएव चित्रल आचरण वाला है, वह प्रमत्तसंयत है। **(गो.जी. ३२-३३)**

प्रकर्ष रूप से मत्त जीव को प्रमत्त कहते हैं, और अच्छी तरह से विरत या संयम को प्राप्त जीवों को संयत कहते हैं। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्त संयत कहते हैं। **(ध. १/१७७)**

संयमासंयम को प्राप्त वही सम्यग्दृष्टि जब पाँच महाव्रतों में वर्तता है, तब वह दु:स्वप्नादि व्यक्त या अव्यक्त प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत होता है। **(वृ.द्र.सं. १३ टी.)**

नोट : प्रमाद का लक्षण देखें **(८/१)**

३१. प्रश्न : प्रमाद के निमित्त से किन-किन कर्मों का बन्ध होता है ?

उत्तर : प्रमाद के निमित्त से छह प्रकृतियों का बन्ध होता है-

(१) असाता वेदनीय (२) अरति (३) शोक (४) अस्थिर (५) अशुभ (६) अयशस्कीर्त्ति। इन प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय से लेकर छठे गुणस्थान पर्यन्त होता है। इससे उपरितन सातवें आदि गुणस्थानों में प्रमत्त अवस्था का अभाव होने से इनका संवर हो जाता है। **(रा.वा. २८)**

३२. प्रश्न : प्रमत्त होते हुए भी संयत कैसे हो सकते हैं क्योंकि उनको अपने स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता है, यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि संयम भाव प्रमाद के अभावरूप होता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों से विरति भाव को संयम कहते हैं, जो तीन गुप्तियों और पाँच समितियों से अनुरक्षित है, वह संयम वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि संयम में प्रमाद से केवल मल की उत्पत्ति होती है। (यह भी नहीं कहना चाहिए कि यहाँ ऐसा सूक्ष्म प्रमाद ही पाया जाता है, यह कैसे जाना क्योंकि) छठे गुणस्थान में संयम का विनाश नहीं होना अन्यथा नहीं बन सकता। वहाँ होने वाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयम का नाश भी नहीं कर सकता है, क्योंकि सकल संयम का उत्कट रूप से प्रतिबन्ध करने वाले प्रत्याख्यानावरण के अभाव में संयम का नाश नहीं पाया जाता है। **(ध. १/१७७)**

३३. प्रश्न : अप्रमत्त संयत गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो प्रमाद से रहित हो, वह अप्रमत्तसंयत कहलाता है, पूर्ववत् इन्द्रिय संयम एवं प्राणी-संयम का पालन करता हुआ जब प्रमाद से रहित होने के कारण अविचलित संयम का पालन करता है, वह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। **(रा.वा. १८)**

संज्वलन कषाय और हास्यादि नोकषाय का जब मन्द उदय होता है, तब अप्रमत्त गुणस्थान होता है और उसी से अप्रमत्त-संयत होता है। **(गो.जी. ४५)**

जो व्यक्त और अव्यक्तरूप समस्त प्रमाद से रहित है, महाव्रत, मूलगुण और उत्तरगुणों की माला से मण्डित है, स्व और पर के ज्ञान से युक्त है और कषायों का अनुपशामक या अक्षपक होते हुए भी ध्यान

में निरन्तर लीन रहता है, वह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। **(गो.जी. ४६)** प्रमत्तसंयतों का स्वरूप पहले कहा गया है। जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं। संयत होते हुए भी जिन जीवों के पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नहीं पाया जाता है उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिए। **(ध. १/१७९)**

जलरेखा के तुल्य संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर प्रमाद रहित जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है उसमें मल उत्पन्न करने वाले व्यक्त-अव्यक्त प्रमादों से रहित होकर सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयत होता है। **(वृ. द्र.सं. १३ टी.)**

३४. प्रश्न : अप्रमत्तसंयत कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : अप्रमत्त संयत दो प्रकार के होते हैं-

(१) स्वस्थान अप्रमत्त (२) सातिशय अप्रमत्त।

स्वस्थान अप्रमत्त - जो चारित्रमोह का उपशम वा क्षय करने के सम्मुख नहीं है वह स्वस्थान अप्रमत्त है।

सातिशय अप्रमत्त - अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन सम्बन्धी क्रोध- मान-माया-लोभ तथा हास्यादि नव नोकषाय मिलकर मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने के लिए तीन करण होते हैं अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इनमें से जो सर्वप्रथम अध:प्रवृत्त परिणाम को करता है अर्थात् जो श्रेणी चढने के सम्मुख है वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है। **(गो.जी. ४६-४७)**

३५. प्रश्न : अप्रमत्त गुणस्थान में ही शेष संयतों (अपूर्वकरणादि) का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए शेष गुणस्थानों का अभाव हो जाएगा?

उत्तर : ऐसा नहीं है, क्योंकि जो आगे चलकर प्राप्त होने वाले अपूर्वकरण आदि विशेषणों से अविशिष्ट हैं अर्थात भेद को प्राप्त नहीं होते हैं और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है, ऐसे संयतों का ही यहाँ पर ग्रहण किया है, इसलिए आगे के समस्त गुणस्थानों का इसमें अन्तर्भाव नहीं होता है। **(ध.१/१७६-८०)**

३६. प्रश्न : अप्रमत्त गुणस्थान में किन प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति होती है ?

उत्तर : अप्रमत्त गुणस्थान में एक देवायु की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है।

देवायु के आस्रव का तो प्रमाद ही कारण है और उसके समीप का अप्रमाद भी। अत: अप्रमत्त नामक गुणस्थान तक ही इसका बन्ध होता है आगे उसका संवर हो जाता है। **(रा.वा. २८)**

३७. प्रश्न : उपशम व क्षपक श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ आत्मा चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ आगे बढ़ता है वह **उपशम श्रेणी** है और जहाँ आत्मा चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है, वह **क्षपक श्रेणी** कहलाती है। **(रा.वा. १८)**

३८. प्रश्न : अपूर्वकरण गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व में (अपूर्वकरण के लक्षण में) कहे गये जो अपूर्वकरण परिणाम हैं वे विशुद्धि के वश से श्रेणी में आरोहण करते हुए अपूर्वकरण इस नाम को प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस गुणस्थान में न तो किसी भी कर्म प्रकृति का उपशम होता है और न क्षय होता है तथापि आगे होने वाले उपशम और क्षय की दृष्टि से इस गुणस्थान में भी उपशमक और क्षपक का व्यवहार घी के घड़े के समान उपचार से हो जाता है। **(रा.वा. १९)** वही (सप्तम गुणस्थानवर्ती) संज्वलन कषाय का अत्यन्त मन्द उदय हो जाने पर अपूर्व परम आह्लाद एक सुख के अनुभव रूप अपूर्वकरण में उपशमक या क्षपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है। **(वृ.द्र.सं. १३ टी.)**

सातिशय अप्रमत्त अध:प्रवृत्तकरण को बिताकर जब प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए अपूर्वकरण जाति के परिणामों को करता है तब उसको अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती कहते हैं। इस गुणस्थान में भिन्नसमयवर्तीं जीव जो पूर्व समय में कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामों को धारण करते हैं इसलिए इसका नाम अपूर्वकरण गुणस्थान है **(गो.जी. ५०-५१)**

३९. प्रश्न : इन अपूर्वकरण परिणामों से क्या कार्य होता है ?

उत्तर : अज्ञान अन्धकार से सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि उक्त परिणामों को धारण करने वाले अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीयकर्म की शेष प्रकृतियों का क्षपण अथवा उपशमन करने में उद्यत होते हैं। जिनके निद्रा और प्रचला की बन्ध-व्युच्छित्ति हो चुकी है, तथा जिनका आयुकर्म अभी विद्यमान है, ऐसे उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाले जीव शेष मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं और जो क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वाले हैं, वे नियम से मोहनीय कर्म का क्षपण करते हैं। **(गो.जी. ५४-५५)**

४०. प्रश्न : प्रमाद से रहित कषायें कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : प्रमाद से रहित कषायें तीन प्रकार की होती हैं- (१) **तीव्र कषाय-** जो आठवें गुणस्थान में पायी जाती हैं। (२) **मध्यम कषाय-** जो नवें गुणस्थान में पायी जाती हैं। (३) **जघन्य कषाय-** जो सूक्ष्म साम्पराय नामके दसवें गुणस्थान में पायी जाती हैं। **(रा.वा. २९)**

४१. प्रश्न : तीव्र कषाय के निमित्त से (अपूर्वकरण गुणस्थान में) कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर : तीव्र कषाय से युक्त अपूर्वकरण गुणस्थान में ३६ प्रकृतियाँ बँधती हैं- अपूर्वकरण गुणस्थान के संख्यात भाग तक निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियाँ बँधती हैं उसके ऊपर नहीं। (अर्थात् यहाँ इनकी व्युच्छित्ति हो जाती है।)

उसके ऊपर संख्येय भाग में तीस प्रकृतियाँ बँधती हैं-

(१) देवगति (२) पंचेन्द्रिय जाति (३) वैक्रियिक शरीर (४) आहारक शरीर (५) तैजस शरीर (६) कार्मण शरीर (७) समचतुरस्र संस्थान (८) वैक्रियिक अंगोपांग (९) आहारक शरीर अंगोपांग (१०) वर्ण (११) गन्ध (१२) रस (१३) स्पर्श (१४) देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी (१५) अगुरुलघु (१६) उपघात (१७) परघात (१८) उच्छ्वास (१९) प्रशस्त विहायोगति (२०) त्रस (२१) बादर (२२) पर्याप्त (२३) प्रत्येक शरीर (२४) स्थिर (२५) शुभ (२६) सुभग (२७) सुस्वर (२८) आदेय (२९) तीर्थंकर (३०) निर्माण।

इसी गुणस्थान के चरम समय में चार प्रकृतियाँ बँधती हैं-

(१) हास्य (२) रति (३) भय (४) जुगुप्सा।

ये तीव्र कषाय से बँधने वाली प्रकृतियाँ उसके (तीव्र कषाय के) अभाव में निर्दिष्ट भाग से आगे संवर को प्राप्त हो जाती हैं, इनका आना रुक जाता है। **(रा.वा. २९)**

४२. प्रश्न : अनिवृत्तिकरण गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : साम्पराय शब्द का अर्थ कषाय है और बादर स्थूल को कहते हैं और अनिवृत्तिरूप बादर साम्पराय को अनिवृत्ति बादर साम्पराय कहते हैं। उन अनिवृत्ति बादर साम्पराय रूप परिणामों में जिन संयतों की विशुद्धि प्रविष्ट हो गयी है, उन्हें अनिवृत्ति बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ऐसे संयतों में उपशामक और क्षपक दोनों प्रकार के जीव होते हैं और उन सब संयतों का मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान बनता है। **(ध. १/१८४-८५)**

अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों की विशुद्धि से कर्म प्रकृतियों को स्थूल रूप से उपशम या क्षय करने वाला उपशामक क्षपक अनिवृत्तिकरण होता है। **(रा.वा. २०)**

देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगों की वाञ्छादि रूप सम्पूर्ण संकल्प तथा विकल्प रहित अपने निश्चल परमात्म स्वरूप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिन जीवों के एक समय में परस्पर अन्तर नहीं होता वे वर्ण तथा संस्थान आदि का भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण उपशामक व क्षपक संज्ञा के धारक अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय आदि इक्कीस प्रकार की चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं। **(वृ. द्र.सं. १३ टी.)**

४३. प्रश्न : मध्यम कषाय के निमित्त से किन-किन प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर : मध्यम कषाय के निमित्त से ५ प्रकृतियों का बन्ध होता है-

अनिवृत्ति बादर-साम्पराय के प्रथम समय से लेकर संख्येय भागों में पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध का बन्ध होता है। उसके ऊपर संख्येय भाग में मान संज्वलन और माया संज्वलन का बन्ध होता रहता है, उसी गुणस्थान के चरम समय तक संज्वलन लोभ का बन्ध होता रहता है। ये पाँच प्रकृतियाँ मध्यम कषाय से बँधती हैं अत: निर्दिष्ट भाग से ऊपर इनका संवर हो जाता है। **(रा.वा. २९)**

४४. प्रश्न : सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : साम्पराय (कषाय) का सूक्ष्म रूप से उपशमन या क्षय करने वाला सूक्ष्म साम्परायिक उपशमक-क्षपक कहलाता है। जिन परिणामों से सूक्ष्म कषायों का शमन या क्षय किया जाता है, उन परिणामों या गुणस्थानों का नाम सूक्ष्म साम्पराय उपशमक क्षपक है। **(रा.वा. २१)**

सूक्ष्म परमात्म तत्त्व भावना के बल से जो सूक्ष्म कृष्टि रूप लोभ कषाय के उपशमक और क्षपक हैं वे दशमगुणस्थानवर्ती हैं। **(वृ.द्र.सं. १३ टी.)**

सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। उसमें जिन संयतों का प्रवेश हो गया है वे सूक्ष्म साम्पराय संयत दसवें गुणस्थानवर्ती हैं। उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं। सूक्ष्म साम्पराय की अपेक्षा उनमें भेद नहीं होने से उपशमक और क्षपक इन दोनों का एक गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणों की अनुवृत्ति होती है। इसलिए ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्म साम्पराय के साथ जोड़ लेने चाहिए अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानों से इस गुणस्थान की कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है। **(ध. १/१८८)**

पूर्वस्पर्धक एवं अपूर्व स्पर्धक के अनुभाग से अनन्तगुणे हीन अनुभाग वाले सूक्ष्म लोभ में जो स्थित है, उसे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानवर्ती समझना चाहिए। **(ध. १/१८८-८९)**

इसके अनन्तर समय में जो सूक्ष्मकृष्टिगत लोभ का अनुभव करता है जिसने अनिवृत्तिकरण इस संज्ञा को नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्म साम्पराय संयम वाला होता है। **(ध.१/२१५)**

४५. प्रश्न : जघन्य (मन्द) कषाय से कौन-कौन सी प्रकृतियाँ बँधती हैं ?

उत्तर : जघन्य कषाय से सोलह प्रकृतियाँ बँधती हैं ।

पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन), यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय (दान,लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य)। इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है। उसके उपरितन गुणस्थानों में कषाय का अभाव होने से इन प्रकृतियों का आना रुक जाता है। **(रा.वा. २९)**

४६. प्रश्न : उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्पूर्ण रूप से मोहनीय कर्म का जहाँ उपशमन होता है उस गुणस्थान वा आत्मा का नाम उपशान्त कषाय/वीतराग छद्मस्थ है। **(रा.वा. २२)**

कतक फल से युक्त निर्मल जल के समान अथवा शरद् ऋतु में होने वाले सरोवर के निर्मल जल के समान सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले परिणामों की उपशान्त कषाय संज्ञा है। **(गो.जी. ६१)**

परम उपशम मूर्त्ति निज आत्मा के स्वभाव के अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह को उपशम करने वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। **(वृ. द्र.सं. १३ टी.)**

४७. प्रश्न : इस गुणस्थान को उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ क्यों कहते हैं ?

उत्तर : जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्त कषाय कहते हैं। 'छद्म' ज्ञानावरण और दर्शनावरण को कहते हैं, उनमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ होते हैं उन्हें वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। इसमें आये हुए वीतराग विशेषण से दशम गुणस्थान तक के सराग छद्मस्थों का निराकरण समझना चाहिए। जो उपशान्त कषाय होते हुए भी वीतराग छद्मस्थ होते हैं उन्हें उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। **(ध. १/१८९)**

४८. प्रश्न : क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपशम श्रेणी से भिन्न क्षपक श्रेणी के मार्ग से कषाय रहित शुद्धात्मा की भावना के बल से जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गयी है वे बारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। **(वृ.द्र.सं. १३ टी.)** सम्पूर्ण रूप से मोहनीय कर्म का जहाँ क्षय होता है उस गुणस्थान वा आत्मा का नाम क्षपक है। **(रा.वा. २२)**

जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती कहा है। **(गो.जी. ६२)**

४९. प्रश्न : इस गुणस्थान की 'क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ' संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : जिनकी कषाय क्षीण हो गयी है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं। जो क्षीणकषाय होते हुए वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकषाय वीतराग कहते हैं। जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। **(ध. १/१९०-९१)**

५०. प्रश्न : सयोगकेवली जिन गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसका केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञान नष्ट हो गया है, जिसने केवललब्धि प्राप्त कर परमात्म संज्ञा प्राप्त की है, वह असहाय ज्ञान और दर्शन से युक्त होने के कारण केवली, तीन योगों से युक्त होने के कारण सयोगी और इस तरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोग केवली कहते हैं। **(ध. १/१९२-९३)** समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों को एक साथ, एक काल में सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान केवलज्ञान की किरणों से लोकालोक के प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनभास्कर होते हैं। **(वृ.द्र. सं. १३ टी.)** चार घातिया कर्मों के अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनके अचिन्त्य केवलज्ञानादि अतिशय प्रगट हुए हैं, वे केवली कहलाते हैं, जो योग के साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं, इस तरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं। **(रा.वा. २३-२४)** जिसका केवलज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह

से अज्ञान-अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है, जिनको नव केवल लब्धियों के प्रकट होने से 'परमात्मा' यह व्यपदेश प्राप्त हो गया है, वह इन्द्रिय आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोगी तथा घातिकर्मों से रहित होने के कारण 'जिन' कहा जाता है। ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगम में कहा है। **(गो.जी. ६३-६४)**

५१. प्रश्न : केवल योग के निमित्त से कितनी प्रकृतियाँ बँधती हैं ?

उत्तर : केवल योग के निमित्त से बँधने वाली केवल एक सातावेदनीय है। इसका बन्ध सयोग-केवली नामक तेरहवें गुणस्थान तक होता है, इसके उपरितन अवस्था में योग रूप कारण का अभाव होने से साता वेदनीय के बंध रूप कार्य का भी अभाव हो जाता है। अत: अयोग केवली और सिद्ध अवस्था में सर्व कर्मों का संवर हो जाता है। **(रा.वा. ३०)**

५२. प्रश्न : अयोग केवली गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसने शील के स्वामित्व को प्राप्त कर लिया है, सम्पूर्ण आस्रवों का जिसने निरोध किया है और जो नूतन बध्यमान कर्मरज से भी रहित है, वह गतयोग केवली अर्थात् अयोगकेवली कहलाता है। **(गो.जी. ६५)**

जो योग से रहित हैं, वे अयोग केवली जिन हैं। **(रा.वा. २४)**

मन, वचन, काय वर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में कारण जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द रूप योग है, उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन होते हैं। **(वृ. द्र. सं. १३ टी.)** जिनके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं। जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते हैं, जो योगरहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते हैं। **(ध. १/१९३)**

५३. प्रश्न : इन गुणस्थानों में कौन-कौन से भाव होते हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व गुणस्थान में नियम से औदयिक भाव होता है क्योंकि यह मिथ्यात्व कर्म के उदय से होता है।

सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव है क्योंकि यह दर्शनमोहनीय के क्षय, उपशम, क्षयोपशम अथवा उदय से नहीं होता है। **(ध. ५/१९४-९६)**

मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय से और उसी के सर्वघाती स्पर्धकों के उपशम संज्ञा वाले उदयाभाव से सम्यग्मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। इसलिए तदुभयप्रत्ययिक कहा गया है। **(ध. १४/२१)** चौथे गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों भाव सम्भव हैं, ये दर्शनमोह की अपेक्षा कहे गये हैं।

पाँचवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक क्षायोपशमिक भाव है।

उपशम श्रेणी (८, ९, १०, ११वें गुणस्थान) में औपशमिक भाव होता है।

क्षपक श्रेणी (८, ९, १०, १२वें गुणस्थान) में क्षायिक भाव होता है।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव होता है।

पाँचवें से चौदहवें तक के गुणस्थानों में चारित्रमोह की अपेक्षा भाव कहे गये हैं। **(गो.जी. १२-१४)**

५४. प्रश्न : पाँचवें आदि गुणस्थानों में दर्शनमोह की अपेक्षा कौन-कौन से भाव पाये जाते हैं ?

उत्तर : पाँचवें आदि गुणस्थानों में दर्शनमोह की अपेक्षा भाव- पाँचवें आदि तीन गुणस्थानों में तीन भाव होते हैं औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। उपशम श्रेणी में दो भाव होते हैं औपशमिक, क्षायिक। क्षपक श्रेणी में एक ही भाव होता है- क्षायिक।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में एक भाव है- क्षायिक **(ध. १/१७६-२००)**

५५. प्रश्न : प्रमत्तसंयत यह क्षायोपशमिक भाव किस प्रकार है ?

उत्तर : वर्तमान में प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय क्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने वाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आने रूप उपशम से तथा संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान अर्थात् संयम उत्पन्न होता है इसलिए क्षायोपशमिक भाव है। **(ध. १/१७७)**

चार संज्वलन कषायों एवं नौ नोकषायों के देशघाती स्पर्धकों के उदय से संयम की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार संयत के क्षायोपशमिक लब्धि पायी जाती है। **(ध. ७/९२)**

५६. प्रश्न : यदि दर्शनमोह की अपेक्षा इनमें उपशम आदि भाव भी पाये जाते हैं तो संयतासंयतादि को औपशमिक भाव क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि दर्शनमोहनीय के उपशमादि से संयमासंयम आदि भावों की उत्पत्ति नहीं होती है। दूसरे यहाँ पर सम्यक्त्व विषयक पृच्छा भी नहीं है जिससे कि दर्शनमोहनीय निमित्तक औपशमिकादि भावों की अपेक्षा संयतासंयतादि के औपशमिकादि भावों का व्यपदेश हो सके। ऐसा है नहीं, क्योंकि उस प्रकार की व्यवस्था पाई नहीं जाती है। **(ध. ५/२०३-४)**

५७. प्रश्न : इन गुणस्थानों में कितना-कितना सुख होता है ?

उत्तर : इन गुणस्थानों में सबसे अधिक सुख तो क्षायिक लब्धियों को प्राप्त करने वाले सयोगकेवली और अयोगकेवली के होता है। इनका सुख अन्त रहित होता है तथा इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से उत्पन्न नहीं होता।

उनके बाद उपशमक अथवा क्षपक दोनों प्रकार के अपूर्वकरणादि जीवों के, कषायों के उपशमन अथवा क्षय से उत्पन्न होने वाला परम सुख होता है।

उनसे कम अप्रमत्त संयत जीवों के प्रशम रस रूप सुख होता है।

उनके बाद पाँच पापों से विरक्त प्रमत्तसंयत जीवों के शान्तिरूप सुख होता है।

तदनन्तर हिंसा आदि पाँच पापों से यथाशक्ति एकदेश निवृत्त होने वाले संयतासंयत जीवों के महातृष्णा पर विजय प्राप्त होने के कारण सुख होता है।

उनके बाद अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, यद्यपि हिंसादि से विरत नहीं हैं, तथापि तत्त्वश्रद्धान से उत्पन्न सुख का उपभोग करते ही हैं।

उनके पश्चात् परस्पर विरुद्ध सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणामों को धारण करने वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के अन्त:करण सुख और दु:ख दोनों से मिश्रित रहते हैं।

सम्यग्दर्शन को उगलने वाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों का अन्तर्भाव उस प्रकार का होता है जिस प्रकार दूध और घी से मिश्रित शक्कर खाकर उसकी डकार लेने वालों का होता है।

तदनन्तर जो स्वप्न के राज्य के समान बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले सप्त प्रकृतिक मोह से अत्यन्त मूढ हो रहा है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है। **(हरि. पु. ३/८६-९४)**

संवर के कारण

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै: ॥२॥

स:- गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रै:।

अर्थ - (स:) वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।

गुप्ति - जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन (रक्षा) होता है, वह गुप्ति है।

समिति - प्राणिपीड़ा का परिहार करने के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है।

धर्म - जो इष्ट स्थान में धरता है वह धर्म है।

अनुप्रेक्षा - शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

परीषहजय - क्षुधा आदि वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे सह लेना परीषह है और परीषहों का जीतना परीषहजय है। **(सर्वा. ७८९)**

चारित्र - जिससे हित की प्राप्ति करते हैं और अहित का परिहार करते हैं उसे चारित्र कहते हैं अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं उसे चारित्र कहते हैं। **(भ.आ.वि. ८)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : संवर के हेतुओं का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ७८८)**

आस्रव निरोध को संवर कहा है। वहाँ यह नहीं जाना गया कि आत्मलाभ के कारणों का सन्निधान होने पर आते हुए कर्मों का निरोध किसके द्वारा किया जाता है ? यहाँ यह बताना चाहिए कि इससे आस्रव का निरोध होता है ? अत: आस्रव निरोध के कारणों को कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २)**

२. प्रश्न : किन-किन कारणों से संवर होता है ?

उत्तर : गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ये आस्रवनिरोध के अर्थात् संवर के कारण हैं। **(त.सू. ९/२)**

सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायों का जीतना और योगों का अभाव ये संवर के नाम हैं। **(का.अ. ९५)**

पाँच महाव्रतों से नियमपूर्वक पाँच अविरति रूप परिणामों का निरोध होता है और कषाय रहित परिणामों से क्रोधादि रूप आस्रवों के द्वार रुक जाते हैं। **(बा.अ. ६२)**

ध्यान, शास्त्राध्ययन एवं संयमादि से कर्मों का आना रुक जाता है। योग, व्रत, गुप्ति, तेरह प्रकार का चारित्र, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषहजय, निर्मल सामायिक, पाँच प्रकार का चारित्र, धर्म शुक्ल रूप शुभ ध्यान और ज्ञानाभ्यास ये सब कर्मास्रव के रोकने के उत्तम कारण हैं। **(महा.पु. ११)**

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मों के आस्रव हैं तथा सम्यग्दर्शन, विषय-विरक्ति, कषायनिग्रह और मन, वचन, काय का निरोध ये संवर हैं। **(ध. ७/९)** निरास्रव शुद्धात्मतत्त्व की परिणति रूप जो संवर है उसकी कारणरूप बारह अनुप्रेक्षा है। **(बृ.द्र.सं.टी. ३५)**

३. प्रश्न : संवर किसके होता है ?

उत्तर : जो मुनि विषयों से विरक्त होकर, मन को हरने वाले पाँचों इन्द्रियों के विषयों से अपने को सदा दूर रखता है, उनमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसी मुनि के निश्चय से संवर होता है। **(का.अ. २०१)**

जिसे सर्वद्रव्यों के प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है, उस समसुख-दु:ख भिक्षु को शुभ और अशुभ कर्म आस्रवित नहीं होते। जिसे विरतरूप वर्तते हुए योग में जब पुण्य व पाप में से कोई भी नहीं होता है, तब उसे शुभ व अशुभ दोनों भावों कृत कर्म का अर्थात् पुण्य और पाप दोनों का संवर होता है। **(पं.का. १४२ त.प्र.)**

मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्तियों से अशुभयोग का संवर होता है और शुद्धोपयोग से शुभयोग का भी संवर हो जाता है। **(बा.अ. ६३)**

४. प्रश्न : गुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : दोषों से व्रतों का गोपन, रक्षा करना गुप्ति मानी जाती है। **(आ.सा. ५/१३७)** संसार के कारणों से आत्मा के गोपन वा रक्षण को गुप्ति कहते हैं। यहाँ भाव में क्ति प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग में गुप्ति शब्द बना है, जिससे गोपन हो वह गुप्ति है, यह अपादान साधन अथवा जो रक्षण करे वह गुप्ति यह कर्तृसाधन भी गुप्ति शब्द है। **(रा.वा.१)** जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र गोपित किये जाते हैं, रक्षित किये जाते हैं। वे गुप्तियाँ हैं। अथवा जिनके द्वारा मिथ्यात्व, असंयम और कषायों से आत्मा गोपित होती है, रक्षित होती है वे गुप्तियाँ हैं। **(मू. ३३३) आ.**

जैसे खेत की रक्षा के लिए बाड़ है और नगर की रक्षा के लिए खाई अथवा परकोटा है उसी प्रकार से जो अशुभ कर्म को रोकता है या संवृत होता है वही संयत की गुप्तियाँ हैं। **(मू. ३३४) आ.**

५. प्रश्न : गुप्ति का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जिस प्रकार परिखा से नगर की रक्षा है और बाड़ से खेत की रक्षा है उसी प्रकार ये गुप्तियाँ व्रतों की रक्षक मानी गयी हैं। **(आ.सा. ५/१४१)** ये गुप्तियाँ कर्मों का नाश करने वाली हैं, मोक्ष सुख की माता हैं। जो राजा कोट, खाई और योद्धाओं से अत्यंन्त सुरक्षित है उसको अत्यन्त बलवान समस्त शत्रु भी घर से बाहर नहीं ले जा सकते, उसी प्रकार जो मुनि इन गुप्तियों से अत्यन्त सुरक्षित है उनकी आत्मा में कर्म रूप समस्त शत्रु कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। जिस प्रकार युद्ध में कवच पहनने वाला योद्धा बाणों से घायल नहीं होता उसी प्रकार तीन गुप्ति सहित योगी असंयमादिक बाणों से कभी चलायमान नहीं हो सकता है। **(मू.प्र. १७५८-६१)**

६. प्रश्न : समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : विकथा, कषाय आदि प्रमादों को छोड़ना समिति है। **(का.अ. ९७)**

सम्यग् अयन, गमन समिति है। दूसरे प्राणियों की रक्षा की भावना से सम्यक् प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। 'सं' उपसर्ग पूर्वक 'इण्' गत्यर्थक धातु से भाव अर्थ में 'क्ति' प्रत्यय से समिति शब्द की निष्पत्ति होती है। अथवा कर्त्ता अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय करने से भी समिति शब्द सिद्ध है। **(रा.वा. २)**

गमनादि कार्यों में जैसी प्रवृत्ति आगम में कही है वैसी प्रवृत्ति करना समिति है। **(भ.आ.वि. १६)** प्राणियों को पीड़ा न होवे, ऐसा विचार कर दया भाव से अपनी सर्व प्रवृत्ति करना समिति है। **(भ.आ.वि.११४)** सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। **(मू.१० आ.)**

७. प्रश्न : समिति का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : ये पाँचों समितियाँ कल्याण करने वाली हैं, अनन्त गुणों की खानि हैं, इनके पालक मुनि स्वर्ग-मोक्ष के पूर्ण सुख एवं कल्याण को प्राप्त होते हैं, ये मोक्ष की जननी एवं व्रतों की माता हैं, तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि की विभूतियाँ देने वाली हैं, रत्नत्रय की खान हैं एवं संसाररूपी शत्रुओं की नाशक हैं।

(मू. प्र. ५९८-६००) जिस प्रकार वज्रमय कवच का धारक पुरुष बाणों की लगातार वर्षा से अपराजित रहता हैं उसी प्रकार समितिरूपी कवच को धारण करने वाला साधु पाप रूपी बाणों से अजेय रहता है। **(आ.सा. ५/१३६)** स्नेह गुण से युक्त कमल का पत्र जल से लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार प्राणियों के शरीर में विहार करने वाला यतिराज समितियों से युक्त होने से लिप्त नहीं होता है। **(भ.आ. ११९५)**

८. प्रश्न : धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्राणियों पर दया करना, सच बोलना, क्षमा धारण करना, लोभ का त्याग करना, तृष्णा, का अभाव करना, सम्यग्ज्ञान और वैराग्य रूपी सम्पत्ति को इकट्ठा करना ही धर्म है। **(म.पु. १०/१५)**

जो प्राणियों को संसार के दु:ख से छुड़ाकर उत्तमसुख में धारण करे उसे धर्म कहते हैं, वह धर्म कर्मों का विनाशक एवं समीचीन है। **(र.क.श्रा.२)**

जो आत्मा को नरेन्द्र, सुरेन्द्र, मुनीन्द्र आदि स्थानों में धरता है, वह धर्म है। इस धर्म शब्द की सिद्धि उणादिगण से हो जाती है, धारण अर्थ वाली 'धृ' धातु से मन् प्रत्यय होने से धर्म शब्द बनता है। **(रा.वा. ३)**

९. प्रश्न : धर्म का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : धर्म का पालन करने से लाभ- (१) धर्म ही इहलोक और परलोक में हितकारी बन्धु है।

(२) इच्छित भोगों को देने वाले कल्पवृक्ष के समान एवं चिंतित पदार्थों को देने वाला चिंतामणि रत्न धर्म ही है।

(३) पर-जन्म में जाने के लिए धर्म पाथेय के समान एवं शुभ करने के लिए मित्र के समान है।

(४) यह धर्म ही मुक्ति स्त्री के हृदय को अत्यन्तप्रिय है इसलिए मोक्षाभिलाषियों को सदा इसका पालन करते रहना चाहिए। **(मू.प्र. ३०१०-१५)**

१०. प्रश्न : अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीरादि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनु और प्र उपसर्ग पूर्वक 'ईक्ष्' धातु से भावसाधन में 'अकार' होने से अनुप्रेक्षा शब्द बनता है। **(रा.वा. ४-५)**

कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जानुगत अर्थात् पूर्ण रूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षा है। **(ध. ९/२६२-६३)**

सूत्र के अर्थ का श्रुत के अनुसार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। **(ध. १४/९)**

बार-बार चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं। अपने-अपने नाम के अनुसार वस्तु के स्वरूप का विचार करना अनुप्रेक्षा है। **(का.अ.१) टी.**

११. प्रश्न : अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : ये भावनायें अत्यन्त निर्मल हैं, तीर्थंकर परमदेव भी इनका चिन्तन करते हैं और भव्य जीवों का हित करने और परम वैराग्य को बढ़ाने के लिए कही गयी हैं इसलिए जो विद्वान अपने निर्मल हृदय में प्रसन्न होकर इनका चिंतन करते हैं उनका सर्वोत्कृष्ट संवेग बढ़ता है, राग नष्ट हो जाता है और उन्हें मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होती है। ये भावनायें अनुपम गुणों की खानि हैं, मोक्षलक्ष्मी की सखी हैं, जिनेन्द्र भगवान के मुख से उत्पन्न हुई हैं तथा गणधर देवों ने इनकी सेवा की है, पापरूपी पर्वतों को चूर-चूर करने के लिए वज्र की धारा के समान हैं, मोक्षाभिलाषी मुनियों को सदा इनका चिन्तन करना चाहिए। **(मू.प्र. ३१२१-२२)**

१२. प्रश्न : परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सही जाय वे परीषह हैं, परि उपसर्ग पूर्वक 'सह्' धातु से कर्म अर्थ में अकार प्रत्यय होकर 'परीषह' शब्द की निष्पत्ति होती है। परीषह का जीतना परीषहजय है। **(रा.वा. ६)**

१३. प्रश्न : परीषहों को जीतने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अपने चारित्र में अचल रहने वाले जो मुनिराज कर्मों से घोर युद्ध में चारित्र रूपी धनुष पर श्रेष्ठ तप रूपी बाण चढ़ाकर परीषह रूपी महायोद्धाओं को जीत लेते हैं, उनके समस्त कर्म पाँचों इन्द्रियरूपी चोरों के साथ-साथ अवश्य नष्ट हो जाते हैं और बहुत ही शीघ्र मोक्ष लक्ष्मी के साथ-साथ तीनों लोकों की लक्ष्मी उन्हें प्राप्त हो जाती है। **(मू.प्र. ३१९८-९९)**

१४. प्रश्न : चारित्र धारण करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो पुरुष समस्त अतिचारों से रहित और चन्द्रमा के समान निर्मल ऐसे इस चारित्र को प्रयत्न पूर्वक धारण करते हैं उन चरम शरीरियों को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और भी जो चतुर मुनि इस चारित्राचार से सुशोभित होते हैं वे तीनों लोकों के सुखों को भोगकर अनुक्रम से मोक्ष में जा विराजमान होते हैं। **(मू.प्र. १७६९-७०)**

नोट : चारित्र का लक्षण देखें। **(१/१)**

१५. प्रश्न : सूत्र में 'सः' पद का ग्रहण किसलिए किया गया है ?

उत्तर : सूत्र में 'सः' पद का ग्रहण गुप्ति आदि के साथ साक्षात् सम्बन्ध के लिए है। यद्यपि यहाँ संवर का अधिकार है तथापि 'सः' पद विशेष रूप से संवर का गुप्ति आदि से साक्षात् सम्बन्ध जोड़ता है। इससे यह नियम हो जाता है कि यह संवर गुप्ति आदि के द्वारा ही होता है अन्य उपायों से नहीं। इस 'सः' शब्द से गुप्ति आदि से भिन्न तीर्थस्थान, दीक्षा, शीर्षोपहार, देवताराधना आदि की निवर्तना हो जाती है क्योंकि राग, द्वेष और मोह से ग्रहण किये गये उन कर्मों की दूसरे प्रकारों से निवृत्ति होना सम्भव नहीं हैं। **(रा.वा. १०)**

१६. प्रश्न : गुप्ति आदि स्वयं संवर रूप हैं अत: गुप्ति आदि में और संवर में भेद का निर्देश नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि संवर शब्द करण साधन न होकर 'संवरण संवर:' यह भाव साधन है, अर्थात् आस्रव निमित्त कर्मों के संवरण करने में गुप्ति आदि कारण होते हैं। अथवा यह संवर शब्द ''संव्रियते इति संवर:'' ऐसा कर्म साधन भी है, क्योंकि गुप्ति, समिति आदि के द्वारा कर्मों का निरोध किया जाता है अत: गुप्ति आदि पृथक् सिद्ध होते हैं, गुप्ति आदि करण हैं और संवर कार्य है। इनमें कार्य कारण भेद भी है, क्योंकि गुप्ति आदि के द्वारा संवर होता है। **(रा.वा. ९)**

१७. प्रश्न : व्रतादि संवर के कारणों में संवरानुप्रेक्षा ही सारभूत है, वही संवर कर देगी फिर विशेष प्रपंच से क्या प्रयोजन ?

उत्तर : भगवान उत्तर देते हैं- मन, वचन, काय इन तीनों की गुप्ति स्वरूप निर्विकल्प ध्यान में स्थित मुनि के तो उस संवरानुप्रेक्षा (गुप्ति) से ही संवर हो जाता है, किन्तु उसमें असमर्थ जीवों के अनेक प्रकार से संवर का प्रतिपक्षभूत मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य ने व्रत आदि का कथन किया है। **(वृ.द्र.सं. ३५ टी.)**

१८. प्रश्न : तीर्थस्नान से संवर मानने में क्या हानि है ?

उत्तर : यदि तीर्थस्नान से संवर होता तो निरन्तर तीर्थजल में डूबी रहने वाली मछली आदि के भी मोक्ष अति सुलभ हो जाएगा और रागी-द्वेषीमोही जीवों को भी मात्र तीर्थस्नान से मुक्ति मिल जानी चाहिए (लेकिन ऐसा देखा नहीं जाता) अत: गुप्ति आदि के सिवाय अन्य कारणों से संवर नहीं हो सकता है। **(रा.वा. १०)**

संवर के अन्य कारण

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थ - तप के द्वारा निर्जरा और संवर होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गुप्ति, समिति आदि के द्वारा ही संवर होता है कि अन्य भी कोई संवर के कारण हैं ? यदि अन्य कोई संवर के कारण हैं तो उनको कहना चाहिए, ऐसा पूछने पर आचार्य ने संवर के अन्य कारणों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ३)**

२. प्रश्न : तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : तपोनिधियों ने ऐसी शारीरिक क्रिया और मानसिक क्रिया को तप कहा है, जो अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग मल के सन्ताप से सन्तप्त आत्मा की शुद्धि में कारण है। **(य.ति.च. ८/४६६)** ख्याति, पूजा,

लाभ आदि की भावना को त्याग कर मुनीश्वरों के द्वारा कर्मों के क्षय के लिए जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं अथवा रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए इच्छा को रोकने का नाम तप है। अथवा परद्रव्यों की अभिलाषा को दूर करना तप है अथवा - शरीर और इन्द्रियों का दमन करने के लिए साधु के द्वारा जो तपा जाता है वह तप है। अथवा - जिसके द्वारा कर्म रूपी ईंधन को जलाकर भस्म किया जाता है वह तप है। **(का.अ. ४३९ टी.)**

मन और इन्द्रियों के नियन्त्रित करने वाले अनुष्ठान को तप कहते हैं। **(आ.सा. ६/३)** तपश्चरण करने वाले मुनि अपने तपश्चरण की सिद्धि के लिए जो अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय सुखों का निरोध करते हैं उसको श्रेष्ठ तप कहते हैं। **(मू.प्र. १७८३-८४)**

३. प्रश्न : तप कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : साधन तथा योग युक्ति के भेद से तप दो प्रकार का है-

(१) अभ्यन्तर तप (२) बाह्य तप।

अभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त आदि के भेद से छह प्रकार का एवं बाह्य तप भी अनशन आदि के भेद से छह प्रकार का है। उक्त भेद स्थूल दृष्टि से किये हैं।

वास्तव में तो अनशन आदि प्रत्येक बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त आदि प्रत्येक अभ्यन्तर तप के भी अनेक भेद हैं। **(व.चा. ३१/७२-७३)**

नोट : बाह्य एवं अभ्यन्तर तप का विशेष देखें। **(९/१९-२०)**

४. प्रश्न : क्षमादि धर्मों में तप कहा जायेगा, अत: संवर के हेतुत्व के सिद्ध होने पर तप का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ?

उत्तर : यद्यपि तप दस धर्मों में अन्तर्भूत है फिर भी विशेष रूप से निर्जरा का कारण बताने के लिए अर्थात् तप भी निर्जरा का कारण है, इस बात को रूपायित करने के लिए तप का पृथक् ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. १)**

सर्व संवर के हेतुओं में तप ही प्रधान हेतु है, इसका ज्ञान कराने के लिए तप का पृथक् ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : सूत्र में 'च' का ग्रहण किसलिए किया गया है ?

उत्तर : संवर-निमित्तों का समुच्चय करने के लिए सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किया है। 'च' शब्द तप, संवर का भी कारण होता है। इस संवर हेतुता का समुच्चय करता है, क्योंकि तप के द्वारा नूतन कर्म बन्ध रुककर पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय भी होता है। अत: तप अविपाक निर्जरा का कारण है। इस प्रकार तप के जातीयत्व होने से ध्यानों (धर्म्य व शुक्ल) के भी निर्जरा का कारणत्व प्रसिद्ध ही है। **(रा.वा. ३)**

६. प्रश्न : तप निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है क्योंकि उसे तो देवेन्द्रादि अभ्युदय का कारण कहा गया है ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि एक ही कारण से अनेक कार्य होते हैं। जैसे- एक ही अग्नि पाक, विक्लेदन और भस्म करना आदि अनेक कार्य करती है वैसे ही तप अभ्युदय का विधान और कर्मों का क्षय करता है, इसमें क्या विरोध है ? कोई विरोध नहीं है। **(रा.वा.४)**

किसान की खेती के समान गौण और प्रधानता से फल की प्राप्ति होती है। अथवा- जैसे-किसान मुख्य रूप से धान्य के लिए खेती करता है, गौण रूप से पलाल (घास) तो उसे अनायास प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार मुनिराज की तप क्रिया में प्रधानफल मोक्ष है। अर्थात् गौणता से तप का फल किसान के घास की प्राप्ति के समान अभ्युदय प्राप्ति है, वह आनुषङ्गिक है। ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा.५)**

गुप्ति

गुप्ति का लक्षण

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

सम्यक्-योग-निग्रहः-गुप्तिः।

अर्थ - सम्यक् प्रकार से योगों का निग्रह (रोकना) गुप्ति है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गुप्ति आदि संवर के कारण हैं, उनका विषय क्या है वे कितने प्रकार के हैं ? प्रत्येक गुप्ति का सामर्थ्य क्या है ? ऐसी बहुत पृच्छा होने पर सर्व प्रथम कथित गुप्ति का निर्धारण करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. ४)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'सम्यक्' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'सम्यक्' यह विशेषण सत्कार, लोकपंक्ति आदि आकांक्षाओं की निवृत्ति के लिए है।

सत्कार - पूजा, पुरस्कार क्रिया सत्कार कहलाती है।

लोकपंक्ति[१] - 'यह संयत महान् है' ऐसी लोकप्रसिद्धि लोकपंक्ति है।

इस प्रकार और भी इहलौकिक फल की आकांक्षा आदि का उद्देश्य न लेकर तथा पारलौकिक सुख की आकांक्षा न करके किया गया योग का निग्रह गुप्ति कहलाता है, उसका ज्ञान कराने के लिए सूत्र

१. आराधनाय लोकानां, मलिनेनान्तरात्मना। क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपंक्तिरसौ मता। **(यो.सा. ८/२०)**
अर्थ : अविवेकी साधुओं द्वारा मलिन अन्तरात्मा से युक्त होकर लोगों के आराधन हेतु (अपनी ओर आकर्षण के लिए) जो धर्मक्रिया की जाती है, वह लोकपंक्ति कहलाती है।

में सम्यक् विशेषण दिया गया है। **(रा.वा.३)** मन, वचन, काय ये तीन योग पहले कहे गये हैं। उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति रोकना निग्रह है। विषयसुख की अभिलाषा के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति का निषेध करने के लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। इस सम्यक् विशेषण युक्त, संक्लेश को नहीं उत्पन्न होने देने रूप योग-निग्रह से कायादि योगों का निरोध होने पर तन्निमित्तक कर्म का आस्रव नहीं होता है। **(सर्वा. ७९३)**

३. प्रश्न : गुप्तियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : गुप्तियाँ दो प्रकार की होती हैं-

(१) व्यवहार गुप्ति (२) निश्चय गुप्ति **(बृ.द्र.सं.टी. ३५)**

अथवा- गुप्तियाँ तीन होती हैं-

(१) मनो गुप्ति (२) वचन गुप्ति (३) काय गुप्ति।

ये तीनों गुप्तियाँ भी निश्चय और व्यवहार के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। **(नि.सा.टी. ६६-६९)**

४. प्रश्न : व्यवहार गुप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर : व्यवहार से मन, वचन, काय इन तीनों योगों से गुप्त होना सो त्रिगुप्ति है। **(प्र.सा.ता. २४०)** व्यवहार नय से बहिरंग साधन के अर्थ जो मन-वचन काय की क्रिया को रोकना सो गुप्ति है। **(बृ.द्र.सं.टी. ३५)**

५. प्रश्न : निश्चय गुप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर : निश्चय से स्वरूप में गुप्त या परिणत होना ही त्रिगुप्ति गुप्त होना है। **(प्र.सा.ता. २४०)** निश्चय से सहज शुद्ध आत्म भावना रूप गुप्तस्थान में संसार के कारणभूत रागादि के भय से अपने आत्मा का जो छिपाना, प्रच्छादन करना, झंपन, प्रवेशन या रक्षण है सो गुप्ति है। **(बृ.द्र.सं. ३५ टी.)**

६. प्रश्न : निश्चय मनोगुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : सकल मोह, राग-द्वेष के अभाव के कारण अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप में सम्यक् रूप से अवस्थित रहना ही निश्चय मनोगुप्ति है। हे शिष्य ! तू उसे अचलित मनोगुप्ति जान। **(नि.सा. टी. ६९)**

राग-द्वेष से अवलम्बित समस्त संकल्पों को छोड़कर जो मुनि अपने मन को स्वाधीन करता है और समता भाव में स्थिर करता है, तथा सिद्धान्त के सूत्र की रचना में निरन्तर प्रेरणा रूप करता है उस बुद्धि मान मुनि के सम्पूर्ण मनोगुप्ति होती है। **(ज्ञा. १८/१५-१६)**

७. प्रश्न : व्यवहार मनोगुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : कलुषता, मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को व्यवहार नय से मनोगुप्ति कहते हैं। **(नि.सा. ६६)** यह मन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में, समस्त बाह्य पदार्थों के संकल्प-विकल्पों

में और समस्त कषायों में गमन करता है अतएव इस मन को सबसे रोककर शीघ्र ही ध्यान-अध्ययन आदि क्रियाओं में स्थिर कर देना सर्वोत्तम मनोगुप्ति कहलाती है। **(मू.प्र. १७०७-९)**

रौद्र, आर्त, रति, आहार और इसलोक परलोक का विकल्प मन में नहीं उठाना सो पहली मनोगुप्ति है। **(पा.पु. ९/८८)**

मन से रागादिक की निवृत्ति ही मनोगुप्ति है। **(मू. ३३२)**

मन और पाँच इन्द्रिय रूपी गजराजों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकने वाली जो बुद्धि ज्ञान और ध्यान में लीन हो आत्मस्वरूप में स्थिर होती है, वह मनोगुप्ति कहलाती है। **(आ.सा. ५/१३८)**

८. प्रश्न : मनोगुप्ति पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : मनोगुप्ति पालन करने से लाभ-

(१) मनोगुप्ति पालने से पूर्ण संवर उत्पन्न होता है एवं यह निर्जरा करने वाली है।

(२) यह मोक्ष की माता एवं श्रेष्ठ गुणों की खानि है।

(३) इससे इन्द्रियों का निरोध होता है एवं वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन होता है।

(४) इससे कषायादिक समस्त शत्रुओं का निरोध हो जाता है।

(५) शत्रुओं के निरोध से प्रशस्त ध्यान, प्रशस्त ध्यान से पूर्ण संवर-निर्जरा एवं पूर्ण संवर निर्जरा से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है।

(६) घातिया कर्मों के क्षय से सज्जनों को दिव्य गुणों के साथ-साथ केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

(७) केवलज्ञान से मोक्ष रूपी वधू का समागम होता है।

(८) तीर्थंकर गणधरादि भी इसका पालन करते हैं, यह समस्त व्रतों के आने का मार्ग है।

(९) यह अनुपम सुख की खानि एवं समस्त कर्मों का नाश करने वाली है। **(मू.प्र. १७२७-३२)**

९. प्रश्न : मनोगुप्ति के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : रागादि विकार सहित स्वाध्याय में प्रवृत्त होना मनोगुप्ति के अतिचार हैं। **(भ.आ.वि. १६)**

रागादि का उत्पन्न होना, शब्द-अर्थ ज्ञान का विपरीतता और दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त्त-रौद्र ध्यान ये मनोगुप्ति के अतिचार हैं।

नोट : जो मनोगुप्ति का स्वरूप बताया है उनमें दोष लगना ही अतिचार है।

१०. प्रश्न : निश्चय वचन गुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मौन-व्रत सो वचनगुप्ति है। इस प्रकार निश्चय वचन गुप्ति का स्वरूप कहा है। **(नि.सा. ६९)**

भले प्रकार वश करी है वचनों की प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनि के तथा संज्ञा आदि का त्याग कर मौनारूढ होने वाले महामुनि के वचनगुप्ति होती है। **(ज्ञा. १८/१७)**

११. प्रश्न : व्यवहार वचनगुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : पाप की हेतुभूत ऐसी स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादि रूप वचनों का परिहार अथवा असत्यादिक की निवृत्ति वाले वचन वह वचन गुप्ति है। **(नि.सा. ६७)**

मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने वचन योग को अशुभ वार्तालाप से तथा अशुभ उत्तर आदि से हटाकर समस्त अर्थ को सिद्ध करने वाले मौन में अथवा सिद्धान्तों के अध्ययन में प्रतिदिन स्थापन करते हैं, उसको समस्त वचनों के व्यापार से रहित वचनगुप्ति कहते हैं। **(मू.प्र. १७३३-३४)**

असत्यवचन का त्याग तो वाग्गुप्ति है ही, इसके साथ हाथी, घोड़ा, शस्त्र और शास्त्र आदि की व्याख्या से तथा जीवों को क्लेश पहुँचाने वाले सत्य की भी निवृत्ति होना वाग्गुप्ति है अथवा मौन रखना वाग्गुप्ति है। **(आ.सा. ५/१३९)**

१२. प्रश्न : वचनगुप्ति का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : वचनगुप्ति-पालन करने से लाभ-

(१) यह वचन गुप्ति शुभगुणरूपी मणियों की खानि है।

(२) इसको पालने से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(३) यह पाप रूपी अंधकार को नष्ट करने वाली है।

(४) यह पाप रूपी घर को बन्द करने के लिए अर्गल वा वेंडा के समान है।

(५) यह धर्म और सुख की माता है। **(मू.प्र. १७५०)**

१३. प्रश्न : वचनगुप्ति के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : भाषा समिति के प्रकरण में बताये जाने वाले कर्कशादि वचनों का उच्चारण अथवा विकथा करना यह पहला अतिचार है। और मुँह से हुँकारादि के द्वारा अथवा खकार करके यद्वा हाथ और भृकुटिचालन क्रियाओं के द्वारा इङ्गित करना दूसरा अतिचार है।

१४. प्रश्न : निश्चय कायगुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : (औदारिकादि) शरीर की जो क्रिया होती रहती है उससे निवृत्त होना यह कायगुप्ति है। **(नि.सा.टी. ७०)** स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परीषह आ जाने पर भी अपने पर्यंकासन से ही स्थिर रहे किन्तु डिगे नहीं, उस मुनि के ही कायगुप्ति मानी गयी है। **(ज्ञा. १८/१८)**

जो परम संयमधर परम जिन योगीश्वर अपने शरीर में अपने (चैतन्यरूप) शरीर से प्रविष्ट हो गये, उनकी अपरिस्पन्द मूर्त्ति ही निश्चय काय गुप्ति है। **(नि.सा.ता. ७०)**

१५. प्रश्न : व्यवहार कायगुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन (संकोचना) तथा प्रसारण इत्यादि कायक्रियाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहा है। **(नि.सा. ६८)**

सर्वजनों को काय सम्बन्धी बहुत क्रियाएँ होती हैं, उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है। वही कायगुप्ति है। अथवा पाँच स्थावरों की और त्रसों की हिंसा निवृत्ति सो कायगुप्ति है। **(नि.सा.ता. ७०)** हिंसा, चोरी आदि पाप क्रिया से परावृत होना कायगुप्ति है। **(नि.सा.ता.७०)**

शरीर से होने वाली पापक्रियाओं का त्याग करना कायगुप्ति मानी गयी है। अथवा दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग व कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है। **(आ.सा. ५/१४०)**

चित्तादि क्रिया से शरीर का बिल्कुल विकार को प्राप्त नहीं होना कायगुप्ति है। **(पा.पु. ९/९०)**

१६. प्रश्न : कायगुप्ति का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : कायगुप्ति के पालन से लाभ-

(१) यह कायगुप्ति स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है।

(२) यह ध्यानरूपी राजभवन को दिखाने के लिए दीपक के समान है।

(३) यह कर्मरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है।

(४) भगवान जिनेन्द्र एवं सभी मुनियों के समूह इसका पालन करते हैं।

(५) यह सब व्रतों की माता है एवं अत्यन्त पवित्र है। **(मू.प्र. १७५७)**

१७. प्रश्न : कायगुप्ति के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : कायगुप्ति के अतिचार-

(१) मन की एकाग्रता के बिना शरीर की चेष्टाएँ बन्द करना।

(२) जहाँ लोक भ्रमण करते हैं ऐसे स्थान में एक पाँव, एक हाथ ऊपर करके खड़े रहना।

(३) मन में अशुभ संकल्प करते हुए निश्चल रहना।

(४) आप्ताभास हरि हर आदिक की प्रतिमा के सामने, मानों उसकी आराधना ही कर रहे हों, इस ढंग से खड़े रहना या बैठना।

(५) सचित्त जमीन पर जहाँ बीज-अंकुर आदि पड़े हैं ऐसे स्थल पर रोष से वा दर्प से निश्चल बैठना अथवा खड़े होना।

(६) कायोत्सर्ग को भी गुप्ति कहते हैं अत: शरीर की ममता का त्याग न करना किंवा कायोत्सर्ग के दोषों को नहीं त्यागना। **(भ.आ.वि. १६)**

१८. प्रश्न : योग निग्रह से संवर की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : इसमें अयत्नाचारी (जीव) के बिना देखे, बिना शोधे भूमि प्रदेश पर घूमना, दूसरी वस्तु रखना, उठाना, शयन करना, बैठना आदि शारीरिक क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म आते हैं वा कायिक निमित्त से जिन कर्मों का अर्जन होता है, उन कर्मों का आस्रव काययोग का निग्रह करने वाले अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती संयमी के नहीं होता। इसी प्रकार वाचनिक असंवरी (संवर रहित) असत् प्रलापी जीव के अप्रिय वचनादि के हेतुक वाचनिक-व्यापार निमित्तक जो कर्म आते हैं, वचनों का निग्रह करने वाले योगी के उन कर्मों का आस्रव नहीं होता। राग-द्वेषादि से अभिभूत प्राणी के अतीत, अनागत विषयाभिलाषा आदि से मनोव्यापार निमित्तक जो कर्म आते हैं, वे कर्म मनोनिग्रही के नहीं आते, अत: योग निग्रह हो जाने पर तत्सम्बन्धी कर्म कभी नहीं आते हैं अत: योगनिग्रही के संवर सिद्ध है। **(रा.वा. ४)**

समिति

समितियाँ-सम्यक् प्रवृत्तियों का कथन

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा: समितय: ॥५॥

ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेप-उत्सर्गा: समितय:।

अर्थ : ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये समितियाँ हैं।

ईर्यासमिति - गमन में जीववध का परिहार करना ईर्या समिति है।

भाषासमिति - हित, मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है।

एषणासमिति - उद्गमादि दोष रहित आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।

आदाननिक्षेप समिति - धर्मोपकरण के रखने और उठाने में सावधानी रखना आदान-निक्षेप समिति है।

उत्सर्ग समिति - जीवों के अविरोध से अङ्ग के मल का निर्हरण करना उत्सर्ग समिति है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : शरीर का परित्याग जब तक पूर्ण रूप से नहीं हुआ है, शरीर का सम्पूर्ण रूप से परित्याग करने में असमर्थ के संक्लेश की निवृत्ति के लिए योगनिरोध कहा जाता है, परन्तु जब तक पूर्ण योगनिरोध नहीं हुआ है, तब तक अवश्य ही प्राणयात्रा निमित्त उसके लिए कुछ बोलना, खाना-पीना, रखना, मल-मूत्र का विसर्जन करना आदि क्रियायें करनी ही पड़ती हैं और उन क्रियाओं के होने पर इस गुप्ति वाले मुनिराज के संयम कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए समितियों का कथन किया गया है। **(रा.वा.उ.५)**

२. प्रश्न : समितियाँ कितनी होती हैं ?

उत्तर : समितियाँ दो होती हैं-

(१) व्यवहार समिति (२) निश्चय समिति। **(बृ.द्र.सं.टी. ३५)**

अथवा समितियाँ पाँच होती हैं-

(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदान-निक्षेपण समिति (५) प्रतिष्ठापन समिति। **(मू.प्र. २६६)**

(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदान निक्षेपण और (५) उत्सर्ग समिति। **(आ.सा.५/७२)** (५) व्युत्सर्ग समिति। **(आ.सा. ५/१३३)**

महापुराण के बीसवें सर्ग में पाँचवीं विष्वाण समिति कही गयी है।

३. प्रश्न : व्यवहार समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यवहार से ईर्या समिति आदि पाँच समितियों के द्वारा सम्यक् प्रकार 'इतः' अर्थात् प्रवृत्ति करना सो समिति है। **(प्र.सा.ता. २१७)**

व्यवहार से उस निश्चय समिति के बहिरंग सहकारी कारणभूत आचार चारित्र विषयक ग्रन्थों में कही हुई समिति है। **(द्र.सं.टी. ३५)**

४. प्रश्न : निश्चय समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : निश्चय नय की अपेक्षा अनन्त ज्ञानादि स्वभाव धारक निज आत्मा है, उसमें 'सम' भले प्रकार अर्थात् समस्त रागादि भावों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदि रूप से जो अयण (गमन) अर्थात् परिणमन है सो समिति है। **(बृ.द्र.सं. ३५ टी.)** निश्चय से तो अपने स्वरूप में सम्यक् प्रकार से गमन, परिणमन समिति है। **(प्र.सा.ता. २४०)**

अभेद अनुपचार रत्नत्रय रूपी मार्गपर परमधर्मी ऐसे आत्मा के प्रति सम्यग् 'इति' परिणति वह समिति है, अथवा निज परम तत्त्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक के परम धर्मों की संहति (मिलन, संगठन) वह समिति है। **(नि.सा.ता. ६१)**

५. प्रश्न : ईर्या समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : सूर्य निकल आने पर लोगों का आवागमन होने लगे तब प्राणियों के आने-जाने से मार्ग मर्दित हो जाता है। ऐसे मार्ग में सूक्ष्म जीव नहीं रहते, ऐसे मार्ग में प्रमाद छोड़कर चार हाथ आगे की जमीन को शोधकर चलना सो पहली ईर्यासमिति है। **(पा.पु. ९/९१)**

जो यत्नपूर्वक चार हाथ जमीन को देखकर गमन करने वाले मुनि अपने किसी काम के लिए गाय,

गधा, ऊँट, रथ आदि से मर्दित या मनुष्यों से उपमर्दित शुद्ध प्रासुक मार्ग में, दिन में ही धीरे-धीरे गमन करते हैं उसको ईर्या समिति कहते हैं। **(मू.प्र. २६७-६८)** मार्गशुद्धि, प्रकाशशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बनशुद्धि के द्वारा जो मुनि प्रायश्चित्तादि सूत्र के अनुसार गमन करते हैं उसे ही प्रवचन में गणधरदेव आदि महर्षियों ने ईर्या समिति कहा है। **(मू. ३०२ आ.)**

यत्न में तत्पर हुए धर्मार्थी अथवा धर्म की इच्छा रखते हुए मुनि का गमन ईर्या समिति है। **(मू. ३०१ आ.)**

६. प्रश्न : ईर्या समिति में मार्गशुद्धि किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : चींटी आदि त्रस जीव तथा बीज, अंकुर, तृण, हरे-हरे पत्र और कीचड़ आदि से रहित जो मार्ग है वह शुद्ध मार्ग माना जाता है। **(भ.आ.वि. ११८५)**

बैलगाड़ी, अन्य वाहन, पालकी या रथ अथवा इसी प्रकार के और भी हाथी, घोड़ा, गधा, ऊँट, गायें, भैंसे, बकरे और भेड़ जिस मार्ग से बहुत बार चलते हैं वह मार्ग प्रासुक हो जाता है। जिस पर स्त्री-पुरुष चलते रहते हैं, जो आतप-सूर्य की किरणों (अग्नि, दावानल) आदि से संतप्त हो चुका है और जो शस्त्र (हल आदि) से क्षुण्ण हो गया है वह मार्ग प्रासुक हो जाता है। यही मार्ग-शुद्धि है। **(मू. ३०४-३०६ एवं आ.)**

७. प्रश्न : प्रकाश-शुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रकाश में अधिक स्पष्टपना और व्यापकता होना उद्योतशुद्धि है। चन्द्र और नक्षत्रों का प्रकाश अस्पष्ट रहता है, प्रदीप का प्रकाश अव्यापक होता है (थोड़ी सी जगह घेरता है)। सूर्य का प्रकाश ही स्पष्ट और व्यापक होता है। **(भ. आ.वि. ११८५)** सूर्य का उदय हो जाने पर जब सभी दिशाएँ प्रकाश से प्रकाशित हो जाती हैं और अपनी दृष्टि का विशुद्ध संचार हो जाता है अर्थात् नेत्रों से स्पष्ट दिखने लगता है तब गमन करना प्रकाशशुद्धि है। **(मू. ३०३ आ.)**

८. प्रश्न : उपयोग शुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : संस्तरादि के शोधन के बाद, आवश्यकों को करके ईर्यापथपूर्वक मार्ग में चलने की इच्छा रखते हुए मुनि का आगे चार हाथ प्रमाण पृथ्वी पर स्थित स्थूल और सूक्ष्म जीवों को सम्यक् प्रकार से अवलोकन करते हुए, उनकी रक्षा करते हुए सावधानी पूर्वक गमन करना उपयोग शुद्धि है। **(मू. ३०३ आ.)**

पाँव उठाकर जिस स्थान पर रखना हो उस स्थान पर जीव जन्तु हैं या नहीं, इसका विचार कर पाँव रखना चाहिए यह उपयोग शुद्धि है। **(भ.आ. वि. ११८५)**

९. प्रश्न : अवलम्बन शुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुरु वन्दना, तीर्थवन्दना, चैत्यवन्दना और यति वन्दनादिकों के कारण तथा अपूर्व शास्त्रार्थ का ग्रहण, संयम के योग्य क्षेत्र को ढूंढना, वैयावृत्य करना, अनियत स्थान में रहना, स्वास्थ्य का सम्पादन करना, भव्यों को उपदेश देना आदि कार्यों की अपेक्षा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना अवलम्बन शुद्धि है। **(भ.आ.वि. ११८५)** कैलाश पर्वत, ऊर्जयंतगिरि, चंपापुरी, पावापुरी आदि तीर्थों की यात्रा के लिए, मुनियों के संन्यास को देखने या कराने के लिए, देवदर्शन या वन्दना के लिए, अन्य किसी धर्म आदि कारणों से अथवा शास्त्र सुनने या सुनाने, पढ़ने या पढ़ाने आदि प्रयोजन से अथवा प्रतिक्रमण को गुरु से सुनना आदि कार्यों के निमित्त मुनि को गमन करना चाहिए। (यह अवलम्बन शुद्धि है)। **(मू.३०३ आ.)**

१०. प्रश्न : मुनिराज कैसे मार्ग से गमन नहीं करते हैं ?

उत्तर : गमन करते समय वे उस भूमि को छोड़कर गमन करें जो गीली हो, कीचड़, शेवाल, फूल और फल से व्याप्त हो, जिसमें अंकुर उग रहे हों, सेना चल रही हो, जो चींटी आदि प्राणी तथा बीजों के समूह से व्याप्त हो। ऐसे मार्ग को भी छोड़कर गमन करें जो काष्ठ, ईंट तथा पत्थर के ढेले आदि से कृत्रिम बनाया गया हो, ऊँचा नीचा हो, हिलता हो, संशय से युक्त हो, अपने गिरने और असंयम का कारण हो। ऐसे मार्ग से मुनिराज गमन नहीं करते हैं। **(आ.सा. ५/७३-७५)**

११. प्रश्न : मुनिराज कैसे मार्ग से गमन करते हैं ?

उत्तर : मुनिराज ऐसे मार्ग से गमन करें जो रथ, घोड़े, गायों के समूह तथा मनुष्य आदि के चरणों के आघात से प्रासुक हो गया हो। जिससे आये हुए प्राणी तथा ओस आदि का जल दूर हो गया हो। सूर्य की किरणों से जहाँ जानने योग्य पदार्थों का समूह दिखने लगा हो। मृग की तरह दिशाओं को देखते हुए गमन करें। आगे चार हाथ प्रमाण भूमि के भीतर प्राणियों के देखने में चित्त लगाकर चलें। धीरे-धीरे पैर रखें, न अत्यन्त शीघ्र और न अत्यन्त विलम्ब से चलें। हाथी के समान मन्द गति से चलें। **(आ.सा. ५/७५-७८)**

१२. प्रश्न : किन मुनिराज के ईर्या समिति होती है ?

उत्तर : जीवस्थान आदि की विधि को जानने वाले, धर्म के लिए प्रयत्नशील, सूर्योदय होने पर चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा विषय को ग्रहण करने का सामर्थ्य हो जाने पर मनुष्य आदि के आवागमन के द्वारा कुहरा, क्षुद्र जन्तु आदि से रहित मार्ग में सावधान चित्त हो, शरीर को संकुचित करके धीरे-धीरे चार हाथ जमीन आगे देखकर गमन करने वाले मुनि के ईर्या समिति होती है। इसमें पृथ्वी आदि संबंधी आरम्भ नहीं होता है और जीवों की रक्षा होती है। **(रा.वा.३)** नेत्रगोचर जीवों के समूह को बचाकर गमन करने वाले मुनि के प्रथम ईर्या समिति होती है। **(हरि. २/१२२)**

१३. प्रश्न : जीवस्थान (जीव समास) किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन धर्म-विशेषों के द्वारा नाना जीव और उनकी नाना प्रकार की जातियाँ जानी जाती

हैं, जातियों का संग्रह करने वाले उन धर्मों को जीवसमास कहते हैं। **(गो.जी. ७०)** त्रस आदि चार युगलों (त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण) के मध्य अविरुद्ध कर्म प्रकृतियों से युक्त जाति नाम कर्म का उदय होने पर जो तद्भव सादृश्य सामान्य है वह जीवसमास है। **(गो.जी. ७१)** अनन्तानन्त जीव और उनके भेद-प्रभेदों का जिनमें संग्रह किया जाए उन्हें जीवसमास कहते हैं। जिसमें जीव भले प्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीव समास कहते हैं। **(ध. १/१६१)**

१४. प्रश्न : जीवसमास कितने हैं ?

उत्तर : जीवसमास एक प्रकार का है - सामान्य जीव।

अथवा - जीवसमास दो प्रकार के हैं - त्रस- स्थावर।

अथवा जीवसमास तीन प्रकार के हैं - एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास चार प्रकार के हैं - एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास पाँच प्रकार के हैं - एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास छह प्रकार के हैं - पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक।

अथवा - जीव समास सात प्रकार के हैं - पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय।

अथवा - जीव समास आठ प्रकार के हैं- पृथ्वीकायिकादि पाँच, विकलेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के नौ भेद हैं- पृथ्वीकायिकादि पाँच, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के दस भेद हैं- पृथ्वीकायिकादि पाँच, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के ग्यारह भेद हैं- पृथ्वीकायिकादि पाँच स्थावरों के बादर-सूक्ष्म की अपेक्षा पाँच युगल, इस प्रकार स्थावरों के दस तथा त्रसकायिक।

अथवा - जीवसमास के बारह भेद हैं- पूर्वोक्त स्थावर के दस, विकलेन्द्रिय तथा सकलेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के तेरह भेद हैं- स्थावर के दस, विकलेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के चौदह भेद हैं- स्थावर के दस, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के पन्द्रह भेद हैं- स्थावर के दस, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के सोलह भेद हैं- पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, नित्य निगोद और इतर निगोद। इनके सूक्ष्म तथा बादर दो-दो भेद होने से बारह, प्रत्येक वनस्पति, विकलेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के सत्रह भेद हैं- उपर्युक्त स्थावर के तेरह (पृथ्वी आदि बारह + प्रत्येक वनस्पति) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के अठारह भेद हैं- उपर्युक्त स्थावर के तेरह, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

अथवा - जीवसमास के उन्नीस भेद हैं- पृथ्वीकायिकादि बारह, अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय।

इन उन्नीस स्थानों को सामान्य एक से गुणा करने पर उन्नीस, पर्याप्त-अपर्याप्त इन दो से गुणा करने से अड़तीस तथा पर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त इन तीन से गुणा करने पर जीव समास के सत्तावन भेद होते हैं। **(गो.जी. ७५-७८)**

अथवा - जीव समास के अठानवे भेद हैं-

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के इक्कावन, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के चौंतीस, मनुष्यों के नौ, देवों के दो और नारकियों के दो, इस प्रकार अठानवे भेद हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के इक्कावन-

उपर्युक्त सत्तावन में से पंचेन्द्रिय सम्बन्धी छह (संज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तादि तीन और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तादि तीन) घटाने पर इक्कावन भेद एकेन्द्रिय एवं विकल त्रय के हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के चौंतीस भेद-

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय दो प्रकार के हैं- (१) कर्मभूमिया (२) भोगभूमिया।

कर्मभूमिया तिर्यञ्च तीन प्रकार के हैं- (१) जलचर (२) नभचर (३) थलचर।

ये तीनों दो-दो प्रकार के हैं- संज्ञी और असंज्ञी, तथा गर्भज और सम्मूर्च्छन होते हैं।

गर्भजों में पर्याप्त एवं निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं अत: बारह भेद तथा सम्मूर्च्छनों के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त तथा लब्ध्यपर्याप्त तीनों होते हैं अत: सम्मूर्च्छनों के अठारह भेद इस प्रकार कर्मभूमिया के (१२+१८) तीस भेद।

भोगभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च दो प्रकार के होते हैं-

(१) स्थलचर (२) नभचर। ये दोनों पर्याप्त एवं निर्वृत्यपर्याप्त होते हैं अत: इनके चार भेद, इस प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के (३०+४) चौंतीस भेद।

मनुष्यों के नौ भेद-

आर्य खण्ड के पर्याप्तादि तीन प्रकार के मनुष्य, म्लेच्छ खण्ड में दो प्रकार के हैं- पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त। भोगभूमिया दो प्रकार के- पर्याप्त - निर्वृत्यपर्याप्त।

कुभोगभूमिया दो प्रकार के - पर्याप्त - निर्वृत्यपर्याप्त।

३+२+२+२ =९

देव दो प्रकार के हैं- पर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त।

नारकी दो प्रकार के हैं- पर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त। **(गो.जी. ७९-८०)**

शुद्ध पृथिवीकायिक, खर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, नित्य निगोद और इतर निगोद इन सातों के बादर और सूक्ष्म के भेद से चौदह भेद, तृण, वल्ली, गुल्म, वृक्ष और मूल इस तरह प्रत्येक वनस्पति के पाँचों भेदों के सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित के भेद से दस भेद। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन विकलेन्द्रिय इस तरह एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय संबंधी २७ = (१४ + १० +३) भेद होते हैं। तथा ये सर्व पर्याप्त और दो प्रकार के अपर्याप्त (निर्वृत्य पर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त) के भेद से (२७×३) = ८१ हैं। पंचेन्द्रिय में कर्मभूमिज तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी में जलचर, थलचर और नभचर के भेद से छह प्रकार के होते हैं। (इन छह में) गर्भज और सम्मूर्छन में गर्भज के पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त इस प्रकार दो भेद होने से गर्भजों के १२ = (६ × २) भेद होते है। सम्मूर्च्छनों के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त ये तीन भेद होते हैं। इस प्रकार सम्मूर्छनों के १८ = (६×३) भेद हैं। उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य भोगभूमि के थलचर व नभचर तिर्यंचों में पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त इन दो भेदों की अपेक्षा १२ = (३×२ = ६, ६ ×२) भेद हैं। इस प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंच संबंधी कुल ४२ = (१२ + १८ + १२) भेद होते हैं। आर्यखण्ड में सम्मूर्च्छन मनुष्य लब्ध पर्याप्त होते हैं। (अत: सम्मूर्च्छन मनुष्यों का एक भेद) गर्भज मनुष्यों में तीन भोगभूमि मनुष्य (उत्तम, मध्यम, जघन्य) कुभोग भूमिज मनुष्य, म्लेच्छ खंड मनुष्य, इस प्रकार छह प्रकार के गर्भज मनुष्यों के पर्याप्त व निर्वृत्य-पर्याप्त दो भेद होने से १२ = (६×२) भेद हैं। दस प्रकार के भवनवासी देव, आठ प्रकार के व्यन्तर देव, पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव, ६३ पटलों में उत्पन्न होने वाले वैमानिक देव, ४९ पटलों में उत्पन्न होने वाले नारकी। इस प्रकार सबको मिलाने पर (१०+८+५+६३+४९) = १३५ भेद हैं। ये सभी पर्याप्त और निर्वृत्त्य पर्याप्त इन दो भेदों की अपेक्षा (१३५×२= २७०) भेद रूप हैं। इस प्रकार जीव समास के एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय के ८१, पंचेन्द्रिय तिर्यंच के ४२, सम्मूर्च्छन मनुष्य का एक, गर्भज मनुष्य के १२, देव व नारकी के २७०, ये सब मिलाकर (८१+४२+१+१२+२७०) = ४०६ भेद कहे गये हैं। **(प.सा. १०९-१५)**

१५. प्रश्न : किन-किन जीवों के कितने-कितने जीवसमास होते हैं ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीवों के चार जीव समास हैं- सूक्ष्म पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर पर्याप्त-अपर्याप्त; विकलत्रयों के छह जीव समास- द्वीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त।

पंचेन्द्रिय के चार जीव समास हैं- संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त। **(रा.वा.४)**

१६. प्रश्न : प्राणी-पीड़ा-परिहार लक्षण समिति का वचन और काय गुप्ति में अन्तर्भाव हो जाना चाहिए ?

उत्तर : नहीं होता, क्योंकि यद्यपि सावधानी की अपेक्षा एक है, तथापि परिमित काल विषयक समिति और सर्वयोग निग्रह लक्षण गुप्ति, ये दोनों एक नहीं हो सकते, क्योंकि जब गुप्ति में असमर्थ हो जाता है, तब कुशल कार्यों में प्रवृत्ति करना समिति है, अत: समिति का गुप्ति में अन्तर्भाव नहीं है। **(रा.वा. ९)**

१७. प्रश्न : ईर्या समिति का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : ईर्या समिति-पालन करने से लाभ-

(१) यह समस्त गुणों की खानि है एवं स्वर्ग की सीढ़ी हैं।

(२) यह मोक्ष सुख को उत्पन्न करने वाली माता है।

(३) यह हिंसादि पापों से दूर है एवं अत्यन्त पवित्र है।

(४) तीर्थंकर और गणधर देवों के द्वारा सेवन करने योग्य है तथा समस्त दोषों से दूर है। **(मू.प्र. २८४)**

१८. प्रश्न : ईर्या समिति के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : सूर्य के मन्द प्रकाश में गमन करना, जहाँ पाँव रखना हो वह जगह नेत्र से अच्छी तरह नहीं देखना, इतर कार्यों में मन लगाना ईर्या समिति के अतिचार हैं। **(भ.आ.वि. १६)**

१९. प्रश्न : भाषा समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : हँसी आदि के वचनों को छोड़कर केवल धर्ममार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए तथा अपना और दूसरे का हित करने के लिए सारभूत, परिमित और धर्म से अविरोधी जो वचन कहते हैं वह भाषा समिति है। **(मू.प्र. २८६)**

मन का संदेह नष्ट करने वाले हित-मित सत्य वचन का बोलना भाषा समिति है। यदि मन का सन्देह नष्ट करने वाले अनुभय वचन हैं तो वे भी भाषा समिति माने जाते हैं। सदा कर्कश और कठोर वचन छोड़कर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले यति का धर्मकार्यों में बोलना भाषा समिति है। **(हरि. २/१२३)**

२०. प्रश्न : हित, मित और असंदिग्ध वचन किसे कहते हैं ?

उत्तर : **हित**-मोक्षपद प्राप्त करना जिसका प्रधान फल है, वह हित कहलाता है। वह हित दो प्रकार का है (१) स्वहित (२) परहित।

मित - निरर्थक बकवास रहित वचन मित कहलाते हैं।

असंदिग्ध - स्फुट अर्थ - व्यक्त अक्षर वचन असंदिग्ध कहलाते हैं। **(रा.वा. ५)**

२१. प्रश्न : भाषा समिति वाले मुनिराज कैसे वचन नहीं बोलते हैं ?

उत्तर : चतुर पुरुष हँसी के वचन, कठोर वचन, चुगली के वचन, दूसरे की निन्दा के वचन, अपनी प्रशंसा के वचन और विकथाओं के वचन कभी नहीं बोलते हैं। **(मू.प्र. २८५)** प्रियभेदक, अल्पसार, शंकित, संभ्रान्त, कषाययुक्त, परिहासयुक्त, असभ्य, निष्ठुर, अधर्मविधायक (धर्मविरोधी), देशविरोधी, कालविरोधी और चाटुकारिता (चापलूसी) आदि वचन-दोषों से रहित भाषण करना भाषा समिति है। **(रा.वा.५)** धूर्त (मायावी), कामी, मांसभक्षी, चोर, नास्तिकमती, चार्वाकादि से व्यवहार में लाई भाषा तथा संदेह उपजाने वाली, वा जो पापसंयुक्त हो ऐसी भाषा बुद्धिमानों को त्यागनी चाहिए। **(ज्ञा. १८/८)**

२२. प्रश्न : किन मुनिराज के भाषा समिति होती है ?

उत्तर : जो वचनों के दश दोष रहित सूत्रानुसार साधुपुरुषों को मान्य हो ऐसी भाषा को कहने वाले मुनि के उत्कृष्ट भाषा समिति होती है। **(ज्ञा. १८/९)**

अलीक, परुष, कर्कश आदि वचनों से रहित तथा सत्य और असत्यमृषा ऐसे दो प्रकार के वचनों को बोलने वाले साधु के तथा सूत्र के अनुसार बोलने वाले साधु के भाषा समिति होती है। **(म.क. १२४९)**

असत्य आदि दोषों से वर्जित निर्दोष, ऐसा सत्य और असत्यमृषा वचन आगम के अनुकूल बोलते हुए मुनि के निर्दोष भाषा समिति होती है। **(मू. ३०७ आ.)**

अनुभय (असत्यमृषा)- जो सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है, ऐसे सामान्य वचन असत्यमृषा (अनुभयवचन) हैं। ऐसे सत्य और अनुभय वचन बोलना भाषा समिति है। **(मू.३०७ आ.)**

नोट : सत्य वचनों का विशेष देखें **(७/२, ९/५)**

२३. प्रश्न : वचन के दश दोष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : वचन के दश दोष अथवा निन्द्य भाषा-

(१) कर्कशा (२) कटुका (३) परुषा (४) निष्ठुरा (५) परप्रकोपिनी (६) मध्यकृशा (७) अभिमानिनी (८) अनयंकरी (९) छेदंकरी (१०) भूतवधंकरी।

(१) **कर्कशा भाषा** - 'तू मूर्ख है, तू बैल है अरे शठ ! तू कुछ नहीं जानता,' इस प्रकार संताप को उत्पन्न करने वाली कर्कशा भाषा है।

(२) **कटुका भाषा** - 'तू कुजाति है, तू अधर्मी है' इस प्रकार के वचन अथवा उद्वेगकारक वचन कटुका भाषा है।

(३) **परुषा भाषा** - 'तू बहुत अंशों में निष्ठुर है,' 'तू आचार पालने से पराङ्मुख है' इस प्रकार बोलना परुषा भाषा है।

(४) **निष्ठुराभाषा** - 'मैं तुझे मार डालूंगा, तेरा मस्तक काट डालूंगा' इस प्रकार के वचन कहना निष्ठुरा भाषा है।

(५) **परप्रकोपिनी** - हे निर्लज्ज, तू यह क्या तपश्चरण करता है क्योंकि तू रागी है, सदा हँसता ही रहता है।' इस प्रकार के क्रोध उत्पादक वचनों को परकोपिनी भाषा कहते हैं।

(६) **मध्यकृशा** - जिस निष्ठुर भाषा से, हड्डी के मध्य भाग भी कट जाँय, ऐसी निर्दय भाषा को 'मध्यकृशा' भाषा कहते हैं।

(७) **अभिमानिनी** - निंद्य लोग जिस भाषा से अपने गुणों का वर्णन करते हैं और दूसरे के दोषों का वर्णन करते हैं उस भाषा को 'अभिमानिनी' भाषा कहते हैं।

(८) **अनयंकरी**- जो भाषा परस्पर एक दूसरे का शील खण्डन करने वाली है या परस्पर विद्वेष उत्पन्न करने वाली है, उसको अनयंकरी भाषा कहते हैं।

(९) **छेदंकरी** - जो भाषा वीर्य, शील और गुणों का निर्मूल नाश करने वाली है, जो असत्य है और दूसरों के दोषों को कहने वाली है वह 'छेदंकरी' भाषा है।

(१०) **भूतवधंकरी** - जिस भाषा से जीवों के प्राण नष्ट होते हों, अशुभ और पीड़ा उत्पन्न होती हो, जो सब तरह का अनिष्ट करने वाली हो, वह भूतवधंकरी भाषा है। **(मू.प्र. ३१८-२९)**

२४. प्रश्न : असत्यमृषा भाषा कितने प्रकार की है ?

उत्तर : असत्यमृषा भाषा के भेद- आमन्त्रणवचन, आज्ञापनवचन, याञ्चावचन, प्रच्छनावचन, प्रज्ञापनावचन, प्रत्याख्यानवचन, संशयवचन, इच्छानुलोमवचन, अनक्षरमयवचन आदि हजारों भेद अनुभय भाषा के हैं। **(आ.सा. ५/८३-८४)**

(१) आमंत्रणी (२) आज्ञापनी (३) याचनी (४) संपृच्छनी (५) प्रज्ञापनी (६) प्रत्याख्यानी (७) इच्छानुलोमा (८) संशयवचनी (९) अनक्षरा। ये अनुभय वचन के नौ भेद हैं। **(मू.प्र. ३०४-३०६)**

आमंत्रणी - जिसके द्वारा आमंत्रण किया जाता है वह आमंत्रणी भाषा है। जैसे- हे देवदत्त ! इत्यादि वचन बोलना।

आज्ञापनी -जिसके द्वारा आज्ञा दी जाती है वह आज्ञापनी भाषा है। जैसे, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ।

याचनी - जिसके द्वारा याचना की जाती है वह याचनी भाषा है। जैसे- मैं आपसे माँगता हूँ, आदि

संपृच्छनी - जिसके द्वारा प्रश्न किया जाता है, वह पृच्छना है। जैसे- मैं आपसे पूछता हूँ, आदि।

प्रज्ञापनी - जिसके द्वारा प्रज्ञापना की जाती है वह प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे- मैं आपसे निवेदन करता हूँ, इत्यादि।

प्रत्याख्यानी - जिसके द्वारा कुछ त्याग किया जाता है वह प्रत्याख्यानी है। जैसे, मुझे प्रत्याख्यान दीजिए, इत्यादि।

इच्छानुलोमा - जो इच्छा के अनुकूल है वह इच्छानुलोमा है। जो सर्वत्र अनुकूल रहती है। जैसे मैं ऐसा करता हूँ, इत्यादि। ये सात असत्यमृषा भाषा हैं।

संशयवचनी - बालक, वृद्ध और पशुओं की भाषा के अर्थ की प्रतीति नहीं होती इसलिए उसको 'संशय वचनी' भाषा कहते हैं।

अनक्षरा भाषा - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवों की जो अक्षर रहित भाषा है उसको अनक्षरा नामकी अनुभय भाषा कहते हैं। **(मू.प्र. ३१४-१६)**

२५. प्रश्न : भाषा समिति का पालन किसलिए करना चाहिए ?

उत्तर : यह भाषा समिति समस्त श्रुतज्ञान को देने वाली है, समस्त विज्ञान की खान है, भगवान तीर्थंकर परमदेव और मुनियों के द्वारा सेवन करने योग्य है, अत्यन्त पवित्र है, धर्म की मूल है तथा मोक्ष और स्वर्गगति का मार्ग है, इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ भाषा समिति का पालन करना चाहिए। **(मू.प्र. ३४८)**

२६. प्रश्न : भाषा समिति के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : (१) यह वचन बोलना योग्य है अथवा नहीं, इसका विचार न करके बोलना।

(२) वस्तु स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी बोलना।

(३) कोई पुरुष बोल रहा है और अपने को प्रकरण विषय मालूम नहीं है तो बीच में बोलना अयोग्य है। (फिर भी बोलना अतिचार है।)

जिसने धर्म का स्वरूप सुना नहीं अथवा जिसे धर्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं ऐसे मुनि को 'अपुष्ट' कहते हैं।

भाषा समिति का क्रम जो नहीं जानता वह मौन धारण करे ऐसा अभिप्राय है। इस तरह भाषा समिति के अतिचार हैं। **(भ.आ.वि. १६)**

२७. प्रश्न : एषणा समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : सन्तोष और क्रोध रहित साधु ज्ञान और ध्यान की सिद्धि के लिए जो यत्नपूर्वक प्रमाद रहित हो आहार ग्रहण करते हैं, यह एषणा समिति कहलाती है। **(आ.सा. ५/१२९)** मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनिराज दूसरे के घर में जाकर शीत या उष्ण जैसा मिल जाता है वैसा शुद्ध भोजन करते हैं, इसी को एषणा समिति कहते हैं। **(मू.प्र. ३४९)** निष्परिग्रही मुनि देश-काल आदि की सामग्री सहित तथा नवकोटि विशुद्धियों सहित जो निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं उसको एषणासमिति कहते हैं। **(चा.सा. १२१)** गुण रूपी रत्नों को ढोने वाली शरीर रूपी गाड़ी को समाधिनगर की ओर ले जाने की इच्छा करने वाले साधु के गाड़ी में ओंगन देने के समान अथवा औषधि के समान अथवा जठराग्नि दाह को शमन करने के लिए बिना स्वाद लिये देश, काल तथा शक्ति आदि से युक्त अनिन्दित उद्गमादि दोषरहित नव कोटि से शुद्ध आहार का ग्रहण करना एषणा समिति है। **(रा.वा. ६)**

छ्यालीस दोषों से रहित शुद्ध, कारण से सहित, नवकोटि से विशुद्ध और शीत-उष्ण आदि में समान भाव से भोजन करना यह सम्पूर्णतया निर्दोष एषणा समिति है। **(मू. १३)** शरीर की स्थिरता के लिए पिण्ड शुद्धि पूर्वक मुनि का जो आहार ग्रहण करना है, वह एषणा समिति है। **(हरि. २/१२४)**

२८. प्रश्न : कितने दोषों से रहित एषणा समिति होती हैं ?

उत्तर : एषणा समिति के मुख्य रूप से आठ दोष हैं-

उद्गम दोष, उत्पादन दोष, एषण दोष, संयोजना दोष, अप्रमाण दोष, अंगार दोष, धूम दोष, कारण दोष।

(१) उद्गम दोष - दाता में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि 'उद्गच्छति' उत्पन्न होता है- वह उद्गम दोष है।

(२) उत्पादन दोष - दाता में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उत्पन्न होता है या कराया जाता है वह उत्पादन दोष है।

(३) एषण दोष - जिन पारिवेशक-परोसने वालों से भोजन किया जाता है उनकी अशुद्धियाँ अशन दोष कहलाती हैं। **(मू. ४२१ आ.)**

(४) संयोजना दोष - जो मुनि ठंडे भोजन को गरम जल में मिलाकर खाता है अथवा गरम भोजन को ठंडे जल में मिलाकर खाता है उसके संयोजना नामक दोष होता है। **(मू.प्र. ४५८)**

अन्य भी परस्पर विरुद्ध वस्तु को मिला देना संयोजना दोष है। **(मू. ४७६ आ.)** जो मिलाया जाता है अथवा किसी वस्तु का मिलाना मात्र ही संयोजना दोष है। **(मू. ४२१ आ.)**

अपने स्वाद के लिए ठंडा और गर्म अन्न-पानी आदि मिलाना संयोजना दोष है। **(चा.सा.पृ. १३०)**

(५) अप्रमाण दोष - मात्रा से अधिक आहार लेना अप्रमाण दोष है। **(चा.सा. १३०)** जो मुनि

प्रमाण से अधिक आहार ग्रहण करता है उसके अप्रमाण नामक दोष है। उनके अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और ध्यान का नाश हो जाता है। **(मू.प्र. ४६१)**

(६) अंगार दोष - अत्यन्त लम्पटता के साथ आहार ग्रहण करना अंगार दोष है। **(चा.सा. १३०)** जो मन्द बुद्धि मुनि अपनी लम्पटता से मूर्च्छित होकर आहार को ग्रहण करता है, उसके पापों का सागर ऐसा अंगार नाम का दोष प्रकट होता है। **(मू. प्र. ४६२)**

(७) धूमदोष - जो अधम मुनि सरस आहार के न मिलने से अपने वचनों से दातार की निन्दा करता हुआ आहार ग्रहण करता है उसके निंदनीय 'धूम' नाम का दोष प्रगट होता है। **(मू.प्र. ४६३)**

भोजन की निन्दा करते हुए आहार ग्रहण करना धूम दोष है। **(चा.सा. १३०)**

(८) कारण दोष - जो कारण निमित्त से होता है, वह कारण दोष है। **(मू. ४२१ आ.)**

अथवा - आहार के छ्यालीस दोष हैं-

सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दस एषणा दोष, संयोजना दोष, अप्रमाण दोष, अंगार दोष तथा धूम दोष।

इन छ्यालीस दोषों से अलग एक 'अध:कर्म' नाम का महादोष है। (चा.सा.)

२९. प्रश्न : अध:कर्म दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस आहार के तैयार करने में गृहस्थ के आश्रय रहने वाले पाँचों पाप स्वयं करने पड़े हों अथवा निकृष्ट व्यापार किया गया हो वा छहों प्रकार के जीवों के समूह की हिंसा की गई हो ऐसे आहार को ग्रहण करना अध:कर्म दोष है। यह दोष छ्यालीस दोषों से अलग है।

छह प्रकार के जीवों को स्वयं अपने हाथ से मारने अथवा उनकी विराधना करने से या वचन के द्वारा दूसरों से मरवाने या विराधना कराने से अथवा अनुमोदना करने से जो अन्न उत्पन्न होता है ऐसे निन्दनीय और नीच कर्म से उत्पन्न होने वाले अन्न को अध: कहते हैं। यह अध:कर्म नाम का महादोष असंयमी लोगों से उत्पन्न होता है अत: पूर्ण प्रयत्न से सदा के लिए इस दोष का त्याग कर देना चाहिए।**(मू.प्र. ३५६-५८)**

३०. प्रश्न : अध:कर्म दोष से युक्त आहार करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो मुनि अध:कर्मजन्य आहार को ग्रहण करते हैं उनके छह काय के जीवों की हिंसा का पाप लगता है। अत एव अनेक उपवास और आज्ञापन आदि योग व्यर्थ हो जाते हैं। **(मू. प्र. ५६९)** जो बहुत से प्राणियों का घात करके अपने प्राणों की रक्षा करता है, अप्रासुक में सुख का इच्छुक वह श्रमण मोक्षसुख का इच्छुक नहीं है।

सिंह या व्याघ्र एक, दो या तीन मृग को खावे तो हिंस्र है और यदि साधु जीवराशि का घात करके आहार लेवे तो वह नीच है।

जो कायोत्सर्ग से, मौन से, वीरासन से, उपवास और बेला आदि से रहते हैं तथा अध:कर्म से बना आहार लेते हैं उनके सभी योग निरर्थक है।

जो अध: कर्मयुक्त आहार लेते हैं उनका वन में रहना, शून्यस्थान में रहना अथवा वृक्ष के नीचे ध्यान करना क्या करेगा ? उसके कायोत्सर्ग और मौन क्या करेंगे ? क्योंकि मैत्री भाव से रहित वह श्रमण मुक्ति का इच्छुक होते हुए भी मुक्त नहीं होगा।

जो षट् काय के जीवों का घात करके अध:कर्म से बना आहार लेता है वह अज्ञानी, लोभी, जिह्वेन्द्रिय का वशीभूत श्रमण नहीं रह जाता वह तो श्रावक हो जाता है।

जो पकाने वा पकवाने वा अनुमोदना में अपने मन को लगाता है उनसे डरता नहीं है वह आहार करते हुए भी स्वघाती है, सम्यक्त्व सहित श्रमण नहीं है। उस उत्तमार्थ से भ्रष्ट के यह लोक भी नहीं है और परलोक भी नहीं है। संयमहीन उस मुनि का वेष ग्रहण करना व्यर्थ है। **(मू. ९२१-३१)**

३१. प्रश्न : उद्गम दोष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : (१) उद्देशिक (२) अध्यधि (३) पूति (४) मिश्र (५) स्थापित (६) बलि (७) परावर्तित (८) प्राविष्करण (९) क्रीत (१०) प्रामिच्छ (११) परिवर्त्तक (१२) अभिघट (१३) उद्भिन्न (१४) मालारोहण (१५) आछेद्य (१६) अनीशार्थ। ये सोलह उद्गम दोष हैं।

(१) औद्देशिक (२) अध्यधि (३) पूति (४) मिश्र (५) स्थापित (६) बलि (७) प्रावर्तित (८) प्रादुष्कार (९) क्रीत (१०) प्रामृष्य (११) परिवर्तक (१२) अभिघट (१३) उद्भिन्न (१४) मालारोहण (१५) अच्छेद्य (१६) अनिसृष्ट। **(मू. ४२२-२३)**

३२. प्रश्न : उद्देशिक दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : देवता और पाखण्डी के लिए या दोनों के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है वह औद्देशिक है। **(मू. ४२५)** जो अन्न अपने उद्देश्य से बनाया जाता है वह उद्दिष्ट कहलाता है। अथवा समस्त साधु पाखण्डी और दुर्बलों-दीन-दु:खी जीवों के लिए जो बनाया जाता है वह भी उद्दिष्ट कहलाता है। **(आ.सा. ८/२१)** ऐसे आहार को ग्रहण करना उद्देशिक दोष है। खास मुनि के लिए तैयार किया हुआ भोजन देना उद्देशिक दोष है। **(चा.सा. १२४)**

३३. प्रश्न : उद्देश्य कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : (१) हर किसी को उद्देश्य करके बनाया गया अन्न उद्देश है।

(२) पाखण्डियों को निमित्त करके बनाया गया समुद्देश है।

(३) श्रमण को निमित्त करके बनाया गया आदेश है। (जैसे रक्तपट, बौद्ध, परिव्राजक या छात्र)

(४) निर्ग्रन्थ को निमित्त कर बनाया गया समादेश है। **(मू. ४२६)**

३४. प्रश्न : अध्यधि दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुनियों के दान के लिए अपने पकते हुए भोजन में जल या चावल का और मिला देना यह अध्यधि दोष है। अथवा भोजन पकने तक (साधु को) रोक लेना यह भी अध्यधि दोष है। **(मू. ४२७)** आहार के लिए आते हुए संयमियों को देखकर पकते हुए अपने चावलों में किसी दूसरे के चावल और मिला देना अध्यधि दोष है। **(मू.प्र. ३६५)**

मुनि को देखकर अधिक भोजन बनाना अध्यधि दोष है। **(चा.सा. १२३)**

३५. प्रश्न : पूति दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रासुक आहार में अप्रासुक वस्तु मिला देना अथवा अप्रासुक मिला हुआ आहार देना पूति दोष है। **(चा.सा. १२३)**

जो अन्नपानादि अप्रासुक वस्तु से मिला है उसे पूति दोष कहते हैं। **(मू.प्र. ३६६)**

३६. प्रश्न : पूतिकर्म कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : पूतिकर्म पाँच प्रकार के हैं-

(१) चूल्हा (२) ओखली (३) कलछी या चम्मच (४) बर्तन (५) गंध। **(मू. ४२८)**

रंधनी (चूल्हा), उदूखल (ओखली), दर्वी (करछली) भोजन और गंध। **(मू.प्र. ३६७)**

इस चूल्हे आदि पर सबसे पहले भात आदि बना कर पहले मुनियों को दूंगा पश्चात् अन्य किसी को दूंगा, इस प्रकार प्रासुक भी भात आदि द्रव्य पूतिकर्म अप्रासुक रूप भाव से बनाया हुआ होने से पूति कहलाता है।

इसी प्रकार नयी ओखली में कूटा हुआ, नयी करछली से, नये बर्तनों से एवं गंध में से जब तक मुनिराज को नहीं दूंगा, तब तक अपने या अन्य के प्रयोग में नहीं लूंगा, ये सब पूति कर्म हैं। यदि मुनि ऐसे ऐसे भोजन को ग्रहण करता है तो पूति दोष लगता है क्योंकि इन पाँचों प्रकारों में प्रथम आरम्भ किया जाता है। **(मू. ४२८ आ.)**

३७. प्रश्न : मिश्रदोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो आहार पाखण्डी साधुओं को दिया जाता है, वही निर्ग्रन्थ साधुओं को देना मिश्र दोष है। **(आ.सा. ८/२५)** मुनियों को देने के उद्देश्य से पाखण्डी गृहस्थों के साथ-साथ जो अन्न तैयार किया गया है, उसमें मिश्र नाम का दोष उत्पन्न होता है। **(मू.प्र. ३७४)**

पाखण्डियों और गृहस्थों के साथ संयत मुनियों को जो सिद्ध हुआ अन्न दिया जाता है उसे मिश्र जानो। क्योंकि उनके साथ आहार देने से उनका स्पर्श आदि हो जाने से आहार अशुद्ध हो जावेगा तथा संयमी मुनियों को उनके साथ देने से उनका अनादर भी होगा। **(मू. ४२९ आ.)**

३८. प्रश्न : स्थापित दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस पात्र में भोजन बनाया है, उसमें से लेकर यदि किसी दूसरे पात्र में रख दिया गया है। चाहे वह अपने घर में रखा हो और चाहे दूसरों के घर में रख दिया हो ऐसे अन्न के लेने में स्थापित नाम का दोष होता है। **(मू.प्र. ३७५)**

पकने के बर्तन से निकाल कर किसी दूसरी जगह रख देना और फिर वहाँ से मुनियों को देना स्थापित दोष है। **(चा.सा. १२४)**

३९. प्रश्न : यह दोष क्यों माना गया है ?

उत्तर : (स्थापित किये गये आहार को) जो दाता उसे उठाकर देगा वह उस रखने वाले से डरते हुए देगा अथवा कदाचित् जिसने अन्यत्र रखा था वह विरोध भी कर सकता है, इसलिए यह दोष है। **(मू. ४३० आ.)**

४०. प्रश्न : बलि दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : यक्षादिक के बलि (नैवेद्य) देने से बचा हुआ आहार बलि माना गया है अथवा साधुओं के आगमन के लिए बलिकर्म यक्षादिक की पूजा आदि करना बलि दोष है। **(आ.सा. ८/२७)** संयमियों के आने के लिए पूजा, जलक्षेपणादि के द्वारा जो बलिकर्म किया जाता है वह भी बलि नाम का दोष कहा जाता है। **(मू.प्र. ३७७)**

यक्ष-नाग आदि के निमित्त बनाया गया नैवेद्य बलि कहा जाता है। उसमें से कुछ शेष बचे हुए को भी बलि कहते हैं। यहाँ सर्वत्र कारण में कार्य का उपचार किया गया है। ऐसा शेष बचा नैवेद्य यदि मुनि को आहार में दे देवे तो बलि दोष है। अथवा संयतों के आने के लिए बलिकर्म करना बलि दोष है। संयतों का पड़गाहन करना, अर्चना करना, जलक्षेपण करना, पत्रिकादि का खण्डन करना आदि तथा यक्षादि की पूजा से बचा हुआ नैवेद्य आहार में देना बलि दोष है। इसमें सावद्य दोष देखे जाने के कारण यह दोष है। **(मू. ४३ आ.)**

४१. प्रश्न : प्राभृत (परावर्तित) दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : समय, दिन, मास, ऋतु और वर्ष आदि के नियम से साधुओं के लिए दिया जाने वाला अन्न प्राभृत कहा गया है। **(आ.सा. ८/२८)**

४२. प्रश्न : प्राभृत दोष कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : प्राभृत दोष दो प्रकार के हैं-

(१) बादर प्राभृत (२) सूक्ष्म प्राभृत।

बादर प्राभृत - दिवस, पक्ष, मास और वर्ष का परावर्तन करके जो आहार दिया जाता है, वह बादर प्राभृत दोष है।

बादर प्राभृत दो प्रकार का है-

(१) दिवसादि में वृद्धि करना (२) दिवसादि में हानि करना।

जैसे - शुक्ला अष्टमी में देना था किन्तु उसको अपकर्षण करके (घटा करके) शुक्ला-पंचमी के दिन जो दान दिया जाता है वह दिवस की वृद्धिरूप प्राभृत दोष है। और शुक्ला पंचमी को दूँगा ऐसा संकल्प किया था पुन: उसका उत्कर्षण (बढ़ा) करके शुक्ला अष्टमी को देना आदि दिवस में हानि रूप प्राभृत दोष है। इसी प्रकार शुक्ल पक्ष से कृष्ण पक्ष का, कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष का, फाल्गुन से चैत्र का एवं चैत्र से फाल्गुन का परिवर्तन करना, इसी प्रकार वर्ष का परिवर्तन करना बादर प्राभृत दोष।

सूक्ष्म प्राभृत - वेला का परिवर्तन सूक्ष्म प्राभृत दोष है-

सूक्ष्म प्राभृत दो प्रकार का है-

(१) अपराह्न में देने योग्य को अपकर्षण करके पूर्वाह्न या मध्याह्न वेला में आहार देना।

(२) मध्याह्न में देना था किन्तु उत्कर्षण करके अपराह्न में देना।

अथवा मध्याह्न में देना था उसे परिवर्तन करके पूर्वाह्न वा अपराह्न में देना, आदि। **(मू. ४३३ आ.)**

४३. प्रश्न : इसे दोष क्यों माना गया है ?

उत्तर : इस तरह हानि-वृद्धि करके आहार देने में दातार के क्लेश, बहुविघात और बहुत आरम्भ आदि दोष देखे जाते हैं। अत: यह दोष है। **(मू. ४३३ आ.)**

४४. प्रश्न : प्रादुष्कार दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : घर को प्रकाशित करना अथवा बर्तन आदि उपकरणों का संस्कार करना अथवा आहार को रसोईघर से निकालकर दूसरे अच्छे स्थान पर रखना प्राविष्कृत दोष कहा गया है। **(आ.सा. ८/२९)**

आहार और बर्त्तनों को एक देश से दूसरे प्रदेश में ले जाना, अथवा बर्तनों को भस्म से मांजना अथवा दीपक जलाकर मण्डप को प्रकाशित करना या घर में प्रकाश करना प्राविष्कार नाम का दोष है। यह पाप एवं आरम्भ को बढ़ाने वाला है इसलिए इसका त्याग कर देना चाहिए। **(मू.प्र. ३८४-८५)**

४५. प्रश्न : प्रादुष्कार दोष कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : प्रादुष्कार दोष दो प्रकार का है-

(१) संक्रमण (२) प्रकाश।

संक्रमण - किसी भी बर्तन या भोजन आदि को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना यह तो संक्रमण कहलाता है।

प्रकाश - बर्तनों को भस्म आदि से मांजना या जल आदि से धोना अथवा बर्तन आदि का विस्तरण करना उन्हें फैलाकर रखदेना यह प्रकाशन कहलाता है।

अथवा - मण्डप का उद्योतन करना तथा आदि शब्द से दीवार आदि लीप-पोत कर साफ करना, दीपक जलाना यह प्रादुष्करण दोष है। **(मू. ४३४ आ.)**

४६. प्रश्न : प्रादुष्करण को दोष क्यों माना गया है ?

उत्तर : इन सभी कार्यों में ईर्यापथ दोष देखा जाता है अत: यह दोष माना गया है। **(मू. ४३४ आ.)** आहार और बर्तनों को बदलने, स्थानान्तर करने अथवा प्रकाशित करने में पाप उत्पन्न होता है इसलिए इसको दोष माना गया है। **(मू.प्र. ३८३)**

४७. प्रश्न : क्रीत दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने वा दूसरों के गाय, भैंस आदि चेतन पदार्थ अथवा रुपया, पैसा आदि अचेतन पदार्थों को देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना क्रीत दोष है **अथवा** अपनी विद्या वा मंत्र को देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना क्रीत दोष है। **(मू.प्र. ३८६-७८)** विद्या तथा द्रव्य आदि से खरीदा हुआ आहार क्रीत कहलाता है। **(आ.सा. ८/३०)**

४८. प्रश्न : क्रीत दोष कितने प्रकार का है ?

उत्तर : क्रीत दोष दो प्रकार का है-

(१) द्रव्य (२) भाव। ये दोनों भी स्व और पर की अपेक्षा दो-दो प्रकार के हैं।

(१) संयत मुनिराज आहार के लिए प्रवेश कर चुके हैं, उस समय अपने अथवा पराये सचित्त गाय, भैंस आदि किसी को देकर और उससे आहार लाकर साधु को देना।

(२) उसी प्रकार स्वमंत्र या परमंत्र को अथवा स्वविद्या या परविद्या को किसी को देकर उसके बदले आहार लाकर दे देना यह क्रीत दोष है।

क्योंकि इस कार्य में करुणाभाव आदि दोष देखे जाते हैं। **(मू. ४३५ आ.)**

४९. प्रश्न : प्रामृष्य दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दाता दूसरे के घर से कर्ज के रूप में दाल, चावल, रोटी आदि लाता है और उसे भक्ति पूर्वक मुनियों को देता है उसके प्रामृष्य नाम का दोष लगता है। **(मू.प्र. ३८८)** जब मुनि आहार के लिए आते हैं उस समय दाता श्रावक अन्य किसी के घर जाकर भक्ति से उससे भात आदि माँगता है और कहता है कि मैं आपको इससे अधिक भोजन दे दूँगा या इतना ही भोजन वापस दे दूँगा, ऐसा कहकर पुन: वहाँ से लाकर यदि श्रावक मुनि को आहार देता है तो वह ऋण सहित प्रामृष्य दोष कहलाता है। **(मू. ४३६-४१)** इसमें दाता को क्लेश और परिश्रम आदि करना पड़ता है। अत: यह दोष है। इसके दो भेद हैं (१) वृद्धि सहित (२) वृद्धि रहित। इनके लक्षण ऊपर कहे हैं।

५०. प्रश्न : परावर्त दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दाता अपने भात या रोटी को देकर दूसरे के घर से मुनियों को देने के निमित्त श्रेष्ठ भात-रोटी लेकर भक्ति पूर्वक मुनियों को देता है उसको परिवर्त्तक नाम का दोष लगता है। **(मू.प्र. ३८९)** संयतों के लिए ब्रीहि के भात आदि से शालि के भात आदि को ग्रहण करना अथवा रोटी आदि को देकर शालि भात आदि लाता है यह परिवर्त्त दोष है। **(मू. ४३७ आ.)**

५१. प्रश्न : अभिघट दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो आहार अनेक ग्रामों, मार्गों और दूसरे घरों से लाया गया है, वह अभिघट दोष है। **(आ.सा. ८/३२)**

अभिघट दोष दो प्रकार का है-

(१) देशाभिघट (२) सर्वाभिघट।

देशाभिघट - एक देश से आये हुए भात आदि देशाभिघट हैं।

सर्वाभिघट - सब तरफ से आये हुए भात आदि सर्वाभिघट हैं।

देशाभिघट - दो प्रकार का है- (१) आचिन्न (२) अनाचिन्न।

(१) आचिन्न - सरल पंक्ति से तीन या सात घर से आयी हुई वस्तु है तो वह आचिन्न है।

(२) अनाचिन्न - उन घरों के अतिरिक्त या सरल पंक्ति से विपरीत जो आयी हुई वस्तु है वह अनाचिन्न है। **(मू. ४३९)**

सर्वाभिघट दोष चार प्रकार का है-

(१) स्वग्राम (२) परग्राम (३) स्वदेश (४) परदेश।

स्वग्राम - स्वग्राम से लाया गया भात आदि। अर्थात् एक मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले में लाया गया।

परग्राम - पर ग्राम से लाया गया भात आदि।

स्वदेश - जिस देश में मुनि ठहरे हुए हैं उस देश से लाया गया भात आदि।

परदेश - जिस देश में मुनि ठहरे नहीं हैं उस देश से लाया गया भात आदि।

इसमें ईर्यापथ दोष प्रचुर मात्रा में देखा जाता है। **(मू. ४४० आ.)**

५२. प्रश्न : उद्भिन्न दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : ढके हुए या मुद्रा से बन्द औषधि, घी, शक्कर आदि हैं उन्हें खोलकर देना उद्भिन्न दोष है। **(मू. ४४१)**

जो घी, गुड़, शक्कर का पात्र किसी से ढका हो या कीचड़ आदि (के जतुओं) से आच्छादित हो रहा हो, उसको उघाड़ कर मुनियों को देना उद्भिन्न नाम का दोष कहलाता है। **(मू.प्र. ३९६)**

तत्काल मुद्रा तोड़कर निकाला हुआ आहार उद्भिन्न दोष से दूषित है। **(आ.सा. ८/३३)** ढके हुए में भी चींटी आदि चढ़ सकती है इसलिए दोष है। **(मू.प्र. ३९६)**

५३. प्रश्न : मालारोहण दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अन्न, पान, नसैनी पर चढ़कर या उतर कर ऊँची या नीची दूसरे की भूमि पर से लाकर मुनियों को दिया जाता है उसमें मालारोहण दोष लगता है। क्योंकि इसमें दाता का अपाय होता है। **(मू.प्र. ३९७)**

नसैनी से घर के दूसरे भाग (ऊपरी भाग) पर चढ़कर वहाँ पर रखे हुए पुआ, मंडक, लड्डू, शक्कर आदि लाकर जो उस समय देता है सो वह मालारोहण दोष है। इसमें दाता के गिरने का भय देखा जाता है। **(मू. ४४२) आ.**

५४. प्रश्न : आछेद्य दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : संयत को भिक्षा के लिए आते देखकर और राजा या चौर आदि से डरकर जो उन्हें आहार देना है वह आछेद्य दोष है। यदि आप आए हुए संयतों को आहार नहीं दोगे तो मैं तुम्हारा द्रव्य अपहरण कर लूँगा या तुम्हें ग्राम से बाहर निकाल दूंगा, इस प्रकार राजा या चोर आदि के द्वारा कुटुम्ब को डराकर आहार देने में लगाया जाता है, उस समय उन दातारों के द्वारा दिया गया दान आछेद्य दोष वाला होता है क्योंकि वह कुटुम्बियों को भय का करने वाला है। **(मू. ४४३ आ.)**

५५. प्रश्न : अनीशार्थ दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : घर के स्वामी या परिवार के अन्य लोगों की अनुमति के बिना जो आहार दिया जाता है वह अनीशार्थ दोष से दूषित है। **(आ.सा. ८/३४)**

व्यक्त और अव्यक्त के भेद से ईश्वर (स्वामी, प्रभु) के दो भेद हैं तथा व्यक्त और अव्यक्त ईश्वर और व्यक्त या अव्यक्त अनीश्वर यदि किसी के निषेध करने पर भी दान दे तो उसके 'अनीशार्थ' नाम का दोष लगता है। इसमें एक दान देता है और दूसरा निषेध करता है। इस प्रकार के दान में अनीशार्थ नामका दोष लगता है। **(मू.प्र. ३९९-४००)**

नोट - इसके भेद-प्रभेद मू. ४४३ गा. की टीका (आचार वृत्ति) में देखें।

५६. प्रश्न : उत्पादन दोष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : उत्पादन दोष सोलह हैं-

(१) धात्री (२) दूत (३) निमित्त (४) आजीवन दोष (५) वनीपक वचन (६) चिकित्सा (७) क्रोध (८) मान (९) माया (१०) लोभ (११) पूर्व संस्तुति (१२) पश्चात् संस्तुति (१३) विद्या (१४) मंत्र (१५) चूर्ण योग (१६) मूल कर्म। **(मू.प्र. ४०३-४)**

(१) धात्री (२) दूत (३) भिषग्वृत्ति (४) निमित्त (५) इच्छाविभाषण (६) पूर्वस्तुति (७) पश्चात् स्तुति (८) क्रोध (९) मान (१०) माया (११) लोभ (१२) वश्यकर्म (१३) स्वगुण स्तवन (१४) विद्या (१५) मंत्र (१६) चूर्ण। **(आ.सा. ८/३५-३६)**

५७. प्रश्न : धात्री दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : मार्जन धात्री, मण्डन धात्री, क्रीड़न धात्री, क्षीर धात्री और अम्बधात्री इन पाँच प्रकार के धात्री कर्म द्वारा उत्पन्न कराया गया आहार धात्री दोष है।

मार्जन धात्री - जो बालक को स्नान कराती है वह मार्जन धात्री है।

मण्डन धात्री - जो तिलक आदि लगाकर बालक को भूषित करती है वह मण्डनधात्री है।

क्रीडन धात्री - जो बालक को क्रीड़ा कराती है, रमाती है वह क्रीड़न धात्री है।

क्षीर धात्री - जो बच्चों को दूध पिलाती है वह स्तनपायिनी क्षीरधात्री है।

अम्बधात्री -जन्म देने वाली को अम्बधात्री कहते हैं अथवा जो सुलाती है वह भी अम्बधात्री है।

जो बालक को नहलाने, सुलाने, भूषित करने आदि का विधान सुनकर गृहस्थ भक्त होकर आहार देवे और मुनि ले लेवे तो धात्री दोष है। **(मू. ४४७ आ.)** जो मुनि गृहस्थों को युक्ति पूर्वक धाय के समान बच्चों को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, क्रीड़ा कराने, दूध पिलाने और सुलाने आदि की विधि का उपदेश देकर निंद्य रीति से अन्न उत्पन्न कर ग्रहण करते हैं उनके निन्दनीय धात्री नामका दोष उत्पन्न होता है। **(मू. प्र. ४०५-६)**

गृहस्थों को बालकों के लालन-पालन आदि की शिक्षा देकर आहार प्राप्त करना धात्री दोष है। **(आ.सा. ८/३७)**

इसमें स्वाध्याय का विनाश होने के कारण दोष माना गया है। **(मू. ४४७ आ.)**

५८. प्रश्न : दूत दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्वग्राम से परग्राम में वा स्वदेश से परदेश में जल-स्थल या आकाश से जाते समय किसी के सम्बन्धी के वचनों (संदेश) को ले जाकर जिसको कहे वह श्रावक परग्राम का हो या परदेश में मुनि के वचन सुनकर उन पर सन्तुष्ट होकर उन्हें दान आदि देता है और मुनि यदि वह आहार ले लेते हैं तो उनके दूत कर्म दोष लगता है। **(मू. ४४८ आ.)** गृहस्थों के दूरवर्ती बन्धुजनों का संदेश लाने और ले जाने का कार्य करना तथा इससे गृहस्थों को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना दूत दोष है। **(आ.सा. ८/३७)**

५९. प्रश्न : निमित्त दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : आठ प्रकार के निमित्तों का उपदेश देकर जो साधु भिक्षा ग्रहण करता है उसके निमित्त नामका दोष लगता है। **(मू.प्र. ४१०)**

आठ प्रकार के निमित्त-

(१) व्यंजन (२) अंग (३) स्वर (४) छिन्न (५) भौम (६) अंतरिक्ष (७) लक्षण और (८) स्वप्न। **(मू.प्र. ४०९)**

(१) व्यंजननिमित्त - किसी पुरुष के व्यंजन मसा, तिल आदि को देखकर जो शुभ या अशुभ जाना जाता है, वह **व्यंजन निमित्त** है।

(२) अंगनिमित्त - किसी पुरुष के सिर, ग्रीवा आदि अवयव देखकर जो उसका शुभ या अशुभ जाना जाता है, वह अंग निमित्त है।

(३) स्वरनिमित्त - किसी पुरुष या अन्य प्राणी के शब्द विशेष को सुनकर जो शुभ अशुभ जाना जाता है, वह **स्वर निमित्त** है।

(४) छिन्न निमित्त - किसी प्रहार या छेद को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है, वह **छिन्न निमित्त** है।

(५) भौमनिमित्त - किसी भूमिविभाग को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है, वह **भौमनिमित्त** है।

(६) अंतरिक्ष निमित्त - आकाश में होने वाले ग्रह युद्ध, ग्रहों का अस्तमन, ग्रहों का निर्घात आदि देखकर जो प्रजा का शुभ या अशुभ जाना जाता है, वह **अंतरिक्ष निमित्त** है।

(७) लक्षण निमित्त - जिस लक्षण को देखकर पुरुष या अन्य का शुभ अशुभ जाना जाता है, वह **लक्षण निमित्त** है।

(८) स्वप्न निमित्त - जिस स्वप्न को देखकर पुरुष या अन्य किसी का शुभ या अशुभ जाना जाता है, वह **स्वप्न निमित्त** है। **(मू. ४४९ आ.)**

६०. प्रश्न : आजीवन दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मुनि अपनी जाति, कुल, तप और शिल्पकर्म या हाथ की कलाओं का उपदेश देकर या जाति-कुल को बतलाकर अपनी आजीविका करता है उसको आजीवन दोष कहते हैं। **(मू.प्र. ४११)**

अपनी जाति आदि (विशेषता) को बताकर पुन: उस दाता के द्वारा दिये गये आहार को जो ग्रहण करता है उसके यह आजीवन दोष लगता है, क्योंकि उसमें अपने वीर्य का छिपाना, दीनता आदि करना ऐसे दोष आते हैं। **(मू. ४५० आ.)**

अपने तप, शास्त्रज्ञान तथा जाति आदि का वर्णन करना स्वगुणस्तव दोष है। **(आ.सा. ८/४३)**

६१. प्रश्न : वनीपक दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : यदि कोई गृहस्थ किसी मुनि से पूछे कि पाखंडियों को, कृपण या कोढ़ी आदि को अथवा भिक्षुक ब्राह्मणों को दान देने में पुण्य होता है या नहीं ? इसके उत्तर में वह मुनि उस दाता के अनुकूल यह

कह दे कि हाँ, पुण्य होता है। इस प्रकार अशुभ वचन कह कर उसी दाता के द्वारा दिये हुये दान को ग्रहण करता है उसके वनीपक नामक दोष होता है। **(मू.प्र. ४१२-१३)** कुत्ता, कृपण, अतिथि, ब्राह्मण, पाखण्डी, श्रवण-आजीवक या छात्र और कौवा आदि को दानादि करने से पुण्य है या नहीं, ऐसा पूछने पर पुण्य है ऐसा बोलना वनीपक दोष है। **(मू. ४५१)**

आचारसार में इसे इच्छाविभाषण नाम से कहा है।

६२. प्रश्न : चिकित्सा दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : हाथियों और घोड़ों की चिकित्सा, विषप्रयोग की रीति तथा बच्चों की चिकित्सा आदि नीच वृत्तियों से और इसी प्रकार के अन्य उपायों से भी आहार प्राप्त करना भिषग्वृत्ति दोष है। **(आ.सा. ८/३८)**

(१) कौमार (२) तनुचिकित्सा (३) रसायन (४) विष (५) भूत (६) क्षारतन्त्र (७) शालाकिक (८) शल्य, इन आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्रों के द्वारा जो मुनि गृहस्थों का उपकार करके उनसे यदि आहार आदि लेते हैं तो उनके यह आठ प्रकार का चिकित्सा नाम का दोष होता है क्योंकि इसमें सावद्य आदि दोष देखे जाते हैं। **(मू. ४५२ आ.)**

६३. प्रश्न : चिकित्सा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : चिकित्सा आठ प्रकार की होती है-

कौमार चिकित्सा, तनु चिकित्सा, रसायन चिकित्सा, विष चिकित्सा, भूत चिकित्सा, क्षारतंत्र चिकित्सा, शालाकिक चिकित्सा और शल्य चिकित्सा।

(१) **कौमार चिकित्सा** - बाल वैद्य शास्त्र अर्थात् मासिक, वार्षिक पीड़ा देनेवाले ग्रहों का निराकरण करने के उपाय बताने वाला कौमारशास्त्र है।

(२) **तनु** चिकित्सा - ज्वरादि रोगों का नाश करने का उपाय बताने वाले शास्त्र अथवा कंठ, पेट आदिकों का शोधन करने वाला शास्त्र।

(३) **रसायन** चिकित्सा - शरीर के वलि (सिकुड़न) और वृद्धत्व आदि को दूर करने वाली वस्तु रसायन है।

(४) **विष** चिकित्सा - कृत्रिम और अकृत्रिम विष की बाधा को दूर करने का उपाय बताने वाला शास्त्र।

(५) **भूत** चिकित्सा - पिशाच को निकालने का शास्त्र।

(६) **क्षारतंत्र** चिकित्सा - दुष्ट व्रण को शोधन करने वाला द्रव्य।

(७) **शालाकिक** चिकित्सा - शलाका से नेत्र के ऊपर आये हुए पटल को हटाकर मोतियाबिन्द, आदि नेत्ररोग दूर करने वाला शास्त्र।

(८) **शल्य** चिकित्सा - तोमरादि शरीर शल्य एवं हड्डी आदि भूमिशल्य को निकालने वाला शास्त्र।

इन आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्रों से श्रावकों पर उपकार करके उनके द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना चिकित्सा दोष है। **(मू. ४५२ आ.)**

६४. प्रश्न : क्रोध, मान, माया, लोभ दोष किसे कहते हैं?

उत्तर : क्रोध दिखा कर भिक्षा उत्पन्न करके आहार ग्रहण करना क्रोध दोष है।

मान दिखाकर भिक्षा उत्पन्न करके आहार ग्रहण करना मान दोष है।

इसी प्रकार माया और लोभ दोष भी समझना चाहिए। **(मू.प्र. ४१५-१७)**

६५. प्रश्न : पूर्वस्तुति दोष किसे कहते हैं?

उत्तर : जो मुनि दान ग्रहण करने के पहले श्रेष्ठ दान देने के ही अभिप्राय से दाता के सामने उसका श्रेष्ठ यश वर्णन करता है उसके पूर्वस्तुति नामका दोष उत्पन्न होता है। **(मू.प्र. ४२३)** दाता के सामने ''तुम दानपति हो अथवा यशस्वी हो'' इस तरह प्रशंसा करना और उसके दान देना भूल जाने पर उसे याद दिलाना पूर्व संस्तुति नाम का दोष है। **(मू. ४५५)** ''तुम प्रसिद्ध दाता हो'' इत्यादि शब्दों के द्वारा आहार के पहले गृहस्थ के आनन्द को बढ़ाना पूर्वस्तुति दोष है। **(आ.सा. ८/४१)** यह नग्नाचार्य-स्तुति पाठक भाटों का कार्य है इस तरह स्तुति प्रशंसा करना मुनियों का कार्य नहीं है अत: दोष है। **(मू. ४५५ टी.आ.)**

६६. प्रश्न : पश्चात् संस्तुति दोष किसे कहते हैं?

उत्तर : जो मुनि दान लेकर पीछे से अपनी वाणी के द्वारा दाता के दिये हुए उस दान के गुणों की प्रशंसा करता है उसके 'पश्चात् संस्तुति' नामक दोष लगता है। **(मू.प्र. ४२४)**

दान लेकर पुन:कीर्ति को कहते हैं। ''तुम दानपति विख्यात हो, तुम्हारा यश प्रसिद्ध है।'' यह पश्चात् संस्तुति दोष है। चूँकि इसमें कृपणता आदि दोष देखे जाते हैं। **(मू. ४५६ आ.)**

६७. प्रश्न : विद्या दोष किसे कहते हैं?

उत्तर : जो मुनि दाता को यह आशा दिलाता है कि 'मैं तुझे सिद्ध करने के लिये एक अच्छी विद्या दूंगा' इस प्रकार आशा दिलाकर जो भिक्षा उत्पन्न करता है उसके विद्या नामक दोष लगता है। **(मू.प्र. ४२५)** जो साधितसिद्ध है वह विद्या है। उसकी आशा प्रदान करने या उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना विद्या दोष है। **(मू. ४५७)** इसमें आहार आदि की आकांक्षा देखी जाती है। **(मू. ४५७ आ.)** अपने लिए सिद्ध हुई विद्या आदि के प्रभाव चमत्कार आदि का प्रदर्शन करना विद्या नामक दोष है। **(आ.सा. ८/४३)**

६८. प्रश्न : मंत्र दोष किसे कहते हैं?

उत्तर : जो मुनि किसी गृहस्थ को किसी सिद्ध किये हुए मंत्र को देने की आशा दिलाकर आहार ग्रहण करता है उसके मंत्र दोष लगता है। **(मू.प्र. ४२६)** पाठ सिद्ध आदि मंत्रों के बताने से जो आहार प्राप्त किया जाता है वह मंत्र दोष से दूषित है। **(आ.सा. ८/४४)** जो पढ़ते ही सिद्ध हो वह मंत्र है। उस मन्त्र के लिए आशा देने से और उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना सो मंत्रदोष है। **(मू. ४५८)**

इसमें लोकप्रतारणा, जिह्वा की गृद्धता आदि दोष देखे जाते हैं। **(मू. ४५८ आ.)**

६९. प्रश्न : चूर्ण दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : नेत्रों के लिए अंजन चूर्ण और शरीर को भूषित करने वाले भूषण चूर्ण ये चूर्ण हैं। इन चूर्णों से आहार उत्पन्न कराना सो यह चूर्ण दोष है। **(मू. ४६०)** इससे जीविका आदि करने से यह दोष माना जाता है। **(मू. ४६० आ.)** शरीर के शृंङ्गार को करने वाले चूर्ण आदि के बताने से जो आहार प्राप्त किया जाता है वह चूर्ण दोष है। **(आ.सा. ८/४४)**

७०. प्रश्न : मूलकर्म दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मनुष्य अपने वश में नहीं हैं उनको मायाचारी के वचन कहकर अथवा और किसी तरह से दान देने के लिए वश कर लेना अथवा मनुष्य कितने ही योजन दूर रहते हैं और दान नहीं देते, दान से अलग रहते हैं उनको अपने दान के लिए लगा देना, पाप उत्पन्न करने वाला मूलकर्म नामक दोष है। **(मू. प्र. ४२८-२९)**

वशीकरण के मन्त्र-तन्त्र आदि बताकर आहार प्राप्त करना वश्यकर्म नाम का दोष है। **(आ.सा. ८/४२)** अवशों का वशीकरण करना और वियुक्त हुए (वियोग को प्राप्त) जनों का संयोग कराना यह मूलकर्म कहा गया है। इस मूल कर्म के द्वारा आहार उत्पन्न कराकर जो मुनि आहार लेते हैं उनके मूलकर्म का दोष होता है। यह स्पष्टतया लज्जा आदि का कारण है। **(मू. ४६१ आ.)**

७१. प्रश्न : अशन दोष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अशन दोष दस होते हैं-

(१) शङ्कित (२) म्रक्षित (३) निक्षिप्त (४) पिहित (५) उज्झित (६) व्यवहार (७) दातृ (८) मिश्र (९) अपक्व (१०) लिप्त। **(आ.सा. ८/४५)**

(१) शंकित (२) म्रक्षित (३) निक्षिप्त (४) पिहित (५) संव्यवहरण (६) दायक (७) उन्मिश्र (८) अपरिणत (९) लिप्त (१०) छोटित। **(मू. ४६२)**

(१) शंकित (२) मृषित (३) निक्षिप्त (४) पिहित (५) व्यवहार (६) दायक (७) उन्मिश्र (८) परिणत (९) लिप्त (१०) परित्यजन। **(मू. प्र. ४३१-३२)**

७२. प्रश्न : शंकित दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह चार प्रकार का आहार अध:कर्म से उत्पन्न हुआ है अथवा नहीं, इस प्रकार की शंका रखता हुआ भी उस आहार को ग्रहण करता है उसके शंकित नाम का दोष होता है। **(मू.प्र. ४३३)** आगम में इन्हें मेरे योग्य कहा है या अयोग्य? इस प्रकार से संदेह करते हुए उस संदिग्ध आहार को ग्रहण करना शंकित दोष है। अथवा चित्त में ऐसा विचार करना कि यह भोजन अध:कर्म से सहित है या नहीं, ऐसा संदेह रखते हुए उसी आहार को ग्रहण कर लेना सो शंकित दोष है। **(मू. ४६३ आ.)**

७३. प्रश्न : म्रक्षित दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो साधु चिकने बर्त्तन से या चिकने हाथ से अथवा चिकनी करछली से दिये हुए आहार को ग्रहण कर लेता है उसके म्रक्षित नामक दोष लगता है। चिकनी करछली आदि में सम्मूर्च्छन जीवों की सम्भावना रहती है इसलिए यह दोष है। **(मू.प्र. ४३४)**

७४. प्रश्न : निक्षिप्त दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो देने योग्य पदार्थ सचित्त पृथ्वी, सचित्तजल, सचित्त अग्नि, सचित्त हरित, सचित्त बीज अथवा त्रस जीवों पर रखे हों ऐसे पदार्थों को जो लोग दान देते हैं उनके सचित्त दोष को उत्पन्न करने वाला निंद्य निक्षिप्त दोष लगता है। **(मू.प्र. ४३५-३६)** सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि, हरित बीज और त्रस जीव इन पर रखा हुआ जो आहार आदि है वह छह भेद रूप निक्षिप्त कहलाता है अथवा चित्त से सहित सचित्त ऐसे सचित्त पृथ्वी आदि और त्रसकाय पर रखी हुई वस्तु देने पर आहार में लेना निक्षिप्त दोष है। **(मू. ४६५ आ.)**

७५. प्रश्न : पिहित दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सचित्त वस्तु से ढका हुआ है अथवा जो अचित्त भारी वस्तु से ढका हुआ है उसे हटाकर भोजन देना वह पिहित दोष है। **(मू. ४६६)**

७६. प्रश्न : संव्यवहार दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : दान देने के लिए जो वस्त्र-बर्त्तन आदि को जल्दी बेचकर आहार तैयार करता है उसके व्यवहार नाम का दोष लगता है। **(मू.प्र. ४३८)** यदि देने के लिए बर्तन आदि खींच कर बिना देखे दे देवे तो संव्यवहरण दोष होता है। **(मू. ४६७)**

७७. प्रश्न : दायक दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : शराबी, सूतक-पातक वाला, वेश्या, दासी, अर्जिका, मल-मूत्र करके आया हुआ, गर्भिणी, खाकर आया हो, मूर्च्छित, रोगी, घाव से युक्त, अत्यन्त वृद्ध, अत्यन्त बाला, अग्नि जलाकर या बुझाकर आया हो, फूंक कर, लीप कर, दीवाल झाड़कर, स्नान कराकर, बालक को दूध पिलाकर, वमन करके आया, आदि कार्यों को करके आकर दाता आहार देता है तो दायक दोष है। **(मू.प्र. ४३९-४६)**

धाय, मद्यपायी, रोगी, मृतक के सूतक सहित, नपुंसक, पिशाचग्रस्त, नग्न, मलमूत्र करके आये हुए, मूर्छित, वमन करके आये हुए, रुधिर सहित, वेश्या, श्रमणिका, तैलमालिश करने वाली, अति बाल-वृद्धा, खाती हुई, गर्भिणी, अन्धी, किसी की आड़ में खड़ी हुई, बैठी हुई, ऊँचे स्थान पर खड़ी या नीचे स्थान पर खड़ी हुई आहार देवे तो दायक दोष है। फूंकना, जलाना, सारण (लकड़ियाँ अग्नि में डालना), ढकना, बुझाना, लकड़ी आदि हटाना या पीटना आदि अग्नि का कार्य करके, लीपना, धोना करके, दूध पीते बालक को छोड़ करके इत्यादि कार्य करके आकर यदि आहार देते हैं तो दायक दोष है। **(मू. ४६८-७१)**

७८. प्रश्न : उन्मिश्र दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज और त्रस इन पाँचों से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र है। **(मू. ४७२)** मिट्टी, अप्रासुक जल तथा पत्ते फूल आदि हरितकाय, जौ गेहूँ आदि बीज और सजीव त्रस, इन पाँच से मिश्रित हुआ आहार उन्मिश्र दोष रूप होता है। इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि यह महादोष है। **(मू. ४७२ आ.)**

७९. प्रश्न : अपरिणत दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : तिलोदक (तिल का धोवन), तण्डुलोदक, उष्णजल, चने का धोवन, तुष का धोवन विपरिणत नहीं हुए (स्पर्श आदि से परिणत नहीं हुए) और भी जो वैसे हैं, परिणत नहीं हुए हैं, उन्हें ग्रहण करना अपरिणत दोष है। **(मू. ४७३)**

जिस जल का रूप रस नहीं बदला है, किसी चूर्ण के मिलाने पर भी रूप, रस, नहीं बदला है या गर्म करने से स्पर्श नहीं बदला है ऐसा जल जो अज्ञानी मुनि ग्रहण करता है उसके अनेक जीवों की हिंसा करने वाला अपरिणत दोष उत्पन्न हुआ है। **(मू.प्र. ४५२)** अग्नि आदि पदार्थों के द्वारा जिसने अपना पहले का वर्ण, गन्ध तथा स्वाद नहीं छोड़ा है उसे अपक्व दोष से दूषित जानना चाहिए। **(आ.सा. ८/५२)**

८०. प्रश्न : लिप्त दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : गेरु, हरिताल, सेलखड़ी, मन:शिला, गीला आटा, कोंपल आदि सहित जल इनसे लिप्त हुए हाथ या बर्त्तन से आहार देना सो लिप्त दोष है। **(मू. ४७४)** कच्चे चावलों के चूर्ण से, बिना पके शाक से, अप्रासुक जल से, खड़ी-सेलखड़ी हरताल आदि द्रव्यों से स्पर्श किये हुए, लगे हुए द्रव्य को दान में देना अथवा गीले हाथ या गीले बर्त्तन से आहार देना लिप्त नाम का दोष है, ऐसे आहार से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। **(मू.प्र. ४५३-५४)**

८१. प्रश्न : परित्यजन दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दाता घी, दूध, छाछ या जल का आहार देता हो और वह अपने हाथों से अधिक रूप में टपकता हो ऐसे असंयम उत्पन्न करने वाले आहार को जो मुनि ग्रहण करता है उसके 'परित्यजन'

नामका दोष लगता है। **(मू.प्र. ४५५-५६)** बहुत सा गिराकर, या गिरते हुए दिया गया भोजन ग्रहण कर और भोजन करते समय गिराकर जो आहार करना है वह त्यक्त दोष है। **(मू. ४७५)**

८२. प्रश्न : मुनिराज किन-किन कारणों से आहार ग्रहण करते हैं ?

उत्तर : मुनिराज छह कारणों से आहार ग्रहण करते हैं-

(१) क्षुधा की शान्ति के लिए (२) आवश्यकों का पालन करने के लिए (३) प्राणों की रक्षा करने के लिए (४) उत्तम क्षमादि दस धर्मों को धारण करने के लिए। (५) संयम की साधना करने के लिए (६) वैयावृत्य करने के लिए। **(आ.सा. ८/५८)**

(१) सिद्धान्त ग्रन्थों के पठन-पाठन के लिए (२) प्रशस्त ध्यान धारण करने के लिए (३) पाँचों प्रकार के संयमों का पालन करने के लिए (४) संयमों की वृद्धि के लिए (५) आतापनादि योग धारण करने के लिए (६) धर्मोपदेश देने के लिए बेला, तेला के बाद पारणा के दिन आहार करते हैं। **(मू.प्र. ४८५-८६)**

८३. प्रश्न : मुनिराज आहार का त्याग क्यों करते हैं ?

उत्तर : मुनिराज निम्नलिखित कारणों के उपस्थित होने पर आहार का त्याग करते हैं- (१) दुष्ट व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर (२) चार प्रकार (कोई भी) के उपसर्ग आ जाने पर (३) ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए (४) इन्द्रियों को शांत करने के लिए (५) समस्त जीवों की दया पालन करने के लिए (६) तपश्चरण करने के लिए और (७) समाधिमरण धारण करने के लिए आहार का त्याग करते हैं। **(मू.प्र. ४७५-७६)** चमड़ा, हड्डी, रुधिर, मांस, नख और पीव ये महामल हैं, आहार में इनके निकल आने पर मुनिराज आहार का त्याग करते हैं। **(मू.प्र. ४९३)**

मुनिराज दो इन्द्रिय आदि का शरीर और बाल के निकल आने पर आहार का त्याग कर देते हैं तथा कण, कुंड, फल, बीज, कंद, मूल, दल ये अल्पमल हैं इनको आहार में से निकाल कर अलग कर देना चाहिए। क्योंकि ये बहुत थोड़ा दोष उत्पन्न करते हैं। **(मू.प्र. ४९४-९५)**

८४. प्रश्न : हाथ में आहार करने से नीचे गिरने वाले आहार आदि से हिंसा होती है अत: एषणा समिति में संवर का अभाव है ?

उत्तर : पात्र के ग्रहण करने में परिग्रह का दोष आता है। निर्ग्रन्थ-अपरिग्रही चर्या को स्वीकार करने वाले भिक्षु के पात्र ग्रहण करने पर उसकी रक्षा आदि में अनेक दोषों का प्रसङ्ग आता है। अत: स्वाधीन करपात्र से ही निर्बाध देश में खड़े होकर सर्व क्षेत्र, द्रव्य आदि की परीक्षा करके सावधानी से एकाग्रचित्त होकर आहार करने वाले साधु के आहारगत दोषों का अभाव है। **(रा.वा. १०)**

८५. प्रश्न : मुनिराज के पात्र रखने में क्या हानि है ?

उत्तर : मुनिराज के पात्र रखने से दीनता का प्रसंग आता है। कपाल या अन्य भाजन को लेकर

भिक्षा के लिए घूमने वाले भिक्षु के दीनता का दोष आता है तथा गृहस्थजनों के द्वारा लाये गये पात्र सुलभ हैं, फिर भी उन पात्रों को धोना, रखना आदि में दु:परिहार पापलेप होता ही है। अपने पात्र को देशान्तर में ले जाकर भिक्षा मांगकर भोजन करने में आशा -तृष्णा की सम्भावना है। पहले जैसे विशिष्ट गुण वाले पात्र के न मिलने पर जिस-किस पात्र से भोजन करने वाले भिक्षु के चित्त में दीनता और हीनता का अनुभव होना अनिवार्य है, अत: स्वावलम्बी भिक्षु के लिए अपने करपात्र से विशिष्ट कोई पात्र नहीं है, करपात्र में आहार करना ही सर्व श्रेष्ठ है। **(रा.वा. ११)**

८६. प्रश्न : जिस प्रकार साधु जैसा-तैसा आहार ग्रहण करते हैं वैसे ही जैसे-तैसे पात्र में भोजन करने में क्या हानि है ?

उत्तर : ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चिरकाल तक तप करने की इच्छा करने वाले संयत की शरीर-यात्रा आहार के बिना सम्भव नहीं है, अत: यत्किंचित् नीरस, प्रासुक आहार कभी-कभी ले लिया जाता है अर्थात् आहार करना तो शरीर के लिए अनिवार्य है, परन्तु उस प्रकार पात्र रखना अनिवार्य नहीं है अत: आहार का दृष्टान्त देकर पात्र रखने की सिद्धि करना असमञ्जस दृष्टान्त है। **(रा.वा. १२)**

८७. प्रश्न : एषणा समिति का पालन क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : (१) यह एषणा समिति समस्त चारित्र की मूल कारण है।

(२) दु:ख रूपी दावानल अग्नि के लिए पानी की वर्षा है।

(३) भगवान जिनेन्द्र देव और समस्त मुनिगण इसकी सेवा करते हैं, इसका पालन करते हैं।

(४) अपनी इन्द्रियों और कर्म रूपी शत्रु का नाश करने के लिए यह भिक्षाशुद्धि अमोघ शस्त्र है।

(५) स्वर्ग-मोक्ष रूपी वृक्ष को बढ़ाने के लिए यह धाय के समान है।

(६) यह सर्वश्रेष्ठ गुणों की खानि है। **(मू.प्र. ५७३)**

८८. प्रश्न : एषणा समिति के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : उद्गमादि दोषों सहित आहार लेना, मन से वचन से ऐसे आहार की सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना, ऐसे आहार की प्रशंसा करने वालों के साथ रहना, प्रशंसादि कार्य में दूसरों को प्रवृत्त करना एषणा समिति के अतिचार हैं। **(भ.आ. वि. १६)**

८९. प्रश्न : आदान-निक्षेपण समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्म-अविरोधी और पर-अनुपरोधी ऐसे जो ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण (कमण्डलु) आदि उपकरणों के ग्रहण करने में, रखने में सावधानी रखना, भूमि को देख-शोधकर सावधानी पूर्वक उठाना, आदान-निक्षेपण समिति है। **(रा.वा. ७)**

बुद्धिमान मुनि ज्ञान-संयम तथा शौच के उपकरणों को और सोने-बैठने के साधनों को नेत्रों से

अच्छी तरह देखकर तथा कोमल पीछी से शोध कर प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करते हैं और प्रयत्न पूर्वक ही रखते हैं। उनकी इस क्रिया को आदान-निक्षेपण समिति कहते हैं। **(मू.प्र. ५७४-७५)**

जिसका मन दया से आर्द्र है, ऐसा साधु किसी शास्त्र या उपकरण को उठाते या रखते समय शीघ्रता, अनवलोकन, दुष्प्रमार्जन और अप्रत्यवेक्षण को छोड़ कर उठावे और रखे। जो वस्तु जहाँ रखनी है उस वस्तु और उस स्थान को अच्छी तरह देखकर पसीना और रज को ग्रहण करने वाली सूक्ष्मलता से अत्यन्त कोमल पीछी के द्वारा पुनः प्रमार्जन करे। इस प्रकार यत्नपूर्वक उपकरणादि को रखने और उठाने में साधु की जो प्रवृत्ति है वह आदान-निक्षेपण समिति है। **(आ.सा. ५/१३०-३२)**

नोट : सहसा निक्षेप आदि **(देखें ६/९)**

९०. प्रश्न : पिच्छिका कैसी होनी चाहिए ?

उत्तर : पाँच गुण वाली पिच्छिका होनी चाहिए-

(१) जिस पर धूल न लग सके (२) जिस पर पसीना न लग सके (३) जो सुकुमार हो (४) जो अत्यन्त कोमल हो (५) छोटी हो। **(मू.प्र. २५२१-२२)**

(१) धूलि का ग्रहण नहीं करना (२) पसीना ग्रहण नहीं करना (३) मृदु होना (४) सुकुमार होना (५) लघु होना। **(मू.आ. ९१२)**

९१. प्रश्न : आदान निक्षेपण समिति का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो मुनिराज प्रमाद रहित होकर आदान निक्षेपण समिति का पालन करते हैं उनके समस्त व्रतों का मूल कारण ऐसा पहला अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीति से पालन होता है। यह आदाननिक्षेपण समिति स्वर्ग के लिए सोपान की पंक्ति है, मोक्ष का मार्ग है तथा शुभ गतियों का मार्ग है और समस्त निर्जरा एवं संवर की समस्त विधियों का कारण है। **(मू.प्र. ५८४-८७)**

९२. प्रश्न : आदान-निक्षेपण समिति पालन करने वाले मुनि को क्या-क्या नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : आदान-निक्षेपण समिति पालने वाले को निम्नलिखित कार्य नहीं करने चाहिए-

(१) आवश्यक कार्य होने पर भी अनेक जीवों की बाधा के डर से रात्रि में अपने सोने-बैठने के पाटे को वा अन्य संस्तर को नहीं हिलाना-चलाना चाहिए। क्योंकि रात्रि में सूक्ष्म-स्थूल जीव दिखाई नहीं देते, पाटे आदि को हिलाने से वे शीघ्र ही मर जाते हैं।

(२) दिन में भी किसी अंधेरे स्थान में जहाँ कुछ दिखाई नहीं देता हो उसमें भी किसी पदार्थ को नहीं रखना चाहिए।

(३) हिलने-डुलने वाले तख्ते पर वा पाटे पर न कभी सोना चाहिए और न बैठना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बहुत जीवों की विराधना होती है। **(मू.प्र. ५७७-८०)**

९३. प्रश्न : आदान-निक्षेपण समिति के कितने अतिचार हैं ?

उत्तर : आदान निक्षेपण समिति के अतिचार -

(१) जो वस्तु लेनी अथवा रखनी है वह लेते समय अथवा रखते समय, इसमें जीव है या नहीं, इसका ध्यान नहीं रखना।

(२) अच्छी तरह जमीन वा वस्तु स्वच्छ न करना, आदान निक्षेपण समिति के अतिचार हैं। **(भ.आ.वि. १६ गा.)**

९४. प्रश्न : प्रतिष्ठापन समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो स्थान प्राणी और उसके बिल आदि के छिद्रों से रहित हो, घन हो, ऐसे जोते हुए तथा जलाये हुए स्थान में शरीर के मल आदि को छोड़ना साधु की व्युत्सर्ग समिति है। **(आ.सा. ५/१३३)**

जीवों के अविरोध से अङ्ग के मल का निर्हरण करना उत्सर्ग समिति है। जहाँ पर स्थावर या जंगम जीवों की विराधना न हो ऐसे निर्जन्तुक स्थान में मल-मूत्र आदि का विसर्जन करना और शरीर का रखना उत्सर्ग समिति है। **(रा.वा. ८)**

९५. प्रश्न : मुनिराज कैसे स्थान पर मल-मूत्र का क्षेपण करते हैं ?

उत्तर : जो एकांत हो, निर्जन हो, दूर हो, ढका हो (आड़ में हो), दृष्टि के अगोचर हो, जिसमें बिल आदि न हों, जो अचित्त हो,विरोध (रोक-टोक) रहित हो और जिसमें जीव-जन्तु न हों ऐसे स्थान में देख शोधकर मुनिराज मल-मूत्र का क्षेपण करते हैं। **(मू.प्र. ५८८-८९)**

दावानल से, हल से या अग्नि आदि से दग्ध हुए, बंजर स्थान, विरोध रहित, विस्तीर्ण, जन्तु रहित और निर्जन स्थान में मलमूत्र आदि का विसर्जन करे। **(मू. ३२१)**

९६. प्रश्न : प्रतिष्ठापन समिति का पालन क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : (१) यह प्रतिष्ठापन समिति जिनेन्द्र देव के मुख से प्रगट हुई है।

(२) यह धर्मरूपी रत्नों की खानि है।

(३) समस्त गणधर देव और श्रेष्ठ मुनि इसकी सेवा करते हैं, इसको पालते हैं।

(४) यह स्वर्ग के लिए सीढ़ी एवं मोक्ष सुख रूपी फलों की बेल है।

(५) यह समिति समस्त दोषों से रहित है इसलिए मोक्षाभिलाषी पुरुषों को प्रयत्नपूर्वक इसका पालन करना चाहिए। **(मू.प्र. ५९७)**

९७. प्रश्न : प्रतिष्ठापन समिति के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : शरीर व जमीन को पिच्छिका से नहीं पोंछना, मल-मूत्र आदिक जहाँ क्षेपण करना है वह स्थान न देखना, इत्यादि प्रतिष्ठापन समिति के अतिचार हैं। **(भ.आ.वि. १६)**

९८. प्रश्न : क्या समिति में भी सम्यक् विशेषण लगाना चाहिए ?

उत्तर : हाँ, यहाँ 'सम्यक्', इस पद की अनुवृत्ति (सूत्र ४ से) होती है। उससे ईर्यादिक विशेष्यपने को प्राप्त होते हैं- सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादान निक्षेपण तथा सम्यगुत्सर्ग। **(सर्वा. ७९५)**

इस समिति के लक्षण में जो समिति का 'सम्यक्' विशेषण है उसका भाव यह है कि जीवों के भेद और उनके स्वरूप के ज्ञान के साथ श्रद्धान गुण सहित जो पदार्थ उठाना, रखना, गमन करना, बोलना इत्यादि प्रवृत्ति की जाती है, वही सम्यक् है। **(भ.आ.वि. ११४)**

दस धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ।।६ ।।

उत्तम-क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपः-त्याग-आकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।

अर्थ - उत्तम क्षमा-मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये धर्म हैं।

उत्तम क्षमा - क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत असह्य आक्रोशादि के सम्भव होने पर भी कालुष्य भाव का नहीं होना क्षमा है।

उत्तम मार्दव - जाति आदि मद के आवेश से अभिमान का अभाव होना उत्तम मार्दव है।

उत्तम आर्जव - योग की सरलता आर्जव है।

उत्तम शौच - प्रकर्षता को प्राप्त लोभ की निवृत्ति शौच है।

उत्तम सत्य - साधुवचन बोलना सत्य है।

उत्तम संयम - समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार संयम है।

उत्तम तप - कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाता है वह तप है।

उत्तम त्याग - परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य - 'यह मेरा है' इस प्रकार की अभिसन्धि का त्याग करना आकिञ्चन्य है।

उत्तम ब्रह्मचर्य - अस्वतन्त्रता के लिए गुरु रूप ब्रह्म में आचरण करना उत्तम ब्रह्मचर्य है। **(रा.वा.)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गुप्ति और समिति का कारण कहा, समिति के अनन्तर कथित धर्म के संवर का हेतुत्व वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ६)**

२. प्रश्न : धर्म का कथन किसलिए किया गया है ?

उत्तर : प्रवर्त्तमान के प्रमाद का परिहार करने के लिए धर्म का कथन किया गया है। आदि में गुप्तियों में प्रवृत्ति का सर्वथा निग्रह है। जो उन गुप्तियों को पालन करने में असमर्थ हैं उनके लिए प्रवृत्ति का उपाय दिखाने के लिए संवर के दूसरे कारण एषणादि समितियों का उपदेश है तथा समिति आदि में प्रवृत्ति करने वाले के प्रमाद का परिहार करने के लिए वा सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने के लिए दस प्रकार के धर्म का उपदेश दिया है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : धर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : धर्म दो प्रकार का होता है-

(१) व्यवहार धर्म (२) निश्चय धर्म।

(१) गृहस्थ धर्म (२) मुनि धर्म।

(१) एकदेश धर्म (२) सम्पूर्ण धर्म। **(प.पं. विं. ६/४)**

धर्म तीन प्रकार का है-

(१) श्रुत धर्म (२) अस्तिकाय धर्म (३) चारित्र धर्म। **(मू.आ. ५५९)**

(१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान (३) सम्यक् चारित्र।

धर्म दस प्रकार का होता है-

(१) उत्तम क्षमा (२) उत्तम मार्दव (३) उत्तम आर्जव (४) उत्तम शौच (५) उत्तम सत्य (६) उत्तम संयम (७) उत्तम तप (८) उत्तम त्याग (९) उत्तम आकिञ्चन्य (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य। **(बा.अ. ७०)**

वह धर्म तेरह प्रकार का होता है-

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति। **(चा.भ. ७)**

४. प्रश्न : निश्चय धर्म किसे कहते है?

उत्तर : चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है सो साम्य है और साम्य मोह-क्षोभ रहित आत्मा के परिणाम हैं। **(प्र.सा.७)** समता, माध्यस्थता, शुद्ध भाव, वीतराग, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। **(न.च.वृ. ३५७)** रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का जो भाव है, वह धर्म है। **(भा.पा.८३)** रागादि दोषों से रहित तथा शुद्धात्मा की अनुभूति सहित निश्चय धर्म होता है। **(पं.का. ८५)**

५. प्रश्न : व्यवहार धर्म किसे कहते हैं?

उत्तर : पंच परमेष्ठि आदि की भक्ति परिणाम रूप व्यवहार धर्म होता है। आहार-दान आदिक ही

ग्रहस्थों का परमधर्म है। सम्यक्त्व पूर्वक किये गये उसी धर्म से परम्परा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। **(प.प्र. २/१११-४ टी.)** साधुओं की अपेक्षा षड़ावश्यक लक्षण वाले तथा गृहस्थों की अपेक्षा दान-पूजादि लक्षण वाले शुभोपयोग रूप व्यवहार धर्म में रति करो। **(प.प्र. २/१३४ टी.)**

६. प्रश्न : उत्तम क्षमा किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीरयात्रा के निमित्त भिक्षा के लिए पर-घर में भ्रमण करते हुए भिक्षु को दुष्टजनों के द्वारा कृत आक्रोश, हँसी, अवज्ञा, ताड़न शरीरच्छेद आदि क्रोध के असह्य निमित्त मिलने पर भी कलुषता का न होना उत्तम क्षमा है। **(रा.वा. २)** देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों के द्वारा घोर उपसर्ग किये जाने पर भी जो मुनि क्रोध से संतप्त नहीं होता, उसके निर्मल क्षमा होती है। **(का.अ. ३९४)**

वध होने से अमूर्त्त परमब्रह्मरूप ऐसे मुझे हानि नहीं होती- ऐसा समझकर परमसमरसी भाव में स्थित रहना वह (निश्चय से) उत्तम क्षमा है। **(नि.सा. टी. ११५)**

अज्ञानीजन के द्वारा शारीरिक बाधा, अपशब्दों का प्रयोग, हास्य एवं और भी अप्रिय कार्यों के किये जाने पर जो निर्मल विपुल ज्ञानधारी साधु का मन क्रोधादि विकार को प्राप्त नहीं होता है, उसे उत्तम क्षमा कहते हैं। **(प.वि. १/८२)**

७. प्रश्न : क्षमा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : क्षमा तीन प्रकार की होती है- (१) जघन्य क्षमा (२) मध्यम क्षमा (३) उत्तम क्षमा।

जघन्य क्षमा - बिना कारण अप्रिय बोलने वाले मिथ्यादृष्टि को अकारण ही मुझे त्रास देने का जो उद्योग है वह मेरे पुण्य से दूर हो गया, ऐसा विचार करना जघन्य क्षमा है।

मध्यम क्षमा - बिना कारण त्रास देने वाले का जो ताड़न करने, वध आदि करने का भाव है वह मेरे पुण्य से दूर हो गया, ऐसा विचार करना मध्यम क्षमा है।

उत्तम क्षमा - वध होने पर अमूर्त्तिक परम ब्रह्म स्वरूप ऐसे मेरी क्या हानि हुई ? ऐसा विचार कर समरसी भाव में स्थित होना उत्तम क्षमा है। **(नि.सा.टी. ११५)**

८. प्रश्न : किन मुनिराज के क्षमा धर्म होता है ?

उत्तर : जो मुनि आशीर्विष ऋद्धि, दृष्टिविष ऋद्धि, आदि अनेक ऋद्धियों के कारण समर्थ होने पर भी केवल कर्मों का नाश करने के लिए दुष्टों के द्वारा किये गये प्राणों का नाश करने वाले घोर उपसर्गों को भी सहन करते हैं, उन महात्माओं के धर्मरत्न की खानि उत्तम क्षमा धर्म होता है। **(मू.प्र. २८९१-९५)**

क्रोध उत्पन्न होने के साक्षात् बाहरी कारण मिलने पर भी जो थोड़ा सा क्रोध नहीं करते उनके उत्तम क्षमा धर्म होता है। **(बा.अ. ७१)**

९. प्रश्न : क्षमा किस प्रकार धारण करनी चाहिए ?

उत्तर : क्षमा के गुण एवं क्रोध के दोषों का विचार करके उत्तम क्षमा धारण करनी चाहिए। अथवा - पर के द्वारा प्रयुक्त गाली आदि क्रोध निमित्त का अपनी आत्मा में भाव-अभाव का चिन्तन करना चाहिए कि ये दोष मुझमें विद्यमान हैं ही, यह क्या मिथ्या कहता है ? ऐसा विचार कर गाली देने वाले को क्षमा कर देना चाहिए। यदि ये दोष अपने में नहीं हैं तो यह दोष मुझमें नहीं है, अज्ञान के कारण यह बेचारा ऐसा कहता है इस प्रकार अभाव का चिन्तन करके क्षमा कर देना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

१०. प्रश्न : कोई गाली दे तो क्या विचार करके क्षमा करना चाहिए ?

उत्तर : गाली देने वाले के बाल (मूर्ख) स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए। जैसे कोई बालक परोक्ष गाली देता है, कटु वचन कहता है तो बालक पर क्षमा ही करना चाहिए। मूर्खों का यही स्वभाव है। भाग्यवश यह मुझे पीठ पीछे ही गाली देता है सामने नहीं। मूर्ख तो सामने गाली देते हैं अत: लाभ ही है।

प्रत्यक्ष गाली देवे तो सोचना चाहिए कि भाग्यवश गाली ही देता है, मारता नहीं है अथवा गाली देना बालकों (अज्ञानियों) का स्वभाव ही है, मेरा तो इसमें लाभ ही है, ऐसा मानना चाहिए कि मूर्ख तो मारते भी हैं। इस प्रकार विचार कर क्षमा धारण करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

मूर्ख मुझे गाली ही देता है मारता नहीं है, गाली से मेरे कोई घाव नहीं होते हैं इसमें मेरी हानि नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो मुझे गाली देने से इस लोक में भी इसकी हानि है और परलोक में भी इसी की हानि है, ऐसा विचार कर मौन धारण कर दुर्वचनों को सहना चाहिए। **(मू.प्र. २८९९-०१)**

११. प्रश्न : कोई मारे तो किस प्रकार क्षमा धारण करना चाहिए ?

उत्तर : यदि कोई मारता है तो विचारना चाहिए कि भाग्यवश यह मुझे मारता ही है प्राण तो नहीं लेता है, प्राणों से रहित तो नहीं करता है, मूर्ख तो प्राण भी लेते हैं, यह तो मुझे लाभ है। किसी के प्राण हरण करने पर भी क्षमा करना चाहिए। सोचना चाहिए कि भाग्यवश यह मुझको मारता ही है, मेरे धर्म को नष्ट नहीं करता; इस प्रकार बाल स्वभाव का चिन्तन करके क्षमा धर्म को पुष्ट करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

सोचना चाहिए कि यह मेरा ही अपराध है जो मैंने पूर्व में महान् दुष्कर्म किये थे, उसके फलस्वरूप मुझे ये गाली-कुवचन सुनने पड़ रहे हैं। यह गाली देने वाला तो इसमें निमित्त मात्र है, इसमें मूल कारण तो मेरा पूर्वोपार्जित कर्म ही है, ऐसा विचार करके सहन करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

ताड़ना करे तो सोचना चाहिए- यह मेरे प्राणों का हरण नहीं करता, यह लाभ है मेरी हानि नहीं है, इससे मेरे पाप नष्ट होते हैं और असाता कर्म की निर्जरा होती है। यह मेरे पापों का ही हरण करता है पुण्य का नहीं अत: मेरी हानि नहीं है, लाभ ही है ? मैंने पूर्व भव में इसको मारा होगा इसलिए यह मुझे मारता है, इत्यादि चिन्तन कर क्षमा करना चाहिए। **(मू.प्र. २८९९-५)**

१२. प्रश्न : क्षमा के कौन-कौन से गुण हैं ?

उत्तर : व्रत-शील का रक्षण, इहलोक-परलोक में दु:ख नहीं होना, सर्वजगत् में सम्मान और सत्कार प्राप्त होना, आदि क्षमा के गुण हैं। **(रा.वा. २७)**

(१) क्षमा मोक्ष को वश करने वाली, ऐसी मोक्ष की सखी है।

(२) मनुष्यों को इच्छित सुख देने वाली, कल्पलता के समान है।

(३) मनुष्यों की शत्रुओं से रक्षा करने वाली यह क्षमा ही सबसे उत्तम है।

(४) यह उपशम की माता, सबमें सारभूत, शुभकारिका तथा धर्म-रूप रत्नों की खानि है।

(५) भगवान पार्श्वनाथ स्वामी, संजयंत एवं शिवभूति मुनि ने इसे धारण कर शत्रुकृत घोर उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त किया एवं त्रैलोक्य पूज्य शिवालय में जा विराजमान हुए।

(६) क्षमा के समान न श्रेष्ठ तप है, न हित है, न व्रत है और न कोई जीवन ही है। **(मू.प्र.२९२८-३२)**

१३. प्रश्न : क्रोध के कौन-कौन से दोष हैं ?

उत्तर : क्रोध के दोष-

(१) क्रोध समस्त संसार को जला देने में समर्थ अग्नि है।

(२) द्वीपायन मुनि ने क्रोधावेश में तैजस समुद्घात के द्वारा द्वारिका को जलाकर, स्वयं के शरीर को जलाया और फलस्वरूप नरक रूप दुर्गति में गये हैं।

(३) स्त्री, पुत्रादि से रहित नारद आदि अनेक प्राणी क्रोध के कारण पापोपार्जन कर अंत में रौद्रध्यान से मरकर नरक पहुँचे।

(४) जिस मुनि के शरीर में क्रोधाग्नि जल जाती है उसके सम्यग्दर्शन आदि समस्त रत्न अवश्य ही जलकर भस्म हो जाते हैं।

(५) यह क्रोध रूपी अग्नि प्रथम शरीर को, तत्पश्चात् प्राणी को, तत्पश्चात् उसके धर्म आदि गुणों को नष्ट करती है और अंत (परलोक) में नरकादि अधोगति को देती है।

(६) क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है क्योंकि यह क्रोध इसलोक में भी समस्त अनर्थों को करने वाला, अशुभ एवं पापोत्पादक है और परलोक में सातवें नरक तक पहुँचाता है। **(मू.प्र. २९२०-२६)**

(७) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का नाश करना क्षमा धर्म के प्रतिपक्षी क्रोध के दोष हैं। **(रा.वा. २७)**

(८) उन्नत गुणों के समूह रूप शाखाओं, पत्तों एवं पुष्पों से परिपूर्ण होता हुआ भी मुनि-धर्म रूपी

पवित्र वृक्ष बिना फल दिये तीव्र क्रोध रूपी दावाग्नि से क्षणभर में नाश को प्राप्त हो जाता है। **(प.विं. १/८३)**

१४. प्रश्न : उत्तम मार्दव धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाति आदि मद के आवेश से अभिमान का अभाव होना मार्दव है। उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और वीर्य की शक्ति से युक्त होने पर भी तत्कृत मद का अभाव होना तथा दूसरों के द्वारा परिभव के निमित्त उपस्थित किये जाने पर भी अभिमान नहीं होना उत्तम मार्दव धर्म कहलाता है। **(रा.वा. ३)**

ज्ञान, पूजा आदि अभिमान के आठ कारण हैं, इन सबकी उत्तमता प्राप्त होने पर भी मुनियों को अपने कोमल मन, वचन, काय से इन आठ मदों का त्याग कर देना चाहिए तथा सब तरह के अभिमानों का त्याग कर कोमल परिणाम धारण करना चाहिए। यही श्रेष्ठ दया को पालन करने वाला मार्दव धर्म है। **(मू.प्र. २९३५-३६)**

१५. प्रश्न : मार्दव धर्म किसके होता है ?

उत्तर : जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में थोड़ा सा भी घमण्ड नहीं करता है उसके मार्दव धर्म होता है। **(बा.अ ७२)**

उत्कृष्ट ज्ञानी और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए भी जो मद नहीं करता है वह मार्दव धर्म रूपी रत्न का धारी है। **(का.अ. ३९५)**

ज्ञानमय चक्षु से समस्त जगत् को स्वप्न अथवा इन्द्रजाल के समान देखने वाले साधुजन क्या उस मार्दव धर्म को नहीं धारण करते हैं। सब ओर से अतिशय जलने वाली अग्नियों से खण्डहर रूप अवस्था को प्राप्त होने वाले सुन्दर गृह के समान प्रतिदिन वृद्धत्व आदि के द्वारा दूसरी अवस्था को प्राप्त होने वाले शरीरादि बाह्य पदार्थों में नित्यता का विश्वास कैसे किया जा सकता है, इस प्रकार सदा विचार करने वाले साधु के निर्मल विवेकयुक्त हृदय में जाति आदि के विषय में अभिमान का अवसर कैसे हो सकता है। अर्थात् इस प्रकार विचार करने वाले मुनिराज के मार्दव धर्म होता है। **(प.वि. १/८७-८८)**

१६. प्रश्न : मार्दव धर्म किस प्रकार धारण करना चाहिए ?

उत्तर : मैं इस संसार में अनन्तबार नीच अवस्था में उत्पन्न हुआ हूँ। उच्चत्व व नीचत्व दोनों अनित्य हैं, अत: उच्चता प्राप्त होकर पुन: नष्ट हो जाती है और नीचता प्राप्त हो जाती है मुझसे अधिक कुल आदि विशिष्ट लोग जगत् में भरे हैं। अत: मेरा अभिमान करना व्यर्थ है। ये कुल आदि तो पूर्व काल में अनेक बार प्राप्त हो चुके हैं, फिर इनमें आश्चर्य युक्त होना क्या योग्य है ? जो पुरुष अपमान के कारणभूत दोषों का त्याग करके निर्दोष प्रवृत्ति करता है वही सच्चा मानी है, परन्तु गुण रहित होकर भी मान करने से कोई मानी नहीं कहा जा सकता। इस जन्म में और पर-जन्म में यह मान कषाय बहुत दोषों को उत्पन्न

करती है, ऐसा जानकर सत्पुरुष मान का निग्रह करते हैं। **(भ.आ. १४२२-२५)** उत्तम मार्दव धर्म के गुण एवं उसके प्रतिपक्षी मान कषाय के दोषों का चिन्तन करते हुए मुनिराज मार्दव धर्म को धारण करते हैं। **(रा.वा. २७)**

१७. प्रश्न : मार्दव धर्म के कौन-कौन से गुण हैं ?

उत्तर : मार्दव धर्म के गुण-

(१) मार्दव धर्म के कारण सज्जनों के समस्त व्रत और शील पूर्ण हो जाते हैं।

(२) इस मार्दव से ही मुक्तिस्त्री दृढ़ आलिंगन देने को तत्पर रहती है।

(३) योगों की कोमलता से धर्मात्मा पुरुषों के समस्त गुणों के साथ-साथ समस्त सुखों को देने वाला सर्वोत्कृष्ट धर्म प्रगट होता है। **(मू.प्र. २९३७-३९)**

(४) निरभिमान और मार्दव गुणों से युक्त व्यक्ति पर गुरुओं का अनुग्रह होता है।

(५) साधुजन भी उसे साधु मानते हैं।

(६) गुरुजनों के अनुग्रह से वह सम्यग्ज्ञानादि का पात्र होता है।

(७) मार्दव धर्म से स्वर्ग और मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। **(रा.वा. २७)**

(८) निरभिमानी मनुष्य स्वजन और परजनों को प्रिय होता है।

(९) निरभिमानी को जगत् में सदा ज्ञान, यश और धन की प्राप्ति होती है।

निरभिमानता से वह अपने और भी कार्य सिद्ध कर लेता है। **(भ.आ. १३७३)**

१८. प्रश्न : मान के कौन-कौन से दोष हैं ?

उत्तर : मान के दोष-

(१) कुल, रूप, आज्ञा, तप और अन्य पदार्थों से अपने को ऊँचा समझने वाला मनुष्य नीचगोत्र का बन्ध करता है। अपने से, कुलादिक से हीन लोगों को देखकर गर्व करने से पापार्जन होता है।

(२) मानी से सब लोग द्वेष करते हैं।

(३) मानी जन कलह, वैर, भय और अनेक जन्मों में दुःखों को प्राप्त होता है। इस लोक एवं परलोक में नियम से उसका अपमान होता है। **(मू.आ. १३६९-७५)**

(४) कठोर परिणामों से समस्त व्रतों का नाश होता है एवं निंद्य नरकगति का साधन प्रकट होता है। **(मू.प्र. २९३९)**

(५) मान से मलिन चित्त में व्रत शीलादि गुण नहीं रह सकते।

(६) मानी को साधु जन छोड़ देते हैं। सर्व विपदाओं की जड़ अहंकार भाव है। **(रा.वा. २७)**

कुछ प्राणी पूर्वोपार्जित मान कषाय के पाप से तिर्यञ्च गति को प्राप्त करके हाथी, घोड़ा, ऊँट और गधों में उत्पन्न होते हैं। तब उन पर सतत सवारी की जाती है, थोड़ी सी अवज्ञा करते ही खूब पीड़ा दी जाती है और अत्यधिक भार लादा जाता है। यह सब उन्हें अनाथ और पराधीन बना देते हैं। मान के कारण ही जीव सुअरों में पैदा होता है और अत्यधिक मान करने पर तो पशुओं में अत्यन्त दूषित और कष्टमय श्रेणी में जन्म लेना पड़ता है। **(व.चा. ६/२८-२९)**

१९. प्रश्न : आर्जव धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : मन, वचन, काय लक्षण योग की सरलता वा कुटिलता का अभाव उत्तम आर्जव धर्म है। **(रा.वा. ४)** जो विचार हृदय में स्थित है वही वचन में कहता है तथा वही बाहर फलता है, यह आर्जव धर्म है। **(प.वि. १/८९)**

डोरी के दो छोर पकड़ कर खींचने से वह सरल होती है, उसी तरह मन में से कपट दूर करने पर वह सरल होता है अर्थात् मन की सरलता का नाम आर्जव है। **(भ.आ.वि. १७०४)**

२०. प्रश्न : आर्जव धर्म किसके होता है ?

उत्तर : जो संसार से भयभीत साधु सैकड़ों कपटों रूप नदियों में स्नान करने वाले शत्रुओं के द्वारा ठगा जाकर के भी तथा स्वयं माया व्यवहार में कुशल होकर भी यहाँ शरीर, वचन और मन से कुटिलता को प्राप्त नहीं होता है उसके निर्मल आर्जव धर्म होता है, ऐसा गणधर देवादि बताते हैं। **(सु.र.सं. २८/१०)**

जो अपने अपराधों को नहीं छिपाता, व्रतों में लगे अतिचारों की निन्दा-गर्हा करता है और प्रायश्चित्त के द्वारा उनकी शुद्धि करता है वह आर्जव धर्म का धारी है। जो मुनि कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता और कुटिल बात नहीं बोलता तथा अपने दोष नहीं छिपाता, उसके उत्तम आर्जव धर्म होता है। **(का.अ. ३९६ टी.)**

जो मनस्वी प्राणी कुटिल भाव व मायाचार रूप परिणामों को छोड़कर शुद्ध हृदय से चारित्र पालन करता है उसके नियम से तीसरा आर्जव धर्म होता है। **(बा.अ. ७३)**

२१. प्रश्न : आर्जव धर्म किस प्रकार धारण करना चाहिए ?

उत्तर : दोषों को अतिशय छिपाने पर भी कालान्तर में कुछ काल व्यतीत होने के बाद वे दोष लोगों को मालूम पड़ते ही हैं। इसलिए मायाचार करने से क्या लाभ ? जैसे - चन्द्र को राहु ग्रस लेता है यह बात छिपती नहीं, सर्व प्रसिद्ध होती है वैसे ही दोष छिपाने का कितना ही प्रयत्न करो, परन्तु यदि तुम पुण्यवान् नहीं हो तो तुम्हारे दोष लोगों को मालूम होंगे ही। पुण्यवान् के दोष प्रत्यक्ष होने पर भी लोग उसे दोष नहीं मानते, जैसे तालाब का पानी मलिन होने पर भी उसकी मलिनता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

सैकड़ों कपट प्रयोग करने पर भी पापी मनुष्यों को धन प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार इस भव में और पर भव में माया से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। ऐसा जान कर माया का त्याग करना चाहिए। **(भ.आ. १४२६-३०)**

२२. प्रश्न : आर्जव धर्म के कौन-कौन से गुण हैं ?

उत्तर : आर्जव धर्म के गुण-

(१) आर्जव धर्म से मनुष्यों को अत्यन्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं।

(२) तीन लोक में सारभूत सुख की प्राप्ति आर्जव धर्म से ही होती है।

(३) तीर्थंकरादिक की विभूतियाँ इसी से मिलती हैं।

(४) सरल हृदय वाले धर्मात्माओं के संसार का नाश करने वाला साक्षात् मोक्षस्त्री को देने वाला और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला उत्तम धर्म प्राप्त होता है।

(५) सदा भोगोपभोग का सेवन करने वाले भोगभूमिया जीव योगों की सरलता के कारण ही स्वर्ग में जाकर जन्म लेते हैं। **(मू.प्र. २९४४-४६)**

(६) सरल हृदय में गुणों का वास होता है। गुण मायाचार का आश्रय नहीं लेते हैं। **(रा.वा. २७)**

२३. प्रश्न : मायाचारी के कौन-कौन से दोष हैं ?

उत्तर : मायाचारी के दोष-

(१) मायाचार से निन्दनीय तिर्यञ्चादि गति प्राप्त होती है। **(रा.वा. २७)**

(२) एक बार भी किया गया कपट व्यवहार भारी कष्टों से उपार्जित मुनि के समत्व आदि गुणों की छाया भी नहीं रहने देता है। क्योंकि उस कपटपूर्ण व्यवहार में वस्तुत: क्रोधादि सभी दुर्गुण परिपूर्ण होकर रहते हैं।

(३) कपट व्यवहार ऐसा पाप है कि जिसके कारण यह जीव दुर्गतियों के मार्ग में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है। **(प.वि. १/९०)**

(४) मायाचारी पुरुषों के तप, धर्म, संयम वा शुभ क्रियायें कुछ नहीं बन सकतीं, क्योंकि यह निश्चित है कि मायाचारी से उत्पन्न पाप के कारण तिर्यञ्च गति की ही प्राप्ति होती है। **(मू.प्र. २९४९)**

(५) धनिक मनुष्य के भी शरीर में प्रविष्ट हुआ बाण व्यथित करेगा ही वैसे ही तपसमृद्ध मुनि को भी माया शल्य होने से मोक्ष लाभ नहीं हो सकता है।

(६) छली व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करते, सभी उससे द्वेष करते हैं।

(७) उसे अपमान सहना पड़ता है, सुजन उसको मान नहीं देते।

(८) वह अपने संबंधियों का भी शत्रु होता है, उसका अल्प अपराध भी महान् माना जाता है।

(९) महादोष का आरोपण और हजारों सत्यों को कुचलना, ये दो महादोष माया से होते हैं।

(१०) कपट से मैत्री का नाश होता है और मैत्रीनाश से धर्म-अर्थ आदि का नाश होता है।

(११) मायाचार, विषमिश्रित दुग्ध भक्षण के समान, यह मित्रकार्य का विनाश करता है और श्रामण्य की हानि करता है।

(१२) माया से नीचगोत्र, स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यग्गति मिलती है। मायावी सैकड़ों भवों में अन्य लोगों से अनेक उपायों के द्वारा ठगा जाता है। **(भ.आ.वि. १३७६-८२)**

जो जीव पूर्व भव में छल कपट से दूसरों को ठगते हैं और वञ्चना से प्राप्त धन-सम्पत्ति के द्वारा अपने ही शरीर को पोषते हैं वे मरकर तिर्यञ्च गति में जाते हैं। वहाँ पर प्रयत्नपूर्वक पाले-पोषे उनके पुष्ट शरीर मांसाहारियों की उदरदरी में समा जाते हैं। **(व.चा. ६/३०)**

२४. प्रश्न : उत्तम शौच धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : चित्त से जो परस्त्री और परधन की अभिलाषा न करता हुआ षट् काय के जीवों की हिंसा से रहित होता है, इसे ही दुर्भेद्य अभ्यन्तर कलुषता को दूर करने वाला उत्तम शौच धर्म कहा जाता है, इससे भिन्न दूसरा शौच धर्म नहीं है। **(प.पं.विं. १/९४)**

आत्यन्तिक लोभ की निवृत्ति शौच है वा शुचि का भाव वा कर्म उत्तम शौच है। **(रावा. ५)** धनादि वस्तुओं में 'ये मेरे हैं' ऐसी अभिलाषा बुद्धि ही सर्व संकटों में मनुष्य को गिराती है। इस ममत्व को हृदय से दूर करना ही लाघव (शौच) धर्म है। **(भ.आ.वि. ४५)**

लघु का भाव लाघव है, व्रतों में अतिचार नहीं लगाना इसी का नाम शौच है, प्रकर्षता को प्राप्त लोभ को दूर करना ही शौच है। **(मू. १०२२ आ.)**

समस्त पदार्थों में तथा अपने सुखादि में पूर्ण संतोष धारण करना शौच धर्म है। **(मू.प्र. २९५८)**

२५. प्रश्न : शौच धर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : लोभ चार प्रकार का है-

(१) जीवित का लोभ (२) आरोग्य का लोभ (३) पंचेन्द्रिय का लोभ (४) भोगोपभोग का लोभ। **(मू.प्र. २९५९)**

(१) जीवित लोभ (२) आरोग्य लोभ (३) इन्द्रिय लोभ (४) उपभोग लोभ।

ये चारों ही लोभ दो-दो प्रकार के हैं-

स्वजीवन लोभ - परजीवन लोभ, स्वआरोग्य लोभ- पर आरोग्य लोभ, स्वइन्द्रिय लोभ- पर इन्द्रिय लोभ, स्व उपभोग लोभ- पर उपभोग लोभ।

अपने जीवन आदि की आकांक्षा रूप चार प्रकार के लोभ की निवृत्ति लक्षण वाला शौच धर्म भी चार प्रकार का है, ऐसा जानना। **(रा.वा. ८)**

२६. प्रश्न : शौच धर्म किसके होता है ?

उत्तर : जो इन्द्रियों को जीतने वाले निर्लोभी हैं, उन्हीं के मोक्ष प्राप्त कराने वाले परमोत्कृष्ट शौचधर्म की प्राप्ति होती है, जिनका हृदय कामवासना में लगा हुआ है उनको शौच धर्म की प्राप्ति कभी नहीं होती है। **(मू.प्र. २९६०)**

जो इन्द्रियासक्ति से रहित हैं, समस्त पदार्थों में नि:स्पृह हैं, समस्त जीवों की दया पालन करते हैं, इस प्रकार मन को निष्पाप बनाकर लोभ रूपी शत्रु का नाश करने वाले मुनिराज के शौच धर्म होता है। **(मू.प्र. २९५७-५८)**

जो परममुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्य रूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है उसके शौच धर्म होता है। **(बा.अ. ७५)**

जो समभाव और संतोष रूपीजल से तृष्णा और लोभ रूपी मल के समूह को धोता है तथा भोजन की गृद्धि नहीं करता उसके शौच धर्म होता है। **(का.अ. ३९७)**

२७. प्रश्न : शौच धर्म किस प्रकार धारण करना चाहिए ?

उत्तर : लोभ करने पर पुण्य रहित मनुष्य को द्रव्य नहीं मिलता है और लोभ नहीं करने पर भी पुण्यवान को धन की प्राप्ति होती है। इसलिए धन की प्राप्ति में आसक्ति कारण नहीं, परन्तु पुण्य ही कारण है। ऐसा विचार कर लोभ का त्याग करना चाहिए। इस त्रैलोक्य में मैंने अनन्त बार धन प्राप्त किया है, अत: अनन्तबार ग्रहण कर त्यागे हुए इस धन के विषय में आश्चर्यचकित होना व्यर्थ है। इस लोक और परलोक में यह लोभ अनेक दोषों को उत्पन्न करता है, ऐसा समझकर लोभ कषाय पर विजय प्राप्त करना चाहिए। **(भ.आ. १४३१-३३)**

शुचि आचार वाले के गुण और लोभ के दोषों का विचार करके शौच धर्म धारण करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

२८. प्रश्न : शौच धर्म के कौन-कौन से गुण हैं ?

उत्तर : शौच के गुण-

(१) शुचि आचार वाले निर्लोभी व्यक्ति का इस लोक में सर्व लोग सम्मान करते हैं। विश्वास आदि उसका आश्रय करते हैं। **(रा.वा. २७)**

(२) निर्लोभी को तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाली महालक्ष्मी प्राप्त होती है।

(३) उसका यश तीन लोक में फैल जाता है और मोक्ष लक्ष्मी स्वयं उसे वरण कर लेती है। **(मू.प्र. २९६१)**

(४) निर्लोभी के शरीर पर मुकुटादि होने पर भी पापबन्ध नहीं होता।

(५) सन्तुष्ट मनुष्य चाहे दरिद्र हो तो भी उसको समाधान वृत्ति प्राप्त होती है।

(६) सन्तोष वृत्ति से ही समाधान वृत्ति रहती है, द्रव्य के आधीन नहीं रहती है। **(भ.आ. १३८३-८६)**

२९. प्रश्न : लोभ के कौन-कौन से दोष हैं ?

उत्तर : लोभ के दोष

(१) लोभी को दरिद्रता, घोर दु:ख एवं अनेक बार दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं।

(२) लोभी के महापाप, निन्द्य अशुभ ध्यान होता है एवं अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। **(मू.प्र. २९६२)**

(३) लोभ से मुझे यह मिलेगा, वह मिलेगा आदि आशा वृद्धिंगत होती है।

(४) लोभ के कारण मनुष्य महापाप करता है एवं बन्धुओं की भी उपेक्षा कर देता है।

(५) तृण के लोभ में भी पाप उत्पन्न होता है तो सारयुक्त वस्तु के लोभ से पाप नहीं होगा ?

(६) परिग्रह के जितने दोष हैं (देखें ७/१७) वे सब लोभी के होते हैं।

(७) लोभी को त्रैलोक्य की सम्पत्ति मिलने पर भी सन्तोष नहीं होता।

(८) जैसे-जैसे शरीर को सुख देने वाली वस्तु प्राप्त होती है उसका लोभ बढ़ता ही जाता है।

(९) लोभ से ही मैथुन, हिंसा आदि सभी पाप करता है। **(भ.आ. १३८३-८७)**

जो विवेक-विकल प्राणी मनुष्य भव में लोभ कषाय की प्रबलता के कारण अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की श्रमसाध्य सम्पत्ति को चुराते हैं वे भी मरकर जब तिर्यञ्च गति में पदार्पण करते हैं तो बहेलिये आदि मृगयाविहारी लोग पहले तो उनके शरीरों को अपने जालों में फँसाकर अच्छी तरह बाँध लेते हैं और बाद में मार-मार कर उनके मांस से अपनी भूख को शान्त करते हैं। **(व.चा. ६/३१)**

जिस प्रकार लोहपिण्ड के संसर्ग से अज्ञानी लोगों से पूज्य देवता रूप में प्रसिद्ध अग्नि घन के घातों से पीटी जाती है उसी प्रकार लोभादि कषाय से परिणत परमात्मा की भावना से रहित (मिथ्यादृष्टि) जीव नरकादि गतियों में महान् दु:खों को भोगता है। **(प.प्र.टी. २/११४)**

३०. प्रश्न : मानस परिस्पन्द का निषेध होने से शौचधर्म का गुप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है अत: पृथक् उल्लेख करना व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि मनोगुप्ति में मन के सकल व्यापार का निषेध किया जाता है तथा जो मनोगुप्ति का पालन करने में असमर्थ हैं उन्हें परकीय वस्तु सम्बन्धी अनिष्ट विचारों से उपरम करने

के लिए शौच धर्म का उपदेश दिया जाता है अत: मनोगुप्ति में शौच-धर्म का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। **(रा.वा. ६)**

३१. प्रश्न : आकिञ्चन्य धर्म में भी निर्ममता की प्रधानता है अत: आकिञ्चन्य धर्म में शौच धर्म का अन्तर्भाव हो जाता है अत: पृथक् नहीं कहना चाहिए ?

उत्तर : आकिञ्चन्य धर्म में शौचधर्म का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि स्वशरीर आदि में संस्कार आदि की अभिलाषा को दूर करने के लिए तथा निर्ममत्व बढ़ाने के लिए आकिञ्चन्य धर्म है और शौचधर्म लोभ की निवृत्ति के लिए है। **(रा.वा. ७)**

३२. प्रश्न : उत्तम सत्य धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रशंसनीय मनुष्यों के साथ प्रशंसनीय वचन बोलना उत्तम सत्य कहलाता है। **(रा.वा. ९)** सिद्धान्त को जानने वाले जो मुनि अपने और दूसरों के हित को ध्यान में रखते हुए धर्म और तत्त्वों के अर्थों से सुशोभित यथार्थ और सारभूत वचन कहते हैं तथा भाषा समिति को अवलम्बन कर वचन कहते हैं वह सत्य धर्म का लक्षण है। **(मू.प्र. २९५१-५२)**

मुनि और उनके भक्त (श्रावक) उनके साथ आत्महितकर भाषण बोलना यह सत्य धर्म है। **(भ.आ.वि. ४५)**

धर्म की वृद्धि के लिए धर्म सहित बोलना वह सत्य कहाता है। इस धर्म के व्यवहार की आवश्यकता ज्ञान और चारित्र के सिखाने आदि में होती है। **(त.सा. ६/१७)**

पर के उपताप से रहित और कर्मों के ग्रहण के कारणों से निवृत्त ऐसे साधुवचन बोलना सत्य धर्म है। **(मू. १०२२ आ.)**

३३. प्रश्न : सत्य धर्म किसके होता है ?

उत्तर : जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुँचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है। **(बा.अणु. ७४)**

जो जैन शास्त्र में कहे गये आचार को पालने में असमर्थ होता हुआ भी जिन-वचन का कथन करता है उससे विपरीत कथन नहीं करता है तथा व्यवहार में भी झूठ नहीं बोलता, वह सत्यवादी है। **(का.अ. ३९८)**

३४. प्रश्न : सत्य कितने प्रकार का है ?

उत्तर : सत्य दस प्रकार का होता है-

(१) जनपद सत्य (२) संमत सत्य (३) स्थापना सत्य (४) नाम सत्य (५) रूप सत्य (६) प्रतीत सत्य (७) संभावना सत्य (८) व्यवहार सत्य (९) भाव सत्य (१०) उपमा सत्य। **(मू.प्र. २८७-८८)**

(१) नाम सत्य (२) रूप सत्य (३) स्थापना सत्य (४) प्रतीत्य सत्य (५) संवृत्ति सत्य (६) संयोजना सत्य (७) जनपद सत्य (८) देश सत्य (९) भाव सत्य (१०) समय सत्य। **(चा.सा. ११८)**

अथवा - सत्य अनेक प्रकार का होता है-

(१) नाम सत्य (२) स्थापना सत्य (३) रूप सत्य (४) भाव सत्य (५) संवृति सत्य (६) देश सत्य (७) संयोजना सत्य (८) जनपद सत्य (९) प्रतीत्य सत्य (१०) समयाश्रित सत्य (११) सम्भावना सत्य और (१२) उपमा सत्य, आदि के भेद से सत्य अनेक प्रकार का होता है। **(आ.सा. ५/२३-२४)**

३५. प्रश्न : जनपद सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : आर्य और अनार्य भेद वाले अनेक देशों में धर्मादि का स्वरूप तथा उनके उपायों को कहने वाले प्रत्येक का जो नियत वचन है वह जनपदाश्रित सत्य है। जैसे धर्म दयारूप है, इस देश के राजा को राणा कहते हैं। आदि। **(आ.सा. ५/३४-३५)**

अनेक देशों की भाषाओं में जो शुभाशुभ कहा जाता है और जो किसी के विरुद्ध नहीं होता, उसको जनपद सत्य कहते हैं, जैसे सब भाषाओं में ओदन या भात आदि **(मू.प्र. २८९)**। जनपद सत्य-देशसत्य। जैसे जनपद की सभी भाषाओं में ओदन आदि को अन्य-अन्य शब्दों से कहा जाता है। द्राविड़ भाषा में ओदन को 'चौर' कहते हैं, कर्नाटक भाषा में 'कूल' कहते हैं, गौड़ भाषा में 'भक्त' कहते हैं, ऐसे ही नाना देशों में उन उन भाषाओं के द्वारा कहा गया 'ओदन' जनपद सत्य है। **(मू. ३०९ आ.)**

३६. प्रश्न : सम्मत सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो बहुत जनों को सम्मत है वह भी सत्य है। जैसे किसी मनुष्य-स्त्री को भी लोक में महादेवी कहते हैं और जैसे 'देव बरसता है' इत्यादि वचन लोकसम्मत सत्य है। इसमें 'यह ऐसा नहीं है' ऐसा कहकर प्रतिबन्ध नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रतिबन्ध लगाने पर सत्य भी असत्य कहे जायेंगे **(मू. ३०९ आ.)** जो वचन सब लोगों की अनुमति से प्रसिद्ध हो उसे संवृति सत्य कहते हैं। जैसे- अन्य अनेक कारणों से उत्पन्न होने पर भी कमल को पङ्कज कहते हैं। **(आ.सा. ५/३१)**

३७. प्रश्न : स्थापना सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : पदार्थ के नहीं होते हुए भी किसी कार्य के लिए उसका स्थापन करना स्थापना सत्य है जैसे- चन्द्रप्रभ की प्रतिमा में चन्द्रप्रभ की स्थापना करना। **(चा.सा. ११८)** किसी प्रतिबिम्ब को स्थापित करना स्थापना सत्य है, जैसे पूजा करने के लिए अरहंत, सिद्ध या मुनियों की प्रतिमा स्थापित की जाती है। **(मू.प्र. २९२)**

जिस बुद्धि के द्वारा अन्य वस्तु का धर्म सदृश अथवा असदृश किसी अन्य वस्तु में स्थापित किया जाता है, वह बुद्धि-स्थापना कहलाती है। उस स्थापना के द्वारा जो वचन बोला जाता है, वह स्थापना सत्य कहलाता है, जैसे प्रतिमा अथवा चावल आदि में ये चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र हैं, आदि कहना। **(आ.सा. ५/२६-२७)**

३८. प्रश्न : नाम सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : सचेतन वा अचेतन पदार्थ का चाहे वह अर्थ न भी निकलता हो तो भी केवल व्यवहार चलाने के लिए जो किसी की संज्ञा रखी जाती है उसको नामसत्य कहते हैं। जैसे- किसी पुरुष अथवा किसी अचेतन पदार्थ का केवल व्यवहार में पहिचानने के लिए कोई इन्द्र नाम रखे तो वह नाम सत्य है। **(चा.सा. ११८)**

अर्थ का अभाव होने पर भी लौकिक जनों के द्वारा व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए जो नाम निश्चित किया जाता है, वह नाम सत्य है। जैसे - मनुष्यों में किसी का चन्द्र नाम रखना। **(आ.सा. ५/२५)** जो मनुष्यों का नाम रखा जाता है वह गुणों से सत्य भी होता है और असत्य भी, तथापि उसको नाम सत्य कहते हैं जैसे किसी पुरुष का नाम देवदत्त रख लिया जाता है। **(मू.प्र. २९३)**

३९. प्रश्न : रूप सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो रूप किसी मुख्य वर्ण से कहा जाता है उसको रूप सत्य कहते हैं जैसे- बगुले सफेद होते हैं। यद्यपि बगुलों में और भी वर्ण होते हैं तथापि वे सफेद कहलाते हैं। **(मू.प्र. २९४)** पदार्थ के उपस्थित न रहने पर भी केवल उसके रूप को देखकर उस पदार्थ का नाम कहना रूप सत्य है जैसे किसी पुरुष के बनाये हुए चित्र में यद्यपि चैतन्य का संयोग नहीं है तथापि उसे पुरुष कहना रूप सत्य है। **(चा.सा. ११८)**

जो रूप प्राय: देखा जाता है उस रूप ही वस्तु को कहना रूप सत्य है जैसे- बलाका सफेद है, आदि। **(आ.सा. ५/२८)**

वर्ण से उत्कृष्टतर होने से बगुला को सफेद कहते हैं। यद्यपि उस बगुला में लाल चोंच, काली आँखें आदि अन्य अनेक रूप सम्भव हैं, फिर भी श्वेत वर्ण इसमें उत्कृष्टतर होने से इसे श्वेत कहते हैं क्योंकि अन्य वर्ण वहाँ पर अविवक्षित हैं इसलिए यह रूप सत्य द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वाच्य है। **(मू. ३१० आ.)**

४०. प्रश्न : प्रतीत्य सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्य किसी की अपेक्षा करके जो सिद्ध हो वह प्रतीति सत्य है जैसे- किसी ह्रस्व की अपेक्षा करके कहना कि यह दीर्घ है। जैसे- एक वितस्ति के प्रमाण से एक हाथ दीर्घ है, उसी प्रकार दो हाथ प्रमाण से पाँच हाथ का प्रमाण बड़ा है, पाँच हाथ से दस हाथ बड़ा है, इस प्रकार से मेरु पर्यन्त तक भी बड़े की व्यवस्था हो सकती है, उसीप्रकार ह्रस्व, गोल, चौकोर आदि भी एक दूसरे की अपेक्षा से ही हैं। तथा कुरूप-सुरूप, पण्डित-मूर्ख, पूर्व-पश्चिम ये सब एक-दूसरे की अपेक्षा करके होते हैं अत: इनका कथन अपेक्ष्य सत्य या प्रतीत्य सत्य है, इसमें विवाद नहीं करना चाहिए। **(मू. ३११ आ.)** किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा किसी अन्य पदार्थ के स्वरूप का अन्तर कहने वाला वचन प्रतीत्य सत्य है, जैसे उसकी अपेक्षा यह वीर है अथवा ज्ञानी है आदि कहना। **(आ.सा. ५/३६)**

सादि अथवा परम्परागत अनादि जो औपशमिकादि भाव हैं उनकी अपेक्षा वचन कहना प्रतीत्य सत्य है जैसे- औदयिक भावों से उत्पन्न किसी पुरुष को, यह पुरुष लम्बा है, यह ताड़ का वृक्ष बहुत लम्बा है, आदि कहना। **(चा.सा. ११८)**

४१. प्रश्न : सम्भावना सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह काम हो सकता है या नहीं, इस प्रकार दोनों ओर के विकल्प से जो काम करने की इच्छा की जाती है उसको सम्भावना सत्य कहते हैं। जैसे - यह समुद्र भुजाओं से पार किया जा सकता है या नहीं ? **(मू.प्र. २९६)**

जिस वचन में किसी धर्म के सद्भाव का विचार हो उसे सम्भावना सत्य कहते हैं। जैसे इन्द्र तर्जनी अङ्गुली के द्वारा मेरु पर्वत को भी उठा सकता है। **(आ.सा. ५/३८)**

'यदि चाहे तो ऐसा कर डाले' ऐसा कथन सम्भावना सत्य है। जो सम्भावित किया जाता है उसे सम्भावना सत्य कहते हैं। जैसे- इन्द्र चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट दे। **(मू. ३१२ आ.)**

४२. प्रश्न : सम्भावना सत्य कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : सम्भावना सत्य दो प्रकार का होता है-

(१) अभिनीत सम्भावना (२) अनभिनीत सम्भावना।

अभिनीत सम्भावना सत्य - जो शक्यानुष्ठान रूप वचन हैं वे वचन अभिनीत सम्भावना सत्य हैं।

जैसे - यदि यह चाहे तो प्रस्थ (सेर भर) खा जावे, यह अपनी भुजाओं से गंगा को तैर सकता है, आदि।

अनभिनीत सम्भावना सत्य - जिसका सामर्थ्य तो है किन्तु वैसा करते नहीं हैं ऐसे वचन अनभिनीत सम्भावना सत्य हैं। जैसे- इन्द्र चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट दे, इसमें इन्द्र की यह सामर्थ्य सम्भावित की जा रही है कि यह चाहे तो जम्बूद्वीप को अन्य रूप कर सकता है किन्तु वह ऐसा कभी करता नहीं है और भी जैसे सिर से पर्वत को फोड़ सकता है, आदि। **(मू. ३१२ आ.)**

४३. प्रश्न : व्यवहार सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी भी कार्य में व्यवहार से जो लोग वचन कहते हैं उसको व्यवहार सत्य कहते हैं, जैसे- यह भात पकाया जाता है, पके चावलों को भात कहते हैं तथापि व्यवहार में भात पकाना कहते हैं। **(मू.प्र. २९७)**

रोटी या पुआ पकाये जाते हैं। इत्यादि प्रकार के वचन लोक में देखे जाते हैं, वह सब व्यवहार सत्य है। इसमें विवाद नहीं करना चाहिए। वास्तव में, यदि भात पकाया जावे तो वह भस्म हो जाये और

यदि रोटी पकाई जावे तो वे भी भस्मीभूत हो जाएँ, किन्तु फिर भी व्यवहार में वैसा कथन होता है अत: यह व्यवहार सत्य है। **(मू. ३११ आ.)**

४४. प्रश्न : भाव सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो हिंसादि पापों से रहित वचन हैं उनको भाव सत्य कहते हैं। जैसे-घर में चोर रहते हुए भी कहना कि यहाँ चोर नहीं है। **(मू.प्र. २९८)**

अल्प ज्ञानियों के द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप का दर्शन नहीं होता है तथापि संयमी मुनि अथवा संयतासंयत श्रावक अपने गुणों का पालन करने के लिए 'यह प्रासुक है' 'यह अप्रासुक है' इत्यादि जो वचन कहते हैं, उन्हें भावसत्य कहते हैं। **(चा.सा. ११९)** छद्मस्थ ज्ञानी जीव को यद्यपि वस्तु की यथार्थता का दर्शन नहीं होता तथापि उसका मन दृष्टि में आये दोषों को दूर करने और गुणों का पोषण करने वाला होता है। उसका यह मन भाव कहलाता है। उस भाव से जो सत्य वचन बोला जाता है वह भाव सत्य है। जैसे- यह कहना कि यह दूध प्रासुक है अथवा नहीं ? **(आ.सा. ५/२९-३०)**

हिंसादि दोष से रहित अकल्पित अयोग्य वचन भी परमार्थ से सत्य होने के कारण भाव-सत्य हैं जैसे किसी ने पूछा 'तुमने चोर देखा है ?' तो कहना 'नहीं देखा है।' यद्यपि ये वचन असत्य हैं तथापि परमार्थ से सत्य हैं क्योंकि हिंसादि दोषों से रहित हैं। इसी प्रकार जिन वचनों से इहलोक-परलोक के प्रति पर को पीड़ा उत्पन्न होती है, दूसरे को कष्ट होता है वे सभी वचन सत्य होकर भी त्यागने योग्य हैं क्योंकि राग-द्वेष से सहित हैं, हिंसादि दोषों से सहित वचन सत्य हों तो भी नहीं बोलना चाहिए, यही भाव सत्य है। **(मू. ३१३ आ.)**

४५. प्रश्न : उपमा सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : असंख्यात संख्या का उपमा के द्वारा वर्णन करना उपमा सत्य है जैसे- इसकी आयु एक पल्य प्रमाण है अथवा ग्रीष्म ऋतु अग्नि है, आदि कहना। **(आ.सा ५/३९)** जो वचन किसी उपमा के साथ कहे जाते हैं उन्हें उपमा सत्य कहते हैं, जैसे पल्य, सागर, आदि **(मू.प्र. २९९)** उपमा से युक्त जो वचन हैं वे भी सत्य है जैसे- पल्योपम आदि वचन, ये वचन उपमा मात्र ही हैं। क्योंकि किसी के द्वारा भी योजन प्रमाण का गड्ढा रोमों के अतीव सूक्ष्म-सूक्ष्म टुकड़ों से भरा नहीं जा सकता है। इसी प्रकार से सागर, राजू, प्रतरांगुल, सूच्यंगुल, घनांगुल, श्रेणी, लोकप्रतर और लोक ये सभी उपमावचन हैं। तथा चन्द्रमुखी कन्या इत्यादि वचन भी उपमान वचन होने से उपमा सत्य वचन हैं। इसमें विवाद नहीं करना चाहिए। **(मू. ३१३ आ.)**

४६. प्रश्न : संयोजना सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : सेना के विन्यास और औषधि आदि के विभाग सम्बन्धी क्रम का वर्णन करने वाली वाणी संयोजना सत्य है, जैसे- यह सेना चक्रव्यूह से स्थित है, इलायची का विभाग अधिक होने से किसी औषधि

को इलायची बटी कहना, आदि। **(आ.सा. ५/३३)** सुगंधित धूप, चूर्ण-वासना, उबटन, लेप आदि द्रव्यों में पड़ने वाली चीज का अलग-अलग विभाग कहना तथा पद्मव्यूह, मकर व्यूह, हंस व्यूह, सर्वतोभद्र व्यूह और क्रौंच व्यूह आदि की रचना कर अनुक्रम कहना संयोजना सत्य है। **(चा.सा. ११९)**

४७. प्रश्न : देश सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : गाँव, नगर, राज, गण, पाखंड, जाति तथा कुल आदि के धर्मों का उपदेश करने वाले, उनका स्वरूप बताने वाले वचनों को देश सत्य कहते हैं, जैसे जो बाड़ से घिरा हो उसे गाँव कहते हैं। **(चा.सा. ११९)**

जो वचन सब देशों में एकसमान बोला जावे वह देशसत्य है जैसे-भात पकाया जाता है, ऐसा कहना (यद्यपि चावल पकाये जाते हैं और पके हुए चावलों को भात कहते हैं परन्तु सब देशों में ऐसा कहा जाता है) अथवा जो चारों ओर वृत्ति-बाड़ से आवृत्त घिरा हो उसे ग्राम कहते हैं, इस प्रकार ग्राम आदि का वर्णन करना। **(आ.सा. ५/३२)**

४८. प्रश्न : समय सत्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : सिद्धान्त ग्रन्थों को समय कहते हैं, उस 'समय' के द्वारा प्रमाण और नय का आश्रय लिये हुए प्रसिद्ध धर्म का वर्णन करना समय सत्य है। **(आ.सा. ५/३७)** शास्त्रों से जानने योग्य ऐसे प्रतिनियत छह द्रव्य और उनकी पर्यायों का यथार्थ स्वरूप प्रगट करना समय सत्य है। जैसे उत्तरोत्तर समयों की वृद्धि होने से बालक युवा होता है। इतने को पल्योपम कहते हैं। **(चा.सा. ११९)**

४९. प्रश्न : सत्य धर्म को किस प्रकार धारण करना चाहिए ?

उत्तर : सत्यधर्म को धारण करने के लिए सत्य के गुण एवं असत्य के दोषों का विचार करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

नोट : सत्य से लाभ एवं असत्य से हानि देखें ७/२, ९, १४।

५०. प्रश्न : सत्य धर्म का पृथक् ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि उसका भाषा समिति में अन्तर्भाव हो जाता है ?

उत्तर : भाषा-समिति में सत्यधर्म का अन्तर्भाव नहीं होता है क्योंकि भाषा समिति में संयत साधु असाधु (विधर्मी) के साथ भाषा का व्यवहार करते समय हित-मित वचन बोलता है। यदि साधु असाधु में हित-मित का प्रयोग न करे तो राग और अनर्थदण्ड आदि दोषों का प्रसङ्ग आता है, ऐसा भाषा समिति का लक्षण कहा है परन्तु सत्य धर्म में अपने साधर्मी साधुओं या भक्तों के साथ धर्मवृद्धि के निमित्त या ज्ञान-चारित्र के शिक्षण आदि के लिए प्रशंसनीय बहुत बोलना भी स्वीकृत है। **(रा.वा. १०)**

५१. प्रश्न : उत्तम संयम धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : ईर्यादि समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के जो समितियों की प्रतिपालना करने के लिए

प्राणियों की पीड़ा का परिहार है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना है उसे संयम कहते हैं। **(रा.वा. १४)**

मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनिराज मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक जो मन और पाँचों इन्द्रियों का निरोध करते हैं तथा छहों काय के जीवों की रक्षा करते हैं उसको जिनेन्द्र देव ने संयम कहा है। **(मू.प्र. २९६४)**

कषायों का निग्रह, इन्द्रियों का विजय, मन, वचन वा काय की कुटिल प्रवृत्ति का त्याग तथा अहिंसादि व्रतों का पालन करना इसे संयमी आचार्यों ने संयम कहा है। **(य.ति.च. ८/४६७)** पाँच इन्द्रियों का संवर, पाँच व्रत और पच्चीस क्रिया, पाँच समिति, तीन गुप्ति इनका सद्भाव निरागार (अनगार) संयमाचरण चारित्र है। **(चा.पा. २७)**

५२. प्रश्न : संयम धर्म किसके होता है ?

उत्तर : व्रत व समितियों का पालन, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग, इन्द्रिय जय ये सब जिसके होते हैं उसके नियम से संयमधर्म होता है। **(बा.अ. ७६)**

जीवरक्षा में तत्पर जो मुनि गमनागमन आदि कार्यों में तृण का भी छेद नहीं करना चाहता है उसके संयम धर्म होता है। **(का. अ. ३९९)**

५३. प्रश्न : संयम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संयम दो प्रकार का होता है-

(१) प्राणि संयम (२) इन्द्रिय संयम। **(रा.वा. १४)**

(१) उपेक्षा संयम (२) अपहृत संयम। **(रा.वा. १५)**

(१) वीतराग संयम (२) सराग संयम। **(प.प्र. २/६७ टी.)**

(१) निश्चय संयम (२) व्यवहार संयम।

५४. प्रश्न : प्राणिसंयम एवं इन्द्रियसंयम किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्राणि संयम- चौदह प्रकार के जीवों (जीवसमास) की रक्षा करना प्राणिसंयम है। **(मू.४१८ आ.)**

एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की पीड़ा का परिहार प्राणि संयम है। **(रा.वा. १४)**

इन्द्रिय संयम - पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, षड्ज आदि सात स्वर तथा मन का विषय ये अट्ठाईस इन्द्रियविषय हैं, इनका निरोध सो इन्द्रिय संयम है। **(मू. ४१८ आ.)** शब्दादि के विषयों में राग का अभाव सो इन्द्रिय संयम है। **(रा.वा. १४)**

समस्त इन्द्रियों के व्यापारों का त्याग करना इन्द्रिय संयम है। **(नि.सा.ता. १२३)**

५५. प्रश्न : प्राणिसंयम कितने प्रकार का है ?

उत्तर : प्राणि संयम सत्रह प्रकार का है-

(१) पृथिवी (२) अप् (३) तेज (४) वायु (५) वनस्पति, ये पाँच स्थावर काय और दो, तीन, चार व पाँच इन्द्रिय वाले चार त्रस जीव इनकी रक्षा करना यह नौ प्रकार का प्राणिसंयम है।

(१) अजीवकाय की रक्षा रूप सूखे तृण आदि का छेदन नहीं करना। (२) अप्रतिलेखन (३) दुष्प्रतिलेखन (४) उपेक्षा संयम (५) अपहरण संयम (६) मन का संयम (७) वचन का संयम (८) काय का संयम।

इस प्रकार कुल मिलाकर सत्रह प्रकार का प्राणिसंयम है। **(मू.प्र. २१२५-३६)**

५६. प्रश्न : उपेक्षा संयम किसे कहते हैं ?

उत्तर : महा ज्ञानी और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाले महामुनियों के उत्कृष्ट शरीर में बल होने के कारण जो राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है उसको उपेक्षा संयम कहते हैं। **(मू.प्र. २९६७)** देश, काल के विधान को जानने वाले, पर के अनुपरोध रूप से शरीर से विरक्त तीन गुप्तियों के धारक मुनि के राग-द्वेष रूप वृत्ति का नहीं होना उपेक्षा संयम है। **(रा.वा. १५)** उपेक्षा संयमियों को पुस्तक, कमण्डलु आदि नहीं होते, वे परम जिनमुनि एकान्त में निस्पृह होते हैं, इसलिए वे बाह्य उपकरण रहित होते हैं। **(नि.सा.ता. ६४)**

संयम में मन न लगाना उपेक्षा है। धर्मोपकरणों को रखकर बहुत दिन तक भी उनको न देखा हो तो उनमें उत्पन्न हुए सम्मूर्च्छन जीवों को देखकर उपेक्षा वा संयमन व निग्रह करना, प्रतिदिन बार-बार उसे देखना उपेक्षा संयम है। **(मू.प्र. २१३३-३४)**

५७. प्रश्न : अपहृत संयम किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो चतुर मुनि प्रयत्नपूर्वक संवर को उत्पन्न करने वाली पाँचों समितियों का पालन करते हैं उसको अपहृत संयम कहते हैं। **(मू.प्र. २९६८)**

एकेन्द्रिय आदि जीवों को पीछी से हटाकर दूसरी जगह स्थापन करना अपहरण कहलाता है, उसका संयमन वा निग्रह करना, जीवों को न अन्यत्र स्थापन करना, न जाने से रोकना, प्रयत्नपूर्वक वहीं पर उनकी रक्षा करना मुनियों का अपहरण नाम का संयम है। **(मू.प्र. २१३५-३६)**

५८. प्रश्न : अपहृत संयम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अपहृत संयम तीन प्रकार का होता है-

(१) उत्कृष्ट अपहृत संयम (२) मध्यम अपहृत संयम (३) जघन्य अपहृत संयम।

उत्कृष्ट अपहृत संयम - प्रासुक वसतिका और आहार मात्र है बाह्य साधन जिनके तथा स्वाधीन है ज्ञान और चारित्र रूप करण जिनके, ऐसे साधुओं का बाह्य जन्तुओं के आनेपर अपने-आपको वहाँ से हटाकर संयम पालन करना उत्कृष्ट अपहृत संयम है।

मध्यम अपहृत संयम - मृदु उपकरण से जन्तुओं की रक्षा करने वाले के मध्यम अपहृत संयम होता है।

जघन्य अपहृत संयम - अन्य उपकरणों की इच्छा करने वाले के जघन्य अपहृत संयम होता है। **(रा.वा. १५)**

५९. प्रश्न : अपहृत-संयम-पालन में कितनी शुद्धियाँ आवश्यक हैं ?

उत्तर : अपहृत-संयम-पालन करने में निम्नलिखित शुद्धियाँ आवश्यक हैं। (१) भाव शुद्धि (२) काय शुद्धि (३) विनय शुद्धि (४) ईर्यापथ शुद्धि (५) भिक्षा शुद्धि (६) प्रतिष्ठापन-शुद्धि (७) शयनासन शुद्धि (८) वाक्य शुद्धि। **(रा.वा. १६)**

(१) लिंग शुद्धि (२) व्रत शुद्धि (३) वसति शुद्धि (४) विहार शुद्धि (५) भिक्षा शुद्धि (६) ज्ञान शुद्धि (७) उज्झवन शुद्धि (८) वाक्य शुद्धि (९) तप:शुद्धि (१०) ध्यान शुद्धि; ये अनगार भावना में दस शुद्धियाँ हैं। **(मू. ७७१)**

वैयावृत्त्य करने में पाँच प्रकार की शुद्धि है-

(१) आलोचना शुद्धि (२) शय्या शुद्धि (३) संस्तर शुद्धि (४) उपकरण शुद्धि (५) भक्तपान शुद्धि।

अथवा - (१) दर्शन शुद्धि (२) ज्ञान शुद्धि (३) चारित्र शुद्धि (४) विनय शुद्धि (५) आवश्यक शुद्धि। **(भ.आ. १६८-१६९)**

नोट - इनका वर्णन देखें (९/२४)

स्वाध्याय सम्बन्धी चार शुद्धियाँ हैं-

(१) द्रव्य शुद्धि (२) क्षेत्र शुद्धि (३) काल शुद्धि (४) भाव शुद्धि। **(ध. ९/२५३)**

नोट - इनका वर्णन स्वाध्याय तप के प्रकरण में करेंगे। लौकिक शुद्धियों का वर्णन अशुचि भावना में करेंगे।

६०. प्रश्न : भावशुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मक्षयोपशमजनित मोक्षमार्ग की रुचि से जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो चित्त रागादि उपद्रव से रहित है वह भावशुद्धि है। **(रा.वा. १६)**

जो बुद्धि सदा प्रमाद से रहित हो, वाचना आदि स्वाध्याय में लीन रहती हो, शंका आदिक सम्यग्दर्शन के अतिचारों से रहित हो और मार्दव-विनय आदि गुणों से सहित हो वह भाव शुद्धि है। **(आ.सा. ८/४)**

कर्मों के क्षयोपशम होने के कारण जो मोक्षमार्ग में रुचि वा श्रद्धा होती है और उस श्रद्धा के कारण जो आत्मा में प्रसन्नता वा स्वच्छता-निर्मलता होती है जो कि राग-द्वेष आदि सब उपद्रवों से रहित होती है उसको भावशुद्धि कहते हैं। **(चा.सा. १३४)** राग-द्वेष, अहंकार, आर्त्त और रौद्र ध्यान से रहित, पाँच महाव्रतों से युक्त, तीन गुप्तियों से रक्षित तथा ज्ञान, दर्शन व चारित्र आदि आचार से वृद्धि को प्राप्त भिक्षु के भावशुद्धि होती है। **(ध. ९/२५४)**

६१. प्रश्न : भावशुद्धि का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जिस प्रकार दीवार शुद्ध होने से ही उस पर बनाया हुआ चित्र प्रकाशित होता है उसी प्रकार भावशुद्धि होने से ही आचार वा चारित्र प्रकाशित होता है। **(चा.सा. १३३)** इस भावशुद्धि के रहते हुए आचार उस तरह अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता है जिस तरह अच्छी भूमि में बोया हुआ अच्छे बीजों का समूह। **(आ.सा. ८/५)**

इस भावशुद्धि के होने पर आचार इस प्रकार चमक उठता है जैसे- स्वच्छ दीवार पर आलेखित चित्र। **(रा.वा. १६)**

६२. प्रश्न : कायशुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : समस्त आवरण और आभूषण से रहित शरीर संस्कार से शून्य, यथाजात, मल को धारण करने वाली, अंग-विकार से रहित और सर्वत्र यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति को कायशुद्धि कहते हैं। **(रा.वा. १६)**

जैसे- तुरन्त के जन्मे बालक के शरीर पर न कोई वस्त्र होता है, न कोई आभूषण होता है, न उसके बाल आदि सँवारे हुए होते हैं, और न उसके अंग में कोई विकार उत्पन्न होता है वैसे ही शरीर पर किसी प्रकार के वस्त्राभूषण का न होना, बाल आदि का इत्र आदि से संस्कारित न होना और न शरीर में काम का विकार ही होना कायशुद्धि है। **(का.अ. ३९९ टी.)**

६३. प्रश्न : कायशुद्धि का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : यह कायशुद्धि प्रशम-सुख को मूर्त्तिमान के समान दिखाती है। इस कायशुद्धि के होने पर न तो दूसरों से अपने को भय होता है और न अपने से दूसरों को। **(रा.वा. १६)** जो संसार में विश्वास उत्पन्न करने वाली है, साज-सजावट के समूह से रहित है, क्षमा की मूर्ति के समान सुशोभित होती है, इच्छा से रहित है, वैराग्य रूपी लता की उत्पत्ति की भूमि है, भय से रहित है और बालक के समान निर्विकार होने से मनोहर है, वह कायशुद्धि है। **(आ.सा. ८/१०-११)**

६४. प्रश्न : विनय शुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अरहंत आदि पाँच परमेष्ठियों की यथायोग्य पूजा और विनय करना, ज्ञानादिक की विधि और भक्ति पूर्वक सब कार्यों में सब जगह गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति रखना, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना और कथा कहना आदि कार्यों के करने में कुशलता रखना, देश का ज्ञान, समय का ज्ञान और भाव के ज्ञान में निपुणता रखना तथा सदा आचार्य की आज्ञानुसार चलना विनयशुद्धि है। **(चा.सा. १३४)** कुल आदि आठ मदों से रहित हो समीचीन गुणों के धारक पुरुषों के सामने नम्रीभूत होना, उन्हें नमस्कार करना विनय शुद्धि है। **(आ.सा. ८/६९)** दृष्ट (कीर्ति, आदर आदि लौकिक) फलों की इच्छा छोड़कर साधर्मिक जन, गुरुजन इत्यादिकों का विनय करना विनय शुद्धि है। **(भ.आ.वि. १६९)**

६५. प्रश्न : विनय शुद्धि का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : सर्व सम्पदाओं का मूल विनय है। यह विनयशुद्धि ही मानव का भूषण है और आत्मा को संसार समुद्र से पार उतारने के लिए नौका के समान है। **(रा.वा. १६)** यह विनय शुद्धि मनुष्य के समस्त गुण रूपी लक्ष्मी का आभूषण है तथा प्राणियों को इसके सिवाय इस लोक और परलोक में दूसरा सुखदायक कारण नहीं है। **(आ.सा. ८/७६)** विनय शुद्धि के होने से उपकरण आदि के लोभ का अभाव होता है। **(भ.आ.वि. १६९)**

६६. प्रश्न : ईर्यापथ शुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो भय, आश्चर्य, भ्रान्ति, लीलाविकार, लांघना और दौड़ना आदि से रहित है, दया सहित है, जिसमें अङ्ग-उपाङ्ग सावधान तथा शान्त रहते हैं, हाथ नीचे की ओर रहते हैं एवं उत्कृष्ट हैं, ऐसी गति ही ईर्यापथ शुद्धि कहलाती है। **(आ.सा. ८/१२-१३)** नाना प्रकार के जीवस्थान, जीवयोनि, जीवाश्रय के बोधजनित प्रयत्न से जन्तुओं की पीड़ा का परिहार करना, गमनागमन क्रिया में जीवों की रक्षा करना, ज्ञान रूपी सूर्य और अपनी इन्द्रियों के प्रकाश से निरीक्षित देश में गमन करना, शीघ्र, विलम्बित, संभ्रान्त, विस्मित, लीला विकार, अन्य दिशाओं की ओर देखना आदि गमनक्रिया के दोषों से रहित गमन करना ईर्यापथ शुद्धि है। **(रा.वा. १६)**

६७. प्रश्न : ईर्यापथ शुद्धि का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जिस प्रकार सुनीति पूर्वक चलने में विभव ठहरता है उसी प्रकार ईर्यापथ शुद्धि के रहते हुए ही संयम ठहरता है। **(चा.सा. १३५)**

जिस प्रकार नीति लक्ष्मी का हेतु है उसी प्रकार ईर्यापथ शुद्धि चारित्र रूप सम्पत्ति का हेतु है। **(आ.सा. ८/१३)**

६८. प्रश्न : भिक्षाशुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अधःकर्म आदि दोषों से रहित शुद्ध अनुद्दिष्ट आहार ग्रहण करना भिक्षा शुद्धि है।

(आ.सा. ८/१४) भिक्षा को जाते समय दोनों ओर दृष्टि रखना, स्वअंग-देश का पूर्वापर परिमार्जन करना, आचार शास्त्र में कथित देश-काल, प्रकृति आदि की प्रतिपत्ति में कुशलता होना, लाभ-अलाभ, मान-अपमान में समान मनोवृत्ति का होना, लोकगर्हित निन्दित कुल को छोड़कर भिक्षा करना, चन्द्रगति के समान हीन-अधिक घरों की मर्यादा होना, विशिष्ट विधान वाली दीन-अनाथ दानशाला, विवाह-यज्ञ-भोजन-शाला आदि में भिक्षा के लिए नहीं जाना, दीन वृत्ति का नहीं होना, प्रासुक आहार की गवेषणा में चित्तवृत्ति का होना, आगम प्रणीत निर्दोष आहार से ही प्राणयात्रा सफल मानना आदि क्रियायें भिक्षाशुद्धि हैं। **(रा.वा. १६)**

जो जितेन्द्रिय मुनिराज तपश्चरण, योग और शरीर की स्थिति के लिए बेला, तेला, पक्ष, माह, दो माह आदि के उपवास के बाद पारणा के दिन योग्य घर में जाकर कृत-कारित-अनुमोदना आदि के समस्त दोषों से रहित शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उसको भिक्षाशुद्धि कहते हैं। **(मू.प्र. २३८३-८४)**

६९. प्रश्न : मुनियों की आहार वृत्ति कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : मुनिराज की आहार वृत्ति पाँच प्रकार की है-

(१) गोचार वृत्ति (२) अक्षमृक्षण वृत्ति (३) उदराग्नि प्रशमन वृत्ति (४) श्वभ्रपूरण वृत्ति (५) भ्रामरी वृत्ति। **(मू.प्र. ५१६-१७)**

७०. प्रश्न : गोचार वृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : लीला सहित, सालङ्कार युवतियों के द्वारा लाये हुए घास को खाते समय गाय घास को ही खाती है, घास को ही देखती है, घास डालने वाली युवती के अंगगत सौन्दर्य को नहीं देखती है, अथवा नाना देशस्थ यथायोग्य उपलब्ध होने वाले चारे के पूले को ही गाय खाती है, उसकी सजावट आदि को नहीं देखती है उसी प्रकार भिक्षु भी परोसने वाली के मृदु, ललित रूप, वेष-विलास आदि को देखने की उत्सुकता नहीं रखता है और आहार शुष्क है वा गीला है या कैसे चांदी आदि के बर्तनों में रखा है या कैसी उसकी योजना की गयी है, आदि की ओर उसकी दृष्टि नहीं रहती है, वह भिक्षु तो जैसा- रूखा, सूखा, सरस-नीरस शुद्ध आहार मिलता है, उसको ही खाता है अत: भिक्षुक भोजन को गाय के समान चारा होने से गोचार या गवेषणा कहते हैं। (यही गोचार वृत्ति है।) **(रा.वा. १६)**

७१. प्रश्न : मुनिराज के आहार को अक्षमृक्षण वृत्ति क्यों कहते हैं ?

उत्तर : जैसे रत्न के भार से परिपूर्ण गाड़ी को वणिक् किसी तैल से लेपन करके-ओंगन करके इच्छित देशान्तर में ले जाता है वैसे ही मुनिगण भी सम्यग्दर्शनादि गुणरूपी रत्नों से भरी हुई शरीर रूपी गाड़ी को निर्दोष भिक्षा रूपी तैल का लेप करके ओंगन देकर उसे अभिप्रेत समाधिनगर तक पहुँचा देता है अत: साधु के आहार का अक्षमृक्षण नाम भी रूढ़ है। **(रा.वा. १६)** जिस प्रकार कोई वैश्य रत्नों से भरी हुई गाड़ी को पहियों की धुरी में थोड़ी सी चिकनाई लगाकर देशान्तर में ले जाता है, उसी प्रकार मुनिराज भी

गुण रूपी रत्नों से भरी हुई इस शरीर रूपी गाड़ी को चिकनाई के समान, थोड़ा सा आहार देकर इस आत्मा को मोक्षनगर तक पहुँचा देते हैं। इसको अक्षमृक्षण वृत्ति कहते हैं। **(मू.प्र. ५२२-२३)**

७२. प्रश्न : मुनिराज के आहार को उदराग्निशमन क्यों कहते हैं ?

उत्तर : जैसे भाण्डागार में समुत्थित अग्नि को गृहस्थ शुचि वा अशुचि जल के द्वारा शमन करते हैं उसी प्रकार मुनिगण भी रूखा-सूखा, मृदु-कठोर जैसा शुद्ध आहार मिलता है उसके द्वारा अपनी उदराग्नि को शमन करते हैं अत: साधु की भिक्षा का नाम उदराग्नि प्रशमन भी है। **(रा.वा. १६)** जिस प्रकार कोई वैश्य रत्नादिक से भरे हुए भाण्डागार में अग्नि के लग जाने पर तथा उसकी ज्वाला बढ़ जाने पर शीघ्र शुद्ध वा अशुद्ध पानी से बुझा देता है, उसी प्रकार मुनिराज भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की रक्षा करने के लिए अपने पेट में बढ़ी हुई क्षुधा रूपी वह्नि को सरस वा नीरस आहार लेकर शीघ्र ही बुझा देते हैं इसको उदराग्नि प्रशमन वृत्ति कहते हैं। **(मू.प्र. ५२४-२५)**

७३. प्रश्न : मुनिराज के आहार को 'भ्रामरी' वृत्ति क्यों कहते हैं ?

उत्तर : भ्रमर के समान दाता को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाये बिना साधु आहार ग्रहण करता है अत: ऐसी भिक्षावृत्ति को भ्रामरी वृत्ति कहते हैं। **(रा.वा. १६)**

जिस प्रकार भ्रमर अपनी नासिका के द्वारा कमल से गन्ध को ग्रहण कर लेता है और उस कमल को किंचित् मात्र भी बाधा नहीं देता, उसी प्रकार मुनिराज भी दाता के द्वारा दिये हुए आहार को ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु चाहे उन्हें आहार मिले या न मिले अथवा थोड़ा ही मिले तो भी वे किसी भी दाता को रंचमात्र भी पीड़ा नहीं देते हैं। इसको भ्रामरी वृत्ति कहते हैं। **(मू.प्र. ५२८-२९)**

७४. प्रश्न : मुनिराज के आहार को श्वभ्रपूरण वृत्ति क्यों कहते हैं ?

उत्तर : किसी प्रकार से श्वभ्रपूरण के समान मुनिगण सरस-निरस आहार से उदर रूपी गड्ढे को भरते हैं अत: इसे 'श्वभ्रपूरण' भी कहते हैं। **(रा.वा. १६)**

जिस प्रकार कोई गृहस्थ अपने घर के मध्य के गड्ढे को किसी भी कूड़े-कर्कट से भर देता है, उसके लिए अच्छी मिट्टी की तजबीज नहीं करता, उसी प्रकार मुनिराज भी अपने पेट के गड्ढे को जैसा कुछ मिल गया उसी अन्न से भर लेते हैं उसको भरने के लिए मिष्ट भोजन की तलाश नहीं करते हैं, उसको 'श्वभ्रपूरण' वृत्ति कहते हैं। **(मू.प्र. ५२६-२७)**

७५. प्रश्न : मुनि आहारचर्या के लिए किस समय जाते हैं ?

उत्तर : सूर्य की गति से, पेट भरकर चलते हुए बालकों से, घरों में होने वाले कर्म से, छाया से मूसलों के शब्द से तथा धुआँ की शान्ति आदि से आहार खोजने का समय जानकर चर्या के लिए निकलें। **(आ.सा. ५/९८)**

सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्य के अस्त होने के तीन घड़ी पहले तक आहार का समय है इसमें भी मध्य अर्थात् दोपहर के समय की सामायिक काल की तीन घड़ी छोड़ देना चाहिए। **(मू.प्र. ५००)**

सूर्य के उदय और अस्त काल की तीन-तीन घटिका छोड़कर भोजन का काल है। **(मू. ४९२)**

७६. प्रश्न : आहार ग्रहण का कितना काल है ?

उत्तर : जिनेन्द्र देव ने आहार का उत्कृष्ट काल एक मुहूर्त, मध्यम काल दो मुहूर्त और जघन्य काल तीन मुहूर्त प्रमाण बताया है।

आहार के काल में तीन मुहूर्त तक भोजन करना जघन्य आचरण है, दो मुहूर्त में भोजन करना मध्यम आचरण है एवं एक मुहूर्त में भोजन करना उत्कृष्ट आचरण है। यह काल का परिमाण सिद्धभक्ति करने के अनन्तर आहार ग्रहण करने का है न कि आहार के लिए भ्रमण करते हुए का। **(मू. ४९२ आ.)**

७७. प्रश्न : मुनिराज को कैसे घरों में आहार करने नहीं जाना चाहिए ?

उत्तर : कोतवाल, नाई, धोबी आदि शूद्र, सूना-चक्की, चूल्हा आदि तथा मदिरा बनाने वालों का घर छोड़ देना चाहिए। प्रसूतिका (प्रसूति कराने वाली), भाट तथा गाने, बजाने, नाचने से आजीविका करने वालों का घर छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार पियाऊ, वेश्या, अनाथ, अव्रती और अभक्त का घर छोड़ देना चाहिए। जिस घर में कोई मना करे, विवाह आदि मङ्गल कार्य जहाँ हो रहा हो, जो घर लोकनिन्दित हो, यज्ञ सम्बन्धी भोजनशाला, कृपण का घर, जिस घर में मृत्यु हुई हो, ऐसा घर तथा बन्द घर जिसमें किवाड़ आदि लग रहे हों, इत्यादिक घरों में मुनि को प्रवेश नहीं करना चाहिए। **(आ.सा. ५/१०४-६)**

७८. प्रश्न : ऐसे घरों में आहार लेने से क्या हानि है ?

उत्तर : ऐसे घरों में प्रवेश करने में अतिप्रसंग, संक्लेश, अनादर, अपकीर्ति, असंयम, शास्त्र और लोक का विरोध आदि दोष होते हैं। **(आ.सा. ५/१०७)**

७९. प्रश्न : मुनिराज कैसा आहार ग्रहण करते हैं ?

उत्तर : मुनिराज मन वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना की विशुद्धता पूर्वक दिये गये, संयोजना दोष से रहित, छ्यालीस दोषों से रहित, प्रासुक और शुभ, प्रमाण सहित, गृहस्वामी द्वारा विधिपूर्वक दिया गया, अंगार और धूम दोषों से रहित और श्रेष्ठ छह कारणों से सहित, चौदह मलों से रहित आहार को ग्रहण करते हैं। **(मू.प्र. ४८७-८८)**

८०. प्रश्न : भिक्षाशुद्धि का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : आहारचर्या के निर्दोष होने पर ही व्रत, शील और गुण रहते हैं, इसलिए मुनि सदैव आहारचर्या को शुद्ध करके विचरण करे। आहार की शुद्धि ही प्रधान है, वही चारित्र है और सबमें सारभूत है। **(मू. १००६ आ.)**

जिस प्रकार गृहस्थों की उत्कृष्ट शुद्धि व्यवहार शुद्धि कहलाती है उसी प्रकार मुनियों की शुद्धि करने वाली सारभूत भिक्षाशुद्धि समझनी चाहिए। **(मू.प्र. ५७०)** भोजन शुद्धि समस्त धर्मों की खानि है, सारभूत है, चारित्र की जड़ है और गुणों की खानि है। **(मू. प्र. ५६८)**

८१. प्रश्न : प्रतिष्ठापन शुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रतिष्ठापन शुद्धि में तत्पर साधु नख, रोम, नाक-मल, थूक, वीर्य, मल-मूत्र और देह के परित्याग में देश-काल को जानकर जन्तुओं की बाधा का परिहार करके प्रवृत्ति करता है। इसे प्रतिष्ठापन शुद्धि कहते हैं। **(रा.वा. १६)**

यदि नख डालने हों तो उनका चूर्ण करके, यदि केश डालने हों तो उनको एक-एक बिखरा कर डालें, यदि थूक या नाक का मल छोड़ना हो तो उसे थोड़ा-थोड़ा कर छोड़ें और किसी दीवार आदि पर उसका लेप न करें। आगे, पीछे, ऊपर, नीचे और दोनों बाजुओं को अच्छी तरह देखकर, मूत्र, विष्टा और वमन को मौन पूर्वक पहले कहे हुए स्थान पर छोड़ना चाहिए। पश्चात् ईंट आदि के चूर्ण से शुद्धि कर प्रासुक अथवा गर्म जल आदि से हाथ-पैर की शुद्धि कर लेनी चाहिए। बुढ़ापे तथा रोग से पीड़ित मुनि यदि संन्यास से शरीर छोड़ते हैं तो यह भी व्युत्सर्ग शुद्धि है तथा मुनियों की समीचीन शुद्धि को करती है। **(आ.सा. ८/७९-८२)**

८२. प्रश्न : शयनासन शुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अपने उद्देश्य से नहीं बनाया गया हो, जिसमें किसी प्रकार का आरम्भ न हो, जहाँ ठहरने में दूसरों की सम्मति हो और स्त्री तथा क्षुद्र नट आदि जिसमें न रहते हों, ऐसे शून्यागार-गुफा तथा सूने मकान आदि स्थान में व्युत्सर्ग आदि से उत्पन्न खेद को दूर करने के लिए अल्प समय के लिए जो मुनि का शयन-आसन करना है वह शयनासन शुद्धि है। **(आ.सा. ८/७७-७८)**

८३. प्रश्न : शयनासन शुद्धि वालों को कैसे स्थानों का त्याग करना चाहिए ?

उत्तर : शय्या और आसन की शुद्धि में तत्पर साधु को स्त्री, क्षुद्र, चोर, जुआरी, शराबी और पक्षियों को पकड़ने वाले आदि पापी जनों के स्थान में वास (निवास) नहीं करना चाहिए तथा शृंगार, विकार, आभूषण, उज्ज्वल वेश, वेश्या की क्रीड़ा से अभिराम (सुन्दर) गीत, नृत्य, वादित्र आदि से व्याप्त शाला आदि में रहने का त्याग करना चाहिए। **(रा.वा. १६)**

८४. प्रश्न : शयनासन शुद्धि वाले मुनि को कैसे स्थानों में रहना चाहिए ?

उत्तर : शयनासन शुद्धि वाले संयतों को तो अकृत्रिम पर्वत की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि तथा कृत्रिम शून्यागार, छोड़े हुए घर आदि ऐसे स्थानों में रहना चाहिए जो उनके उद्देश्य से नहीं बनाये गये हों और न जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ ही किया गया हो। **(रा.वा. १६)**

८५. प्रश्न : शयनासन शुद्धि के पालन से क्या लाभ है ?

उत्तर : शय्या-संस्तर शुद्धि को जिसने धारण किया है उसने उद्गम, उत्पादन आदि दोष-युक्त वसतिका का त्याग किया है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए इसमें उपधि का भी त्याग सिद्ध हुआ समझना चाहिए। **(भ.आ.वि. १६८)**

८६. प्रश्न : वाक्य शुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : पृथ्वीकायिकादि सम्बन्धी आरम्भादि की प्रेरणा जिसमें न हो, कठोर, निष्ठुरादि परपीड़ाकारक प्रयोग से रहित, व्रत-शील आदि चारित्र का उपदेश देने वाले, हित-मित, मधुर और मनोहर, साधु के योग्य जो वचन हैं, वह वाक्य शुद्धि है। **(रा.वा. १६)** चतुर मुनि कुमार्ग का नाश करने के लिए और धर्म की सिद्धि के लिए सदा ऐसे वचन बोलते हैं जो जिन शास्त्रों के विरुद्ध न हों, अनेकान्त मत के आश्रय हों, एकान्त मत से सर्वथा दूर हों, यथार्थ हों, समस्त जीवों का हित करने वाले हों, परिमित हों और सारभूत हों ऐसे वचनों को कहना उत्तम वाक्यशुद्धि है। **(मू.प्र. २४२९)** देश, काल तथा सभा के योग्य कोमल, मधुर, गम्भीर एवं मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले वचन बोलना वाक्यशुद्धि है। **(आ.सा. ८/८)**

८७. प्रश्न : वाक्य शुद्धि वाले मुनिराज कैसे वचन नहीं बोलते हैं ?

उत्तर : वाक्य शुद्धि वाले मुनिराज को यह कन्या देने (विवाह) योग्य है, खेत आदि काटने योग्य है, परिखा, कूप और वापिका अच्छे खोदे गये हैं, खोटी चेष्टा करने वाले मनुष्य दमन करने योग्य हैं, गायन, वादन नर्तन सुन्दर हुए हैं, यह स्त्री अच्छी है, योद्धा, हाथी और मल्लों के युद्ध ठीक हुए हैं, वन अच्छा है, यह योगी है, यह अन्धा है और यह लंगड़ा है इत्यादि व्यवहारी जनों के आश्रय होने वाले अप्रिय तथा असंयमीजनों के योग्य वचनों का त्याग करना चाहिए। **(आ.सा. ८/६-८)**

जो वचन विनय से रहित हैं, धर्म से रहित हैं, विरुद्ध हैं और जिनके कहने का कोई कारण नहीं है ऐसे वचन दूसरों के द्वारा पूछने पर वा बिना पूछे मुनिराज कभी नहीं बोलते हैं। यद्यपि नेत्रों से अनेक अनर्थ देखते हैं, कानों से बड़े-बड़े अनर्थ सुनते हैं और अपने हृदय में सार-असार समस्त पदार्थों को जानते हैं तथापि वे सदा गूंगे के समान बने रहते हैं, वे कभी किसी की निन्दा नहीं करते और न स्तुति करने वाली बात कहते हैं। वे मुनिराज स्त्रीकथा आदि विकथाओं को न कभी कहते हैं और न कभी सुनते हैं। **(मू.प्र. २४३१-३४)**

८८. प्रश्न : वाक्यशुद्धि पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : यह वाक्यशुद्धि गुण रूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा की किरण कही गयी है। **(आ.सा. ८/९)**

यह वाक्य शुद्धि सर्व सम्पदाओं का आश्रय है। **(रा.वा. १६)**

नोट - शेष शुद्धियों का वर्णन मूलाचार आदि में देखें।

८९. प्रश्न : जन्म के पश्चात् संयमप्राप्ति के लिए सर्व लघुकाल कितना है ?

उत्तर : तिर्यञ्चों में संयमोपलब्धि का जघन्य काल-

इस विषय में दो उपदेश हैं-

(१) तिर्यञ्चों में उत्पन्न हुआ जीव दो मास और मुहूर्त पृथक्त्व से ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयम को प्राप्त करता है, यह दक्षिण प्रतिपत्ति है।

(२) वह तीन पक्ष, तीन दिवस और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयम को प्राप्त होता है यह उत्तर प्रतिपत्ति है। **(ध. ५/३२)**

गर्भ से निकलने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष बीत जाने पर संयम ग्रहण के योग्य होता है, इसके पहले संयम ग्रहण के योग्य नहीं होता, यह इसका भावार्थ है। गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्षों के बीत जाने पर संयम ग्रहण के योग्य होता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर 'योनिनिष्क्रमण रूप जन्म से' यह सूत्र वचन नहीं बन सकता। यदि गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष ग्रहण किये जाते हैं तो 'गर्भ पतन रूप जन्म से आठ वर्ष का हुआ' ऐसा सूत्रकार कहते हैं। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा है, इसलिए सात मास अधिक आठ वर्ष का होने पर संयम को प्राप्त करता है, यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए क्योकिं अन्यथा सूत्र में 'सर्वलघु' पद का निर्देश घटित नहीं होता। **(ध. १०/२७९)**

अपर्याप्तकों में से निकले हुए जीव के सर्व लघु काल द्वारा संयमासंयम के ग्रहण का अभाव है। अप्कायिक पर्याप्तकों में से मनुष्यों में उत्पन्न हुए जीव के सर्वलघुकाल के द्वारा संयम आदि का ग्रहण सम्भव नहीं है। **(ध. १०/२७६-७७)**

९०. प्रश्न : संयम आदि जीव को कितनी-कितनी बार प्राप्त हो सकते हैं ?

उत्तर : प्रथमोपशम सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, देश संयम और अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना का विधान ये एक जीव में उत्कृष्टत: पल्योपम के असंख्यातवें भाग बार ही होते हैं।

उपशम श्रेणी चार बार चढ़ने के बाद अवश्य कर्मों का क्षय होता है।

संयम बत्तीस बार होता है पीछे अवश्य निर्वाण प्राप्त करता है। **(गो.क. ६१८-१९)**

९१. प्रश्न : संयम पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : (१) संयम आत्मा का हित करने वाला है।

(२) संयमी मानव इस लोक में पूजित होता है परलोक की तो बात ही क्या ? **(रा.वा. २७)**

(३) चारित्र का पालन करने से ध्यानी पुरुषों को समस्त गुणों से विभूषित ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य प्राप्त हो जाती है।

(४) संयम से समस्त कर्मों का संवर होता है, समस्त कर्मों की निर्जरा होती है।

(५) समस्त गुणों के समूह प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर सुख प्राप्त होता है।

(६) संयम के साथ-साथ थोड़ा सा किया हुआ तप भी बुद्धिमानों को मोक्षादि की प्राप्ति में महाफल देता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। **(मू.प्र. २९८६)**

९२. प्रश्न : संयम का पालन नहीं करने से क्या हानि है ?

उत्तर : इस एक संयम के बिना मनुष्यों के तप, ध्यान और व्रतादिक सब व्यर्थ हो जाते हैं, सार्थक नहीं होते, क्योंकि बिना संयम के समस्त पापों का आस्रव होता ही रहता है। यही समझ कर संवर करने वालों को रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ इस संयम का पालन करना चाहिए। **(मू.प्र. २९८८)**

असंयमी जन निरन्तर हिंसादि पापों में तथा पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति करके अशुभ कर्मों का संचय करते हैं। **(रा.वा. २७)**

९३. प्रश्न : उत्तम तप धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : पाँचों इन्द्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना आचार्यों ने तप कहा है। **(मू.प्र. २९८९)**

मन और इन्द्रियों को नियन्त्रित करने वाले अनुष्ठान को तप कहते हैं। **(आ.सा.६/३)** कर्मक्षय हेतु शरीर और इन्द्रियों को जो तपाया जाता है उसे तप कहते हैं। **(मू. १०२२ आ.)**

९४. प्रश्न : तप धर्म किसके होता है ?

उत्तर : जो समभावी इस लोक और परलोक के सुख की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का कायक्लेश करते हैं उनके निर्मल तपधर्म होता है। **(का.अ. ४००)**

स्वाध्याय और ध्यान के बल से जो मुनि पाँचों इन्द्रियों के विषयों को तथा चारों कषायों को रोककर शुभ ध्यान की प्राप्ति करने के लिए अपनी आत्मा का विचार करता है, उसके नियम से तप होता है। **(बा.अ. ७७)**

९५. प्रश्न : तप धर्म को किस प्रकार धारण करना चाहिए ?

उत्तर : शक्ति अनुरूप तप में जो प्रवृत्ति नहीं करता है, उसने अपने आत्मा को फँसाया है और अपनी शक्ति भी छिपा दी है, ऐसा मानना चाहिए, सुखासक्त होने से जीव को असाता वेदनीय का अनेक भव में दुःख देने वाला, तीव्र पापबन्ध होता है। जैसे सूर्य की प्रचण्ड किरणों से संतप्त मनुष्य का शरीर-दाह धारागृह से नष्ट होता है वैसे संसार के महादाह से दग्ध होने वाले भव्यों के लिए तप जलगृह के समान शान्ति देने वाला है। तप में सांसारिक दुःख निर्मूलन करना यह गुण है। **(भ.आ. १४४८-१४५७)** उत्तमतप धर्म धारण करने के लिए तप के गुण-दोषों का विचार करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

९६. प्रश्न : तप के कौन-कौन से गुण हैं ?

उत्तर : तप के गुण-

(१) तप सर्व अर्थों का साधन है, इससे सर्व कार्यों की सिद्धि होती है।

(२) तप से अणिमा-महिमा आदि ऋद्धियों की प्राप्ति होती है।

(३) तपस्वियों के चरण रज से पवित्र स्थान लोक में तीर्थता को प्राप्त हो जाते हैं। **(रा.वा.२७)**

(४) तप से कर्मशत्रुओं को नाश कर जीव मोक्ष गये हैं, जा रहे हैं और आगे जायेंगे। बिना तप के न कोई मोक्ष गया है, न जावेगा। **(मू.प्र. २१०८)**

(५) तप से विशिष्ट, इष्ट, उत्कृष्ट, दूरस्थित और अत्यन्त दुर्लभ वस्तु प्राप्त होती है।

(६) अधिक कहने से क्या, तप से स्वर्ग लक्ष्मी और मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है। **(आ.सा. ६/१०१)**

(७) निकाचित कर्म तब तक भस्म नहीं होते हैं, जब तक कि प्रवचन में कही गयी तप रूपी अग्नि दीप्त नहीं होती है। **(आराधना सा. ७/२९)**

(८) जैसे प्रज्वलित अग्नि तृण को जलाती है वैसे तपरूप अग्नि कर्म रूपी तृण को जलाती है।

(९) उत्तम प्रकार से किये गये और कर्मास्रव रहित तप के फल को सहस्रजिह्वा वाला देव आदि भी वर्णन नहीं कर सकता है। **(भ.आ. १४६७-६८)**

(१०) तप इसी लोक में क्रोधादि शत्रुओं पर विजय अर्थात् क्षमा, क्षान्ति एवं विशिष्ट ऋद्धि आदि दुर्लभ गुणों को प्राप्त कराता है और परलोक में शीघ्र मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध कराता है। **(आ.अनु. ११४)**

९७. प्रश्न : तप नहीं करने से क्या हानि है ?

उत्तर : तप नहीं करने से हानि-

(१) इन्द्रिय लम्पट और शक्तिहीन जो मनुष्य तप नहीं करते उनके लंघन कराने वाले बहुत से कठिन रोग आकर प्राप्त होते हैं।

(२) इन्द्रिय लम्पटता से उत्पन्न महापाप से नरकादि दुर्गतियों में जाता है जहाँ तीव्र महा दु:ख और सैकड़ों महाक्लेश हर समय प्राप्त होते रहते हैं। **(मू.प्र. २११९-२०)**

(३) तप हीन मानव तृण, घास-फूस से भी हीन है।

(४) तपहीन को गुण छोड़ देते हैं, वह संसारावास से नहीं छूट सकता, वह सदा संसार में भ्रमण करता है। **(रा.वा. २७)**

(५) आलस्य, प्रमाद तथा सुखिया शरीर में स्नेहासक्त होने के कारण जो अपनी शक्ति अनुसार तप नहीं करता उसके कभी भावों की शुद्धि नहीं होती है। उसने तपस्या करने में माया रखी है।

(६) तपहीन शरीरासक्त जीव के धर्म में श्रद्धा नहीं रहती।

(७) सुखिया स्वभाव के कारण शक्ति को छुपाने वाला अपने आत्मा को ठगता है।

(८) शक्ति छिपाकर तप नहीं करने वाले को असाता कर्म बँधता है।

(९) माया कषाय से उत्पन्न सभी दोष तपहीन को लगते हैं।

(१०) उत्तम तपधर्म में प्रीति नहीं होने से आगामी काल में उसे धर्म कैसे सुलभ है ?

(११) तपहीन, तपस्या से होने वाले संवर-निर्जरा आदि समस्त गुणों से रहित होता है।

(१२) तपहीन के माया कषाय, मोहनीय और वीर्यान्तराय कर्मों का तीव्र बन्ध होता है। **(म. १५२८-३३)**

९८. प्रश्न : उत्तम त्याग धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सचेतन-अचेतन परिग्रह से निवृत्त होना उत्तम त्याग धर्म है। **(रा.वा. १८)**

मन, वचन, काय के तीनों योगों से अन्तरंग और बाह्य सब तरह के परिग्रहों में मूर्च्छा वा ममत्व का त्याग कर देना त्याग कहलाता है। **(मू.प्र. २९९१)**

मुनियों के लिए योग्य ऐसे आहारादि चीजें देना त्याग धर्म है। **(भ.आ.वि. ४६)**

सदाचारी पुरुष के द्वारा मुनि के लिए जो प्रेमपूर्वक आगम का व्याख्यान किया जाता है, पुस्तक दी जाती है, तथा संयम की साधनभूत पीछी आदि भी दी जाती है उसे त्याग धर्म कहते हैं। **(प.वि. १/१०१)** अपनी शुद्धात्मा को ग्रहण करके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की निवृत्ति सो त्याग है। **(प्र.सा.ता. २३९)**

९९. प्रश्न : उत्तम त्याग धर्म किसके होता है ?

उत्तर : जो मिष्ट भोजन को, राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले उपकरण को तथा ममत्व भाव के उत्पन्न होने में निमित्त वसति को छोड़ देता है उस मुनि के त्यागधर्म होता है। **(का.अ. ४०१)**

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जो जीव सारे परद्रव्यों के मोह को छोड़कर संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रूप परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म होता है। **(बा.अ. ७८)**

१००.प्रश्न : उत्तम त्याग किस प्रकार धारण करना चाहिए ?

उत्तर : उत्तम त्याग धर्म धारण करने के लिए त्याग धर्म के गुण एवं त्याग के अभाव में होने वाले दोषों का चिन्तन करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

उत्तर : जो गैरिक वस्त्र धारण करे परंतु हाथ में भिक्षापात्र न रखे तथा केश-दाढ़ी-मूँछ आदि को यत्नपूर्वक सँवारे, वह स्थविरकल्पी साधु है।

१०४. प्रश्न : जिनकल्पी साधु किसे कहते हैं ?

जो गृहस्थ के घर से लाया हुआ आहार, वस्त्र, पात्र, औषधि आदि ग्रहण नहीं करते, जो अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते, जो वन में अकेले रहते हैं, वे जिनकल्पी साधु हैं। (**वी.नि. ६०५५ वर्ष**)

१०५. प्रश्न : स्थविरकल्पी साधु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो गृहस्थ के घर से लाया हुआ आहार, वस्त्र, पात्र, औषधि आदि ग्रहण करते हैं, संघ में रहते हैं, शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, शिष्यों को पढ़ाते हैं, वे स्थविरकल्पी साधु हैं। (**वी.नि. ३०००**)

स्थविरकल्पी साधु के तीन भेद हैं - सूत्र स्थविर, अर्थ स्थविर और दीक्षा स्थविर। जो साधु कम से कम नौ वर्ष की दीक्षा लेकर, आचारांग सूत्र का अध्ययन कर लेता है, वह सूत्र स्थविर कहलाता है। जो साधु बीस वर्ष की दीक्षा लेकर, दृष्टिवाद सूत्र का अध्ययन कर लेता है, वह अर्थ स्थविर कहलाता है। जो साधु कम से कम तीस वर्ष की दीक्षा लेकर, साठ वर्ष की उम्र के बाद संयम में स्थिर होता है, वह दीक्षा स्थविर कहलाता है।

१०६. प्रश्न : प्रत्येकबुद्ध साधु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो किसी एक निमित्त को देखकर, स्वयं ही संसार से विरक्त होकर, दीक्षा लेकर, केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे प्रत्येकबुद्ध साधु कहलाते हैं।

१०७. प्रश्न : स्वयंबुद्ध साधु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो स्वयं ही संसार से विरक्त होकर, दीक्षा लेकर, केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे स्वयंबुद्ध साधु कहलाते हैं।

१०८. प्रश्न : बुद्धबोधित साधु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो गुरु के उपदेश से संसार से विरक्त होकर, दीक्षा लेकर, केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे बुद्धबोधित साधु कहलाते हैं।

१०९. प्रश्न : ज्ञानावरणीय कर्म के भेद कितने हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद हैं - (१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्ययज्ञानावरणीय, (५) केवलज्ञानावरणीय।

निजभावों को रोककर, निर्द्वन्द्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है उसके आकिञ्चन्य धर्म होता है। **(बा.अ. ७९)**

जो लोक व्यवहार से विरक्त मुनि चेतन और अचेतन परिग्रह को मन, वचन, काय से सर्वथा छोड़ देता है उसके निर्ग्रन्थपना अथवा आकिञ्चन्य धर्म होता है। **(का.अ. ४०२)**

१०५.प्रश्न : आकिञ्चन्य धर्म किस प्रकार धारण करना चाहिए ?

उत्तर : आकिञ्चन्य धर्म को धारण करने के लिए आकिञ्चन्य धर्म के गुणों का एवं परिग्रहादि के दोषों का चिन्तन करना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

१०६.प्रश्न : आकिञ्चन्य धर्म के कौन-कौन से गुण हैं ?

उत्तर : आकिञ्चन्य धर्म के गुण-

(१) जैसे-जैसे शरीरादि में निर्ममत्व बढ़ता जाता है वैसे-वैसे सज्जनों के पापों का निरोध होता जाता है।

(२) आकिञ्चन्य धर्म धारण करने से कर्मों की निर्जरा होती है।

(३) इन्द्रियों के विषयों एवं परिग्रहों के सुख का जितना त्याग कर सकते हैं उतना अवश्य कर देना चाहिए। तथा जिनका त्याग नहीं कर सकता उनमें समस्त दोषों का कारण ममत्व अवश्य छोड़ देना चाहिए। क्योंकि जो परिग्रह का एवं ममत्व का त्याग करते हैं उनके धर्म का सागर आकिञ्चन्य धर्म होता है। **(मू.प्र. ३००१-४)**

(४) निर्ग्रन्थता से अन्त में प्राप्त होने वाली अन्तरहित मोक्षलक्ष्मी स्वयं प्राप्त होती है।

(५) इस असंगता की इन्द्र भी सेवा करने में तत्पर रहते हैं और दुष्ट काम भी किंकर बन जाता है।

(६) परिग्रह पिशाच के छूट जाने से आत्मीय आनन्द रूपी अमृत को झराने वाली चित्त सन्तति किसके द्वारा वर्णनीय नहीं है। **(आ.सा. ५/६५-६७)**

१०७.प्रश्न : आकिञ्चन्य धर्म का पालन नहीं करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो परिग्रहादिकों में ममत्व धारण करते हैं उनके समस्त दोषों के समूह आ उपस्थित होते हैं **(मू.प्र. ३००४)** जो सचित्त और अचित्त रूप इस परिग्रह के संग्रह में तत्पर रहते हैं, तथा जिनका मन अपने अधीन नहीं है ऐसे पुरुष दूसरों के द्वारा की हुई मानहानि तथा प्राणहानि आदि अनेक कलेशों को प्राप्त होते हैं। **(आ.सा. ५/६३)**

नोट - परिग्रह के दोष, निष्परिग्रहता से लाभ आदि सातवें अध्याय में कहे गये हैं।

१०८.प्रश्न : उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस (ब्रह्मचर्य) महाव्रत के महात्म्य से असंयमी जन में भी महाविद्याएँ सेवा में तत्पर रहती हुई अच्छी तरह निवास करती हैं, वह ब्रह्मचर्य व्रत नाम से देवव्रत माना गया है। **(आ.सा. ५/५७)**

अस्वतन्त्रता के लिए गुरु रूप ब्रह्म में आचरण करना ब्रह्मचर्य है, ब्रह्म (गुरु) उसके अधीन अपनी प्रवृत्ति रखना, स्वच्छन्द नहीं बनना, गुरु की आज्ञापूर्वक चलना ब्रह्मचर्य कहलाता है। **(रा.वा. २३)**

राग-द्वेष को त्याग करने वाले जो पुरुष अपने मन रूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को अपनी माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है।

स्त्री-पुरुष और नपुंसक अकेले भी रहें परन्तु वेद नोकषाय के तीव्र उदय से उन्हें जो स्त्री-पुरुष अथवा दोनों की इच्छा होती है, परस्पर रमण करने का भाव होता है वह अब्रह्म है। जो उस अब्रह्म-काम से उन्मथित, पीड़ित नहीं हुआ है वह ब्रह्मचर्य माना गया है। **(आ.सा. ५/५५-५६)**

१०९.प्रश्न : ब्रह्मचर्य धर्म किसके होता है ?

उत्तर : जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सारे सुन्दर अंगों को देखकर उनमें रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्य को धारण करता है। **(बा.अ. ८०)** जो मुनि स्त्रियों के संग से बचता है, उनके रूप को नहीं देखता, काम-कथादि नहीं करता, उसके नवधा ब्रह्मचर्य होता है। **(का.अ. ४०३)**

११०.प्रश्न : ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए किस-किस का त्याग करना चाहिए ?

उत्तर : ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए निम्नलिखित कामों को छोड़ देना चाहिए-

अनुभूत अंगना का स्मरण - मैंने उस कलागुण विशारदा स्त्री को भोगा था, इस प्रकार चिंतन करना अनुभूत अंगना का स्मरण है।

तत्कथा स्मरण - ललना सम्बन्धी वार्ताओं को रुचिपूर्वक सुनना तत्कथा स्मरण है।

स्त्री संसक्त शय्यासन - रतिकालीन गन्ध द्रव्यों की सुवास से सुवासित और स्त्रियों से संसक्त शय्या-आसन-स्थान स्त्री-संसक्त शय्यासन है।

(१) बहुत सा आहार करना (२) अपने शरीर को तथा मुख को स्वच्छ शुद्ध रखना, (३) गंध लगाना वा माला पहनना, (४) गीत-बाजे सुनना, (५) रागोत्पादक और स्त्री-पुरुषों के चित्रों से सुशोभित भवन में कोमल शय्या पर सोना वा बैठना, (६) स्त्रियों की संगति करना, (७) भोग भोगने के लिए धन, वस्त्रादि का ग्रहण करना, (८) पहले भोगे हुए भोगों का अपने मन में स्मरण करना, (९) इन्द्रियों के विषयों में रत होने की लालसा रखना और (१०) समस्त रसों का सेवन करना ये दश ब्रह्मचर्य से घातक कारण हैं। जो मुनि इन दशों का त्याग कर देता है वही दृढव्रती कहलाता है, अन्य नहीं। **(मू.प्र. २६१८-२१)**

१११.प्रश्न : अब्रह्म सेवन से क्या-क्या दोष होते हैं ?

उत्तर : अब्रह्म के दोष-

(१) कामी पुरुषों का हृदय कभी शुद्ध नहीं हो सकता अत: उनका कल्याण नहीं हो सकता है। **(मू.प्र. ३००८)**

(२) ग्लानि, मूर्च्छा, भ्रम, कम्पन, श्रम, स्वेद, अंगविकार और क्षय रोग मैथुन से उत्पन्न होते हैं। **(ज्ञा. १३/१२)**

(३) काम से ठगा हुआ मनुष्य चतुर भी मूर्ख हो जाता है, क्षमावान् क्रोधी हो जाता है, शूर-वीर कायर हो जाता है, गुरु लघु हो जाता है, उद्यमी आलसी हो जाता है और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है, काम ऐसा प्रबल है। **(ज्ञा. ११/४०)**

(४) मदन की व्यथा बहुत दिन से बढ़ाये तथा पाले हुए चारित्र को ध्वंस कर देती है।

(५) शास्त्राध्ययन, धैर्य और सत्य भाषणादि को भी बन्द (भुला देती) कर देती है।

(६) जिसके काम रूपी काँटा चुभता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, भोजन करने में तथा स्वजनों में क्षण-भर भी स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है।

(७) कामबाणों से जर्जरित हुए मन में निमेष मात्र भी विवेक रूपी अमृत की बूंद नहीं ठहर सकती है। **(ज्ञा. ११/३५-४५)**

११२.प्रश्न : ब्रह्मचर्य पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : ब्रह्मचर्य पालन से लाभ

(१) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले मानवों को हिंसादि दोष स्पर्श नहीं करते हैं।

(२) नित्य गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी को सर्व गुण रूपी सम्पदाएँ सहज प्राप्त होती हैं। **(रा.वा. २७)**

(३) ब्रह्मचारियों का हृदय शुद्ध होने से उनको परम धर्म की प्राप्ति होती है।

(४) ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मुक्ति स्त्री समस्त गुणों के साथ आकर स्वयं स्वीकार करती है, फिर स्वर्ग की लक्ष्मी की क्या बात। **(मू.प्र. ३००६-८)**

११३.प्रश्न : गुप्ति और समिति में दस धर्मों का अन्तर्भाव होता है अत: पृथक् कथन नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : अन्वर्थ संज्ञा का प्रतिपादन करने के लिए दस धर्मों का पृथक् कथन किया है अत: पुनरुक्त दोष नहीं है। यद्यपि ये सभी धर्म गुप्ति-समितियों में अन्तर्भूत हो जाते हैं ऐसा कोई कहते हैं तथापि इन धर्मों में संवर को धारण करने का सामर्थ्य है। अत: धारण का सामर्थ्य होने से सार्थक संज्ञा का प्रतिपादन करने के लिए पुन: दस धर्मों का कथन किया है। **(रा.वा. २४)**

सप्त प्रकार के प्रतिक्रमण गुप्ति आदि की प्रतिष्ठा के लिए किये जाते हैं, उसी प्रकार उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों की भावना भी गुप्ति आदि के परिपालन के लिए ही है। अत: गुप्ति और समिति में दस धर्मों का अन्तर्भाव होने पर भी पृथक् उपदेश किया है जो युक्त है। **(रा.वा. २५)**

११४.प्रश्न : सात प्रकार के प्रतिक्रमण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : (१) ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण (२) रात्रिक प्रतिक्रमण (३) दैवसिक प्रतिक्रमण (४) पाक्षिक प्रतिक्रमण (५) चातुर्मासिक प्रतिक्रमण (६) सांवत्सरिक प्रतिक्रमण (७) उत्तमार्थ प्रतिक्रमण। **(रा.वा. २५)**

ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण - ईर्यापथ से चलते हुए मार्ग में छह जीव निकाय के विषय में जो अतिचार हुआ है उसको दूर करना ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है।

रात्रिक प्रतिक्रमण - रात्रि विषयक अतिचार जो कि कृत-कारित व अनुमोदना से किये गये हैं एवं नाम, स्थापना आदि छह निमित्तों से हुए हैं, उनका मन-वचन-काय से निरसन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

दैवसिक प्रतिक्रमण - दिवस में हुए दोषों का प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण है। दिन में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से कृत-कारित और अनुमोदना रूप जो अतिचार हुए हैं उनका मन-वचन-काय से शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण - पक्ष सम्बन्धी पन्द्रह दिन-रात विषयक जो दोष हुए हैं, जो कृत-कारित-अनुमोदना से एवं नाम आदि छह के आश्रय से हुए हैं उनका मन-वचन-काय से शोधन करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण - चार महीने सम्बन्धी प्रतिक्रमण चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण - एक वर्ष सम्बन्धी सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मास एवं वर्ष के मध्य हुए अतिचार जो कि नाम, स्थापना आदि छह कारणों से अथवा बहुत से भेदों सहित और कृत, कारित, अनुमोदना से होते हैं उनको मन-वचन-काय से दूर करना सो चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण है।

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण - उत्तम अर्थ सल्लेखना से संबंधित प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। इसमें यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् मरणान्त समय जो सल्लेखना ली जाती है उसी में चार प्रकार के आहार का त्याग करके दीक्षित जीवन के सर्व दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है। सर्वातिचार प्रतिक्रमण का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। **(मू. ६१५ आ.)**

११५.प्रश्न : क्षमा आदि धर्मों में उत्तम विशेषण किसलिए दिया है ?

उत्तर : क्षमा आदि धर्मों में दिया गया 'उत्तम' विशेषण दृष्ट प्रयोजन के निराकरण के लिए है। यत् किञ्चित् दृष्ट प्रयोजन का उद्देश्य लेकर नहीं किये गये हैं। क्षमादि धर्म संवर के कारण होते हैं। इस प्रकार इस विशेषता की सूचना देने के लिए उत्तम विशेषण दिया गया है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि। **(रा.वा. २६)**

उत्तम शब्द सबके साथ लगा हुआ है। इसका अर्थ यह है कि उत्तमता से पूर्ण रूप से पालन करना अथवा सब मायाजालों से हटकर आत्मस्वरूप में तल्लीन होना वह धर्म कहलाता है।

११६.प्रश्न : सूत्र में 'धर्मः' इस प्रकार एक वचन क्यों किया है ?

उत्तर : सभी क्षमादि धर्मों में एक संवर रूप धर्म पाया जाता है, वह एक है अतः उस संवर रूप धर्म की प्रधानता से धर्मशब्द में एकवचन का निर्देश किया गया है।

नोट - धर्म शब्द नित्य पुल्लिंग है अतः ब्रह्मचर्याणि के साथ भी वह अपना लिंग नहीं छोड़ता है। **(रा.वा. २८)**

११७.प्रश्न : धर्म की प्राप्ति किन-किन से होती है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन धारण करने से, जिनेन्द्रदेव के चरणों की भक्ति से, तत्त्व श्रद्धा से, शास्त्राभ्यास से, मुनिव्रत पालन से, गृहस्थ धर्म पालन से, सत्पात्र दान से, जिनेन्द्रदेव की पूजन से, कठिन तपश्चरण से, बारह भावनाओं के चिन्तन से धर्म की प्राप्ति होती है। **(शा. पु. ८/२०-२३)**

रत्नत्रय से, क्षमादि धर्मों से, धर्म के उपदेश से, दूसरों का उपकार करने से, मन, वचन, काय को शुद्ध करने से, कायोत्सर्ग से, धर्म्य-शुक्ल ध्यान से, श्रेष्ठ मंत्रों के जाप से तथा जिनेन्द्रपूजा आदि धर्म के साधन हैं। **(शा. पु. ६/२२-२६)**

अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षाओं के नाम

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधि-दुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

अनित्य-अशरण-संसार-एकत्व-अन्यत्व-अशुचि-आस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्म सु-आख्यातत्व-अनुचिन्तनं-अनुप्रेक्षाः।

अर्थ - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, तथा बोधिदुर्लभ, धर्म रूप स्वतत्त्व का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

अनित्य भावना - उपात्त और अनुपात्त द्रव्य के संयोग के व्यभिचार स्वभाव का चिन्तन करना अनित्य भावना है।

अशरण भावना - क्षुधित व्याघ्र के पंजों से पकड़े हुए हरिण के बच्चे के समान जन्म, जरा, रोग, मृत्यु से व्याप्त जन्तु का रक्षक कोई नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करना अशरण भावना है।

संसार भावना - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के निमित्त से उत्पन्न संसार के स्वभाव का चिन्तन करना संसार भावना है।

एकत्व भावना - जन्म, जरा, मरण की आवृत्ति में महादु:खों का अनुभवन करने में दूसरा कोई सहायक नहीं है, जीव अकेला ही सुख-दु:ख का भोक्ता है, ऐसा चिन्तन करना एकत्व भावना है।

अन्यत्व भावना - लक्षण भेद से शरीर से भिन्न आत्मा का चिन्तन करना अन्यत्व भावना है।

अशुचित्व भावना - शरीर में आदि और उत्तर दोनों ही कारणों से अशुचित्व है, इस प्रकार चिन्तन करना अशुचित्व भावना है।

आस्रव भावना - आस्रव के दोषों का विचार करना आस्रव भावना है।

संवर भावना - संवर के गुणों का चिन्तन करना संवर भावना है।

निर्जरा भावना - निर्जरा के गुण-दोषों का चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

लोक भावना - लोक संस्थान का वर्णन करना लोक भावना है।

बोधिदुर्लभ भावना - त्रस-पर्यायादि के लाभ से भी दुष्प्राप्य बोधिदुर्लभत्व है, ऐसा चिंतन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

धर्मस्वाख्यातत्व भावना - जीवस्थान और गुणस्थानों का गति आदि मार्गणाओं में अन्वेषण रूप धर्म जिनशासन में स्वाख्यात अच्छी तरह कहा गया है, यह भावना धर्म स्वाख्यातत्व है। **(रा.वा.)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : क्षमादि विशेष प्रत्यनीक का अवलम्बन लेने से क्रोधादिक की उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा कहा है, परन्तु किसका अवलम्बन लेने से यह आत्मा क्षमादि भावों को प्राप्त होता है अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करता? संतप्त लोहपिण्ड के समान क्षमादि से परिणत आत्महितैषी के द्वारा करने योग्य कार्य क्या है ? ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ७)**

२. प्रश्न : भावनाएँ कितनी होती हैं ?

उत्तर : भावनाएँ बारह हैं-

(१) अनित्य भावना (२) अशरण भावना (३) संसार भावना (४) एकत्व भावना (५) अन्यत्व-भावना (६) अशुचि भावना (७) आस्रव भावना (८) संवर भावना (९) निर्जरा भावना (१०) लोक भावना (११) बोधिदुर्लभ भावना (१२) धर्म भावना।

(१) अध्रुव भावना (२) अशरण भावना (३) एकत्व भावना (४) अन्यत्व भावना (५) संसार भावना (६) लोक भावना (७) अशुचित्व भावना (८) आस्रव भावना (९) संवर भावना (१०) निर्जरा भावना (११) धर्म भावना (१२) बोधि। ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं। **(भ.आ. १७१०)**

नोट - भावना का लक्षण देखें। **(७/३)**

३. प्रश्न : अनित्य भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : ये समुदाय रूप शरीर, इन्द्रिय विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले हैं तथा गर्भादि अवस्था विशेषों में सदा प्राप्त होने वाले संयोगों से विपरीत स्वभाव वाले हैं, मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है। पर वस्तुत: आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवा इस संसार में अन्य कोई पदार्थ ध्रुव नहीं है। इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। **(सर्वा. ७९९)**

जब जीव के साथ क्षीरनीरवत् निबद्ध यह शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है, तो भोगोपभोग के कारण ये दूसरे पदार्थ किस तरह नित्य हो सकते हैं ? (इस प्रकार चिन्तन करना अनित्य भावना है।) **(बा.अ. ६)**

यह शरीर, आयु, सुख, राज्य, भवन और धन आदि अनित्य हैं और इन्द्रधनुष के समान क्षणभंगुर हैं, यौवन बुढ़ापे से घिरा हुआ है, आयु यमराज के मुख में ही रह रही है, भोग रोगों से मिले हुए हैं, सुखों के आगे सदा दु:ख ही बने रहते हैं। इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के जितने उत्तम पद हैं वे भी सदा रहने वाले नहीं हैं, इन्द्रिय आरोग्य, सामर्थ्य और बल बादल के समान थोड़ी देर रहने वाले हैं। चंचल स्त्रियाँ सांकल के समान बाँधने वाली हैं, घर कारावास के समान है, रूप क्षणभंगुर है, जीवन बिजली के समान चंचल है, सम्पत्तियाँ विपत्तियों के साथ रहती हैं, इस प्रकार समस्त पदार्थ क्षणभंगुर हैं। यह पापी यमराज समय-समय के अनुसार थोड़ा-थोड़ा चलकर जन्म पर्यन्त सवेरे से शाम तक अनेक जीवों को अपने पास बुला लेता है। संसार के सभी सुन्दर पदार्थ काल रूपी अग्नि में भस्म हो जाते हैं, इस प्रकार चिन्तन करना अनित्य भावना है। **(मू.प्र. ३०२२-२८)**

४. प्रश्न : अनित्य भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अनित्य भावना का चिन्तन करने वाले प्राणी के इन सांसारिक पदार्थों में आसक्ति का अभाव होने से भोग कर छोड़ी हुई माला, गन्ध आदि के समान इन पदार्थों के वियोग काल में मानसिक ताप नहीं होता है। **(रा.वा. १)**

यह संसार अनित्य है, इसमें किसी की रक्षा नहीं है, जन्म, मरण रूपी महारोग से युक्त है तथा मैं पहले, मैं पहले करके मिथ्यात्व रूप पदार्थों से घिरा हुआ है। ऐसा विचार कर निर्मल बुद्धि वाले धर्मात्मा सन्त पुरुष उस संसार से छूटने के लिए निष्पाप जैन तप करने में प्रवृत्त हुए हैं। संसार का समस्त सुख बिजली

के समान चंचल और तृष्णा के समूह को एकत्र करने में दक्ष है, तृष्णा बढ़ने से संताप होता है, वह संताप आग की तरह मन को जलाता है। उससे प्राणियों को अत्यन्त खेद होता है, ऐसा मन में विचार कर विद्वज्जन पवित्र जैन धर्म में लीन होते हैं। **(सु.र.सं. १३/२३-२४)** ऐसी भावना वाले पुरुष के उन पदार्थों का वियोग होने पर भी जूठे भोजन के समान दुख नहीं होता। उनमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद, अभेद रूप रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है। जैसी अविनश्वर आत्मा को भाता है वैसी ही अक्षय अनन्त सुख स्वभाव वाली मुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है। **(वृ.द्र.सं.टी. ३५)**

५. प्रश्न : अशरण भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैसे- भूख से व्याकुल मांसाहारी बलवन्त व्याघ्र के द्वारा भयंकर अठवी में पकड़े हुए हरिण के बच्चे को छुड़ाने के लिए कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार इस संसार रूपी अटवी में जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, प्रियजन का वियोग, अनिष्ट जन का संयोग, इच्छित वस्तु का अलाभ, दारिद्र्य और मानसिक व्यथा आदि से उत्पन्न दु:खों से ग्रस्त जन्तु को कोई शरण नहीं है। यह परिपुष्ट शरीर भी मात्र भोजन में सहायक है, दु:ख आने पर सहायक नहीं होता है। प्रयत्न पूर्वक संचय किया गया धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता है। सुख-दु:ख में साथ रहने वाले मित्रगण भी मरण के समय रक्षा नहीं कर सकते। बान्धवों का समुदाय भी रोग से घिरे हुए प्राणी को बचा नहीं सकता, उसका रोग मिटा नहीं सकता, इस प्रकार चिन्तन करना अशरण भावना है। **(रा.वा. २)**

६. प्रश्न : शरण कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : शरण दो प्रकार के होते हैं-

(१) लौकिक शरण (२) लोकोत्तर शरण।

लौकिक शरण तीन प्रकार के हैं-

(१) जीव (२) अजीव (३) मित्र।

जीव शरण - राजा, देवता, स्वामी आदि लौकिक जीव शरण हैं।

अजीव शरण - परकोटा, खातिका आदि लौकिक अजीव शरण हैं।

मिश्र शरण - ग्राम, नगर आदि मिश्र लौकिक शरण हैं।

अलौकिक शरण तीन प्रकार के हैं।

(१) जीव (२) अजीव (३) मिश्र।

जीव - पंच परमेष्ठी लोकोत्तर जीव शरण हैं।

अजीव - पंच परमेष्ठी के प्रतिबिम्ब लोकोत्तर अजीव शरण हैं।

मिश्र - धर्मोपकरण सहित साधु वर्ग लोकोत्तर मिश्रशरण हैं। **(रा.वा. २)**

७. प्रश्न : संसार में शरण कौन हैं ?

उत्तर : यदि कोई एक मात्र तरण उपाय है, वा संसार में जीव का कोई रक्षक है तो वह अच्छी तरह आचरण किया गया धर्म ही है। यही आपत्ति रूप महासमुद्र से पार उतार सकता है। मृत्यु के जाल में पड़े हुए प्राणी को इन्द्र आदि भी नहीं बचा सकते अत: संसार के दु:खों से बचाने वाला धर्म ही शरण है। मित्र, धन, पुत्र, पौत्रादिक कोई भी अनपायी शरण नहीं है। **(रा.वा. २)**

बुद्धिमानों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वत्र समस्त आपत्तियों में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ही शरण हैं। अथवा - इन्हीं पंच परमेष्ठियों के द्वारा कहा हुआ तथा परलोक में भी इस जीव के साथ जाने वाला सर्वोत्कृष्ट और यमराज का नाश करने वाला ऐसा रत्नत्रय रूप धर्म ही सज्जनों को शरण होता है। जो जीव संसार से भयभीत हैं उनके लिए जन्म-मृत्यु के दु:खों को दूर करने वाला सर्वोत्कृष्ट यह जिन-शासन ही शरणभूत है। **(मू.प्र. ३०३४)**

यथार्थ में अर्हन्त, सिद्ध, साधु, केवली भाषित धर्म, तप, दान, जिनपूजा, जप, रत्नत्रय आदि ही शरण हैं।

जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदि से आत्मा ही अपनी रक्षा करता है, इसलिए वास्तव में जो कर्मों का बन्ध, उदय और सत्ता अवस्था से जुदा है वह आत्मा ही इस संसार में शरण है। **(बा.अ.११)** इस असार संसार में अनन्त गुणों का समुद्र सर्वथा निश्चल रहने वाला एवं अनन्त सुखप्रदायक मोक्षपद ही मनुष्यों को शरण है। **(शांति पु. १५/२८)**

हे भव्य! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र शरण हैं। परम श्रद्धा के साथ इन्हीं का सेवन करो। **(का.अ.-३०)**

८. प्रश्न : अशरण भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : 'मैं अशरण हूँ' इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन करने वाले पुरुष के भय का उद्वेग आने पर सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व नहीं रहता है और केवली भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ प्रणीत वचनों की ओर ही उसका चित्त जाता है। **(रा.वा. २)**

यह समस्त जगत् समस्त प्राणी समुदाय का विनाश करने वाली निर्दयी मृत्यु से घिरा है जिसकी शक्ति का वारण अशक्य जैसा है। यह देखकर शान्त बुद्धि वाले सन्त पुरुष जिनेश्वर की तप रूपी साम्राज्य लक्ष्मी का आश्रय लेकर मृत्यु के विनाश के लिए रत्नत्रय परिणामों को ग्रहण करते हैं। **(सु.र.सं.१२/२६)**

९. प्रश्न : संसार की अशरणता को जानकर क्या करना चाहिए?

उत्तर : इस प्रकार असार संसार को अशरण एवं सुख से अत्यन्त दूर समझ कर बुद्धिमानों को तप एवं रत्नत्रय आदि के अवलम्बन द्वारा निश्चल रहने वाला मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिए। **(शा. पु. १५/२९)** वस्तुत: जब काल समक्ष आता है तब मांत्रिक एवं सारी औषधियाँ व्यर्थ हो जाती हैं जगत् में भव्यों

की रक्षा करने वाला केवल जैन साधु एवं केवली द्वारा उपदिष्ट धर्म है। इसके अतिरिक्त तप, दान, जिन पूजा, जप, रत्नत्रय आदि भी अनिष्ट एवं पापों के विध्वसंक हैं। जो बुद्धिमान संसार से भयभीत हो कर अर्हंत आदि की शरण में जाते हैं वे शीघ्र ही उनके सदृश गुणों की प्राप्ति कर परमात्म पद को प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु जो मूर्ख चण्डी-क्षेत्रपाल आदि मिथ्यात्वी देवों की शरण ग्रहण करते हैं, वे नरक रूपी समुद्र में पतित होते हैं। ऐसा विचार कर बुद्धिमानों को पंच परमेष्ठी की तथा तप-धर्मादि की शरण ग्रहण करनी चाहिए, जो सर्वथा दु:खों को विनष्ट करने वाली है। रत्नत्रयादि के द्वारा मोक्षकी अन्तिम शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि वह अत्यन्त गुणों से युक्त एवं अनन्त सुख का समुद्र है। **(महा.पु. ११)**

१०. प्रश्न : संसार भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्यादि भेद रूप तथा अनेक लाख कुल कोटियों से व्याप्त संसार में यह जीव कर्म रूपी यंत्र से प्रेरित होकर परिभ्रमण करता हुआ कभी पिता होकर भाई, पुत्र तथा पौत्र होता है; कभी माता होकर बहिन, स्त्री, पुत्री, पौत्री हो जाता है, अधिक क्या कहा जाय स्वयं अपना पुत्र भी हो जाता है, इस प्रकार संसार के स्वभाव का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। **(रा.वा. ३)**

संसारी जीव सैकड़ों जन्म, मरण, जरा, दु:ख, रोग, क्लेश, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि को प्राप्त होते हैं, सैकड़ों अपमानों को सहते हैं, दरिद्रता, दुर्भाग्य, विरह आदि को प्राप्त होते हैं, यह संसार महादु:ख-मय है, अपने-अपने कर्मोदय से नरक, जल, स्थल वा आकाश में उत्पन्न होते हैं और पराधीन होकर मरते हैं, इस प्रकार चिन्तन करना संसार भावना है। **(मू.प्र. ३०४५-४९)**

यह संसार समुद्र के समान है जिसमें दु:ख रूपी जल भरा है, यह चौरासी लाख योनियों से व्याप्त है, अनन्तकाय साधारण वनस्पति रूप जिसमें पाताल है, विचित्र चार गतिरूप वेलापत्तन जिसके तट पर स्थित हैं, यह राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ और मोह आदि रूप भयंकर मगरमच्छादि जलचर जीवों से भरा है, एकेन्द्रिय आदि अनेक जाति रूप जिसमें लहरें उछल रही हैं, त्रस-स्थावर जीव रूप बुलबुले जिसमें उठ रहे हैं, और जन्म, मरण, जरा, आवर्त्त जिसमें हैं ऐसे संसार रूपी समुद्र में कर्म रूपी खेवटिया द्वारा चलाया गया यह जीव रूपी जहाज चिरकाल से सतत भ्रमण कर रहा है। **(म.क. १८५९-६१)**

११. प्रश्न : संसार कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संसार चार प्रकार का है-

(१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव। **(मू. ७०६)**

संसार पाँच प्रकार का होता है-

(१) द्रव्य संसार (२) क्षेत्र संसार (३) काल संसार (४) भव संसार (५) भाव संसार। **(बृ. द्र.सं. टी. ३५)** सामान्य संसरण की अपेक्षा संसार एक प्रकार का है, दो प्रकार, तीन प्रकार, चार प्रकार पाँच प्रकार तथा छह प्रकार आदि भेदों वाला है। **(मू. ७०७)**

नोट - संसार के भेदों का विशेष देखें- **(२/१०)**

१२. प्रश्न : द्रव्य संसार कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : द्रव्य संसार चार प्रकार का है-

(१) कर्म (२) नोकर्म (३) वस्तु (४) विषय। **(रा.वा. ३)**

अथवा - द्रव्य संसार दो प्रकार का है-

(१) कर्म द्रव्य संसार (२) नोकर्म द्रव्य संसार।

कर्म द्रव्य संसार - कर्म द्रव्य संसार ज्ञानावरणादि कर्मों के विषयभूत है।

नोकर्म द्रव्य संसार - नोकर्म द्रव्य संसार औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीर तथा आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान, भाषा और मन इन छह पर्याप्तियों के विषयभूत है। **(चा.सा. २४१)**

१३. प्रश्न : क्षेत्र संसार कितने प्रकार का है ?

उत्तर : क्षेत्र संसार दो प्रकार का है-

(१) स्वक्षेत्र संसार (२) परक्षेत्र संसार।

स्वक्षेत्र संसार - लोकाकाश तुल्य असंख्यात प्रदेशी जीव का कर्मोदयवश संहरण, विसर्पण स्वभाव के कारण छोटे-बड़े शरीर में रहना तथा शरीर प्रमाण आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार करके रहना स्वक्षेत्र संसार है।

परक्षेत्र संसार - सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद जन्म तथा सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, शीतोष्ण, सचित्ताचित्त और संवृत विवृत, इन नौ प्रकार की योनियों का अवलम्बन लेकर जो जन्म-मरणादि है वह परक्षेत्र संसार है। **(रा.वा.३)**

१४. प्रश्न : काल संसार कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : काल संसार दो प्रकार का है-

(१) परमार्थ काल संसार (२) व्यवहार काल संसार।

परमार्थ काल संसार - परमार्थ काल रूप सामान्य वर्तना के द्वारा होने वाली परिस्पन्द रूप क्रिया और अपरिस्पन्द रूप परिणाम यह तो जीव का परमार्थ काल संसार है।

व्यवहार काल संसार - उस निश्चय काल पूर्वक जो उपचरित काल व्यवहार होता है, भूत-भविष्यत् वर्तमान व्यवहार भेद रूप वह जीव का व्यवहार काल कहलाता है। **(रा.वा. ३)**

१५. प्रश्न : भवनिमित्तक संसार कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : भव निमित्तक संसार बत्तीस प्रकार का है-

(१) पृथ्वीकायिक सूक्ष्म (२) पृथ्वी कायिक बादर (३) जलकायिक सूक्ष्म (४) जलकायिक बादर (५) अग्निकायिक सूक्ष्म (६) अग्निकायिक बादर (७) वायुकायिक सूक्ष्म (८) वायुकायिक बादर, ये आठों पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी अत: सोलह भेद हुए।

प्रत्येक वनस्पति के दो भेद-पर्याप्तक-अपर्याप्तक। साधारण वनस्पति के चार भेद हैं- सूक्ष्म पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर पर्याप्त-अपर्याप्त। विकलत्रय के छह भेद हैं- द्वीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त। पंचेन्द्रिय के चार भेद हैं संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त, असंज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त।

इस प्रकार १६+२+४+६+४ = बत्तीस प्रकार का भवनिमित्तक संसार है। **(रा.वा. ३)**

१६. प्रश्न : भाव निमित्तक संसार कितने प्रकार का है ?

उत्तर : भाव निमित्तक संसार दो प्रकार का है-

(१) स्वभाव निमित्तक (२) परभाव निमित्तक।

स्वभावनिमित्तक संसार - मिथ्यादर्शन, अविरति, कषायादि रूप संसार स्वभावाश्रय है। मिथ्यादर्शनादि आत्मा के ही विभाव स्वभाव हैं इसलिए उनके निमित्त से होने वाला संसारावास स्वभावाश्रय कहलाता है। **(रा.वा. ३)**

परभावाश्रय संसार - ज्ञानावरणादि कर्म का रूप - रसादि योग से परभावाश्रय संसार है। **(रा.वा.३)**

१७. प्रश्न : आत्मा की कितने प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं ?

उत्तर : आत्मा की चार प्रकार की अवस्थाएँ हैं-

(१) संसार अवस्था (२) असंसार-अवस्था (३) नो संसार अवस्था (४) इन तीनों से विलक्षण अवस्था।

संसारावस्था - नारकी, तिर्यञ्च, देव और मनुष्य इन चारों गतियों में स्थित नाना योनियों में परिभ्रमण करना संसारावस्था है।

असंसारावस्था - पुन: जन्म नहीं लेना, शिवपदप्राप्ति या परम अमृत रूप सुख, प्रतिष्ठा असंसारावस्था है।

नो संसारावस्था - चतुर्गति में भ्रमण का अभाव होने से तथा अभी असंसार की प्राप्ति का अभाव होने से सयोग केवली की ईषत् संसार या नोसंसार अवस्था है।

तीनों से विलक्षणावस्था - अयोग केवली इन तीनों से विलक्षण हैं। इनके चतुर्गति भ्रमण का तो अभाव है, असंसार अवस्था अभी प्राप्त नहीं है और सयोग केवली के समान इनके आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन भी नहीं है अत: अयोगकेवली की अवस्था इन तीनों से विलक्षण है। **(रा.वा. ३)**

नोट - जब तक शरीर परिस्पन्दन न होने पर भी निरन्तर आत्मप्रदेशों का चलन होता रहता है तब तक संसार है। सिद्ध और अयोग केवलियों के आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन नहीं होता है। **(रा.वा. ३)**

१८. प्रश्न : क्या आत्मा के सभी प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है ?

उत्तर : सिद्ध एवं अयोगकेवलियों को छोड़कर अन्य सर्व जीवों के मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता रहता है, उसमें कुछ प्रदेश तो अचल हैं, कुछ चल हैं तथा कुछ चला-चल हैं अत: तीन प्रकार के प्रदेश हैं। **(रा.वा. २)**

१९. प्रश्न : किन-किन जीवों के कितना-कितना संसार है ?

उत्तर : अभव्य एवं भव्य सामान्य की अपेक्षा संसार अनादि-अनन्त है।

भव्य विशेष की अपेक्षा अनादि और उच्छेद वाला (सान्त) है।

नो संसार (सयोग केवली) सादि और सनिधन (सान्त) है।

असंसार सादि और अनिधन है।

तीनों से विलक्षण अयोग केवली का काल अन्तर्मुहूर्त्त है। **(रा.वा ३)**

२०. प्रश्न : संसार को समझने के लिए किन-किन बातों का विचार करना चाहिए ?

उत्तर : छह अनुयोगों से संसार को समझना चाहिए-

(१) संसार क्या है (२) संसार किस प्रकार से है (३) संसार किसके है (४) संसार कहाँ है (५) संसार कितने काल तक है और (६) संसार कितने प्रकार का है ?

संसार क्या है - संसरण करना संसार है जो चारों गतियों में गमन रूप है।

संसार किस प्रकार से है ? - औदयिक आदि भावों से संसार होता है।

संसार किसके होता है ? - जो आठ कर्मों से सहित है ऐसे नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव-रूप संसारी जीवों के संसार होता है।

संसार कहाँ है- मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन भावों में संसार है अथवा - तिर्यक्लोक में संसार है।

कितने काल तक संसार है ? - संसार अनादि-अनन्त है (अभव्यापेक्षा) और (भव्यापेक्षा) अनादि-सान्त है। **(मू. ७०७ आ.)**

नोट - संसार के भेद देखें- **(९/७)**

२१. प्रश्न : संसार भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : संसार-भावना का चिन्तन करने वाले को संसार से भय होता है, उद्वेग होता है, उसे संसार से विरक्ति हो जाती है और वह संसार के नाश का प्रयत्न करता है। **(रा.वा. ३)** पाँच प्रकार के संसार का चिन्तन करते हुए इस जीव के संसार रहित निज शुद्धात्म संवेदन का नाश करने वाले तथा संसार की वृद्धि के कारण-भूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं उनमें परिणाम नहीं जाता, किन्तु वह संसारातीत सुख के अनुभव में लीन होकर निज शुद्धात्मज्ञान के बल से संसार को नष्ट करने वाले निज निरंजन परमात्मा में भावना करता है। तदनन्तर जिस प्रकार के परमात्मा को भाता है उसी प्रकार के परमात्मा को प्राप्त होकर संसार से विलक्षण मोक्ष में अनन्त काल तक रहता है। **(वृ. द्र. सं. ३५ टी.)**

२२. प्रश्न : इस प्रकार संसार को जान कर क्या करना चाहिए ?

उत्तर : इस प्रकार संसार को जानकर और सम्यक् व्रत, ध्यान आदि समस्त उपायों से मोह को त्याग कर अपने उस शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करो, जिससे पाँच प्रकार के संसार- परिभ्रमण का नाश होता है। **(का.अ. ७३)**

जो जीव संसार से पार हो गया है, वह तो उपादेय अर्थात् ध्यान करने योग्य है ऐसा विचार करना चाहिए और जो संसार रूपी दु:खों से घिरा हुआ है वह हेय है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। **(बा.अ. ३८)** धर्म के अभाव में ही संसारी प्राणी को भव-भव में भटकना पड़ता है अत एव भव्यों को बड़े यत्नपूर्वक धर्म का पालन करना चाहिए। इस धर्म के पालन से अनन्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। **(महावी. पु. ११)** इस प्रकार संसार भावना को समझ कर संवेग आदि गुणों से सुशोभित होने वाले पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक यथाशीघ्र रत्नत्रय धारण कर लेना चाहिए। **(शा.पु. १५/४१)**

२३. प्रश्न : एकत्व भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : मैं अकेला ही हूँ, मुझे अकेले ही मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न करना है, मेरा न कोई स्व है और न कोई पर। मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ और अकेला ही मरता हूँ, न मेरा कोई स्वजन-परिजन है जो मेरे व्याधि, जरा, मरणादि के दु:खों को दूर कर सके। बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। धर्म ही एक अनपायी सदा साथ रहने वाला मित्र है इत्यादि विचार करना एकत्वानुप्रेक्षा है। **(रा.वा. ४)**

यह जीव अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही रोता है, अकेला ही दरिद्री होता है और अकेला ही मरता है, उस समय कुटुम्ब परिवार के लोगों में से कोई इसके साथ नहीं जाता। यह जीव अकेला ही कर्मबन्ध करता है, अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है, सदा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। यह जीव जिस शरीर का अनेक सुख देने वाली भोगोपभोग सामग्री से पालन-पोषण करता है वह शरीर उन जीवों के एक पेंड भी साथ नहीं जाता, दुष्ट के समान वहीं पड़ा रहता है। इस संसार में कर्मों के उदय से प्राप्त हुए कुटुम्बी लोग जो अपने-अपने कार्य सिद्ध करने में सदा तत्पर रहते थे वे सब

इस जीव के साथ भला कैसे जा सकते हैं ? यह जीव इकट्ठे किये हुए पापकर्म के उदय से अकेला ही दु:खों से भरे हुए नरकों में जाता है और पुण्यकर्म के उदय से अकेला ही सुखों से भरे हुए स्वर्ग में जाता है और कर्मों से लगा हुआ दु:खी होता हुआ यह प्राणी त्रस और स्थावरादि जीवों में परिभ्रमण करता है और अकेला ही मनुष्य गति में आर्य वा म्लेच्छ कुलों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यह अकेला ही भव्यजीव अपने पौरुष से तपश्चरण रूपी तलवार के द्वारा मोह के साथ-साथ समस्त कर्म रूपी शत्रुओं को मार कर अनन्त-गुणों से भरे हुए मोक्ष में जा विराजमान होता है। **(मू.प्र. ३०५०-५६)**

२४. प्रश्न : एकत्व कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : एकत्व चार प्रकार का होता है-

(१) द्रव्यैकत्व (२) क्षेत्रैकत्व (३) कालैकत्व (४) भावैकत्व।

जीवादिक पदार्थों में से किसी एक पदार्थ के विषय को लेकर अभेद बुद्धि रखना द्रव्यैकत्व है। **(चा.सा.)** अन्यतम द्रव्य के विषयत्व से अभेद होने से जीवादि में द्रव्यैकत्व है।

क्षेत्रैकत्व - एक परमाणु के द्वारा रोका गया आकाश का प्रदेश क्षेत्रैकत्व है।

कालैकत्व - एक समय में अभेद होने से एक समय में काल एकत्व है।

भावैकत्व - निश्चय नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है अत: मोक्षमार्ग में भावैकत्व है। **(रा.वा ४)**

२५. प्रश्न : अनेकत्व कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : अनेकत्व चार प्रकार के हैं-

(१) द्रव्य अनेकत्व (२) क्षेत्र अनेकत्व (३) काल अनेकत्व (४) भाव-अनेकत्व।

द्रव्य अनेकत्व - सामान्य दृष्टि से एक होकर भी विशेष दृष्टि से द्रव्य अनेक रूप है।

क्षेत्र अनेकत्व - एक परमाणु में सामान्य की अपेक्षा एकत्व होने पर भी विशेष की अपेक्षा अनेक होने से क्षेत्र अनेकत्व है।

काल अनेकत्व - एक समय भी सामान्य की अपेक्षा एक होने पर भी विशेष की अपेक्षा अनेक होने से काल-अनेकत्व है।

भाव अनेकत्व - बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करके सम्यग्ज्ञान से एकत्व के निश्चय को प्राप्त करने वाले व्यक्ति के यथाख्यात चारित्र रूप से एक मोक्षमार्ग भावैकत्व है। **(रा.वा. ४)**

नोट - संसार में कोई पदार्थ न एक रूप है और न अनेक रूप किन्तु सामान्य की अपेक्षा एकरूप एवं विशेष की अपेक्षा अनेक रूप है। **(चा.सा. २४९)**

२६. प्रश्न : एकत्व भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : एकत्व भावना का चिन्तन करने वाले के स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध और परजनों में द्वेषानुबन्ध नहीं होता है और अपरिग्रहत्व को स्वीकार करके वह मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करने लगता है। **(रा.वा. ४)**

यह मूढ़ प्राणी जिस समय मोह के उदय से चेतन-अचेतन पदार्थों से अपनी एकता मानता है तब यह जीव आपको अपने ही भावों से बाँधता है और यह अन्य पदार्थों से अपनी एकता नहीं मानता है, तब कर्मबन्ध नहीं करता है और कर्मों की निर्जरा करके परम्परा से मोक्षगामी होता है जिस समय यह जीव भ्रम रहित हो चिंतन करे कि मैं एकता को प्राप्त हो गया हूँ उसी समय इस जीव का संसार का सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि संसार का सम्बन्ध तो मोह से है और यदि मोह समाप्त हो जाता है तो आप एक है फिर मोक्ष क्यों न पावे ? **(ज्ञा. २/९९-१००)**

निश्चय से केवलज्ञान ही एक सहज या स्वाभाविक शरीर है, सप्त धातुमयी यह औदारिक शरीर नहीं। निजात्म तत्त्व ही एक सदा शाश्वत व परम हितकारी है, पुत्र-कलत्रादि नहीं। स्वशुद्धात्म पदार्थ ही एक अविनश्वर व परम हितकारी परम धन है, सुवर्णादि रूप धन नहीं। स्वभावात्म सुख ही सुख है, आकुलता उत्पादक इन्द्रियसुख नहीं। स्वशुद्धात्मा ही एक सहायी है। इस प्रकार एकत्व भावना का फल जानकर निरन्तर शुद्धात्मा में एकत्व भावना करनी चाहिए। **(वृ.द्र.सं.टी. ३५)**

२७. प्रश्न : एकत्व भावना को जानकर क्या करना चाहिए?

उत्तर : हिंसादिक से पाप का बन्ध कर फलस्वरूप नरकादि खोटि गतियों में जीव अकेला ही दु:ख भोगता है उसके साथी कुटुम्बी नहीं भोगते। सम्यक्त्वादि शुभ कर्मों का बन्ध इसे अकेले ही होने से स्वर्गादि महान् विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। रत्नत्रयादि के कारण इसे अकेले ही मोक्ष प्राप्त होता है इस प्रकार सभी स्थलों पर एकत्व की भावना कर ज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्मा का ध्यान करना चाहिए। **(महावी.पु.११)** इस प्रकार स्वयं को एकाकी ही समझकर बुद्धिमान लोग मरणादि में अनंत गुणों का कारण ऐसा निर्ममत्व ही धारण करता है। **(शा.पु. १५/५१)**

२८. प्रश्न : अन्यत्व भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : मोक्षपद की प्राप्ति के लिए बन्ध की दृष्टि से शरीर और आत्मा में एकत्व होने पर भी लक्षण भेद से इन दोनों में अन्यत्व है। शरीर एन्द्रियिक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ, शरीर अज्ञ है, जड़ है और मैं ज्ञानी हूँ, शरीर अनित्य है- मैं नित्य हूँ, शरीर आदि और अन्त सहित है और मैं अनादि अनन्त अविनाशी हूँ। संसार में परि-भ्रमण करते हुए मैंने अतीतकाल में लाखों शरीर धारण किये हैं, उन सब शरीरों से भिन्न मैं चैतन्य स्वरूप हूँ। जब मैं शरीर से ही भिन्न हूँ तब बाह्य परिग्रह की तो बात ही क्या ? इस प्रकार चिन्तन करना अन्यत्व है। **(रा.वा. ५)**

देह, बन्धुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि कर्मों के आधीन होने से विनश्वर हैं। निश्चय नय से निज परमात्मा पदार्थ से अन्य है, भिन्न है और उनसे आत्मा अन्य है भिन्न है, इस प्रकार अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। **(वृ.द्र.सं.टी. ३५)**

माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश सम्बन्ध रखता है, परन्तु यथार्थ में जीव का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् ये सब जीव से जुदे हैं। **(बा.अ. २१)**

जहाँ मरने पर यह शरीर से साक्षात् भिन्न दिखाई देता है फिर भला जड़ और चैतन्य मय अन्य पदार्थ वा कुटुम्बी लोग जो साक्षात् भिन्न दिखाई देते हैं वे आत्मा के कैसे हो सकते हैं ? वास्तव में देखा जाए तो पाँच इन्द्रियाँ, तीन योग तथा अन्य समस्त पदार्थ इस जीव से भिन्न हैं और अपने-अपने कर्म के उदय से प्राप्त हुए हैं। चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इन जीवों के माता भी भिन्न है, पिता भी भिन्न है, स्त्री कुटुम्ब पुत्र आदि भिन्न हैं। (इस प्रकार चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है)। **(मू.प्र. ३०५८-६१)**

२९. प्रश्न : अन्यत्व कितने प्रकार का है ?

उत्तर : अन्यत्व चार प्रकार का है-

(१) नाम अन्यत्व (२) स्थापना अन्यत्व (३) द्रव्य अन्यत्व (४) भाव अन्यत्व।

नाम अन्यत्व - आत्मा, जीव यह नाम अन्यत्व है।

स्थापना अन्यत्व - काष्ठ प्रतिमा यह स्थापना अन्यत्व है।

द्रव्य अन्यत्व - जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य यह द्रव्य अन्यत्व है।

भाव अन्यत्व - एक ही जीव में बाल, युवा, मनुष्य, देव आदि पर्यायभेद भाव अन्यत्व है। **(रा.वा. ५)**

३०. प्रश्न : आत्मा से अभिन्न क्या है ?

उत्तर : तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप गुणों से सुशोभित अपनी आत्मा को छोड़कर और कोई भी पदार्थ अपना नहीं है। तत्त्वज्ञानियों को अपनी आत्मा को शरीर आदि से भिन्न समझकर अपने उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का अपने अन्तरंग में ही शरीर से भिन्न समझते हुए ध्यान करना चाहिए। **(मू.प्र. ३०६१-६२)**

३१. प्रश्न : अन्यत्व भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अन्यत्व भावना का चिन्तन करने वाले के शरीर आदि में स्पृहा (ममता) नहीं होती और वह मोक्षप्राप्ति के प्रति प्रयत्न करने लगता है। **(रा.वा. ५)**

अन्यत्व भावना के चिन्तन से मन को समाधान युक्त करने वाले इसके शरीरादि में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक वैराग्य की वृद्धि होने पर आत्यन्तिक मोक्षसुख की प्राप्ति

होती है। **(सर्वा. ८०३)** जो आत्मस्वरूप को यथार्थ में शरीर से भिन्न जानकर अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है उसके अन्यत्वानुप्रेक्षा कार्यकारी है। **(का.अ. ८२)** जो जीव अपनी आत्मा को नित्य और कायादि से भिन्न मानते हैं, वे ही समस्त कर्मों से रहित परमात्म पद को प्राप्त करते हैं। **(शांति पु. १५/६१)**

३२. प्रश्न : अन्यत्व भावना को जानकर क्या करना चाहिए ?

उत्तर : माता-पिता, घर, स्त्री, द्रव्यमन-भावमन आदि आत्मा से भिन्न हैं। इन्द्रियाँ भी ज्ञान स्वरूप आत्मा से पृथक् हैं एवं जड़ पुद्गल से उत्पन्न हैं। जो राग-द्वेषादि जीवमय मालूम होते हैं वे भी कर्मकृत हैं जीवमय नहीं हैं, कर्मों से उत्पन्न सब वस्तुएँ भी आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। इस सम्बन्ध में अधिक कहने की क्या आवश्यकता ? सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणों के अतिरिक्त अपना कोई नहीं है। अतएव हे योगीश्वरो ! तुम अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को शरीरादि से पृथक् समझ कर एवं शरीर को नाशवान समझ कर आत्मा का ही ध्यान करो। **(महा.वी. ११/११)** इस प्रकार ज्ञानी पुरुष आत्मा को सबसे निराला जानकर मोक्ष का कारण अपनी एवमेव आत्मा का ही सेवन करते हैं। अन्यत्व भावना को समझ कर बुद्धिमानों को अपनी आत्मा तथा मोक्ष को प्राप्त करने के लिए अपनी ही आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा सदैव अपनी ही आत्मा का ध्यान करते रहना चाहिए। **(शांति पु. १५/६२-६३)**

३३. प्रश्न : एकत्व एवं अन्यत्व भावना में क्या अन्तर है ?

उत्तर : एकत्व अनुप्रेक्षा में तो 'मैं अकेला हूँ' इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्वानुप्रेक्षा में 'देहादि पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेध रूप से वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि-निषेध रूप का ही अन्तर है। **(बृ.द्र.सं. ३५ टी.)**

३४. प्रश्न : अशुचि भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जलादि लौकिक शुद्धियाँ भी शरीर को शुद्ध करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि शरीर अत्यन्त अशुचि है। यह शरीर आदि और उत्तर दोनों कारणों से अत्यन्त अशुचि है। शरीर की उत्पत्ति का आदि कारण माता का रज और पिता का वीर्य है, ये दोनों अत्यन्त अशुद्ध हैं, अशुचि हैं। उत्तर कारण आहार का मूत्र, मल, पसीना, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा आदि रूप परिणमन होना है। इन मल, मूत्र आदि सर्व अशुचियों का स्थान यह शरीर 'मैलाघर' के समान अत्यन्त अशुचि है। इसकी अशुचिता का प्रतिकार अत्यन्त अशक्य है। स्नान, अनुलेपन, धूपमलना, सुगन्धित वस्तुएँ और माला आदि से भी इसकी अशुचिता को दूर नहीं किया जा सकता है। अंगारे के समान अपने संसर्ग में आये हुए द्रव्य को यह शीघ्र ही अपने स्वरूप बना लेता है, इस प्रकार चिन्तन करना अशुचि भावना है। **(रा.वा. ६)**

यह शरीर रुधिर-मांस आदि अशुभ पदार्थों से भरा है, ऊपर चमड़े से ढका है, भीतर हड्डियों का ढेर भरा है, मल-मूत्र का भाजन है, समस्त अशुभ पदार्थों की खानि है, रोग रूपी सर्पों का बिल है, अत्यन्त निन्द्य है, अनेक दुःख देने वाला है और अनर्थों की जड़ है। इस प्रकार चिन्तन करना अशुचि भावना है। **(मू.प्र. ३०६८-६९)**

यह देह दुर्गन्धमय है, डरावनी है, मलमूत्र से भरी हुई है, जड़ है, मूर्त्तिक है और क्षीण होने वाली है तथा विनाशीक स्वभाव वाली है, इस तरह निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। **(बा.अ. ४४)**

३५. प्रश्न : शुचित्व कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : शुचित्व दो प्रकार का है-

(१) लौकिक शुचित्व (२) लोकोत्तर शुचित्व।

लौकिक शुचित्व - कालशुद्धि, अग्निशुद्धि, भस्मशुद्धि, मृत्तिका शुद्धि, गोमय शुद्धि, जलशुद्धि, ज्ञानशुद्धि और निर्विचिकित्सा शुद्धि ये आठ लौकिक शुद्धियाँ हैं।

लोकोत्तर शुद्धि - कर्म कलंक का प्रक्षालन करके आत्मा का अपनी आत्मा में ही अवस्थान होना, स्थिर होना लोकोत्तर शुचित्व है। **(रा.वा. ६)**

३६. प्रश्न : संसार में शुचि (पवित्र) क्या है ?

उत्तर : एक धर्म ही शुभ है और सर्व सौख्यों का दाता है। **(भ.आ. १८०७)** लोकोत्तर शुचित्व के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, सम्यग्दर्शनादि के धारी साधुगण और इन साधुजनों से अधिष्ठित निर्वाणभूमि आदि हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शनादि, साधुजन और निर्वाण भूमि आदि आत्मा के कर्म-मल प्रक्षालन में कारण हैं तथा मुक्ति-प्राप्ति के उपाय हैं अत: ये शुचि कहलाते हैं। **(रा.वा. ६)**

वास्तव में, आत्मा देह से जुदा है, कर्मों से रहित है, अनन्त सुखों का घर है, इसलिए शुद्ध है, इस प्रकार निरन्तर भावना करते रहना चाहिए। **(बा.अ. ४६)**

निश्चय से अपने आप पवित्र होने से यह परमात्मा ही शुचि या पवित्र है। 'ब्रह्मचारी सदा शुचि' इस वचन से पूर्वोक्त प्रकार के ब्रह्मचारियों के ही पवित्रता है। आत्मा रूपी शुद्ध नदी में स्नान करना ही परम पवित्रता का कारण है। **(ब्र.द्र.सं.टी. ३५)**

३७. प्रश्न : आत्मा की शुद्धि कैसे हो सकती है ?

उत्तर : बार-बार भावित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से जीव की आत्यन्तिकी शुद्धि हो सकती है। **(रा.वा. ६)**

जिनेन्द्र देव द्वारा कथित धर्म को छोड़कर सुर-असुर, तिर्यञ्च, नरक और मनुष्य से सहित इस जगत् में कुछ भी शुभ नहीं है (इसी से आत्मा की शुद्धि हो सकती है) **(मू. ७२८ आ.)** लोक में जल, अग्नि, भस्म, सूर्य- किरण, मंत्र और पृथिवी आदि के भेद से शुद्धि अनेक प्रकार की बताई जाती है परन्तु सम्यग्ज्ञान, शील, शम और संयम रूप शुद्धि को छोड़कर अन्य कोई भी शुद्धि मनुष्यों के पाप रूप मल को नष्ट नहीं कर सकती है। **(सु.र.सं. ७/६०)**

३८. प्रश्न : क्या यह शरीर मलादि से भरा होने के कारण अशुचि है ?

उत्तर : नहीं, अपवित्र होने से, सात धातुमय होने से, नाकादि नौ छिद्रद्वार होने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र-विष्ठा आदि अशुचि मलों की उत्पत्ति का स्थान होने से ही यह देह अशुचि नहीं है, किन्तु यह शरीर स्वरूप से भी अशुचि है और अशुचि मल आदि का उत्पादक होने से अशुचि है। **(वृ.द्र.सं.टी. ३५)**

३९. प्रश्न : अशुचि शरीर को प्राप्त करके क्या करना चाहिए ?

उत्तर : यदि तपश्चरण के द्वारा इस काया को कृश किया जाये तो यह इस जन्म में धर्मध्यानादि आत्मा से उत्पन्न हुए सुखों को प्रदान करती है। एवं परलोक में स्वर्ग मोक्षादिक के सुख को प्रदान करती है। इस संसार में इससे बढ़कर अधिक आश्चर्य क्या है ? जिन बुद्धिमानों ने अपनी आत्मा की सिद्धि के लिए तप, यम आदि कायक्लेश द्वारा इस काया को कृश किया है उन्हीं का यह देह धारण करना सफल हुआ है। **(शांति पु. १५/६९, ७२)**

४०. प्रश्न : अशुचि भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अशुचि भावना का चिन्तन करने वाले का शरीर से ममत्व हट जाता है और अशुचि भावना से भावित आत्मा अपने मन को संसार समुद्र से पार लगाने के मार्ग में लग जाता है। **(रा.वा.६)** जो दूसरों के शरीर से विरक्त है और अपने शरीर से अनुराग नहीं करता है तथा आत्मध्यान में लीन रहता है उसके अशुचि भावना सफल है। **(का.अ. ८७)**

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान के मुख से निकले हुए वचन रूपी तीर्थ का आश्रय ले करके रत्नत्रय रूप निर्मल जल से शुद्धि करता है वह दुर्विनाश समस्त कर्म रूप अभ्यन्तर मल को धो करके अनुपम मोक्षसुख को प्राप्त होता है। **(सु.र. सं. ७६१)**

४१. प्रश्न : अशुचि भावना का स्वरूप जान करके क्या करना चाहिए ?

उत्तर : अर्थ, काम और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं ऐसा जानकर विरक्त होते हुए जैसे अशुचि शरीर छूट जाये, वैसा ध्यान करो। **(मू. ७२७)**

इस प्रकार समस्त जगत् को अपवित्र जानकर विरक्त पुरुषों को इस अपवित्र शरीर से अत्यन्त पवित्र ऐसे मोक्ष की सिद्धि कर लेनी चाहिए। **(मू.प्र. ३०७१)**

जो जिनवचन रूप तीर्थ समस्त पाप रूप मल को नष्ट करने में समर्थ है, पूजा के योग्य है, ज्ञान रूप जल से परिपूर्ण है, विनय व शील रूप दो तटों से सहित है, चारित्र रूप लहरों से व्याप्त है, हर्ष रूप निर्मलता से संयुक्त है, मिथ्यात्व रूप मछलियों से रहित है, दया आदि रूप थाह से सहित है, सम्यक्त्व व शील से सुशोभित है, तथा पाप के संसर्ग से रहित है, हे निर्मलबुद्धि सज्जनो ! उस जिन वचन रूप तीर्थ में आप स्नान करें। क्योंकि भीतर स्थित मन की शुद्धि गंगादि तीर्थों में स्नान के वश से कभी व किंचित् भी नहीं हो सकती है। **(सु.र.सं. ७५७-५८)** इस काय की घृणित प्रकृति का चिंतन कर बुद्धिमानों को घोर तपश्चरण के द्वारा इसे तपा कर शुद्ध कर लेना चाहिए। **(शांति पु. १५/७४)**

इस शरीर को पुष्ट करो अथवा सूखने दो, अन्त में इसे भस्म होना ही है। अत: इसे तपस्या के द्वारा कृश बना देना ही अत्युत्तम है। कारण, अन्न आदि से पुष्ट किया गया शरीर रोग आदि दु:खों को उत्पन्न करता है, पर यदि इसका शोषण (तप के द्वारा) किया जाय, तो इसे परलोक में स्वर्ग-मोक्षादि प्राप्त होंगे। यदि इस शरीर से 'केवलज्ञान' आदि पवित्र गुण सिद्ध हो सकते हैं, तो इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने की क्या बात है ? ऐसा समझ कर ज्ञानियों को शरीर सुख की कामना त्याग कर अविनाशी मोक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। बुद्धिमानों को चाहिए कि दर्शन-ज्ञान-तपरूपी जल से अपवित्र देह के कर्म-मल को धोकर अपनी आत्मा को पवित्र कर लें। **(महा.पु. ११)**

४२. प्रश्न : आस्रवानुप्रेक्षा किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन्द्रियादि का उन्माद महानदी के प्रवाह के समान अतितीक्ष्ण है। जैसे- बहुत घास और पानी विलोड़न करके अवगाहन करने आदि गुणों से सम्पन्न वन में स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करने वाले बलवन्त भी मदान्ध हाथी कृत्रिम हथिनियों को देखकर स्पर्शन इन्द्रिय की आसक्ति के कारण मनुष्यों की अधीनता स्वीकार कर वध-बन्धन, वाहन, अंकुश से ताड़न, महावत के आघात आदि से उत्पन्न तीव्र दु:खों को भोगते हैं, प्रतिक्षण अपने झुण्ड में वनविहार और स्वच्छन्द हथिनियों के साथ प्रवीचार सुख का स्मरण करते हुए महान् खेद को प्राप्त होते हैं तथा जिह्वा इन्द्रिय विषय के लोलुपी मृतक हाथी के शरीरस्थ जल के वेग में डुबकी लगाने वाले पक्षी के समान अनेक आपत्तियों के शिकार होते हैं। घ्राण इन्द्रिय के वशंगत प्राणी औषधि के गन्ध में लुब्ध सर्प के समान नाश को प्राप्त होते हैं। चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत हुए प्राणी दीपक के देखने में चंचल पतंग के समान आपत्तियों के सागर में पड़कर दु:ख उठाते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय के वशंगत प्राणी मनोहर गीत की ध्वनि के सुनने से घास खाना भूलकर शिकारी के जाल में फँसकर दु:ख भोगने वाले हरिण के समान-अनर्थों के शिकार हो जाते हैं और परलोक में बहुत दु:ख से प्रज्वलित नाना योनियों में भ्रमण करते हैं। इस प्रकार आस्रव दोषों का दर्शन (विचार) आस्रवानुप्रेक्षा है। **(रा.वा. ७)**

पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रिया रूप आस्रवों के द्वारों से कर्मजल के प्रवेश हो जाने पर संसार समुद्र में पतन होता है और मुक्ति रूपी वेला पत्तन की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार आस्रव के दोषों का पुन:पुन: चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। **(बृ.द्र.सं. ३५ टी.)**

४३. प्रश्न : आस्रव भावना का चिंतन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : आस्रवानुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाले जीव के क्षमादिक में कल्याण रूप बुद्धि का त्याग नहीं होता तथा कछुए के समान जिसने अपनी आत्मा को संवृत कर लिया है उसके ये सब आस्रव दोष नहीं होते हैं। **(सर्वा. ८०५)**

जो मुनि साम्यभाव में लीन होता हुआ, मोह कर्म के उदय से होने वाले इन पूर्वोक्त भावों को त्यागने के योग्य जानकर, उन्हें छोड़ देता है, उसी के आस्रवानुप्रेक्षा है। **(का.अ. ९४)** आस्रव का चिन्तन करने से आस्रव से विरक्ति हो जाती है और तब जीव आस्रव को रोकने का प्रयत्न करता है। इस आस्रव अनुप्रेक्षा

का चिन्तन करने वाले के क्षमादि धर्मों में श्रेयत्व की बुद्धि नष्ट नहीं होती। ''जिस महान् पुरुष ने सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, संयम, कषायनिग्रह एवं ध्यानादि के द्वारा कर्मों का आस्रव रोक लिया है उसी का सकल मनोरथ पूर्ण हुआ है।'' **(शांति पु. १५/८१)**

४४. प्रश्न : आस्रव का स्वरूप जानकर क्या करना चाहिए ?

उत्तर : आस्रव के महादोषों को समझकर बुद्धिमान मुनियों को मन, वचन, काय की शुद्धता से आस्रव के सब कारणों को रोककर समस्त आस्रव को बन्द कर देना चाहिए। **(मू.प्र. ३०८५)** इस तरह बहुत प्रकार का कर्म दुष्ट है, जो ज्ञानावरण आदि से आठ प्रकार का है तथा दु:ख रूप फलवाला है ऐसा चिन्तन करो। इन्द्रियाँ, कषाय, संज्ञा, गारव, राग आदि ये कर्मास्रव के कारण हैं इसलिए इन सबका निरोध करो। **(मू. ७३९-४०)**

४५. प्रश्न : संवर भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : कछुवे के समान संकुचित अङ्ग वाले संवर युक्त आत्मा के ये सर्व आस्रव के दोष नहीं होते हैं। जैसे- महासमुद्र में पड़ी हुई नौका में छिद्र को नहीं रोकने पर क्रमश: आकर संचित हुए जल का विप्लव होने पर नौका में बैठे प्राणियों का विनाश अवश्यम्भावी है तथा छिद्र के रोक देने पर नौका निरुपद्रव इष्ट स्थान में पहुँच जाती है, उसमें बैठने वाले मानव सुरक्षित रहते हैं, उसी प्रकार कर्मागम द्वार के बन्द हो जाने पर श्रेय का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है। **(रा.वा. ७)**

जिस प्रकार समुद्र का जहाज अपने छेदों के बन्द हो जाने से जल के न घुसने से निर्विघ्न वेला पत्तन को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जीव रूपी जहाज अपने शुद्ध आत्मसंवित्ति के बल से इन्द्रिय आदि आस्रव छिद्रों के मुँह बन्द हो जाने पर कर्म रूपी जल न घुसने से केवलज्ञानादि अनन्त गुणरत्नों से पूर्ण मुक्ति रूपी वेलापत्तन को निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है। ऐसे संवर के गुणों के चिन्तन रूप संवर अनुप्रेक्षा जानना चाहिए। **(बृ. द्र.सं.टी. ३५)** जिन मुनिवर के प्रतिदिन कर्मों का संवर एवं कर्मों की निर्जरा होती है, उनके उत्तम गुण स्वत: प्रकट हो जाते हैं। वे देह का कष्ट सहन करते हुए भी पाप कर्मों का संवर करते हैं। संवर के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है। **(महावी.पु.११)**

४६. प्रश्न : संवर भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : संवर के गुणों का अनुचिन्तन करने वाले मनुष्य के नित्य संवर के प्रति तत्परता रहती है, वह संवर के लिए प्रयत्नशील रहता है। **(रा.वा. ७)**

संवर अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाले जीव के संवर में निरन्तर उद्युक्तता होती है और इससे मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। **(सर्वा. ८०६)**

कर्मों के आने के द्वारों को जानकर मोक्षेच्छु जीवों को चाहिए कि वे सम्यक् चारित्र एवं तप रूपी

खड्ग से कर्मास्रव के कारण रूपी शत्रुओं को विनष्ट कर दें। जो प्राणी कर्मों के आने वाले दरवाजों को ज्ञानादि से नहीं रोक सकते, उन्हें कठिन तप करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन्होंने कर्मों का आना बिल्कुल रोक दिया है, उनका मनोवाञ्छित मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध हो चुका है। जब तक योगों से चञ्चल आत्मा में कर्मों का आगमन है, तब तक मोक्ष प्राप्त होना दुष्कर है, इस सम्बन्ध से तो संसार की परिपाटी बढती जाती है। ऐसा जानकर अशुभ आस्रवों को रोककर रत्नत्रयादि के शुभध्यान से अपनी आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति कर निर्विकल्प शुद्ध ध्यान से कर्मास्रव को एकदम रोक देना चाहिए। **(महावी. ११)**

आस्रव भावना को जानकर बुद्धिमानों को शुभध्यान से पापास्रव को अवरुद्ध करना चाहिए और मोक्ष प्राप्त करने के लिए आत्मध्यान से दोनों प्रकार के आस्रवों को स्तम्भित करना चाहिए। ऐसा समझकर मुक्ति रूपी रमणी की प्राप्ति की अभिलाषा से अपने चित्त का निग्रहकर चारित्रादि धारण कर सर्वदा कर्मों के आस्रव को बुद्धिमान लोग अवरुद्ध करते रहते हैं। इस प्रकार समझकर गुणी पुरुष तप ध्यानादि द्वारा समस्त आस्रव को रोककर एवं कर्मों का नाशकर सदैव स्थिर रहने वाली मुक्ति रूपी रमणी को प्राप्त होते हैं। **(शा.पु. १५/८३-८५)**

जिसने कर्मों का आस्रव अवरुद्ध कर संवर धारण किया है, वही संसार से उत्तीर्ण होता है एवं वही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। फिर भला अन्य सुखों की प्राप्ति की गणना ही क्या है। जो जीव चारों गतियों के कारण रूप कर्मों को अवरुद्ध कर संवर धारण करता है, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। **(शा. पु. १५/ ८९-९४)**

४७. प्रश्न : संवरानुप्रेक्षा को समझकर क्या करना चाहिए ?

उत्तर : जिस महात्मा ने युक्तिपूर्वक अपने कर्मों को रोककर संवर धारण किया है उसी के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि होती है। उस संवर के बिना तपश्चरण भी सब निष्फल समझना चाहिए। यही समझकर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए परीषहों को जीतकर सम्यग्ज्ञान की वृद्धि कर, श्रेष्ठ ध्यान को धारण कर और संयम को पालन कर एक संवर की सिद्धि कर लेनी चाहिए। **(मू. प्र. ३०९२-९३)**

संवर भावना को समझकर मोक्षाभिलाषी मुनियों को इन्द्रियों तथा योगों का निग्रह कर एवं तपश्चरण धारण कर सदैव संवर धारण करना चाहिए। **(शां. पु. १५/९५)**

संवर का फल निर्वाण है इसलिए संवर-समाधि से युक्त, नित्य ही उद्यमशील विशुद्ध आत्मा मुनि इस संवर की भावना करे। **(मू. ७४५)**

संवर के गुणों को जानकर मोक्षाभिलाषी जीवों को सदा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र तथा श्रेष्ठ योग के द्वारा सब प्रकार का संवर करते रहना चाहिए। **(महावी.पु. ११)**

४८. प्रश्न : निर्जरा भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो निज परमात्मानुभूति के बल से निर्जरा करने के लिए दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगों की आकांक्षादि रूप विभाव परिणाम के त्याग रूप संवेग तथा वैराग्य रूप परिणामों के साथ रहता है उसके निर्जरानुप्रेक्षा होती है। **(ब्र.द्र.सं. ३५ टी.)**

निर्जरा के गुण-दोषों का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। **(रा.वा. ७)**

नोट - निर्जरा के भेदों के वर्णन के लिए **(देखें ८/२३)**

४९. प्रश्न : निर्जरानुप्रेक्षा का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : निर्जरा अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाले प्राणी की प्रवृत्ति कर्मनिर्जरा के लिए ही होती है। **(रा.वा. ७)** जो मुनि समता रस में लीन हुआ, बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, इन्द्रिय और कषाय जीतने वाले उसी के उत्कृष्ट निर्जरा होती है। **(का.अ. ११४)**

मुनियों के जैसे-जैसे कर्मों की निर्जरा होती जाती है वैसे-वैसे स्वयं वरण करने वाली मुक्ति स्त्री प्रसन्न होकर उनके समीप आती जाती है। जिस समय भव्य जीवों के ध्यान के निमित्त से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है उसी समय अनन्त गुणों के साथ-साथ मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।

५०. प्रश्न : निर्जरा भावना में कौनसी निर्जरा को ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : यहाँ जो संवरपूर्वक ही मोक्ष के कारणरूप निर्जरा है वही ग्रहण करना। जो अज्ञानियों की निर्जरा है वह तो गजस्नानवत् निष्फल है क्योंकि अल्प कर्म खिरता है और वह बहुत अधिक बाँधता है, इस कारण वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। सराग सम्यग्दृष्टियों की जो निर्जरा है वह यद्यपि अशुभ कर्मों का विनाश करती है तो भी संसार की स्थिति बढ़ाती है, उस भव में तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट प्रकार के पुण्य बन्ध का कारण होती है और परम्परा से मोक्ष का कारण होती है। वीतराग सम्यग्दृष्टियों के पुण्य और पाप दोनों का नाश होने पर उसी भव में भी मुक्ति का कारण होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है- अज्ञानी जो कर्म लाख करोड़ भवों में नाश करते हैं वे कर्म, ज्ञानी त्रिगुप्ति में गुप्त होकर उच्छ्वास मात्र में नाश करते हैं। **(वृ.द्र.सं. टी. ३६)**

५१. प्रश्न : निर्जरा अनुप्रेक्षा को जानकर क्या करना चाहिए ?

उत्तर : निर्जरा भावना को समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए तपश्चरण, ध्यान और सदाचार धारण कर संवर पूर्वक कर्मों की निर्जरा सदा करते रहना चाहिए। **(मू.प्र. ३१०१)**

निर्जरा के गुणों को जानकर संसार से भयभीत भव्य प्राणियों को कठिन तपस्या कर एवं परीषहों को सहन कर बड़े यत्न से मोक्षप्राप्ति के लिए कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए। **(महावी. ११)**

संवर भावना को समझ कर बुद्धिमान को अपने चित्त तथा इन्द्रियों का निरोध कर एवं तप चारित्र संयमादि धारण कर प्रतिदिन कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए। बुद्धिमानों को मोक्षाभिलाषा से कायक्लेश, तप, जप आदि गुणों के द्वारा कर्मों की निर्जरा सदैव करते रहना चाहिए। **(शांति पु. १५/२०६-७)**

५२. प्रश्न : आस्रव, संवर और निर्जरा भावना का ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि इनका वर्णन पूर्व में कर चुके हैं ?

उत्तर : यद्यपि आस्रव, संवर और निर्जरा के स्वरूप का निरूपण पूर्व में हो चुका है तथापि भावनाओं में उनका पुन: ग्रहण उनके गुण-दोष के विचार के लिए किया गया है। **(रा.वा. ७)**

५३. प्रश्न : लोक भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह लोकाकाश नीचे वेत्रासन के आकार है, मध्य में झल्लरी के आकार है और ऊपर मृदंग के आकार है। इस प्रकार यह लोक तीन भागों में बँटा हुआ है। इस लोक के अधोभाग में सातों नरकों में महापापी नारकी अपने पापकर्म के उदय से छेदन-भेदन आदि के द्वारा महादु:ख भोगा करते हैं। इस प्रकार इस लोक के ऊपर के भाग में कल्प-वासी देवों में अनेक पुण्यवान् देव अपने पुण्य कर्म के उदय से देवांगना और महाऋद्धियों के द्वारा उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं तथा कल्पातीत देवों में महाऋद्धियों के द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं। इसी प्रकार मध्यलोक में पुण्य-पाप के वशीभूत हुए मनुष्य और तिर्यञ्च कहीं सुख भोगते हैं, कहीं दु:ख भोगते हैं और कहीं सुख-दु:ख दोनों भोगते हैं। इस लोक के शिखर पर मनुष्य लोक के समान एक नित्य स्थान है, जहाँ पर सिद्ध भगवान शुद्ध आत्मा से उत्पन्न अनन्त सुखों का अनुभव किया करते हैं। इस प्रकार लोक के संस्थान का चिन्तन करना लोक भावना है। **(मू.प्र. ३१०२-७)**

जो जीवादि समस्त पदार्थों का आधार है वह लोक है। यह आकाश सब ओर से अनन्तानन्त है और अपने ही आधार है। आकाश का अन्य कोई आधार नहीं है। आकाश के ठीक मध्य में लोक है। यह लोक तीन वातवलयों से घिरा है। लोकाकाश के मध्य में त्रसनाड़ी है। उसके मध्य भाग में यहाँ मेरु पर्वत है। मेरु पर्वत के नीचे नरकों के प्रस्तर है तथा मेरु के चारों ओर शुभ नाम वाले असंख्यात द्वीप-समुद्र है। मेरु के ऊपर स्वर्गों के पटल हैं। स्वर्ग पटलों के ऊपर सिद्धक्षेत्र है। इस प्रकार यह लोक अधो, मध्य और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है। लोक चौदह राजू ऊँचा है, पूर्व-पश्चिम की ओर नीचे सात राजू चौड़ा, मध्य में एक राजू चौड़ा और ऊपर जाकर फिर पाँच राजू चौड़ा है और सबसे ऊपर एक राजू चौड़ा है। दक्षिण-उत्तर की ओर सर्व जगह सात राजू लम्बा है। अधो-लोक बेंत के आसन के समान ऊपर से सँकरी और नीचे से चौड़ी तिपाई के समान है। मध्यलोक झालर के समान और ऊर्ध्व लोक मृदंग वा पखावज के समान है। इसके सिवाय यह लोक छह द्रव्यों से भरा हुआ है, अकृत्रिम है और अनादि तथा अनिधन है। इस प्रकार लोक के स्वभाव, लोक के परिमाण, परिधि और उसके आकार का चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। **(चा.सा. २७३)**

यह जीव अशुभ विचारों से नरक तथा तिर्यञ्च गति पाता है, शुभ विचारों से देवों और मनुष्यों के सुख भोगता है और शुद्ध विचारों से मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार लोक भावना का चिन्तन करना चाहिए। **(बा.अ. ४२)**

५४. प्रश्न : लोकानुप्रेक्षा का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : लोकानुप्रेक्षा का चिन्तन करने से तत्त्व-ज्ञान की विशुद्धि होती है। **(चा.सा. २६३)** जो पुरुष उपशम परिणाम रूप परिणत होकर इस प्रकार लोक के स्वरूप का ध्यान करता है वह कर्मपुंज को नष्ट करके उसी लोक का शिखामणि होता है। **(का.अ. २८३)**

५५. प्रश्न : लोकानुप्रेक्षा को समझकर क्या करना चाहिए ?

उत्तर : तीनों लोकों का स्वरूप समझकर और उसके मस्तक पर मोक्ष का स्वरूप समझकर विद्वान् पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र ही मोह का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। **(मू.प्र. ३१०७)**

५६. प्रश्न : बोधिदुर्लभ भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : त्रस पर्यायादि के लाभ से भी दुष्प्राप्य बोधिदुर्लभत्व है। ऐसा चिन्तन करना बोधिदुर्लभ भावना है। **(रा.वा. ९)**

मनुष्य पर्याय, उत्तम देश, उत्तम कुल मे जन्म, रूप, आयु, आरोग्य, शक्ति, विनय, धर्मश्रवण, धर्मग्रहण बुद्धि और धारणा तथा बोधि ये क्रमश: अत्यन्त दुर्लभ हैं। ऐसा चिन्तन बोधिदुर्लभ भावना है। **(मू. ७५८-५९)**

मनुष्यपर्याय, उत्तमदेश, उत्तम कुल में जन्म, सुन्दर रूप, पूर्ण आयु, नीरोग शरीर, इन्द्रियों की चतुरता, श्रेष्ठ बुद्धि, कषायरहितपना, विवेक, श्रेष्ठ गुरु का संयोग, धर्मशास्त्रों का सुनना, पदार्थों का श्रद्धान, पदार्थों का ज्ञान, निर्मल चारित्र, अन्त समय तक निर्दोष चारित्र पालन और समाधिमरण और मोक्षादि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार चिन्तन करना बोधिदुर्लभ भावना है। **(मू.प्र. ३१०९-१५)**

जो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को प्राप्त नहीं होती वह बोधि अपरिमित पुण्य के वश से सम्पूर्ण पर्याप्तियों को धारण करने वाले तथा क्षायोपशमिक आदि पाँच लब्धियों को प्राप्त हुए किन्हीं विरले संज्ञी जीवों को प्राप्त होती है। स्वर्ग और मोक्ष को देने वाली वह लब्धि हमारे हृदय में सदा विद्यमान रहे। इस प्रकार विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है। **(आ.सा. १०/४३)**

५७. प्रश्न : स्थावर पर्याय से त्रस पर्याय कितनी दुर्लभ है ?

उत्तर : एक निगोद के शरीर में द्रव्य प्रमाण से जीवों की संख्या, सिद्धों की संख्या से और अतीत काल के सर्व समयों की संख्या से अनन्त गुणी हैं, इस प्रकार आगम प्रमाण से एक निगोदिया के शरीर में जीवों की संख्या सिद्धों से अनन्तगुणी है। इस प्रकार यह लोक अनन्त स्थावरों से निरन्तर भरा हुआ है खचित है। अत: इसमें त्रस-पर्याय का प्राप्त करना बालुका के समुद्र में गिरी हुई हीरे की कणिका के समान दुर्लभ है। अर्थात् जैसे रेत के समुद्र में गिरी हुई हीरे की कणिका का मिलना दुर्लभ है, उसी प्रकार त्रसपर्याय का पाना दुर्लभ है। **(रा.वा. ९)**

५८. प्रश्न : मनुष्य पर्याय किस प्रकार दुर्लभ है ?

उत्तर : त्रस पर्याय में विकलेन्द्रिय बहुत हैं अत: गुणों में कृतज्ञता गुण के मिलने के समान पंचेन्द्रियत्व का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय में पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप आदि तिर्यञ्चों की बहुलता है, अत: पंचेन्द्रियता प्राप्त होने पर मानव पर्याय का मिलना चौराहे पर रखे हुए रत्न की पुन: प्राप्ति के समान अति दुरासद है।

एक बार मनुष्य पर्याय प्राप्त होकर नष्ट हो जाने के बाद पुन: मनुष्य-पर्याय का प्राप्त करना जले हुए पेड़ में अंकुर निकलने के समान अतिकठिन है अथवा दग्धवृक्ष के पुद्गल परमाणुओं का पुन: वृक्ष होने के समान अतिदुर्लभ है। **(रा.वा. ९)**

यदि किसी समुद्र में एक ओर बैल के कंधे का जूआ डाला जाय और उसी समुद्र में दूसरे किनारे पर उस जूए के छिद्र में पड़ने वाली बाँस की कील डाली जाय, तो जिस प्रकार उन दोनों का मिलना तथा उस जूए के छिद्र में उस बाँस की कील का पड़ जाना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को मनुष्यजन्म की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। **(मू.प्र. ३१०८)**

५९. प्रश्न : उत्तम देश की प्राप्ति किस प्रकार दुर्लभ है ?

उत्तर : पुन: मनुष्य पर्याय के मिल जाने पर भी हिताहित के विचार से शून्य पशु समान जीवन व्यतीत करने वाले मानवों से व्याप्त कुदेशों की बहुलता होने से सुदेश (आर्य खण्ड) में जन्म लेना पाषाणों में मणि के समान अति दुर्लभ है। **(रा.वा. ९)**

मनुष्य पर्याय के मिलने पर भी आर्य देश का मिलना अतीव दुर्लभ है क्योंकि मनुष्यपना तो म्लेच्छखण्डों में और भोगभूमि में भी विद्यमान है। **(मू. ७५८ आ.)**

६०. प्रश्न : उच्चकुल में जन्म लेना कितना दुर्लभ है ?

उत्तर : सुदेश के मिल जाने पर भी पापकर्म वाले जीवकुलों से व्याप्त लोक में सुकुल की प्राप्ति होना अति दुष्कर है। **(रा.वा. ९)**

यदि कदाचित् आर्यदेश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय तो कल्पवृक्ष की प्राप्ति के समान श्रेष्ठ उत्तम कुल में जन्म होना अत्यन्त कठिन है। **(मू. प्र. ३१०९)** आर्य देश में भी भील, बर्बर, चाण्डाल आदि अनेक कुल संभव होने से उच्चकुल में जन्म होना दुष्कर है। **(मू. ७५८ आ.)**

६१. प्रश्न : सुन्दर रूपादि का मिलना कितना कठिन है ?

उत्तर : विशुद्ध कुल के मिल जाने पर भी रूप अर्थात् शरीर के अवयवों की पूर्णता का होना अतीव दुर्लभ है, क्योंकि शुद्ध कुल में भी विकलांग हीनांग देखे जाते हैं। रूप के मिल जाने पर भी दीर्घायु का मिलना-चिरजीवी होना अतिशय दुर्लभ है। चिर जीवन से भी आरोग्य, स्वस्थ शरीर का मिलना दुर्लभतर है। आरोग्य से भी शक्ति का मिलना दुर्लभतम है। **(मू. ७५८ आ.)**

सुकुल में जन्म हो जाने पर प्राय: करके शील, विनय और आचार की परम्परा मिल जाती है। आचार, विनय, शील-रूप कुल सम्पदा के मिल जाने पर भी दीर्घ आयु, इन्द्रियबल, रूप, नीरोगता आदि की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है। **(रा.वा. ९)**

६२. प्रश्न : सद्धर्म की प्राप्ति आदि किस प्रकार दुर्लभ है ?

उत्तर : दीर्घ आयु आदि सर्व गुणों के मिल जाने पर भी सद्धर्म का यदि लाभ नहीं होता है तो नेत्रविहीन मुख के समान मानवजन्म व्यर्थ है। उस कृच्छलभ्य (कठिनता से प्राप्त) धर्म को पाकर भी विषयसुखों में रंजित (आसक्त) होना भस्म के लिए चन्दन जलाने के समान निष्फल है। विषयविरक्त होने पर भी तपो भावना, धर्मभावना, सुख, मरण आदि रूप समाधि अतिदुर्लभ है। समाधि के होने पर ही बोधिलाभ फलवान होता है। **(रा.वा. ९)** शरीर की आरोग्यता आदि के मिलने पर भी विनय का मिलना अतीव दुर्लभतम है। उससे भी श्रमण-आर्य पुरुष की संगति का मिलना, उनका उपदेश सुनना अतीव दुर्लभ है। उपदेश सुनकर भी उसको ग्रहण करना-मन में अवधारण करना सुलभ नहीं है। पूर्वापर विवेक बुद्धि का होना, स्मरण शक्ति आदि होना अतीव दुर्लभ है। कालान्तर में भी अविस्मरण रूप धारणा का होना उससे भी दुर्लभ है। इन सबके मिलने पर भी जिनशासन में बोधि सुलभ नहीं है क्योंकि कुपथों की बहुलता है और राग-द्वेष भी बलवान हैं। **(मू. ७५८-७५९ आ.)**

६३. प्रश्न : बोधिदुर्लभ भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : बोधिदुर्लभ भावना का चिन्तन करने वाले को बोधि को प्राप्त करने में कभी प्रमाद नहीं होता है, वह निरन्तर अप्रमादी रहता है। **(रा.वा. ९)**

बोधि से जीव पुद्गल आदि छह द्रव्य तथा अजीव आदि नवतत्त्व जाने जाते हैं, इस तरह हजारों गुणों से सहित बोधि का सदा ध्यान करो। **(मू. ७६४)**

६४. प्रश्न : बोधिदुर्लभ भावना को जानकर क्या करना चाहिए ?

उत्तर : मैं भी श्रद्धा, संवेग, शक्ति और विनय के द्वारा उस प्रकार के आत्मा की भावना करता हूँ कि जिस प्रकार से वह बोधि चिरकाल तक बनी रहे। **(मू. ७६३)**

यही समझकर विद्वानों को रत्नत्रयरूपी श्रेष्ठ रत्नों को पाकर प्रयत्न पूर्वक शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को सिद्ध कर लेना चाहिए जिससे उनका बोधि का प्राप्त होना सफल हो जावे। **(मू.प्र. ३११८)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को संसार की समस्त दुर्लभ वस्तुओं में भी दुर्लभ जानकर इन तीनों का अत्यन्त आदर करो। **(का.अ. ३०१)**

६५. प्रश्न : धर्म स्वाख्यातत्व भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर : गति आदि चौदह मार्गणास्थानों में, चौदह गुणस्थानों में आत्मतत्त्व का विचार करना धर्म है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय भगवान अरहंत देव ने ही बतलाया है। इस प्रकार चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है। **(चा.सा. २६७)**

तीर्थंकरों द्वारा कथित धर्म सर्व जगत् का हित करने वाला है। विशुद्ध मन से उसका आश्रय लेने वाले मनुष्य जगत् में धन्य हैं। **(मू. ७५२)**

जिनेन्द्र देव ने अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य इसका आधार है, विनय इसकी जड़ है, क्षमा इसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशम की इसमें प्रधानता है, नियति इसका लक्षण है। परिग्रह रहित पना इसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म विपाक से जायमान दु:ख का अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं। परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्ति पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है, ऐसा चिन्तन करना धर्म स्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। **(सर्वा. ८१०)**

उत्तम सुख में लीन जिनदेव ने कहा है कि श्रावकों और मुनियों का धर्म जो कि सम्यक्त्व सहित होता है, क्रम से ग्यारह और दस प्रकार का है। जो जीव श्रावक धर्म को छोड़कर मुनियों के धर्म का आचरण करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है, इस प्रकार धर्म भावना का नित्य ही चिन्तन करते रहना चाहिए। **(बा.अ. ६८, ८१)**

६६. प्रश्न : मार्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर : मार्गणा, गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। सत् संख्या आदि अनुयोगद्वारों से युक्त चौदह जीव समास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं। **(ध. १/१३२)**

गतियों में - मार्गणा स्थानों में चौदह गुणस्थानों से उपलक्षित जीव जिसके द्वारा खोजे जाते हैं वह गतियों में मार्गणा नामक श्रुति है। **(ध. १३/२८२)**

प्रवचन में जिस प्रकार से देखे हों उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार-अन्वेषण किया जाय उनको ही मार्गणा कहते हैं। **(गो.जी. १४१)**

६७. प्रश्न : चौदह मार्गणायें कौन-कौनसी हैं ?

उत्तर : गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारक ये चौदह मार्गणायें हैं।

(१) गति - जो प्राप्त की जाय वह गति है।

(२) इन्द्रिय - आत्मा का चिह्न या इन्द्र के द्वारा निर्मित इन्द्रियाँ हैं।

(३) काय - आत्मा के द्वारा उपचित-संचित पुद्गल पिण्ड काय है।

(४) योग - वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्य लब्धि योग की प्रयोजक होती है अर्थात् वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से योग होते हैं।

(५) वेद - आत्मा में सम्मोहन रूप प्रवृत्ति उत्पन्न होना वेद है।

(६) कषाय - चारित्र परिणामों को कषने वाली वा घातक कषाय है।

(७) ज्ञान - तत्त्वार्थ का अवबोध ज्ञान है।

(८) संयम - व्रत का धारण, समिति का पालन, कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय रूप दण्ड का त्याग और इन्द्रियविजय, यह पाँच प्रकार का संयम है।

(९) दर्शन - दर्शनावरण के क्षय और क्षयोपशम से होने वाली वृत्ति आलोचन दर्शन कहलाता है।

(१०) लेश्या - कषाय की प्रकर्षता-अप्रकर्षता से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

(११) भव्य - निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता जिसमें प्रगट हो सके वह भव्य कहलाता है और जिसमें प्राप्त करने की योग्यता नहीं है वह अभव्य है।

(१२) सम्यक्त्व - तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व है।

(१३) संज्ञी - शिक्षा, क्रिया आदि को ग्रहण करने वाला संज्ञी है तथा जिसमें शिक्षा आदि के ग्रहण करने की शक्ति नहीं है वह असंज्ञी है।

(१४) आहारक - तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य वर्गणाओं को ग्रहण करना आहार है एवं उन वर्गणाओं को ग्रहण नहीं करना अनाहारक है। **(रा.वा. ११)**

६८. प्रश्न : गति मार्गणा कितने प्रकार की होती है एवं उसमें कौनसा भाव पाया जाता है ?

उत्तर : गति दो प्रकार की है-

(१) कर्मोदय कृत गति (२) क्षायिकी गति।

कर्मोदयकृत गति - ये चार प्रकार की हैं-

(१) नरकगति (२) तिर्यञ्चगति (३) मनुष्यगति (४) देवगति।

ये चारों कर्मोदय कृत गतियाँ हैं क्योंकि कर्मोदय से प्राप्त होती हैं। (अर्थात् औदयिक भाव है।)

क्षायिकीगति - मोक्ष गति क्षायिकी है क्योंकि यह गति सर्व कर्मों के क्षय से प्राप्त होती है। **(रा.वा. ११)**

आदेश प्ररूपणा की अपेक्षा गत्यनुवाद में नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्यगति, देवगति एवं सिद्ध गति होती है। **(ध. १/२०२)**

६९. प्रश्न : इन्द्रिय मार्गणा कितने प्रकार की है एवं वह कौन सा भाव है ?

उत्तर : इन्द्रियों की अवस्थाएँ दो प्रकार की हैं-

(१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये सब इन्द्रियाँ कर्मकृत हैं अर्थात् औदयिक हैं।

आत्मा की अतीन्द्रियता (इन्द्रिय से रहितता) क्षायिकी है। (क्योंकि कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुई है)। **(रा.वा. ११)**

७०. प्रश्न : काय एवं योग मार्गणा के कितने भेद हैं एवं उनमें कौनसे भाव हैं ?

उत्तर : काय सम्बन्धी छह प्रकार के जीव हैं-

(१) पृथ्वीकायिक (२) अप्कायिक (३) तेजकायिक (४) वायुकायिक (५) वनस्पतिकायिक (६) त्रसकायिक। ये छहों स्थावर एवं त्रस नामकर्म के उदय से निर्मित हैं अत: औदयिक हैं और नामकर्म के अत्यन्त उच्छेद हो जाने से अकाय सिद्ध पर्याय प्राप्त होती है। अत: क्षायिकी है।

योग मार्गणा के पन्द्रह भेद हैं-

४ मनोयोग ४ वचनयोग और ७ काययोग। ये (अपने-अपने योग्य) क्षयोपशम से प्राप्त होने के कारण क्षायोपशमिक हैं एवं योग सम्बन्ध से रहित आत्मा क्षायिक है अर्थात् उसके क्षायिक भाव हैं। **(रा.वा.११)**

७१. प्रश्न : वेद एवं कषाय मार्गणा के कितने भेद हैं एवं उनमें कौन से भाव हैं ?

उत्तर : वेद तीन प्रकार के होते हैं, ये तीनों ही नोकषाय विशेष के उदय से होते हैं अत: औदयिक हैं और आत्मा की अपगत वेद अवस्था औपशमिकी और क्षायिकी है।

कषाय चार प्रकार की हैं। ये सब क्रोधादि के उदय से होती हैं अत: औदयिक हैं एवं आत्मा की अकषायत्व अवस्था औपशमिकी और क्षायिकी है। **(रा.वा ११)**

७२. प्रश्न : ज्ञान मार्गणा के कितने भेद हैं एवं वह कौनसा भाव है ?

उत्तर : ज्ञान पाँच प्रकार का है (इनका वर्णन पहले अध्याय में किया है) मिथ्यादर्शन के उदय से अपादित कलुषित ज्ञान तीन प्रकार का अज्ञान हो जाता है- कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। **(रा.वा. ११)** (इस प्रकार ज्ञान मार्गणा आठ प्रकार की है।) चार ज्ञान एवं तीन अज्ञान क्षायोपशमिक भाव हैं। क्योंकि ये अपने-अपने क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं एवं केवलज्ञान क्षायिक भाव है। क्योंकि यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्राप्त होता है। **(ध. ७/८६-९०)**

७३. प्रश्न : संयम मार्गणा कितने प्रकार की है एवं वह कौनसा भाव है ?

उत्तर : संयम मार्गणा के सात भेद हैं-

(१) सामायिक शुद्धि संयत (२) छेदोपस्थापना शुद्धि संयत (३) परिहार शुद्धि संयत (४) सूक्ष्म साम्पराय शुद्धि संयत (५) यथाख्यात विहार शुद्धि संयत। ये पाँच प्रकार के संयत तथा संयतासंयत असंयत जीव होते हैं। **(ध. १/३७०)**

(१) सामायिक एवं छेदोपस्थापना संयम - औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक तीन भाव होते हैं क्योंकि चारित्रमोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होते हैं।

(२) परिहार विशुद्धि संयम - क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि चारित्र मोह के क्षयोपशम से होता है।

(३) सूक्ष्म साम्पराय एवं यथाख्यात संयम - क्षायिक व उपशम भाव है - क्योंकि चारित्रमोह के क्षय एवं उपशम से होते हैं।

(४) संयतासंयत - क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से होता है।

(५) असंयत - औदयिक भाव है क्योंकि चारित्र मोह के उदय से होता है। **(ध. ७/९२-९५)**

७४. प्रश्न : दर्शन मार्गणा कितने प्रकार की है एवं उसमें कितने भाव होते हैं ?

उत्तर : दर्शन मार्गणा चार प्रकार की है-

(१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये तीनों क्षायोपशमिक भाव हैं क्योंकि ये अपने-अपने देशघाती स्पर्धकों के उदय से (अपने-अपने क्षयोपशम से) प्राप्त होते हैं। केवलदर्शन क्षायिक भाव है क्योंकि यह दर्शनावरण के निर्मूलक्षय से प्राप्त होता है। **(ध. ७/१०३)**

७५. प्रश्न : लेश्या मार्गणा कितने प्रकार की है एवं वह कौनसा भाव है ?

उत्तर : लेश्या मार्गणा के अनुवाद से-

(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या और अलेश्या वाले जीव होते हैं। **(ध. १/३८८)**

कृष्णादि छहों लेश्यायें औदयिक भाव हैं क्योंकि कषायों के तीव्र मन्द अनुभागों का उदय उनमें कारण है। **(ध. ७/१०४)**

अलेश्या क्षायिक भाव है क्योंकि वह कषायों के क्षय से उत्पन्न होती है। **(ध. ७/१०६)**

७६. प्रश्न : भव्यत्व मार्गणा कितने प्रकार की है एवं वह कौनसा भाव है ?

उत्तर : भव्यसिद्धिक जीव होते हैं, अभव्यसिद्धिक जीव होते हैं और भव्यसिद्धिक और अभव्यसिद्धिक इन दोनों विकल्पों से रहित भी स्थान होता है। **(ध. २/४२३ पृ.)**

भव्य मार्गणा के अनुवाद में भवसिद्ध और अभवसिद्ध जीव होते हैं। **(ध. १/३९४)** भव्यत्व एवं अभव्यत्व दोनों ही पारिणामिक भाव हैं। कारण सुगम है अर्थात् ये कर्मों के उदय आदि की अपेक्षा बिना ही होते हैं।

भव्य और अभव्य विकल्पों से रहितपना क्षायिक भाव है। (क्योंकि वह कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है।) **(ध. ७/१०६)**

७७. प्रश्न : सम्यक्त्व मार्गणा कितने प्रकार की है एवं वह कौनसा भाव है ?

उत्तर : सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद में सामान्य की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि सामान्य होते हैं। विशेष की अपेक्षा- (१) क्षायिक सम्यग्दृष्टि (२) वेदक सम्यग्दृष्टि (३) उपशम सम्यग्दृष्टि (४) सासादन सम्यग्दृष्टि (५) सम्यग्मिथ्यादृष्टि और (७) मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं। **(ध. १/३९७)**

क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक भाव है क्योंकि दर्शनमोह के क्षय से प्राप्त होता है।

क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यक्त्व क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि वह दर्शनमोह के क्षयोपशम से होता है। उपशम सम्यक्त्व औपशमिक भाव है क्योंकि दर्शनमोह के उपशम से होता है।

सासादन सम्यक्त्व पारिणामिक भाव है क्योंकि यह दर्शनमोह के उपशम, क्षय एवं क्षयोपशम की अपेक्षा बिना होता है।

सम्यग्मिथ्यात्व यह क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि इसमें मिश्रित श्रद्धान का सद्भाव पाया जाता है। मिथ्यात्व यह औदयिक भाव है क्योंकि यह दर्शनमोह के उदय से होता है। **(ध. ७/१०७-११)**

७८. प्रश्न : संज्ञी मार्गणा कितने प्रकार की है एवं वह कौनसा भाव है ?

उत्तर : संज्ञी मार्गणा के अनुवाद में संज्ञी और असंज्ञी जीव होते हैं। संज्ञी तथा असंज्ञी विकल्प रहित स्थान भी होता है। **(ध. १/४१०) (ध. २/४२३)**

संज्ञी सामान्य यह क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि नोइन्द्रियावरण कर्म के देशघाती स्पर्धकों के उदय से (अर्थात् नो इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से) होता है।

असंज्ञी सामान्य यह औदयिक भाव है क्योंकि नो इन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से होता है।

संज्ञी और असंज्ञित्व से रहित-पना यह क्षायिक भाव है क्योंकि यह नो इन्द्रियावरण कर्म के सर्वथा क्षय होने से होता है। **(ध. ७/१११-१२)**

७९. प्रश्न : आहारक मार्गणा कितने प्रकार की है एवं यह कौनसा भाव है ?

उत्तर : आहारक मार्गणा दो प्रकार की है-

(१) आहारक (२) अनाहारक। **(ध. १/४११)**

आहारक यह औदयिक भाव है क्योंकि औदारिक, वैक्रियिक और आहारक नाम कर्म के उदय से होता है। विग्रहगति में औदयिक भाव से अनाहारक होता है, क्योंकि यहाँ सभी कर्मों का उदय होता है। **(ध. ७/११२-१३)**

१३वें गुणस्थान में प्रतर और लोकपूरण समुद्घात के समय अनाहारक होता है क्योंकि वहाँ नोकर्म आहार नियम से नहीं होता है।

१४वें गुणस्थान में कार्मण वर्गणाओं के आगमन के अभाव में अनाहारक अवस्था है। **(क्ष.सा. ६१९)**

८०. प्रश्न : गति एवं इन्द्रिय मार्गणा में कितने जीवसमास होते हैं ?

उत्तर : तिर्यञ्च गति में सर्व जीवसमास होते हैं क्योंकि तिर्यञ्चगति में एकेन्द्रियादि सर्व जीवसमास हैं।

शेष तीन गतियों में दो-दो जीवसमास हैं- संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी अपर्याप्त।

इन्द्रिय मार्गणा में-

एकेन्द्रियों में चार जीवसमास हैं बादर पर्याप्त, बादर अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त, सूक्ष्म अपर्याप्त। विकलत्रयों में दो-दो जीव समास हैं- द्वीन्द्रिय पर्याप्त एवं द्वीन्द्रिय अपर्याप्त।

पंचेन्द्रियों में चार जीवसमास हैं- संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी अपर्याप्त, असंज्ञी पर्याप्त, असंज्ञी अपर्याप्त। **(रा.वा. ११)**

८१. प्रश्न : काय मार्गणा में कितने जीवसमास होते हैं ?

उत्तर : पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायुकायिकों में चार-चार जीवसमास हैं-

सूक्ष्म पर्याप्त, सूक्ष्म अपर्याप्त, बादर पर्याप्त, बादर अपर्याप्त।

वनस्पतिकायिक के छह जीव समास हैं-

(१) साधारण वनस्पति सूक्ष्म पर्याप्त (२) साधारण वनस्पति सूक्ष्म पर्याप्त (३) बादर वनस्पति पर्याप्त, (४) बादर वनस्पति अपर्याप्त (५) प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त (६) प्रत्येक वनस्पति अपर्याप्त।

त्रसकायिकों में दस जीव समास हैं-

विकलत्रयों के - ६ + पंचेन्द्रियों के ४ = १० **(रा.वा. ११)**

८२. प्रश्न : योग मार्गणा में कितने जीवसमास होते हैं ?

उत्तर : मनोयोग में एक जीवसमास संज्ञी पर्याप्त।

वचनयोग में पाँच जीवसमास-

(१) द्वी. पर्याप्त (२) त्री.प., (३) चतु. प., (४) संज्ञी पर्याप्त, (५) असंज्ञी पर्याप्त।

काययोग में- चौदह जीवसमास होते हैं। **(रा.वा. ११)**

औदारिक काययोग में सात जीवसमास हैं- सातों पर्याप्तक के।

औदारिक मिश्र काययोग में सात जीवसमास हैं- सातों अपर्याप्तक के।

वैक्रियिक काययोग में एक जीवसमास है- संज्ञी पर्याप्तक।

वैक्रियिक मिश्र काययोग में एक जीवसमास है- संज्ञी अपर्याप्तक।

आहारक काययोग में एक जीवसमास है- संज्ञी पर्याप्तक।

आहारक मिश्र काययोग में एक जीवसमास है- संज्ञी अपर्याप्तक।

कार्मण काययोग में सात जीवसमास हैं- अपर्याप्तक अवस्था के। **(रा.वा. ११)**

८३. प्रश्न : वेद मार्गणा में कितने जीवसमास होते हैं ?

उत्तर : वेद मार्गणा में चौदह जीवसमास हैं-

स्त्री वेद में चार जीव समास हैं- संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी अपर्याप्त, असंज्ञी पर्याप्त, असंज्ञी अपर्याप्त।

पुरुष वेद में चार जीवसमास हैं- सं.पं., सं अपर्या. असंज्ञी पर्या. असंज्ञी अपर्याप्त।

नपुंसक वेद में चौदह जीव समास हैं- एकेन्द्रियादि के।

अपगत वेद में संज्ञी पर्याप्तक नामक एक जीवसमास है। **(रा.वा.११)**

८४. प्रश्न : कषाय एवं ज्ञान मार्गणा में कितने जीवसमास होते हैं ?

उत्तर : कषाय मार्गणा में - कषाय मार्गणा के चारों भेदों में चौदह जीवसमास हैं।

अकषाय अवस्था में एक जीवसमास है- संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक।

ज्ञान मार्गणा में - मति अज्ञान एवं श्रुत अज्ञान में चौदह जीव समास हैं।

कुअवधि और मन:पर्ययज्ञान में एक जीवसमास है- संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान में दो जीवसमास हैं- संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त। केवलज्ञान में एक जीवसमास है- संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त। **(रा.वा. ११)**

८५. प्रश्न : संयम एवं दर्शन मार्गणा में कितने जीवसमास हैं ?

उत्तर : संयम मार्गणा में - सामायिकादि पाँचों संयमों में एक जीवसमास है- संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक।

संयमासंयम में एक जीवसमास है- संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक।

असंयम में चौदह जीवसमास हैं- एकेन्द्रियादि।

दर्शन मार्गणा में - चक्षु दर्शन में तीन जीवसमास हैं- चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, संज्ञी पर्याप्तक। चक्षुदर्शन वाले जीवों के अपर्याप्तक स्थान लब्धि की अपेक्षा से है, निवृत्ति की अपेक्षा नहीं।

अचक्षुदर्शन में चौदह जीवसमास हैं- एकेन्द्रियादि।

अवधिदर्शन में दो जीवसमास हैं- संज्ञी पर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक।

केवलदर्शन में एक जीवसमास है संज्ञी पर्याप्तक। **(रा.वा. ११)**

८६. प्रश्न : लेश्या एवं भव्यत्व मार्गणा में कितने जीवसमास है ?

उत्तर : लेश्या मार्गणा में- कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में सभी (चौदह) जीवसमास हैं।

पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या में दो जीवसमास हैं- संज्ञी पर्याप्तक, संज्ञी अपर्याप्तक।

अलेश्या वाले जीव के एक जीवसमास है- पर्याप्तक।[१]

भव्य मार्गणा में- भव्य और अभव्य दोनों में सभी जीवसमास हैं। **(रा.वा. ११)**

८७. प्रश्न : सम्यक्त्व, संज्ञी एवं आहारक मार्गणा में कितने जीवसमास हैं ?

उत्तर : सम्यक्त्व मार्गणा में - उपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व एवं सासादन सम्यक्त्व में दो जीवसमास हैं- संज्ञी पर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक।

सम्यग्मिथ्यात्व में एक जीवसमास है- संज्ञी पर्याप्तक।

मिथ्यात्व में चौदह जीवसमास हैं- एकेन्द्रियादि।

संज्ञीमार्गणा में- संज्ञी जीवों के दो जीव समास हैं- संज्ञी पर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक।

असंज्ञी जीवों में बारह जीवसमास हैं- संज्ञी जीवों के दो को छोडकर शेष। संज्ञी असंज्ञी व्यवहार रहित अवस्था में पर्याप्तक नामक एक ही जीवस्थान होता है।

कर्मोदय की अपेक्षा **आहारक मार्गणा** में चौदह जीवसमास हैं।

अनाहारक अवस्था में सात जीवसमास हैं- अपर्याप्तक अवस्था सम्बन्धी।

केवली समुद्घात में और अयोगकेवली के कर्मोदय की अपेक्षा एक जीवसमास-पर्याप्तक।

सिद्धावस्था जीवसमास से अतीत है। **(रा.वा. ११)**

---

१. चौदहवें गुणस्थान में संज्ञी-असंज्ञीपना नहीं होता इसलिए पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव समास होता है।

८८. प्रश्न : नरक गति में कितने गुणस्थान पाये जाते हैं ?

उत्तर : नरक गति में- सातों नरकों की पर्याप्त अवस्था में आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

प्रथम नरक की अपर्याप्त अवस्था में दो गुणस्थान हैं- पहला और चौथा।

शेष छह नरकों की अपर्याप्त अवस्था में एक गुणस्थान है- मिथ्यात्व। **(रा.वा. ११)**

८९. प्रश्न : तिर्यञ्चगति में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : तिर्यञ्चों की पर्याप्तावस्था में आदि के पाँच गुणस्थान हैं।

इनकी अपर्याप्तावस्था में तीन गुणस्थान होते हैं- पहला, दूसरा, चौथा।

तिर्यञ्चनियों की पर्याप्तावस्था में आदि के पाँच गुणस्थान होते हैं।

इनकी अपर्याप्तावस्था में दो गुणस्थान हैं- पहला, दूसरा।

क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता अत: अपर्याप्त अवस्था में तिर्यञ्चनियों के चौथा गुणस्थान नहीं होता है। **(रा.वा. ११)**

लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यञ्चों के एक गुणस्थान है- मिथ्यात्व।

९०. प्रश्न : मनुष्यगति में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : पर्याप्त मनुष्यों के चौदह गुणस्थान होते हैं।

अपर्याप्त अवस्था में तीन गुणस्थान होते हैं- पहला, दूसरा, चौथा।

मनुष्यनियों की पर्याप्त अवस्था में सभी गुणस्थान हैं। (भावलिङ्गापेक्षा)

द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा पाँच ही गुणस्थान होते हैं।

इनकी अपर्याप्त अवस्था में आदि के दो गुणस्थान होते हैं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि द्रव्य और भाव दोनों स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है।

भव अपर्याप्त (लब्ध्यपर्याप्तक) मनुष्यों के एक गुणस्थान है- मिथ्यात्व। **(रा.वा.११)**

९१. प्रश्न : देवगति में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : भवनत्रिक देवों के पर्याप्त अवस्था में आदि के चार गुणस्थान होते हैं। भवनत्रिक और सौधर्म-ईशान कल्पवासी सर्व देवियों में पर्याप्तावस्था में आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

इनकी (भवनत्रिक देव एवं देवियों की) अपर्याप्त अवस्था में आदि के दो गुणस्थान होते हैं।

सौधर्म- ईशान स्वर्ग से उपरिम ग्रैवेयक तक के पर्याप्तकों में आदि के चार गुणस्थान हैं।

इनके अपर्याप्तक अवस्था में तीन गुणस्थान हैं- पहला, दूसरा, चौथा।

अनुदिश और अनुत्तर विमानवासियों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों ही अवस्थाओं में एक

ही गुणस्थान होता है- चौथा। क्योंकि वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं। **(रा.वा.११)**

९२. प्रश्न : इन्द्रिय और काय मार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : इन्द्रिय मार्गणा में - एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रियों तक में एक ही गुणस्थान है- मिथ्यात्व। संज्ञी पंचेन्द्रिय के सर्व चौदह गुणस्थान हैं।

काय मार्गणा में - पृथ्वीकायिकादि वनस्पति पर्यन्त पाँच स्थावरों में एक गुणस्थान है- मिथ्यात्व। त्रसकायिकों में चौदह गुणस्थान हैं। **(रा.वा. ११)**

९३. प्रश्न : योगमार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : सत्य मनोयोग एवं अनुभय मनोयोग में १३ गुणस्थान हैं। संज्ञी मिथ्यात्व से सयोग केवली तक। असत्य एवं उभय मनोयोग में १२ गुणस्थान होते हैं- संज्ञी मिथ्यात्व से क्षीणकषाय तक। अनुभय वचनयोग में तेरह गुणस्थान हैं द्वीन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से सयोग केवली पर्यन्त।

असत्य वचन योगी एवं उभय वचन योगी - संज्ञी मिथ्यादृष्टि से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। अर्थात् आदि के बारह गुणस्थान हैं।

सत्यवचन योगी संज्ञी मिथ्यादृष्टि से सयोगकेवली तक होते हैं। अर्थात् आदि के तेरह गुणस्थान हैं।

औदारिक काय योग में आदि के तेरह गुणस्थान होते हैं।

औदारिक मिश्र काययोग में चार गुणस्थान हैं- पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ।

वैक्रियिक काययोग में आदि के चार गुणस्थान हैं।

वैक्रियिक मिश्र काययोग में तीन गुणस्थान हैं- पहला, दूसरा, चौथा।

आहारक एवं आहारक मिश्र में एक ही गुणस्थान है- छठा।

कार्मण काययोग में चार गुणस्थान होते हैं- मिथ्यात्व, सासादन, असंयत सम्यग्दृष्टि एवं सयोगकेवली। अयोग के एक गुणस्थान है- चौदहवाँ। **(रा.वा. ११)**

९४. प्रश्न : वेद और कषाय मार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : वेद मार्गणा में-

स्त्रीवेद एवं पुरुषवेद असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर नौवें गुणस्थान तक होते हैं।

नपुंसक वेद एकेन्द्रिय से लेकर नौवें गुणस्थान तक होता है।

तीनों वेदों में आदि के नौ गुणस्थान होते हैं।

अपगत वेद में पाँच गुणस्थान हैं- दसवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ।

कषाय मार्गणा में-क्रोध, मान, माया कषाय एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से नौवें गुणस्थान तक होती हैं।

लोभ कषाय एकेन्द्रिय से दसवें गुणस्थान तक होती है।

(आदि की तीन कषायों में आदि के नौ गुणस्थान हैं।)

(लोभ कषाय में आदि के दस गुणस्थान हैं।)

अपगत कषाय (कषाय रहित) जीव के चार गुणस्थान हैं-११वाँ, १२वाँ, १३वाँ, १४वाँ। **(रा.वा.११)**

९५. प्रश्न : ज्ञान मार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान में दो गुणस्थान हैं। ये एकेन्द्रिय आदि जीवों के होते हैं- मिथ्यात्व, सासादन। कुअवधि ज्ञान में दो गुणस्थान हैं- मिथ्यात्व, सासादन। (यह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के ही होता है।)

अज्ञानमिश्रित तीनों ज्ञानों में एक गुणस्थान है- सम्यग्मिथ्यात्व।

मति, श्रुत, अवधि ज्ञान में नौ गुणस्थान हैं- चौथे से बारहवें तक।

मन:पर्यय ज्ञान में सात गुणस्थान हैं- छठे से बारहवें तक।

केवलज्ञान में दो गुणस्थान हैं- तेरहवाँ, चौदहवाँ। **(रा.वा.११)**

९६. प्रश्न : संयम मार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : सामायिक और छेदोपस्थापना संयम में चार गुणस्थान हैं- छठे से नौवें तक।

परिहारविशुद्धि संयम में दो गुणस्थान हैं- छठा, सातवाँ।

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में एक ही गुणस्थान है- दसवाँ।

यथाख्यात संयम में चार गुणस्थान हैं- ग्यारहवें से चौदहवें तक।

संयमासंयम में एक गुणस्थान है- पाँचवाँ।

असंयम में चार गुणस्थान हैं- पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा। **(रा.वा. ११)**

९७. प्रश्न : दर्शन मार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : चक्षुदर्शन में आदि के बारह गुणस्थान हैं, यह चतुरिन्द्रिय से बारहवें गुणस्थान तक होता है।

अचक्षुदर्शन में आदि के बारह गुणस्थान हैं- यह एकेन्द्रिय से बारहवें गुणस्थान तक होता है।

अवधिदर्शन में नौ गुणस्थान हैं- चौथे से बारहवें तक।

केवलदर्शन में दो गुणस्थान हैं।- सयोग केवली और अयोग केवली। **(रा.वा.११)**

९८. प्रश्न : लेश्या मार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : कृष्ण, नील, कापोत लेश्या में आदि के चार गुणस्थान हैं। ये एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों के होती हैं। पीत और पद्म लेश्या में आदि के सात गुणस्थान हैं। ये मिथ्यादृष्टि से सातवें गुणस्थान तक होती हैं। शुक्ल लेश्या में आदि के तेरह गुणस्थान हैं। यह संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से सयोगकेवली तक होती हैं। लेश्या रहित अवस्था में एक गुणस्थान है- अयोग केवली। **(रा.वा.११)**

९९. प्रश्न : भव्य एवं सम्यक्त्व मार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : भव्यमार्गणा में-

भव्यों में चौदह गुणस्थान होते हैं।

अभव्य जीवों में एक गुणस्थान होता है- मिथ्यात्व।

सम्यक्त्व मार्गणा में-

क्षायिक सम्यक्त्व में ग्यारह गुणस्थान हैं- चौथे से चौदहवें तक।

वेदक सम्यक्त्व में चार गुणस्थान हैं- चौथे से सातवाँ।

उपशम सम्यक्त्व में आठ गुणस्थान हैं- चौथे से ग्यारहवें तक।

सासादन सम्यक्त्व में एक गुणस्थान है- दूसरा।

सम्यग्मिथ्यात्व में एक गुणस्थान है- तीसरा।

मिथ्यात्व में एक गुणस्थान है- पहला। **(रा.वा.११)**

१००.प्रश्न : संज्ञी एवं आहारक मार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : संज्ञी मार्गणा में-

संज्ञी जीवों में आदि के बारह गुणस्थान हैं।

असंज्ञी जीवों में एक ही गुणस्थान है- मिथ्यात्व। यह एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं।

संज्ञी-असंज्ञी व्यपदेश से रहित जीवों के दो गुणस्थान हैं- सयोग केवली-अयोगकेवली।

आहार मार्गणा में - आहारक जीवों में आदि के तेरह गुणस्थान हैं- ये एकेन्द्रिय से सयोगकेवली तक होते हैं।

अनाहारक जीवों के पाँच गुणस्थान हैं- पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ, चौदहवाँ।

तेरहवाँ गुणस्थान लोकपूरण और प्रतर समुद्घात की अपेक्षा है।

सिद्धावस्था गुणस्थानातीत है। **(रा.वा.११)**

१०१.प्रश्न : कौनसी गति में कितने सम्यक्त्व होते हैं ?

उत्तर : नरकगति में-

प्रथम नरक में तीन सम्यक्त्व होते हैं- क्षायिक, वेदक, उपशम।

शेष छह नरकों में दो सम्यक्त्व होते हैं- वेदक एवं उपशम।

तिर्यञ्च गति में-

चौथे गुणस्थान में- तीन सम्यक्त्व हैं- क्षायिक, वेदक, उपशम।

पाँचवें गुणस्थान में दो सम्यक्त्व हैं- वेदक, उपशम। क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व के साथ पूर्वबद्ध तिर्यञ्चायु वाला आत्मा भोगभूमि में ही उत्पन्न होता है।

तिर्यञ्चनियों के चौथे और पाँचवें दोनों गुणस्थानों में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि दर्शनमोह की तीन और अनन्तानुबन्धी चतुष्क की क्षपणा पुल्लिंगी कर्मभूमिया मनुष्य ही करते हैं और वे मरकर पुल्लिंग में ही उत्पन्न होते हैं, स्त्रीलिङ्ग में नहीं।

मनुष्य गति में-

चौथे और पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थान में तीनों सम्यक्त्व होते हैं।

आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक दो सम्यक्त्व हैं- क्षायिक, उपशम।

बारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक एक सम्यक्त्व है- क्षायिक।

देवगति में-

भवनत्रिक एवं सभी देवांगनाओं में चौथे गुणस्थान में दो सम्यक्त्व हैं- वेदक, उपशम। सौधर्म से उपरिम ग्रैवेयक तक तीन सम्यक्त्व हैं- क्षायिक, वेदक, उपशम।

अनुदिश और अनुत्तर में दो सम्यक्त्व हैं- क्षायिक एवं क्षायोपशमिक (वेदक) **विशेष-** जो उपशम श्रेणी में मरते हैं उनके औपशमिक सम्यक्त्व भी हो सकता है। **(रा.वा.११)**

१०२.प्रश्न : धर्म भावना का चिन्तन करने से क्या लाभ है?

उत्तर : धर्म भावना का चिन्तन करने वाले मानव का धर्म के प्रति अनुराग होने से वह हमेशा धर्म में प्रयत्नशील रहता है। **(रा.वा. ११)**

जैसे-जैसे इस जीव के उपशमय, दया, क्षमा और वैराग्य बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्षसुख भावित होता है। **(मू. ७५५)** जो निर्मलधर्म का पालन करते हैं उनके चरण कमलों में इन्द्र भी भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं, तब अन्य की तो गणना क्या? **(शा.पु. १५/१४०)** चौरासी लाख योनियों में दु:खों को सहते हुए भ्रमण करते इस जीव को जब इस प्रकार के पूर्वोक्त धर्म की प्राप्ति होती है तब वह विविध

प्रकार के अभ्युदय सुखों को पाकर, तदनन्तर अभेद रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षयानन्त सुखादि गुणों का स्थानभूत अर्हन्तपद और सिद्ध पद को प्राप्त होता है इस कारण धर्म ही परमरस का रसायन है, धर्म ही निधियों का भण्डार है, धर्म ही कल्पवृक्ष है, कामधेनु है, धर्म ही चिन्तामणि है। **(बृ.द्र.सं. ३५ टी.)**

१०३.प्रश्न : धर्म भावना समझकर क्या करना चाहिए ?

उत्तर : धर्म भावना को समझकर बुद्धिमानों को धर्मसेवन करना चाहिए। बहुमूल्य मनुष्य पर्यायरूपी रत्न प्राप्त कर धर्म के बिना एकक्षण भी व्यतीत नहीं करना चाहिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र द्वारा वर्णित दयाधर्म का पालन करना चाहिये। मोक्षाभिलाषी पुरुषों को आत्मा की शुद्धि करने के लिए जिन देव द्वारा वर्णित धर्म का सर्वदा पालन करते रहना चाहिए। **(शा.पु. १५/ १३७-४२)**

१०४.प्रश्न : सूत्र में 'अनुप्रेक्षा:' बहुवचन क्यों रखा है ?

उत्तर : सूत्र में 'अनुप्रेक्षा:' शब्द भावसाधन है। क्योंकि कृदन्त से अभिहित भाव द्रव्य के समान होता है। जैसे ''पाक: और पाकौ'' इसमें भावसाधन में दो वचन है, अत: अनुप्रेक्षितव्य के भेद से भाव में भी भेद होकर बहुवचन का निर्देश न्याय प्राप्त है। **(रा.वा. १५)**

१०५.प्रश्न : परीषह एवं धर्मों के मध्य में अनुप्रेक्षा का कथन किसलिए किया है ?

उत्तर : परीषह एवं धर्मों के मध्य में अनुप्रेक्षा का कथन उभय निमित्तत्व के लिए है। क्योंकि अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने वाला ही उत्तम क्षमा आदि धर्मों का पालन करता है और परीषहों को जीतने के लिए उत्साहित होता है अत: धर्म और परीषहजय के मध्य में अनित्यादि भावनाओं का उल्लेख किया है। **(रा.वा. १७)**

परीषहों को सहन करने का कारण कहते हैं-

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्या: परीषहा: ॥८॥

मार्ग-अच्यवन-निर्जरार्थं-परिसोढव्या: परीषहा:।

(मार्गाच्यवन निर्जरार्थं) मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा निर्जरा के लिए (परीषहा:) परीषह (परिसोढव्या:) सहन करना चाहिए।

अर्थ - जिनेन्द्रोक्त मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा निर्जरा के लिए परीषहों को सहन करना चाहिए।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : संवर के कारणभूत परीषहजय का कथन करेंगे। आप परीषहजय का वर्णन तो करेंगे परन्तु प्रथम यह कहना चाहिए कि परीषह सहन क्यों की जाती है ? अथवा, इसकी पारिभाषिक संज्ञा सार्थक है

कि असार्थक ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. ८/उ.)**

२. प्रश्न : परीषहजय यह सार्थक नाम है या असार्थक ?

उत्तर : परीषहजय यह सार्थक नाम है। क्योंकि नाम छोटे से छोटा रखा जाता है। यहाँ 'परीषह' इतना बड़ा नाम रखने का यह प्रयोजन है कि 'परीषहजय' यह सार्थक नाम है अत: इसका जैसा नाम है वैसा ही कहा जाता है कि जो सहन किये जायें वे परीषह हैं। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : परीषह को सहन क्यों करना चाहिए[1]?

उत्तर : परीषहों को जीतने वाले सन्त उन परीषहों के द्वारा तिरस्कृत नहीं होते हुए प्रधान संवर का आश्रय लेकर अप्रतिबन्ध से क्षपक श्रेणी पर आरूढ होने के लिए सामर्थ्य को प्राप्त कर उत्तरोत्तर साहस को बढ़ाते हुए सकल कषायों की प्रध्वंस शक्ति वाले होकर ध्यान रूपी परशु के द्वारा कर्मों की जड़ को उखाड़ कर जिनके पंखों पर जमी हुई धूल झड़ गई है, उन उन्मुक्त पक्षियों की तरह पंखों को फड़-फड़ाकर ऊपर उठ जाते हैं। इसलिए संवरमार्ग और निर्जरा की सिद्धि के लिए परीषह सहन करनी चाहिए। **(रा.वा.३)**

मुनिराज को चारित्र मार्ग से वा मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए तथा पापकर्मों की निर्जरा करने के लिए परीषहों को अवश्य सहन करना चाहिए। **(मू.प्र. ३१२३)**

संयमी तपस्वी को सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा के लिए परीषहों को सहन करना चाहिए। **(चा.सा. १६६)**

अपने आत्मा को जानने के इच्छुकों को परीषह सहन करनी चाहिए, जो परीषहों को सहन नहीं करता, उसका स्वात्मज्ञान परीषहों के उपस्थित होने पर स्थिर नहीं रहता- नाश को प्राप्त हो जाता है। **(यो.सा. ६/२६)**

४. प्रश्न : परीषहजय क्या है ?

उत्तर : कर्मागम द्वार को रोकने वाले संवर रूप जिनेन्द्रकथित मार्ग से च्युत न हो जायें, इसके पूर्व ही परीषहों पर विजय प्राप्त की जाती है, वा कर्मों की निर्जरा के लिए जो सहन की जावे, वह परीषह-जय कहलाती है। **(रा.वा. ३)**

परीषहों के नाम

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या-क्रोशवधयाचनाऽलाभरोग-तृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।।९ ।।

क्षुत्-पिपासा-शीत-उष्ण-दंशमशक-नाग्न्य-अरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या-आक्रोश-वध-याचना -अलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञा-अज्ञान-अदर्शनानि।

---

१. अदु:खभावितं ज्ञानं, क्षीयते दु:खसन्निधौ। तस्माद्यथाबलं दु:खैरात्मानं भावयेत् मुनि: ।।**स.त.१०२**।।

अर्थ - क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या,आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये बाईस परीषह हैं।

क्षुधा - भोजन की अभिलाषा क्षुधा है।

तृषा - जल पीने की इच्छा तृषा (पिपासा) है।

शीत - शरीर को ढकने की इच्छा के कारणभूत पुद्गल स्कन्ध है वह शीत है।

उष्ण - ठण्ड की अभिलाषा का कारण सूर्य अथवा ज्वर आदि से उत्पन्न संताप उष्ण है।

दंशमशक - डाँस और मच्छरों के द्वारा डसने पर जो शरीर में पीड़ा होती है वह दंशमशक है।

नग्नता - नग्न अवस्था का नाम अचेलकत्व है।

अरतिरति - चारित्र में द्वेष और असंयम की अभिलाषा होना सो अरतिरति परीषह है।

स्त्री - स्त्रियों द्वारा कटाक्ष से देखने आदि से जो बाधा है वह स्त्री परीषह है।

चर्या - नंगे पैरों जो मार्ग में चलना है वह चर्या परीषह है।

निषद्या - वीरासन आदि आसनों से बैठने पर जो पीड़ा होती है वह निषद्या परीषह है।

शय्या - ऊँची-नीची आदि भूमि में जो एक पसवाड़े या दण्डाकार आदि रूप से सोने के कारण जो पीड़ा होती है वह शय्या परीषह है।

आक्रोश - मिथ्यादृष्टि के द्वारा अवज्ञा, संघ के लिए निन्दापरक वचन सुनने से उत्पन्न हुई बाधा आक्रोश परीषह है।

वध - मुद्गर आदि के प्रहार से की गयी पीड़ा वध परीषह है।

अयाचना - किसी भी परिस्थिति में मुख के म्लान आदि किसी संकेत के द्वारा कुछ भी नहीं मांगना अयाचना परीषह है।

अलाभ - आहार आदि का लाभ नहीं होने पर उत्पन्न बाधा अलाभ है।

रोग - ज्वर, खांसी आदि व्याधियों से हुई पीड़ा रोग परीषह है।

तृणस्पर्श - काँटा, मिट्टी आदि से जो शरीर या पैर में वेदना होती है वह तृणस्पर्श परीषह है।

मल - पसीना आदि से उत्पन्न हुआ कष्ट जल्ल या मल परीषह है।

सत्कार-पुरस्कार - सत्कार-पुरस्कार के न होने से जो मानसिक ताप होता है वह सत्कार-पुरस्कार है।

प्रज्ञा - विज्ञान के मद से उत्पन्न हुआ गर्व प्रज्ञा परीषह है।

अज्ञान - सिद्धान्त आदि का ज्ञान न होने से जो अन्तरंग में सन्ताप उत्पन्न होता है वह अज्ञान है।

अदर्शन - महाव्रतादि से भी कोई अतिशय नहीं दिख रहा है, ऐसा सोचना अदर्शन परीषह है। **(मू. २५५ आ.)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : परीषह कौन-कौन से हैं ? और कितने हैं ? इस प्रकार प्रश्न होने पर उनके नाम और संख्या को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ९)**

२. प्रश्न : परीषह कितने होते हैं ?

उत्तर : बाह्य और अभ्यन्तर द्रव्यों के परिणमन रूप शारीरिक और मानसिक पीड़ा की कारण-भूत परीषह बाईस होती हैं। **(रा.वा.१)**

(१) क्षुधा परीषह (२) पिपासा परीषह (३) शीत परीषह (४) उष्ण परीषह (५) दंशमशक परीषह (६) नाग्न्य परीषह (७) अरति परीषह[१] (८) स्त्री परीषह (९) चर्या परीषह (१०) निषद्या परीषह (११) शय्या परीषह (१२) आक्रोश परीषह (१३) वध परीषह (१४) याचना परीषह (१५) अलाभ परीषह (१६) रोग परीषह (१७) तृणस्पर्श परीषह (१८) मल परीषह (१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह (२०) प्रज्ञा परीषह (२१) अज्ञान परीषह (२२) अदर्शन परीषह। **(त.सू. ९/९)**

मूलाचार में पिपासा के स्थान पर तृषा, अरति के स्थान पर अरतिरति, नाग्न्य के स्थान पर - अचेलकत्व, मल के स्थान पर जल्ल, याचना के स्थान पर अयाचना या याचना तथा सत्कार-पुरस्कार के स्थान पर सत्कार परीषह कहे गये हैं। **(मू. २५५)**

३. प्रश्न : क्षुधापरीषह जय किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षुधा का प्रतीकार अकाल में संयम के विरोधी द्रव्य के द्वारा न तो स्वयं करते हैं, न दूसरे से कराते हैं, न मन में 'यह वेदना दुस्तर है, समय बहुत है, बहुत बड़े-बड़े दिन होते हैं, आदि' विचार करते हैं क्षुधा के कारण वे ज्ञानी साधु किसी प्रकार के विषाद को प्राप्त नहीं करके शरीर में अस्थि, सिरा-जाल, चमड़ा मात्र रह जाने पर भी आवश्यक क्रियाओं को बराबर नियम से करते हैं, तथा उस भयंकर क्षुधा की पीड़ा को नहीं गिनते हुए क्षुधा परीषह को जीतते हैं। इसे क्षुधा परीषहजय कहते हैं। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : मुनिराज को क्षुधा किस कारण से लगती है ?

उत्तर : अनेक उपवास, मार्ग का परिश्रम, रोग का श्रम, तपश्चरण का श्रम, स्वाध्याय का श्रम,

---

१. रति परीषह क्यों नहीं ? क्योंकि रागरूप परिणाम में मन लग जाता है।

आहार के समय का उल्लंघन, अवमौदर्य और असातावेदनीय का उदय इन सब कारणों के द्वारा अनेक प्रकार के आहार ईंधनों से वंचित रह जाने पर पेट की आँतों की दाहिनी ओर की वायु के आंदोलन से बढ़ी हुई अग्नि की शिखा के समान चारों ओर से शरीर, इन्द्रिय और हृदय को क्षोभ उत्पन्न करने वाली क्षुधा उत्पन्न होती है। **(चा.सा. १६८)** मुनिराज ने बेला, तेला, पक्ष, मास का उपवास किया हो और पारणा के दिन भी आहार का लाभ न हुआ हो तो उस समय अग्नि की शिखा के समान उनके अन्तरंग को जलाने वाली क्षुधा वेदना उत्पन्न होती है। **(मू.प्र. ३१२७)**

चारित्र मोहनीय और वीर्यान्तराय कर्म की अपेक्षा लेकर असाता वेदनीय का उदय होने पर क्षुधा उत्पन्न होती है। **(मू. २५४ आ.)**

५. प्रश्न : मुनिराज को भोजन किस कारण नहीं मिलता है ?

उत्तर : कृत, कारित, अनुमत, संकल्पित, उद्दिष्ट, संक्लिष्ट, क्रियागत, प्रत्यादत्त, पूर्व कर्म, पश्चात् कर्म इन दस प्रकार के दोषों में से कोई भी दोष लग जाने से उसी समय आहार का त्याग कर देते हैं तथा देश, काल एवं जनपद की व्यवस्था की अपेक्षा रखते हैं इसलिए उन्हें भोजन (आहार) नहीं मिल पाता है। **(चा.सा. १६८)** पूर्व में बताये गये एषणा समिति के दोषों के लगने पर भी आहार का त्याग कर देते हैं और अन्तराय के कारणों के मिलने पर भी आहार नहीं करते हैं।

६. प्रश्न : क्षुधा कैसी है ?

उत्तर : क्षुधा इन्द्रियों के समूह को अपना विषय ग्रहण करने में असमर्थ कर देती है, चित्त को अत्यन्त भ्रान्त कर देती है और बलवान् मनुष्यों के प्राणों को प्रयाण के सम्मुख कर देती है। जो अन्न के अधीन रहने वाले मनुष्य के विषय में निष्फल है और तप की पुष्टि के लिए अन्नादि का त्याग करने वाले मनुष्य के विषय में अत्यन्त सफल है। (अर्थात् निर्जरा का कारण है)।

७. प्रश्न : मुनिराज क्षुधा वेदना को किस प्रकार शांत करते हैं ?

उत्तर : मैंने परवश होकर जो भूख की वेदना सही है, मनुष्यगति में बन्दीगृह में पड़कर, जलचर, थलचर, नभचर (पशु-पक्षियों की) योनियों में जो क्षुधा की वेदना सही है, तिर्यञ्च गति में बाँधे जाने, रोके जाने के कारण जो क्षुधावेदना सही है, नरक गति में जो क्षुधा सही है उसके सामने यह भूख कितनी है ? कुछ भी नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करते हुए मुनिराज क्षुधा को जीतते हैं। **(मू.प्र. ३१२८-३०)**

कारागार के बन्धन में पड़े हुए भूख से छटपटाते हुए मनुष्यों को और पिंजरे में बन्द पशु-पक्षियों को क्षुधा से पीड़ित एवं परतन्त्र देखकर उनकी दशा का विचार करके संयम रूपी कुम्भ में भरे हुए धैर्य रूपी जल से क्षुधारूपी अग्नि का शमन करते हैं। **(रा.वा. २)**

८. प्रश्न : तृषा परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : यदि तृषारूपी अग्नि से उन मुनियों के ओठ सूख गये हों, मुख सूख गया हो, समस्त शरीर

सूख गया हो तथा वे मुनिराज प्यास की अग्नि से संतप्त हो रहे हों तो भी प्यास की शांति के लिए अपना मुख प्रक्षालन आदि नहीं करना तृषापरीषहजय है। **(मू.प्र. ३१३४)**

९. प्रश्न : तृषा परीषहजय किसके होता है ?

उत्तर : इन्द्रियों को मथने वाली पिपासा को कुछ न समझकर उसके प्रतीकार की इच्छा नहीं करने वाले जेठ महीने के सूर्य का तीव्र ताप और जंगल में जलाशय के निकट रहने पर भी जलकायिक जीवों की हिंसा का परिहार करने की इच्छा से उन जलाशयों के जल से प्यास बुझाने की इच्छा नहीं करने वाले, पानी सींचने के अभाव में मुरझाई हुई लता के समान म्लानता को प्राप्त हुए शरीर की परवाह न करके तप का परिपालन करने वाले, भिक्षा के समय भी संकेत आदि के द्वारा योग्य जल को भी नहीं चाहने वाले मुनिराज के पिपासा परीषहजय होता है। **(रा.वा. ३)**

जिसने जल से स्नान करने, उसमें अवगाहन करने और उससे सिंचन करने का त्याग कर दिया है, जिसका पक्षी के समान आसन और आवास नियत नहीं है, ऐसे मुनिराज शरीर और इन्द्रियों को मथने वाली पिपासा का प्रतीकार करने में आदर भाव नहीं रखते, उसके पिपासाजय प्रशंसा के योग्य है। **(सर्वा. ८१६)**

१०. प्रश्न : मुनिराज को किस कारण प्यास की बाधा होती है ?

उत्तर : अतिखारे, अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष, प्रकृतिविरुद्ध आहार, ग्रीष्म कालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदि के कारण प्यास उत्पन्न होती है। **(सर्वा. ८१६)**

अनेक उपवास करने से, मार्ग के परिश्रम से, विरुद्ध अन्न के सेवन करने से और ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तीव्र किरणों से मुनियों के तीव्र प्यास की वेदना होती है। **(मू.प्र. ३१३१)** चारित्र मोहनीय और वीर्यान्तराय की सहायता से तथा असातावेदनीय के उदय से प्यास की वेदना होती है। **(मू. २५४ आ.)**

११. प्रश्न : मुनिराज क्या विचार कर पिपासाजय करते हैं ?

उत्तर : मैंने परवश होकर मनुष्यगति में, तिर्यञ्चगति में, नरक गति में और निर्जन वनों में चिरकाल तक बड़ी-बड़ी कठिन प्यास की वेदना सही है। इस प्रकार चिन्तन कर उन धीर-वीर मुनिराज को तृषा परीषह जीतनी चाहिए। **(मू.प्र. ३१३३)**

परम संयमी साधु धैर्य रूपी कुम्भ में भरे हुए, शील से सुगन्धित प्रज्ञा रूपी जल से तृष्णा रूपी अग्नि की ज्वाला को बुझाते हैं, शान्त करते हैं और संयम में तत्पर रहते हैं। **(रा.वा.३)**

मुनिराज पिपासा रूपी अग्नि शिखा को सन्तोष रूपी नूतन मिट्टी के घड़े में भरे हुए शीतल सुगन्धित समाधि रूपी जल से शान्त करते हैं। **(सर्वा. ८१६)**

१२. प्रश्न : भूख और प्यास में भोजन करना सामान्य है अतः क्षुधा-पिपासा पृथक्-पृथक् नहीं हैं ?

उत्तर : भूख और प्यास पृथक्-पृथक् हैं क्योंकि उन दोनों का अधिकरण भिन्न-भिन्न है। क्षुधा के प्रतीकार का अधिकरण भिन्न है और पिपासा के प्रतीकार का अधिकरण भिन्न है। अत: अभ्यवहार (भोजन करना) सामान्य होते हुए भी क्षुधा और तृषा पृथक्-पृथक् हैं। **(रा.वा. ५)**

१३. प्रश्न : शीत परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : शीत के कारणों के सन्निधान में शीत के प्रतिकार की अभिलाषा नहीं करना, संयम का परिपालन करना शीत परीषहजय है। शीत के प्रतिकार की चिकीर्षा में परमार्थ के लोप के भय के कारण विद्या, मन्त्र, औषध, पत्ते, वल्कल, तृण और चर्म आदि के सम्बन्ध से व्यावृत्त मन वाले साधुजन शरीर को पराया समझते हुए पूर्व में धूप से सुवासित, दीपकों से प्रज्वलित, श्रेष्ठ अङ्गनाओं के नवयौवन, उष्ण घनस्तन, नितम्ब और भुजान्तर के द्वारा शीत की तर्जना करने वाले गर्भागारों में किये हुए निवास को तथा अनुभूत सुरत-सुख के रस को ज्ञान के द्वारा असार समझकर स्मरण नहीं करते हुए किसी प्रकार का विवाद नहीं करते हैं, शीत को सहन करते हैं उसे शीत परीषहजय कहते हैं। **(रा.वा. ६)**

जिस शीत ऋतु में बहुत ही तुषार पड़ रहा हो, बहुत ठंडी वायु चल रही हो और वे मुनिराज किसी चौराहे पर खड़े हों उस समय उनको शीत की अधिक वेदना होती है उस वेदना का प्रतिकार नहीं करना शीत परीषह जय है। **(मू.प्र. ३१३५)**

१४. प्रश्न : शीत परीषहजय किसके होता है ?

उत्तर : जो प्रतिकार करने की इच्छा से निवृत्त है, पहले अनुभव किये गये शीत-प्रतिकार के हेतुभूत वस्तुओं का जो स्मरण नहीं करते हैं और ज्ञान भावना रूपी गर्भागार में निवास करते हैं उनके शीत परीषह (वेदना) जय प्रशंसा के योग्य है। **(सर्वा. ८१७)** जिनके शरीर में अत्यन्त कम्पन हो रहा है तथा बर्फ के समान शीत वायु के स्पर्श से जिनका शरीर विदीर्ण हो रहा है, ऐसे प्राणी जिस शीत ऋतु में विवश हो शीत के अत्यन्त खेद को प्राप्त होते हैं, उस शीत ऋतु में जो मुनिराज पूर्व में भोगे सुखों का स्मरण नहीं करते हैं तथा ध्यानरूपी घर के द्वारा जिनकी शीत बाधा दूर हो गई है, ऐसे दिगम्बर मुनियों के शीत परीषह जय होता है। **(आ.सा. ७/५)**

१५. प्रश्न : मुनिराज को शीत की बाधा किस कारण होती है ?

उत्तर : जिसने आवरण का त्याग कर दिया है, पक्षी के समान जिसका आवास निश्चित नहीं है, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदि पर निवास करते हुए बर्फ के गिरने पर और शीतल हवा का झोंका आने पर मुनिराज को शीत की बाधा उत्पन्न होती है। **(सर्वा. ८१७)** वस्त्रमात्र के त्यागी मुनिराज जब शीत ऋतु में चौहटे (चौराहे) पर ध्यान करते हैं तब जो बहुत सा बर्फ और ओस पड़ती है एवं बहुत से ओले बरसते हैं उनकी ठंडी वायु से उनका शरीर अत्यन्त ठण्डा हो जाता है तो भी उसका प्रतिकार नहीं करते हैं इसलिए उनके शीतपरीषह उत्पन्न होती है। **(चा.सा.पृ. १७१)**

चारित्र मोहनीय और वीर्यान्तराय की अपेक्षा करके और असाता के उदय से मुनिराज को शीत

परीषह उत्पन्न होती है। **(मू. २५४ आ.)**

१६. प्रश्न : मुनिराज क्या विचार करते हुए शीतपरीषह को जीतते हैं ?

उत्तर : मुनिराज नारकियों के, पशुओं के और दरिद्री मनुष्यों के शीतजन्य दुःखों का चिन्तन करते हुए अपने चित्त को दृढ़ बनाकर शीत की वेदना को सहन करते हैं। उस समय वे मुनिराज ध्यान रूपी गर्मी से अपनी शीत वेदना को दूर करते हैं और उस शीत की वेदना को शांत करने के लिए न तो किसी के ओढ़ने का चिन्तन करते हैं और न अग्नि आदि से शीत को दूर करने वाले पदार्थों का चिन्तन करते हैं। **(मू.प्र. ३१३६-३७)** शीत की प्रतिक्रिया करने में समर्थ अग्नि आदि द्रव्यान्तर की अभिलाषा नहीं करने वाले वे मुनिराज धैर्य रूपी वस्त्र को धारण कर संयम का पालन करते हुए शीत परीषह को जीतते हैं। **(रा.वा.६)** अटल धैर्य रूपी वस्त्र को धारण कर शीत परीषह को जीतते हैं। **(चा.सा. १७१)**

१७. प्रश्न : मुनिराज शीत दूर करने का उपाय क्यों नहीं करते हैं ?

उत्तर : ठण्डक को दूर करने की सामर्थ्य रखने वाले अग्नि आदि अन्य द्रव्यों की भरपूर अनिच्छा होने से अथवा उस ठण्डक को दूर करने का उपाय करने में परमार्थ के बिगड़ने का भय होने से विद्या, मंत्र, औषध, पत्ते, छाल, चमड़ा, तृण आदि पदार्थों के सम्बन्ध से जिनका चित्त बिल्कुल हट गया है, जो शरीर को बिल्कुल भिन्न मानते हैं इसलिए मुनिराज शीत का प्रतिकार नहीं करते हैं। **(चा.सा. १७१)**

१८. प्रश्न : उष्ण परीषह जय किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारित्र की रक्षा करने के लिए दाह का प्रतिकार करने की इच्छा का अभाव होना उष्ण-परीषह सहन है। अनशन आदि के कारण शरीर में असह्य गर्मी की वेदना है। पसीना, शोष-दाह आदि से पीड़ित होने पर भी जलभवन, जलावगाहन, चन्दन आदि का अनुलेपन, कमल की माला, मुक्ताहार आदि पूर्व में अनुभूत शीतल उपचारों के प्रति तिरस्कार भाव रखने वाले संयमी जनों का अनेक पुनीत विचारों से उष्णविरोधिनी क्रिया के प्रति अनादर करते हुए चारित्र का रक्षण करना उष्ण परीषह जय है। **(रा.वा.७)**

१९. प्रश्न : किन मुनिराज के उष्णपरीषहजय होता है ?

उत्तर : दावाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु और आतप के कारण जिसके गले और तालु में शोष उत्पन्न हुआ है जो उसके प्रतिकार के बहुत से अनुभूत हेतुओं को जानता हुआ भी उनका चिंतन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियों की पीड़ा के परिहार में चित्त लगा हुआ है उस साधु के चारित्र के रक्षणरूप उष्ण परीषहजय कहा जाता है। **(सर्वा. ८१८)**

२०. प्रश्न : उष्ण परीषह किन कारणों से उत्पन्न होती है ?

उत्तर : ज्येष्ठ मास के प्रखर सूर्य की किरणों के समूह से अंगार की तरह संतापित शरीर वाले, प्यास, अनशन, पित्तरोग, घाम, श्रम आदि से उत्पन्न उष्णता से सन्तप्त होने पर मुनिराज के उष्ण परीषह उत्पन्न होती है। **(रा.वा.७)**

प्यास, उपवास, पित्तरोग, धूप, परिश्रम आदि कारणों से मुनिराज के शरीर में उष्णता प्रकट होती है। **(चा.सा. १७२)**

ग्रीष्म काल में सूर्य की तीव्र और उष्ण किरणों से, पित्त रोग से, मार्ग में चलने के परिश्रम से अथवा आतापन महायोग धारण करने से वा अधिक लवण मिले अन्न को ग्रहण कर लेने से वन में निवास करने वाले उन मुनियों के असह्य गर्मी का महासन्ताप उत्पन्न होता है। **(मू.प्र. ३१३८-३९)**

२१. प्रश्न : मुनिराज क्या विचार करते हुए उष्ण वेदना को जीतते हैं ?

उत्तर : उष्ण वेदना के होने पर मुनिराज निराश्रय पशुओं के, मनुष्यों के वा नारकियों के कर्मों के उदय से होने वाली तीव्र उष्ण वेदना का चिन्तन करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञान-रूपी अमृत का पान करते हैं, इन दोनों कारणों से वे उस गर्मी की वेदना को जीतते हैं। वे मुनिराज पानी के छिड़काव से वा पानी में नहाने से गर्मी की बाधा को कभी दूर नहीं करते हैं। **(मू.प्र. ३१३८-४०)**

उस महागर्मी में संयमीजन ''मैंने बहुत बार नरकों में परवश होकर अत्यन्त दु:सह उष्ण वेदना सही है, यह तप मेरे कर्मक्षय का कारण है, इसे स्वतंत्र भाव से सहन करना चाहिए'' आदि पुनीत भावों से उष्ण परीषह को सहन करते हैं। **(रा.वा.७)**

२२. प्रश्न : दंशमशक परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दंशमशक के द्वारा की गयी बाधा को बिना प्रतिकार किये सहन करते हैं; मन, वचन और काय से उन्हें बाधा नहीं पहुँचाते हैं और निर्वाण की प्राप्ति मात्र संकल्प ही जिसका ओढ़ना है उसके (दंशमशक की) वेदना को सह लेना दंशमशक परीषह जय कहा जाता है। **(सर्वा. ८१९)** उस समय यदि कोई डाँस, मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि कीड़े, मकोड़े उन्हें काट लेते हैं तो वे मुनिराज अपने मन में रंचमात्र भी खेद-खिन्न नहीं होते और न वे ध्यानी अपने ध्यान से चलायमान होते हैं इसको दंशमशक परीषह विजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१४१-४२)**

२३. प्रश्न : किन मुनिराज के दंशमशक परीषयजय होता है ?

उत्तर : मधुमक्खी, खटमल आदि जिनको काट रहे हैं और तीव्र वेदना दे रहे हैं तथापि जिनका हृदय कभी व्यथित खिन्न नहीं होता, जो सदा अपने कर्मों के उदय का चिंतन करते हैं, विद्या, मंत्र, औषधि आदि के द्वारा उन जानवरों को जो कभी दूर करने की इच्छा नहीं करते, शरीर का नाश होने तक भी जो अपने आत्मा में ही निश्चल रहते हैं। जैसे- जो दूसरे के बल को मर्दन करने के लिए तैयार है, जिसकी सेना में मदोन्मत्त गन्ध सिन्धुर नाम के हाथी हैं और जो शत्रुओं के द्वारा चलाये हुए अनेक तरह के शस्त्रों से भी कभी विमुख नहीं होता ऐसे किसी राजा की विजय निर्विघ्न होती है उसी प्रकार जो कर्मरूपी शत्रुओं की सेना का पराभव करने के लिए प्रयत्न करता है उसके दंशमशक परीषहजय होता है। **(चा.सा.) १७३।**

२४. प्रश्न : मुनिराज को दंशमशक की बाधा किस कारण से होती है ?

उत्तर : जिन्होंने शरीर के आच्छादक (ढकने वाले) वस्त्रादि का त्याग कर दिया है, जिनका मन

किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं है, परकृत आवास, गिरि, गुफा आदि स्थानों में वास करने वाले उन मुनिराज के अतितीव्र वेदना के उत्पादक डाँस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, कीड़ा, जूँ, खटमल, चींटी और बिच्छू आदि के तीक्ष्ण पात से काटे जाने पर मुनिराज को दंशमशक की बाधा उत्पन्न होती है। **(रा.वा.८)**

शून्य मकान, कन्दरा तथा गुफा आदि पवित्र और एकान्त स्थान में रहने वाले मुनि को जो पैने मुख से युक्त तीक्ष्ण खटमल, कीट एवं डाँस-मच्छर आदि के द्वारा बाधा दी जाती है उससे दंशमशक की बाधा उत्पन्न होती है। **(आ.सा. ७/८)**

२५. प्रश्न : मुनिराज क्या विचार करके दंशमशक परीषह जीतते हैं ?

उत्तर : डाँस-मच्छर आदि के द्वारा की हुई अपने शरीर की पीड़ा को दूसरे के शरीर में उत्पन्न हुई के समान मानते हुए सुखी रहते हैं, वे निर्ग्रन्थ साधु दंशमशक परीषह के जीतने में समर्थ हैं। उनकी हम स्तुति करते हैं। **(आ.सा. ७/८)**

स्वकर्म के पाक का चिन्तन करते हुए दंशमशक परीषहजय करते हैं। **(रा.वा. ८)**

२६. प्रश्न : सूत्र में दंशमशक को ही बाधा का कारण कहा है अत: दंशमशक कृत ही परीषह है अन्य जन्तुकृत नहीं ?

उत्तर : दंशमशक शब्द डसने वाले जन्तुओं के उपलक्षण के लिए है। जैसे-काकेभ्यो रक्षतां सर्पि: 'घी संरक्षण' में काक शब्द उपलक्षण होता है अत: दंशन-तापकारी सर्व जन्तुओं का दंशमशक से ग्रहण होता है। यदि उपलक्षण नहीं होता तो दंशमशक में से किसी एक शब्द का ग्रहण होता, अत: दंशमशक में से किसी एक का नाम लेने से उसी जन्तु के स्वरूप का बोध होने से दूसरा शब्द उपलक्षण के लिए दिया है। **(रा.वा.९)** (अर्थात् दंश और मशक दो शब्दों को ग्रहण किया है।)

२७. प्रश्न : नाग्न्य परीषह-जय किसे कहते हैं ?

उत्तर : यथाजातरूप नाग्न्य अवस्था के धारक, मनोविकार को जीतने वाले और सामान्य मनुष्यत्व के द्वारा असंभावित ऐसे विशिष्ट मानवरूपधारी साधुगणों के नाग्न्य दोषों का स्पर्श नहीं होने से नाग्न्य परीषह के जय की सिद्धि होती है अर्थात् नग्न होने पर भी पुरुषविकार प्रकट न होने से नाग्न्य परीषह जय कहलाता है। **(रा.वा.१०)**

२८. प्रश्न : किन मुनिराज के नाग्न्य परीषहजय होता है ?

उत्तर : आभूषण, वेष, हाव-भाव आदि विकार तथा शस्त्र और वस्त्र का त्याग होने से जिनकी प्रशस्त आकृति बालक के समान है, कामविकार से होने वाली मन की विकृति लज्जा है, इसलिए उसे छोड़कर समस्त स्त्रीसमूह को जो माता के समान ही देखते हैं, उन मुनिराज के नाग्न्य परीषह का विजय होता है। **(आ.सा. ७/२०)**

बालक के स्वरूप के समान जो निष्कंलक जातरूप को धारण करने रूप है, जिसका याचना करने से प्राप्त होना अशक्य है, जो याचना, रक्षा करना और हिंसा आदि दोषों से रहित है, जो निष्परिग्रह रूप होने से निर्वाणप्राप्ति का एक अनन्य साधन है और जो दिन-रात अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करता है उसके निर्दोष अचेलव्रत (नाग्न्यव्रत) धारण जानना चाहिए। **(सर्वा. ८२०)**

२९. प्रश्न : नाग्न्य अवस्था उत्तम क्यों मानी गयी है?

उत्तर : जातरूप का धारण करना उत्तम है और मोक्षप्राप्ति का कारण कहा जाता है। अन्य तापसीगण मनोविकारों तथा मनोविकार पूर्वक होने वाले अंगविकारों को रोकने में असमर्थ हैं अत: उस अङ्ग विकृति को ढकने के लिए कौपीन, फलक, चीवर आदि आवरणों को ग्रहण करते हैं, वे तापस केवल अङ्ग का ही संवरण कर सकते हैं कर्म का नहीं। **(रा.वा. १०)** जो कुलिंगी और कातर पुरुष कामादिक विकारों को नष्ट करने में समर्थ नहीं है वे ही वस्त्र ग्रहण करते हैं, शूरवीर नहीं। **(मू.प्र. १२८५)**

३०. प्रश्न : यथाजात रूप किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुप्ति, समिति की अविरोधी परिग्रह निवृत्ति और परिपूर्ण ब्रह्मचर्यभूत अप्रार्थिक मोक्ष के साधन चारित्र का अनुष्ठान करना यथाजात रूप है। संस्कारों से रहित, स्वाभाविक, मिथ्यादृष्टियों के द्वारा द्वेषकृत होने पर भी जो परम मांगल्य रूप है, वह यथाजात रूप है। **(रा.वा. १०)**

बालक के समान जातरूप को धारण करना यथाजात रूप है।

वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदिकों से शरीर को नहीं ढकना, भूषण अलंकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ वेष जगत् में पूज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है।

वस्त्र - धोती, दुपट्टा, कम्बल आदि वस्त्र हैं।

अजिन - मृग, व्याघ्र आदि से उत्पन्न (प्राप्त) चर्म आदि अजिन है।

वल्कल - वृक्षादि की छाल अथवा पत्ते छोटे-छोटे तृण आदि वल्कल हैं।

आभरण - कड़े, बाजूबन्द, हार, मुकुट आदि आभरण हैं।

भूषण - मंडन, विलेपन, धूपन आदि वस्तुएँ भूषण हैं। **(मू. ३० आ.)**

अचेलकत्व मूलगुण धारी मुनिराज न तो वस्त्र धारण करते हैं, न चमड़े से शरीर ढकते हैं, न वृक्षों की छाल पहनते हैं, न ऊनी और रेशमी वस्त्र पहनते हैं, न पत्ते, तृण आदि से शरीर ढकते हैं तथा न और भी किसी प्रकार का आवरण धारण करते हैं। समस्त संस्कारों से रहित उत्पन्न हुए बालक के समान नग्न रूप धारण करते हैं। **(मू.प्र. १२८१-८२)**

३१. प्रश्न : अचेलकत्व धारण करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जिनलिंग वा निर्ग्रन्थ अवस्था से पुरुषों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है। इन्द्र,

चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि के उत्तम पद शीघ्र ही प्राप्त होते हैं। रत्नत्रयधारी मुनियों के चरण-कमलों की इन्द्र भी आकर किंकर के समान सेवा करते हैं। आश्चर्य है कि दिशा रूपी वस्त्र अलंकार धारण करने वाले मुनियों को मोक्ष रूपी स्त्री भी स्वयं आकर आलिंगन करती है फिर देवियों की तो बात ही क्या है। **(मू. प्र. १२८६-८८)**

३२. प्रश्न : वस्त्रादि को धारण करने से क्या हानि है ?

उत्तर : वस्त्रादि रखने से हिंसा, अर्जन, प्रक्षालन, याचना आदि अनेक दोष आते हैं तथा ध्यान, अध्ययन आदि में विघ्न भी होता है। किसी भी प्रकार के वस्त्र से शरीर को ढकने की बात जहाँ तक होगी वहाँ तक उन वस्त्रों के आश्रित हिंसा अवश्य होगी, उनको संभालना, धोना, सुखाना, फट जाने पर दूसरों से मांगना आदि प्रसंग अवश्य आयेंगे। पुन: इन कारणों से साधु के ध्यान और अध्ययन में बाधा अवश्य आयेगी इसलिए नग्नवेष धारण करना आचेलक्य नाम का मूलगुण है। **(मू. ३० टी.आ.)**

३३. प्रश्न : मुनिराज नाग्न्य परीषह किस प्रकार जीतते हैं ?

उत्तर : यथाजातरूपधारी महामुनिराज स्त्री रूप को नित्य अशुचि, बीभत्स और शव कंकाल के समान देखते हैं, वैराग्य भावनाओं से मनोविकार को जीतते हैं। **(रा.वा.१०)**

दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले मुनिराज बिना संक्लेश परिणामों से धैर्यपूर्वक प्रतिदिन नाग्न्य परीषह सहन करते हैं। **(मू.प्र. ३१४४)**

३४. प्रश्न : अरति परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : संयम में रति करना अरति परीषहजय कहलाता है।

संयम विषयक रति भावना के बल से विषयसुख रति को विषमिश्रित आहार के सेवन के समान विपाक में कटु मानने वाले उन परम संयमीजन के रति परीषह बाधा का अभाव होने से अरति परीषहजय होता है। **(रा.वा. ११)**

इन्द्रियसमूह आदि से उत्पन्न अरति को शीघ्र ही अत्यन्त क्षीण कर देना अरति परीषहजय है। **(आ.सा. ७/१५)**

३५. प्रश्न : अरति परीषह किन कारणों से उत्पन्न होता है ?

उत्तर : क्षुधा आदि की बाधा सताने पर संयम की रक्षा में, इन्द्रियों को बड़ी कठिनता से जीतने में, व्रतों के भले प्रकार पालन करने के भार की गुरुता प्राप्त होने पर, सदैव प्रमादरहित परिणामों की सम्हाल करने में, भिन्न-भिन्न देशभाषाओं को नहीं जानने पर विरुद्ध और चपल प्राणियों से भरे भयानक मार्गों में अथवा राज्य के कर्मचारियों आदि से उत्पन्न भयानक परिस्थितियों में नियत रूप से एकाकी विहार करने आदि से अरति परीषह उत्पन्न होती है। **(रा.वा. ११)**

मुनिराज को वन का निवास, शीत-उष्ण की बाधा, उग्र तपश्चरणादिक और सिंह, व्याघ्र आदि के भयानक शब्दों से रात के समय अरति के कारण प्राप्त होते हैं। **(मू.प्र. ३१४५)** चारित्र मोह के उदय से चारित्र में द्वेष, अरुचि होने से तथा असंयम की अभिलाषा होने पर मुनिराज को अरतिरति परीषह उत्पन्न होती है। **(मू. २५४-५५ आ.)**

३६. प्रश्न : कौनसे मुनिराज के अरतिपरीषहजय होता है ?

उत्तर : जो मुनिराज व्रतसमूह की रक्षा करने और गुणों का अच्छी तरह पोषण करने में वीर हैं, मन, वचन, काय के व्यापार रूप तीनों दण्डों को दण्डित करने में जिनकी बुद्धि लगी हुई है तथा जो सत्यप्रतिज्ञ हैं ऐसे मुनि दुर्वार इन्द्रिय समूह, रोग समूह और क्रूर मनुष्यों के द्वारा की हुई बाधाओं के समूह से उत्पन्न अरति को शीघ्र ही अत्यन्त क्षीण कर देते हैं, वे अरति परीषह को जीतने वाले हैं, ऐसे साधु सत्पुरुषों के द्वारा वन्दनीय हैं। **(आ.सा. ७/१५)**

३७. प्रश्न : मुनिराज अरति की बाधा किस प्रकार जीतते हैं ?

उत्तर : अरति के अनेक कारणों के मिलने पर भी ज्ञान-ध्यान में लीन रहने वाले वे मुनिराज आगम रूपी अमृत में प्रेम करते हुए उस अरति परीषह को जीतते हैं। **(मू. प्र. ३१४६)**

जो संयत इन्द्रियों के इष्ट विषय सम्बन्ध के प्रति निरुत्सुक है, जो गीत, नृत्य और वादित्र आदि से रहित शून्यघर, देवकुल, तरुकोटर और शिलागुफा आदि में स्वाध्याय, ध्यान और भावना में लीन है, पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषयभोग के स्मरण, विषयभोग सम्बन्धी कथा के श्रवण और कामशर प्रवेश के लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियों पर सदाकाल सदय है उसके अरति परीषह जय होता है। **(सर्वा. ८२१)**

३८. प्रश्न : क्षुधादि सर्व ही परीषह अरति के हेतु हैं अत: अरति परीषह को पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ?

उत्तर : यद्यपि क्षुधा आदि सभी परीषहें अरति उत्पन्न करती हैं तथापि क्षुधा आदि के न होने पर भी मोह कर्म के उदय से होनेवाली संयम की अरति का संग्रह करने के लिए अरति का पृथक् ग्रहण किया है, क्योंकि मोह के उदय से आकुलित चित्त वाले प्राणी के क्षुधादि के अभाव में भी संयम के प्रति अरति उत्पन्न होती है। **(रा.वा. १२)**

३९. प्रश्न : स्त्री परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्त्रियों के भ्रूविकार, कटाक्ष विक्षेप, आभरण आदि के प्रति पूर्ण निग्रह का भाव रखना, उनके दर्शन, स्पर्शन आदि की अभिलाषाओं से पूर्णत: रहित होना तथा स्निग्ध, मृदु, विशद सुकुमार शब्द और तंत्री वीणा आदि से मिश्रित अतिमधुर गीत आदि सुनने में निरुत्सुक रहना स्त्रीपरीषहजय है। **(रा.वा. १३)**

स्त्रियों के द्वारा अनेक बाधाएँ उपस्थित करने पर भी वे मुनिराज निर्विकार होकर उस उपद्रव को सहन करते हैं, उसको स्त्री परीषहजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१४८)**

४०. प्रश्न : मुनिराज के स्त्री परीषह किन-किन निमित्तों से आती है ?

उत्तर : एकान्त स्थान, उद्यान, भवन आदि प्रदेशों में राग-द्वेष विशिष्ट यौवन का घमण्ड करने वाली, अपने रूप का गर्व करने वाली, विभ्रम और उन्माद को पैदा करने वाले मद्यादि का पान करने वाली स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचाये जाने पर स्त्री परीषह होती है। **(रा.वा.१३)** कोई मुनिराज किसी एकान्त स्थान में विराजमान हो और वहाँ पर उन्मत्त यौवनवती स्त्रियों के द्वारा हाव-भाव, विलास, शरीर के विकार, मुख के विकार, भौहों के विकार, गाना, बजाना, बकवाद करना, कटाक्ष रूपी बाणों के फेंकने और शृंगार रस को दिखाने से स्त्री-परीषह उत्पन्न होती है। **(मू.प्र. ३१४७-४८)**

४१. प्रश्न : किन मुनिराज के स्त्रीपरीषहजय होता है ?

उत्तर : एकान्त बगीचा, भवन आदि स्थानों में नवयौवन, मदविभ्रम और मदिरापान से प्रसन्न हुई स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुए के समान जिसने इन्द्रिय और हृदय के विकार को रोक लिया है तथा जिसने मन्द मुस्कान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरों से देखना, हँसना, मदभरी धीमी चाल से चलना और कामबाण मारना आदि को विफल कर दिया है उसके स्त्रीबाधा परीषहजय जानना चाहिए। **(सर्वा. २२)**

जिनके कटाक्ष बाणों से काम तीनों जगत् का विजेता हुआ है, उन मत्त स्त्रियों के द्वारा सब ओर से लुभाये जाने पर भी जो मुनि उस चेष्टा की नि:सारता जानकर विकार को प्राप्त नहीं होते, उत्कृष्ट धैर्य रूपी लक्ष्मी के धारक, समस्त अनर्थों को जीतने वाले, कृतकृत्य उन स्त्रीपरीषह विजयी मुनिराज की मैं वन्दना करता हूँ। **(आ.सा. ७/१७)**

४२. प्रश्न : मुनिराज क्या विचार करते हुए स्त्रीकृत बाधा को जीतते हैं ?

उत्तर : वे मुनिराज स्त्री सम्बंधी अनर्थों को संसार रूपी समुद्र के व्यसन पाताल, भयंकर दु:ख, रौद्र-भँवर आदि रूप विचार करते हुए स्त्री की बाधा को जीतते हैं। **(रा.वा. १३)** वे सदा ही यह विचार करते हुए कि ''यह संसार महा सागर है, संकट रूप पाताल और सब नारकीय रौद्र दु:ख रूप अगाध भ्रमणों के द्वारा कुटिल है'' स्त्रियों के अनर्थों से अलग रहते हैं। (स्त्रीकृत बाधा को सहते हैं) **(चा.सा. १७६ पृ.)**

४३. प्रश्न : चर्या परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : मोक्ष की प्राप्ति के लिए विहार के समय कंकड़ आदि के निमित्त से आयी हुई बाधाओं को चर्या परीषह जयी मुनिराज शांति से सहन करते हैं। इसको चर्या परीषहजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१५०)** गमन करते हुए पैरों के कट जाने, छिल जाने आदि कारणों के उपस्थित होने पर भी पूर्व में अनुभव किये

हुए उचित यान, वाहन आदि का स्मरण नहीं करना तथा सम्यक् प्रकार से गमन के दोषों का परिहार करना चर्या परीषह जय है। **(रा.वा. १४)**

४४. प्रश्न : किन कारणों से चर्या परीषह आता है ?

उत्तर : गुरु की आज्ञापूर्वक संयम आयतनों की भक्ति के लिए देशान्तर में गमन करने वाले और नाना जनपद-व्यवहारों के ज्ञाता साधु देश-काल प्रमाणोपेत मार्ग के अनुभव से क्लेश को सहन करने में समर्थ भयंकर अटवी प्रदेशों में सिंह के समान निर्भय होने से सहायक की अपेक्षा न करके परिभ्रमण करने वाले मुनिराज के मार्ग में कठोर कंकड़ आदि से पैरों के कट जाने, छिल जाने आदि से चर्या परीषह आती है। **(रा.वा. १४)** जो मुनिराज भयानक वन में, पर्वत पर, किलों में, अनेक देश तथा नगरों में विहार करते हैं तथा उस विहार में पत्थरों के टुकड़े, काँटे आदि के लग जाने से पैरों में अनेक छोटे-छोटे घाव हो जाते हैं अर्थात् पैर लहुलूहान हो जाते हैं तब चर्या परीषह उत्पन्न होता है। **(मू.प्र. ३१४९)** आवश्यकादि क्रियाओं के अनुष्ठान में तत्पर, जो कि अत्यन्त थके हुए हैं उनके पाद-त्राण आदि से रहित होकर भी नंगे-पैरों से मार्ग में चलने के कारण चर्या परीषह आता है। **(मू. २५४-२५५ आ.)**

४५. प्रश्न : किन मुनिराज के चर्या परीषह होता है ?

उत्तर : जो वायु के समान नि:संग है, बहुत बार अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग आदिजन्य बाधा के कारण जिसका शरीर परिक्लान्त है, देश और काल के प्रमाण से रहित तथा संयम विरोधी मार्गगमन का जिसने परिहार कर दिया है, जिसके खड़ाऊ आदि का त्याग है, तीक्ष्ण कंकड़ और काँटे आदि के बिंधने से चरणों में खेद के उत्पन्न होने पर भी पहले योग्य यान और वाहन आदि से गमन करने का जो स्मरण नहीं करता है तथा जो यथाकाल आवश्यकों का परिपूर्ण परिपालन करता है उसके चर्यापरीषह जय जानना चाहिए। **(सर्वा. ८२३)** जहाँ व्याघ्र एकत्र है, रीछ, भालू और सर्पों का विस्तार है, जो भय का प्रमुख स्थान है, जहाँ मदान्ध हाथियों का समूह है और जो सिंह की क्रीड़ा का अद्वितीय स्थान है, ऐसे वन में भूमि के काँटों और कंकड़ों से कठोर होने पर भी जो पैरों में जूता आदि न पहने हुए, सिंह के समान अकेले स्वच्छन्दता से भ्रमण करते हैं वे मुनि पीड़ा तथा भय को जीतते हुए ईर्या (चर्या) परीषह को जीतने वाले हैं। **(आ.सा. ७/९)**

४६. प्रश्न : निषद्या परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मुनिराज किसी गुफा में, पर्वत पर वा वनादिक में किसी वज्रासन आदि कठिन आसन से विराजमान होते हैं और उस समय भी अनेक उपसर्ग उन पर आ जाते हैं तथापि वे मुनिराज अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते, इसी प्रकार विशेष-विशेष कठिन आसन धारण करके भी वे अपने हृदय को ध्यान में ही लगाये रहते हैं और अपने योग को सदा अचल बनाये रखते हैं उनके इस परीषह सहन करने को निषद्या (परीषह) जय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१५१-५२)**

४७. प्रश्न : किन-किन निमित्तों से निषद्या परीषह उत्पन्न होता है ?

उत्तर : जिन स्थानों में पहले रहने का अभ्यास नहीं किया है ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्य-गृह, गिरिगुहा, गह्वर, पर्वत, गुफा आदि अनभ्यस्त स्थानों में वीरासन, उत्कुटिकासन आदि कठोर-कठोर आसन लगाने से आसन लगाने पर रोग विकार, उपसर्ग आदि आने से, क्षुद्र जन्तु युक्त विषम स्थान होने से मुनिराज को निषद्या परीषह आता है। **(रा.वा. १५)**

श्मशान, उद्यान, शून्य मकान आदि में वीरासन, उत्कुटिकासन आदि आसनों से बैठने पर जो पीड़ा होती है उस कारण से निषद्या परीषह उत्पन्न होती है। **(मू. २५४-५५ टी.आ.)**

४८. प्रश्न : कौनसे मुनिराज के निषद्या परीषहजय होता है ?

उत्तर : प्राणी पीड़ा परिहार में तत्पर संयमविधिज्ञ, धैर्यशाली, उत्साहसम्पन्न मुनिराज नाना प्रकार के आसन लगाने में उपसर्गादि आने पर भी मंत्र, विद्या आदि से प्रतीकार नहीं चाहते हैं तथा न ही उपसर्गादि दूर करने के लिए मंत्रादि की अपेक्षा ही करते हैं, काष्ठ या पत्थर के समान निश्चल आसन से बैठते हैं, संकल्पित आसन से दूसरे आसन की पलटना (बदलना) नहीं करते, हिलना आदि दोषों को जीतते हैं उन परम संयमी जनों के निषद्या परीषहजय होता है। **(रा.वा. १५)** जो मुनि समस्त दिशाओं को लुप्त करने वाले महान् अन्धकार से लम्बी दिखने वाली रात्रि को अनिवार्य माहात्म्य के विस्तार से युक्त योगों (शीतादि) के द्वारा मुहूर्त के समान व्यतीत कर देते हैं, स्त्री समूह, पशु तथा पाप कर्मों से रहित मनोहर स्थान में आसन लगाकर बैठते हैं और ऐसे बैठते हैं कि अत्यन्त क्रूर राक्षस भी उनके ध्यान को खण्डित नहीं कर सकते, वे मुनि निषद्या परीषह जीतने वाले हैं। **(आ.सा. ७/२४)**

४९. प्रश्न : शय्या परीषह किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्वाध्याय, ध्यान या मार्ग का श्रम इनसे थके हुए मुनि तीक्ष्ण, विषम, ऊँची-नीची या अधिक कंकरीली रेत आदि से व्याप्त भूमि में जो एक पसवाड़े से या दण्डाकार आदि रूप से शयन करते हैं उस शयन आदि में जो शय्या के निमित्त से शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है वह शय्या परीषह है। **(रा.वा. १६)**

ध्यान और अध्ययन में हुए श्रम के कारण रात्रि में भूमि में एक करवट से बिना कुछ ओढ़े हुए अल्प निद्रा लेना शय्या परीषह है।

५०. प्रश्न : शय्या परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मुनि स्वाध्याय, ध्यान, योग और मार्ग का परिश्रम दूर करने के लिए युक्तिपूर्वक मुहूर्त मात्र की निद्रा का अनुभव करते हैं, उस समय में भी अपने हृदय को अपने वश में रखते हैं, दण्ड के समान वा किसी एक करवट से सोते हैं, सिंहादिक का उपद्रव होने पर भी जो कभी करवट नहीं बदलते हैं उसको शय्या परीषहजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१५३-५४)**

५१. प्रश्न : किन-किन निमित्तों से शय्या परीषह उत्पन्न होती है ?

उत्तर : मुनिराज के शीत तथा उष्णता से युक्त भूमि प्रदेशों में एक मुहूर्त तक एक करवट से सीधे

डण्डे के समान शयन करने से, बाधा विशेष के आने पर भी संयम की रक्षा करने के लिए हलन-चलन नहीं करने से, व्यंतरादि के द्वारा उपद्रव आने पर वहाँ से नहीं भागने या उसके प्रतीकार न करने की इच्छा आदि अनेक कारणों से मुनिराज के शय्या परीषह आता है। **(रा.वा. १६)**

५२. प्रश्न : कौनसे मुनिराज के शय्या परीषहजय होता है ?

उत्तर : मरण के भय से रहित गिरी हुई लकड़ी के समान मुर्दे के समान निश्चल पड़े रहने वाले मुनिराज ''यह स्थान सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि दुष्ट जीवों से भरा है, यहाँ से शीघ्र ही निकल कर जाना श्रेयस्कर है, कब यह रात्रि समाप्त होगी'' इस प्रकार संकल्प-विकल्प नहीं करने वाले, सुखस्थान के मिलने पर भी हर्ष से उन्मत्त नहीं होने वाले, पूर्व में अनुभूत नवनीत के समान मृदुशय्या का स्मरण न करके आगमोक्त विधि से शयन करने वाले तथा आगमोक्त विधि से च्युत नहीं होने वाले साधुजनों के शय्या परीषहजय होता है। **(रा.वा. १६)**

झंझा वायु से ताड़ित, दु:खी, उलूकों और शृगालियों के शब्द ही जिसका भयंकर स्वर है, वज्र ही जिसके क्रूर दाँत है तथा चमकती हुई बिजली ही जिसकी जिह्वा है ऐसी रात्रि रूपी राक्षसी को, जो अन्धकार से अत्यन्त भयंकर पर्वत की गुफा के किसी एक स्थान पर क्षणभर के लिए शयन करते हुए शीघ्र ही अन्त को प्राप्त करा देते हैं वे धीर बुद्धि के धारक मुनिराज शयन से उत्पन्न दु:ख को जीतने वाले हैं। **(आ.सा. ७/११)**

५३. प्रश्न : मुनिराज भूमि, घास आदि पर ही क्यों सोते हैं कोमल शय्या आदि पर क्यों नहीं?

उत्तर : भूमि, घास आदि पर सोने से, ब्रह्मचर्य महाव्रत अत्यन्त दृढ़ हो जाता है, निद्रा का विजय होता है, राग की हानि होती है तथा उत्कृष्ट संवेग प्रगट होता है। कोमल शय्या आदि पर सोने से पाप उत्पन्न करने वाली निद्रा बढ़ती है, स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जाने के कारण ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। **(मू.प्र. १३१६/१७)**

इसलिए मुनिराज भूमि, घास आदि पर ही सोते हैं, कोमल शय्या आदि पर नहीं।

५४. प्रश्न : आक्रोश परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : चाण्डाल, शत्रु, दुरात्मा आदि के अपमानजनक और गाली-गलौच आदि के शब्दों को सुनकर भी मन, वचन , काय की शुद्धता पूर्वक उनको सहन करना, उनको सुनकर कभी किसी प्रकार का संक्लेश नहीं करना आक्रोश परीषहजय है। **(मू.प्र. ३१५५-५६)**

उपर्युक्त कठोर वचनों को सुनकर भी स्थिरचित्त रहना, भस्म करने का सामर्थ्य होते हुए भी परमार्थ में अवगाहित चित्त रहना आक्रोश परीषहजय है। **(रा.वा. १७)**

५५. प्रश्न : मुनिराज के किन निमित्तों से आक्रोश परीषह उत्पन्न होती है ?

उत्तर : तीव्र मोहाविष्ट, मिथ्यादृष्टि आर्य-म्लेच्छ, खल, पापाचारी, मत्त उद्दृप्त (घमण्डी), अवज्ञा शंकित आदि दुष्ट जनों के द्वारा प्रयुक्त (कहे गये) 'मा' शब्द, 'धिक्कार' शब्द, तिरस्कार के सूचक कठोर, कर्कश, कानों को बधिर कर देने वाले, हृदयभेदी, हृदय में शूल उत्पादक, क्रोध रूप अग्नि ज्वालाओं को बढ़ाने वाले और अप्रिय गाली आदि वचनों को सुनकर मुनिराज को आक्रोश परीषह उत्पन्न होती है। **(रा.वा. १७)**

५६. प्रश्न : कौनसे मुनिराज के आक्रोश परीषहजय होता है ?

उत्तर : मिथ्यादर्शन के उद्रेक से कहे गये जो क्रोधाग्नि की शिखा को बढ़ाते हैं ऐसे क्रोध रूप, कठोर, अवज्ञाकारक, निन्दारूप और असभ्य वचनों को सुनते हुए भी जिसका उनके विषय में चित्त नहीं जाता है, यद्यपि तत्काल उनका प्रतीकार करने में समर्थ है फिर भी यह सब पापकर्म का विपाक है इस तरह जो चिन्तन करता है, जो उन शब्दों को सुनकर तपश्चरण की भावना में तत्पर रहता है और जो कषायविष के लेशमात्र को भी अपने हृदय में अवकाश नहीं देता उसके आक्रोश परीषह सहन निश्चित होता है। **(सर्वा. ८२६)**

५७. प्रश्न : क्या विचार करते हुए मुनिराज आक्रोश परीषह को जीतते हैं ?

उत्तर : शब्द मात्र को सुनकर कटु शब्दों के विचार से पराङ्मुख ''यह मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ का उदय ही है जिससे मेरे प्रति इनका द्वेष है'' इत्यादि पुण्य भावनाओं के चिन्तन रूप उपायों के द्वारा सुभावित साधु अनिष्ट वचनों को सहज में सहन कर लेते हैं। **(रा.वा. १७)**

५८. प्रश्न : वध परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मुनिराज अपने पापों का नाश करने के लिए मिथ्यादृष्टि, दुर्जन, दुष्ट, नरकगामी और शत्रु आदि के द्वारा क्रोध पूर्वक किये गये वध, बन्धन वा ताड़न आदि को सहन करते हैं तथा वे धीर-वीर मुनि मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उसी समय प्राण हरण करने वाले वध-बन्धनादि को भी सहन करते हैं उसको वध परीषहजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१५७-५८)**

५९. प्रश्न : वध परीषह किन कारणों से उत्पन्न होती है ?

उत्तर : ग्राम, उद्यान, अटवी, नगर आदि में रात-दिन एकाकी निरावरण शरीर वाले, चारों तरफ घूमने वाले चोर, कोतवाल, म्लेच्छ, भील, कठोर, बधिर, पूर्व अपकारी शत्रु और द्वेषाविष्ट मिथ्यादृष्टि तपस्वी आदि के द्वारा क्रोधपूर्वक ताड़न, आकर्षण, बन्धन शस्त्राभिघात आदि के द्वारा मारने से मुनिराज को वध परीषह उत्पन्न होता है। **(रा.वा. १८)**

तीक्ष्ण तलवार और मुद्गर आदि शस्त्रों के द्वारा ताड़न और पीड़न आदि से मुनिराज के वध परीषह उत्पन्न होती है। **(सर्वा. ८२७)**

६०. प्रश्न : किन मुनिराज के वध परीषहजय होता है ?

उत्तर : अनेक प्रकार के अस्त्रों के द्वारा ताड़न और पीड़न आदि से जिसका शरीर तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है तथापि मारने वालों पर जो लेश मात्र भी मन में विकार नहीं लाता है उसके आक्रोश परीषहजय होता है। **(सर्वा. ८२७)**

पूर्व भव सम्बन्धी अपकारों के स्मरण और वर्तमान जन्म के वैर से जो रुष्ट है, करुणा रहित है, कारण के बिना ही गुणों में द्वेष रखते हैं, तथा अत्यन्त पापी है ऐसे दुष्ट म्लेच्छों के द्वारा शरीर के छेदन-भेदन आदि विधि से मारे जाने पर भी जो शरीर और आत्मा का पृथक्-पृथक् अनुभव करने से उत्पन्न होने वाली शान्ति से युक्त रहते हैं वे मुनि वध परीषह से उत्पन्न होने वाली पीड़ा को जीतने वाले कहे जाते हैं। **(आ.सा. ७/१३)**

६१. प्रश्न : क्या विचार करते हुए मुनिराज वध परीषह को जीतते हैं ?

उत्तर : यह शरीर अवश्य ही नष्ट होने वाला है, यह कुशलता है कि शरीर ही इस पुरुष के द्वारा नष्ट किया जा रहा है, कुछ मेरे व्रत, शील और भावनाओं का तो नाश नहीं करता; इस प्रकार भावशुद्धि पूर्वक मुनिराज वध परीषह जीतते हैं। **(रा.वा. १८)**

यह मेरे पूर्वोपार्जित दुष्कर्म का फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर जल के बुलबुले के समान विशरण-स्वभाव है, दु:ख के कारण को ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र को कोई नष्ट नहीं कर सकता, इस प्रकार विचार करते हुए मुनिराज वध परीषह को जीतते हैं। **(सर्वा. ८२७)**

६२. प्रश्न : याचना परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मुनि सैकड़ों व्याधि और क्लेशों के हो जाने पर भी तथा अनेक उपवासों के बाद पारणा करने पर भी कभी जल वा औषधि आदि की याचना नहीं करते हैं उसको याचना परीषहजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१५८)**

प्राण जाने पर भी आहारादि की याचना नहीं करना, दीनता से निवृत्त होना याचना परीषहजय है। **(रा.वा. १९)** मुनिराज श्रेष्ठ राज्य को छोड़कर मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो तप की वृद्धि करते हैं उसमें यह शरीर कारण है और शरीर की स्थिति आहार से सम्बन्ध रखती है इसलिए भिक्षा के लिए मुनि का यह भ्रमण लज्जा का स्थान कैसे हो सकता है ? क्योंकि चर्या के लिए यह भ्रमण मोक्ष पुरुषार्थ का स्थान है। यह उच्च वृत्ति निन्दनीय नहीं है ऐसा विचार कर जो चर्या के लिए भ्रमण करते हैं वे याञ्चा परीषह जय करने वाले मुनि हैं। **(आ.सा. ७/२३)**

६३. प्रश्न : मुनिराज को किन कारणों से याञ्चा परीषह आता है ?

उत्तर : भूख, मार्ग के परिश्रम आदि द्वारा शुष्क वृक्ष के समान सारे अवयव सूख गये हैं, नेत्र भीतर बैठ गये हैं, ओठ शुष्क हो गये हैं, कपोल गड्ढे से युक्त सफेद हो गये हैं, चर्म के समान अंगोपांग संकुचित हो गये हैं फिर भी अनुकूल आहार, पानी, औषधि आदि नहीं मिलने पर मुनिराज के याञ्चा परीषह आती है। **(रा.वा. १९)**

रोगादि के निमित्त से पीड़ा होने पर भले ही प्राण चले जायें किन्तु कुछ भी याचना नहीं करते हुए मुनि के अयाचना परीषह होती है। यहाँ पर 'याञ्चा' पद में अकार का लोप समझना चाहिए। **(मू. २५४-५५ आ.)**

६४. प्रश्न : किन मुनिराज के याञ्चा परीषहजय होता है ?

उत्तर : देशकाल की व्यवस्था के अनुसार आहारचर्या करने वाले, मौनी, परम स्वाभिमानी शरीर दिखाना मात्र व्यापार वाले, महाशक्तिशाली, प्रज्ञा से ओतप्रोत परम तपस्वी मुनिराज प्राण जाने की अवस्था हो जाने पर भी दीनता, मुखकी विवर्णता, शरीर का संकेत, दीन वचनों का प्रयोग आदि के द्वारा आहार, वसति, औषधि आदि की याचना नहीं करते हैं। जौहरी के समान अपनी शरीर रूपी मणि को दिखाते मात्र हैं तथा जो आशीर्वाद के लिए ही हाथ उठाते हैं ऐसे साधुगण के याचना परीषहजय होता है। **(रा.वा. १९)**

६५. प्रश्न : अलाभ परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : आहार आदि का लाभ नहीं होने पर भी वे मुनिराज सन्तुष्ट होकर मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक उस भूख-प्यास की तथा आहारादिक के न मिलने की बाधा को सहन करते हैं इसको अलाभ परीषह विजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१६०)**

६६. प्रश्न : किन निमित्तों से अलाभ परीषह आता है ?

उत्तर : मुनिराज जब बेला, तेला आदि अनेक उपवास करके पारणा को निकलते हैं और अन्न-पानादि का लाभ नहीं होता है तब उनके अलाभ परीषह उत्पन्न होता है। **(मू.प्र. ३१६०)** बहुत दिनों तक और बहुत घरों में भी आहार नहीं मिलने पर अलाभ परीषह आता है। **(चा.सा. १८२)**

६७. प्रश्न : किन मुनिराज के अलाभ परीषहजय होता है ?

उत्तर : वायु के समान अनेक देशों में विहार करने वाले, अपनी शक्ति को प्रकाशित नहीं करने वाले, दिन में एक बार भोजन करने वाले, स्वशरीर-दर्शन मात्र से भिक्षा स्वीकार करने वाले ''देहि या देओ'' इस प्रकार के असभ्य वचनों का प्रयोग नहीं करने वाले, शरीर के ममत्व के त्यागी ''यह आज है और यह कल'' इत्यादि संकल्पों से रहित, एक ग्राम में भिक्षा की प्राप्ति नहीं होने पर ग्रामान्तर में आहार का अन्वेषण करने के लिए जाने में अनुत्सुक, पाणिपात्र में भोजन करने वाले और बहुत घरों में बहुत दिनों तक भ्रमण करने पर भी भिक्षा नहीं मिलने पर भी संक्लेश परिणाम नहीं करने वाले, रंचमात्र भी चित्त को मलिन नहीं करने वाले परम तपस्वी के अलाभ परीषहजय होता है। **(रा.वा. २०)**

जिसने दिन में एक बार भोजन को स्वीकार किया है, जो मौन रहता है या भाषा समिति का पालन करता है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है, दाता विशेष की परीक्षा में जो निरुत्सुक है तथा लाभ से भी अलाभ मेरे लिए परम तप है, इस प्रकार जो सन्तुष्ट है उसके अलाभ परीषहजय जानना चाहिए। **(सर्वा. ८२९)**

६८. प्रश्न : मुनिराज क्या विचार करते हुए अलाभ परीषह को जीतते हैं ?

उत्तर : हे शरीर ! मेरे तप की पूर्ति में तुम्हारी सहायता को लक्ष्य कर मेरे द्वारा तुम पोषण करने योग्य हो और इसीलिए अनेक घरों में भ्रमण करके भी यदि आहार प्राप्त नहीं हुआ है तो इसमें मेरा अपराध नहीं है। मुझे लाभ की अपेक्षा अलाभ ही अच्छा लगता है क्योंकि वह तप की पूर्ति अच्छी तरह करता है। तप की पूर्ति होना ही मुझे अत्यन्त प्रिय है, ऐसा विचार कर समता भाव धारण करते हुए मुनिराज अलाभ परीषह को जीतते हैं। **(आ.सा. ७/१४)**

६९. प्रश्न : रोग परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुनिराज का अपने कर्मों का नाश करने के लिए कोढ़, उदरशूल, वातज्वर, पित्तज्वर आदि अपने पाप कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए और समस्त दु:खों को देने वाले ऐसे सैकड़ों असह्य रोगों की महावेदना को भी बिना प्रतीकार वा इलाज कराये सहन करना रोग-परीषहजय कहलाती है। **(मू.प्र. ३१६१)**

नाना प्रकार की व्याधियों के प्रतीकार की इच्छा नहीं करना रोग परीषहजय है। **(रा.वा. २१)**

७०. प्रश्न : किन निमित्तों से रोग परीषह आता है ?

उत्तर : दु:खों का कारण, अशुचि का भाजन, जीर्ण वस्त्र के समान छोड़ने योग्य शरीर में वात, पित्त, कफ और सन्निपातजन्य अनेक रोग और वेदनाओं के होने से रोग परीषह आता है। **(रा.वा. २१)**

खुजली, कण्ठमाल, पीलिया, दाह, ग्रन्थिज्वर (प्लेग), श्लीपद (पैर की बीमारी), कफ, उदुम्बर, कुष्ठ, पित्त, वात और श्वास आदि अनेक रोगों से पीड़ित होने पर मुनिराज के रोग परीषह उत्पन्न होती है। **(आ.सा. ७/१०)**

७१. प्रश्न : किन मुनिराज के रोग परीषहजय होता है ?

उत्तर : खुजली आदि अनेक रोगों से क्षीणशक्ति-निर्बल होकर भी औषध, मित्र तथा मन्त्र की अपेक्षा न रखते हुए सहन करते हैं, वे पाप कर्म रूपी शत्रु से निर्मित पीड़ा को जीतने वाले रोग परीषह विजयी होते हैं। **(आ.सा. ७/१०)**

जो शरीर संस्कार से रहित हैं, गुणरूपी रत्नों के पात्र के संचय, वर्धन, संरक्षण और संधारण का कारण होने से जिसने शरीर के स्थितिविधान को भली प्रकार से स्वीकार किया है, धुरी को ओंगन लगाने के समान या व्रण (घाव) पर लेप करने के समान जो बहुत उपकार करने वाले आहार को स्वीकार करते हैं उन मुनिराज के भी रोग उपस्थित होने पर तपविशेष से जल्लौषधि आदि अनेक ऋद्धियों का सम्बन्ध होने पर भी शरीर से निष्पृह होने के कारण उनके प्रतीकार की अपेक्षा नहीं करते, औषधि आदि का विकल्प नहीं करते हैं, ऐसे मुनिराज के रोग परीषहजय होता है। **(सर्वा. ८३०)**

७२. प्रश्न : मुनिराज क्या विचार करते हुए रोग परीषह को जीतते हैं ?

उत्तर : यह शरीर दु:खों का आधार है, अपवित्रता का पात्र है, जीर्ण वस्त्र के समान त्याग देने के योग्य है। पित्त और कफ के संयोग के कारण अनेक रोगों की वेदना से पीड़ित है। आत्मा से अत्यन्त भिन्न है, ''यह सब पूर्वोपार्जित पापकर्म का फल है इस उपाय से (पाप कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जायेंगे) मैं उन कर्मों के ऋण से छूट जाऊँगा'' इस प्रकार बार-बार चिन्तन करते हुए मुनिराज रोग परीषह को जीतते हैं। **(चा.सा. १८३)** ''यह पूर्वोपार्जित पापकर्म का ही फल है, इसे भोग कर उऋण हो जाना ही अच्छा है'' इत्यादि विचारों के द्वारा मुनिराज रोग परीषह को जीतते हैं। **(रा.वा. २१)**

७३. प्रश्न : तृणस्पर्श परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देने वाले जो मुनिराज अपने पापों का नाश करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक वायु से उड़कर आये हुए सूखे पत्ते वा तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई खुजली आदि के विकार को सहन करते हैं, उसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उसको तृण स्पर्श परीषहजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१६३-६४)** तृणादि के निमित्त से वेदना के होने पर भी मन का निश्चल रहना उसमें दु:ख नहीं मानना तृणस्पर्श परीषहजय है। **(रा.वा. २२)**

७४. प्रश्न : किन निमित्तों से तृणस्पर्श परीषह आता है ?

उत्तर : याथाभिनिर्वृत्त अधिकरणों (जहाँ कहीं जैसी ऊँची-नीची पृथ्वी) पर सोने वाले मुनिराज के शुष्कभूमि, तृण, पत्र, कण्टक, काष्ठफलक और शिलातल आदि किसी भी प्रासुक असंस्कृत आधार पर व्याधि, मार्गश्रम, शीत-उष्ण आदि के कारण उत्पन्न क्लम (थकावट) को दूर करने के लिए शय्या वा आसन आदि लगाने पर तृणादि के द्वारा शरीर में बाधा उत्पन्न होने पर तृणस्पर्श परीषह आता है। **(रा.वा. २२)**

सूखा तिनका, कठोर कंकड़, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी और शूल आदि के बिंधने से पैरों में वेदना होने पर मुनिराज के तृणस्पर्श परीषह उत्पन्न होता है। **(सर्वा. ८३१)**

७५. प्रश्न : किन मुनिराज के तृणस्पर्श परीषहजय होता है ?

उत्तर : तृणस्पर्शादि रूप परीषह के कारणों के उपस्थित होने पर भी उसमें जिसका चित्त उपयुक्त नहीं है तथा चर्या, शय्या और निषद्या में प्राणिपीड़ा का परिहार करने के लिए जिसका चित्त निरन्तर प्रमाद रहित है उसके तृणस्पर्शादि बाधा परीषहजय जानना चाहिए। **(सर्वा. ८३१)** तृणादि के चुभने से उत्पन्न खुजली आदि के विकार को सहन करने वाले, उसमें किसी प्रकार संक्लेश नहीं करने वाले मुनिराज के तृणस्पर्श परीषहजय होता है। **(मू.प्र. ३१६४)**

मुनिराज शास्त्र की भावना, चिन्तन, पठन-पाठन, अनशन और मार्ग में चलना आदि कार्यों से जब थक जाते हैं तब थकावट को दूर करने के लिए कुछ समय तक शुद्ध पृथिवी, घास या पत्तों का बिस्तर अथवा शिलापट्ट पर शय्या और निषद्या को प्राप्त होते हैं। तृणपत्र निर्मित शय्या पर शयन करने से शरीर में पीड़ा तथा खुजली उत्पन्न हो जाती है। इस सब कष्ट को समता से सहन करने वाले मुनि तृणस्पर्श परीषहजयी कहलाते हैं। **(आ.सा. ७/१२)**

७६. प्रश्न : सूत्र में 'तृणस्पर्श' ही दिया है, इससे कण्टक आदि का ग्रहण कैसे हो सकता है?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'तृण' शब्द उपलक्षण है। इससे जो कोई बिंधने रूप दुःख का कारण है उन सूखे तिनके, कठोर कंकड़, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी, शूल आदि का ग्रहण हो जाता है। **(सर्वा. ८३१)**

७७. प्रश्न : मल परीषहजय किसे कहते है ?

उत्तर : जो वीतराग मुनिराज जीवों की दया का पालन आदि के लिए स्नान आदि का दूर से ही त्याग कर देते हैं और संस्कार वा प्रक्षालन आदि से रहित आधे जले हुए मुरदे के समान मल, पसीना, नाक का मल आदि से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं, उसको मल परीषहजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१६५-६६)**

स्व और पर के द्वारा मल के अपचय और उपचय के संकल्प के अभाव को मलधारण परीषह सहन कहते हैं। **(रा.वा. २३)**

७८. प्रश्न : मुनिराज के मल परीषह किन कारणों से आता है ?

उत्तर : जलकायिक जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए अस्नान व्रत को धारण करने वाले परम अहिंसक मुनिराज के पसीने के कारण आकर चिपके मैल से अंगों के जल जाने पर, दाद, खाज आदि चर्म रोगों के प्रकुपित होने से नख, रोम, दाढ़ी, मूछ, केश के विकृत होने से एवं अनेक बाह्य मल के सम्पर्क के कारण चर्म विकार होने से शरीरगत (नाक, आँख, कान आदि से) मल के निकलने के कारण मल परीषह उत्पन्न होती है। **(रा.वा. २३)**

७९. प्रश्न : स्नान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जल में अवगाहन करना-जल में प्रवेश करके नहाना स्नान है। आदि शब्द से उबटन लगाना, आँख में अंजन डालना, जल छिड़कना, ताम्बूल भक्षण करना, शरीर में लेपन करना (जल से प्रक्षालन) आदि क्रियाएँ जो कि शरीर के अंग-उपांगों को सुखकर है इन सबको स्नान कहते हैं। **(मू. ३१ आ.)**

८०. प्रश्न : मुनिराज स्नान क्यों नहीं करते हैं ?

उत्तर : वीतरागी मुनिराज जीवों की दया पालन करने के लिए, राग को नष्ट करने के लिए और पाप कर्म रूपी मल का नाश करने के लिए स्नान आदि का दूर से ही त्याग कर देते हैं। **(मू.प्र. ३१६६)**

स्नान की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सप्त धातुमय शरीर को पवित्र नहीं किया जा सकता। अत: पवित्रता की दृष्टि से स्नान का कोई प्रयोजन नहीं है। रोग को दूर करने के लिए भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि तब साधु रोग परीषह सहन नहीं कर सकेंगे और शरीर की शोभा के लिए भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि साधु तो विरागी होते हैं। **(भ.आ. ९२ वि.)**

८१. प्रश्न : स्नान करने से क्या हानि है ?

उत्तर : स्नान करने से छहों काय के जीवों का घात होता है, उन जीवों का घात होने से परम (बहुत ज्यादा) पाप होता है, स्नान से ब्रह्मचर्य आदि गुणों का घात करने वाला महान् राग प्रगट होता है तथा स्नान करने से उत्पन्न राग से दुर्बुद्धि के हृदय में उनके आत्मगुणों के नाशक पापकर्म रूप महामल प्रगट होते हैं अत: मुनिराज कभी स्नान नहीं करते हैं। **(मू.प्र. १३०३-४)**

ठण्डे पानी से स्नान करने से त्रस-स्थावर जीवों को बाधा होती है, कीचड़, रेत आदि के मर्दन से पानी में क्षोभ पैदा होता है जिससे उसमें रहने वाले वनस्पतिकायिक जीवों को तथा मछली, मेंढ़क और सूक्ष्म त्रस जीवों को पीड़ा उत्पन्न होती है; गर्म पानी से स्नान करने पर भी त्रस-स्थावर जीवों को बाधा होती है, पृथ्वी तथा पहाड़ के बिलों में रहने वाले चींटी आदि के मरने से और उष्णजल के ताप से कोमल तृण पत्ते आदि के झुलसने से बड़ा दु:ख होता है। तथा जल के खारपने से धान्य के रस को भी हानि पहुँचती है। (आदि अनेक हानियाँ स्नान करने से होती हैं)। **(भ.आ. ९२ वि.)**

८२. प्रश्न : स्नान-त्याग करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : स्नान-त्याग करने से मुनियों के निर्ममत्व आदि पाप रूपी मल को दूर करने वाले शुद्ध गुण प्रगट होते हैं, राग-द्वेष, मोह आदि विकार नष्ट हो जाते हैं तथा अहिंसादि पूर्ण वैराग्य को प्रगट करने वाले व्रत वृद्धि को प्राप्त होते है। **(मू.प्र. १३०१-२)**

स्नान का त्याग कर देने से मुनिराज का शरीर जल्ल (मल से शरीर लिप्त होना) मल्ल (शरीर के एकदेश को ढकने वाला), स्वेद (पसीना) से लिप्त हो जाने से इन्द्रियसंयम तथा प्राणी संयम का पालन

होता है। यह स्नान त्याग घोर (महान्) गुण है अथवा इसमें प्रकृष्ट गुण पाये जाते हैं अत: यह सर्वश्रेष्ठव्रत है। **(मू.प्र ३१६६)**

८३. प्रश्न : कौनसे मुनिराज के मल परीषहजय होता है ?

उत्तर : भोगों से निस्पृह रहने वाले जो मुनि प्राणविघात के भय से शरीर सम्बन्धी राग का त्याग होने से स्नान, उबटन तथा लेप आदि का परित्याग होने से पसीना और धूलि से उत्पन्न लोगों के लिए अप्रिय, अपने शरीर के लिए अनिष्ट एवं खाज के प्रमुख कारण मैल को ऐसा धारण करते हैं मानों शरीर के रक्षक-कवच को ही धारण कर रहे हों वे पाप को जीतने के लिए उद्यत मल परीषह को जीतने वाले है। **(आ.सा. ७/६)** मल के कारण चर्म विकार आदि होने पर भी स्वयं मल को दूर करने की या दूसरे से मल को दूर कराने की इच्छा नहीं करते हैं और सदा कर्म मल को दूर करने की चेष्टा करते हैं, जो पूर्व में अनुभूत स्नान, अनुलेपन आदि के स्मरण से पराङ्मुख हैं उन संयमीजनों के मल धारण परीषहजय होता है। **(रा.वा. २३)**

८४. प्रश्न : सत्कार-पुरस्कार परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : सत्कार-नमस्कार करना, स्तुति करना, प्रशंसा करना आदि सत्कार है। पुरस्कार - चलते समय यात्रादि में उनको आगे रखना, स्वयं पीछे चलना पुरस्कार है। जो मुनिराज ज्ञान-विज्ञान से सुशोभित है और तपश्चरण आदि अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं, ऐसे मुनिराज सत्कार-पुरस्कार का त्याग कर देते हैं, कोई सत्कार-पुरस्कार न करे तो खेद नहीं करते, उसको सत्कार-पुरस्कार परीषहजय कहते हैं। **(मू.प्र. ३१६७-६८)**

८५. प्रश्न : मुनिराज को सत्कार-पुरस्कार परीषह किन कारणों से आता है ?

उत्तर : चिरकाल से ब्रह्मचर्य व्रत के धारी, महातपस्वी, स्व-पर समय निश्चयज्ञ, हितोपदेशी, कथामार्गकुशल, अनेक बार परवादी के साथ शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त करने वाले होने पर भी किसी के द्वारा प्रणाम, भक्ति, आदर, आसनदान, पूजा, प्रशंसा रूप सत्कार तथा क्रियाओं में मुखिया बनाना, प्रधानता देना, आमन्त्रण देना रूप पुरस्कार नहीं करने पर मुनिराज के सत्कार-पुरस्कार परीषहजय होता है। **(रा.वा. २५)**

८६. प्रश्न : कौन से मुनिराज के सत्कार-पुरस्कार परीषहजय होता है ?

उत्तर : मैं चिरकाल से ब्रह्मचर्य व्रत धारण आदि उपर्युक्त गुणों का धारी हूँ तो भी कोई मुझे प्रणाम नहीं करता, मेरी भक्ति नहीं करता और उत्साह से आसन नहीं देता, मिथ्यादृष्टि ही अत्यन्त भक्ति वाले होते हैं, कुछ नहीं जानने वाले को भी सर्वज्ञ समझकर आदर-सत्कार करके अपने धर्म की प्रभावना करते हैं, व्यंतरादिक पहले अत्यन्त उग्र तप करने वालों की प्रत्यग्र (उनके आगे) पूजा रचते थे, यह यदि मिथ्याश्रुति नहीं है तो इस समय वे हमारे समान तपस्वियों की पूजा क्यों नहीं करते हैं, इस प्रकार के खोटे अभिप्राय

से जिसका चित्त रहित है उन मुनिराज के सत्कार-पुरस्कार परीषहजय होता है। **(सर्वा. ८३३)** मैं ब्रह्मचर्यादि अनेक गुणों से युक्त हूँ फिर भी कोई मुझे प्रणाम, भक्ति आदि नहीं करते हैं, इस प्रकार की दुर्भावनाओं को मन में न लाकर मान-अपमान में समवृत्ति रखने वाले, सत्कार-पुरस्कार की आकांक्षा नहीं करने वाले और मात्र श्रेयोमार्ग का ध्यान करने वाले संयमी के सत्कार-पुरस्कार परीषहजय होता है। **(रा.वा. २५)** यद्यपि मैं तप और शास्त्र से प्रसिद्ध हूँ, मुनियों में ज्येष्ठ ही हूँ तथापि कोई भक्ति से न मेरा पुरस्कार करता है, न मेरी प्रशंसा करता है और न मुझे नमस्कार करता है, इस प्रकार जो मान-अहंकार के द्वारा की हुई ग्लानि को प्राप्त नहीं होता, वह मुनि सत्कार-पुरस्कार को जीतने वाला होता है। **(आ.सा. ७/२२)**

८७. प्रश्न : क्या विचार करते हुए मुनिराज सत्कार-पुरस्कार परीषह को जीतते हैं ?

उत्तर : मेरे दोष किसी दूसरे के द्वारा गुण नहीं हो सकते और गुण, दोष नहीं हो सकते; इस प्रकार का विचार करते हुए मुनिराज सत्कार-पुरस्कार परीषह को जीतते हैं। **(आ.सा. ७/२२)**

८८. प्रश्न : प्रज्ञा परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में निपुण हूँ। मेरे आगे दूसरे जन सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए खद्योत के समान बिलकुल सुशोभित नहीं होते हैं, इस प्रकार विज्ञानमद का निरास होना प्रज्ञापरीषहजय है। **(सर्वा. ८३४)**

८९. प्रश्न : प्रज्ञा परीषह किन निमित्तों से उत्पन्न होती है ?

उत्तर : अंग, पूर्व, प्रकीर्णक आदि में विशारदता (चतुरता) होने पर, सारे ग्रन्थों के ज्ञाता होने पर, अनुत्तरवादी (जो वादियों को निरुत्तर कर देते हैं) होने पर, त्रिकाल विषय-अर्थ के ज्ञान होने पर, शब्द, न्याय, अध्यात्म आदि में निपुण होने पर मुनिराज के प्रज्ञा परीषह उत्पन्न होता है। **(रा.वा. २६)**

९०. प्रश्न : कौनसे मुनिराज के प्रज्ञा परीषहजय होता है ?

उत्तर : जो मुनि ग्यारह अंग, चौदह पूर्व के ज्ञाता हैं, महा विद्वान् हैं, वाद-विवाद करने में सर्वश्रेष्ठ हैं और जो अभिमान से सदा दूर हैं तो भी वे अपने मन में ऐसा अभिमान कभी नहीं करते कि मैं विद्वान् हूँ, संसार के समस्त तत्त्वों को जानता हूँ, बाकी ये लोग सब बैल के समान मूर्ख हैं, तत्त्वों का स्वरूप कुछ नहीं जानते। इस प्रकार के अभिमान को सदा के लिए त्याग कर देते हैं उन मुनिराज के प्रज्ञा परीषहजय होता है। **(मू.प्र. ३१६९-७०)**

९१. प्रश्न : क्या विचार करते हुए मुनिराज प्रज्ञा परीषह को जीतते हैं ?

उत्तर : प्रत्यक्ष तथा एक साथ समस्त वस्तुओं को जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान जिसका स्वरूप है ऐसे किसी जीव को परोक्ष, पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त होने पर भी यदि ऐसा गर्व होता है कि मैं सब मत सम्बन्धी शास्त्रों का ज्ञाता हूँ तो वह अपने हृदय में उस लज्जा को क्या नहीं विस्तृत करता है ? इस प्रकार विचार करते हुए मुनिराज क्षायोपशमिक ज्ञान के अहंकार को नष्ट करते हैं। **(आ.सा. ७/१८)**

९२. प्रश्न : अज्ञान परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'यह अज्ञ है, कुछ नहीं जानता, पशु समान है' इत्यादि आक्षेप वचनों को शांति पूर्वक सहने वाले, अध्ययन तथा अर्थग्रहण में श्रम करने वाले, चिरप्रव्रजित, विविध तप विशेष के भार से आक्रान्त मूर्त्ति, सर्व क्रियाओं में प्रमाद नहीं करने वाले और अशुभ मन, वचन, काय की क्रियाओं से रहित मुझे आज तक कोई ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ है, इस प्रकार अपने मन में अज्ञान से हीन भावना नहीं आने देना, मानसिक ताप से सन्तापित नहीं होना अज्ञान परीषहजय जानना चाहिए। **(रा.वा. २७)**

९३. प्रश्न : किन निमित्तों से अज्ञान परीषह आता है ?

उत्तर : जो मुनि अल्पज्ञानी है उसके लिए अन्य दुष्ट लोगों के द्वारा ''यह अज्ञानी है, परमार्थ को कुछ नहीं जानता, पशु के समान है, यह मूर्ख है'' आदि कड़वे वचन कहे जाने पर तथा दुर्धर घोर तपश्चरण करने के बाद भी कोई अतिशय प्रगट नहीं होने पर, श्रुतज्ञान वा अवधिज्ञान प्रगट नहीं होने पर अज्ञान परीषह उत्पन्न होता है। **(मू.प्र. ३१७१-७२)**

९४. प्रश्न : किन मुनिराज के अज्ञान परीषहजय होता है ?

उत्तर : मेरी बुद्धि ज्ञान-ध्यान में लीन रहती है तथा तप भी मेरा तीव्र है फिर भी मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है 'यह मूर्ख है, पशु है' इस प्रकार के वचन सुनने के लिए समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार के अज्ञान परीषह को वे मुनि सहन करते हैं जिन्हें वस्तुस्थिति का स्पष्ट ज्ञान है। **(आ.सा. ७/१९)**

'यह मूर्ख है' आदि आक्षेप के वचनों को जो सहन करते रहते हैं, अध्ययन करने के लिए दूसरे के द्वारा किए हुए तिरस्कार आदि में भी जिनकी बुद्धि कभी आसक्त नहीं होती है जो बहुत दिनों के दीक्षित हैं, आदि अनेक विशेषताओं के होने पर 'मुझे अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान आदि अतिशय ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती' इस प्रकार का विचार जो अपने मन में कभी नहीं लाते हैं उनके अज्ञान परीषह का जीतना समझना चाहिए। **(चा.सा. १८६)**

९५. प्रश्न : क्या विचार करते हुए मुनिराज अज्ञान परीषह को जीतते हैं ?

उत्तर : वस्तु स्थिति को स्पष्ट जाननेवाले मुनिराज, ''कार्य अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों कारणों के मिलने पर होता है, अन्य प्रकार से नहीं'' इस प्रकार विचार करते हुए अज्ञान परीषहजय करते हैं। **(आ.सा. ७/१९)**

९६. प्रश्न : अदर्शन परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर : सुना जाता है कि पूर्व मुनियों के द्वारा तप के अतिशय से उत्पन्न होने वाली सात ऋद्धियाँ तथा पूजा प्रभावना आदि बहुत अतिशय प्राप्त किये गये हैं, सो यह सब कहना मात्र है क्योंकि तत्त्व का ज्ञाता होने पर भी मुझे उन अतिशयों में से कोई भी अतिशय आज तक प्राप्त नहीं हुआ, इस प्रकार आर्त्त-ध्यान के समागम से रहित मनोवृत्ति का होना अदर्शन परीषहजय है। यह अदर्शन परीषहजय सम्यग्दर्शन की विशुद्धता से होता है। **(आ.सा. ७/१६)**

तप के बल से ऋद्धियों के उत्पन्न नहीं होने पर जिनवचन पर अश्रद्धान नहीं करना अदर्शन परीषह जय है। **(रा.वा. २८)**

९७. प्रश्न : किन मुनिराज के अदर्शन परीषह जय होता है ?

उत्तर : जो संयम पालन करने में प्रधान हैं, दुष्कर तप तपने वाले हैं, परम वैराग्य भावना से शुद्ध हृदय युक्त हैं सकल तत्त्वार्थों के ज्ञाता हैं, अर्हदायतन, साधु और धर्म के प्रतिपूजक चिरप्रव्रजित होने पर भी जब ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं होता है तो भी जिन मुनिराज के मन में ''महोपवास करने वालों को प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न हुए थे'' यह सब प्रलाप मात्र है, असत्य है, यह दीक्षा लेना व्यर्थ है इत्यादि भाव उत्पन्न नहीं होते हैं उन मुनिराज के अदर्शन परीषहजय होता है। **(रा.वा. २८)**

९८. प्रश्न : दर्शन के श्रद्धान और आलोचन दोनों अर्थ होते हैं, यहाँ कौनसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि दर्शन के श्रद्धान और आलोचन दोनों अर्थ हैं तथापि यहाँ अव्यभिचार दिखाने के लिए दर्शन का अर्थ श्रद्धान ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यहाँ मति आदि पाँच ज्ञानों के अव्यभिचारी श्रद्धान रूप दर्शन का ग्रहण है, आलोचन रूप दर्शन श्रुतज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में नहीं होता अत: उसका ग्रहण नहीं है, अव्यभिचारी श्रद्धान का ही ग्रहण है। **(रा.वा. २९)**

९९. प्रश्न : अवधि आदि दर्शन को भी परीषह में ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि मेरी आँख अच्छा देखती है, इसकी आँख में कोई अतिशय नहीं है, गुणप्रत्यय भी अवधि है, आगम में लिखा भी है कि 'इसमें उसके योग्य गुण नहीं हैं' इत्यादि वचनों को सहन करना अवधिदर्शन परीषहजय है ?

उत्तर : यद्यपि अवधि दर्शन आदि के नहीं होने पर 'इसमें यह गुण नहीं है' आदि रूप से अवधिदर्शन परीषह हो सकती है, परन्तु इसका 'अज्ञान परीषह' में अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि ये अवधि आदि दर्शन अपने-अपने ज्ञानों के सहचारी होते हैं। अवधि आदि ज्ञान के अभाव में उनके सहचारी दर्शन का भी अभाव रहता है। जैसे सूर्य के प्रकाश के अभाव में उसके प्रताप का अभाव रहता है इसलिए अज्ञान परीषह में ही उन-उन अवधिदर्शन का अभाव आदि परीषहों का अन्तर्भाव है। **(रा.वा. ३१)**

१००.प्रश्न : यदि अज्ञान परीषह में अवधिदर्शन अभाव आदि का अन्तर्भाव हो जाता है तो श्रद्धान भी ज्ञान का अविनाभावी है अत: अदर्शन परीषह का भी प्रज्ञा परीषह में अन्तर्भाव हो जाना चाहिए ?

उत्तर : श्रद्धान रूप दर्शन को ज्ञान का अविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञा में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। क्योंकि किसी में प्रज्ञा के होने पर भी तत्त्वार्थ श्रद्धान का अभाव पाया जाता है, अत: व्यभिचारी है। अर्थात् प्रज्ञा के साथ श्रद्धान का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। **(रा.वा. ३१)**

१०१.प्रश्न : कौन-कौन से गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक सभी परीषह होते हैं। अपूर्वकरण गुणस्थान में- अदर्शन के बिना इक्कीस, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में - अरति के नष्ट होने पर बीस, वेद के नष्ट होने पर स्त्री परीषह नष्ट होने से उन्नीस परीषह हैं। मान कषाय का उपशम या क्षय होने पर नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार-पुरस्कार परीषह नष्ट हो जाते हैं अत: चौदह परीषह रह जाती हैं।

इसके आगे बारहवें गुणस्थान तक- उपर्युक्त चौदह।

केवली भगवान के घातिया कर्म नष्ट हो जाने से - प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह नहीं होते हैं अत: ग्यारह परीषह होते हैं। **(मू.प्र. ३१८५-९२)**

किस चारित्र में कितने परीषह होते हैं, उसे बताते हैं-

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।।१० ।।

सूक्ष्म-साम्पराय-छद्मस्थवीतरागयो: चतु:दश।

अर्थ - सूक्ष्मसाम्पराय तथा छद्मस्थ वीतराग में चौदह परीषह होते हैं ?

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : शिष्य पूछता है कि परीषहों को जीतने से संवर होता है, ऐसा आपने कहा है, अब यह बताइये कि संसार समुद्र से तिरने की इच्छा रखने वाले इन मुनिगण को क्या वे सभी परीषह एक साथ दु:ख देते हैं कि इनमें कुछ विशेषता है ? विशेषता यह है कि भिन्न-भिन्न चारित्रों के अनुसार ये विभक्त हो जाते हैं। इन दोनों (सूक्ष्मसाम्पराय एवं वीतराग छद्मस्थ) में नियम से जानने योग्य विशेषताओं को इस सूत्र के द्वारा बताया गया है। **(रा.वा.उ. १०)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'चतुर्दश' पद का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : 'चतुर्दश' पद से अन्य परीषहों का अभाव जानना चाहिए क्योंकि चतुर्दश इस संख्या विशेष का ग्रहण नियम के लिए है कि चौदह ही होती हैं अन्य नहीं। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : मोहनीय कर्म का सद्भाव होने से सूक्ष्मसाम्पराय में वीतराग छद्मस्थ के समान चौदह परीषहों का नियम कैसे बन सकता है ?

उत्तर : यद्यपि सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र में सूक्ष्म लोभ संज्वलन कषाय का उदय है पर वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से कार्यकारी नहीं है, मात्र उसका सद्भाव ही है अत: वीतराग छद्मस्थ कल्प (समान) होने से छद्मस्थ वीतराग के समान सूक्ष्मसाम्पराय में भी चौदह परीषहों का नियम घटित हो जाता है। **(रा.वा.२)**

४. प्रश्न : मोहनीय कर्म का मन्द उदय अथवा उदय का अभाव होने से सूक्ष्म साम्पराय आदि में क्षुधा आदि वेदना का अभाव होने से परीषहों का कथन करना केवल भक्ति मात्र है वास्तव में नहीं ?

उत्तर : सूक्ष्मसाम्पराय आदि में परीषहों का कथन मात्र भक्ति दिखाने के लिए नहीं है क्योंकि उन गुणस्थानों में उनका सद्भाव पाया जाता है। जैसे- सर्वार्थसिद्धि के देवों में निरन्तर सातावेदनीय का उत्कृष्ट उदय रहता है फिर भी उनके सप्तम पृथ्वी के गमन का सामर्थ्य नष्ट नहीं होता है। उसी प्रकार वीतराग छद्मस्थ के भी उस उस कर्मजन्य परीषहों का सद्भाव पाया जाता है वा कर्मोदय सद्भावकृत परीषहों का व्यपदेश युक्तिसंगत हो जाता है। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : सूक्ष्म साम्परायादि में कौनसे चौदह परीषह होते हैं ?

उत्तर : सूक्ष्म साम्परायादि में क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग,तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह होते हैं। **(सर्वा. ८३९)**

केवली भगवान के होने वाले परीषहों को कहते हैं-

एकादश जिने ॥११॥

अर्थ - जिन (सयोग केवली भगवान) के ग्यारह परीषह होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि शरीर वाले आत्मा में परीषहों का सन्निधान जाना जाता है तो उत्पन्न हुआ है केवलज्ञान जिनको ऐसे कर्म चतुष्टय के फल का अनुभव करने वाले केवली भगवान के कितने परीषह होते हैं ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ११)**

२. प्रश्न : केवली भगवान के कितने परीषह होते हैं ?

उत्तर : केवली भगवान के वेदनीय कर्म के विद्यमान रहने से उपचार से ग्यारह परीषह रह जाते हैं। केवली भगवान के घातिया कर्मों का नाश हो जाने से वे परीषह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकते। तथा उन भगवान के अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है इसलिए वे परीषह रंचमात्र भी दु:ख नहीं दे सकते हैं। **(मू.प्र. ३१९२-९३)**

३. प्रश्न : केवली भगवान के कौन-कौन से ग्यारह परीषह होते हैं ?

उत्तर : क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह केवली भगवान के होते हैं। **(त.सू. ९/१३-१६ के आधार से)**

४. प्रश्न : मोहनीय के उदय की सहायता न होने से क्षुधादि वेदना के न होने पर परीषह संज्ञा युक्त नहीं है ?

उत्तर : यह कथन सत्य ही है तथापि वेदना का अभाव होने पर भी द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा यहाँ परीषहों का उपचार किया जाता है। जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरण के नाश हो जाने पर एक साथ समस्त पदार्थों के रहस्य को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञानातिशय के होने पर चिन्तानिरोध का अभाव होने पर भी कर्मों के नाश रूप उसके फल की अपेक्षा ध्यान का उपचार किया जाता है उसी प्रकार यहाँ परीषहों का उपचार से कथन करना चाहिए। **(सर्वा. ८४१)**

अथवा - 'जिन भगवान में ग्यारह परीषह नहीं हैं' इतना वाक्यशेष कल्पित कर लेना चाहिए क्योंकि सूत्र उपस्कार सहित होते हैं। 'वाक्यशेष की कल्पना करनी चाहिए और वाक्य वक्ता के अधीन होता है' ऐसा स्वीकार भी किया गया है। मोह के उदय की सहायता से होने वाली क्षुधादि वेदनाओं का अभाव होने से 'नहीं है' यह वाक्यशेष उपन्यस्त किया गया है। **(सर्वा. ८४१)**

५. प्रश्न : केवली भगवान के क्षुधा की बाधा मान लें तो क्या दोष?

उत्तर: (१) यदि केवली भगवान के क्षुधा की बाधा है तो क्षुधा की उत्पत्ति रूप शक्ति की क्षीणता से उनके अनन्तवीर्य नहीं है, उसी प्रकार क्षुधा पीड़ित जीव के अनन्तसुख भी नहीं है, जिह्वा इन्द्रिय की जानकारी रूप मतिज्ञान से परिणत जीव के केवलज्ञान भी सम्भव नहीं है।

(२) केवली के असातावेदनीय के उदय की अपेक्षा सातावेदनीय का उदय अनन्तगुणा है। इसलिए शक्कर की राशि में नीम की कणिका के समान असातावेदनीय का उदय होने पर भी ज्ञात नहीं होता।

(३) जैसे वेद कषाय का उदय होने पर भी मोह का मंद उदय होने से अखण्ड ब्रह्मचारी प्रमत्तसंयत आदि मुनिराजों के स्त्री परीषह सम्बन्धी बाधा नहीं होती है; और जैसे-नव ग्रेवेयक आदि अहमिन्द्र देवों के वेद कषाय का उदय होने पर भी मोह का मंद उदय होने से स्त्री विषयक बाधा नहीं होती, उसी प्रकार भगवान के असातावेदनीय का उदय विद्यमान होने पर भी मोह का पूर्णत: अभाव हो जाने से क्षुधा की बाधा नहीं होती है।

(४) यहाँ कोई कहे कि विशिष्ट अतिशय होने से प्रगट भोजन नहीं है, गुप्त भोजन है इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा है तो परमौदारिक शरीरपना होने से भोजन ही नहीं है, यही अतिशय क्यों नहीं हो जाता। वहाँ गुप्त भोजन में मायास्थान, दीनता अथवा और भी भोजन सम्बन्धी कहे गये अनेक दोष आते हैं। **(प्र.सा.ता. २१)**

सर्व परीषह किसके होते हैं, वही कहते हैं

बादर-साम्पराये सर्वे ॥१२॥

अर्थ - बादर साम्पराय गुणस्थान तक साधुओं के सर्व परीषह होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि सूक्ष्म साम्पराय, छद्मस्थ वीतराग और केवली भगवान में चौदह और ग्यारह परीषह कहे हैं, यानी थोड़े-थोड़े परीषह कहे हैं तो सर्व परीषह किन गुणस्थानों में होते हैं यह बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १२)**

२. प्रश्न : किन जीवों के सभी परीषह होते हैं ?

उत्तर : बादर साम्पराय अर्थात् प्रमत्तसंयतादि के ६ठे से नौवें गुणस्थान तक सभी परीषह होते हैं।

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'बादर साम्पराये' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में बादर साम्पराय कहने से गुणस्थान विशेष (नवम गुणस्थान मात्र) का ग्रहण नहीं है अपितु अर्थ निर्देश है कि प्रमत्तादि संयतों का सामान्य ग्रहण है। बादर साम्पराय जिनके हैं, वे बादर साम्पराय हैं। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : किस चारित्र में कितने परीषह होते हैं ?

उत्तर : सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना चारित्र एवं परिहारविशुद्धि संयम इनमें से प्रत्येक में सब परीषह सम्भव हैं। **(सर्वा. ८४३)**

नोट - सूक्ष्म साम्पराय एवं यथाख्यात चारित्र (वीतराग छद्मस्थ और जिन भगवान) में परीषहों के लिए देखें। **(९/१०)**

ज्ञानावरण के उदय से होने वाले परीषहों को कहते हैं

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

ज्ञानावरणे-प्रज्ञा-अज्ञाने।

(ज्ञानावरणे) ज्ञानावरण के उदय में (प्रज्ञाज्ञाने) प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

अर्थ - ज्ञानावरण के उदय में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : परीषहों के गुणस्थान विशेष का अवधारण किया, किन्तु हम यह नहीं जानते कि किस प्रकृति का क्या कार्य है इसलिए यहाँ पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १३)**

२. प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म के उदय से कितने परीषह होते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरण कर्म के उदय से दो परीषह होते हैं।

(१) प्रज्ञा (२) अज्ञान। **(त. ९/१३)**

३. प्रश्न : ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा परीषह कैसे हो सकती है ?

उत्तर : क्षायोपशमिक प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के होने पर मद को उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरण के क्षय होने पर नहीं, इसलिए ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञा परीषह होती है यह कथन बन जाता है। **(सर्वा. ८४५)**

४. प्रश्न : मोह कर्म के उदय से 'मैं महाप्रज्ञावान् हूँ, मेरे समान कोई दूसरा ज्ञानी नहीं है' ऐसा मानता है, ज्ञानावरण कर्म के उदय में नहीं अत: प्रज्ञा ज्ञानावरण कर्म का कार्य नहीं है ?

उत्तर : प्रज्ञा मोह कर्म के उदय से नहीं होती है। क्योंकि मोहनीय कर्म के भेद गिने हुए हैं और उनका कार्य भी सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र का नाश करना सुनिश्चित है अत: इसका अन्तर्भाव मोह में नहीं हो सकता अत: 'मैं बड़ा विद्वान हूँ' यह मद मोहनीय कर्म का न होकर ज्ञानावरण कर्म का कार्य है, क्योंकि चारित्रधारी सम्यग्दृष्टियों के भी प्रज्ञा परीषह का सद्भाव पाया जाता है अत: प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होती है ऐसा निश्चय करना चाहिए। **(रा.वा. २)**

दर्शनमोहनीय एवं अन्तराय कर्म के उदय से होने वाले परीषहों को कहते हैं-

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

दर्शन-मोह-अन्तराययो: अदर्शन-अलाभौ।

(दर्शनमोहान्तराययो:) दर्शनमोह और अन्तराय कर्म में (अदर्शनालाभौ) अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं।

अर्थ - दर्शनमोह के उदय से अदर्शन एवं अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि प्रज्ञा और अज्ञान परीषह की उत्पत्ति में ज्ञानावरण कर्म हेतु है तो अदर्शन और अलाभ परीषह की उत्पत्ति किस कर्म के उदय से होती है, ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. १४)**

पुन: अन्य दो परीषहों की प्रकृति का ज्ञान कराने के लिए यह आगे का सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ८४६)**

२. प्रश्न : अदर्शन एवं अलाभ परीषह कौनसे कर्म के उदय से होते हैं ?

उत्तर : अदर्शन परीषह दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होता है। **(त.सू. ९/१४)**

यद्यपि इस सूत्र में अन्तराय यह सामान्य निर्देश है तथापि यहाँ सामर्थ्य से लाभान्तराय विशेष ही विवक्षित है, लाभान्तराय विशेष का ही ज्ञान होता है। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'दर्शनमोह' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'दर्शनमोह' इस विशिष्ट कारण का निर्देश करने से अवधिदर्शन आदि के सन्देह का अभाव हो जाता है, सन्देह नहीं रहता कि अवधिदर्शन का कार्य अदर्शन परीषह है। **(रा.वा.१)**

चारित्रमोह के उदय से होने वाले परीषहों को कहते हैं-

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

चारित्रमोहे- नाग्न्य-अरति-स्त्री-निषद्या-आक्रोश-याचना-सत्कारपुरस्काराः।

(चारित्रमोहे) चारित्र मोहनीय के उदय में (नाग्न्यारति स्त्री निषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः) नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये परीषह होते हैं।

अर्थ - चारित्र मोहनीय का उदय होने पर नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये परीषह होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि मोहनीय कर्म के प्रथम भेद दर्शनमोहनीय के उदय में अदर्शन परीषह होता है तो मोहनीय के द्वितीय भेद चारित्र मोहनीय के उदय में किन-किन परीषहों की उत्पत्ति होती है ? ऐसा पूछने पर चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले परीषहों का वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १५)**

२. प्रश्न : चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कौन-कौन से परीषह होते हैं ?

उत्तर : मान कषाय नामक चारित्र मोहनीय के उदय से नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं।

अरति नामक नोकषाय के उदय से अरति परीषह होता है।

स्त्रीवेद नामक नोकषाय के उदय से स्त्री परीषह होता है।

इस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से नाग्न्यादि सात परीषह होते हैं। **(मू.प्र. ३१७८-८०)**

३. प्रश्न : नाग्न्यादि परीषह पुंवेद आदि के उदय से होते हैं अतः मोहनीय निमित्त है लेकिन निषद्या मोहोदय निमित्तक कैसे हो सकती है ?

उत्तर : निषद्या परीषह भी प्राणिपीड़ा के परिहार की मुख्यता होने से मोहोदय निमित्तक माना गया है, क्योंकि मोहोदय के होने पर प्राणिपीड़ा रूप परिणाम होता है। **(सर्वा. ८४८)**

वेदनीयजन्य परीषह कहते हैं-

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

(वेदनीये) वेदनीय कर्म के उदय में (शेषाः) शेष परीषह होते हैं।

अर्थ - शेष परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अवशिष्ट परीषहों की प्रकृति विशेष का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ८४९)** ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन कर्मों के उदय में होने वाले परीषहों को तो जान लिया है, परन्तु अन्य शेष परीषह किस कर्म के उदय से होते हैं ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज ने उत्तर देने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. १६)**

२. प्रश्न : वेदनीय कर्म के उदय से कौन-कौन से परीषह होते हैं ?

उत्तर : उपर्युक्त प्रज्ञा आदि परीषहों के अतिरिक्त क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय में होते हैं। **(रा.वा.१)**

एक आत्मा में एक समय में होने वाले परीषहों को कहते हैं-

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशते: ॥१७॥

एक-आदय:-भाज्या-युगपत् एकस्मिन्-एकोनविंशते:।

(एकादय:) एक को आदि लेकर (युगपत्) एक साथ (एकस्मिन्) एक आत्मा में (एकोनविंशते:) उन्नीस परीषह (भाज्या) भजनीय हैं।

अर्थ - एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर उन्नीस परीषह विकल्प से हो सकते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : किन कर्मों के निमित्त से कौन-कौन से परीषह होते हैं उनके निमित्त, लक्षण और विकल्पों का वर्णन कर दिया। अब एक साथ एक जीव के कितने परीषह होते हैं उनका वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १७)**

परीषहों के निमित्त, लक्षण और भेद कहे। प्रत्येक आत्मा में उत्पन्न होते हुए वे एक साथ कितने हो सकते हैं, इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ८५१)**

२. प्रश्न : एक जीव के एक साथ कितने परीषह हो सकते हैं ?

उत्तर : एक आत्मा में शीत और उष्ण परीषहों में से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या इनमें से कोई एक परीषह ही होता है, क्योंकि शीत और उष्ण इन दोनों के तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनों के एक साथ होने में विरोध आता है। इन तीनों को कम कर देने पर एक साथ एक आत्मा में इतर परीषह सम्भव होने से वे सब मिलकर उन्नीस परीषह जानना चाहिए। **(सर्वा. ८५२)**

३. प्रश्न : प्रज्ञा और अज्ञान परीषह में भी विरोध है अत: ये दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : एक साथ एक आत्मा में श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञान आदि के अभाव की अपेक्षा अज्ञान परीषह रह सकते हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं है। **(सर्वा. ८५२)**

४. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'आङ्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में 'आङ्' अभिविधि अर्थ में आया है। इससे किसी एक आत्मा में एक साथ उन्नीस परीषह भी सम्भव हैं, यह जाना जाता है। **(सर्वा. ८५२)**

यहाँ आङ् शब्द अभिविधि अर्थ में है अत: क्वचित् किसी साधु में एक साथ उन्नीस परीषह भी होती हैं, ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा.१)**

५. प्रश्न : चर्यादि तीन एवं शीत-उष्ण एक साथ नहीं रहते, क्योंकि बैठने में परीषह आने पर साधु शयन कर सकता है, शयन परीषह आने पर चल सकता है वा बैठ सकता है और सहन विधि एक जैसी है अत: इन्हें एक ही मानकर उन्नीस ही परीषह मानने चाहिए ?

उत्तर : अरति में परीषहजय का अभाव होता है। क्योंकि यदि साधु चर्या (गमन) के कष्ट से उद्विग्न होकर बैठ जाता है और बैठने से उद्विग्न होकर लेट जाता है तो परीषहजय कैसा ? यदि 'परीषहों को जीतूँगा' इस प्रकार की रुचि नहीं है तो वह परीषहजयी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कष्टों को जीतना और एक कष्ट का निवारण करने के लिए दूसरे की इच्छा नहीं करना ही परीषह जय कहलाता है। अत: यथोक्त प्रतिद्वन्द्वी के सान्निध्य में परीषह के स्वभाव, आश्रय, परिणाम, आत्मलाभ आदि निमित्तों का विचार करने में चतुर साधु के अरति का परित्याग करने के लिए परीषह सहन करने में आदर पूर्वक प्रवृत्ति के लिए प्रकरण कहा है। **(रा.वा. ७)**

६. प्रश्न : नरकादि गतियों में कितने परीषह होते हैं ?

उत्तर : नरकों में नारकियों के और तिर्यञ्चगति में तिर्यञ्चों के समस्त परीषह होते हैं तथा अत्यन्त तीव्र और उत्कृष्ट होते हैं।

देव गति में प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन, अलाभ, नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, यांचा सत्कार-पुरस्कार, क्षुधा, पिपासा और वध ये चौदह परीषह बहुत थोड़े रूप में होते हैं। **(मू.प्र. ३१९४-९६)**

७. प्रश्न : परीषहों को न सहने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो कायर मुनि परीषह रूपी योद्धाओं से डर कर भाग जाते हैं वे उस चारित्र रूपी युद्ध में तीनों लोकों में फैलने वाली अपकीर्ति प्राप्त करते हैं, अपने स्वजन और साधुओं के मध्य में उनकी हँसी होती है तथा परलोक में पापकर्म के उदय से उन्हें चारों गतियों के समस्त महादु:ख प्राप्त होते हैं। **(मू.प्र. ३२००-१)**

चारित्र

चारित्र का कथन करते हैं-

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ।।१८ ।।

सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातं इति चारित्रम्।

अर्थ - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात ये चारित्र हैं।

सामयिक- सर्व सावद्य योग का त्याग करना सामायिक है?

छेदोपस्थापना- प्रमादकृत अनर्थ के प्रबन्ध का नाश करने के लिए सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना है।

परिहार विशुद्धि- परिहार से विशुद्धि जिस चारित्र में होती है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

सूक्ष्मसाम्पराय- अति सूक्ष्म कषायपना होने से सूक्ष्मसाम्पराय कहलाता है।

यथाख्यात- जैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव अवस्थित है वैसा ही इसमें प्राप्त होता है अत: यह यथाख्यात कहा जाता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : बाईस परीषह कहे हैं। जिन परीषहों के द्वारा आकुलित नहीं होने वाले ज्ञानीजन नवीन कर्मों का संचय नहीं करते हैं और पुरातन की निर्जरा करते हैं उन परीषहों का वर्णन कर दिया। उसके बाद कर्मनिर्जरा के लिए सामर्थ्य वाला और पुरुष के द्वारा साध्य जो चारित्र कहा है उसके पाँच भेदों को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १८)**

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय ये पाँच संवर के हेतु कहे। अब चारित्रसंज्ञक संवर का हेतु कहना चाहिए, इसलिए उसके भेद दिखाने के लिए आगे का सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ८५३)**

२. प्रश्न : चारित्र कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : चारित्र चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि की प्राप्ति की सामान्य अपेक्षा **एक** है।

चारित्र **दो** प्रकार का है- (१) प्राणिपीड़ा परिहार (२) इन्द्रियों के दर्प का निग्रह (इन्द्रिय संयम) **अथवा** चारित्र **तीन** प्रकार का है -

(१) उत्कृष्ट चारित्र (२) मध्यम चारित्र (३) जघन्य चारि **अथवा** चारित्र **चार** प्रकार का है-

(१) सराग चारित्र (२) वीतराग चारित्र - विकलज्ञान विषयक। (३) सयोग चारित्र (४) अयोग

चारित्र - सकल ज्ञान विषयक।

अथवा - चारित्र **पाँच** प्रकार का है-

(१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहार विशुद्धि (४) सूक्ष्म साम्पराय (५) यथाख्यात। **(त.सू. ९/१८)**

सकल चारित्र तीन प्रकार का है- (१) क्षायोपशमिक चारित्र (२) औपशमिक चारित्र (३) क्षायिक चारित्र। **(ध. ६/२८१)** चारित्र **दो** प्रकार का है-

(१) सम्यक्त्वाचरण चारित्र (२) संयमाचरण चारित्र। **(चा.पा. ५)**

सामायिकादि पाँचों चारित्र शब्द की दृष्टि से संख्यात, बुद्धि-अध्यवसाय (बुद्धि के उपयोग रूप विकल्प) की अपेक्षा असंख्यात तथा चारित्र की विशुद्धि की दृष्टि से अनन्त भेद वाले हैं। **(रा.वा. १४)**

(१) स्व चारित्र (२) पर चारित्र। **(पं.का. १५६)**

(१) निश्चय चारित्र (२) व्यवहार चारित्र। **(वृ.द्र. सं. टी. ४५-४६)**

३. प्रश्न : सराग चारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर : वीतराग चारित्र के परम्परा साधक सराग चारित्र को कहते है, जो अशुभ कार्य से निवृत्त होना और शुभकार्य में प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र जानना चाहिए व्यवहारनय से उसको व्रत, समिति गुप्ति स्वरूप कहा है। **(बृ. द्र. सं. टी. ४५)**

वीतराग चारित्र में असमर्थ पुरुष शुद्धात्म भावना के सहकारीभूत जो कुछ प्रासुक आहार तथा ज्ञानादि के उपकरणों का ग्रहण करता है वह अपवाद मार्ग सराग चारित्र है। **(प्र. सा. ता. २३०)**

जो अशुभ प्रवृत्तियों से तो राग नहीं करता किन्तु जिसे व्रतादिरूप शुभ प्रवृत्तियों में राग रहता है उसे यहाँ सराग चारित्र का धारक श्रमण कहा है।**(न. च. ३३१)**

श्रमणों के मूल गुण तथा उत्तर गुणों का धारण करना, उनका कथन करना, पाँच प्रकार का आचार, आठ शुद्धि तथा सुनिष्ठा ये सब सराग चारित्र है। **(न. च. ३३४)**

४. प्रश्न: वीतराग चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के योगों से निवृत्ति वीतराग साधुका चारित्र है। स्वरूप में विश्रान्ति सो ही परमवीतराग चारित्र है। **(नि. सा. १५२)**

उस शुद्धात्मा में रागादि विकल्प रूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुख के आस्वादन से निश्चल चित्त होना वीतराग चारित्र है। **(वृ. द्र. सं. टी. ५२)**

जिसे शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार का राग नहीं है वह श्रमण वीतराग है। **(न. च. ३३१)**

५. प्रश्न : सामायिक चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : हिंसा, झूठ, चोरी आदि सभी सावद्य योगों का अभेद रूप से सार्वकालिक वा नियमित समय तक त्याग करना सामायिक है। **(रा.वा. २)**

जहाँ पर बुद्धिमान पुरुष मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक समस्त सावद्य रूप योगों का सर्वथा त्याग कर देते हैं तथा निन्दा-स्तुति में, शत्रु-मित्र में, रत्न-पाषाण में और सुख-दु:ख आदि के संयोग में समता धारण करते है, उसको सामायिक चारित्र कहते हैं। **(मू.प्र. २९७१-७२)**

व्रत धारण आदिक पाँच प्रकार के सकल संयम में संग्रह नय की अपेक्षा से एक यमभेद रहित होकर अर्थात् अभेद रूप से ''मैं सर्व सावद्य का त्यागी हूँ''इस तरह से सम्पूर्ण सावद्य का त्याग करने को सामायिक संयम कहते हैं। यह संयम अनुपम है तथा दुर्लभ है और दुर्धर्ष है। **(गो.जी. ४७०)**

सम शब्द का अर्थ अभेद है और अय का अर्थ बुद्धि की प्राप्ति है। जहाँ अभेद रूप से पाँचों पापों के त्याग की बुद्धि होती है वह सामायिक चारित्र है। **(आ.सा. ५/५)**

६. प्रश्न : सामायिक संयम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : सामायिक संयम दो प्रकार का है-

(१) नियत काल (२) अनियत काल।

नियत काल - स्वाध्याय आदि नियत काल सामायिक है। **(सर्वा. ८५४)**

अनियत काल - ईर्यापथ आदि अनियत काल सामायिक है। **(सर्वा. ८५४)**

७. प्रश्न : मानसिक प्रवृत्ति का सद्भाव होने से सामायिक का गुप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है ?

उत्तर : सामायिक को गुप्ति नहीं कह सकते, क्योंकि गुप्ति में तो मन के व्यापार का भी निग्रह किया जाता है जबकि सामायिक में मानसिक प्रवृत्ति होती है। अत: निवृत्ति और प्रवृत्ति के भेद से गुप्ति और सामायिक में भेद है। **(रा.वा. ३)**

८. प्रश्न : क्या प्रवृत्ति रूप होने से सामायिक का समिति में अन्तर्भाव हो जाता है ?

उत्तर : प्रवृत्ति रूप होने से सामायिक संयम को समिति नहीं कह सकते, क्योंकि सामायिक चारित्र में समर्थ व्यक्ति को ही समितियों में प्रवृत्ति का उपदेश दिया जाता है अत: दोनों में कार्य-कारण भेद है अर्थात् सामायिक चारित्र कारण है और समिति कार्य है। **(रा.वा. ४)**

९. प्रश्न : क्या संयम धर्म में सामायिक संयम का अन्तर्भाव हो जाता है ?

उत्तर : यद्यपि संयम धर्म में सामायिक चारित्र का अन्तर्भाव हो सकता है तथापि चारित्र मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है और चारित्र समस्त कर्मों का अन्त करने वाला है अत: इस बात की सूचना

देने के लिए अन्त में चारित्र का पृथक् वर्णन किया है। **(रा.वा. ५)**

१०. प्रश्न : छेदोपस्थापना चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रमादकृत अनर्थ के प्रबन्ध का नाश करने के लिए सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना है। त्रस-स्थावर जन्तुओं का देश-काल, उत्पत्ति ,नाश और स्थान छद्मस्थों के अप्रत्यक्ष है अत: प्रमादवश स्वीकृत निरवद्य क्रियाओं में दूषण लगने पर उसका सम्यक् प्रतीकार करना छेदोपस्थापना चारित्र है। **(रा.वा.६)** विकल्पों की निवृत्ति का नाम छेदोपस्थापना चारित्र है। **(सर्वा. ८५४)**

किसी देश-काल के कारण वा किसी की रुकावट के कारण वा प्रमाद से अथवा और किसी कारण से यदि स्वीकार किये हुए व्रतों में अतिचार लग जाय तो अपनी निन्दा, गर्हा आदि के द्वारा प्रायश्चित्त धारण कर उस अतिचार का शोधन करना, दोषों की शुद्धि कर व्रतों को शुद्ध करना छेदोपस्थापना नाम का संयम कहलाता है। **(मू.प्र. २९७३-७४)**

पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियाँ इस प्रकार छेद (भेदों) के द्वारा अपनी बुद्धि को अच्छी तरह उपस्थित करना छेदोपस्थापना संयम है अथवा चारित्र में छेद-दोष होने पर प्रायश्चित्त आदि के द्वारा अपने आप में स्थिति करना छेदोपस्थापना चारित्र कहा गया है। इसमें सभी सावद्य कार्यों का त्याग होता है परन्तु हिंसा, असत्य आदि के विकल्प पूर्वक त्याग होता है। **(आ.सा. ५/६-७)**

अहिंसादि भेद रूप व्रतों का छेद होने से राग आदि विकल्प रूप सावद्यों से अपने आपको छुड़ाकर निज शुद्ध आत्मा में अपने को उपस्थापन करना छेदोपस्थापना है। **अथवा** - छेद अर्थात् व्रत का भंग होने पर निर्विकार निज आत्मानुभव रूप निश्चय प्रायश्चित्त के बल से और उसके साधक रूप बहिरंग व्यवहार प्रायश्चित्त से निज आत्मा में स्थित होना छेदोपस्थापना है। **(वृ. द्र.सं. ३५)**

११. प्रश्न : परिहारविशुद्धि संयम किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्राणिवध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। इससे युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। **(सर्वा. ८५४)**

जिस संयम में दोषों के परिहार-निराकरण से शुद्धि होती है, वह परिहार विशुद्धि संयम है। **(आ. सा. ५/१४२)** परिहारविशुद्धि संयम को धारण करने वाला मुनि सामायिक की तीनों संध्याओं को छोड़कर शेष समय में अकेला ही अनेक देशों में विहार करता है, वन में ही निवास करता है और प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक दो गव्यूति अवश्य गमन करता है, वह आत्मा को अत्यन्त विशुद्ध करने वाला परिहारविशुद्धि नामका चारित्र कहलाता है। **(मू. प्र. २९७८-७९)**

१२. प्रश्न : परिहारविशुद्धि चारित्र किसके होता है ?

उत्तर : यह चारित्र तीस वर्ष तक घर में सुखपूर्वक रहकर दीक्षा लेकर वर्ष पृथक्त्व (३ से ८ वर्ष) तक जिसने तीर्थंकर के चरणमूल की सेवा कर उनके समीप प्रत्याख्यान नामक पूर्व का अध्ययन किया है,

जन्तुओं की उत्पत्ति, विनाश, उनका स्थान, काल, परिमाण, जन्म, योनि, द्रव्य के स्वभाव आदि के विधान का जिसे ज्ञान है, जो अप्रमादी है, महाशक्तिशाली है, परम निर्जरा करने वाला है, दुष्कर चर्याअनुष्ठान करने में तत्पर है और तीनों सन्ध्याकाल को छोड़ कर प्रतिदिन दो कोस गमन करने वाला है, उसी साधु के परिहारविशुद्धि संयम होता है, अन्य के नहीं। **(रा.वा. ८)**

संयम के विनाश होने का जिसको भय है, वह निर्मल परिहार विशुद्धि-संयम को प्राप्त करता है। **(आरा. समुच्चय ९१)**

१३. प्रश्न : परिहारविशुद्धि चारित्र वाले के शरीर में क्या विशेषता होती है ?

उत्तर : परिहारविशुद्धि ऋद्धि सहित मुनि छह काय के जीवसमूह वाले स्थान में विहार करने पर भी पाप से लिप्त नहीं होते हैं, जैसे- कमलपत्र जलसमूह में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता है। **(गो.जी. जी. ४७३ टी.)**

जिस प्रकार जल में रहने वाली कमलिनी का पत्ता जल के लेप से रहित होता है उसी प्रकार परिहारविशुद्धि संयम का धारक मुनि जीवराशि पर चलता हुआ भी पाप के लेप से रहित होता है। **(आ.सा. ५/१४५)**

१४. प्रश्न : परिहार-विशुद्धि संयम का जघन्य-उत्कृष्ट काल कितना है ?

उत्तर : परिहार-विशुद्धि संयम का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि परिहारविशुद्धि को प्राप्त होकर जघन्य काल तक रह कर अन्य गुणस्थान को प्राप्त हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त काल होता है। **(ध. पु. ७/१६७)**

उत्कृष्ट से अड़तीस वर्ष कम पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण काल है। कोई आचार्य सोलह वर्षों से तथा कोई बाईस वर्षों से कम पूर्व कोटि प्रमाण कहते हैं। **(ध. पु. ७/१६७)**

१५. प्रश्न : परिहारविशुद्धि संयम के साथ क्या-क्या विशेषताएँ नहीं होती हैं ?

उत्तर : मन:पर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दोनों आहारक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग) इन चारों में से किसी एक के होने पर शेष तीन मार्गणाएँ नहीं होतीं, ऐसा जानना चाहिए। **(पं.सं. प्रा. १/१९४)**

परिहारविशुद्धि संयत के तैजस समुद्घात और आहारक समुद्घात ये दो पद नहीं हैं। **(ध. ४/१२३)** परिहारविशुद्धि संयम को नहीं छोड़ने वाले जीव के उपशमश्रेणी पर चढ़ने के लिए दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होना भी संभव नहीं है अर्थात् परिहारविशुद्धि संयम के साथ उपशम सम्यक्त्व व उपशम श्रेणी होना सम्भव नहीं है। **(ध. ५/३२७)** परिहार विशुद्धि संयत जीव के विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि के साथ इस संयम के होने का विरोध है। **(ध. १४/२४७)**

१६. प्रश्न : परिहारविशुद्धि संयतों के उपशम सम्यक्त्व क्यों नहीं होता ?

उत्तर : परिहारविशुद्धि संयतों के उपशम सम्यक्त्व नहीं होता है क्योंकि तीस वर्ष के बिना परिहारविशुद्धि संयम का होना सम्भव नहीं है। और न उतने काल तक उपशम सम्यक्त्व का अवस्थान रहता है, जिससे कि परिहारविशुद्धि संयम के साथ उपशम सम्यक्त्व की उपलब्धि हो सके। दूसरी बात यह है कि परिहारविशुद्धि संयम को नहीं छोड़ने वाले जीव के उपशम श्रेणी पर चढ़ने के लिए दर्शनमोहनीय कर्म का उपशमन होना भी सम्भव नहीं है, जिससे कि उपशम श्रेणी में उपशम सम्यक्त्व और परिहारविशुद्धि संयम, इन दोनों का भी संयोग हो सके। **(ध. ५/३२७)**

१७. प्रश्न : ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में परिहारविशुद्धि संयम क्यों नहीं होता ?

उत्तर : नहीं होता क्योंकि जिनकी आत्माएँ ध्यानरूपी सागर में निमग्न हैं, जो वचन-यम का (मौन का) पालन करते हैं और जिन्होंने आने-जाने रूप सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धी व्यापार संकुचित कर लिया है, ऐसे जीवों के शुभाशुभ क्रियाओं का परिहार बन ही नहीं सकता है। क्योंकि गमनागमन रूप क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करने वाला नहीं। इसलिए ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में परिहारविशुद्धि संयम नहीं बन सकता है। **(ध. १/३७७)**

१८. प्रश्न : परिहार ऋद्धि की आठवें आदि गुणस्थानों में भी सत्ता पायी जाती है अत एव वहाँ पर इस संयम का सद्भाव मान लेना चाहिए ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार ऋद्धि पायी जाती है, परन्तु वहाँ पर परिहार करने रूप कार्य नहीं पाया जाता, इसलिए आठवें आदि गुणस्थानों में इस संयम का अभाव है। **(ध. १/३७८)**

१९. प्रश्न : सूक्ष्म साम्पराय संयम किसे कहते हैं ?

उत्तर : सूक्ष्म का अर्थ अल्प है और साम्पराय का अर्थ कषाय है। जिस संयम में अत्यन्त सूक्ष्म कषाय रहती है, वह सूक्ष्म साम्पराय कहलाता है। यह द्रव्य और भाव सामायिक रूप होता है। **(आ.सा. ५/१४६)**

जिस चारित्र में कषाय अति सूक्ष्म हो जाती है वह सूक्ष्म साम्पराय चारित्र है। **(सर्वा. ८५४)**

२०. प्रश्न : सूक्ष्म साम्पराय संयम किसके होता है ?

उत्तर : सूक्ष्म-स्थूल प्राणियों के वध के परिहार में जो सम्पूर्ण रूप से अप्रमत्त है, अत्यन्त निर्बाध उत्साहशील है, अखण्डित क्रिया विशेष वाला है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी महापवन से प्रज्वलित प्रशस्त अध्यवसाय रूपी अग्नि की शिखाओं से कर्म रूपी ईंधन को जिसने भस्म कर दिया है, ध्यान रूपी विशेष शस्त्र से उखाड़ दिया है, कषाय रूपी विष के अंकुर को जिसने, नाश के मुख में गिरा दिया है सूक्ष्म मोह बीज को जिसने और प्राप्त किया है सूक्ष्म साम्पराय सार्थक नाम जिसने, ऐसे साधु के सूक्ष्म साम्पराय चारित्र होता है। **(रा.वा. ९)**

जिन महामुनि ने अपना संज्वलन लोभ कषाय अत्यन्त सूक्ष्म कर लिया है, जो शुक्ल ध्यान धारण कर रहे हैं, जो क्षपक श्रेणी व उपशम श्रेणी में विराजमान हैं, जो मोहनीय कर्म का घात करने वाले हैं, ऐसे मुनिराज जो शुद्ध हृदय से सूक्ष्म आत्मा का अनुभव करते हैं उसको लोभ का घात करने वाला सूक्ष्म साम्पराय नाम का चारित्र कहते हैं। **(मू.प्र. २९८०-८१)**

२१. प्रश्न : क्या प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप होने से तथा सम्यग् अयन रूप होने से सूक्ष्म साम्पराय चारित्र का समिति और गुप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है ?

उत्तर : यह चारित्र प्रवृत्ति का निरोधक और सम्यक् प्रवृत्ति का कारण होने पर भी समिति और गुप्ति में अन्तर्भूत नहीं होता, क्योंकि यह चारित्र गुणस्थान विशेष के आश्रय से होता है, अत: यह पृथक् से निर्दिष्ट है। **(रा.वा. १०)**

२२. प्रश्न : यथाख्यात चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव अवस्थित है वैसा ही इसमें प्राप्त होता है, अत: यह यथाख्यात इस प्रकार कहा जाता है।

जो मुनिराज मोहनीय कर्म से रहित हैं और जो शुक्लध्यान रूपी अमृत का पान कर रहे हैं, ऐसे मुनिराज जो समस्त व्रतादिकों का यथार्थ रीति से पालन करते हैं और आगम में कहे अनुसार अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हैं उनके घातिया कर्मों का नाश करने वाला यथाख्यात चारित्र कहते हैं। **(मू.प्र. २९८२-८३)**

आत्मा का जैसा वीतराग स्वरूप है वैसा ही जिस संयम में कहा गया है वह यथाख्यात संयम माना गया है। यह संयम पाप समूह रूप मेघों के समूह को नष्ट करने वाला है। **(आ.सा. ५/१४७)**

इसका नाम अथाख्यात भी है-

सम्पूर्ण रूप से मोह के उपशम या क्षय होने पर आत्म स्वभाव स्थिति रूप परम उपेक्षा परिणत लक्षण अथाख्यात चारित्र होता है। पूर्व के सामायिक आदि चारित्रों के अनुष्ठान करने वाले संयमीजनों के द्वारा कथित और ज्ञात तो है परन्तु मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण रूप से उपशम और क्षय नहीं होने से इसे प्राप्त नहीं किया है अत: यह चारित्र अथाख्यात है। अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य वृत्ति है। अत: अथाख्यात कहलाता है। **(रा.वा. ११)**

२३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'इति' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में 'इति' शब्द कर्म की समाप्ति बताने के लिए है। हेतु एवं प्रकार, व्यवस्था, विपर्यास, ईषद्, दृष्टि प्रयोग, समाप्ति आदि अनेक अर्थवाची 'इति' शब्द है, परन्तु यहाँ पर इति शब्द को विवक्षा से समाप्ति सूचक समझना चाहिए; क्योंकि यथाख्यात चारित्र से सकल कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है। **(रा.वा. १३)**

२४. प्रश्न : सामायिकादि के क्रमिक कथन का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : उत्तरोत्तर गुणों के प्रकर्ष का ख्यापन करने के लिए सामायिक, छेदोपस्थापना आदि क्रम से इनका नाम निर्देश किया है। **(सर्वा. ८५४)**

२५. प्रश्न : सामायिकादि चारित्रों में उत्तरोत्तर प्रकर्षता किस प्रकार है ?

उत्तर : सामायिक और छेदोपस्थापना संयम की जघन्य विशुद्धि अल्प है। इनसे परिहारविशुद्धि संयम की जघन्य विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी अधिक है, परिहारविशुद्धि संयम की उत्कृष्ट लब्धि उसकी जघन्य विशुद्धि लब्धि से अनन्तगुणी है। परिहारविशुद्धि चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि लब्धि की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम की उत्कृष्ट विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी है, इससे सूक्ष्मसाम्पराय संयम की जघन्य विशुद्धि लब्धि अनन्त गुणी है, जघन्य से उत्कृष्ट विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी है और यथाख्यात चारित्र की पूर्ण विशुद्धि सर्व चारित्रों की अपेक्षा अनन्तगुणी है। इस चारित्र में जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है। **(रा.वा. १४)**

बाह्य तप

बाह्य तपों का कथन

अनशनावमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

अनशन- अवमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्या-आसन-कायक्लेशाः बाह्यं तपः।

अर्थ - अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह बाह्य तप है।

अनशन - आहार का त्याग करना अनशन तप है।

अवमौदर्य - अपने आहार में से एक, दो आदि ग्रास कम करना अवमौदर्य तप है।

वृत्तिपरिसंख्यान - गली, घर आदि के विषय में प्रवृत्ति करने को वृत्ति कहते हैं, तथा इनके नियम करने को संख्या कहते हैं। यह वृत्ति परिसंख्यान तप है।

रसपरित्याग - घी, दूध आदि रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप है ?

विविक्तशय्यासन - एकान्त एवं पवित्र स्थान में शयन करना तथा बैठना विविक्तशय्यासन तप है।

कायक्लेश - आगमानुसार उचित क्लेशों से शरीर का दमन करना कायक्लेशतप है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : चारित्र का वर्णन तो कर दिया, अब चारित्र के अनन्तर जो 'तपसा निर्जरा' अर्थात् तप से भी संवर होता है और तप से निर्जरा भी होती है अत: अब उस तप का विधान करना योग्य है, उसी का वर्णन करते हैं- वह तप अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्येक के छह-छह भेद हैं। उनमें बाह्य तप के छह भेदों का वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १९)**

२. प्रश्न : बाह्य तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस तपश्चरण से मनुष्यों के मन में अशुभ संक्लेश उत्पन्न न हो, जिससे तपश्चरण में श्रद्धा उत्पन्न होती रहे, अशुभ ध्यानों का नाश होता रहे, महायोग वा धर्म्य-शुक्ल ध्यान में किसी प्रकार की कमी न हो, श्रेष्ठ गुण बढते जायें और अभ्यन्तर तप भी जिससे बढ़ते जायें उसको बाह्य परम तपश्चरण कहते हैं। **(मू.प्र. १८२७-२८)** बाह्य तप वही है जिससे मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता है, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिससे योग-मूलगुणहीन नहीं होते हैं। **(मू. ३५८)**

३. प्रश्न : बाह्य तप कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : बाह्य तप छह प्रकार के है-

(१) अनशन (२) अवमौदर्य (३) वृत्तिपरिसंख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्त-शय्यासन (६) कायक्लेश। **(त.सू. ९/१९)**

अनशन, अवमौदर्य, रसों का त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शय्या ये बाह्य तप हैं। **(भ.आ. २१०)**

४. प्रश्न : अनशनादि को तप क्यों कहा है ?

उत्तर : ये अनशनादि तप कर्मों को जलाते हैं, भस्म करते हैं इसलिए इन्हें तप कहते हैं। जैसे- अग्नि सञ्चित तृणादि ईन्धन को भस्म कर देती हैं उसी प्रकार ये तप मिथ्यादर्शन, अविरति आदि के द्वारा अर्जित कर्म रूप ईन्धन को भस्म कर देते हैं इसलिए इनको तप कहते हैं।

अथवा - इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति का निरोध करके अनशनादि तप शरीर और इन्द्रियों को तपा देते हैं इसलिए अनशनादि को तप कहते हैं। इन अनशनादि बाह्य तपों के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह सहज हो जाता है। **(रा.वा. २०-२१)**

५. प्रश्न : बाह्य तपों में सबसे श्रेष्ठ तप कौन सा है?

उत्तर : वास्तव में गणधर देव ने शरीर के निग्रह करने अर्थात् कायक्लेश करने को ही उत्कृष्ट और कठिन तप कहा है क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि शरीर का निग्रह होने से चक्षु आदि सभी इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है और इन्द्रियों का निग्रह होने से मन का निरोध हो जाता है अर्थात् संकल्प-विकल्प

दूर होकर चित्त स्थिर हो जाता है, मन का निरोध हो जाना ही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही कर्मों के क्षय हो जाने का साधन है। कर्मों का क्षय हो जाने से अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए शरीर को कृश करना चाहिए। **(म. पु. २०/१७८-८०)**

६. प्रश्न : अनशन तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पुरुष कर्मों की निर्जरा के लिए दिन आदि का परिमाण करके लीला मात्र से आहार का त्याग करता है उसके अनशन नामक तप होता है। **(का.अ. ४४१)**

तीर्थंकर, गणधर देव आदि मुनीन्द्रों ने इन्द्रियों के उपशमन को उपवास कहा है इसलिए जितेन्द्रिय पुरुष आहार करते हुए भी उपवासी हैं। **(का.अ. ४३९)**

लौकिक सुख मंत्र साधनादि दृष्ट फल की अपेक्षा बिना चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास (अनशन) कहलाता है। **(रा.वा. १)**

मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो अन्न, पान, स्वाद्य, खाद्य के भेद से चार प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको अनशन नाम का तप कहते हैं। **(मू.प्र. १७८८)**

चौथे, छठे, आठवें, दसवें और बारहवें एषण का ग्रहण करना तथा एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन अथवा एक वर्ष तक एषण का त्याग करना अनेषण नाम का तप है। **(ध. १३/५५)**

७. प्रश्न : अनशन तप कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अनशन तप दो प्रकार का होता है-

(१) अवधृत काल अनशन (२) अनवधृत काल अनशन। **(रा.वा. २)**

(१) साकाङ्क्ष तप (२) निराकाङ्क्ष तप। **(मू. ३४७)**

(१) सार्वकालिक अनशन (२) असार्वकालिक अनशन।

(१) अद्धानशन (२) सर्वानशन।

अवधृत काल - दिन में एक बार भोजन करना, चतुर्थ भक्त आदि नियतकालिक वा अवधृत कालिक उपवास है, क्योंकि इसमें काल की मर्यादा है।

अनवधृत काल - यावज्जीवन अन्न-पानी का त्याग करना अनवधृतकालिक अनशन है। **(रा.वा.२)**

साकाङ्क्ष तप - समय की मर्यादा के साथ जो किया जाता है, वह साकाङ्क्ष तप है। **(आ.सा. ६/५.६)** ''इतने काल मैं अनशन करूँगा'' इस प्रकार काल की अपेक्षा रखकर जो अनशन किया जाता है उसे साकांक्ष अनशन कहते हैं। **(मू. ३४७)**

बेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन और महीने भर का उपवास कनकावली, एकावली आदि तपश्चरण के विधान अनशन में कहे गये हैं। ये सब साकांक्ष अनशन हैं। **(मू. ३४८)**

निराकाङ्क्ष तप - भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन जो ये मरण हैं ऐसे और भी जो अनशन हैं वे निराकांक्ष जानना चाहिए। **(मू. ३४९)**

भक्तप्रत्याख्यानादि मरण इस प्रकार जितने संन्यासमरण है उनमें जो जीवन पर्यन्त आहार का त्याग कर दिया जाता है, उसको निराकांक्ष उपवास कहते हैं। **(मू.प्र. १७९६-९७)**

नोट - अवधृत काल, साकाङ्क्षतप अथवा अद्धानशन ये लगभग एकार्थक हैं। अनवधृतकाल, निराकाङ्क्ष और सर्वानशन ये एकार्थक हैं।

८. प्रश्न : अनशन तप किसके होता है ?

उत्तर : जो मन और इन्द्रियों को जीतता है, इस भव और पर-भव के विषयसुख की अपेक्षा नहीं करता, अपने आत्मस्वरूप में ही निवास करता है, स्वाध्याय में तत्पर रहता है। उक्त प्रकार का जो पुरुष कर्मों की निर्जरा के लिए एक दिन आदि का परिमाण करके लीला मात्र से आहार का त्याग करता है उसके अनशन नामक तप होता है। **(का.अ. ४४०-४१)**

९. प्रश्न : अनशन तप क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : सत्कार आदि की अपेक्षा न रखते हुए शरीर का दर्प नष्ट करने के लिए और इन्द्रियसंयम तथा प्राणिसंयम के भेद से दोनों संयमों की सिद्धि के लिए अनशन तप करना चाहिए। **(आ.सा. ६/८)** मंत्र साधन आदि लौकिक फल की भावना को त्यागकर प्राणिसंयम, इन्द्रियसंयम, राग द्वेष का विनाश, कर्मों की निर्जरा और शुभ ध्यान आदि की सिद्धि के लिए अनशन तप करना चाहिए। **(चा.सा.)** जिन मनुष्यों में अनुराग का भाव बहुत प्रबल तथा जाग्रत है उन्हें उपवास करना साधक है। **(व. चा. ३१/७४)**

संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिए अनशन तप किया जाता है। **(सर्वा. ८५६)**

यह अनशन तप प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम की सिद्धि के लिए किया जाता है, क्योंकि भोजन के साथ दोनों प्रकार के असंयम का अविनाभाव देखा जाता है। **(ध.१३/५५)**

१०. प्रश्न : अनशन तप करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इस उपवास रूपी अग्नि से मनुष्यों का शरीर अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है और फिर उससे इन्द्रियाँ एवं अनन्त कर्म रूपी ईन्धन सब जल जाता है। इस उपवास के फल से सज्जनों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, स्वर्ग की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है और श्रेष्ठ कल्याण करने वाली मुक्ति स्त्री सामने आकर खड़ी हो जाती है। **(मू.प्र. १७९८-९९)** इस अनशन तप को करने से पवित्र संयम वृद्धिंगत होता है, तथा बहुत दोषों का आकर ऐसे ग्राम में प्रवेश रुक जाता है। **(म.क. २१५)**

११. प्रश्न : अनशन तप के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : स्वयं भोजन न करते हुए भी दूसरे को भोजन कराना, मन-वचन-काय से दूसरों को भोजन की अनुमति देना, स्वयं भूख से पीड़ित होने पर मन से आहार की अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा अथवा कहाँ पारणा होगी आदि चिन्ता करना अनशन तप के अतिचार हैं। **अथवा-** रसीले आहार के बिना मेरी थकान दूर नहीं होती, प्रचुर निद्रा में पड़कर छह काय के जीवों की पीड़ा में मन या वचन या काय से प्रवृत्त होना। मैने यह संक्लेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह सन्तापकारी है इसे नहीं करूँगा। इस प्रकार के संकल्प भी अनशन तप के अतिचार हैं। **(भ.आ.वि. ४८९)**

१२. प्रश्न : अवमौदर्य तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस व्रत में अपने आहार से एक-दो आदि ग्रास कम-कम आहार किया जाता है वह अवमौदर्य तप है। **(आ.सा. ६/९)**

तृप्ति के लिए पर्याप्त भोजन में से चतुर्थांश या दो-चार ग्रास कम खाना अवमोदर है और अवमोदर का भाव या कर्म अवमौदर्य है। **(रा.वा. ३)**

अपने आहार में से एक ग्रास कम करना, दो-तीन ग्रास कम करना, इस प्रकार से जब तक एक ग्रास न हो जाय तब तक कम करते जाना अथवा एक सिक्थ-भात का कण मात्र रह जाय तब तक कम करते जाना यह अवमौदर्य तप है। **(मू. ३५० आ.)**

आधे आहार का नियम करना अवमौदर्य तप है। जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार विषयक अभिग्रह करना अवमौदर्य तप है। **(ध. १३/५६)**

पुरुष स्त्री को अपने आहार में से एक दो आदि ग्रास की हानि के क्रम से जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमौदर्य तप है। जब तक अर्धग्रास ही अवशिष्ट रहे या एक सिक्थ शेष रहे तबतक भी अवमौदर्य तप है। **(भ.आ. २१४)**

यहाँ एक चावल मात्र जो कहा है वह आहार की अल्पता का उपलक्षण है। अन्यथा कोई मात्र एक चावल का भोजन करने के लिए कैसे तत्पर हो सकता है। **(भ.आ. २१४ वि.)**

१३. प्रश्न : थोड़ा आहार लेना तप कैसे है ?

उत्तर : पेट भर खाने का त्याग तप का हेतु होने से अवमौदर्य तप कहा जाता है। अवमौदर्य की निरुक्ति है- 'अवमं' न्यून (कम भरा) उदर है जिसका वह अवमोदर है और अवमोदर का भाव या कर्म अवमौदर्य है। **(भ.आ. २१४ वि.)**

१४. प्रश्न : अवमौदर्य तप कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अवमौदर्य तप तीन प्रकार का होता है-

(१) जघन्य (२) मध्यम (३) उत्कृष्ट।

जघन्य - जो मुनि अपना तप बढ़ाने के लिए एक ग्रास कम आहार लेते हैं उसको जघन्य अवमौदर्य नाम का श्रेष्ठ तप कहते हैं।

मध्यम - एक ग्रास से अधिक और इकत्तीस ग्रास से कम ग्रासों का आहार लेना मध्यम अवमौदर्य तप है।

उत्तम (उत्कृष्ट) - जो तपस्वी अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिए वा आत्मा को शुद्ध करने के लिए केवल एक ही आहार का ग्रास आहार में लेते हैं वह उत्तम अवमौदर्य तप कहलाता है। **(मू.प्र. १८०२-०४)**

१५. प्रश्न : पुरुष और स्त्री का आहार कितना है ?

उत्तर : पुरुषों का स्वाभाविक आहार बत्तीस ग्रास होता है और स्त्री का स्वाभाविक आहार अट्ठाईस ग्रास होता है। (एक हजार चावल का एक ग्रास होता है। बत्तीस ग्रास में मनुष्य का तथा अट्ठाईस ग्रास में स्त्री का पेट भर जाता है।) **(भ.आ. २१३)**

१६. प्रश्न : अवमौदर्य तप किसको करना चाहिए ?

उत्तर : जो पित्त के प्रकोपवश उपवास करने में असमर्थ है, जिन्हें आधे आहार की अपेक्षा उपवास करने में अधिक थकान आती है, जो अपने तप के माहात्म्य से भव्य जीवों को उपशान्त करने में लगे हैं, जो अपने उदर में कृमि की उत्पत्ति का निरोध करना चाहते हैं, और जो व्याधिजन्य वेदना के निमित्तभूत अतिमात्रा में भोजन कर लेने से स्वाध्याय के नष्ट होने का भय करते हैं, उन्हें यह अवमौदर्य तप करना चाहिए। **(ध. १३/५६-५७)**

१७. प्रश्न : अवमौदर्य तप क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : संयम को जागृत रखने के लिए, दोषों का प्रशम करने के लिए, सन्तोष और स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है। **(सर्वा. ८५६)** संयम की जागरूकता, दोषप्रशम, संतोष, स्वाध्याय और सुख की सिद्धि आदि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है। **(रा.वा.३)**

अवमौदर्य तप धर्म, आवश्यक क्रिया और योगों में, ज्ञानादिक में उपकार करता है क्योंकि अवमौदर्य तप की वृत्ति इन्द्रियों से द्वेष करने वाली नहीं है। अर्थात् इस तप से इन्द्रियाँ प्रद्वेष को प्राप्त नहीं होती हैं किन्तु वश में रहती हैं। **(मू.३५१)**

१८. प्रश्न : अवमौदर्य तप करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अवमौदर्य तप को करने से साधु को निद्राविजय गुण प्राप्त होता है, समाधान (सन्तुष्टता) होता है, स्वाध्याय भली प्रकार से हो जाता है, संयम का अच्छी तरह पालन होता है और इन्द्रियविजय गुण भी प्राप्त होता है। **(म.क. २१८)** अवमौदर्य तप के करने से इन्द्रियाँ शांत रहती हैं, त्रिकाल योग शान्तिपूर्वक होता है, आवश्यक क्रियाओं में हानि नहीं होती, स्वाध्याय-ध्यान वगैरह में आलस्य नहीं

सताता, वात, पित्त और कफ शान्त रहते हैं, तथा निद्रा पर विजय प्राप्त होती है। इस तपश्चरण से मनुष्यों के निद्रा का विजय होता है, आसन स्थिर होता है, किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती, शास्त्रज्ञान की वृद्धि होती है, ध्यान की वृद्धि होती है और भोजन न करने से जो परिश्रम होता है वह भी नहीं होता है। **(मू.प्र. १८०५-६)** यह अवमौदर्य तप उपवास से उत्पन्न श्रम और अधिक मात्रा में किये आहार सम्बन्धी अजीर्ण आदि दोषों को हरने वाला है तथा ध्यान, स्वाध्याय आदि करना और निद्रा एवं पीड़ा आदि को जीतना इसका प्रयोजन है। **(आ.सा. ६/१०)**

१९. प्रश्न : अधिक भोजन करने से क्या हानि है ?

उत्तर : अधिक भोजन करने वाला धर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता है, परिपूर्ण आवश्यक क्रियाओं का पालन नहीं कर पाता है। आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल इन तीन काल सम्बन्धी योगों को करने में भी समर्थ नहीं हो पाता है। उस मुनि की इन्द्रियाँ भी स्वेच्छाचारी हो जाती हैं। किन्तु मितभोजी साधु में धर्म, आवश्यक आदि क्रियाएँ स्वेच्छा से रहती हैं। **(मू. ३५१ आ.)**

२०. प्रश्न : अवमौदर्य तप के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : मन से बहुत भोजन में आदर, दूसरों को बहुत भोजन कराने की चिन्ता, जब तक आपकी तृप्ति हो तब तक भोजन करो, ऐसा कहना, मैने बहुत भोजन किया, ऐसा कहने पर 'आपने अच्छा किया' ऐसा कहना, हाथ के संकेत से कंठ देश को स्पर्श कर के बताना कि मैंने आकण्ठ भोजन किया। ये अवमौदर्य तप के अतिचार हैं। **(भ.आ.वि.४८९)**

२१. प्रश्न : वृत्ति परिसंख्यान तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : गली, घर, आहार,पात्र और दाता के विषय में प्रवृत्ति करने को वृत्ति कहते हैं, तथा इनके नियम करने को संख्या कहते हैं। यह वृत्ति परिसंख्यान तप अपनी इच्छा से किया जाता है। **(आ.सा. ६/११)**

कठिनता से आहार प्राप्त होने के लिए प्रतिज्ञा कर लेना अथवा इस प्रकार पड़गाहन होगा तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं, इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर लेना वृत्ति परिसंख्यान तप है। **(मू.प्र. १८०८)**

एक घर, सात घर, एक गली, अर्द्ध ग्राम आदि के विषय का संकल्प करना वृत्ति परिसंख्यान तप है। **(रा.वा. ४)**

ग्रहों का प्रमाण, दाता का, बर्तनों का नियम ऐसे अनेक प्रकार का जो नियम ग्रहण करना है तथा नाना प्रकार के भोजन का नियम ग्रहण करना वृत्ति परिसंख्यान व्रत है। **(मू. ३५५)**

२२. प्रश्न : वृत्ति परिसंख्यान तप किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : मैं चौराहे पर आहार मिलेगा तो लूँगा इस मार्ग में वा इस गली में आहार मिलेगा तो

आहार लूंगा, एक पहले ही घर में आहार मिलेगा तो लूँगा अथवा दाता ऐसा होगा, उसके पात्र वा भोजन पात्र ऐसे होंगे तो आहार लूँगा, नहीं तो नहीं लूँगा इस प्रकार वृत्तिपरिसंख्यान करना चाहिए। **(मू.प्र.१८०७)**

गृह, दाता, बर्तन, भोजन आदि की नियम विधि-

गृह प्रमाण - आज मैं इन गृहों में आहार हेतु जाऊँगा, और अधिक गृहों में नहीं जाऊँगा, इस प्रकार गृहों का प्रमाण करना।

दाता का प्रमाण - यदि वृद्ध मनुष्य मुझे पड़गाहेगा तो मैं ठहरूँगा अन्यथा नहीं अथवा बालक, युवक, महिला या जूते अथवा खड़ाऊँ आदि से रहित कोई पुरुष मार्ग में खड़ा हुआ मुझे पड़गाहेगा तो मैं ठहरूँगा अथवा यह अन्य अमुक विधि से मुझे पड़गाहेगा तो मैं ठहरूँगा, इत्यादि नियम लेकर निकलना दाता का प्रमाण है।

भाजन का प्रमाण- मुझे आज यदि कोई कांसे के बर्तन से, सोने के बर्तन से या मिट्टी के बर्तन से आहार देगा तो मैं ले लूंगा या इसी प्रकार से अन्य और भी नियम लेना भाजन का प्रमाण है।

भोजन का प्रमाण - आज मैं मोठ ही खाऊँगा अन्य कुछ नहीं, अथवा आज मंडे, सत्तू या भात ही ग्रहण करूँगा। इस प्रकार भोजन का प्रमाण करना चाहिए। **(मू. ३५५ आ.)**

२३. प्रश्न : वृत्ति परिसंख्यान तप किसको करना चाहिए ?

उत्तर : जो अपने तप विशेष के द्वारा भव्यजनों को शान्त करके अपने रस, रुधिर और मांस के शोषण द्वारा इन्द्रिय संयम की इच्छा करते हैं, उन साधुओं को यह तप करना चाहिए अथवा - जो भाजन और भोजनादि विषयक रागादि को दूर करना चाहते हैं, उन्हें करना चाहिए। **(ध. १३/५७)**

२४. प्रश्न : किन मुनिराज के वृत्ति परिसंख्यान तप होता है ?

उत्तर : जो मुनि आहार के लिए जाने से पहले अपने मन में ऐसा संकल्प कर लेता है कि आज एक घर या दो घर तक जाऊँगा अथवा नीरस आहार मिलेगा तो आहार ग्रहण करूँगा और वैसा आहार मिलने पर पशु की तरह उसे चर लेता है उस मुनि के वृत्तिपरिसंख्यान तप होता है। **(का.अ. ४४५)**

२५. प्रश्न : वृत्ति परिसंख्यान तप क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : आशा-तृष्णा की निवृत्ति के लिए वृत्तिपरिसंख्यान तप करना चाहिए। **(रा.वा. ४)** शरीर की यात्रा के निमित्त आहार मात्र की इच्छा करने वाले मुनि के यह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप तृष्णा को दूर करने तथा अदीनता की भावना प्राप्त करने के लिए होता है। **(आ.सा. ६/१२)**

२६. प्रश्न : वृत्ति परिसंख्यान तप करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : वृत्ति परिसंख्यान तप करने से योगियों में धीर-वीरता उत्पन्न होती है, आशा और अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं तथा लोलुपता नष्ट होती है। **(मू.प्र. १८०९)**

अन्य जनों को दुष्कर ऐसे इस वृत्ति परिसंख्यान तप को करने वाले साधु द्वारा विचित्र संकल्प रूप पत्तों वाली तृष्णारूपी लता काट दी जाती है। **(म.क. २२७)**

२७. प्रश्न : वृत्ति परिसंख्यान तप के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : सात घर में ही प्रवेश करूँगा या एक ही मोहल्ले में जाऊँगा वा दरिद्र के घर ही जाऊँगा, इस प्रकार का दाता पुरुष या दात्री स्त्री के द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करूँगा। ऐसा संकल्प करके दूसरों को भोजन कराना है इस भाव से सात घर से अधिक घरों में प्रवेश करना और एक मुहाल (मोहल्ले) से दूसरे में जाना वृत्ति परिसंख्यान तप के अतिचार हैं। **(भ.आ. ४८९ टी.)**

२८. प्रश्न : रस परित्याग तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक तथा घृतपूर्ण, अपूप, लड्डू आदि का जो त्याग करना है; इनमें एक-एक का या सभी का छोड़ना तथा तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे इन रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है। इस तप में इन प्रासुक वस्तुओं का भी तपश्चरण की बुद्धि से त्याग किया जाता है। **(मू. ३५२ आ.)**

तेल, दूध, इक्षुरस (गुड़-शक्कर), दही और घी इनमें एक, दो, तीन, चार या पाँचों रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है। **(त.सा. ७/११)**

घृतादि गरिष्ठ रस का त्याग करना चौथा तप है। **(सर्वा. ८५६)**

इन्द्रियों को जीतने वाले मुनिराज जो दही, दूध, गुड़, तेल, घी, लवण, कषायला, खट्टा, मीठा, कड़वा, तीखा आदि रसों का त्याग कर देते हैं उसको रसपरित्याग नाम का तप भगवान जिनेन्द्रदेव कहते हैं। **(मू. प्र. १८११-१२)**

२९. प्रश्न : रसपरित्याग में कौन-कौन से पदार्थ अनर्थकारी हैं ?

उत्तर : रसत्याग में चार महा विकृतियाँ हैं-

(१) मक्खन - कांक्षा, गृद्धता को करता है।

(२) मद्य - अगम्यगमन का निमित्त है। पुनः पुनः अगम्या स्त्री के साथ भोगविलास करता है।

(३) मांस - इन्द्रिय दर्पकारी है।

(४) मधु - असंयमकारी है। मधु के विषय में अनुराग की आतुरता रूप इन्द्रिय असंयम होता है और मधु में उत्पन्न जन्तुओं का घात होने से प्राणि असंयम होता है। **(भ.आ. २१५ वि.)**

अथवा - ये चारों महा विकृतियाँ - निकृष्ट पदार्थकांक्षा आदि सभी दोषों को करती हैं। इसलिए जिनदेव की आज्ञा का पालन करने के इच्छुक संसार से भयभीत भव्य पुरुष को पहले से ही यावज्जीवन ये पदार्थ सर्वथा त्याज्य हैं। **(म.क. २१९-२०)**

३०. प्रश्न : रस परित्याग क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : इन्द्रियों को जीतने वाले योगी का यह रसपरित्याग नामका तप शरीर की कान्ति का गर्व एवं इन्द्रिय रूपी हाथियों के क्षोभ को दूर करने का कारण है। **(आ.सा. ६/१४)**

यह तप इन्द्रिय और मद का नाश करने वाला है। **(मू.प्र. १८१२)**

जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि, संयम में बाधा की निवृत्ति आदि के लिए यह रस-परित्याग तप करना चाहिए। **(रा.वा. ५)**

रसपरित्याग तप प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम की प्राप्ति के लिए किया जाता है क्योंकि जिह्वा इन्द्रिय का निरोध हो जाने पर सब इन्द्रियों का निरोध देखा जाता है और सब इन्द्रियों का निरोध हो जाने पर जो परिग्रह का त्याग कर राग-द्वेष का निरोध कर चुके हैं, जो त्रिगुप्ति गुप्त है, पाँच समितियों से मण्डित है और वसूला व चन्दन में समानबुद्धि रखता है, उसके प्राणों के असंयम का निरोध देखा जाता है। **(ध. १३/५७-५८)** इन्द्रियों के दर्प का निग्रह करने के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए और सुख पूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिए घृतादि रसों का त्याग करना चाहिए। **(सर्वा. ८५६)**

३१. प्रश्न : रसपरित्याग तप किसके होता है ?

उत्तर : संसार के दु:खों से संतप्त जो मुनि इन्द्रियों के विषयों को विष के समान मानकर नीरस भोजन करता है, उसके निर्मल रसपरित्याग तप होता है। **(का. अ. ४४६)**

३२. प्रश्न : रसपरित्याग तप करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इस रसपरित्याग नाम के तप से प्रबल इन्द्रियों का विजय होता है, रस ऋद्धि आदि महा शक्तियाँ प्रगट होती हैं और सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है। **(मू.प्र. १८१७)**

३३. प्रश्न : रसपरित्याग व्रत के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : रसों में अति आसक्ति, दूसरे को रसयुक्त आहार का भोजन कराना, अथवा रसयुक्त आहार के भोजन की अनुमति, ये रसपरित्याग तप के अतिचार हैं। **(भ.आ. ४८९)**

३४. प्रश्न : रस शब्द गुणवाची है अत: रस का त्याग न कहकर रस वाले का त्याग करना चाहिए ?

उत्तर : रस शब्द गुणवाची है अत: गुण त्याग न होकर गुणवाची वस्तु का ही त्याग होता है, परन्तु जैसे- 'शुक्लवान् पर:' न कहकर 'शुक्ल: पर:' कहा जाता है, 'मतु' 'वान्' प्रत्यय का लोप किया है, उसी प्रकार 'मतुप्' प्रत्यय का लोप समझना चाहिए। **अथवा-**

अव्यतिरेक होने से तद्वान् का बोध हो जाता है। गुण को छोड़कर गुणी पृथक् नहीं रहता है अत: गुणी के कथन के सामर्थ्य से गुणवान् का बोध हो ही जाता है। क्योंकि द्रव्य के त्याग से ही गुण रूप रस का परित्याग होता है। **(रा.वा. ७)**

३५. प्रश्न : रसत्याग कहने से उपभोग के योग्य सर्व वस्तुओं का त्याग हो जाता है क्योंकि सर्व पुद्गल रूप रस वाले हैं ?

उत्तर : यद्यपि सब पुद्गल रस वाले हैं पर यहाँ प्रकर्ष रस वाले द्रव्य की विवक्षा है, जैसे कि 'अधिक रूप वालों को कन्या देनी चाहिए' यहाँ सुन्दर या विशिष्ट रूपवान् की विवक्षा है, उसी प्रकार सब पुद्गल रस वाले होने पर रसपरित्याग में प्रकृष्ट रस वाले की विवक्षा है अत: प्रकृष्ट रसत्याग का बोध होता है। **(रा.वा. ८)**

३६. प्रश्न : अनशन, अवमौदर्य और रसपरित्याग का वृत्तिपरिसंख्यान में ही अन्तर्भाव हो जाता है अत: इनका पृथक्-पृथक् कथन नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कायचेष्टा के विषयों की गणना के लिए वृत्ति-परिसंख्यान का वर्णन है। भिक्षा करने में प्रवर्त्तमान साधु इतने क्षेत्र, विषय में काय-चेष्टा करता है। कभी यथाशक्ति पंचेन्द्रियों के विषयों का दमन करने के लिए वृत्ति परिसंख्यान किया जाता है वा करता है। इस प्रकार वृत्ति परिसंख्यान तप में कायचेष्टा आदि का नियमन होता है, परन्तु अनशन में भोजन मात्र की निवृत्ति है, अवमौदर्य और रसपरित्याग में भोजन की आंशिक निवृत्ति है, आहार का एकदेश त्याग किया जाता है, अत: तीनों में महान् भेद है। **(रा.वा.११)**

३७. प्रश्न : विविक्त शय्यासन तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुनिराज स्त्री, देवी, पशु, नपुंसक आदि तथा गृहस्थ जहाँ निवास न करते हों ऐसे सूने प्रदेशों में वा श्मशान में वा निर्जन वन में अथवा गुफा आदि में शयन करते हैं वा बैठते हैं उसे विविक्त शय्यासन तप कहते हैं। **(मू.प्र. १८१९-२०)**

अध्ययन और ध्यान में बाधा करने वाले कारणों के समूह से रहित विविक्त-एकान्त एवं पवित्र स्थान में जो शयन करना तथा बैठना है वह विविक्त शय्यासन तप है। **(आ.सा. ६/१५)** निर्जन्तु, शून्यागार, गिरिगुफा आदि एकान्त स्थानों में शय्या-आसन विविक्त शय्यासन है। **(रा.वा. १२)**

३८. प्रश्न : विविक्त शय्यासन तप किसके होता है ?

उत्तर : जो मुनि राग और द्वेष उत्पन्न करने वाले आसन-शय्या आदि का परित्याग करता है, अपने आत्मस्वरूप में रमता है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहता है उसके विविक्त शय्यासन नाम का पाँचवाँ तप होता है। अपनी पूजा महिमा को न चाहने वाला, संसार-शरीर और भोगों से उदासीन, प्रायश्चित्त आदि अभ्यन्तर तप में कुशल, शान्त-परिणामी, क्षमाशील, महा पराक्रमी जो मुनि श्मशान भूमि में, गहन वन में, निर्जन महा भयानक स्थान में अथवा किसी अन्य एकान्त स्थान में निवास करता है; उसके विविक्तशय्यासन तप होता है। **(का.अ. ४४७-४९)**

३९. प्रश्न : विविक्त वसतिका कौन सी होती है ?

उत्तर : शून्य घर, पहाड़ी की गुफा, वृक्ष का मूल, आने वालों के लिए बनाया घर, देवकुल, शिक्षाघर, किसी के द्वारा न बनाया गया स्थान, आराम घर-क्रीड़ा के लिए आये हुओं के आवास के लिए जो बनाया गया है ये सब विविक्त वसतियाँ हैं। **(भ.आ. २३३)** जिस वसतिका में रूप, रस, स्पर्श आदि से संक्लेश नहीं होता और ध्यान अध्ययन में हानि नहीं होती है वह वसतिका विविक्त कहलाती है। **(म.क. २३६)**

४०. प्रश्न : ऐसी वसतिका में रहने से क्या लाभ है ?

उत्तर : प्राग्भार अकृत्रिम बाग, देवतागृह आदि में निवास करने वाले साधु के अखण्ड समाधान (शान्ति) होता है, ऐसी वसतिकाओं में रहने से शुद्ध प्रवृत्ति द्वारा ध्यान में एकाग्रता आती है तथा पाँच समितियाँ पलती हैं, तीन गुप्तियाँ सिद्ध होती हैं, इस प्रकार वह साधु अपने हित में उद्यमशील हो जाता है।

विविक्त वसतिका में कलह- 'यह मेरी वसति है, यह तेरी वसति है इस तरह कलह नहीं होता, शब्द-बहुलता, संक्लेश, चित्त का व्यामोह, अयोग्य असंयमियों के साथ सम्बन्ध, यह मेरी है, ऐसा भाव तथा ध्यान, अध्ययन में व्याघात नहीं होता है। विविक्त वसति में निवास करने से बिना क्लेश के सुख से होने वाले तप अथवा ध्यान के द्वारा बाह्य तप में एकात्मकता को प्राप्त यति पाँच समितियों से युक्त हुआ अशुभ मन-वचन-काय का निरोध करके आत्मा के कार्य में तत्पर होता है। **(भ.आ. २३४-३५)**

४१. प्रश्न : मुनिराज को कैसी वसतिका छोड़ देनी चाहिए ?

उत्तर : अप्रमत्त मुनियों को अपने सोने-बैठने एवं ठहरने में निम्नलिखित स्थान छोड़ देने चाहिए- तिर्यञ्च-गाय-भैंस आदि, मनुष्य, स्त्री, स्वेच्छाचारिणी, वेश्या आदि, भवनवासिनी, व्यन्तर आदि विकारी वेषभूषा वाली देवियाँ अथवा गृहस्थजन इन लोगों से सहित गृहों को, वसतिकाओं को छोड़ देना चाहिए। **(मू. ३५७ आ.)**

४२. प्रश्न : मुनियों को कैसी वसतिका में रहना चाहिए ?

उत्तर : जिस वसतिका में मन को प्रिय अथवा अप्रिय लगने वाले शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श के निमित्त से अशुभ परिणाम नहीं होते तथा जहाँ स्वाध्याय और ध्यान में बाधा नहीं आती वह वसतिका एकान्त कही जाती है, जिसके द्वार बन्द हों अथवा खुले हों, जिसकी भूमि सम हो अथवा विषम हो, जो बाह्य भाग में हो अथवा अभ्यन्तर भाग में हो, जहाँ स्त्री, नपुंसक और पशु न हो, जो ठंडी हो अथवा गर्म हो, जो उद्गम, उत्पादन एवं एषणा दोष से रहित, दु:प्रमार्जन आदि संस्कार से रहित, जीवों की उत्पत्ति से रहित, शय्या रहित वसतिका में अन्दर या बाहर में विविक्त शयनासन तप के धारी मुनि निवास करते हैं। **(भ.आ. २३०-३२)**

नोट - उद्गमादि दोष देखें (भगवती आराधना)

४३. प्रश्न : विविक्त शय्यासन तप क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : जन्तु बाधा का परिहार, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की सिद्धि के लिए विविक्त शय्यासन तप करना चाहिए। **(रा.वा. १२)**

एकान्त, जन्तुओं की पीड़ा से रहित शून्य घर आदि में निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की प्रसिद्धि के लिए संयत को विविक्त शय्यासन लगाना चाहिए। **(सर्वा. ८५६)**

मुक्ति पाने की इच्छा से, शास्त्र-स्वाध्याय, धर्मध्यान आदि पारमार्थिक क्रियाओं की सिद्धि के लिए विविक्त शय्यासन तप किया जाता है। **(सु.र.सं.८८९)**

निर्बाध ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए, स्वाध्याय तथा ध्यान की सिद्धि के लिए और असभ्य लोगों को देखने से अथवा उनका सहवास होने से तीनों कालों में उत्पन्न हुए राग-द्वेष और मोह को दूर करने के लिए विविक्त शय्यासन तप किया जाता है। **(चा.सा. १९३)**

जिन्हें बात-बात में कलह तथा द्वेष करने का स्वभाव पड़ गया है, उन्हें एकान्त स्थान पर निवास करना अनिवार्य है। **(व. चा. ३१/७४)**

४४. प्रश्न : विविक्त शय्यासन तप करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इस विविक्त शय्यासन तप से ध्यान और अध्ययन निर्विघ्न रीति से होते हैं तथा राग-द्वेष आदि कषायों का सर्वथा नाश हो जाता है। इसके सिवाय इस तपश्चरण से समता आदि अनेक महागुण प्रगट हो जाते हैं। **(मू.प्र. १८२१-२२)**

इस तप में अपने को तत्पर करता हुआ दुर्धरतप से न डरकर रत्नत्रय को दूषित करने वाले अशुभ परिणामों को घातता है और अत्यन्त मुक्ति के मार्ग में चेष्टा करता है। **(भ.आ. २३७)**

नोट - विविक्त शय्यासन तप के अतिचार पढ़ने में नहीं आये हैं।

४५. प्रश्न : कायक्लेश तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : शास्त्रानुसार नाना प्रकार की शरीर बाधाओं को सहना कायक्लेश तप है। **(सु.र.सं. ८८५)**

मुनिराज मन की शुद्धता के साथ कायोत्सर्ग धारण कर एक करवट से सोकर, वज्रासनादि कठिन आसन लगाकर वा वर्षा, ग्रीष्म आदि तीनों ऋतुओं में होने वाले उत्कृष्ट आतापनादि कठिन योग धारण कर जो कायक्लेश सहन करते हैं उसको सर्वोत्कृष्ट कायक्लेश नाम का तप कहते हैं। **(मू.प्र. १८२३-२४)**

अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, मौन रखना, आतापन, वृक्षमूल, सर्दी में नदी तट पर ध्यान करना आदि क्रियाओं से शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है। **(रा.वा. १३)**

खड़े होना, कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधि नियम ग्रहण करना इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना, यह कायक्लेश नाम का तप है। **(मू. ३५६)**

४६. प्रश्न : कायक्लेश तप किसके होता है ?

उत्तर : दु:सह उपसर्ग को जीतने वाला जो मुनि आतापन, शीत-वात आदि से पीड़ित होने पर भी खेद को प्राप्त नहीं होता, उस मुनि के कायक्लेश नामका तप होता है। **(का.अ. ४५०)**

४७. प्रश्न : कायक्लेश तप किस-किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : आसन - वीरासन, स्वतिकासन, वज्रासन, पद्मासन तथा हस्तिशुण्डासन आदि।

शयन - शवशय्या, गोशय्या, दण्डशय्या तथा चापशय्या। इनके सिवाय शरीर से ममत्व छोड़कर श्मशान आदि में कायोत्सर्ग से खड़े रहना, ये कायक्लेश तप के प्रकार हैं। **(आ.सा. ६/१९)**

वृक्ष के मूल में ध्यान लगाना, निरभ्र आकाश के नीचे आतापन योग धारण करना, वीरासन आदि अनेक प्रकार के आसन लगाना, अपने शरीर को संकुचित करके सोना, ऊपर को मुख करके सीधा सोना, मगर के मुख की तरह, हाथी की सूंड की तरह, मुर्दे की तरह, दण्ड की तरह निश्चल शयन करना, एक करवट से सीधा सोना (स्तम्भ आदि का आश्रय लेकर खड़े रहना, जहाँ रहे वहाँ निश्चल खड़े रहना, दोनों पैरों को समान करके कायोत्सर्ग पूर्वक खड़े रहना, एक पैर से खड़े रहना, दोनों पैरों या बाहुओं को फैलाकर खड़े रहना, रात्रि में शयन न करके ध्यान लगाना, स्नान नहीं करना) आदि कायक्लेश हैं। **(चा.सा. १९४)**

दातुन नहीं करना, खुजली, स्नान तथा थूकने का त्याग, रात में जागते रहना और केशलोंच ये सब कायक्लेश कहे गये हैं। **(म.क. २३४)**

अनुअर्क गमन, तिर्यक् अर्कगमन, उपरि अर्क गमन, किसी ग्राम में जाकर खड़े-खड़े वापस लौट आना, ससंक्रम गमन, असंक्रम गमन, मकरासन, समस्फिंग, असमस्फिंग आदि आसन लगाना कायक्लेश तप है। **(म.क. २२८-३१)**

नोट : इन आसनों के लक्षण मरणकण्डिका में देखें।

खड़े होकर सोना, इसे ऊर्द्धशायी कहते हैं, बाहर खुले आकाश में सोना, तृण, काठ, शिला या भूमि पर सोना और केशलोंच करना ये सब कायक्लेश हैं। **(भ.आ. २२७-२८)**

४८. प्रश्न : कायक्लेश तप किसलिए करना चाहिए ?

उत्तर : यह शरीर निर्दयता पूर्वक दमन करने के योग्य है क्योंकि इसने पहले बहुत क्लेश पहुँचाये हैं, यह एक प्राचीन शत्रु के समान है। यह विचार कर साधु कायक्लेश तप में प्रवृत्त रहते हैं। **(आ.सा. ६/१८)**

वर्षा में, शीत में, घाम में, पथरीले स्थान में, ऊँचे-नीचे प्रदेश में भी शुभ ध्यान करने के लिए तथा जिनशासन की प्रभावना आदि के लिए इस कायक्लेश तप को किया जाता है।

कायक्लेश तप शीत, वात और आतप के द्वारा, बहुत उपवासों के द्वारा, तृषा-क्षुधा आदि बाधाओं द्वारा और विसंस्थुल आसनों द्वारा ध्यान का अभ्यास करने के लिए किया जाता है क्योंकि जिसने शीत बाधा आदि और उपवास आदि की बाधा का अभ्यास नहीं किया है और जो मारणान्तिक असाता से खिन्न हुआ है, उसके ध्यान नहीं बन सकता है। **(ध. १३/५८)**

देह को कष्ट देने की इच्छा, विषयसुख की अनासक्ति और प्रवचन प्रभावन के लिए कायक्लेश तप किया जाता है। **(रा.वा. १४)**

मुनिराज शरीर के सुख की हानि के लिए एवं तपश्चरण को बढ़ाने के लिए कायक्लेश तप करते हैं। **(मू.प्र. १८२३)**

वर्षा, शीत और ग्रीष्म ऋतु में विषम स्थल में आसन लगाकर बैठना, बराबर बने रहने के लिए, उपस्थित अनेक दु:खों को सहन करने के लिए, विषय सुख की लालसा को दूर करने के लिए एवं प्रवचन की प्रभावना आदि के लिए कायक्लेश तप किया जाता है। यदि कायक्लेश तपश्चरण न किया जाय तो ध्यान के प्रारम्भ में सुखपूर्वक ध्यान हो सकता है परन्तु किसी उपद्रव के उपस्थित होने पर शुभ ध्यान नहीं हो सकता, इसलिए कायक्लेश तप करना ही चाहिए। **(चा.सा. १९३)**

४९. प्रश्न : परीषह और कायक्लेश में क्या अन्तर है ?

उत्तर : अपने आप प्राप्त हुआ परीषह और स्वयं किया गया कायक्लेश है, यही इन दोनों में अन्तर है। **(सर्वा. ८५६)**

कायक्लेश तप परीषह जातीय नहीं है, क्योंकि परीषह जब चाहे तब आते हैं और कायक्लेश बुद्धि पूर्वक किया जाता है वा कायक्लेश में स्वकृत अपेक्षा है। **(रा.वा. १५)**

५०. प्रश्न : कायक्लेश तप करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : कायक्लेश तप करने से विद्वानों को बल ऋद्धि आदि अनेक महा ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाला सुख प्राप्त होता है और कामेन्द्रिय का विजय होता है। **(मू.प्र. १८२५-२६)**

कायक्लेश तप करने से अकस्मात् शारीरिक कष्ट आने पर सहनशीलता बनी रहती है, विषयसुखों में आसक्ति नहीं होती है तथा धर्म की प्रभावना होती है। यदि कायक्लेश तप का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो ध्यानादि के समय में सुखशील व्यक्ति को दु:ख आने पर चित्त का समाधान नहीं हो सकेगा। **(रा.वा. १४)**

५१. प्रश्न : कायक्लेश तप के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : गर्मी से पीड़ित होने पर शीतल द्रव्य की प्राप्ति की इच्छा होना, मेरा संताप कैसे दूर हो यह चिन्ता होना, पूर्व में भोगे हुए शीतल द्रव्यों और शीतल प्रदेशों को याद करना, कठोर धूप से द्वेष

करना, शीतल प्रदेश से अपने शरीर को पीछी से शोधे बिना धूप में या गर्म स्थान में प्रवेश करना, अथवा घाम से सन्तप्त शरीर को पीछी से शोधे बिना छाया में प्रवेश करना आदि। वृक्ष के मूल में जाकर हाथ पैर अथवा शरीर से जलकायिक जीवों को पीड़ा देना, शरीर में लगे जल के कणों को हाथ आदि से पोंछना, हाथ या पैर से शिलातल आदि पर पड़े जल को दूर करना, कोमल गीली भूमि पर सोना, जल के बहने के निचले प्रदेश में ठहरना, निश्चित स्थान पर रहते हुए कब वर्षा होगी, ऐसी चिन्ता करना अथवा वर्षा होने पर ''कब रुकेगी'' ऐसी चिन्ता करना, वर्षा से बचने के लिए छाता आदि धारण करना कायक्लेश तप के अतिचार है। **(भ.आ. ४८९ वि.)**

५२. प्रश्न : बाह्य तप करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : बाह्य तप से लाभ -

(१) बाह्य तप से अनर्थ सुखशीलता नष्ट हो जाती है।

(२) शरीर कृश होता है और स्वयं आत्मा संसार से भीरु होता है।

(३) जीवन की तृष्णा समाप्त हो जाती है क्योंकि जीवन की तृष्णा वाला भोजन का त्याग नहीं कर सकता है।

(४) बिना संक्लेश के दु:ख सहने से कर्मों की निर्जरा होती है।

(५) शरीर, रस और सुख में अनासक्त होता है, इनकी अनासक्ति से समाधि में विघ्न नहीं आता है।

(६) मरण काल में करने योग्य सर्व आहारत्याग का अभ्यास होता है।

(७) आहारत्याग के अभ्यास से आहार के विषय में निराशा सम्पन्न होती है।

(८) आहार में लम्पटता नहीं रहती है।

(९) इन तपों से संचित वीर्य का नाश एवं नवीन वीर्य का संचय नहीं होता जिससे ब्रह्मचर्य का पालन होता है।

(१०) बाह्य तप से आत्मा, अपना कुल, गण, अपनी शिष्य परम्परा शोभित होती है।

(११) निद्राजय, स्वाध्यायशीलता एवं ध्यान में निश्चलता आती है। **(भ.आ. २३९-४४ टी.)**

(१२) कषायों का मर्दन, इन्द्रिय विषयों में अनादर एवं सब प्रकार की इच्छाओं का दमन होता है।

(१३) निद्रा, लालसा, गर्व, स्नेह, लोभ, मोह ये सब पराजित हो जाते हैं।

(१४) लाभ-अलाभ में समभाव प्राप्त होता है तथा इनके उग्र तप को देखकर मिथ्यादृष्टि भी सौम्य बन जाते हैं।

(१५) मुनिराज के तपश्चरण को देखकर अन्य मुनिगण को संसार से भय उत्पन्न होता है कि यह

महात्मा संसार के कष्ट से भयभीत होकर मुक्ति के लिए कितना कठोर तप करता है! हमें भी यह सांसारिक कष्ट न भोगना पड़े अत: हमें भी तप अवश्य करना चाहिए।

(१६) मुक्तिमार्ग का प्रकाशन, जिन भगवान की आज्ञा का पालन होता है एवं उपशम भाव की वृद्धि होती है।

(१७) संतोष एवं संयम आता है तथा शरीर में लघुता आती है। **(म.क. २४८-५३)** और भी अनेक लाभ बाह्य तप से होते हैं, उन्हें भ.आ., मरण-कण्डिकादि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

५३. प्रश्न : बाह्य तपों से निद्रा पर विजय कैसे होती है ?

उत्तर : जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसीले आहार के सेवन में तत्पर रहता है, बहुत भोजन करता है, उसे वायु के प्रकोप से रहित, सुखकारक स्पर्श वाले उपद्रवहीन देश में सोने पर (विविक्त शय्यासन व कायक्लेश नहीं करने से) गहरी नींद आती है, जिसके अधीन होकर वह चेतनाहीन जैसा हो जाता है और अशुभ परिणामों के प्रवाह में गिर जाता है। वह रत्नत्रय में नहीं लगता है। बाह्य तपों से निद्रा पर विजय हो जाती है। **(भ.आ. २४३ टी.)**

५४. प्रश्न : बाह्य तपों से स्वाध्याय की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : बाह्य तप करने से वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय में विघ्न नहीं होता। आहार के लिए भ्रमण करने वाला साधु कैसे स्वाध्याय कर सकता है! बहुत भोजन करने वाला तो ऊपर को मुँह करके सोता है, बैठ भी नहीं सकता। रसीला आहार करने वाला आहार की उष्मा से इधर-उधर करवटें बदलता है। जो बहुजन संकुल वसति में रहता है वह दूसरों की बातें सुनकर उनके साथ बातचीत करता है, स्वाध्याय नहीं करता। किन्तु एकान्त स्थान में रहने वाला व्याकुलता रहित होकर स्वाध्याय करता है। (इस प्रकार बाह्य तपों से स्वाध्याय की सिद्धि होती है।) **(भ.आ. २४३ टी.)**

५५. प्रश्न : अनशन आदि से कषाय का निग्रह कैसे होता है क्योंकि कषाय का निग्रह तो क्षमादि भावों से होता है ?

उत्तर : भोजन न मिलने पर या कम मिलने पर अथवा अरुचिकर मिलने पर क्रोध कषाय उत्पन्न होती है तथा प्रचुर लाभ से और स्वादयुक्त भिक्षा के लाभ से मैं 'लब्धिसम्पन्न हूँ' ऐसी मान कषाय उत्पन्न होती है। मेरे भिक्षा लेने के घर को दूसरे न जान सकें इस तरह घर में प्रवेश करूँ, यह चिन्ता माया कषाय है। रसीले अत्यधिक भोजन में आसक्ति लोभ कषाय है। तथा वसति नहीं देने पर क्रोध और उसके मिलने पर (भोजन में मान कषाय के समान) मान कषाय होती है। दूसरे भी आने वाले हैं, इस वसति में स्थान नहीं है ऐसा कहना माया कषाय है। मैं इस वसति का स्वामी हूँ यह लोभ कषाय है। इस प्रकार जो वस्तु कषाय का निमित्त है उनका त्याग करने से कषाय का अवसर नहीं रहता है। **(भ.आ. २४१ टी.)**

५६. प्रश्न : अनशनादि को बाह्य तप क्यों कहते हैं ?

उत्तर : ये अनशन आदि बाह्य तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा करके किये जाते हैं, इसलिए इन्हें बाह्य तप कहते हैं, ये तप दूसरों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय (जानने योग्य) हैं तथा इन तपों को मुनीश्वर भी करते हैं और गृहस्थ भी इसलिए इन्हें बाह्य तप कहते हैं। **(रा.वा. १७)**

ये तप बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होते हैं और दूसरों को देखने में आते हैं इसलिए इन्हें बाह्य तप कहते हैं। **(सर्वा. ८५६)**

जो तप संसार में प्रगट दिखाई देता है अथवा अन्य मिथ्यादृष्टि भी जिसको धारण कर सकते हैं वह सार्थक नाम को धारण करने वाला बाह्य तप कहलाता है। **(मू. प्र. १७८५)**

अभ्यन्तर तप

अभ्यन्तर तपों का कथन

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।।२० ।।

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानानि-उत्तरम् ।

अर्थ - प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये (उत्तरम्) अभ्यन्तर तप के भेद हैं।

प्रायश्चित्त - पूर्व में किये अपराधों का शोधन करना प्रायश्चित्त है।

विनय - उद्धतपनरहित वृत्ति का होना अर्थात् नम्र वृत्ति का होना विनय है।

वैयावृत्त्य - अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्त्य है।

स्वाध्याय - सिद्धान्त आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

व्युत्सर्ग - उपधि का त्याग करना व्युत्सर्ग है।

ध्यान - एक विषय पर चिन्ता का निरोध करना ध्यान है।

१. प्रश्न : अभ्यन्तर तप कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : (१) समस्त दोषों को दूर करने वाला प्रायश्चित्त, (२) श्रेष्ठ गुणों की खानि ऐसा विनय, (३) तपश्चरण का सारभूत तप वैयावृत्त्य, (४) धर्म का सागर स्वाध्याय तथा (५) कायोत्सर्ग और (६) अंतरंग को शुद्ध करने वाला शुभध्यान, यह छह प्रकार का अन्तरंग तप है। यह छहों प्रकार का अंतरंग तप समस्त अन्तरंग शत्रुओं का नाश करने वाला है। **(मू.प्र.१८३३-३४)**। अभ्यन्तर तप छह प्रकार का होता है। (१) स्वाध्याय (२) शुभ कार्य से च्युत होने वाले अपने आपको पुन: स्थिर करना (३) ध्यान (४) रोगी गुरु वृद्ध बाल मुनि की सेवा करना (५) कायोत्सर्ग (६) विनय। **(चा.भ. ५)**

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

२. प्रश्न : प्रायश्चित्त आदि को अभ्यन्तर तप क्यों कहते हैं ?

उत्तर : मन का नियमन करने वाला होने से इसे अभ्यन्तर तप कहते हैं। **(सर्वा.८५८)**

ये प्रायश्चित्त आदि अन्य मतावलम्बियों के द्वारा अनभ्यस्त हैं, उनसे नहीं किये जाते हैं, उन मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अप्राप्य हैं अत: इनको उत्तर और अभ्यन्तर तप कहते हैं। ये प्रायश्चित्त आदि तप अन्त:करण के व्यापार का अवलम्बन लेकर होते हैं, इसलिए इनके अभ्यन्तरत्व है **अथवा -**

ये प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते हैं, इसलिए इन्हें अभ्यन्तर तप कहते हैं। **(रा.वा. १-३)**

जो सन्मार्ग को जानते हैं वे अभ्यन्तर हैं। उनके द्वारा ज्ञात होने से अथवा उनके द्वारा पालन किये जाने से अभ्यन्तर कहलाते हैं। **(भ.आ. १०६ वि.)**

जो तप दूसरों के द्वारा प्रगट दिखाई न दे तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जिस तप को धारण न कर सके उसको श्रेष्ठ अभ्यन्तर तप कहते है। **(मू. प्र. १८३२)**

३. प्रश्न : प्रायश्चित्त तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ध्यान से मुनियों के व्रतों में लगे दोष शुद्ध हो जायें उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। **(मू.प्र. १८३५)**

जिसके द्वारा प्राचीन पाप नष्ट हो जावें वह प्रायश्चित्त कहलाता है। अथवा प्रायस् का अर्थ मनुष्य है और चित्त का अर्थ कर्म है चूंकि प्रायश्चित्त मनुष्य के कर्म हर लेता है नष्ट कर देता है, इसलिए उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। **(आ.सा. ६/२२)** अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पूर्व संचित पापों से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त है। जिससे स्पष्टतया पूर्व के व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है वह तप भी प्रायश्चित्त कहलाता है। **(मू. ३६१ आ.)**

बुद्धिमान मनुष्य जिस तप के द्वारा मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति के वश उत्पन्न हुए मल को आगमानुसार शुद्ध करते हैं उसे मलशोधन (प्रायश्चित्त) तप कहते हैं।

संवेग और निर्वेद से युक्त, अपराध करने वाला साधु अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है वह प्रायश्चित्त नाम का तप: कर्म है। **(ध. पु. १३/५९)**

४. प्रश्न : प्रायश्चित्त तप किसके होता है ?

उत्तर : जो तपस्वी मुनि मन, वचन, काय से स्वयं दोष नहीं करता, अन्य से भी दोष नहीं कराता तथा कोई दोष करता है तो उसे अच्छा नहीं मानता, उस मुनि के उत्कृष्ट विशुद्धि होती है, अथवा किसी प्रकार प्रमाद के वशीभूत होकर अपने चारित्र में यदि दोष आया हो तो निर्दोष आचार्य, उपाध्याय अथवा साधुओं के आगे इस दोष से रहित होकर अपने दोष को प्रकट करे। दोष की आलोचना करने के पश्चात्

आचार्य ने जो प्रायश्चित्त दिया हो उस सबको श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। और हृदय में ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि आचार्य ने मुझे जो प्रायश्चित्त दिया है वह थोड़ा है या बहुत है ? भले ही शरीर के खण्ड-खण्ड हो जायें फिर भी लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त लेने के पश्चात् जो उस दोष को नहीं करना चाहता उस दृढ़ निश्चय वाले साधु के प्रायश्चित्त नाम का तप होता है। जो ज्ञानी मुनी ज्ञान स्वरूप आत्मा का बारम्बार चिन्तन करता है और विकथा आदि प्रमादों से जिसका मन विरक्त रहता है, उसी के उत्कृष्ट प्रायश्चित्त तप होता है। **(का.अ. ४५१-५५)**

५. प्रश्न : विनय तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : विनीत होना विनय है, कषाय और इन्द्रियों का मर्दन करना विनय है, अथवा विनय के योग्य गुरुजनों के विषय में यथायोग्य नम्रभाव रखना विनय है। **(आ.सा. ६/६९)**

कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों को अपनी शक्ति के अनुसार बलपूर्वक जीतना विनय है। **अथवा** सज्जनों के प्रति नम्रता धारण करना वा रत्नत्रय की विनय करना, रत्नत्रय को धारण करने वालों की विनय करना सज्जन पुरुषों के द्वारा विनय कहलाता है। **(मू.प्र. १९११-१३)**

जिस तप से जीव निर्मल रत्नत्रय को प्राप्त होता है, जिससे संचित कर्म को सर्वथा नष्ट कर देता है, तथा जिससे पवित्र शाश्वतिक सुख को प्राप्त करता है, उस विनय तप को मुनिराज किया करते हैं। **(सु.र.सं. ८८८)**

स्वाध्याय, संयम, संघ, गुरु और सहाध्यायी को दान, मानादि से सन्तुष्ट करने व उनके आदर-सत्कार करने को आत्मतत्त्व के वेत्ता आचार्य विनय कहते हैं। **(य.ति.च. ६/२००)**

६. प्रश्न : वैयावृत्य तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : आपत्ति का प्रतिकार करना वैयावृत्य है। **(आ.सा. ६/८६)**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, ध्यान, अध्ययन आदि साधर्मियों के कार्य के लिए पुस्तक आदि उपकरणों को देना, शास्त्रों की व्याख्या करना, धर्मोपदेश देना तथा युक्तिपूर्वक और भी साधर्मियों की सहायता करना तथा वह सहायता बिना किसी बदले की इच्छा के करना सो सब वैयावृत्य कहलाता है। **(मू.प्र. १९७९-८०)**

परीषह के आने पर इन आचार्य आदि मुनियों की बुद्धि की प्रसन्नता का जो सम्पादन है वह वैयावृत्य है। **(आ.सा. ६/९१)**

पीछी कमंडलु, बैठने के स्थान, आसन आदि, शय्या, घास, पट्टे इन सबका शोधन करके परस्पर साधुजनों में उपकार करना चाहिए। तथा उन मुनीश्वरों के आहार की व्यवस्था, रोगी मुनि की औषधि की व्यवस्था, शौचादि सम्बन्धी व्यवस्था करना वैयावृत्य है। **(म.क. ३०९)** शरीर की पीड़ा अथवा दुष्ट परिणामों को दूर करने के लिए शरीर की चेष्टा से या किसी अन्य द्रव्य से अथवा उपदेश देकर प्रवृत्त होना

व कोई भी क्रिया करना वैयावृत्त्य है। **(चा.सा. २०९)**

जो मुनि तपरूप धन से सम्पन्न हैं तथा व्रत एवं शीलों के धारक हैं उनके अनेक रोगों आदि से पीड़ित होने पर जो शरीर से तथा प्रासुक औषध के द्वारा उनके रोगादि को नष्ट करने का आदरपूर्वक निर्दोष व्यापार किया जाता है उसे वैयावृत्य कहते हैं। **(सु.र.सं. ८८९)** गुणों में अनुरागपूर्वक संयमी पुरुषों के खेद को दूर करना, पाँव दबाना तथा और भी जितना कुछ उपकार करना है वह वैयावृत्य कहा जाता है। **(र.श्रा. ११२)**

७. प्रश्न : वैयावृत्य किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : वैयावृत्य रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक की जाती है। क्लेश को नष्ट करने वाले प्रासुक निवास तथा अन्नपान आदि के द्वारा इनके (अन्नादि) अभाव में अपने प्रत्युपकार की अपेक्षा बिना अपने शरीर से की जाती है। विष्ठा, कफ, तथा नाक का मल आदि को उनके शरीर से दूर करना, यत्नपूर्वक सावधानी से उन्हें उठाना-बैठाना तथा करवट बदलाना आदि क्रियाओं से वैयावृत्य की जाती है। **(आ.सा. ६/९१-९३)** वसति, स्थान, आसन तथा उपकरण इनके प्रतिलेखन द्वारा उपकार करना, आहार, औषध आदि से, मलादि दूर करने से और उनकी वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्य करना चाहिए। **(मू. ३९१)**

जो मुनि कंकरीले और ऊँचे-नीचे मार्ग आदि में चलने से खेद खिन्न हैं उनके पाँव दबाना, सेवा शुश्रूषा करना, धर्मोपदेश देना, उनकी विष्ठा, मूत्र, कफ आदि हटाना, उनको अपने पास रखना, उनका अनुग्रह करना, उनकी रक्षा करना, आवश्यकतानुसार उनको उपकरण देना, उनके निर्वाह का प्रबन्ध करना आदि अनेक प्रकार से वैयावृत्य करना चाहिए। **(मू.प्र. १९७६-७८)**

८. प्रश्न : वैयावृत्य किस स्थिति में करना चाहिए ?

उत्तर : मार्ग में चलने से थक जाने पर, जिन पर चोरों ने उपद्रव किया है, जिन्हें सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से कष्ट हुआ है, राजा ने पीड़ा दी है, नदी की रुकावट से जिनको बाधा हुई है, अशिव-मारी-रोग आदि से जो पीड़ित है, जो दुर्भिक्ष से पीड़ित है उनकी रक्षा आदि करके वैयावृत्य करना चाहिए। **(भ.आ. ३०८)**

विहार करते समय मार्ग में चौरों द्वारा, नदी के निमित्त से तथा राजा, दुर्भिक्ष आदि कारणों से यतियों को पीड़ा होने पर सदा वैयावृत्य करना चाहिए। **(म.क. ३१०)**

नोट - रत्नत्रय में बाधक कारण उपस्थित होने पर, शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य (मन में विकल्प हो जाने पर) बिगड़ने पर भी विशेष रूप से वैयावृत्य करना चाहिए।

९. प्रश्न : वैयावृत्य तप किसके होता है ?

उत्तर : जो मुनि उपसर्ग से पीड़ित हो और बुढ़ापे आदि के कारण जिनकी काया क्षीण हो गई हो, जो अपनी पूजा, प्रतिष्ठा की अपेक्षा न करके उन मुनियों का उपकार करता है उसके वैयावृत्य तप होता

है। विशुद्ध उपयोग से युक्त हुआ जो मुनि शम, दम भाव रूप अपने आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करता है और लोकव्यवहार से विरक्त रहता है, उसके वैयावृत्य तप होता है। **(का.अ. ४५९-६०)**

१०. प्रश्न : स्वाध्याय तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने हित के लिए जो अध्ययन होता है वह स्वाध्याय कहलाता है। **(आ.सा. ६/९५)** जो ज्ञानी पुरुष अपना पाप नाश करने के लिए, अपने आत्महितार्थ तथा अन्य भव्य जीवों का हित करने के लिए सिद्धान्त आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन करते हैं उसको गुणों की खानि स्वाध्याय कहते हैं। **(मू.प्र. १९८५)**

जिनसे अति चंचल मन वश में किया जाता है, पूर्वोपार्जित कर्म रूपी धूलि विलीन हो जाती है, शुभ-अशुभ सब प्रकार के आस्रव जिनसे रुक जाते हैं उन जिनेन्द्र के वाक्यों का जो स्वाध्याय, पठन-पाठन करना है वह स्वाध्याय तप है। **(सु.र.सं. ८९०)**

११. प्रश्न : स्वाध्याय को परम तप क्यों कहा है ?

उत्तर : उत्तम ध्यान तो अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता परन्तु कुशल मनुष्यों का स्वाध्याय क्या सदा पापों की निर्जरा करने वाला नहीं होता ? अर्थात् होता ही है। स्वाध्याय के समय मन समीचीन अर्थ में, वचन शब्द के उच्चारण में, नेत्र अक्षर पर और कान उन अक्षरों के सुनने में लीन रहते हैं। अन्य नासिका और स्पर्शन ये दो इन्द्रियाँ उस समय निष्क्रिय रहती हैं अत: स्वाध्याय में भी अधिक एकाग्रता होती है अत: स्वाध्याय को परम तप कहा गया है। **(आ.सा. ६/९६-९७)**

कर्मों की निर्जरा का हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अन्य तप नहीं है, इस अपेक्षा से स्वाध्याय को परम तप कहा है। **(भ.आ. १०६ वि.)**

समस्त तपश्चरणों में विद्वान् पुरुषों को इस स्वाध्याय के समान न तो अन्य कोई तप आज तक हुआ है न है और न आगे होगा। इसका भी कारण यह है कि स्वाध्याय करने वालों के पंचेन्द्रियों का निरोध अच्छी तरह होता है तथा तीनों गुप्तियों का पालन होता है और संवर-निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। **(मू.प्र. १९९३-९४)**

तपों में अज्ञान का विरोधी होने से स्वाध्याय को परम तप कहा गया है। **(हरि. पु.)**

१२. प्रश्न : किसका स्वाध्याय निष्फल है ?

उत्तर : जो पण्डिताभिमानी लौकिक फल की इच्छा रखकर जिन शास्त्रों की सेवा करता है और साधर्मी जनों के प्रतिकूल रहता है उसका शास्त्रज्ञान भी विषरूप है। जो पुरुष राग-द्वेष से प्रेरित होकर लोगों को ठगने के लिए युद्धशास्त्र और कामशास्त्र को पढ़ता है उसका स्वाध्याय निष्फल है। **(का.अ. ४६३-६४)**

१३. प्रश्न : किसका स्वाध्याय कार्यकारी है ?

उत्तर : जो मुनि अपनी पूजा, प्रतिष्ठा की अपेक्षा न करके, कर्म मल का शोधन करने के लिए जिनशास्त्रों को भक्तिपूर्वक पढता है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी होता है। **(का.अ. ४६२)** जो अपनी आत्मा को इस अपवित्र शरीर से निश्चय से भिन्न तथा ज्ञायक स्वरूप जानता है, वह सब शास्त्रों को जानता है। **(का.अ. ४६५)**

जो श्रुतज्ञान के द्वारा इस केवल शुद्ध आत्मा को जानता है उसे लोक को जानने-देखने वाले केवली भगवान श्रुतकेवली कहते हैं। जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिन भगवान ने श्रुतकेवली कहा है। क्योंकि पूरा ज्ञान आत्मा है। अत: वह श्रुतकेवली है। **(स.सा. ९-१०)**

१४. प्रश्न : व्युत्सर्ग तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीर से ममत्व तथा अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह के समागम का त्याग करना मुनि का व्युत्सर्ग तप है।

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग कर तथा शरीर का ममत्व छोड़कर सज्जन पुरुष जो ध्यान पूर्वक स्थिर विराजमान होते हैं उसको उत्तम कायोत्सर्ग कहते हैं। **(मू. प्र १९९८)** जिस परिग्रह के निमित्त से मनुष्य संसार रूप वन में परिभ्रमण करता है, जिसके कारण वह कभी भी सुख को नहीं पाता है, तथा जिसके निमित्त से मोक्ष का कारणभूत संयम नष्ट हो जाता है वह परिग्रह बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। उसका परित्याग करना, इसे व्युत्सर्ग तप कहा जाता है। **(सु. र. स. ८९२)**

१५. प्रश्न : व्युत्सर्ग तप किसके होता है ?

उत्तर : जिस मुनि का शरीर जल्ल और मल से लिप्त हो, जो दुस्सह रोग के हो जाने पर भी उसका इलाज नहीं करता हो, मुख धोना आदि शरीर के संस्कार से उदासीन हो, और भोजन शय्या आदि की अपेक्षा नहीं करता हो, तथा अपने स्वरूप के चिन्तन में ही लीन रहता हो। दुर्जनों और सज्जनों में मध्यस्थ हो और शरीर से भी ममत्व न करता हो उस मुनि के व्युत्सर्ग अर्थात् कायोत्सर्ग नाम का तप होता है। जो मुनि देह के पोषण में ही लगा रहता है और पीछी, कमण्डलु आदि उपकरणों में विशेष रूप से आसक्त रहता है तथा पूजा, प्रतिष्ठा, विधान, अभिषेक, ज्ञान, सन्मान आदि बाह्य व्यवहारों में ही रत रहता है उसके कायोत्सर्ग तप कैसे हो सकता है ? **(का.अ. ४६७-६९)**

१६. प्रश्न : ध्यान तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : बुद्धिमान् पुरुष जो अन्य समस्त चिंतवनों को रोककर एकाग्रचित्त से द्रव्यों के समूह का चिन्तन करते हैं उसको ध्यान कहते हैं।

मन का किसी एक पदार्थ में अत्यन्त लीन होकर प्रवर्तना ध्यान नाम का तप है। **(आ.सा. ६/१००)** किसी वस्तु में अन्तर्मुहूर्त के लिए मानस ज्ञान के लीन होने को आगम में ध्यान कहा है। **(का.अ. ४७०)** जो ध्यान अनन्त एवं अविनश्वर सुख को देता है, विश्व को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को विस्तृत करता है, तथा पाप को क्षण भर में नष्ट कर देता है उसे ध्यान कहते हैं। **(सु.र.सं. ८९१)**

जो किसी एक ही वस्तु में परिणामों की स्थिर और प्रशंसनीय एकाग्रता होती है उसे ही ध्यान कहते हैं, ऐसा ध्यान ही मुक्ति का कारण होता है। **(म.पु. २१/१३२)**

अन्तरंग तपों के भेद कहते हैं

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

नव-चतुः दश-पञ्च-द्वि-भेदा-यथाक्रमं-प्राक्-ध्यानात्।

(प्राग्ध्यानात्) ध्यान से पहले-पहले तपों के (यथाक्रमं) क्रमशः (नवचतुर्दश पञ्चद्वि भेदा) नौ, चार, दस, पाँच और दो भेद हैं।

अर्थ - ध्यान से पहले-पहले क्रमशः उन प्रायश्चित्तादि तपों के नौ, चार, दस, पाँच और दो भेद है।

१. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'यथाक्रम' पद का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'यथाक्रमं' पद का प्रायश्चित्त नौ प्रकार का, विनय चार प्रकार का, वैयावृत्त्य दस प्रकार का, स्वाध्याय पांच प्रकार का एवं व्युत्सर्ग दो प्रकार का है, ऐसा सम्बन्ध होता है। **(सर्वा. ८६०)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'प्राग्ध्यानात्' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'प्राग्ध्यानात्' पद का अर्थ यह है कि ध्यान के विषय में बहुत कुछ कहना है इसलिए उसका कथन आगे करेंगे। **(सर्वा. ८६०)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'द्वि' शब्द का पूर्व निपात होना चाहिए क्योंकि व्याकरण सूत्र से द्वन्द्व समास में जो स्वन्त है, अल्प स्वर वाले हैं और अल्प संख्या वाले हैं उनका पूर्व निपात होता है ?

उत्तर : यद्यपि द्वन्द्व समास में व्याकरण के नियम से स्वन्त, अल्पाच् और अल्प संख्या वाले शब्दों का पूर्व निपात होता है तथापि पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट प्रायश्चित्त आदि का नव, चार, दश, पाँच और दो के साथ क्रमशः सम्बन्ध करने के लिए 'द्वि' शब्द का पूर्व निपात नहीं किया है। यदि व्याकरण के नियम से द्वि शब्द का पूर्व निपात करते हैं तो पूर्व सूत्र में कथित प्रायश्चित्त आदि का नवादि के साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? **(रा.वा. २)**

प्रायश्चित्त के भेद

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपः छेद-परिहार-उपस्थापनाः।

अर्थ - आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक,व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं।

आलोचना - गुरु के समक्ष प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है।

प्रतिक्रमण - 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरु से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है।

तदुभय - आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों का संसर्ग होने पर दोषों का शोधन होने पर तदुभय प्रायश्चित्त है।

विवेक - संसक्त अन्नपानादि का विभाग (त्याग) करना विवेक है।

व्युत्सर्ग - कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग है।

तप - अनशन आदि करना तप है।

छेद - दिन, पक्ष आदि की दीक्षा का छेद करना छेद है।

परिहार - पक्ष, महीना आदि के विभाग से संघ से दूर रखकर त्याग करना परिहार है।

उपस्थापना - पुन: दीक्षा का प्राप्त करना उपस्थापना प्रायश्चित्त है। **(सर्वा. ८६२)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अभ्यन्तर तपों के भेदों का निरूपण करके निर्दिष्ट विकल्प संख्या के भेदों के नामों का विशेष ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २२)** सर्वप्रथम आभ्यन्तर तप के भेदों के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ८६१)**

२. प्रश्न : प्रायश्चित्त तप कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : प्रायश्चित्त तप नौ प्रकार का है-

(१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप (७) छेद (८) परिहार (९) उपस्थापना। **अथवा-**

प्रायश्चित्त दस प्रकार का होता है-

(१) दोषों की नाशक आलोचना (२) उत्कृष्ट प्रतिक्रमण (३) सारभूत तदुभय (४) गुणों का सागर ऐसा विवेक (५) कायोत्सर्ग (६) तप (७) छेद (८) दोषों का क्षय करने वाला मूल (९) परिहार (१०) श्रद्धान। **(मू. प्र. १८३५-३७)**

(१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप (७) छेद (८) मूल (९) परिहार (१०) दर्शन। **(आ.सा. ६/२३-२४)**

यद्यपि जीव के परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं और अपराध के विकल्प भी उतने ही हैं अर्थात् अपराध भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं, परन्तु प्रायश्चित्त तो उतने प्रकार के नहीं हो सकते। अत: व्यवहार नय से वर्गीकरण करके प्रायश्चित्त का स्थूल कथन किया है। **(रा.वा. १०)**

३. प्रश्न : प्रायश्चित्त के कौन-कौन से नाम हैं ?

उत्तर : पुराने कर्मों का क्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुंछन, उत्क्षेपण और छेदन ये सब प्रायश्चित्त के आठ नाम हैं।

क्षपण - क्षय करना। **क्षेपण**- दूर करना। **निर्जरण** - निर्जरा करना। **शोधन** - शोधन करना। **धावन** - धोना। **पुंछन** - पोंछना (निराकरण करना)। **उत्क्षेपण** - फेंकना। **छेदन** - दो टुकड़े करना। **(मू. ३६३ आ.)**

४. प्रश्न : प्रायश्चित्त तप क्यों किया जाता है ?

उत्तर : यह प्रायश्चित्त तप दोषों का निराकरण, शल्यों का अभाव, मर्यादा का पालन, संयम की स्थिरता और चित्त में अत्यन्त शान्ति की प्राप्ति होना आदि प्रमुख कार्यों की सिद्धि के लिए किया जाता है। **(आ.सा. ६/६८)**

प्रमाद से लगे दोषों का निराकरण, भावप्रसाद-परिणामों की निर्मलता, नि:शल्यत्व-भावों की शल्य के निराकरण, अव्यवस्था के निस्तारण, मर्यादा के पालन, संयम की दृढ़ता, आराधना की सिद्धि आदि के लिए नव प्रकार का प्रायश्चित्त तप किया जाता है। **(रा.वा. १)**

५. प्रश्न : प्रायश्चित्त नहीं लेने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो मूर्ख अभिमानी मुनि अपने तपश्चरण को महा तपश्चरण समझकर व्रतादि के दोषों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त नहीं करता उसके समस्त व्रतों तथा समस्त तपश्चरण को वे दोष शीघ्र नष्ट कर देते हैं तथा उन व्रत और तप के नाश के साथ-साथ उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि सड़ा हुआ एक पान अन्य सब पानों को सड़ा देता है, उसी प्रकार एक ही दोष से सब व्रत, तप, गुण नष्ट हो जाते हैं। **(मू.प्र. १९०६-७)**

६. प्रश्न : आलोचना प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुरु के समक्ष दस दोषों को टालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है। **(सर्वा. ८६२)** एकान्त में विराजमान, प्रसन्नचित्त गुरु के समक्ष देश-काल को जानने वाले शिष्य द्वारा सविनय दस दोष रहित आत्मदोषों के निवेदन करने को आलोचना कहते हैं। **(रा.वा. २)**

आचार्य महाराज के समीप एकांत में बैठकर अपने व्रत, तप आदि की शुद्धि के लिए बिना किसी छल-कपट के मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से किये हुए समस्त अतिचारों का निवेदन करना आलोचना प्रायश्चित्त कहलाता है। **(मू.प्र.१८३८-३९)**

७. प्रश्न : आलोचना कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : आलोचना दो प्रकार की होती है-

(१) सामान्य आलोचना (२) विशेष आलोचना।

सामान्य आलोचना - जो अपरिमित अपराधी है, जिसने बहुत अपराध किये हैं या जिसने सब सम्यक्त्व, व्रत आदि का घात किया है वह सामान्य आलोचना करता है, मैं आज से मुनि दीक्षा लेना चाहता हूँ। मैं रत्नत्रय से तुच्छ हूँ। यह सामान्य आलोचना का स्वरूप है।

जिसको मूल नामक प्रायश्चित्त दिया जाता है वह सामान्य से आलोचना करता है।

विशेष आलोचना - दीक्षा से लेकर सब काल में, सब क्षेत्र में जिस भाव से और जिस क्रम से जो दोष किया हो उसकी उसी प्रकार आलोचना करना पदविभागी (विशेष) आलोचना है। जिसको मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है वह विशेष रूप से आलोचना करता है। **(भ.आ. ५३५-३७)**

आलोचना दो प्रकार की है-

(१) औघी (२) पदविभागी।

मूल को प्राप्त यति के औघी आलोचना कही गयी है और मूल को छोड़ अन्य विषयक आलोचना पदविभागी कही जाती है। **(म.क. ५५६)**

८. प्रश्न : आलोचना किसके सामने करनी चाहिए ?

उत्तर : जो ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों में भी अविचल है, धीर है, आगम में निपुण है और रहस्य अर्थात् गुप्त दोषों को प्रगट नहीं करने वाले हैं वे आचार्य आलोचना सुनने के योग्य है अर्थात् इन गुणों से युक्त आचार्य के सामने आलोचना करना चाहिए। **(मू. ५७)**

जो आचार्य प्रायश्चित्त तथा सिद्धान्तशास्त्रों के जानकार हैं और जो पंचाचार पालने में लीन हैं उनके समीप आलोचना करनी चाहिए। **(मू. प्र. १८३८)**

जिन्होंने शास्त्र के रहस्य को जान लिया है, जिनकी मनोवृत्ति अत्यन्त शान्त है, जो अपरिस्रावी है अर्थात् जो शिष्य के दोष को सुनकर किसी से प्रकट नहीं करते, जिस प्रकार संतप्त तवे पर पड़ी पानी की बूंद वहीं शुष्क हो जाती है, उसी प्रकार शिष्य का दोष सुनकर जो अपने ही हृदय में रखते हैं तथा प्रशस्त एकान्त में स्थित हैं उनके सामने आलोचना करनी चाहिए। **(आ.सा. ६/२५-२६)**

९. प्रश्न : आलोचना कब करनी चाहिए ?

उत्तर : आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया विशुद्ध परिणाम वाले क्षपक के प्रशस्त क्षेत्र में पूर्वाह्न अथवा अपराह्नकाल में शुभदिन, शुभनक्षत्र और शुभवेला में होती है। **(भ. आ. ५५६)**

१०. प्रश्न : आलोचना किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : अपने मन में दोषों को अधिक समय तक न रखकर निष्कपट भावों से बालक के समान सरल हृदय से दोषों को निवेदन करना चाहिए। **(रा.वा. २)** कृतिकर्म (विनय, सिद्धभक्ति आदि) करके

अपने शरीर के पूर्व-अपर भाग को और अपने बैठने के स्थान को चक्षु से देखकर और पीछी से परिमार्जन करके अथवा चारित्र के अतिचारों को सम्यक् प्रकार से निरूपण करके, अंजली जोड़कर शुद्ध हुआ, ऋद्धि आदि गौरव और मान को छोड़कर समाधानचित्त होकर आलोचना करनी चाहिए। **(मू. ६२० आ.)** जैसे बालक सरल भाव से बोलता हुआ कार्य और अकार्य सभी को कह देता है उसी प्रकार से मायाभाव और असत्य को छोड़कर आलोचना करना चाहिए। **(मू. ५६)** भय, माया, कपट, असत्य भाषण, गर्व और लज्जा इनका भी त्याग कर शास्त्रोक्त विधि से आलोचना करनी चाहिए। **(भ.आ. ६०८)**

हाथ का नचाना, भौं मटकाना, शरीर को मोड़ना, गृहस्थ की तरह बोलना, गूंगे की तरह संकेत करना और घर् घर् शब्द को त्याग, दोनों हाथ की अंजली बनाकर शिर नवाकर गुरु के सामने उनके बायीं ओर एक हाथ दूर गवासन से बैठकर न अति जल्दी में न अति रुककर स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए। **(भ.आ. ६०९)**

११. प्रश्न : आलोचना कहाँ करनी चाहिए ?

उत्तर : अर्हन्त का मंदिर, सिद्धों का मंदिर, अर्हत्, और सिद्धों की जहाँ प्रतिमा हैं ऐसे पर्वतादिक, समुद्र के समीप का प्रदेश जहाँ क्षीरवृक्ष हैं, जहाँ पुष्प और फलों से लदे हुए वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उद्यान, तोरण द्वार सहित मकान, नागदेवता का मंदिर, यक्षमंदिर में स्थान आलोचना के योग्य है। **(भ.आ. ५६०)**

अन्य भी जो सुन्दर स्थान हों वहाँ आचार्य क्षपक की निर्विघ्न समाधि के लिए आलोचना स्वीकार करते हैं। **(भ.आ. ५६१)**

१२. प्रश्न : किन स्थानों में आलोचना नहीं करनी चाहिए ?

उत्तर : जो वृक्ष पत्तों से रहित है, बिजली गिरने से जहाँ जमीन फट गई है, जहाँ शुष्क वृक्ष हैं, जिसमें कटुरस के वृक्ष भरे हैं, जो जल गया है, ऐसे स्थानों में दोषों की आलोचना करना योग्य नहीं, शून्य घर, रुद्र का मंदिर, पत्थरों का ढेर है ऐसा स्थान भी आलोचना के लिए अयोग्य है। जिस स्थान में तृण, सूखे पान और काठ के पुंज हैं, जहाँ भस्म पड़ा है, ऐसे स्थान भी आलोचना के लिए वर्ज्य हैं, अपवित्र श्मशान तथा फूटे हुए पात्र अथवा गिरा हुआ घर जहाँ है वह स्थान भी वर्ज्य है, रुद्र देवताओं और क्षुद्र देवताओं के भी स्थान वर्ज्य हैं। अन्य भी जो इस प्रकार के स्थान हों, वहाँ आचार्य क्षपक की निर्विघ्नता के लिए आलोचना नहीं कराते क्योंकि इन स्थानों में आलोचना करने पर प्रारब्ध कार्य की सिद्धि नहीं होती। **(भ.आ. ५५७-५९)**

१३. प्रश्न : आलोचना कितने दोषों को टाल कर करना चाहिए ?

उत्तर : आलोचना दस दोषों को टाल कर करना चाहिए-

(१) आलोचना (२) अनुमापित दोष (३) मायाचार यदृष्ट (४) स्थूल दोष (५) प्रतिपादन (५) सूक्ष्माचार निवेदन (६) छन्नदोष (७) शब्दाकुलित दोष (८) बहुजन दोष (९) अव्यक्त दोष (१०) तत्सेवित दोष। **(रा.वा. १०)**

(१) आकंपित दोष (२) अनुमानित दोष (३) दृष्ट दोष (४) बादर दोष (५) सूक्ष्म दोष (६) छन्न दोष (७) शब्दाकुलित दोष (८) बहुजन दोष (९) अव्यक्त दोष (१०) तत्सेवित दोष। **(आ.सा. ६/२७-२८)**

१४. प्रश्न : आलोचना या आकम्पित दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपकरण देने से मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे, इस प्रकार विचार करके प्रायश्चित्त के समय उपकरण आदि देना प्रथम आलोचना दोष है। **(रा.वा.२)**

यदि आचार्य महाराज को कोई सुन्दर ज्ञानोपकरण दे दिया जाय तो आचार्य सन्तुष्ट हो जायेंगे और मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, यही समझकर जो आचार्य को पहले ज्ञानोपकरणादि देता है और फिर उनके समीप जाकर आलोचना करता है उसको आकंपित नाम का दोष कहते हैं। **(मू.प्र. १८४२-४३)**

कठिन प्रायश्चित्त की आशङ्का से भयभीत होकर, 'आचार्य मुझे थोड़ा प्रायश्चित्त देवें' इस भावना से जो साधु आलोचना के पहले ही उन्हें पीछी, कमण्डलु आदि उपकरण देता है, उसका ऐसा करना आकम्पित दोष माना गया है। **(आ.सा. ६/२९)** स्वयं भिक्षालब्धि से युक्त होने के कारण प्रवर्तक होकर आचार्य की उद्गम आदि दोषों से रहित प्रासुक भोजन से अथवा पान से अथवा कमण्डलु-पीछी आदि उपकरणों से अथवा कृतिकर्म-वन्दना आदि से वैयावृत्य करके अपने पर आचार्य की कृपा उत्पन्न करके कोई साधु अपना अपराध कहता है। (यह अनुकम्पित दोष है)। **(भ.आ. ५६५)**

१५. प्रश्न : अनुकम्पित दोष से युक्त आलोचना करने वाले की मनोवृत्ति कैसी होती है ?

उत्तर : भोजन आदि के दान के द्वारा उपकार करने से मुझ पर प्रसन्न होकर गुरु महान् प्रायश्चित्त नहीं देंगे, बल्कि थोड़ा ही देंगे। अत: महान् प्रायश्चित्त का भय न होने से मैं स्थूल और सूक्ष्म सब अतिचार कहूँगा। इस प्रकार मन में विचार कर आलोचना करने वाले के अविनय नामक प्रथम आलोचना दोष होता है। जो कुछ प्राप्त करके गुरु प्रसन्न होंगे और वे लघु प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा अपनी बुद्धि से असत् दोष का अध्यारोपण करना मानसिक अविनय है। अन्य टीकाकार कहते हैं- आलोचना और दोष, आलोचना दोष है। अशुभ अभिप्राय पूर्वक ऐसा करना आलोचना दोष है। **(भ.आ. ५६६)**

आचार्य को आहार आदि से संतुष्ट एवं दयायुक्त करने पर मेरे द्वारा सर्व आलोचना हो जायेगी इससे मुझे बड़ा लाभ होगा इस प्रकार का विचार आकम्पित दोष है। **(म.क. ५९२)**

१६. प्रश्न : आकम्पित दोष से युक्त आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जीवन की इच्छा से विष खरीद कर खाने वाले के समान आकम्पित दोष से युक्त आलोचना करने वाले के आत्मशुद्धि नहीं होती है। वह गुरु को उपकरण आदि देकर छल से पुन: माया शल्य की पुष्टि करता है।

इस दोष से युक्त की गई आलोचना किंपाक फल के समान प्रारम्भ में मधुर एवं विपाक में मरण के समान महान् दु:ख उत्पन्न करने वाली है। **अथवा-**

कृमिरंग- लाक्षा रंग से रंगे वस्त्र की शुद्धि कदाचित् हो सकती है किन्तु अनुकम्पित दोष युक्त की गयी आलोचना से निश्चय से शुद्धि नहीं हो सकती है। **(म.क. ५९३-९५)**

१७. प्रश्न : अनुमापित दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : मैं रोगी हूँ, क्लेशों को सहन नहीं कर सकता, यदि मुझे थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जावे तो मैं दोषों का कथन करूँगा, इत्यादि रूप से आचार्य के मनोभाव का अनुमान कर आलोचना करना अनुमापित दोष है। **(आ.सा. ६/३०)**

मेरे शरीर में पित्त प्रकृति का अधिक प्रकोप है अथवा मैं स्वभाव से ही दुर्बल हूँ अथवा मैं रोगी हूँ इसलिए अधिक वा तीव्र उपवासादि नहीं कर सकता। यदि मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायेगा तो मैं अपने समस्त दोषों का निवेदन प्रगट रीति से कर दूँगा, अन्यथा नहीं; ऐसा विचार कर जो शिष्य आचार्य के सामने अपने दोष कहता है उसको अनुमानित दोष कहते हैं। **(मू.प्र. १८४४-४६)**

प्रार्थना करने पर लघु प्रायश्चित्त देकर गुरु मेरे पर अनुग्रह करेंगे, ऐसा अनुमान से जानकर पीछे वह शल्य सहित आलोचना करता है यह दूसरा आलोचना दोष है। **(भ.आ. ५७४)**

१८. प्रश्न : लघु प्रायश्चित्त देने का अनुमान किस प्रकार लगाता है ?

उत्तर : आलोचक मुनि अत्यन्त धार्मिक की तरह कहता है- धीर पुरुष के द्वारा आचरित उत्कृष्ट तप को जो करते हैं वे धन्य हैं, माहात्म्यशाली हैं। अपनी शक्ति को छिपाने, पार्श्वस्थ मुनि होने तथा शरीर में सुखशील होने से वह कहता है 'मैं तो एक जघन्य प्राणी हूँ, उपवास करने में असमर्थ हूँ। आप मेरे बल को जानते ही हैं। यह भी जानते हैं कि मेरी उदराग्नि दुर्बल है, मैं रोगी हूँ। अत: मैं उत्कृष्ट तप करने में असमर्थ हूँ। मैं समस्त अतिचारों की आलोचना करूँ यदि आप उन्हें सुनकर मुझ पर कृपा करें। मैं आपकी कृपा से शुद्ध होना चाहता हूँ और शुद्ध होकर अपना विस्तार करूँगा। इस प्रकार प्रार्थना करके प्रायश्चित्त का अनुमान लगाता है। **(भ.आ. ५७०-७३)**

१९. प्रश्न : अनुमापित दोष से युक्त आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जिस प्रकार अपथ्य भोजन 'यह पथ्यकारक है' ऐसी बुद्धि से सेवन किया जाता है तो वह विपाक में दु:खदायक होता है; उसी प्रकार गुरु को अपनी कमजोरी बताकर कम प्रायश्चित्त का आश्वासन लेकर आलोचना करने वाले की आलोचना विपाककाल में दु:खदायक होती है, उससे शुद्धि नहीं होती है। **(म.का. ६०१)**

२०. प्रश्न : यद्दृष्ट दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन दोषों को दूसरों ने नहीं देखा, उन दोषों को छिपाकर दूसरों के द्वारा जाने गये दोषों को कहना मायाचार यद्दृष्ट दोष है। **(रा.वा.२)**

जो शिष्य दूसरों के द्वारा बिना देखे हुए दोषों को छिपा लेता है और देखे हुए दोषों को निवेदन कर

देता है उसके आलोचना का यद्दृष्ट नाम का दोष लगता है। दूसरे के द्वारा देखे गये अथवा न देखे गये अपराध को यदि आचार्य के पादमूल में अत्यन्त विनयपूर्वक नहीं कहता है तो यह तीसरा आलोचना दोष है। **(भ.आ. ५७७)**

२१. प्रश्न : यद्दृष्ट दोष सहित आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : 'मैं दोष की शुद्धि करता हूँ' ऐसा सोचकर क्षपक आलोचना में उद्यत हुआ था किन्तु बिना देखे दोष को छिपाने की माया रूप कल्मष द्वारा उसी दोष को वह नष्टबुद्धि करता है। जैसे कोई बालू में खड्डा खोदता है तो वह खड्डा खोदते समय ही पुन: बालू से भर जाता है, वैसे ही यद्दृष्ट दोष को छिपाकर शेष की आलोचना करना व्यर्थ है। **(म.क. ६०४)**

२२. प्रश्न : बादर दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो बालक मुनि वा अज्ञानी मुनि अपने आलस, प्रमाद वा अज्ञान से छोटे-छोटे अपराधों को तो निवेदन नहीं करता किन्तु अपने आचार्य से स्थूल दोषों को निवेदन करता है, उसको चौथा बादर नामक दोष कहते हैं। **(मू.प्र. १८४८-४९)**

आलस्य आदि के कारण होने वाले स्थूल दोषों को ही कहना बादर दोष है। **(आ.सा. ६/३१)**

आलस्य वा प्रमाद आदि के कारण सूक्ष्म दोषों की परवाह न करके स्थूल दोषों का प्रतिपादन करने वाले के स्थूल दोष प्रतिपादन चतुर्थ दोष है। **(रा.वा.२)**

२३. प्रश्न : बादर दोष सहित आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : छल पूर्वक आलोचना करने वाला क्षपक बाह्य-आकार से अतिशुद्ध प्रतीत होता है किन्तु भावादि शल्य वाला वह साधु अन्तरंग की शुद्धि को प्राप्त नहीं होता। जैसे कांसे का कमण्डलु या झारी साफ करते हुए भी बाहर से स्वच्छ होती है, अन्दर में मैली हरी-नीली रहती है। **(म.क. ६०७)** जैसे-कांसे का बना भृंगार अन्दर से नीला और मलिन होता है तथा बाहर से स्वच्छ होता है वैसे ही यह आलोचना शुद्धि मायाशल्य दोष से युक्त होती है। **(भ.आ. ५८१)**

२४. प्रश्न : सूक्ष्म दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : महान् दुश्चर प्रायश्चित्त के भय से महान् दोषों को छिपाकर सूक्ष्म दोषों का गुरु के समक्ष कथन करना सूक्ष्माचार निवेदन नाम का पाँचवाँ दोष है। **(रा.वा. २)**

'यह सूक्ष्म दोष की भी शुद्धि कर लेता है' इस प्रकार ख्याति आदि की प्राप्ति के निमित्त सूक्ष्म अपराधों को कहना और स्थूल दोषों को छिपा लेना सूक्ष्म दोष है। **(आ.सा. ६/३२)** जो अज्ञानी मुनि अपने अपयश के डर से अथवा कठिन प्रायश्चित्त के डर से अथवा ''देखो, इसके कैसे शुद्ध भाव हैं जो सूक्ष्म दोषों को भी अच्छी तरह प्रकट कर देता है।'' इस प्रकार के अपने गुणों के प्रकट होने की इच्छा

से सैकड़ों बड़े-बड़े स्थूल दोषों को तो छिपा लेता है तथा मायाचारी से आचार्य के सामने महाव्रतादिकों के सूक्ष्म दोषों को निवेदन कर देता है उसको पाँचवाँ सूक्ष्म नाम का दोष कहते हैं। **(मू.प्र. १८५०-५२)**

२४. प्रश्न : सूक्ष्म दोष से युक्त आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जिस प्रकार नकली कड़ा बाहर से सुवर्ण से मढ़ा रहता है और अन्दर लाख से पूरित होता है, उस कड़े को खरीद लेवे तो आगे वह तापकारी होता है; उसी प्रकार सूक्ष्म दोष को बताकर बड़े दोष को छिपाने वाली आलोचना करे तो दोषशुद्धि नहीं होती, बल्कि अपार और उग्र ऐसा सन्ताप ही होता है। **(म.क. ६११)**

जैसे सोने के रस के लेप से लोहे का कड़ा बाहर से पीला दिखाई देता है, उसी प्रकार अल्प शुद्धि होती है। **अथवा-**

जैसे सोने के पतले पत्र से ढका लोहे का कड़ा अन्दर से नि:सार होता है उसी प्रकार यह आलोचना गुरुतर पाप को ढाकने मात्र के लिये है। भारी लोहा आदि वस्तु नि:सार होती है, बाहर में उसे सोने के पत्र से जैसे ढाक देते हैं वैसे ही वह सूक्ष्म अपराधों को कहता है। लाख से भरा कड़ा जैसा होता है उन्हीं के समान यह आलोचना शुद्धि है। ऐसा यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए करता है कि गुरु समझे कि यह मुनि पाप से इतना भयभीत है कि सूक्ष्म पाप को भी नहीं छिपाता तब बड़ा पाप कैसे कर सकता है। **(भ.आ. ५८५ टी.)**

२६. प्रश्न : सूक्ष्म दोषों की आलोचना किस प्रकार करता है ?

उत्तर : साधु गुरु से निवेदन करता है- ओस से भीगे हुए मार्ग से ईर्यासमिति की ओर ध्यान न रखते हुए मैं चला था। उस समय मेरा चित्त व्याकुल था। **या** प्रतिलेखना किए बिना मैं बैठा या सोया या खड़ा हुआ **या** जलादि से मैंने शरीर को छुआ या सचित्त धूलि से सहित स्थान में मैं खड़ा हुआ या बैठा या सोया। **अथवा** आठ आदि मास का गर्भ धारण करने वाली या जिसे प्रसव किए एक माह भी नहीं बीता था ऐसी स्त्री से मैंने आहार ग्रहण किया **(भ.आ. ५८२ वि.)**

२७. प्रश्न : छन्न दोष किसे कहते है ?

उत्तर : लज्जा और भय आदि से अपने आपको छिपा कर आचार्य से ऐसा पूछना कि इस प्रकार का दोष होने पर कौनसा प्रायश्चित्त होगा ? चुपचाप उस प्रायश्चित्त को ले लेना छन्न नाम का दोष है। **(आ.सा. ६/३३)**

जो शिष्य लोक में फैलने वाली अपनी अपकीर्ति के भय से अपने दोषों को दूर करने के लिए शुश्रूषा करके गुरु से पूछता है कि हे स्वामिन् ''इस प्रकार अतिचार लगने पर कैसा प्रायश्चित्त होना चाहिए'' इस प्रकार किसी भी उपाय से पूछकर वह जो प्रायश्चित्त लेता है, वह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाला छन्न नाम का दोष है। **(मू.प्र.१८५३-५४)** ''ऐसा व्रतों का अतिचार लगने पर क्या प्रायश्चित्त होगा ?'' इस

प्रकार किसी उपाय से प्रायश्चित्त जानकर पश्चात् गुरु के समीप अपने दोषों का निरुपण करना छठा छन्न नाम का दोष है। **(रा.वा. २)**

२८. प्रश्न : छन्न दोष से युक्त आलोचना करने में क्या हानि है ?

उत्तर : छन्न दोष से युक्त आलोचना करने वाला 'यदि अन्य के भोजन करने पर अन्य की तृप्ति हो तो अन्य के द्वारा आलोचना शुद्धि करने पर किसी अन्य की शुद्धि होना सम्भव है' अन्य मुनि के बहाने पूछकर जो अपनी शुद्धि करना चाहता है वह किसी अन्य पुरुष द्वारा औषध पीने पर अपना आरोग्य चाहता है। पर के छल से अपनी आलोचना की शुद्धि तो तब सम्भव है जब अन्य मुनि द्वारा संयम पालन करने पर किसी अन्य मुनिराज को मुक्ति लाभ होता है। जो अज्ञ अपने दोष को गुरु के समक्ष बिना कहे ही दोष की शुद्धि करना चाहता है वह मरीचिका से जल चाहता है। अथवा चन्द्रबिम्ब से अन्न चाहता है, ऐसा मैं मानता हूँ। **(म.क. ६१४-१७)**

२९. प्रश्न : शब्दाकुलित दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : पाक्षिक,चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण के समय बहुत यतियों के समुदाय में कोलाहल में अपने दोषों का निवेदन करना, जिससे गुरु अच्छी तरह सुन नहीं सके वह शब्दाकुलित नाम का सातवाँ दोष है। **(रा.वा. २)**

जिस समय पाक्षिक आलोचना हो रही हो अथवा दैवसिक वा चातुर्मासिक आलोचना हो रही हो अथवा वार्षिक आलोचना हो रही हो अथवा किसी शुभ कार्य के लिए महात्माओं का समुदाय इकट्ठा हुआ हो, तथा सब इकट्ठे मिलकर अपनी-अपनी आलोचना कर रहे हों और उन सबके शब्द ऊँचे स्वर से निकल रहे हो उस समय अपने दोष कहना जिससे किसी को मालूम न हो सके उसको शब्दाकुलित दोष कहते हैं। **(मू.प्र. १८५५-५६)**

३०. प्रश्न : यह शब्दाकुलित दोष किसके लगता है ?

उत्तर : चातुर्मासिक, पाक्षिक, वार्षिक प्रतिक्रमण आदि क्रिया के दिन है, उससे कोलाहल शब्द हो रहा है, उस वक्त जो अधमक्षपक अपनी इच्छानुसार आचार्य के आगे आलोचना करता है , अपने दोषों को अव्यक्त रीति से संक्लिष्ट मन से कहने वाले क्षपक के आलोचना में होने वाला शब्दाकुलित दोष होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। **(म.क. ६१८)**

३१. प्रश्न : शब्दाकुलित दोष से युक्त आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जैसे- रहट में लगी पानी की घटिकाएँ भरकर भी रीती होती जाती हैं उसी प्रकार वह आलोचक मुनि अपने मुख से अपराध कहने के लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त ही है क्योंकि गुरु ने उसे नहीं सुना। **अथवा-**

मन्थन चर्मपालिका के समान उसकी आलोचना वाणी मुख रूपी गर्त से छूटकर भी मायाशल्य से सहित होने से कर्म से बद्ध करती है **अथवा**

जैसे फूटा घड़ा घट का कार्य जलधारण अथवा जल आदि का लाना करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार यह आलोचना निर्जरा रूप कार्य को नहीं करती। **(भ.आ.वि. ५९४)**

३२. प्रश्न : बहुजन दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : अल्प प्रायश्चित्त की आशा से ''इस अपराध के लिए यह प्रायश्चित्त योग्य है या नहीं'' इस प्रकार बहुत आचार्यों से पूछना और तब तक पूछते जाना जब तक कोई अल्प प्रायश्चित्त न बतला देवे। यह बहुजन नामका दोष है। **(आ.सा. ६/३५)** गुरुप्रदत्त प्रायश्चित्त युक्त है या नहीं, आगमविहित है या नहीं ? इस प्रकार शंकित मन होकर अन्य साधुजनों से पूछना आठवाँ बहुजन दोष है। **(रा.वा. २)** आचार्य ने किसी शिष्य को प्रायश्चित्त दिया हो और फिर वह यह शंका करे कि आचार्य महाराज ने जो यह प्रायश्चित्त दिया है वह प्रायश्चित्त ग्रन्थों के अनुसार ठीक है या नहीं तथा ऐसी शंका कर जो दूसरे किसी आचार्य से पूछता है उस समय उस प्रायश्चित्त लेने वाले के बहुजन नाम का दोष लगता है। **(मू.प्र. १८५७-५८)**

३३. प्रश्न : बहुजन दोष से युक्त आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : एक आचार्य के द्वारा प्रायश्चित्त देकर दोष दूर करने पर भी पुन: अन्य आचार्य अन्य प्रकार से उस दोष का शोधन करते हैं, इस तरह विशुद्धमान दोष आलोचना करने वाले को पीड़ा देता है जैसे कि वृण घाव शुष्क हुआ है किन्तु उसको पुन: पुन: छेड़ो-मसल दो तो वह असह्य बाधा को करता है। **(म.क. ६२४)**

जिसमें काँटा रहा है ऐसा वृण बढ़ जाता है तब वह अनेक प्रकार की वेदनायें उत्पन्न कर जीव को जिस प्रकार बहुत दु:ख देता है वैसे ही यह आलोचना भी जीव को बहुत दु:खदायक है। यह आलोचना माया और असत्य भाषण से रहित है, इसलिए यद्यपि अतिशय अच्छी मानी जाती है तथापि गुरुओं के लिए प्रायश्चित्त पर श्रद्धान न होने से दु:खदायक है। **(भ.आ. ५९९)**

३४. प्रश्न : अव्यक्त दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मुनि जिनागम को न जानने वाले अपने ही समान किसी मुनि के समीप जाकर अपने बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करता है, आचार्य से आलोचना नहीं करता है उसके अव्यक्त नाम का दोष लगता है। **(मू.प्र. १८५९)**

लज्जा, भय अथवा प्रायश्चित्त के भय आदि कारणों से ऐसे मुनि या आचार्य से आलोचना करना जो अपने समान हो अथवा ज्ञान और तप की अपेक्षा अपने से न्यून हो, अव्यक्त दोष है। **(आ.सा. ६/३६)** जिस किसी प्रयोजन का उद्देश्य लेकर अपने ही समान गुरु के लिए प्रमाद से आचरित दोषों का निवेदन करना अव्यक्त नामका नवमा दोष है। **(रा.वा. २)**

३५. प्रश्न : अव्यक्त दोष से युक्त आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : अव्यक्त दोषयुक्त की गई आलोचना बड़े भारी पश्चाताप को देती है जैसे कि दुष्टों की

संगति से या नकली सुवर्ण खरीदने पर पश्चाताप होता है, दुष्टों की संगति समय-समय पर पश्चाताप कराती है कि हाय! मैंने ऐसी संगति क्यों की ? यह बहुत दुःख देती है, आदि। तथा अज्ञानवश नकली सोना खरीद ले तो उसके अलंकार बनाते समय सोना न निकलने पर पश्चाताप होगा। ठीक इसी तरह अज्ञानी गुरु के निकट अल्पबुद्धि मुनि आलोचना करे तो उसे आगे पश्चाताप होता है क्योंकि उस अज्ञानी गुरु के प्रायश्चित्त से उसके रत्नत्रय की शुद्धि नहीं होती है। **(म.क. ६२८)**

३६. प्रश्न : तत्सेवी दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह अपराधी मेरे ही समान है, अथवा इसने जो अपराध किया है वह मेरा अपराध है अतः इसके लिए जो प्रायश्चित्त दिया गया है वह मेरे लिए भी युक्त है, ऐसा विचार कर सदृश अपराधी के लिए अपना दोष कहना तत्सेवित दोष है। **(आ.सा. ६/३७)** इसमें किया गया कठोर प्रायश्चित्त भी निष्फल होता है, इसके समान ही मेरा अपराध है, उसको यही जानता है, जो इसके लिए प्रायश्चित्त दिया गया है, वही मैं शीघ्र ले लूँगा, वही प्रायश्चित्त शीघ्र ही मुझे करना चाहिए। इस प्रकार गुरु से अपने दोषों का संवरण करना तत्सेवित नाम का दसवाँ दोष है। **(रा.वा. २)**

३७. प्रश्न : तत्सेवित दोष से युक्त आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर : सदोष आचार्य के निकट कहा गया दोष नष्ट नहीं हो सकता। जैसे- लाल रंग से रंगा हुआ वस्त्र लाल रंग द्वारा शुद्ध (सफेद) नहीं होता है। जिस प्रकार जिनेन्द्र देव की वाणी से प्रतिकूल चित्तवाले जीव पवित्र मुक्ति को अपने से दूर करते हैं, उसी प्रकार दुर्बुद्धि क्षपक दोषों से युक्त आचार्य को निज दोषों को कहता हुआ शुद्धि को अपने से दूर करता है। **(म.क. ६३२-३३)**

जैसे कोई रक्त से भरा वस्त्र रक्त से ही धोने लग जाय तो वह कभी विशुद्ध नहीं होगा, अशुद्ध ही रहेगा उसी तरह यह आलोचना-शुद्धि दोष को दूर नहीं करती। रक्त से उलटा पदार्थ पानी है, वह स्वयं स्वच्छ है अतः रक्त से भरे वस्त्र को वह स्वच्छ करता है अथवा वस्त्र को लगा हुआ कीचड़ धो डालता है परन्तु रक्त रक्त से लिप्त हुए वस्त्र को कभी भी शुद्ध नहीं कर सकेगा उसी तरह अशुद्ध रत्नत्रय वाला पार्श्वस्थ मुनि अशुद्ध रत्नत्रय वाले मुनि के अतिचारों का निराकरण करने में समर्थ नहीं होता। **(भ.आ. ६०६)**

जैसे जिन भगवान के वचनों का लोप करने वालों और दुष्कर पाप करने वालों का मुक्तिगमन अति दुष्कर है उसी प्रकार पार्श्वस्थ मुनि से दोषों को कहने वालों की शुद्धि अतिदुष्कर है। **(भ.आ. ६०७)**

३८. प्रश्न : आलोचना नहीं करने से क्या हानि है ?

उत्तर : आलोचना के बिना महान् तपस्या भी अभिप्रेत (इच्छित फल) को छेदने वाली नहीं होती, जैसे विरेचन से शरीर की मलशुद्धि किये बिना खाई गयी औषधि लाभकारी नहीं होती है। आलोचना करके भी यदि जो गुरु के द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं करता है तो वह बिना संवारे (आस-पास के घास को उखाड़कर जिस क्षेत्र की शुद्धि नहीं की गई है) धान्य के समान महा फलदायक नहीं हो

सकता है। **(रा.वा. २)** लज्जा और पर-तिरस्कार के कारण अतिचारों का निवेदन करके भी यदि उनका संशोधन नहीं किया जाता है तो अपनी आय-व्यय का हिसाब न रखने वाले कर्जदार के समान साधक को दु:ख का पात्र होना पड़ता है। **(रा.वा. २)**

जिस प्रकार मलिन दर्पण अपना कुछ काम नहीं कर सकता, उसमें मुख नहीं दिख सकता उसी प्रकार महातपश्चरण और महाव्रत भी बिना आलोचना के अपना कुछ भी काम नहीं कर सकते अर्थात् कर्मों का संवर वा निर्जरा नहीं हो सकती। **(मू. प्र. १८६४)**

३९. प्रश्न : आलोचना करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : आलोचना युक्त चित्त से किया गया प्रायश्चित्त माँजे हुए दर्पण में स्थित रूप के समान निखर उठता है। **(रा.वा. २)**

निष्कपट भाव से आलोचना करने वाले साधु के न तो आलोचना के दस दोष लगते हैं और न उनके अन्य किन्हीं दोषों की उत्पत्ति की सम्भावना है। **(रा.वा. २)** गुरु के सामने चारित्राचार पूर्वक दोषों की आलोचना कर देने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र रूप आराधना सिद्ध होती है।

जिस प्रकार आम (एक प्रकार का उदर का मल जिसे आँव कहते हैं) सहित शरीर में प्राप्त औषध रोग को नष्ट नहीं करती उसी प्रकार जो तप आलोचना से शुद्ध नहीं है वह पापों का नाश नहीं कर सकता है। **(आ.सा. ६/३८)** जो मुनि दस दोषों को छोड़कर बालक के समान सरल स्वभाव से अपने दोषों को कह देते हैं उन्हीं की आलोचना से उनके सब व्रत शुद्ध हो जाते हैं। **(मू.प्र. १८६३)**

४०. प्रश्न : प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : दिन वा रात के व्रतों में जो अतिचार लगे हों, उनको मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक निन्दा-गर्हा आदि के द्वारा शुद्ध करना प्रतिक्रमण है। **(मू.प्र. १८७०)**

रात्रि भोजन त्याग सहित पाँच महाव्रतों का उच्चारण करना, सम्यक् प्रकार से उनको भाना अथवा दिवस और पाक्षिक सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण है। **(मू. ३६२ आ.)** कोई मुनि अकेले हों और उनसे कोई चारित्र में थोड़ा सा दोष लग जावे तो उनका 'मेरा अपराध मिथ्या हो' इत्यादि शब्दों के द्वारा अपने आप कहना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। **(आ.सा. ६/४१)** कर्मवश या प्रमाद से लगे हुए दोष 'हे प्रभो! तेरे प्रसाद से मिथ्या होवें' इस प्रकार सरल हृदय से वचनों का उच्चारण करना प्रतिक्रमण है। अथवा गुरु के समीप अपने दोषों का उच्चारण करके कहना कि मेरा दोष मिथ्या होवे, यह प्रतिक्रमण है। **(रा.वा.३)**

४१. प्रश्न : तदुभय प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्रतादिकों के कितने ही दोष आलोचना से नष्ट होते हैं और दु:स्वप्न आदि से उत्पन्न होने वाले कितने ही दोष प्रतिक्रमण से नष्ट होते हैं। यही समझकर पाक्षिक-चातुर्मासिक-वार्षिक दोषों को दूर करने के लिए वचन पूर्वक जो आलोचना सहित प्रतिक्रमण किया जाता है उसको तदुभय कहते हैं। **(मू.प्र.**

१८७१-७२)

कुछ कर्म आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाते हैं, कुछ कर्म प्रतिक्रमण से शुद्ध होते हैं और कुछ कर्म आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से शुद्ध होते हैं। अत: उभय हैं। **(रा.वा. ४)** दुष्ट स्वप्न और दुष्ट चिन्ता आदि महान् दोष होने पर मुनि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करते हैं, यह तदुभय नाम का प्रायश्चित्त है। **(आ.सा. ६/४२)**

४२. प्रश्न : उभय प्रायश्चित्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि आलोचना नहीं करने वाले के कोई प्रायश्चित्त नहीं है, ऐसा कहा, यहाँ कहते हैं कि प्रतिक्रमण मात्र से भी शुद्धि होती है, अत: ये दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं ?

उत्तर : यद्यपि सभी प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक ही होते हैं तथापि जो गुरु को कहकर गुरु की आज्ञा से शिष्य प्रतिक्रमण करता है वह प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक होता है, क्योंकि वह गुरु के समक्ष अपनी गर्हा-निन्दा रूप आलोचना करता हुआ प्रतिक्रमण करता है व गुरु की आज्ञा से शिष्य के द्वारा किया जाता है अत: शिष्य के द्वारा दोनों किये जाते हैं और जहाँ केवल प्रतिक्रमण से दोषशुद्धि होती है, वहाँ वह स्वयं गुरु के द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि गुरु स्वयं किसी अन्य साधु के समक्ष आलोचना नहीं करता है। **(रा.वा. ४)**

४३. प्रश्न : विवेक प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य, क्षेत्र, अन्न, पान, उपकरण आदि के दोषों से शुद्ध हृदय से अलग रहना विवेक है। यह विवेक अनेक प्रकार का है। अथवा-भूल से, त्याग की हुई वस्तु का ग्रहण हो जाय और स्मरण हो आने पर उसका त्याग कर दिया जाय उसको विवेक कहते हैं। **(मू.प्र. १८७३-७४)** इसके लिए दोषी मुनि को निर्दोष मुनियों के साथ चर्या के लिए जाने की अनुमति नहीं दी जाती है। उसे पीछी-कमण्डलु पृथक् रखने के लिए कहा जाता है। अन्य मुनियों के आहार के पश्चात् ही आहार की अनुमति दी जाती है। **(हरि.पु. ६४/३५)** यदि कोई मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के आश्रय से होने वाले दोषो को छोड़ने में समर्थ नहीं है तो उनसे उस द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का त्याग करा देना विवेक प्रायश्चित्त है अथवा- प्रमाद से कभी अप्रासुक वस्तु का या छोड़ी हुई प्रासुक वस्तु का सेवन हो जाय तो स्मरण कर उसका पुन: त्याग कर देना विवेक प्रायश्चित्त है। **(आ. सा. ६/४३-४४)** प्राप्त वा जिसमें अत्यन्त आसक्ति है ऐसे संसक्त अन्न-पानादि और उपकरण आदि का त्याग करना विवेक है। अथवा, जिस वस्तु के न खाने का नियम है, वह वस्तु भाजन में वा मुख में आ जाने पर अथवा जिन वस्तुओं के ग्रहण करने में कषायादि उत्पन्न होते हैं उन वस्तुओं का त्याग कर देना विवेक प्रायश्चित्त है। **(रा.वा. ५)**

४४. प्रश्न : विवेक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : विवेक पाँच प्रकार का है-

(१) भक्त पान विवेक (२) शरीर विवेक (३) कषाय विवेक (४) इन्द्रिय विवेक (४) उपधि

विवेक। पुन: यह विवेकके द्रव्य विवेक और भाव विवेक ऐसे दो प्रकार हैं। **अथवा -** (१) शय्या संस्तर विवेक (२) उपधि विवेक (३) वैयावृत्य करण विवेक (४) आहार पान विवेक (५) शरीर विवेक। **(म.क. १७५-७६)**

(१) इन्द्रिय विवेक (२) कषाय विवेक (३) उपधि विवेक (४) भक्तपान विवेक (५) देह का विवेक। **(भ.आ. १७०)**

(१) शरीर विवेक (२) वसति-संस्तर विवेक (३) उपधि विवेक (४) भक्तपान विवेक (५) वैयावृत्य करने वालों का विवेक। ये सभी द्रव्य और भावरूप होते है। **(भ.आ. १७०-१७१)**

नोट - इनके भेद-प्रभेद भगवती आराधना में देखना चाहिए।

४५. प्रश्न : व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : काल का नियम करके कायोत्सर्गादि करना व्युत्सर्ग है। **(रा.वा. ६)** अन्तर्मुहूर्त आदि काल तक शरीर से ममत्व भाव छोड़ना तथा पञ्च परमेष्ठी आदि का ध्यान करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। यह मल मूत्रादि छोड़ने तथा नदी आदि से पार होने के बाद किया जाता है। **(आ.सा. ६/४५)**

अशुभ चिन्तन, आर्त्तध्यान, दु:स्वप्न, दुर्ध्यान आदि से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिए अथवा मार्ग में चलना, नदी में पार होना तथा और भी ऐसे ही ऐसे कामों से उत्पन्न हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिए उत्तम ध्यान को धारण कर जो युक्तिपूर्वक शरीर के ममत्व का त्याग करता है वह श्रेष्ठ कायोत्सर्ग है। **(मू.प्र. १८७५-७६)**

४६. प्रश्न : तप प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्रतों के अतिचारों को दूर करने के लिए उपवास करना, आचाम्ल करना, निर्विकृति करना अथवा एकासन करना आदि तप कहलाता है। **(मू.प्र.१८७७)**

व्यसन आदि कारणों से व्रत में अतिचार लगने पर जो उपवास तथा एकस्थान आदि किया जाता है वह तप नाम का प्रायश्चित्त है। **(आ.सा. ६/४६)**

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान आदि को तप नाम का प्रायश्चित्त जानना चाहिए। **(रा.वा.७)**

४७. प्रश्न : छेद प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : कल्याणाकांक्षी चिर काल के दीक्षित मुनि ने यदि अभिमान वश संयम में कोई दोष लगाया है तो एक दिन को आदि लेकर किसी निश्चित समय तक उनके तप के काल को कम कर दिया जाता है वह छेद प्रायश्चित्त है। **(आ.सा. ६/४७)**

चिरकाल से दीक्षित साधु का अमुक दिन, पक्ष और माह आदि की दीक्षा छेद करना छेद प्रायश्चित्त

है। **(रा.वा. ८)**

यदि कोई मुनि चिरकाल का दीक्षित हो वा शूरवीर हो वा अभिमानी हो और वह अपने व्रतों में दोष लगावे तो उसको एक महीना, दो माह, एक वर्ष, दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देना और उसको उससे छोटे मुनियों से भी नीचे कर देना छेद नाम का प्रायश्चित है। **(मू.प्र. १८८०-८१)**

४८. प्रश्न : परिहार प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी दोष के हो जाने पर चिर प्रव्रजित साधु को पक्ष, माह आदि काल के विभाग से संघ से दूर कर देना, उसका संसर्ग नहीं करना परिहार नामक प्रायश्चित्त है। **(रा.वा.९)**

परिहार प्रायश्चित्त के दो भेद हैं-

(१) अनुपस्थापन (२) पारंचिक।

अनुपस्थापन के दो भेद हैं-

(१) स्वगण अनुपस्थापन (२) परगण अनुपस्थापन। **(मू.प्र. १८८३-८४)**

नोट - इनका विशेष वर्णन मूलाचार आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

४९. प्रश्न : उपस्थापन प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : चिरप्रव्रजित साधुओं के महाव्रतों का मूलोच्छेद करके पुन: दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है। **(रा.वा. १०)**

५०. प्रश्न : दर्शन या श्रद्धान प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में प्रकट हुए मिथ्यात्व को प्राप्त होकर जो मुनि महाव्रतियों के साथ रहता है, उसे जो पुन: तत्त्वश्रद्धान कराया जाता है वह दर्शन नामक प्रायश्चित्त है। **(आ.सा. ६/६५)**

मिथ्यादृष्टियों के उपदेशादिक से जिसने मिथ्यात्व को धारण कर लिया है वह यदि अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिए तत्त्वों में वा देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धान कर लेता है उसको उत्तम श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त कहते हैं। **(मू.प्र. १९०४)**

५१. प्रश्न : प्रायश्चित्त तप करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इस प्रायश्चित्त को धारण करने से मन शल्य रहित हो जाता है, सम्यग्दर्शनज्ञानादिक गुणों के समूह सब निर्मल हो जाते हैं, चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाता है, वे मुनि संघ में माननीय माने जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उनका मरण शल्य रहित सर्वोत्तम होता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त धारण करने से सज्जनों को बहुत से गुण प्रकट हो जाते हैं। **(मू.प्र. १९०८-९)**

५२. प्रश्न : प्रायश्चित्त तप के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर : आकंपित, अनुमापित आदि दोष इस तप के अतिचार हैं। ये अतिचार होने पर इसके विषय में मन में ग्लानि न करना, अज्ञान से, प्रमाद से, तीव्र कर्म के उदय से और आलस्य से मैंने यह अशुभकर्म का बन्ध करने वाला कर्म किया है, मैंने यह दुष्ट कर्म किया है, ऐसा उच्चारण न करना प्रतिक्रमण के अतिचार है। आलोचना और प्रतिक्रमण के अतिचार को उभय अतिचार कहते हैं, परिणामों के द्वारा विवेक न होना यह विवेक का अतिचार है, शरीर पर से ममता हटाना व्युत्सर्ग तप है, परन्तु ममत्व दूर नहीं करना यह व्युत्सर्ग तप का अतिचार है। अशुभ ध्यान में परिणमन होना और कायोत्सर्ग के दोष ये तप के अतिचारों में कहे हैं। मैं न्यून हो गया हूँ ऐसा मन में संक्लेश करना यह छेद प्रायश्चित्त का अतिचार है, रत्नत्रय को भावपूर्वक ग्रहण न करना यह मूल प्रायश्चित्त का अतिचार है। **(भ.आ. ४८९ वि.)**

विनय तप के भेद

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारा: ॥२३॥

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-उपचारा:।

अर्थ - ज्ञानविनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय ये विनय के चार भेद हैं।

ज्ञानविनय - बहुमान सहित ज्ञान को ग्रहण करना, ज्ञान का अभ्यास करना, स्मरण करना आदि ज्ञान विनय है।

दर्शन विनय - पदार्थों के श्रद्धान में नि:शंकित्वादि लक्षण से युक्त होना ज्ञान विनय है।

चारित्र विनय - सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त पुरुषों का सम्यक्चारित्र में समाहित चित्त होना चारित्र विनय है।

उपचार विनय - पूज्य आचार्यादि को सामने देखकर खड़े होना आदि आत्मानुरूप आचरण उपचार विनय है।

१. प्रश्न : विनय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : विनय तप चार प्रकार का है-

(१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय (३) चारित्र विनय (४) उपचार विनय। **(रा.वा.१)**

अथवा - विनय पाँच प्रकार का है-

(१) दर्शन विनय (२) ज्ञान विनय (३) चारित्र विनय (४) तप विनय (५) उपचार विनय। **(मू.प्र. १९१३)**

२. प्रश्न : ज्ञान विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : आलस्य रहित होकर देश-कालादि की विशुद्धि के ज्ञाता तथा शुद्ध मन वाले साधु के द्वारा बहुमान पूर्वक यथाशक्ति मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान का ग्रहण, अभ्यास, स्मरण, चिन्तन आदि करना ज्ञानविनय है। **(रा.वा. २)**

विनय के साथ एवं कालाचार आदि आचारों के साथ समस्त अंगों और पूर्वों की पूजा करना, मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक अंग-पूर्वों को शुद्ध पढ़ना, अन्य योगियों को पढ़ाना, उनका चिन्तन करना, हृदय में बार-बार विचार करना, उनकी प्रसिद्धि करना, प्रशंसा करना, लोक में निरन्तर उनका प्रचार करना, ज्ञानी पुरुषों की भक्ति और सम्मान करना, ज्ञानादिक गुणों का उपदेश देना तथा और भी श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करना ज्ञान विनय कहलाता है। **(मू.प्र. १९१९-२२)** ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि में तथा ज्ञानवंत पुरुष में भक्ति के साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है वह ज्ञान विनय है। **(वसु. श्रा. ३२२)**

३. प्रश्न : ज्ञान विनय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : ज्ञान विनय आठ प्रकार का है-

(१) कालाचार (२) विनयाचार (३) उपधानाचार (४) बहुमानाचार (५) अनिह्नवाचार (६) व्यंजनाचार (७) अर्थाचार (८) तदुभयाचार। **(भ.आ. ११२)**

४. प्रश्न : कालाचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन फेरना काल विनय है। **(मू. ३६७)**

सदोष कालों को छोड़कर श्रेष्ठ स्वाध्याय करना चाहिए तथा आगम का पाठ आदि भी शुभ काल में ही करना चाहिए। **(मू.प्र. १६३१)**

५. प्रश्न : विनयाचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुनिजन जो पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वीरासन आदि में से एक आसन लगाकर हाथों को शुद्धकर, सिद्धान्त सूत्रोंको ही नमस्कार कर तथा उन्हीं को हृदय में विराजमान कर मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक जो सूत्र वा सूत्र के अर्थ को पढ़ते हैं उसको ज्ञान का विनय अथवा विनयाचार कहते हैं। **(मू.प्र. १६६२-६३)**

द्वादशांग आदि ग्रन्थों का हाथ-पैर धोकर पर्यंकासन से बैठकर अध्ययन करना विनय शुद्धि नाम का ज्ञानविनय है। **(मू. ३६७ आ.)**

६. प्रश्न : उपधानाचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : शास्त्रज्ञान की उत्कट इच्छा रखने वाले मुनि ग्रन्थ की समाप्ति तक केवल भात मिला मांड खाने का, निर्विकृति आहार ग्रहण करने का वा पक्वान्न रस को त्याग करने का जो नियम लेते हैं और ऐसा नियम लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए आग्रह पूर्वक जो सिद्धान्तों का पठन-पाठन करते हैं उसको ज्ञान का उपधान नाम का आचार कहते हैं। **(मू.प्र. १६६४-६५)** चित्त की स्थिरतापूर्वक स्वाध्याय करना उपधानाचार है। **(हरि.पु.६४/३८)**

उपधान, अवग्रह, नियम विशेष करके पठन आदि करना उपधानाचार है। यहाँ भी साहचर्य से इसे

ही उपधान आचार कह दिया है। **(मू. २६९ आ.)**

वस्तुओं का प्रमाण अथवा अवग्रह आदि करना उपधानाचार है। **(आ.सा. ६/७२)**

उपधान का अर्थ अवग्रह है। जब तक आगम का यह अनुयोग द्वार समाप्त नहीं होता तब तक मैं अमुक वस्तु नहीं खाऊँगा। या यह अनशन या चतुर्थ अथवा षष्ठम उपवास करूंगा, इस प्रकार का संकल्प अवग्रह है। वह भी कर्म को दूर करता है, अत: विनय है। **(भ.आ. ११२ वि.)**

७. प्रश्न : बहुमानाचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूजा-सत्कार आदि के द्वारा पठन आदि करना बहुमान आचार है। **(मू. २६९ आ.)** जो ग्रन्थ पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं उस पुस्तक और उन गुरु इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुमानाचार है। **(मू. ३६७ आ.)** अंग पूर्व और अन्य शास्त्रों का सूत्र, अर्थ जैसा है उसी प्रकार जो वाणी से उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार दूसरों के लिए प्रतिपादन करते हैं; यह सब पठन-पाठन केवल कर्मों के क्षय के लिए करते हैं तथा अभिमान से आचार्य, शास्त्र आदि और किसी योगी का कभी तिरस्कार नहीं करते उसको बहुमानाचार कहते हैं। **(मू.प्र. १६६६-६७)**

८. प्रश्न : अनिह्नवाचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : कोई अभिमानी पुरुष किसी उत्तम शास्त्र को किसी सामान्य मुनि से पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक महा-ऋषि से पढ़ा है। **अथवा** किसी उत्तम शास्त्र को किसी निर्ग्रन्थ मुनि के समीप पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक मिथ्या साधु से, कुलिंगी से पढ़ा है। **अथवा** पढ़े हुए शास्त्र के लिए यह कहे कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है, अथवा नहीं सुना है अथवा मैं इसको नहीं जानता, इस प्रकार जो मूर्ख लोग कहते हैं उसको निह्नव कहते हैं। इस निह्न व दोष का त्याग कर आचार्य आदि योगियों की, गुरु की, उपाध्याय की, शास्त्रों की और सुनने वा पढ़ने की प्रसिद्धि करना लोक में आचार्य, गुरु, उपाध्याय आदि के गुण प्रकाशित करना मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों के अनिह्नवाचार कहलाता है। **(मू.प्र. १६६८-७२)** जिस ग्रन्थ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते हैं उनका नाम कीर्त्तित करना अनिह्नवाचार है। **(मू. ३६७ आ.)**

९. प्रश्न : व्यंजनाचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : चतुर पुरुष गुरु के उपदेश के अनुसार जो अक्षर और स्वर मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करते हैं उसको व्यञ्जनाचार कहते हैं। **(मू.प्र. १६७३)**

वर्ण, पद और वाक्य की शुद्धि अपनी व्याकरण के उपदेश से वैसा ही शुद्ध पाठ आदि करना व्यंजनाचार है। **(मू. २६९ आ.)** गणधर आदि ने जैसे ३२ दोषों से रहित सूत्र रचे हैं उनका वैसा ही पाठ करना व्यंजन शुद्धि है। **(भ. आ. ११२ टी.)**

१०. प्रश्न : अर्थाचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : अर्थ से अत्यन्त सुशोभित शास्त्रों का शुद्ध अर्थ पढ़ना और शुद्ध अर्थ पढ़ाना ज्ञान का

अर्थाचार कहलाता है। **(मू.प्र. १६७४)**

जो जिनागम का शब्द- अर्थ दोनों से विशुद्ध अध्ययन करता है उसको विद्वान् लोग ज्ञान का महान् उभयाचार कहते हैं। **(मू.प्र. १६७५)**

११. प्रश्न : व्यंजन शुद्धि और अर्थ शुद्धि में ही तदुभय शुद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है अत: इसका अलग कथन नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यहाँ पुरुष भेदों की अपेक्षा से निरूपण किया गया है। जैसे- कोई पुरुष सूत्र का अर्थ तो ठीक कहता है परन्तु सूत्र को विपरीत पढ़ता है, ठीक नहीं पढ़ता (दीर्घोच्चार के स्थान में ह्रस्वोच्चार आदि दोषयुक्त बोलता है) ऐसा नहीं करना चाहिए इसलिए व्यंजन शुद्धि कही है। दूसरा कोई पुरुष सूत्र को ठीक पढ़ लेता है परन्तु सूत्रार्थ का विपरीत निरूपण करता है यह भी योग्य नहीं है इसका निराकरण करने के लिए अर्थशुद्धि कही है। कोई सूत्र भी विपरीत पढ़ता है और उसका अर्थ भी विपरीत कहता है। इन दोनों दोषों को दूर करने के लिए तदुभय शुद्धि को कहा है। **(भ.आ.वि. ११२)**

१२. प्रश्न : विनयादि पूर्वक स्वाध्याय करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : आठ प्रकार के ज्ञानाचार के साथ-साथ जो जिनागम का अध्ययन किया जाता है उससे इसी लोक में पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है, तथा उसे शीघ्र ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। जो जिनागम विनयादिक के साथ अध्ययन किया गया है तथा प्रमाद के कारण वह भूला जा चुका है तो भी उसके प्रभाव से परलोक में उसको केवलज्ञान प्रकट हो जाता है, इन आठ प्रकार के आचारों के साथ पढ़ा हुआ ज्ञान मुनियों के अनन्त कर्मों का नाश कर देता है यदि वही ज्ञान आठों प्रकार के आचारों के साथ न पढ़ा हो तो फिर उससे कर्मों का बन्ध ही होता है। **(मू.प्र. १६७६-७९)**

१३. प्रश्न : ज्ञानाचार एवं ज्ञान विनय में क्या अन्तर है ?

उत्तर : काल शुद्धि आदि विषय अनुष्ठान में प्रयत्न करना काल आदि विनय है तथा द्रव्य-क्षेत्र और भाव आदि के विषय में प्रयत्न करना यह सब ज्ञानाचार है। काल शुद्धि आदि के होने पर श्रुत के पढ़ने का प्रयत्न करना ज्ञान विनय है और श्रुत के उपकरणों में ग्रन्थ, उपाध्याय आदि में प्रयत्न करना श्रुतविनय है। **(मू. ३६९ आ.)**

१४. प्रश्न : दर्शन विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : भगवान जिनेन्द्रदेव ने जो तत्त्व बताये हैं तथा जिस प्रकार बताये हैं वे ही तत्त्व यथार्थ तत्त्व हैं तथा वे उसी प्रकार हैं अन्यथा नहीं हैं। क्योंकि जिनेन्द्र देव वीतराग और सर्वज्ञ हैं। इसलिए वे असत्यवादी कभी नहीं हो सकते। इस प्रकार युक्ति और विचार पूर्वक तत्त्वादिकों में अचल श्रद्धान करना, समस्त जैन शास्त्रों में श्रद्धान करना; देव, गुरु, धर्म में अचल श्रद्धान करना, नि:शंकित आदि समस्त अंगों का पालन करना, सूक्ष्म तत्त्वों का विचार करते समय समस्त शंकादिक दोषों का त्याग कर देना; देव, शास्त्रगुरु में

और धर्म में अत्यन्त दृढ़ भक्ति धारण करना, सम्यग्दृष्टि पुरुषों में, मोक्ष के मार्ग में तथा जिनधर्म में गाढ़ रुचि वा प्रेम धारण करना तथा इसी प्रकार के और भी जो शुभाचार धारण करना है उसको दर्शन विनय कहते हैं। **(मू.प्र. १९१४-१८)**

जिनेन्द्र भगवान ने सामायिक आदि से लेकर लोकबिन्दुसार पर्यन्त श्रुतरूपी महा-समुद्र में जिन पदार्थों का जैसा उपदेश दिया है उनका उसी रूप से श्रद्धान करना, किसी भी विषय में शंका नहीं करना तथा सम्यग्दर्शन के निशंकितादि गुणों को धारण करना दर्शन विनय है। **(रा.वा. ३)**

उपगूहन या उपवृंहण आदि तथा भक्ति आदि गुण; शंका आदि का त्याग यह सम्यक्त्व विनय है। **(भ.आ. ११३)** अरहंत, सिद्ध और प्रतिबिम्बों में, श्रुत में, धर्म में और साधु वर्ग में, आचार्य में, उपाध्याय में और सुप्रवचन में, दर्शन में भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवाद का नाश करना तथा आसादना का दूर करना संक्षेप से दर्शन विनय है। **(भ.आ. ४५-४६)**

वर्णजनन - विद्वानों की सभा में अर्हन्त आदि का यश फैलाना, दूसरे असर्वज्ञों की प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से विरुद्धता दिखाकर उनके वचनों के संवादि होने से महत्ता का ख्यापन करना अर्हन्तों का वर्णजनन है। **(भ.आ.४६ टी.)**

१५. प्रश्न : दर्शनाचार एवं दर्शन विनय में क्या अन्तर है ?

उत्तर : शंकादि परिणामों के परिहार में प्रयत्न करना और उपगूहन आदि गुणों के अनुष्ठान में प्रयत्न करना दर्शन विनय है। पुन: शंकादि के अभावपूर्वक तत्त्वों के श्रद्धान में यत्न करना दर्शनाचार है। **(मू. ३६८ आ.)**

१६. प्रश्न : चारित्र विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों का सर्वथा त्याग कर देना, प्रमादों का सर्वथा त्याग कर देना, व्रत-समिति, गुप्ति आदि के पालन करने में प्रतिदिन प्रयत्न करना, महातपस्वियों के अद्भुत आचरणों को सुनकर उनके लिए भक्तिपूर्वक हाथ जोड़ना चारित्र पालन करने वालों को भक्तिपूर्वक प्रणाम करना तथा इसी प्रकार और भी संसार में चारित्र के माहात्म्य को प्रकट करना चारित्र विनय कहलाता है। **(मू.प्र. १९२३-२५)**

सम्यग्ज्ञानवन्त और सम्यग्दृष्टि पुरुषों के पाँच प्रकार के दुश्चर चारित्रों का वर्णन सुनकर रोमाः आदि के द्वारा अन्तर्भक्ति प्रकट करना, मस्तक पर अंजुलि रखकर प्रणाम करना आदि क्रियाओं के द्वारा आदर करना और भावपूर्वक चारित्र का अनुष्ठान करना चारित्र विनय जानना चाहिए। **(रा.वा. ४)**

चारित्र के धारक पुरुषों में भक्ति होना, अन्य मुनियों के चारित्र की निन्दा नहीं करना और परीषहों के जीतने आदि में उद्यम करना मुनि का चारित्र विनय कहलाता है। **(आ.सा. ६/७६)**

१७. प्रश्न : तपो विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : आतापन आदि श्रेष्ठ योगों में सर्वोत्कृष्ट उत्तरगुणों में तथा बारह प्रकार के घोर दुर्धर और कठिन तपश्चरण में श्रद्धा करना, उत्साह धारण करना, अनुराग करना तथा बहुत बड़ी आकांक्षा करना, महातपस्वियों को प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, छहों आवश्यकों का पालन करना, हृदय के समस्त क्लेशों का त्याग कर देना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पालन करने के लिए अपनी शक्ति को प्रकट करना, पाँचों इन्द्रियों को जीतना तथा इसी प्रकार तपश्चरण के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा और तपश्चरण से उत्पन्न हुई ऋद्धियों की प्रशंसा करना तपोविनय है। **(मू.प्र. १९२६-२९)**

उत्तरगुणों में उत्साह-आतापन आदि उत्तरगुणों में उद्यम-उत्साह रखना, उनके करने में जो श्रम होता है। उसको निराकुलता से सहन करना, उनका अच्छी तरह अभ्यास करना, उन उत्तर गुणों को करने वाले के प्रति श्रद्धा-शुभ भाव रखना। समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। ये उचित हैं, कर्मक्षय के लिए निमित्त हैं। ये परिमित हैं, इनकी हानि और वृद्धि नहीं करना तपोविनय है। तपोधिक साधु में और तप में भक्ति रखना तथा और दूसरे मुनियों की अवहेलना नहीं करना, आगम में कथित चारित्र वाले साधु का यह तपोविनय है। **(मू. ३७०-७१ आ.)**

१८. प्रश्न : उपचार विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूज्य पुरुषों के उप अर्थात् समीप में जाकर जो यथायोग्य उपचार-सेवा आदि की जाती है, वह उपचार विनय है। **(आ.सा. ६/७७)**

पूजनीय आचार्यादि को सामने देखकर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना, अंजुलि जोड़ना, उनकी वन्दना करना, उनकी आज्ञा में चलना आदि आत्मानुरूप आचरण उपचार विनय है। **(रा.वा.५)**

जैसे - सेवक राजा के अनुकूल प्रवृत्ति करता है वैसे ही रत्नत्रय धारक मुनियों के अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना उपचार विनय है। **(का.अ. ४५८)**

१९. प्रश्न : उपचार विनय कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : औपचारिक विनय तीन प्रकार का होता है -

(१) कायिक विनय (२) वाचिक विनय (३) मानसिक विनय। **(मू. ३७२)**

२०. प्रश्न : कायिक विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : केशलोच से मुण्डित हुए अत: जो मुण्डित कहलाते हैं ऐसे मुनियों के लिए उठकर खड़े होना, भक्ति पाठ पूर्वक वन्दना करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, आते हुए के सामने जाना और प्रस्थान करते हुए के पीछे-पीछे चलना, गुरुओं से नीचे खड़े होना, नीचे (पीछे) चलना, नीचे बैठना, नीचे स्थान में सोना, गुरु को आसन देना, उपकरण देना और ठहरने के लिए स्थान देना ये सब कायिक विनय हैं। गुरु के अनुरूप उनके अंग का मर्दनादि करना, उनके अनुरूप और काल के अनुरूप क्रिया करना, आदेश पालन करना, उनके संस्तर लगाना तथा उपकरणों का प्रतिलेखन करना, साधु वर्ग का इसी प्रकार से और

भी जो उपकार यथायोग्य अपने शरीर के द्वारा किया जाता है, यह सब कायिक विनय है। **(मू. ३७३-७६)**

गुरु को देखकर खड़े होना, प्रसन्नतापूर्वक तीनों भक्ति पूर्वक क्रियाकर्म (वन्दना) करना, भक्ति और अनुराग प्रगट करना, सूने मकान वा गुफादिकों को ढूंढकर बताना, ज्ञान के उपकरणों का प्रतिलेखन करना आदि शारीरिक विनय है। **(मू.प्र. १९३२-३७)**

२१. प्रश्न : कायिक विनय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : कायिक विनय दो प्रकार का होता है-

(१) परोक्ष कायिक विनय (२) प्रत्यक्ष कायिक विनय।

अथवा - कायिक विनय सात प्रकार का है -

(१) अभ्युत्थान (२) सन्नति (३) आसनदान (४) अनुप्रदान (५) प्रतिरूपक्रियाकर्म (६) आसनत्याग (७) अनुव्रजन। **(मू. ३८२ आ.)**

(१) अभ्युत्थान (२) प्रणाम (३) आसनदान (४) पुस्तक प्रदान (५) क्रिया-कर्म (६) आसनत्याग (७) अनुव्रजन।

अभ्युत्थान - गुरुओं को सामने आते हुए देखकर आदर से उठकर खड़े हो जाना अभ्युत्थान है।

सन्नति - शिर से प्रणाम करना सन्नति है।

आसनदान - पीठ, काष्ठासन, पाटा आदि देना आसनदान है।

अनुप्रदान - पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण देना अनुप्रदान है।

प्रतिरूपक्रियाकर्म - यथायोग्य श्रुतभक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्ग करके वन्दना करना अथवा गुरुओं के शरीर की प्रकृति के अनुरूप, काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा शुश्रूषा आदि क्रियाएँ करना, जैसे कि शीत काल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि प्रतिरूप क्रियाकर्म है।

आसनत्याग - गुरु के सामने उच्चस्थान पर नहीं बैठना आसनत्याग है।

अनुव्रजन-उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना अनुव्रजन है। **(मू. ३८२) आ.**

२२. प्रश्न : वाचनिक विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूजा के वचन-आप भट्टारक आदि वचन, हित वचन- इस लोक में हितकारवचन, मितवचन बहुत अर्थ वाले अल्प अक्षर, मधुर वचन- कानों को सुखदाई, अनिष्ठुर, सूत्र के अनुकूल और कर्कशता रहित वचन बोलना, कषाय रहित वचन, गृहस्थी सम्बन्ध से रहित (बन्धन, ताड़न आदि के वचन) क्रियारहित (असि मसि आदि क्रिया) और अवहेलना (तिरस्कार) रहित वचन बोलना वाचिक विनय है। **(मू. ३७७-७८)**

गुरु के समीप जाकर पूज्य और मधुर वचनों से आचार्य भगवान, पूज्यपाद, भट्टारक आदि उत्तम नामों से गुरु को सम्बोधन करना, वचन से सदा हित-मित तथा यथार्थ भाषण करना, सदा जैन शास्त्रों के अनुसार भाषण करना, पाप रहित वचन कहना, शांत वचन कहना, मुनियों के योग्य शुभ वचन कहना, सदा ऐसे वचन कहना जो कर्कश न हों, सारभूत हों, स्पष्ट हों कठिन न हों, उत्तम और अनिंद्य हों, इस प्रकार गुरु के समीप वचन कहना सर्वोत्कृष्ट वाचनिक विनय कहलाता है। **(मू.प्र. १९३८-४१)**

२३. प्रश्न : वाचिक विनय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : वाचिक विनय दो प्रकार का होता है-

(१) परोक्ष वाचिक विनय (२) प्रत्यक्ष वाचिक विनय। **अथवा-**

वाचिक विनय चार प्रकार का है-

(१) हित भाषण (२) मित भाषण (३) परिमित भाषण (४) अनुवीचि भाषण।

हितभाषण - धर्म संयुक्त वचन बोलना हित भाषण है।

मित भाषण - जिसमें अक्षर अल्प हों और अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना मित भाषण है।

परिमित भाषण - कारण सहित बोलना अर्थात् बिना प्रयोजन नहीं बोलना परिमित भाषण है।

अनुवीचि भाषण - आगम के अविरुद्ध बोलना अनुवीचि भाषण है। **(मू. ३८३ आ.)**

२४. प्रश्न : मानसिक विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : पापविश्रुत का परित्याग करना और प्रिय तथा हित परिणाम करना मानसिक विनय है।

पापविश्रुत - पाप-हिंसादि पाप, विश्रुत-सम्यक्त्व की विराधना विश्रुत है।

प्रिय - धर्म और उपकारक।

हित - सम्यग्ज्ञानादि। **(मू. ३७९)**

जो परिणाम अशुभ कर्मों के आने के कारण हों, अपने सुख को चाहने वाले हों, अशुभ ध्यान वा राग-द्वेष में लीन हों और सैकड़ों चिन्ताओं से व्याकुल हों ऐसे परिणामों को छोड़कर गुरु के समीप बैठना तथा अपने मन में श्रेष्ठ तत्त्व और वैराग्य की वासना रखना, श्रेष्ठ अर्थ, श्रेष्ठ धर्म और श्रेष्ठ भावनाओं के चिन्तन में ही अपने मन को सदा लगाये रखना, अपने मन को अपने तथा दूसरों के हित में लगाना, अपने मन को अत्यन्त शुद्ध रखना, इस प्रकार गुरु के समीप अपने मन की शुद्धता रखना उत्तम मानसिक विनय है। **(मू.प्र. १९४२-४४)**

२५. प्रश्न : मानसिक विनय कितने प्रकार का है ?

उत्तर : मानसिक विनय दो प्रकार का है-

(१) परोक्ष मानसिक विनय (२) प्रत्यक्ष मानसिक विनय। अथवा-

(१) अशुभ मन को रोकना - जिस मन से पाप कर्मों का आस्रव होता है ऐसे अशुभ मन को रोकना अशुभ मन को रोकना है।

(२) शुभ मन की प्रवृत्ति - अपने मन को धर्मध्यान में लगाना शुभ मन की प्रवृत्ति है। **(मू.प्र. १९५३)**

२६. प्रश्न : प्रत्यक्ष विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : विद्वान् लोग मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक मन, वचन, काय तीनों से जो श्रेष्ठ गुरुओं की प्रत्यक्ष विनय करते हैं उसको प्रत्यक्ष विनय कहते हैं। **(मू.प्र. १९४५)** जब गुरु प्रत्यक्ष में है, चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर है तब उनका विनय प्रत्यक्ष विनय है। **(मू. ३७२ आ.)**

यदि आचार्य आ रहे हों तो उठकर खड़े होना और नमस्कार करना, खड़े हैं तो उनसे नीचे स्थान पर खड़े होना, यदि बैठे हैं तो शयन और उच्चासन छोड़ देना, यदि जाते हैं तो पीछे चलना, यदि बोलते हैं तो अनुकूल वचन बोलना 'आपने बहुत अच्छा किया' इत्यादि तथा मन को प्रसन्न करना अर्थात् सुनकर हृदय में हर्ष का अनुभव करना इत्यादि क्रियाएँ प्रत्यक्ष विनय हैं। **(आ.सा. ६/७८)** आचार्य के विषय में जिस प्रकार प्रत्यक्ष विनय का कथन किया है ऐसा ही उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणधर इन चार प्रकार के मुनियों के विषय में भी जानना चाहिए। **(आ.सा. ६/७९)**

२७. प्रश्न : परोक्ष विनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : गण के स्वामी आचार्य आदि के परोक्ष में उनके ज्ञान-विज्ञान की प्रशंसा करना, नमस्कार करना और उनकी आज्ञा के अनुकूल आचरण करना उत्कृष्ट परोक्ष विनय है। **(आ.सा. ६/८२)** जब गुरु चक्षु आदि से परे दूर हो तब उनकी विनय की जाती है। वह परोक्ष विनय है। **(मू. ३७२ आ.)** गुरुओं के परोक्ष में शरीर से तथा वचन से नित्य ही उनको प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, उनके गुण वर्णन करना, हृदय से उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके श्रेष्ठ गुणों के समूह को अच्छी तरह चिन्तन करना तथा और भी परोक्ष में उनकी विनय करना परोक्ष विनय है। **(मू.प्र. १९४६-४७)**

२८. प्रश्न : विनय किसका करना चाहिए ?

उत्तर : (१) जो मुनि अपने से अधिक काल के दीक्षित हैं, जो महात्मा बहुत अधिक तपस्वी हैं, जो मुनि अधिक श्रुतज्ञान को धारण करते हैं, जो मुनि अधिक गुणों को धारण करते हैं, जो दीक्षा गुरु है, शिक्षा गुरु हैं, श्रुतज्ञान के गुरु हैं, उनके लिए प्रणाम आदि करके मुनियों को प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक सब तरह की विनय करना चाहिए।

(२) जो मुनि दीक्षा से छोटे हैं, जो तपश्चरण में भी अपने से हीन हैं और जो थोड़े से श्रुतज्ञान को धारण करते हैं ऐसे मुनियों के लिए भी श्रेष्ठ मुनियों को यथायोग्य रीति से सदा विनय करते रहना

चाहिए।

(३) इसी प्रकार मुनियों को ज्ञान वा धर्मादिक का उपदेश देकर वा जिनमार्ग में अनुराग कर आर्यिका और श्रावकों का विनय भी यथायोग्य रीति से करते रहना चाहिए। **(मू.प्र. १९५४-५७)**

एक रात्रि से अधिक गुरु-दीक्षागुरु, श्रुतगुरु, तप में अधिक, ऊनरात्रिक-एक रात्रि छोटे, तप में कनिष्ठ, गुणों में और आयु में लघु, आर्यिकाओं में, श्रावकों में प्रमाद रहित हुए साधु को अपने तप के (अपने व्रतों के) अनुरूप ही प्रासुक द्रव्यादि के द्वारा अपनी शक्ति से सबका विनय करना चाहिए। **(मू. ३८४ आ.)**

२९. प्रश्न : विनय करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : विनय करने से लाभ-

(१) विनयवान के विद्या, विवेक, कुशलता आदि अनेक उत्तम गुण बिना परिश्रम के आ जाते हैं।

(२) विनय से समस्त पदार्थों को जानने वाली सर्वोत्कृष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है।

(३) विनयवान को अपने संघ में आदर-सत्कार, बड़प्पन और कीर्ति मिलती है।

(४) सब लोग उनकी स्तुति करते हैं।

(५) विनय से शुद्ध तपश्चरण और शुद्ध रत्नत्रय प्राप्त होता है।

(६) विनय से मैत्री, प्रमोद आदि गुण प्रगट होते हैं तथा क्षमादि गुण प्राप्त होते हैं।

(७) विनय से आराधनाओं की प्राप्ति होती है।

(८) विनय से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और उनके उपसर्ग नष्ट हो जाते हैं।

(९) विनय से तीन लोक की लक्ष्मी प्राप्त होती है और मुक्ति लक्ष्मी उसका आलिंगन करती है। **(मू.प्र. १९६१-६७)**

विनय से आचार, जीत,कल्प आदि गुणों का उद्योतन होता है तथा आत्मशुद्धि, निर्द्वन्द्वता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आह्लाद गुण प्रकट होते हैं। **(मू. ३८७)** कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन, गुरुजनों में बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं। **(मू. ३८८)**

३०. प्रश्न : विनय नहीं करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो पुरुष विनय रहित हैं उनकी समस्त शिक्षा निरर्थक समझना चाहिए तथा उनका शास्त्रादिक का पढना भी व्यर्थ समझना चाहिए। अविनयी पुरुष की अपकीर्ति हमेशा बढ़ती रहती है। **(मू.प्र.१९५९)**

विनय से रहित साधु की सब शिक्षा निष्फल होती है। शिक्षा का फल विनय है। विनय का फल

सब कल्याण है। **(भ.आ. १३०)**

वैयावृत्य तप के भेद

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुल संघ साधु मनोज्ञानाम् ॥२४॥

आचार्य-उपाध्याय-तपस्वी-शैक्ष-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम्।

अर्थ - आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी सेवा करना वैयावृत्त्य है।

आचार्य - जिनके निमित्त से (शिष्य) व्रत का आचरण करते हैं वह आचार्य है।

उपाध्याय - मोक्ष के लिए पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते है वे उपाध्याय हैं।

तपस्वी - महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वाला तपस्वी है।

शैक्ष - शिक्षाशील शैक्ष कहलाते हैं।

ग्लान - रोग से क्लान्त शरीर वाला ग्लान है।

गण - स्थविरों की सन्तति को गण कहते हैं।

कुल - दीक्षकाचार्य के शिष्य समुदाय को कुल कहते हैं।

संघ - चार वर्ण के श्रमणों के समुदाय को संघ कहते हैं।

साधु - चिरकाल से प्रव्रजित को साधु कहते हैं।

मनोज्ञ - लोक सम्मत साधु मनोज्ञ कहलाता है। **(सर्वा. ८६६)**

१. **प्रश्न : वैयावृत्य तप कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : वैयावृत्य तप दस प्रकार का होता है-

(१) गुणाधिकों में (२) उपाध्यायों में (३) तपस्वियों में (४) शिष्यों में (५) दुर्बलों में (६) साधुओं में (७) गण में (८) साधुओं के कुल में (९) चतुर्विध संघ में (१०) मनोज्ञ में, इन दस में उपद्रव आने पर वैयावृत्य करना चाहिए। **(मू.आ. ३९०)**

(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) तपस्वी (४) शैक्ष (५) ग्लान (६) गण (७) कुल (८) संघ (९) साधु (१०) मनोज्ञ। **(त.सू. ९/२४)**

(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) प्रवर्त्तक (५) गणधर (६) बाल (७) वृद्ध से सहित गच्छ की वैयावृत्य करना चाहिए।

बाल - नवदीक्षित बाल है।

वृद्ध - वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, गुणवृद्ध वृद्ध है।

गच्छ - सात पुरुष की परम्परा गच्छ है। **(मू.आ. ३८९)**

२. प्रश्न : आचार्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुनियों के दीक्षा गुरु और उपदेश दाता स्वयं आचरण शील होते हुए अन्य मुनियों को आचार पालन कराने वाले मुनि आचार्य हैं। ये कमल के समान निर्लिप्त, तेजस्वी, शान्तिप्रदाता, निश्चल गम्भीर और नि:संग होते हैं। **(प.पु.)** जिन सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि गुणों के आधारभूत महापुरुष से भव्यजीव स्वर्ग-मोक्ष रूप अमृत के बीजभूत व्रतों को ग्रहण कर अपने हित के लिए आचरण करते हैं, व्रतों का पालन करते हैं वा जो दीक्षा देते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। **(रा.वा. ३)**

जो आचार्य के छत्तीस गुण एवं पंचाचारों का पालन करते हैं उनको आचार्य कहते हैं। **(मू.प्र. १९७०)** जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं, शासितुं योग्य:शिष्य: इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अनुशासन के योग्य हैं वे शिष्य कहलाते हैं। उनके अनुग्रह में (उनको ग्रहण करने में) कुशल होते हैं, दीक्षा आदि के द्वारा पर के ऊपर और स्वयं पर अनुग्रह करने वाले हैं वे आचार्य हैं। **(मू. १५५-५६ आ.)** पंचाचारों से परिपूर्ण, पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद का दलन करने वाले धीर और गुणगम्भीर ऐसे आचार्य होते हैं। **(नि.सा. ७३)**

प्रवचन रूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंह के समान निर्भीक हैं, जो वर्य (श्रेष्ठ) हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्य मूर्त्ति हैं, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। **(ध. १ पृ. ५०)**

३. प्रश्न : आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस मूलगुण कौन-कौन से है ?

उत्तर : आचारत्व आदि आठ गुण, दस प्रकार का स्थितिकल्प, बारह तप, छह आवश्यक ये छत्तीस गुण जानना चाहिए। **(भ.आ. ५२८)**

आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण होते हैं **(भ.आ. ५२८ वि.)** ऐसे अन्य प्रकार से भी बारह तप (अनशनादि), दस धर्म (उत्तमक्षमादि), छह आवश्यक (समतादि), तीन गुप्ति (मनो गुप्ति आदि) और पाँच आचार (ज्ञानाचारादि)। इस प्रकार छत्तीस गुण हैं।

४. प्रश्न : उपाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : रत्नत्रय से संयुक्त जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक और नि:कांक्ष भाव सहित ऐसे उपाध्याय होते हैं। **(नि.सा. ७४)**

जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों

(मुनियों) को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। **(ध. १/५१)**

चौदह विद्या स्थानों के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं अथवा तत्कालीन अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर पहले कहे गये आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं। **(ध. १/५१)** दस प्रकार के धर्म को कहने वाले उपाध्याय कहलाते हैं। पास में आकर जिसके अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। **(मू. १५६ आ.)**

संसार रूपी ज्वर के सन्ताप को नष्ट करने वाला जिनका वचन रूपी अमृत भव्य जीवों के द्वारा निरन्तर प्रीति पूर्वक पिया जाता है, वह देशक-उपाध्याय कहा जाता है। **(आ.सा. २/३४)** जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पारगामी हैं तथा शिष्यों को पढ़ाने में सदा तत्पर रहते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं। **(मू.प्र. १९७०)**

जो रत्नत्रय से अत्यन्त सुशोभित हैं, जो अंग पूर्व रूपी महासागर के पारगामी हैं और जो शास्त्रों के पठन-पाठन में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे महा साधुओं को उपाध्याय कहते हैं। जो लोक में निस्वार्थ वैद्य के समान होते हुए शिष्यों के चिरकाल से उत्पन्न हुए अज्ञान समूह को हटाकर स्यात् पद से चिह्नित निर्मल वचन रूपी दिव्य अंजन से उनकी अत्यन्त श्रेष्ठ दृष्टि को स्पष्ट तथा समस्त पदार्थों को देखने में समर्थ कर देते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी हमारी रक्षा करें।

५. प्रश्न : तपस्वी किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सर्वतोभद्र आदि घोर तपश्चरण करते हैं उनको तपस्वी कहते हैं। **(मू.प्र. १९७१)** महोपवास करके जो महातपों का अनुष्ठान करते हैं। (यहाँ पर अतिशय अर्थ में 'मतु' अर्थीय प्रत्यय का प्रयोग किया है।) वे तपस्वी हैं। **(रा.वा. ५)**

कायक्लेश में तत्पर मुनि को तपस्वी कहते हैं। **(मू. ३९०) आ.**

आचाम्लवर्द्धन, सर्वतोभद्र, सिंहनिष्क्रीड़ित, शातकुंभ, मंदर पंक्ति, विमान पंक्ति, नन्दीश्वर पंक्ति, जिनगुणसम्पत्ति, श्रुतज्ञान, कनकावली, मुक्तावली, मृदंगमध्य, वज्रमध्य, कर्मक्षपण और त्रैलोकसार आदि महा उपवास करने वाले हैं वे तपस्वी कहलाते हैं। **(चा.सा. २०९)**

नोट - इन सब व्रतों के लक्षण हरिवंशपुराण में देखना चाहिए।

६. प्रश्न : शैक्ष्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान आदि की शिक्षा लेने वाले शैक्ष्य कहलाते हैं। **(आ.सा. ६/८७)** जो सिद्धान्त शास्त्रों के पढ़ने में तत्पर हैं और मोक्षमार्ग में लगे हुए है उनको शैक्ष्य कहते हैं। **(मू.प्र. १९७१)**

शिक्षाशील को शैक्ष्य कहते हैं, श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और सतत व्रत भावना में निपुण शैक्ष्य कहलाते हैं। **(रा.वा. ६)**

शास्त्र के शिक्षण में तत्पर साधु को शिक्षक कहते हैं। **(मू. ३९० आ.)**

७. प्रश्न : ग्लान किसे कहते हैं ?

उत्तर : दु:शील या दुर्बल अथवा व्याधि से पीड़ित साधु को ग्लान कहते हैं। **(मू. ३९० आ.)** जिनका शरीर किसी रोग से रोगी हो रहा है तथा जो अपने व्रत रूपी गुणों से च्युत नहीं हैं उनको ग्लान कहते हैं। **(मू.प्र. १९७२)**

जिनका शरीर अनेक रोगों से पीड़ित हैं उन्हें ग्लान कहते हैं। **(आ.सा. ६/८७)**

८. प्रश्न : गण किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्थविरों की संतति को गण कहते हैं। **(रा.वा. ८)**

वृद्ध मुनियों के समूह को गण कहते हैं। **(आ.सा. ६/८८)**

तीन पुरुषों के समुदाय को गण कहते हैं और इसके आगे गच्छ कहलाता है। **(ध. १३/६३)**

बाल, वृद्ध मुनियों के पूज्य समुदाय को गण कहते हैं। **(मू.प्र. १९७२)**

९. प्रश्न : कुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : आचार्यों की शिष्य परम्परा को उत्तम कुल कहते हैं। **(मू.प्र. १९७३)** दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा कुल कहलाती है। **(रा.वा. ९)**

नोट - संघ का लक्षण देखें ६/१३

१०. प्रश्न : संघ की वैय्यावृत्य करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो पुरुष मोक्ष की रुचि रखने वाला रत्नत्रयादि गुण समूह के क्रीड़ा स्थान संघ की सेवा करता है, लक्ष्मी उसको स्वयं ही वेग से स्वीकार करती है, कीर्ति उसका आलिंगन करती है, प्रीति उनकी सेवा करती है, सुबुद्धि उसको उत्कण्ठा से प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, स्वर्ग की लक्ष्मी उसको प्राप्त करने के लिए बार-बार इच्छा करती है। मुक्ति लक्ष्मी उसको देखने का प्रयत्न करती है। जैसे खेती करने का उद्देश्य धान्य पैदा करना है। उसी प्रकार जिनकी भक्ति का फल अरहन्तादि की पदवी मुख्यफल है, भक्ति का गौण फल चक्रवर्ती इन्द्रपनादि है जिस प्रकार खेती में मुख्य फल अनाज प्राप्ति, गौण फल भूसा की प्राप्ति है। उसी प्रकार भक्ति का मुख्य फल तीर्थंकर पद और गौण फल चक्रवर्ती, इन्द्रपना आदि जानना। **(सूक्ति मुक्ता. २३-२४)**

११. प्रश्न : साधु किसे कहते हैं ?

उत्तर : चिरकाल से भावित प्रव्रज्या गुण वाले पुराने साधक साधु कहलाते हैं। **(रा.वा.११)** जो मुनि त्रिकाल योग धारण करते हैं और मोक्ष की सिद्धि करने में लगे रहते हैं उनको साधु कहते हैं। **(मू.प्र. १९७४)**

चिरकाल से दीक्षित मुनि साधु है और शेष मुनि यति कहलाते हैं। **(आ.सा. ६/८९)** जो मजबूत

बन्धन से छुटकारा पाकर अपने शरीर के विषय में भी निस्पृह हो चुके हैं तथा जो मन में स्थित दुर्भेद्य मोहजनित विकल्प समूह रूपी अभ्यन्तर अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य की प्रभा को भी जीतने वाली ऐसी उत्तम ज्ञान रूपी ज्योति के सिद्ध करने में तत्पर है वे साधुजन आपके कल्याण के लिए होते हैं। **(प.पं.वि. १/६२)** जो दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण है, मोक्ष के मार्गभूत सदाकाल शुद्ध चारित्र को निश्चय से साधते हैं वह मुनि साधु है उनको नमस्कार हो। **(द्र.सं. ५४)**

१२. प्रश्न : मनोज्ञ किसे कहते हैं ?

उत्तर : अभिरूप को मनोज्ञ कहते हैं अथवा जो विद्वान् मुनि वाग्मिता, महाकुलीनता आदि गुणों के द्वारा लोक में प्रसिद्ध हैं वे मनोज्ञ हैं। ऐसे लोगों का संघ में रहना,लोक में प्रवचन गौरव का कारण बनता है। अथवा -संस्कारों से सुसंस्कृत असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं। **(रा.वा. १२-१४)**

लोकप्रिय साधु मनोज्ञ है। दीक्षा लेने के सन्मुख कोई असंयत सम्यग्दृष्टि है अथवा विद्या, जाति आदि से प्रसिद्ध समभावी मिथ्यादृष्टि भी मनोज्ञ के संग्रह में आता है। ऐसा मनोज्ञ साधु लोक में जिनप्रवचन का गौरव बढ़ाने वाला होता है। **(आ.सा. ६/९०)**

१३. प्रश्न : वैयावृत्य किसलिए करना चाहिए ?

उत्तर : समाधिमरण, विचिकित्साभाव (ग्लानि पर विजय), प्रवचन वात्सल्य, सनाथता तथा दूसरों में सनाथवृत्ति जताने आदि के लिए वैयावृत्य करना आवश्यक है। **(रा.वा. १७)** वैयावृत्य करनेसे अपना भी महाहित होता है और अन्य जीवों का भी महाहित होता है। यही समझकर बलवान और पूर्ण शक्तिशाली पुरुषों को अपना आत्मा शुद्ध करने के लिए स्वयं वैयावृत्य करना चाहिए और दूसरों से भी वैयावृत्य कराते रहना चाहिए। **(मू.प्र. १९८४)**

१४. प्रश्न : वैयावृत्य करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : वैयावृत्य करने से लाभ-

(१) विचिकित्सा का सर्वथा नाश हो जाता है।

(२) तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य का बन्ध होता है और सर्वोत्कृष्ट परोपकार होता है।

(३) समस्त संसार में यश फैलता है और संघ में मान्यता बढ़ती है।

(४) साधर्मी जनों के साथ अत्यन्त प्रेम बढ़ता है।

(५) रत्नत्रय की विशुद्धि एवं तपश्चरण की वृद्धि होती है।

(६) आचार्य वा उपाध्याय आदि की वैयावृत्य करने से धर्मध्यान उत्पन्न होता है। मन निराकुल होता है तथा पीड़ा और दुर्ध्यान का सर्वथा नाश हो जाता है। **(मू.प्र. १९८१-८३)**

वैय्यावृत्य में निर्विचिकित्सत्व, वत्सलत्व, सनाथता-रोगी को यह अनुभव हो कि ''मैं अकेला नहीं हूँ, मेरे साथ भी कोई है'', यश, अभ्युदय और मोक्षसुख की प्राप्ति होना प्रमुख गुण है। **(आ.सा.**

६/९४)

१५. प्रश्न : वैयावृत्य के गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : वैयावृत्य के गुण-

(१) गुण ग्रहण के परिणाम (२) श्रद्धा (३) वात्सल्य (४) भक्ति (५) पात्र की प्राप्ति (६) सम्यक्त्वादिका पुन: संधान (७) तप (८) पूजा (९) तीर्थ-अव्युच्छिति (१०) समाधि (११) जिनाज्ञा (१२) संयम सहाय (१३) दान (१४) निर्विचिकित्सा (१५) प्रभावना (१६) संघकार्य। **(म.क. ३१२)**

(१) **गुण ग्रहण परिणाम** - यति में अनेक प्रकार के गुण होते हैं। यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा विचार कर जो उन गुणों में परिणत होता है और जिसकी सेवा की है उसकी गुणों में परिणति होती है।

(२) **श्रद्धा** - गुणों का परिणाम स्मरण करने से चारित्र रूप गुणों की सीढ़ी पर चढ़ता है और जिनेन्द्र के मार्ग में नई-नई संसार-भीरुता और श्रद्धा भी बढ़ती है।

(३) **वात्सल्य** - श्रद्धा बढ़ने से धर्म में तीव्र राग, धर्म में राग से इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय सुख मिलता है।

(४) **भक्ति** - वैयावृत्य करने से अर्हन्तादि पंच परमेष्ठी की भक्ति की गई जानना। रत्नत्रय धारकों का उपकार करने से उनका आदर ही उनकी भक्ति है। दृढ़ भक्ति से संसार से भय नहीं रहता है।

(५) **पात्र लाभ** - वैयावृत्य से पाँच महाव्रत से युक्त, कषाय वेदना (कषाय से उत्पन्न संताप) का निग्रह करने वाले, इन्द्रियों का दमन करने वाले और नाना प्रकार के शास्त्र रूपी रत्नों के ज्ञाता सत्पात्र मुनि का लाभ होता है।

(६) **तप** - वैयावृत्य करने वाला मुनि वैयावृत्य तप में एकाग्र होकर अनेक भवों में कष्टदायक कर्मों की निर्जरा करता हुआ विहार करता है उसके द्वारा त्रैकालिक तीर्थंकर सिद्ध, साधु और धर्म मन-वचन-काय से पूजित होते हैं। **(भ.आ.वि. ३१६-२४)**

(७) **संधान** - जिससे दर्शन ज्ञान चारित्र का संधान किया जाता है, रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग में अपने को और पर को स्थापित किया जाता है, उस कारण इस गुण को संधान यह नाम दिया है। **(म. क. ३२४)**

(८) **पूजा गुण** - जिसने वैयावृत्य किया उसने विशुद्ध चित्त से तीन काल के सभी तीर्थंकर, सभी सिद्ध एवं साधु परमेष्ठी की अर्चना की ऐसा समझना चाहिए। **(म.क. ३२६)**

(९) **तीर्थ की अव्युच्छित्ति** - धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति आचार्य आदि के वैयावृत्य से होती है। **(म.क.३२७)**

(१०) **समाधि गुण** - गुण परिणाम आदि विविध प्रमुख गुणों के द्वारा सिद्धि सुख में प्रवर्त्तन रूप

समाधि प्राप्त होती है।

(११) **जिनाज्ञा गुण** - जो वैयावृत्य करता है वह गुण को नष्ट करने वाले कषाय और इन्द्रिय रूपी वैरियों को जीतकर सर्व ही जिनेन्द्र देव की आज्ञा का पालन करता है।

(१२) **संयम साहाय्य** - वैयावृत्य करने वाला संयम में सहायता करता है।

(१३) **दान** - जो वैयावृत्य करता है वह सातिशय दान देता है।

(१४) **निर्विचिकित्सा** - वैयावृत्य करने वाले के निर्विचिकित्सा (ग्लानि का अभाव) होती है।

(१५) **प्रभावना** - वैयावृत्य करने से धर्म की प्रभावना होती है।

(१६) **कार्य निर्वाह** - अर्हन्त देव के वाक्य को हृदय में भावना करता हुआ संघ का कार्य करता है। **(म.क. ३२९-३३१)**

१६. प्रश्न : वैयावृत्य नहीं करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो समर्थ होते हुए तथा अपने बल को न छिपाते हुए भी जिनोपदिष्ट वैयावृत्य नहीं करता है वह धर्मभ्रष्ट है। जिनाज्ञा का भंग, शास्त्रकथित धर्म का नाश, अपना, साधुवर्ग का व आगम का त्याग ऐसे महादोष वैयावृत्य न करने से उत्पन्न होते हैं। **(भ.आ. ३०९)**

तप में उद्योग न करने से आत्मा का त्याग, आपत्ति में उपकार न करने से मुनिवर्ग का त्याग तथा शास्त्रविहित आचरण न करने से आगम का त्याग होता है। **(भ.आ.टी. ३१०)**

१७. प्रश्न : 'संघ वैयावृत्य' कहने से आचार्यादि सबका ग्रहण होता है अत: संघ वैयावृत्य कहना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि संघ वैयावृत्य या गण-वैयावृत्य इस संक्षिप्त कथन से कार्य चल सकता था तथापि वैयावृत्य के योग्य अनेक पात्रों का निर्देश इसलिए किया गया है कि वैयावृत्यादि हेतु बहुत से पात्रों का निर्देश करने पर इनमें से किसी में किसी की प्रवृत्ति हो सकती है, वैसी करनी चाहिए। **(रा.वा. १८)**

१८. प्रश्न : आचार्य की वैयावृत्य करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : आचार्य का धारण करने से समस्त संघ धारित होता है। क्योंकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं और जो साधु रत्नत्रय को धारण किये होते हैं उन्हें उसमें दृढ़ करते हैं। उत्पन्न हुए दोषों को दूर करते है। आचार्य के उपदेश के प्रभाव से ही संघ गुणों के समूह को धारण करता है अत: आचार्य के धारण से संघ का धारण होता है। आचार्य के बिना संघ का धारण सम्भव नहीं है। संघ के धारण से अभ्युदय और मोक्ष के सुख का साधन जो धर्म है उस धर्मतीर्थ का विच्छेद नहीं होता। **(भ.आ. ३२५ टी.)**

स्वाध्याय के भेद कहते हैं

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥

वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय-धर्मोपदेशाः।

अर्थ - वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये स्वाध्याय के भेद हैं।

१. प्रश्न : स्वाध्याय तप कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : स्वाध्याय तप पाँच प्रकार का होता है-

(१) पढ़े हुए ग्रन्थ का पाठ करना (२) वाचना (३) पृच्छना (४) अनुप्रेक्षा (५) धर्मकथा। **(मू.३९३)**

(१) वाचना (२) पृच्छना (३) अनुप्रेक्षा (४) आम्नाय (५) धर्मोपदेश। **(त.सू. ९/२५)**

वाचना - शास्त्र का व्याख्यान करना वाचना है। **(मू. ३९३)**

पृच्छना - शास्त्र का श्रवण करना पृच्छना है। **(मू. ३९३)**

अनुप्रेक्षा - अधिगत अर्थ का मन के द्वारा अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय - विशुद्ध घोष से पाठ का परिवर्तन करना आम्नाय है।

धर्मोपदेश - धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है।

२. प्रश्न : वाचना स्वाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : निरपेक्ष भाव से तत्त्वार्थज्ञ के द्वारा पात्र के लिए जो निर्दोष ग्रन्थ वा ग्रन्थ के अर्थ या दोनों का प्रतिपादन किया जाता है वह वाचना है। **(रा.वा.१)** जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए सज्जनों को अंग पूर्व आदि शास्त्रों का यथार्थ व्याख्यान करते हैं उसको वाचना स्वाध्याय कहते हैं। **(मू.प्र. १९८७)** शिष्यों के लिए विनय से युक्त मोक्ष के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्वरूप चार प्रकार की शुद्धि करके जो सूत्र, अर्थ और उभय का व्याख्यान करना है वह वाचना है। **(आ.सा. ४/६२)**

जिसकी आत्मा में किसी तरह की अपेक्षा नहीं है, जो केवल मोक्ष की इच्छा रखता है और जानने योग्य सब विषय जिसे मालूम हैं ऐसे किसी मनुष्य वा मुनि के द्वारा किसी योग्य पात्र के लिए निर्दोष ग्रन्थ अथवा अर्थ अथवा ग्रन्थ-अर्थ दोनों ही प्रतिपादन करना वाचना है। **(चा.सा. २११)**

३. प्रश्न : वाचना कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : वाचना चार प्रकार की होती है-

(१) नन्दा (२) भद्रा (३) जया (४) सौम्या।

नन्दा - अन्य दर्शनों को पूर्व पक्ष करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्ष को स्थापित करने वाली व्याख्या नन्दा कहलाती है।

भद्रा - युक्तियों द्वारा समाधान करके पूर्वापर विरोध का परिहार करते हुए सिद्धान्त में स्थित समस्त पदार्थों की व्याख्या का नाम भद्रा है।

जया - पूर्वापर विरोध के परिहार के बिना सिद्धान्त के अर्थों का कथन करना जया वाचना है।

सौम्या - कहीं-कहीं स्खलन पूर्ण वृत्ति से जो व्याख्या की जाती है वह सौम्या वाचना है। **(ध.९/२५२)**

४. प्रश्न : वाचना के समय द्रव्यशुद्धि से क्या समझना चाहिए ?

उत्तर : स्वाध्याय करने वाले को अपनी द्रव्यशुद्धि बनाये रखने के लिए अपने वा दूसरे के शरीर पर रुधिर, घाव, मांस, पीव, विष्ठा आदि लगी हो वा ऐसे ही अन्य अशुद्ध द्रव्य लगे हों तो उनका प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिए तब स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिए। इसको द्रव्यशुद्धि कहते हैं। **(मू.प्र. १६४६-४७)**

अपने अंग में ज्वर, नेत्र, उदर आदि की वेदना, पीव और रक्त का निकलना तथा मल-मूत्र के लेपादि के होते हुए द्रव्यशुद्धि असम्भव है। वह द्रव्यशुद्धि सुस्निग्ध, सुगन्धित, मोदक, पूवा, बड़े-बड़े लड्डू आदि अन्न पानी के सेवन नहीं करने से होती है। (अर्थात् इनका सेवन करने से द्रव्यशुद्धि नहीं होती)। **(आ.सा. ४/६३-६४)**

यम पटह का शब्द सुनने पर, अंग से रक्तस्राव के होने पर, अतिचार के होने पर तथा दाताओं के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर, तिल-मोदक-चिउड़ा-लाई और पूआ आदि चिक्कण एवं सुगंधित भोजनों के खाने पर तथा दावानल का धुआँ होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। एक योजन के घेरे में संन्यास विधि, महोपवास विधि, आवश्यक क्रिया एवं केशों का लोंच होने पर तथा आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक अध्ययन करने का प्रतिषेध है। उक्त घटनाओं के एक योजन मात्र में होने पर तीन दिन तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक अध्ययन नहीं करना चाहिए। प्राणी के तीव्र दु:ख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा) मात्र में तिर्यञ्चों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। **(ध. ९/२५५)**

५. प्रश्न : वाचना में क्षेत्रशुद्धि किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : जिस स्थान पर शास्त्र वाचन करते हैं उस स्थान से दशों दिशाओं में बत्तीस धनुष प्रमाण क्षेत्र में पंचेन्द्रिय प्राणियों का मृत शरीर, आर्द्र चर्म, मांस, अस्थि, शोणित (खून) नहीं होना चाहिए। दो सौ हाथ तक मनुष्य-तिर्यञ्चों का शुष्क चर्म आदि नहीं होना चाहिए। डेढ़ सौ हाथ क्षेत्र तक मल मूत्र नहीं होना चाहिए। **(आ.सा. ४/६५-६७)**

वाचना के समय चारों ओर का सौ-सौ हाथ क्षेत्र शुद्ध रखना चाहिए। सौ-सौ हाथ दूर तक के क्षेत्र में रक्त, मांस, हड्डी आदि अपवित्र पदार्थ नहीं रहने चाहिए। इसको क्षेत्रशुद्धि कहते हैं। **(मू.प्र.१६४८-४९)**

मल छोड़ने की भूमि से सौ अरत्नि प्रमाण दूर, मूत्र छोड़ने में भी इस भूमि से पचासअरत्नि दूर,

मनुष्य शरीर के लेशमात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष तथा तिर्यञ्चों के शरीर सम्बन्धी अवयव के स्थान से उससे आधी मात्र अर्थात् पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए। क्षेत्रशुद्धि के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना ग्रहण करे। **(ध. ९/२५६)**

उतने मात्र स्थावर काय जीवों के घात रूप कार्य में प्रवृत्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यन्त सड़ी गन्ध आने पर, ठीक अर्थ समझ में न आने पर अथवा अपने शरीर की शुद्धि से रहित होने पर मोक्ष-सुख के चाहने वाले व्रती पुरुष को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिए। व्यन्तरों के द्वारा भेरी ताड़न करने पर उनकी पूजा का संकट आने पर, कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालकों के समीप झाड़ा-बुहारी करने पर, अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के मांस व हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र की विशुद्धि नहीं होती है। **(ध. ९/२५५-५६)**

६. प्रश्न : वाचना में कालशुद्धि किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : प्रात: काल के एक पहर पहले, अपराह्न के एक पहर बाद,आधी रात के एक पहर पहले तथा एक पहर बाद और मध्याह्न काल की दो घड़ी, ये सिद्धान्तशास्त्र पढ़ाने के अयोग्य काल हैं। **(मू.प्र. १६२९-३०)**

जिस समय अग्निवर्ण का दिशाओं का दाह हो, आकाश से उल्कापात हो रहा हो, बिजली चमक रही हो, इन्द्रधनुष पड़ रहा हो, लाल-पीले वर्ण की संध्या हो, अभ्रपूर्ण दुर्दिन हो, सूर्य या चन्द्र ग्रहण हो, युद्ध का समय हो, भूकम्प हो रहा हो, आकाश में धुआँ के आकार का कुहरा फैला हो, बादल गरज रहे हों, ये सब दोष सिद्धान्त सूत्रों के पढ़ने में विघ्न के कारण हैं। **(मू.प्र. १६४२-४४)**

पर्व दिनों में, नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिम दिवसों और सूर्य-चन्द्र ग्रहण होने पर अर्थात् (अमावस, पूर्णमासी को) विद्वान व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए। मध्याह्न एवं दोनों संध्या कालों में एवं मध्यम रात्रि में अध्ययन नहीं करना चाहिए। अतिशय तीव्र दु:ख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। **(ध. ९/२५७-५८)**

नन्दीश्वर महापूजा, आराध्य पुरुषों का आगमन, योजन प्रमाण क्षेत्र में संन्यास, महान् उपवास आदि दिनों में, सर्व पर्व क्रिया, आवश्यक क्रियाओं से रहित (आवश्यकों का समय टालकर) विशुद्धि को देने वाले शास्त्रोक्त काल में शास्त्र पढ़ना कालशुद्धि हैं अर्थात् नन्दीश्वर पूजादि के अवसर पर स्वाध्याय का निषेध है। अपने गाँव में श्रमणाधिक (आचार्य) के स्वर्ग चले जाने पर सात दिन, एक योजन प्रमाण क्षेत्र में श्रमणाधिक के स्वर्ग चले जाने पर तीन दिन तथा एक योजन के बाहर क्षेत्र में श्रमणाधिक के स्वर्ग चले जाने पर एक दिन तक स्वाध्याय नहीं पढ़ना चाहिए। **(आ.सा. ४/७०-७२)**

७. प्रश्न : स्वाध्याय कब बन्द कर देना चाहिए ?

उत्तर : यदि कोई पंचेन्द्रिय जीव पीड़ा से दु:खी हो रहा हो, मर रहा हो, अथवा त्रस-स्थावर जीवों का घात करने वाले कार्यों में से कोई कार्य हो रहा हो तो स्वाध्याय बन्द कर दिया जाता है। यदि बालक, चाण्डाल, जलप्रवाह, दीपक और अग्नि के स्फुलिंग अत्यन्त निकट आ जावें तथा दूर से दावानल का धुआँ और दुर्गन्ध आ रही हो तो वाचना नहीं होनी चाहिए। **(आ.सा. ४/६८-६९)**

८. प्रश्न : सिद्धान्त सूत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : गणधर देव द्वारा कथित, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिधारी द्वारा कथित, श्रुतकेवली द्वारा कथित तथा अभिन्न दशपूर्वी ऋषियों द्वारा कथित को सूत्र कहते हैं। **(भ.आ. ३३)**

जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, सन्देह से रहित हो, परमार्थ सहित हो, गूढ़ पदार्थों का निर्णय करने वाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और यथार्थ हो, उसे पण्डितजन सूत्र कहते हैं। **(ध. ९/२५९)**

जो भले प्रकार अर्थ का सूचन करे, अथवा अर्थ को जन्म दे उस बहु अर्थ गर्भित रचना को सूत्रकार आचार्य ने निश्चय से सूत्र कहा है। **(ज. ध. १/१७१)**

जो सूत्र का ही व्याख्यान करता है, किन्तु जिसकी शब्दरचना संक्षिप्त है और जिसमें सूत्र के समस्त अर्थ को संगृहीत कर लिया गया है, उसे वृत्ति सूत्र कहते हैं। **(ज.ध. २/१४)**

९. प्रश्न : तो फिर इस युग के आचार्यों द्वारा कहे गये सत्कर्म प्राभृत और कषाय प्राभृत को सूत्रत्व कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि जिनका अर्थरूप से तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधर देव ने जिनकी ग्रन्थ रचना की है, ऐसे बारह अंग आचार्य परम्परा से निरन्तर चले आ रहे हैं। परन्तु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर और उन अंगों को धारण करने वाले योग्य पात्र के अभाव में उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं। इसलिए जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषों का अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरुपरम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया था, उन आचार्यों ने तीर्थविच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग सम्बन्धी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रत्व नहीं आ सकता है। अर्थात् वे षट् खण्डागम और कसाय पाहुड ग्रन्थ सूत्र ही हैं। **(ध. पु. १/ २२२)**

१०. प्रश्न : इन सूत्र ग्रन्थों का स्वाध्याय कौन कर सकता है ?

उत्तर : इन सूत्र ग्रन्थों के स्वाध्याय का अधिकार मुनि और आर्यिकाओं को ही है। जैसाकि मूलाचार का प्रमाण उद्धृत किया गया है तथा सुलोचना आर्यिका का उदाहरण भी है- वह सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंग के ज्ञान को धारण करने वाली हो गई थी।

क्षुल्लक, ऐलक, श्रावक आदि को सिद्धान्त ग्रन्थ को पढने का अधिकार नहीं है- दिन में प्रतिमायोग धारण करना, दिन में नग्न होकर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या-मुनि के समान गोचरी करना,

त्रिकालयोग-गर्मी में पर्वत के शिखर पर, बरसात में वृक्ष के नीचे और सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना, सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन और रहस्य-प्रायश्चित्त ग्रन्थों का अध्ययन, इतने कार्यों में देशविरति श्रावकों के अधिकार नहीं हैं। **(वसु.श्रा. ३१२)**

११. प्रश्न : असमय में स्वाध्याय करने से क्या हानि है ?

उत्तर : अष्टमी में अध्ययन - गुरु और शिष्य दोनों का वियोग करता है।

पूर्णमासी में अध्ययन - कलह उत्पन्न करता है।

चतुर्दशी के दिन अध्ययन - विघ्न को करता है।

कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या में अध्ययन - से विद्या और उपवास विधि सब विनाशवृत्ति को प्राप्त होती हैं।

मध्याह्न काल में अध्ययन - जिन रूप को नष्ट करता है।

दोनों संध्याकालों में अध्ययन - व्याधि करता है।

मध्य रात्रि में अध्ययन - अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त होते हैं। अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना, शास्त्रादि का अलाभ, कलह, व्याधि और वियोग को करता है।

सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ से किया द्रव्यादि शुद्धि का अतिक्रमण - असमाधि का कारण है। **(ध. पु. ९/२५७-५९)**

१२. प्रश्न : अस्वाध्याय काल में पढ़ने योग्य कौन-कौन से शास्त्र हैं ?

उत्तर : आराधना के कथन करने वाले ग्रन्थ, मरण को कहने वाले ग्रन्थ, संग्रह ग्रन्थ, स्तुति ग्रन्थ प्रत्याख्यान, आवश्यक क्रिया और धर्मकथा सम्बन्धी ग्रन्थ तथा और भी ऐसे ही ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं। **(मू. २७९)**

आराधना ग्रन्थ - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और विस्तरण आदि का वर्णन जिन ग्रन्थों में है वे आराधना निर्युक्ति ग्रन्थ हैं।

मरण विभक्ति-सत्रह प्रकार के मरणों के प्रतिपादक ग्रन्थों की जो रचना है वह मरणविभक्ति है।

संग्रह ग्रन्थ - पंच संग्रह आदि।

स्तुति ग्रन्थ - देवागम स्तोत्र, पंचपरमेष्ठी स्तोत्र आदि सम्बन्धी ग्रन्थ स्तुति ग्रन्थ हैं।

प्रत्याख्यान ग्रन्थ - तीन प्रकार और चार प्रकार आहारत्याग के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्याख्यान ग्रन्थ हैं। **अथवा** - सावद्य, सदोष द्रव्य, क्षेत्र आदि का परिहार करने के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्याख्याव ग्रन्थ हैं।

आवश्यक ग्रन्थ - सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना आदि के स्वरूप को कहने वाले ग्रन्थ आवश्यक ग्रन्थ हैं।

धर्मकथा ग्रन्थ - त्रेसठ शलाका पुरुषों का चारित्र कहने वाले ग्रन्थ तथा द्वादश अनुप्रेक्षा आदि ग्रन्थ धर्मकथा ग्रन्थ हैं।

इन ग्रन्थों को और इन्हीं सदृश अन्य ग्रन्थों को भी अस्वाध्याय काल में पढ़ा जा सकता है। **(मू. २७९ आ.)**

१३. प्रश्न : कषाय पाहुड़ सूत्र ग्रन्थ नहीं हो सकता क्योंकि गुणधर भट्टारक न गणधर थे, न श्रुतकेवली, न प्रत्येक बुद्ध थे और न अभिन्न दशपूर्वी ?

उत्तर : इसके समाधान में आचार्य वीरसेन कहते हैं कि- नहीं, क्योंकि निर्दोषत्व, अल्पाक्षरत्व और सहेतुकत्व रूप प्रमाणों द्वारा गुणधर भट्टारक की गाथाओं की सूत्र के साथ समानता है। अत: गुणधर भट्टारक आचार्य की गाथाओं में भी सूत्रत्व पाया जाता है। **(ज.ध. १/१५४)**

१४. प्रश्न : द्रव्यादि शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : विनय से पढ़ा गया श्रुत यदि किसी प्रकार भी प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो पर भव में वह उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है। **(ध. ९/२५९)**

जो मुनि श्रेष्ठ कालशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि और श्रेष्ठ भावशुद्धि को धारण कर स्वाध्याय में सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन करते हैं उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ समस्त श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है। **(मू.प्र. १६५२-५३)**

१५. प्रश्न : वाचना के समय भावशुद्धि किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : चतुर मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, क्लेश, शोक, दुर्मद, हास्य, रति, अरति, भय, आदि सबका त्याग करके तथा मन को प्रसन्न करके मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक जिन सूत्रों की स्वाध्याय करते हैं, इसे विशुद्धता उत्पन्न करने वाली भावशुद्धि कहते हैं। **(मू.प्र. १६५०-५१)**

यश, पूजा, पुरस्कार की आकांक्षा से रहित, मद रहित, श्रुतरूपी अमृत में आनन्द का अनुभव करने वाली मुनि की जो बुद्धि है वह भावशुद्धि मानी गयी है। **(आ.सा. ४/८४)**

१६. प्रश्न : स्वाध्याय में विनयशुद्धि किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : मुनि को पर्यंकासन से अथवा वीरासन आदि से सम्यक् प्रकार की विधि से बैठ कर शुद्ध जल से हाथ-पैर आदि धोकर तथा चक्षु से अच्छी तरह निरीक्षण करके और पिच्छिका से भूमि को, हाथ-पैर आदि को और पुस्तक को परिमार्जित करके मुकुलित हाथ बनाकर, अंजलि जोड़कर प्रणाम करके सूत्र और अर्थ के संयोग युक्त अंग आदि ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार सूत्र और अर्थ में व्यभिचार न करते हुए अर्थात् सूत्र के अनुसार उसका अर्थ समझते हुए शुद्धोपयोग पूर्वक अर्थात् उपयोग को निर्मल बनाकर और शक्ति को न छिपाकर प्रयत्नपूर्वक जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सूत्र को अर्थ सहित पढ़ना चाहिए। यह विनय शुद्धि हुई है। **(मू. २८१ आ.)**

१७. प्रश्न : पृच्छना स्वाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपना सन्देह दूर करने के लिए किसी अन्य के पास जाकर प्रश्न पूछना अथवा महागूढ़ सिद्धान्त शास्त्रों के अर्थ को सुनना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है। **(मू.प्र. १९८८)**

संशय को दूर करने के लिए अथवा अपना बड़प्पन प्रकट न करने के लिए प्रहास और उद्दण्डता से रहित विनय सहित पूछना मुनि का पृच्छना नाम का स्वाध्याय है। **(आ.सा.४/९०)**

आत्मोन्नति, परातिसन्धान, परोपहास, संघर्ष और प्रहसन आदि दोषों से रहित हो, संशयच्छेद या निर्णय की पुष्टि के लिए, ग्रन्थ, अर्थ या उभय के लिए दूसरे से पूछना पृच्छना है। **(रा.वा. २)**

अपने आत्मा की उन्नति प्रकाशित करने के लिए अथवा किसी को समझाने के लिए, उपहास, संघर्ष, प्रहसन आदि को छोड़कर संशय दूर करने के लिए अथवा स्वयं पदार्थ का स्वरूप निश्चय करने के लिए कोई ग्रन्थ अर्थ अथवा ग्रन्थ अर्थ दोनों ही किसी दूसरे से पूछना पृच्छना कहलाती है। **(चा.सा. २११)**

१८. प्रश्न : पृच्छना स्वाध्याय क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : जो ग्रन्थ या अर्थ को पूछता है वह अध्ययन नहीं करता, किन्तु ऐसा करना अध्ययन की प्रवृत्ति के लिए होता है, इससे प्रश्न को अध्ययन कहा है। जैसे इन्द्र की प्रतिमा बनाने के लिए लाये गये काष्ठ को इन्द्र कहा जाता है अथवा 'क्या इसे इस प्रकार पढ़ना चाहिए' इस तरह पढ़े हुए ही ग्रन्थ में सन्देह करना, तथा अर्थ में सन्देह होने पर भी 'क्या इस पद अथवा वाक्य का यह अर्थ है' इस प्रकार पूछना स्वाध्याय का कारण होने से स्वाध्याय है। इसी प्रकार निश्चित अर्थ को दृढ़ करने के लिए भी प्रश्न की योजना करनी चाहिए। **(भ.आ. १४१ टी.)**

१९. प्रश्न : अनुप्रेक्षा स्वाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : वस्तु के स्वरूप को जानकर संतप्त लोहपिण्ड के समान चित्त को तद्रूप बना लेना और बार-बार मन से उसका अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। **(रा.वा.३)** तपाये हुए लोहे के गोले के समान एकाग्रचित्त से पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार अभ्यास करना उत्तम अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहलाता है। **(मू.प्र. १९८९)**

ज्ञात तत्त्वों के विषय में बार-बार विचार करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है। **(आ.सा. ४/९१)**

२०. प्रश्न : आम्नाय स्वाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार पाठ करना और ऐसा पाठ करना जो न तो धीरे-धीरे हो, न जल्दी हो और न अक्षर मात्रा आदि से रहित हो ऐसे पाठ करने को आम्नाय नाम का स्वाध्याय कहते हैं। **(मू.प्र. १९९०)**

आचार- पारगामी व्रती का लौकिक फल की अपेक्षा किये बिना द्रुत-विलम्बित आदि उच्चारण दोषों से रहित होकर विशुद्ध पाठ का फेरना, घोष करना आम्नाय स्वाध्याय है, ऐसा कहा जाता है। **(रा.वा. ४)**

उच्चारण सम्बन्धी दोष रहित किसी ग्रन्थ की आवृत्ति करना आम्नाय नाम का स्वाध्याय है। **(आ.सा.४/९१)**

२१. प्रश्न : धर्मोपदेश स्वाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्वादशाङ्ग के एकदेश का उपदेश देना धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय है। **(आ.सा.४/९२)** अपनी कीर्ति-बड़प्पन वा लाभ आदि की इच्छा के बिना तीर्थंकर आदि सज्जन पुरुषों की कथा का कहना धर्मोपदेश स्वाध्याय कहलाता है। **(मू. प्र. १९९१)**

लौकिक ख्याति लाभ आदि दृष्ट प्रयोजन के बिना उन्मार्ग की निवृत्ति के लिए, संशय को दूर करने के लिए तथा अपूर्व पदार्थ के प्रकाशन के लिए धर्मकथा आदि का अनुष्ठान-कथन करना धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय कहलाता है। **(रा.वा. ५)**

२२. प्रश्न : आक्षेपणी कथा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें ज्ञान और चारित्र का उपदेश हो उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जैसे मति आदि ज्ञान इस प्रकार के होते हैं अथवा सामायिक आदि चारित्रों का ऐसा स्वरूप है। **(भ.आ. ६५५ टी)** जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों के और दूसरे समयों के निराकरण पूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्यों और नौ प्रकार के पदार्थों का निरूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। **(ध. १/१०६)** तहाँ तीर्थंकरादि वृत्तान्त रूप प्रथमानुयोग, लोक के वर्णन रूप करणानुयोग, श्रावक मुनिधर्म के कथन रूप चरणानुयोग, पंचास्तिकायादिक कथन रूप द्रव्यानुयोग, इनका कथन अर परमत की शंका दूर करते हुए कथन करना आक्षेपणी कथा है। **(गो.जी.जी. ३५७)**

२३. प्रश्न : विक्षेपणी कथा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कथा में स्वसमय और परसमय की चर्चा होती है वह विक्षेपणी कथा है। वस्तु सर्वथा नित्य है या सर्वथा क्षणिक, अथवा एक ही है, या अनेक ही है, अथवा सत् ही है या असत् ही है, अथवा विज्ञानमात्र ही है या शून्य ही है, इत्यादि पर समय को पूर्व पक्ष बनाकर प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से उसमें विरोध दर्शाकर वस्तु को कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक आदि स्व समय का कथन करना विक्षेपणी कथा है। **(भ.आ. ६५५)** जिसमें पहले पर समय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं। अनन्तर पर समय की आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है और छह द्रव्य नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। **(ध. १/१०६)**

२४. प्रश्न : निर्वेजनी कथा किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीर, भोग और जन्म-परम्परा में विरक्ति उत्पन्न करने वाली कथा का नाम निर्वेजनी कथा है। जैसे- शरीर अपवित्र है, भोग पदार्थ दुर्लभ हैं। इनकी प्राप्ति होने पर आत्मा तृप्त होता नहीं। इनका लाभ नहीं होने से अथवा लाभ होकर विनष्ट हो जाने से महान् दु:ख उत्पन्न होता है। देव व मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना दुर्लभ है। ये बहुत दु:खों से भरे हैं तथा अल्प मात्र सुख देने वाले हैं इस प्रकार का वर्णन जिसमें किया जाता है वह कथा निर्वेजनी कथा कहलाती है। **(भ.आ. ६५६ वि.)** संसार-शरीर और भोगों से राग करने से दुष्कर्म का बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप नारक आदि का दु:ख, दुष्कुल की प्राप्ति, शरीर के अंगों का विरूपना, दारिद्र्य अपमान आदि के वर्णन के द्वारा वैराग्य का कथन करने वाली निर्वेजनी कथा है। **(गो.जी.जी. ३५७)** पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं।

२५. प्रश्न : संवेजनी कथा किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान, चारित्र तप व वीर्य इनका अभ्यास करने से आत्मा में कैसी-कैसी अलौकिक शक्तियाँ प्रगट होती हैं इनका खुलासा वर्णन करने वाली कथा को संवेजनी कथा कहते हैं। **(भ.आ. ६५६)** पुण्य के फल का कथन करने वाली कथा को संवेजनी कथा कहते हैं। तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं। कहा भी है - विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली संवेजनी कथा है। **(ध. १/१०६)**

२६. प्रश्न : धर्मकथा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिससे जीवों को स्वर्गादि अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, वास्तव में वही धर्म कहलाता है। उससे सम्बन्ध रखने वाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते हैं। जिसमें धर्म का विशेष निरूपण होता है, उसे बुद्धिमान पुरुष सत्कथा कहते हैं। धर्म के फलस्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती है, उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं, अत: धर्म का स्वरूप दिखाने के लिए अर्थ और काम का वर्णन करना भी कथा कहलाती है। यदि यही अर्थ और काम की कथा धर्म-कथा से रहित हो तो विकथा ही कहलावेगी और मात्र पापास्रव का ही कारण होगी। **(म.पु.१/११८-२०)** जीवदया का वर्णन जिस कथा में पूर्ण रूप से किया गया हो, जिस उपदेश में महान् पदवी को धारण करने वाले मोक्षगामी त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र एवं उनकी विभूतियों का विस्तृत वर्णन हो, साथ ही उन महापुरुषों के पूर्व जन्मों की कथायें तथा उनके पूर्व कर्मों के फल आदि का वर्णन हो, वह श्रेष्ठ कथा कल्याणकारिणी 'धर्मकथा' कही जाती है। **(म.हा.वी. १)**

२७. प्रश्न : किन जीवों को कौनसी कथा कहना चाहिए ?

उत्तर : जो जिनवचन को नहीं जानता है ऐसे पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिसने स्वसमय के रहस्य को नहीं जाना है और परसमय का प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्व को स्वीकार न कर लेवे इसलिए उसे विक्षेपणी कथा को छोड़ कर शेष तीन कथाओं का उपदेश देना चाहिए। **(ध. पु. १/१०७)**

उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमय को भली भाँति समझ लिया है, जो जिन शासन में अनुरक्त

है, जिनवचन में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रति से विरक्त है और जो तप शील और नियम से युक्त है ऐसे पुरुष को ही विक्षेपणी कथा का उपदेश देना चाहिए। प्ररूपणा करके उत्तम रूप से ज्ञान कराने वाले के लिए यह अकथा भी तब कथा रूप हो जाती है इसलिए योग्य पुरुषों को प्राप्त करके ही साधुओं को उपदेश देना चाहिए। **(ध. १/१०८)**

आक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी कथाएँ क्षपक को सुनाना योग्य है। उसे विक्षेपणी कथा का निरूपण करना हितकर न होगा। (आगमार्थ को जानने वाले मुनियों को क्षपक के पास भोजन आदि कथाओं का वर्णन करना योग्य नहीं है)। **(भ.आ. ६५४)** बुद्धिमान वक्ता को चाहिए कि वह अपने मत की स्थापना करते समय आक्षेपणी कथा कहे, मिथ्यात्व मत का खण्डन करते समय विक्षेपणी कथा कहे, पुण्य के फलस्वरूप विभूति आदि का वर्णन करते समय संवेदिनी कथा कहे तथा वैराग्य उत्पादन के समय निर्वेदनी कथा कहे। **(म.पु. १/१३५-३६)**

२८. प्रश्न : धर्मोपदेश स्वाध्याय करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अपने और दूसरों के उद्धार के उद्देश्य से जो स्वाध्याय में लगता है वह अपने भी कर्मों को काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरों के भी कर्मों को काटता है। सर्वज्ञ भगवान की जो आज्ञा है कि कल्याण के इच्छुक जिनशासन के प्रेमी को नियम से धर्मोपदेश करना चाहिए, उसका भी पालन होता है। दूसरों को उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है। जिनवचन के अभ्यास से जिनवचन में भक्ति प्रदर्शित होती है। दूसरों को उपदेश करने पर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थ की अव्युच्छित्ति परम्परा का अविनाश होता है। श्रुत भी रत्न-त्रय के कथन में संलग्न होने से तीर्थ है। अत: स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करने से श्रुत और मोक्षमार्ग का विच्छेद नहीं होता है। वे सदा प्रवर्तित रहते हैं। **(भ.आ. ११० टी.)**

२९. प्रश्न : स्वाध्याय किस लिए करना चाहिए ?

उत्तर : यह स्वाध्याय बुद्धि को बढ़ाना, श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति, जिनमत की प्रभावना, परम वैराग्य धारण करना, परिवादियों की शंका का निरास, शास्त्र ज्ञान को स्थिर रखना, संशयों को दूर करना, तप की वृद्धि करना, अतिचारों की विशुद्धि करना, कषाय तथा इन्द्रियों को जीतना और परम मोक्ष का उपाय करना आदि कार्यों के लिए सदा करते रहना चाहिए। प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिए, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिए, परम संवेग के लिए, तप में वृद्धि करने के लिए और अतिचारों में विशुद्धि लाने के लिए यह स्वाध्याय किया जाता है।

जो प्राणी सब दिशाओं से मोहाक्लान्त है उनके उद्धार का मार्ग ज्ञानोपयोग तथा सदा तपस्या करना ही है। **(व.चा.३१/७४)**

३०. प्रश्न : स्वाध्याय करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : स्वाध्याय से लाभ-

(१) स्वाध्याय से मुनियों को योगों की शुद्धि एवं महाशुक्लध्यान प्राप्त होता है। शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान से इन्द्रों से पूज्य होकर मोक्ष प्राप्त होता है। **(मू.प्र. १९९३-९७)**

(२) प्रवचन (परमागम) पढ़ने से सुमेरु पर्वत के समान लोकमूढता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता से रहित, शंका आदि आठ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। **(ति.प. १/५१)**

(३) द्रव्य श्रुत से भावश्रुत, फिर क्रम से सम्यग्ज्ञान, संवेदन, आत्मसंवित्ति तथा केवलज्ञान होते हैं। **(न.च. ३५० में उद्धृत)**

(४) जो पुरुष सूत्र का जानकार है वह भव का नाश करता है, जैसे सुई डोरे सहित हो तो नष्ट नहीं होती, यदि डोरे से रहित हो तो नष्ट हो जाती है। **(सू.पा. ३)**

(५) यह जिन वचन रूपी औषधि इन्द्रिय के विषय से उत्पन्न सुख को दूर करने वाली है। तथा जन्म-मरण रूप रोग को दूर करने के लिए अमृत सदृश है और सर्व दु:खों के क्षय का कारण है। **(द.पा. १७)**

(६) स्वाध्याय करने से मन के संकल्प-विकल्प दूर होकर मन का निरोध हो जाता है और मन के निरोध से इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है तथा चित्तवृत्ति स्थिर होती है। **(म.पु. २०/१९९)**

व्युत्सर्ग तप के भेद

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

बाह्य-अभ्यन्तर-उपध्योः।

अर्थ - बाह्य उपधि और अभ्यन्तर उपधि के भेद से उपधि दो प्रकार की है।

बाह्य उपधि त्याग - अनुपात्त वस्तु का त्याग बाह्योपधि त्याग है।

अभ्यन्तर उपधि त्याग - क्रोधादि भावों की निवृत्ति अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है।

१. प्रश्न : बाह्य उपधि त्याग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो बाह्य पदार्थ आत्मा के द्वारा उपात्त नहीं हैं वा जो बाह्य पदार्थ आत्मा के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन पदार्थों का त्याग करना उसे बाह्योपधि व्युत्सर्ग जानना चाहिए। **(रा.वा. ३)**

आत्मा से एकत्व को नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन और धान्य आदि बाह्य उपधि हैं। इनका त्याग करना बाह्य उपधि त्याग है। **(सर्वा. ८७०)**

जिसे आत्मा स्वयं ग्रहण नहीं करता और न जो आत्मा के साथ मिलकर एक रूप होता है ऐसे आहार आदि का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है। **(चा.सा. २११)**

२. प्रश्न : अभ्यन्तर उपधि त्याग किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्रोधादि रूप आत्म भाव अभ्यन्तर उपधि हैं तथा नियत काल तक या यावज्जीवन काय का त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधित्याग कहा जाता है। **(सर्वा. ८७०)**

क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा आदि अभ्यन्तर दोषों की निवृत्ति अभ्यन्तर उपधि त्याग कहलाता है। **(रा.वा.४)**

३. प्रश्न : अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग दो प्रकार का है-

(१) जीवन पर्यन्त (२) नियत समय तक।

जीवन पर्यन्त अभ्यन्तरोपधि त्याग तीन प्रकार का है-

(१) भक्त प्रत्याख्यान (२) इंगिनीमरण (३) प्रायोपगमन।

नोट - इनके लक्षण आदि देखें (७/२२)

नियत काल अभ्यन्तरोपधि त्याग दो प्रकार का है-

(१) नित्य (२) नैमित्तिक।

नित्य - आवश्यक आदि क्रियाओं का करना नित्य है।

नैमित्तिक - पर्व के दिनों में होने वाली क्रियाएँ करना वा निषद्या क्रिया आदि करना नैमित्तिक है। **(चा.सा. २१२)**

४. प्रश्न : कायोत्सर्ग कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : कायोत्सर्ग छह प्रकार के होते हैं-

(१) नाम कायोत्सर्ग (२) स्थापना कायोत्सर्ग (३) द्रव्य कायोत्सर्ग (४) क्षेत्र कायोत्सर्ग (५) काल कायोत्सर्ग (६) भाव कायोत्सर्ग।

नाम कायोत्सर्ग : किसी सरागी, क्रूर और निन्द्य आदि नाम से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको नाम कायोत्सर्ग कहते हैं।

स्थापना कायोत्सर्ग : किसी कुत्सित स्थापना के आये हुए अतिचारों को शान्त करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं।

द्रव्य कायोत्सर्ग : पाप रूप द्रव्यों के सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको द्रव्य कायोत्सर्ग कहते हैं।

क्षेत्र कायोत्सर्ग : सरागी, क्रूर और मिथ्यात्व से दूषित क्षेत्र से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते हैं।

काल कायोत्सर्ग : ऋतु-दिन-रात और वर्षा ऋतु आदि किसी भी काल से उत्पन्न हुए दोषों का नाश करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको काल कायोत्सर्ग कहते हैं।

भाव कायोत्सर्ग : मिथ्यात्व, असंयम और क्रोधादि दुर्भावों से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह शुभ भाव कायोत्सर्ग है। **(मू. प्र. ११५३-५९)**

अथवा - कायोत्सर्ग चार प्रकार का है-

(१) उत्थितोत्थित (२) उत्थितोपविष्ट (३) उपविष्टोत्थित (४) उपविष्टोपविष्ट।

उत्थितोत्थित : जो बुद्धिमान मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय धर्मध्यान वा शुक्लध्यान का चिंतन करते हैं वह उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग है।

उत्थितोपविष्ट : जो मुनि खड़े होकर कायोत्सर्ग के द्वारा आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान का चिंतन करता है उसको उत्थितासीन (उत्थितोपविष्ट) कायोत्सर्ग कहते हैं।

उपविष्टोत्थित : जो मुनि बैठकर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान का चिन्तन करता है उसके निविष्टोत्थित (उपविष्टोत्थित) कायोत्सर्ग होता है।

उपविष्टोपविष्ट : जो मुनि बैठकर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से आर्त्त-ध्यान वा रौद्रध्यान का चिन्तन करता है उसके उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग होता है।

इनमें से उत्थितोपविष्ट और उपविष्टोपविष्ट त्याग करने योग्य हैं। **(मू.प्र. ११६३-६९)**

५. प्रश्न : कायोत्सर्ग करने वाला साधु कैसा होता है ?

उत्तर : जो मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाला है, निद्रा को जीतने वाला है, तत्त्व और शास्त्रों के जानने में चतुर है, जिसके मन, वचन, काय शुद्ध हैं, जो बल और वीर्य से सुशोभित है, जो महा तपस्वी है, हृष्ट-पुष्ट, पूर्ण शरीर को धारण करने वाला है, महा धीर वीर है, जितेन्द्रिय है, परीषह और उपसर्गों को जीतने वाला है, जिसकी आकृति निश्चल रहती है, जो महाव्रती है, परमात्मा को जानने वाला है और मोक्ष को सिद्ध करने वाला है तथा और भी ऐसे-ही-ऐसे गुणों की खानि है, ऐसा मुनि उत्तम कायोत्सर्ग करने वाला कहा जाता है। **(मू.प्र. ११७९-८१)**

६. प्रश्न : कायोत्सर्ग के कितने दोष हैं ?

उत्तर : कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष हैं-

(१) घोटक दोष (२) लता दोष (३) स्तंभ दोष (४) कुड्य दोष (५) माल दोष (६) वरवधू दोष (७) निगल दोष (८) लम्बोत्तर दोष (९) स्तनदृष्टि दोष (१०) वायस दोष (११) खलीन दोष (१२) युग दोष (१३) कपित्थ दोष (१४) शिर प्रकंपित दोष (१५) मूकित दोष (१६) अंगुलि दोष (१७) भ्रूविकार दोष (१८) वारुणी पायी दोष (१९) दिग्देशावलोकन दोष (२०) ग्रीवोन्नमन दोष (२१) प्रणमन दोष (२२) निष्ठीवन दोष (२३) अंगमर्श दोष। **(मू.प्र. १२१२-१५)**

नोट : (१) १९वें नम्बर के दोष में दस दोष गर्भित हैं, क्योंकि पूर्वादि चार दिशा, चार विदिशा एवं ऊर्ध्व-अधो इस प्रकार दस दिशाएँ होती हैं।

(२) इन सबके लक्षण मूलाचार प्रदीप आदि ग्रन्थों में देखने चाहिए।

७. प्रश्न : कायोत्सर्ग किसलिए करना चाहिए ?

उत्तर : व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, क्षमा, मार्दव आदि धर्म; मूलगुण, उत्तरगुण, सम्यग्दर्शन और आत्मा की शुद्धता आदि में कषाय, नोकषाय, मद, उन्माद, भय, गमनागमन, प्रमाद, मन, इन्द्रियाँ, वचन और शरीर की चंचलता से जो अतिचार लगते हैं चतुर पुरुष उन्हीं को शुद्ध करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। इस संसार में मनुष्य वा देवों के द्वारा किये हुए जितने भी दुर्धर उपसर्ग हैं, जितने घोर परीषह हैं और जितने महान् तपश्चरण हैं उन सबको मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग धारण कर सहन करूंगा, यही समझकर वा इन्हीं कारणों से मुनियों को प्रतिदिन कायोत्सर्ग धारण करना चाहिए। **(मू.प्र. ११८२-८६)**

८. प्रश्न : कायोत्सर्ग करने का क्या फल है ?

उत्तर : कायोत्सर्ग का फल-

(१) कायोत्सर्ग करने से बुद्धिमानों के कर्म क्षण-क्षण में नष्ट होते रहते हैं।

(२) इसके प्रभाव से मुनियों को शीघ्र समस्त महाऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसमें संदेह नहीं है।

(३) इसके प्रभाव से धर्मात्माओं के धर्मध्यान वा शुक्लध्यान तथा शुभ लेश्याएँ सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं।

(४) कायोत्सर्गी मुनि के महाध्यान के प्रभाव से क्षण भर में इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं।

(५) इसके प्रभाव से सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी शांत होकर चरणों में शीश झुकाते हैं।

(६) इसके प्रभाव से सर्व विघ्न नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों विघ्नों के जाल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।

(७) इसके प्रभाव से केवलज्ञान प्रकट होता है।

(८) धर्म्यध्यान शुक्लध्यान पूर्वक कायोत्सर्ग करने से मुक्ति स्त्री अत्यन्त आसक्त होकर स्वयं आकर वर लेती है।

(९) जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वालों के कर्मजाल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। **(मू.प्र. ११८७-९६)**

९. प्रश्न : कायोत्सर्ग का काल कितना है ?

उत्तर : कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष है और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। तथा मध्यम काल एक दिन, एक रात, एक पक्ष, एक माह, दो माह, तीन माह, छह माह आदि हैं। **(मू. प्र. ११९८-२०००)**

१०. प्रश्न : त्याग धर्म में व्युत्सर्ग का अन्तर्भाव हो जाता है अत: व्युत्सर्ग का विधान व्यर्थ है ?

उत्तर : दसविध धर्म में कथित त्याग धर्म में व्युत्सर्ग का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि त्याग धर्म में प्रासुक निर्दोष आहार, औषधि आदि का अमुक समय तक त्याग किया जाता है। अत: व्युत्सर्ग तप इनसे पृथक् है। **(रा.वा. ७)**

११. प्रश्न : प्रायश्चित्त के भेदों में व्युत्सर्ग का वर्णन है अत: पुन: व्युत्सर्ग का कथन व्यर्थ है?

उत्तर : प्रायश्चित्तों में गिनाया गया व्युत्सर्ग अतिचार होने पर उसकी शुद्धि के लिए किया जाता है अत: प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग का प्रतिद्वन्द्वी है और व्युत्सर्ग तप स्वयं निरपेक्ष भावों से किया जाता है, इसलिए प्रायश्चित्त के भेद व्युत्सर्ग और स्वतंत्र व्युत्सर्ग तप इन दोनों में भेद है अर्थात् प्रायश्चित्त तप से तो लगे हुए दोषों का निराकरण होता है और व्युत्सर्ग तप से निर्जरा और संवर होता है। **(रा.वा. ८)**

१२. प्रश्न : व्युत्सर्ग का अनेक स्थलों में वर्णन करना निरर्थक है, यहाँ एक स्थल में करना ही पर्याप्त है ?

उत्तर : यहाँ उसका वर्णन होने से अन्य अनेक जगह उसका ग्रहण निरर्थक है, यह आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विभिन्न शक्ति आदि की अपेक्षा इसके विभिन्न प्रयोजन हैं। कहीं सावद्य का प्रत्याख्यान होता है और कहीं निरवद्य भी पदार्थ अमुक काल के लिए या अनियत काल के लिए छोड़े जाते हैं। निवृत्तिधर्म पुरुष की शक्ति अनुसार ही होता है अत: उत्तरोत्तर गुणों में प्रकृष्ट उत्साह उत्पादन करने के लिए व्युत्सर्ग का अनेक स्थलों में कथन करना सार्थक है, पुनरुक्त दोष नहीं है। **(रा.वा. ९)**

१३. प्रश्न : व्युत्सर्ग तप किसलिए किया जाता है ?

उत्तर : नि:सङ्गत्व, निर्भयत्व, जीविताशा का त्याग, दोषों का उच्छेद और मोक्षमार्ग की भावना में तत्परता आदि के लिए दो प्रकार के व्युत्सर्ग को कहा जाता है अत: दोनों प्रकार के व्युत्सर्ग अवश्य करने चाहिए। **(रा.वा. १०)**

ध्यान के स्वामी, लक्षण एवं काल का कथन-

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् ।।२७ ।।

उत्तम-संहननस्य-एकाग्र-चिन्ता-निरोधः ध्यानं-आन्तः मुहूर्त्तात्।

(उत्तम संहननस्य) उत्तम संहनन वाले के (एकाग्र चिन्ता निरोधः) चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही अर्थ में लगाना (ध्यानं) ध्यान कहलाता है। यह ध्यान (आन्तर्मुहूर्त्तात) अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है।

अर्थ - चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही अर्थ में लगाने को ध्यान कहते हैं, यह ध्यान उत्तम संहनन वाले के अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अभ्यन्तर तप छह प्रकार का कहा है, उसमें ध्यान के पूर्व के पाँच प्रकार के तपों का वर्णन कर दिया। अब ध्यान का वर्णन है अतः ध्यान के लक्षण, भेद आदि का वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. २६ उ.)**

२. प्रश्न : ध्याता कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : ध्याता तीन प्रकार के होते हैं-

(१) उत्तम (२) मध्यम (३) जघन्य।

उत्तम ध्याता - उत्तम सामग्री का योग मिलने पर ध्यान करने वाले व्यक्ति में उत्तम दर्जे का ध्यान होता है। (वह उत्तम ध्याता है)।

मध्यम ध्याता - मध्यम सामग्री के योग से मध्यम ध्यान होता है। मध्यम ध्यान वाला मध्यम ध्याता है।

जघन्य ध्याता - जघन्य सामग्री मिलने पर जघन्य ध्यान होता है। जघन्य ध्यान वाला जघन्य ध्याता है। **(त.अ. ४८-४९)**

३. प्रश्न : ध्यान करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ?

उत्तर : ध्यान करते समय ८ बातों का ध्यान रखना चाहिए।

(१) **ध्याता** - ध्यान करने वाला (२) **ध्यान** - चिंतन क्रिया (३) **ध्यान का फल** - प्रयोजन निर्जरा, संवर रूप। (४) **ध्येय** - चिंतन योग्य पदार्थ (५) **यस्य** - जिस पदार्थ का ध्यान करता है। (द्रव्य) (६) **यँत्र** - जहा ध्यान करता है। (क्षेत्र)। (७) **यदा** - जिस समय ध्यान करता है। (काल)। (८) **यथा** - जिस रीति से ध्यान करता है। (भाव) **(तत्त्वानुशासन ३७)।**

४. प्रश्न : सूत्र में 'उत्तम संहनन' पद का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : इसमें उत्तम संहनन का कथन, अन्य संहनन से इतने काल तक स्थिर रहने की असमर्थता प्रकट करने के लिए है। उत्तम संहनन वाला जीव ही इतने समय तक एक पदार्थ में चित्तवृत्ति का निरोध कर सकता है, अन्य संहनन वाले नहीं। इस बात की सूचना करने के लिए सूत्र में उत्तम संहनन शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ११)**

५. प्रश्न : सूत्र में 'एकाग्र' पद का ग्रहण क्यों किया हैं ?

उत्तर : सूत्र में 'एकाग्र' पद व्यग्रता-चंचलता की निवृत्ति के लिए है क्योंकि ज्ञान व्यग्र होता है। ध्यान की एकाग्रता को प्रकट करने के लिए दिया गया है। **(रा.वा. १२)**

६. प्रश्न : सूत्र में 'चिन्तानिरोधः' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'चिन्तानिरोधः' पद का ग्रहण ध्यान के स्वाभाव्य का द्योतन करने के लिए है। जैसे- पृथिवी की किसी पर्याय विशेष में घट शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् कहीं घट को पृथ्वी कह देते हैं, क्योंकि घट पृथ्वी की पर्याय है, उसी प्रकार ज्ञानात्मक चिन्ता की पर्याय विशेष में ध्यान शब्द का प्रयोग होता है, इस बात की सूचना करने के लिए 'चिन्तानिरोधः' ध्यान का विशेषण किया गया है। चिन्ता ज्ञान की पर्याय है। उस ज्ञान की व्यग्रता हट जाना ही ध्यान है। **(रा.वा. १३)**

७. प्रश्न : सूत्र में 'मुहूर्त्त' वचन किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'मुहूर्त्त' वचन आहारादि की व्यावृत्ति के लिए है। आहारादि का समय आ जाने पर चित्तवृत्ति ध्यान से च्युत हो जाती है अतः उस आहारादि काल की निवृत्ति के लिए मुहूर्त्त शब्द कहा गया है। अथवा ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके बाद एक ही ध्यान लगातार नहीं रह सकता है। **(रा.वा. १५)**

८. प्रश्न : निरोध का अर्थ अभाव है अतः गधे के सींग के समान ध्यान को असत् मानना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अन्य चिन्ता की निवृत्ति की अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषय रूप से प्रवृत्ति होने के कारण वह सत् कहा जाता है क्योंकि अभाव भावान्तर स्वभाव होता है और अभाव वस्तु का धर्म है यह बात सपक्ष सत्त्व विपक्ष व्यावृत्ति इत्यादि हेतु के अंग आदि के द्वारा सिद्ध होती है। अथवा यह निरोध 'निरोधने निरोधः' इस प्रकार भाव साधन नहीं है अपितु 'निरुध्यते इति निरोधः' जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्म साधन है। चिन्ता का जो निरोध है वह चिन्तानिरोध है। **(सर्वा. ८७२)** चिन्ता निरोध में निरोध शब्द का अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अर्थ है रोकना। जैसे- मूत्र निरोध। **(भ.आ.वि. १६९४)**

९. प्रश्न : अर्थ स्पष्ट करने के लिए 'एकार्थचिन्तानिरोधः' कहना चाहिए ?

उत्तर : स्पष्टता के लिए 'एकार्थचिन्तानिरोधः' पद कहने पर अनिष्ट का प्रसंग आता है। इसी अध्याय के चवालीसवें 'वीचारोर्थ व्यंजनयोगसंक्रान्तिः' सूत्र में द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य में संक्रम का विधान किया गया है। अतः यदि एकार्थ-निरोध कहेंगे तो इस सूत्र के साथ विरोध आयेगा। क्योंकि ध्यान में अर्थसंक्रमण स्वीकार किया है। **(रा.वा. १८)**

१०. प्रश्न : एकाग्र और एकार्थ तुल्य अर्थ वाले हैं अतः 'एकाग्र' पद में भी अनिष्ट दोष है?

उत्तर : एकाग्र पद देने में अनिष्ट का प्रसंग नहीं आता क्योंकि अग्र का अर्थ मुख होता है, अतः ध्यान अनेकमुखी न होकर एकमुखी रहता है और एकमुख में संक्रमण स्वीकार किया गया है। आभिमुख्य होने पर पुनःपुनः प्रवृत्ति को बताने के लिए एकाग्र पद दिया गया है, अतः इससे अनिष्ट का प्रसंग नहीं आता है। अथवा- यहाँ प्राधान्यवाची एक शब्द का ग्रहण है। अग्र शब्द प्राधान्यवाची है। इस पक्ष में यह अर्थ गृहीत है। **(रा.वा. १९-२०)**

नोट : ध्यान का लक्षण देखें **(९/२०)**

११. प्रश्न : ध्यान करते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कैसा होना चाहिए ?

उत्तर : ध्यान करते समय योग्य द्रव्यादि होने चाहिए-

द्रव्य - जो पदार्थ क्षुधा आदि से उत्पन्न हुए संक्लेश को दूर करने में समर्थ है ऐसे पदार्थ (द्रव्य) ध्यान के योग्य द्रव्य कहलाते हैं।

क्षेत्र - जो एकान्त हो, मनोहर हो और राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली सामग्री से रहित हो, जहाँ न अधिक गर्मी हो, न अधिक शीत हो, जहाँ साधारण गर्मी-सर्दी रहती हो अथवा जहाँ समान रूप से सभी आ जा सकते हों, ऐसे गुफा, नदियों के किनारे, पर्वत के शिखर, जीर्ण उद्यान और वन आदि प्रदेश ध्यान के योग्य क्षेत्र कहलाते हैं।

काल - जिस काल में न बहुत गर्मी और न अधिक सर्दी पड़ती हो तथा जो प्राणियों को दुःखदायी भी न हो ऐसा काल ध्यान के योग्य काल है।

भाव - ज्ञान, वैराग्य, धैर्य और क्षमा आदि भाव ध्यान के योग्य भाव कहलाते हैं। **(म.पु. २०/२०८-१०)**

१२. प्रश्न : पंचमकाल में ध्यान नहीं है क्योंकि इस काल में उत्तम संहनन का अभाव है ?

उत्तर : इस समय शुक्ल ध्यान नहीं है परन्तु धर्म्य ध्यान है। श्री **कुन्दकुन्द आचार्य** ने **मोक्ष प्राभृत** में कहा है- भरत क्षेत्र विषै दुःषमा नामक पंचमकाल में ज्ञानी जीव के धर्म ध्यान होता है। यह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित के होता है। जो यह नहीं मानता, वह अज्ञानी है। इस समय भी

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्र पद अथवा लौकान्तिक देव पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से चयकर नरदेह ग्रहण करके मोक्ष जाते हैं। **(द्र.सं.टी. ५७)**

तत्त्वानुशासन (८४ गाथा) में कहा है-

इस समय में जिनेन्द्र देव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं, किन्तु श्रेणी से पूर्व में होने वाले धर्मध्यान का अस्तित्व बतलाया है तथा जो यह कहा है कि 'इस काल में उत्तम संहनन का अभाव है इस कारण ध्यान नहीं होता' सो यह उत्सर्ग वचन है। अपवाद रूप व्याख्यान से तो उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी में शुक्लध्यान होता है और वह उत्तम संहनन से ही होता है किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में जो धर्मध्यान होता है- वह धर्मध्यान पहले तीन संहननों के अभाव होने पर भी अन्तिम के तीन संहननों से भी होता है। **(द्र.सं.गा. ५७ टी.)**

वज्रकाय वाले के ध्यान होता है, ऐसा आगमवचन उपशम तथा क्षपक श्रेणी के ध्यान की अपेक्षा कहा है। यह वचन नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान का निषेधक नहीं है। **(द्र.सं.गा. ५७ टी.)**

ध्यान के भेद-

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

अर्थ - आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के भेद हैं।

१. प्रश्न : ध्यान कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : ध्यान चार प्रकार के होते हैं-

(१) आर्त्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म्य ध्यान (४) शुक्ल ध्यान। अथवा - ध्यान दो प्रकार के होते हैं-

(१) निश्चय ध्यान (२) व्यवहार ध्यान। **(त.अ. ९६)**

(१) प्रशस्त ध्यान (२) अप्रशस्त ध्यान। **(ज्ञा. २५/२०)**

२. प्रश्न : निश्चय एवं व्यवहार ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : निश्चय ध्यान - आद्य जो निश्चय ध्यान है वह अभिन्न है यह आत्मा के अवलम्बन से उत्पन्न होता है।

व्यवहार ध्यान - व्यवहार ध्यान भिन्न है। यह परावलम्बन से होता है। भिन्न (व्यवहार) ध्यान में जिसने अभ्यास किया है वह निराकुल हो अभिन्न का क्या ध्यान कर सकता है। **(त.अ. ९६-९७)**

३. प्रश्न : प्रशस्त एवं अप्रशस्त ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रशस्त ध्यान - कर्म को दहन करने के सामर्थ्य से युक्त ध्यान प्रशस्त कहलाते हैं। **(रा.वा. ४)** जिस ध्यान में मुनि अस्तराग हो जाय और वस्तु स्वरूप का चिन्तन करे उसको निष्पाप आचार्यों ने प्रशस्त ध्यान माना है। **(ज्ञा. २५/१८)** शुभ चिन्तन करना प्रशस्त ध्यान है। **(म.पु. २१/२७)**

अप्रशस्त ध्यान - जिसने वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना तथा जिसका आत्मा राग-द्वेष, मोह से पीड़ित है ऐसे जीव की स्वाधीन प्रवृत्ति को अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। **(ज्ञा. २५/१९)** पाप के कारणभूत ध्यान अप्रशस्त हैं। **(रा.वा. ४)** अशुभ चिन्तन अप्रशस्त ध्यान है। **(म.पु. २१/२७)**

४. प्रश्न : आर्त्त ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : ऋत, दु:ख और अर्दन को आर्त्ति कहते हैं और आर्त्ति से होने वाला ध्यान आर्त्त ध्यान है।[१] **(रा.वा. १)**

आर्त्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें से एक से बना है। इनमें से ऋत का अर्थ दु:ख है और अर्ति की 'अर्दनं अर्ति:' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इसमें जो होता है वह आर्त्त है। **(सर्वा. ८७४)**

आर्त्ति का अर्थ दु:ख है, दु:ख असातावेदनीय के उदय से प्राप्त विष, कण्टकादि कारणों से होता है। आर्त्ति-दु:ख में होने वाला आर्त्त कहलाता है। जिस प्रकार गीला वस्त्र धूलि को आश्रय देता है, उसी प्रकार यह आर्त्तध्यान पाप को ग्रहण करता है। **(आ.सा. १०/१९)**

५. प्रश्न : आर्त्तध्यान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : आर्त्तध्यान दो प्रकार का होता है-

(१) बाह्य आर्त्तध्यान (२) अभ्यन्तर आर्त्तध्यान। **(चा.सा. २२५)**

अथवा - आर्त्तध्यान चार प्रकार का है-

(१) सभी प्रकार के अमनोज्ञ विषयों की उत्पत्ति नहीं हो, इस प्रकार बार-बार चिन्ता करना।

(२) किसी प्रकारके अमनोज्ञ विषय की उत्पत्ति हो गयी हो तो उसका अभाव किस प्रकार हो ऐसा निरन्तर संकल्प करना।

(३) मेरे इहलोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी इष्ट विषय का वियोग न हो ऐसा बार-बार चिन्तन करना।

(४) पहले उत्पन्न इष्ट विषय के वियोग के अभाव का बार-बार चिन्तन करना। **(हरि. ५६/१२-१७)**

---

१. ''क्या करूँ ? कैसे कार्य बने।'' इत्यादि शोक रूप विचार का नाम **आर्त्तध्यान** है। **(त.दी. ९/२७)**

(१) इष्ट वियोग (२) अनिष्ट संयोग (३) वेदना (४) निदान। **(ज्ञा. २५/२४)**

नोट : लक्षण देखें **(९/३०-३३)**

६. प्रश्न : बाह्य आर्त्तध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : शोक करना, रोना, विलाप करना, खूब जोर से रोना, विषयों की इच्छा करना, तिरस्कार करना तथा अभिमान करना आदि बाह्य आर्त्तध्यान कहलाता है। **(चा.सा.२२५)** परिग्रह में अत्यन्तासक्ति होना, कुशील रूप प्रवृत्ति होना, कृपणता करना, ब्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्त्त ध्यान के बाह्य-चिह्न हैं। इसी प्रकार शरीर का क्षीण हो जाना, शरीर की कान्ति नष्ट हो जाना, हाथों पर कपोल रखकर पश्चाताप करना, आँसू डालना तथा इसी प्रकार और भी अनेक कार्य आर्त्त ध्यान के बाह्य चिह्न कहलाते हैं। **(म.पु. २१/४०-४१)** रुदनादिक अर विलापादिक ये आर्त्त ध्यान के बाह्य लक्षण हैं। **(हरि. पु. ५६/४)**

७. प्रश्न : अभ्यन्तर (आध्यात्मिक) आर्त्तध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसे केवल अपनी ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक आर्त्तध्यान कहते हैं। **(चा.सा. २२५)** जो अन्तरंग में अधिक तीव्र कलुषता करने वाला है उसे अभ्यन्तर आर्त्तध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २००४)**

८. प्रश्न : आर्त्तध्यानी के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : ग्लानि होना, आँसू निकलना, शोक करना, शरीर का सूख जाना, निश्चेष्टता, मूर्च्छा, शरीर में कम्पन होना, बेचैनी का होना, श्वास चलना, स्वरभङ्ग, आवाज बदल जाना, मुख का काला पड़ जाना, दुर्बलता, मौन रहना, सामने देखते रहना, मृत्यु, अधिक पसीना आना, नेत्रों की टिमकार बन्द कर बैठना, रोग, याचना तथा असत्य भाषण करना ये सब शरीर की दशाएँ स्पष्ट ही अपने विषय में हों या दूसरे के विषय में, आर्त्तध्यान से उत्पन्न होती हैं, अत: आर्त्तध्यान को सूचित करने वाली हैं। **(आ.सा. १०/१८)**

आर्त्तध्यान के आश्रित चित्त वाले पुरुषों के बाह्य चिह्न शास्त्रों के पारगामी विद्वानों ने इस प्रकार बताये हैं-

प्रथम तो शंका होती है, फिर शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है, सावधानी नहीं होती, कलह करता है, चित्तभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्ति हो जाती है, चित्त एक जगह नहीं ठहरता है, विषयसेवन में उत्कण्ठा रहती है, निरन्तर निद्रामग्न होता है, अंग में जड़ता होती है, खेद होता है, मूर्च्छा होती है, आदि चिह्न आर्त्तध्यानी के होते हैं। **(ज्ञा. २५/४३)**

९. प्रश्न : आर्त्तध्यान के ध्याता, ध्येय एवं फल क्या हैं?

उत्तर : आर्त्त ध्यान का ध्याता - सैकड़ों क्लेशों से व्याकुल हुआ और कषायों से कलुषित हुआ आत्मा ही इसका ध्याता है।

आर्त्तध्यान में ध्येय - अशुभ करने वाली संसार की अशुभ वस्तु ही है।

आर्त्त ध्यान का फल - समस्त क्लेशों से भरी हुई तिर्यंचगति का प्राप्त होना ही इसका फल है।

मिथ्यादृष्टियों के अत्यन्त क्लेश से यह ध्यान होता है तथा सम्यग्दृष्टियों के बिना क्लेश के होता है। **(मू.प्र. २०१४-१६)**

१०. प्रश्न : आर्त्तध्यान किसके होता है ?[१]

उत्तर : जो पुरुष दु:खकारी विषय का संयोग होने पर ऐसा चिन्तन करे कि यह मुझसे कैसे दूर हो ? और उसके संयोग से विक्षिप्त चित्त होकर चेष्टा करे (रुदनादि करे) उसके आर्त्तध्यान होता है। जो मनोहर विषय सामग्री का वियोग होने पर ऐसा चिन्तन करे कि उसको कैसे पाऊँ, उसके वियोग से संताप रूप प्रवृत्ति करता है उसके आर्त्तध्यान होता है। **(का.अ. ४७३-७४)** ये आर्त्त ध्यान पीड़ित आत्मा वाले जीवों को होते हैं। **(म.पु. २१/३७)**

११. प्रश्न : आर्त्तध्यान की सामग्री क्या है ?

उत्तर : यह आर्त्तध्यान कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अन्तर्मुहूर्त्त इसका समय है, मनुष्यों के बिना ही यत्न के यह उत्पन्न होता है और दु:खादिक का होना ही इसका कारण है। **(मू.प्र. २०१७)**

१२. प्रश्न : आर्त्तध्यान से कौन-कौन से दोष उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : यह आर्त्तध्यान पहले के संस्कारों के निमित्त से स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, निंद्य है, समस्त दु:खों की खानि है और समस्त पापों का कारण है। यह आर्त्त ध्यान अशुभध्यान है और समाधि, धर्मध्यान-शुक्लध्यान को नाश करने वाला है, अत एव चतुर पुरुषों को धर्मध्यान के बल से इस कठिनता से छूटने योग्य आर्त्तध्यान को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए। **(मू.प्र. २०१८-२१)**

१३. प्रश्न : रौद्रध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसका भाव अत्यन्त क्रूर है तथा जिसकी दया नष्ट हो गयी है, ऐसा प्राणी रुद्र कहलाता

---

१. देशव्रत के धारक श्रावक के भी चारों आर्त्तध्यान हुआ करते हैं। क्योंकि उसके भी आंशिक असंयत परिणाम होता है। अत: कथंचित् शल्य रूप होने से निदान नाम का आर्त्तध्यान भी बन जाता है। मुनियों के निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं होता क्योंकि वे सर्वथा शल्यरहित होते हैं। **(त.दी. ९/३४)**

है, और रुद्र में जो हो वह रौद्र कहलाता है। जिस प्रकार गीला चमड़ा बहुत भारी धूलि का घर होता है उसी प्रकार यह रौद्र ध्यान पाप कर्मों का घर होता है। **(आ.सा. १०/२३)**

रुलाने वाले को रुद्र या क्रूर कहते हैं, उस रुद्र का कर्म या भाव रौद्र ध्यान है। **(रा.वा. २)** जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है ऐसे पुरुष में जो ध्यान होता है उसे रौद्र ध्यान कहते हैं। **(म.पु. २१/४२)** चोर, जार-शत्रुजनों के वध-बन्धन सम्बन्धी महाद्वेष से उत्पन्न होने वाला रौद्र ध्यान है। **(नि.सा. ८९)**

१४. प्रश्न : रौद्र ध्यान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : रौद्र ध्यान दो प्रकार का है- (१) बाह्य रौद्र ध्यान (२) अभ्यन्तर रौद्रध्यान।

बाह्य रौद्रध्यान - लाल नेत्र होना, कठिन वचन कहना, किसी की निन्दा करना, किसी का तिरस्कार करना, किसी को मारना वा बाँधना वा और भी किसी प्रकार की पीड़ा देना बाह्य रौद्र ध्यान है और वह अनेक प्रकार का है। **(मू.प्र. २०२२)**

अभ्यन्तर रौद्र ध्यान - हिंसा आदि कार्यों में जो संरम्भ, समारम्भ और आरम्भरूपी प्रवृत्ति है वह अभ्यन्तर रौद्र ध्यान है। **(हरि.पु. ५६/२२)** जो अन्तरंग में पीड़ा उत्पन्न करता रहे तथा किसी को मालूम न हो उसको अभ्यन्तर रौद्रध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०२३)**

अथवा - रौद्र ध्यान चार प्रकार का है-

(१) हिंसानन्द (२) मृषानन्द (३) स्तेयानन्द (४) विषय संरक्षणानन्द **(त.सू. ३५)**

नोट : रौद्रध्यान के लक्षण देखें (९/३५)

१५. प्रश्न : रौद्रध्यान के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : इन्द्रियों की सामर्थ्य का घट जाना, मुख और नेत्रों का लाल हो जाना, शरीर में अत्यधिक दाह का होना, हथियारों को उठाना, निष्ठुर वचन बोलना, भृकुटि चढ़ाना, अपनी प्रशंसा करना, पसीना आना, अपने ओठ को कठोरता से डसना, हाथ पटकना तथा शरीर में कम्पन होना आदि शरीर के चिह्न रौद्र भाव-रौद्र ध्यान से उत्पन्न होते हैं। ये चिह्न अपने अनुभव में आते हैं और देखने वाले अन्य लोग भी इन्हें जान लेते हैं। **(आ.सा. १०/२२)**

रौद्र ध्यान करने वाले में क्रूरता, दण्ड की परुषता, वञ्चकता, कठोरता, निर्दयता होती है, अग्नि के स्फुलिंग समान लाल नेत्र होते हैं, भौहें टेढ़ी होती हैं। आकृति भयानक होती है, देह में कंपन होता है तथा शरीर में पसीना होता है। **(ज्ञा. २६/३७-३८)** भौहें टेढ़ी हो जाना, मुख का विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर काँपने लगना और नेत्रों का अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न हैं। **(म.पु. २१/५३)**

१६. प्रश्न : रौद्रध्यान किसके होता है ?

उत्तर : जो पुरुष हिंसा आदि में आनन्द युक्त होता है तथा असत्य वचन से प्रवृत्ति करता है और इन्हीं में विक्षिप्तचित्त बना रहता है, जो पुरुष दूसरे की विषयसामग्री के हरण करने के स्वभाव वाला हो, अपनी विषय सामग्री की रक्षा करने में प्रवीण हो, इन दोनों कार्यों में निरन्तर चित्त को लव-लीन रखता है उसके रौद्रध्यान होता है। **(का.अ. ४७५-७६)**

१७. प्रश्न : रौद्रध्यान में ध्यान-ध्याता-ध्येय और उसका फल क्या है ?

उत्तर : रौद्रध्यान में ध्यान आदि-

ध्यान - मूर्ख लोगों के रुद्र रूप मन वचन काय से उत्पन्न चिन्तन रौद्रध्यान है।

ध्याता - तीव्र कषाय और लाल नेत्रों को धारण करने वाला रौद्र परिणामी जीव इसका ध्याता होता है।

ध्येय - तीनों लोकों में उत्पन्न हुए रौद्र पदार्थों के समूह ही इसके ध्येय हैं।

फल - उन दुष्टों को अत्यन्त दु:ख और संताप से भरे हुए नरक में अनेक सागर पर्यंत डाल रखना इसका फल है।[१] **(मू.प्र. २०३३-३५)**

१८. प्रश्न : रौद्रध्यान की सामग्री क्या-क्या है ?

उत्तर : इस ध्यान में उत्कृष्ट अशुभ लेश्याएँ होती हैं। इसका समय अन्तर्मुहूर्त है, भाव निन्द्य औदयिक है अथवा क्षायोपशमिक है, पन्द्रह प्रमाद ही इसका आधार हैं, कषायों से उत्पन्न होता है। **(मू.प्र. २०३६-३९)**

यह परोक्ष ज्ञान से होता है अत: क्षयोपशम भावरूप है। भाव लेश्या और कषाय के आधीन होता है इसलिए औदयिक भावरूप भी है। **(हरि.पु. ५६/२७-२८)**

१९. प्रश्न : रौद्र ध्यान के कौन-कौन से दोष हैं ?

उत्तर : यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान रौद्रकर्मों से उत्पन्न होता है, रौद्रकर्म और रौद्रभावों का कारण है, रौद्र वा भयानक दु:ख उत्पन्न करने वाला है, नरकादिक रौद्रगति में उत्पन्न कराने वाला है, रौद्र रूप मन-वचन-काय से उत्पन्न होता है और रौद्र रूप शत्रुओं को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार का यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान धर्मात्मा पुरुषों को धर्मध्यान धारण कर बड़े प्रयत्न से छोड़ देना चाहिए, सब जगह इसका त्याग कर देना चाहिए। **(मू.प्र. २०३९-४०)**

२०. प्रश्न : धर्मध्यान किसे कहते हैं ?[२]

---

१. रौद्रध्यान नारकपने का कारण है और प्रधानता से नारकियों में यही ध्यान पाया जाता है। मिथ्यादृष्टि के और जिसने पहले नरकायु का बन्ध कर लिया है ऐसे अव्रत सम्यग्दृष्टि के भी वह नरक के लिए होता है।

२. 'लोगों का भला हो' आदि विचार का नाम धर्मध्यान है। (त.दी. ९/२८-३५)

उत्तर : व्रतों में दृढ़ रहना, सदाचार पालन करना और तत्त्वों का चिंतन करना धर्मध्यान का लक्षण है। **(मू.प्र. २०४१)**

जो धर्म से युक्त होता है वह धर्म्य है। **(सर्वा. ८७४)**

समस्त पदार्थों के स्वभाव में लगा हुआ साम्य भाव से स्थित जो चित्त है, वह धर्म्य है अथवा समता भाव से समस्त पदार्थों का चिन्तन करना धर्म्य है।

धर्म्य से युक्त ध्यान को धर्म्यध्यान कहते हैं। **(आ.सा. १०/४६)**

२१. प्रश्न : धर्म्य ध्यान कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : धर्मध्यान के दो भेद हैं-

(१) बाह्य धर्म्यध्यान (२) अभ्यन्तर धर्म्यध्यान। **(चा.सा.)**

(१) मुख्य धर्म्यध्यान (२) उपचार धर्म्यध्यान।

अप्रमत्त गुणस्थान वालों के मुख्य एवं अन्य (चतुर्थादि) गुणस्थानों में औपचारिक ध्यान होता है। **(त.अ. ४७)** धर्मध्यान दस प्रकार का होता है। **(चा.सा.)**

धर्मध्यान चार प्रकार के होते हैं। **(त.सू. ३६)**

नोट : धर्मध्यानों के लक्षण देखें ९/३६।

२२. प्रश्न : बाह्य धर्म्यध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : ध्यान करते समय सज्जन लोगों के मन-वचन-काय की क्रियाओं का जो बन्द हो जाना है उसको बाह्य धर्म्यध्यान कहते हैं।

जिसे अन्य लोग भी अनुमान से जान सकें, उसे बाह्य धर्मध्यान कहते हैं। सूत्रों के अर्थ की गवेषणा, व्रतों को दृढ़ रखना, शील-गुणों में अनुराग रखना, हाथ-पैर, मुँह आदि शरीर का परिस्पन्दन और वचन व्यापार को बन्द करना तथा जंभाई लेना, जंभाई के उद्‌गार प्रकट करना, छींकना, प्राण-अपान का उद्रेक आदि सब क्रियाओं का त्याग करना बाह्य धर्म्यध्यान है। **(चा.सा. २३१)**

शास्त्र के अर्थ की खोज करना, शीलव्रत का पालन करना, गुणों के समूह में अनुराग रखना अंगड़ाई, जंभाई, छींक-डकार और श्वासोच्छ्वास में मन्दता होना, शरीर को निश्चल रखना तथा आत्मा को व्रतों से युक्त करना ये धर्म्यध्यान के बाह्य लक्षण हैं। **(हरि.पु. ५६/३६-३८)**

पंच परमेष्ठी में भक्ति रखना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना बहिरंग धर्म्यध्यान है। **(का.अ. ४८२ टी.)**

२३. प्रश्न : अभ्यन्तर धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अपने आत्मा के ही गोचर है और अन्त:करण को शुद्ध करने वाला है उसको अन्तरंग धर्मध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०४१-४२)**

जिसे केवल अपना ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक धर्म्यध्यान कहते हैं। **(चा.सा. २३१)** सहज शुद्ध चैतन्य से सुशोभित और आनन्द से भरपूर अपनी आत्मा में उपादेय बुद्धि करके पुन: 'मैं अनन्त ज्ञानवाला हूँ, मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ' आदि भावना करना अभ्यन्तर धर्मध्यान है। **(का.अ.४८२ टी.)**

२४. प्रश्न : धर्म्यध्यान किसके होता है ?

उत्तर : जिसने देखे, सुने और अनुभव किये हुए दोष सब छोड़ दिये हैं, जिसके कषायों का उदय अत्यन्त मन्द है और जो अत्यन्त श्रेष्ठ भव्य है उसी के दस प्रकार का धर्म ध्यान होता है। **(चा.सा. २३१)**

२५. प्रश्न : धर्म्यध्यान के ध्यान, ध्याता, ध्येय और फल क्या हैं ?

उत्तर : धर्म्यध्यान - जो परमानन्द उत्पन्न करने वाला शुभ संकल्प है उसको बुद्धिमान लोग धर्म्यध्यान कहते हैं।

ध्याता - जो व्रत, शील और गुणों से सुशोभित है, जो वीतराग है, समस्त तत्त्वों का ज्ञाता है, बुद्धिमान है और एकान्तवास में सदा सन्तुष्ट रहता है वह इस ध्यान का ध्याता है।

ध्येय - श्री जिनागम में कहे हुए जो सर्वोत्कृष्ट जीव-अजीवादिक समस्त तत्त्व वा पदार्थ हैं अथवा परमेष्ठियों का जो स्वरूप है वह सब इस ध्यान का ध्येय समझना चाहिए।

फल - तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियों को उत्पन्न करने वाला और समस्त इष्ट पदार्थों को सिद्ध करने वाला ऐसे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्वर्गों का सुख प्राप्त होना, इस ध्यान का फल समझना चाहिए। **(मू.प्र. २०६७-७०)**

२६. प्रश्न : धर्म्यध्यान की सामग्री क्या-क्या है ?

उत्तर : पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएँ इस ध्यान का आलम्बन हैं। इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं और इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। **(मू.प्र. २०७१)**

२७. प्रश्न : धर्म्यध्यान का फल क्या है ?

उत्तर : यह धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शन का नाश करने वाली मोहनीय की सातों प्रकृतियों का नाश करने वाला है और शेष मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों के उपशम का कारण है। यह धर्म्यध्यान बड़े प्रयत्न से उत्पन्न होता है, सुख की खानि है। **(मू.प्र. २०७३-७४)** उत्कृष्ट धर्म्यध्यान के शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं अथवा - जैसे- मेघ पटल पवन से ताड़ित होकर क्षणमात्र में विलीन हो जाते हैं वैसे ही ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर कर्म मेघ भी विलीन हो जाते हैं। **(ध. १३/७७)**

जो भव्य पुरुष इस पर्याय के अन्त समय में समस्त परिग्रहों को छोड़कर धर्मध्यान से अपना शरीर छोड़ते हैं, वे पुरुष पुण्य के स्थानरूप ऐसे ग्रैवेयक व अनुत्तर विमानों में तथा सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं। **(ज्ञा. ४१/१६)**

अशुभ कर्मों की अधिक निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ इन्द्र आदि का सुख प्राप्त होना यह सब उत्तम धर्म्य ध्यान का फल है। अथवा - स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होना इस धर्म्यध्यान का फल कहा जाता है। इस धर्म्य-ध्यान से स्वर्ग की प्राप्ति तो साक्षात् होती है परन्तु परम पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति परम्परा से होती है। **(म.पु. २१/१६२-६३)**

२८. प्रश्न : धर्म्यध्यानी के क्या-क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : नि:शङ्कित आदि अंगों के घर स्वरूप उत्तम श्रद्धान, तत्त्वार्थ का चिन्तन करना, धर्म और धर्म के फल में उत्साह होना, प्रशम, दया, इन्द्रियदमन, मोक्षमार्ग में श्रेष्ठ उद्यम, संयम, वैराग्य, उत्तम गुप्तियों का होना, परिणामों में अत्यन्त कोमलता का होना, माया रहित होना, परिग्रह का अभाव होना और समस्त वस्तुओं में परम उपेक्षा का होना, ये सब धर्म के लक्षण अथवा धर्मात्मा जीव के चिह्न कहे गये हैं। **(आ.सा. १०/४५)** मार्दव, आर्जव, नि:संगता और हेयोपादेय तत्त्व को समझने-समझाने में पटुता होना ये सब धर्म ध्यान में प्रवृत्त हुए व्यक्ति के लक्षण हैं या धर्मध्यान के लक्षण हैं। **(म.क. १७९४)**

आगमोपदेश से अथवा निसर्ग से जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये पदार्थों का श्रद्धान होता है, वह धर्मध्यान का लिङ्ग है। जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दानसम्पन्नता, श्रुत, शील और संयम में रत होना, ये सब कार्य धर्म ध्यान में होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। **(ध. १३/७६)**

२९. प्रश्न : शुक्लध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है और ध्यान की धारणा रहित है अर्थात् मैं इसका ध्यान करूँ ऐसी इच्छा से रहित है और जिसमें चित्त अन्तर्मुख होता है उसको शुक्लध्यान कहते हैं। **(ज्ञा. ४२/४)** शुचि गुण के योग से शुक्ल होता है। जैसे-मैल हट जाने से शुचि गुण के योग से वस्त्र शुक्ल कहलाता है, उसी प्रकार गुणों के साधर्म्य से निर्मल गुण रूप आत्म परिणति भी शुक्ल कहलाती है। **(रा.वा. ४)**

जहाँ गुण अति-विशुद्ध होते हैं, जहाँ कर्मों का क्षय और उपशम होता है, जहाँ लेश्या भी शुक्ल होती है उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। **(का.अ. ४८३)**

हे भव्य ! कुछ भी चेष्टा मत कर, कुछ भी मत बोल और कुछ भी चिन्तन मत कर, जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीन होकर स्थिर हो जावे, आत्मा में लीन होना ही परम ध्यान है। **(द्र.सं. ५६)**

रागादि विकल्प से रहित स्वसंवेदन ज्ञान को आगम भाषा में शुक्लध्यान कहा है। **(प्र.सा.ता. ८)** ध्यान, ध्येय, ध्याता, ध्यान का फल आदि के विविध विकल्पों से वियुक्त, अन्तर्मुखाकार समस्त इन्द्रिय

समूह के अगोचर निरंजन निज परमतत्त्व में अविचल, स्थिति रूप वह निश्चल शुक्लध्यान है। **(नि.सा.टी. १२३)**

३०. प्रश्न : शुक्लध्यान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : शुक्लध्यान दो प्रकार का है-

(१) बाह्य शुक्ल ध्यान (२) आध्यात्मिक शुक्लध्यान।

(१) शुक्ल ध्यान (२) परम शुक्लध्यान।

शुक्ल ध्यान दो प्रकार का है-

(१) पृथक्त्व वितर्क विचार (२) एकत्व वितर्क विचार।

परमशुक्ल ध्यान दो प्रकार का है-

(१) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती (२) समुच्छन्न क्रियानिवृत्ति। **(चा.सा. २७१)**

शुक्लध्यान चार प्रकार का है-

(१) पृथक्त्व वितर्कवीचार (२) एकत्ववितर्क वीचार (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती (४) व्युपरत क्रियानिवृत्ति। **(त. सू. ३९)**

नोट : शुक्लध्यान के लक्षण देखें **(९/३९)**

३१. प्रश्न : बाह्य शुक्लध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ध्यान में अत्यन्त उत्कृष्ट साम्य भाव प्रकट हो जाय, नेत्रों का स्पंदन आदि सब छूट जाँय, सज्जनों के सब संकल्प-विकल्प छूट जाँय और जो सज्जनों को प्रकट मालूम हो उसको बाह्य शुक्ल ध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०७५-७९)**

शरीर और नेत्रों को परिस्पन्दन रहित रखना, जंभाई-जंभा उद्‌गार आदि नहीं होना, प्राणापान का प्रचार व्यक्त न होना अथवा प्राणापान का प्रचार नष्ट हो जाना और किसी के द्वारा जीता न जाना बाह्य शुक्लध्यान है। **(चा.सा. २७१)**

३२. प्रश्न : अभ्यन्तर शुक्लध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अपने आत्मा के ही गोचर है और मन को शुद्ध करने वाला है, उस महान् शुक्लध्यान को अभ्यन्तर शुक्लध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०७५-७९)**

जो केवल आत्मा को स्वसंवेद्य हो वह आध्यात्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है। **(चा.सा. २७१)**

३३. प्रश्न : इस ध्यान को शुक्लध्यान क्यों कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा के शुचि गुण के सम्बन्ध से इसका नाम शुक्ल पड़ा है। कषाय रूपी रज के क्षय होने से या उपशम होने से जो आत्मा के निर्मल परिणाम होते हैं, वही शुचि गुण का योग है और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणि की शिखा के समान निर्मल और निष्कम्प है। **(ज्ञा. ४२/ ५वें के बाद क्षेपक)**

शुक्ल ध्यान पीतादि लेश्यावाले के न होकर केवल शुक्ल लेश्या वाले के ही होता है तथा इसमें अत्यन्त शुक्ल-पवित्र अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं, आत्मा के अत्यन्त शुचि भाव कर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म मैल से रहित शुद्ध करने वाला यह ध्यान है अत: सार्थक नाम वाला यह शुक्ल ध्यान है। ''शुचिगुणयोगात् शुक्लम्''। **(म.क. १९६८)** कषाय मल का अभाव होने से इसे शुक्लपना प्राप्त है। **(ध. १३/७७)**

३४. प्रश्न : शुक्लध्यान के ध्यान, ध्याता, ध्येय एवं फल क्या हैं ?

उत्तर : ध्यान - समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित होकर अपने आत्मा का चिंतन करना शुक्ल ध्यान है।

ध्याता - पहले दो शुक्ल ध्यानों के ध्याता ग्यारह अंग-चौदह पूर्वों के ज्ञाता हैं तथा अंत के दो शुक्ल ध्यानों के ध्याता उपचार से केवली भगवान हैं। पहला शुक्ल ध्यान तीन संहनन वालों के तथा शेष तीन ध्यान आदि के एक संहनन वालों के होते हैं।

ध्येय - अपना आत्मतत्त्व ही इस ध्यान का ध्येय है।

फल - प्रथम शुक्लध्यान का फल सर्वार्थ सिद्धि पर्यन्त गमन, द्वितीय शुक्ल ध्यान का फल केवलज्ञान की प्राप्ति, तृतीय शुक्लध्यान का फल समस्त कर्मों का क्षय होना तथा चतुर्थ ध्यान का फल मोक्ष की प्राप्ति होना है। **(मू.प्र. २०८५-८८)**

३५. प्रश्न : शुक्लध्यान किसके होता है ?

उत्तर : शुक्लध्यान का अवलम्बन शुक्ल लेश्या है, इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है तथा पहले शुक्लध्यान में क्षायोपशमिक भाव है। जिनके हृदय में किसी भी प्रकार की विकलता नहीं है और जो दृढ़ संहनन को धारण करने वाले हैं उनको यह चारों प्रकार का शुक्लध्यान यथार्थ रीति से धारण करना चाहिए। **(मू.प्र. २०८९-९२)**

३६. प्रश्न : शुक्लध्यानी के क्या-क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : असम्मोह, विवेक और विसर्ग अर्थात् त्याग आदि शुक्ल ध्यान के लिंग हैं। वह धीर परीषहों और उपसर्गों से न तो चलायमान होता है और न डरता है तथा वह सूक्ष्म भावों में और देव माया में भी मुग्ध नहीं होता है। **(ध. १३/८२)**

३७. प्रश्न : शुक्ल ध्यान का फल क्या है ?

उत्तर : योगी पुरुष सिद्ध के समान अपने निर्मल आत्मा का जैसा ध्यान करते हैं वैसे ही शीघ्र निर्मल आत्मा की प्राप्ति उन्हें अवश्य हो जाती है। जिस प्रकार वज्र से पर्वत चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार अपने आत्मा का ध्यान करने मात्र से ध्यानी पुरुषों के अनन्त अशुभ कर्मों के पुद्गल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। इस ध्यान रूपी दीपक के सम्बन्ध से सज्जन पुरुषों का मोह और अज्ञान रूपी समस्त अन्धकार बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है और बहुत ही शीघ्र ज्ञान रूपी सम्पत्ति प्रकट हो जाती है। इस श्रेष्ठ ध्यान के द्वारा जैसे-जैसे मनुष्यों के योगों की शुद्धि होती जाती है वैसे-ही-वैसे उनको समस्त बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ प्राप्त होती जाती हैं। **(मू.प्र. २०९३-९६)**

प्रशस्त ध्यानों का फल

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

(परे) पीछे के दो ध्यान **(मोक्षहेतू)** मोक्ष के हेतु हैं।

अर्थ - पीछे के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

१. प्रश्न : एक के ही परत्व होता है, दो में नहीं ?

उत्तर : केवल एक में ही परत्व होता है ऐसा नहीं है, अपितु व्यवहित में भी पर शब्द का प्रयोग होता है। जैसे-मथुरा पाटलिपुत्र से परे है, अथवा द्विवचन का निर्देश होने से अन्तिम शुक्ल और उसके समीपवर्ती धर्मध्यान का पर शब्द से ग्रहण होता है, क्योंकि समीपवर्ती अन्य को भी 'पर' कहते हैं। **(रा.वा. १-२)**

२. प्रश्न : पीछे के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं तो पूर्व के दो ध्यान किसके हेतु हैं ?

उत्तर : 'परे मोक्षहेतू' धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं ऐसा कहने पर संमोहत्व हेतु से परिशेष न्याय द्वारा पूर्व के आर्त्त और रौद्रध्यान संसार के कारण हैं, यह जाना जाता है। (क्योंकि तीसरे साध्य का अभाव है)। **(श्लो. ७/२८५)**

प्रथम आर्त्तध्यान : अनिष्टसंयोग

आर्त्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

आर्त्त-अमनोज्ञस्य-सम्प्रयोगे-तत्-विप्रयोगाय-स्मृति-समन्वाहारः।

(अमनोज्ञस्य) अप्रिय पदार्थों का (सम्प्रयोगे) संयोग होने पर (तद्विप्रयोगाय) उनका वियोग करने के लिए (स्मृति समन्वाहारः) निरन्तर चिन्तन करना (आर्त्त) आर्त्त ध्यान है।

अर्थ - अमनोज्ञ वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग के लिए निरन्तर चिन्तन करना आर्त्त ध्यान है।

समन्वाहार - स्मृति को दूसरे पदार्थ की ओर न जाने देकर बार-बार उसी में लगाये रखना समन्वाहार है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उन (उपर्युक्त चार प्रकार के) ध्यानों में से प्रथम भेद के लक्षण का निर्देश करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ८७७)**

इन ध्यानों का लक्षण क्या है ? इनमें अनेक वक्तव्यों की सम्भावना होने पर क्रम वृत्ति से प्राप्त आदि के आर्त्तध्यान का लक्षण इस सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(रा.वा. ३० उ.)**

२. प्रश्न : अमनोज्ञ किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाधाकारी, विष, कण्टक, शत्रु, शस्त्रादि अप्रिय वस्तुएँ अमनोज्ञ कहलाती हैं। इन्हें बाधा की कारण होने से अमनोज्ञ कहते हैं। **(रा.वा.१)**

दु:खों के कारणों को अमनोज्ञ कहते हैं। **(चा.सा. २२५)**

३. प्रश्न : अमनोज्ञ पदार्थ कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : अमनोज्ञ पदार्थ दो प्रकार के होते हैं-

(१) बाह्य अमनोज्ञ (२) अभ्यन्तर अमनोज्ञ।

बाह्य अमनोज्ञ दो प्रकार का है-

(१) बाह्य चेतन अमनोज्ञ (२) बाह्य अचेतन अमनोज्ञ।

बाह्य चेतन अमनोज्ञ - देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोंके द्वारा दिया हुआ दु:ख (चेतन के द्वारा किया गया होने से) बाह्य चेतन अमनोज्ञ है।

बाह्य अचेतन अमनोज्ञ - विष, काँटा, अग्नि, शस्त्र, क्षार, शीत, उष्ण आदि के द्वारा प्राप्त हुआ दु:ख अचेतनकृत बाह्य अमनोज्ञ है।

अभ्यन्तर अमनोज्ञ दो प्रकार का है-

(१) शारीरिक अभ्यन्तर अमनोज्ञ (२) मानसिक अभ्यन्तर अमनोज्ञ।

शारीरिक अभ्यन्तर अमनोज्ञ - वात, पित्त, श्लेष्मा की विषमता से उत्पन्न हुई मस्तक, आँख, दाँत और पेट आदि की पीड़ा से उत्पन्न हुआ दु:ख का साधन शारीरिक आध्यात्मिक (अभ्यन्तर) अमनोज्ञ है।

मानसिक अभ्यन्तर अमनोज्ञ - अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, विषाद, चित्त की मलिनता आदि से उत्पन्न हुआ दु:ख का साधन मानसिक आध्यात्मिक अमनोज्ञ है। **(चा.सा. २२५)**

४. प्रश्न : अनिष्ट संयोग आर्त्तध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपर्युक्त चार प्रकार के अमनोज्ञों का सम्बन्ध मेरे साथ उत्पन्न न हो, इस प्रकार के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना और वह भी तीव्र कषायों के सम्बन्ध से चिन्तन करना अमनोज्ञ पदार्थ के साथ

सम्बन्ध उत्पन्न न होने के संकल्प का चिन्तन (अमनोज्ञ संयोग) नाम का पहला आर्त्तध्यान है। **(चा.सा. २२५)**

क्रूर, व्यन्तर, चोर, वैरी मनुष्य, सिंह-सर्प तथा विष आदि के द्वारा आपत्ति के प्राप्त होनेपर उसके नाश करने की बहुत चिन्ता होती है। 'मेरा आपत्ति के साथ सदा किस प्रकार संयोग न हो' इस प्रकार के क्लेश से मन सदा प्रेरित होता रहता है। यह अनिष्ट-संयोग जन्य आर्त्तध्यान है। **(आ.सा. १०/१५)**

इस जगत् में अपना स्वजन, धन, शरीर इनके नाश करने वाले अग्नि, जल, विष, शस्त्र, सर्प, सिंह, दैत्य तथा स्थल के जीव, जल के जीव, बिल के जीव तथा दुष्ट जन वैरी, राजा इत्यादि अनिष्ट पदार्थों के संयोग से जो हो वह पहला आर्त्तध्यान है। तथा चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थों के प्राप्त होनेपर जो मन क्लेश रूप हो उसको भी आर्त्त ध्यान कहा है। तथा जो सुने, देखे, स्मरण में आये, जाने हुए तथा निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थों से मन को क्लेश हो वह पहला आर्त्तध्यान है। जो समस्त प्रकार के अनिष्ट पदार्थों के संयोग होने पर उनके वियोग होने का बारंबार चिन्तन हो उसे भी तत्त्व के ज्ञाता पहला अनिष्ट संयोग नाम का आर्त्तध्यान कहते हैं। **(ज्ञा. २५/२५-२८)**

दूसरा आर्त्तध्यान : इष्टवियोग

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अर्थ - मनोज्ञ वस्तु का वियोग हो जाने पर उसके संयोग के लिए बार-बार चिन्तन करना (इष्ट वियोग) आर्त्तध्यान है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : मात्र इन अप्रिय चेतन-अचेतन, द्रव्य- पर्याय का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए ही चिन्तन होता है, इतना ही नहीं अपितु इष्ट का वियोग होने पर भी आर्त्तध्यान होता है, ऐसा जानना चाहिए, अत: इससे विपरीत ध्यान का लक्षण कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. ३१ उ.)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'विपरीत' पद का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : पूर्व में कहे हुए से विपरीत, इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनो इष्ट अपने पुत्र, स्त्री और धन आदि का वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिए संकल्प, निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्त्तध्यान जानना चाहिए । **(सर्वा. ८८०)**

३. प्रश्न : इष्ट वियोग आर्त्तध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : इष्ट पुत्र, स्त्री, राज्य, भाई आदि मनोज्ञ पदार्थों का वियोग होने पर लोभी पुरुष जो मन में क्लेश उत्पन्न कर उनके संयोग का प्रतिदिन बार-बार चिन्तन करते हैं उसको इष्टवियोगज नाम का दूसरा आर्त्तध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २००८-९)**

मनोज्ञ पदार्थों का वियोग हो जाने पर उसके पुन: संयोग के लिए जो अत्यधिक चिन्ताधारा चलती है, मन अन्य पदार्थों में न जाकर बार-बार उसी के चिन्तन में लीन रहता है, यह भी आर्त्तध्यान है। **(रा.वा.१)**

जो राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य, भोग आदि का नाश होने पर तथा चित्त को प्रीति उत्पन्न करने वाले सुन्दर इन्द्रियों के विषयों का प्रध्वंस भाव होते हुए, संत्रास, पीड़ा, भ्रम, शोक, मोह के कारण निरन्तर खेद रूप होना सो जीवों के इष्टवियोग जनित आर्त्तध्यान है। देखे, सुने, अनुभवे मन को रंजायमान करने वाले पूर्वोक्त पदार्थों का वियोग होने से जो मन को खेद हो वह भी दूसरा आर्त्तध्यान है। अपने मन की प्यारी वस्तु का विध्वंस होने पर पुन: उसकी प्राप्ति के लिए जो क्लेश रूप होना सो दूसरे आर्त्तध्यान का लक्षण है। **(ज्ञा. २५/२९-३१)**

तीसरा आर्त्तध्यान : पीड़ा चिन्तन

वेदनायाश्च ॥३२॥

वेदनाया: च।

अर्थ - शारीरिक वेदना होने पर उसकी निवृत्ति के लिए चिन्तन करना पीड़ा चिन्तन आर्त्तध्यान है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जैसा प्रिय वस्तु के वियोग और अप्रिय वस्तु के संयोग होने पर आर्त्तध्यान होता है वैसा ज्वरादि के द्वारा शरीर के पीड़ित होने पर भी होता है, उसे कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. ३२ उ.)**

तीसरे भेद के लक्षण का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ८८१)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'वेदना' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : प्रकरण से दु:ख वेदना का बोध होता है। यद्यपि वेदना शब्द सुख-दु:खके अनुभव करने के विषय में सामान्य है तथापि यहाँ पर आर्त्तध्यान का प्रकरण होने से दु:ख से वेदना का अवबोध होता है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : वेदना आर्त्तध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : वात-पित्त-कफ के प्रकोप से उत्पन्न हुए, शरीर को नाश करने वाले, वीर्य से प्रबल और क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले कास-श्वास, भगंदर, जलोदर, जरा-कोढ़, अतिसार, ज्वरादिक रोगों से मनुष्यों के जो व्याकुलता होती है उसे अनिंदित पुरुषों ने रोग-पीड़ा चिन्तन नाम का आर्त्तध्यान कहा है। यह ध्यान दुर्निवार और दु:खों का आकर है, जो कि आगामी काल में पापबन्ध का कारण है। जीवों के

ऐसी चिन्ता हो कि मेरे किंचित् भी रोग की उत्पत्ति स्वप्न में भी न हो ऐसा चिन्तन करना तीसरा आर्त्तध्यान है। **(ज्ञा. २५/३२-३३)**

रोगादिजनित पीड़ा में लगा हुआ मन अत्यन्त अस्थिर होता है। बहुत विकट समस्त परीषहों से मेरा वियोग किस प्रकार होगा ? इस प्रकार वस्तु विषयक विशिष्ट ज्ञान से रहित दीन मनुष्य का मन सदा यही विचार कर संक्लिष्ट होता रहता है कि 'क्लेशों के समूह से मेरा संगम किस प्रकार न हो' अर्थात् ऐसा क्या उपाय किया जावे कि जिससे क्लेश समूह की प्राप्ति न हो। यह सब बाधाजनित आर्त्तध्यान है। **(आ.सा. १०/१६)**

क्षुधा, तृषा आदि के द्वारा मैं पीड़ित हो रहा हूँ, मुझसे कब इनका अभाव होवे ? मुझे कैसे भात भोजन आदि प्राप्त होवे कि जिससे मुझे क्षुधा आदि बाधाएँ न होवें ? कब मेरे आहार की बेला आवे कि जिससे मैं भोजन करूँ अथवा पानी पीऊँ ? हाहाकर या पूत्कार और जल-सिञ्चन आदि करते हुए भी उन बाधाओं से मेरा प्रतीकार नहीं हो रहा है, इत्यादि प्रकार से चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्त्तध्यान है। **(मू. ३९५ आ.)**

४. प्रश्न : वेदना आर्त्तध्यान की अभिव्यक्ति किससे होती है ?

उत्तर : यह वेदना-जन्य तीसरा आर्त्तध्यान अङ्गविक्षेप, शोक, आक्रन्दन और अश्रुपात से अभिव्यक्त होता है। **(रा.वा.२)**

चौथा आर्त्तध्यान : निदान

निदानं च ॥३३॥

अर्थ - निदान भी आर्त्तध्यान है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अनिष्ट का संयोग, इष्ट का वियोग और वेदना के संयोग के कारण आर्त्तध्यान होता है, उसी प्रकार प्रीति विशेष के कारण से तीव्र कामादि वासना से आतुर मति वाले के, पौनर्भविक विषयसुख रस की गृद्धि वाले के, सांसारिक संस्कारों में तत्पर पुरुष के सांसारिक भोगों के हेतु तपश्चरण करने से होने वाले शरीर आदि के खेदपूर्वक निदान नाम का आर्त्त ध्यान होता है, उसे कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३३)**

२. प्रश्न : 'विपरीतं मनोज्ञस्य' इस सूत्र से निदान का संग्रह हो जाता है ?

उत्तर : 'विपरीतं मनोज्ञस्य' इस सूत्र से निदान का संग्रह नहीं होता, क्योंकि निदान अप्राप्त की प्राप्ति के लिए होता है, इसमें पारलौकिक विषय-सुख की गृद्धि से अनागत अर्थ-प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता चलती रहती है। इष्ट वियोग में वर्त्तमानकालिक चिन्ता है, यह इन दोनों में विशेषता है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : निदान आर्त्तध्यान किसे कहते हैं ?[१]

उत्तर : धरणीन्द्र के सेवने योग्य तो भोग और तीन भुवन को जीतने वाली रूप-साम्राज्य की लक्ष्मी तथा क्षीण हो गये हैं शत्रुओं के समूह जिसमें ऐसा राज्य और देवांगनाओं के नृत्य की लीला को जीतने वाली स्त्री इत्यादि और भी आनन्द रूप वस्तुएँ 'मेरी कैसे हों', इस प्रकार के चिन्तन को, परम गुणों को धारण करने वालों ने **भोगार्त्त नामा चौथा आर्त्तध्यान** कहा है। जो प्राणी पुण्याचरण के समूह से तीर्थंकर के अथवा देवों के पद की वांछा करे अथवा उन्हीं पुण्याचरणों से अत्यन्त कोप के कारण शत्रु समूह रूपी वृक्षों को उच्छेदने की वांछा करे तथा उन विकल्पों से अपनी पूजा प्रतिष्ठा लाभादिक की याचना करे, उसको निदानजनित आर्त्तध्यान कहते हैं। मनुष्यों के इष्ट भोगादिक की सिद्धि के लिए तथा शत्रु के घात के लिए जो **निदान** हो, सो चौथा आर्त्तध्यान है। **(ज्ञा. २५/३४-३६)**

४. प्रश्न : इष्टवियोग आर्त्तध्यान एवं निदान आर्त्तध्यान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : इष्ट वस्तुओं के बिना होने वाले दु:ख के समय जो ध्यान होता है वह इष्ट वियोगज ध्यान कहलाता है और प्राप्त नहीं हुए इष्ट पदार्थ के चिन्तन से जो आर्त्तध्यान होता है वह निदान आर्त्तध्यान है। यह दूसरे पुरुषों की भोगोपभोग की सामग्री देखने से संक्लिष्ट चित्तवाले जीव के होता है। **(म.पु. २१/३३-३४)**

५. प्रश्न : इन चारों आर्त्तध्यान का क्या फल है ?

उत्तर : ये ध्यान अज्ञानमूलक, तीव्र पुरुषार्थजन्य, पापप्रयोगाधिष्ठान, परिभोगप्रसङ्ग, नाना संकल्पों से आकुलित, विषयतृष्णा से परिव्याप्त, धर्माश्रय के परित्यागी, कषायस्थानों से युक्त, अशान्तिवर्द्धक, प्रमाद के कारण, अप्रशस्त कर्म के हेतु, कटु फल देने वाले, असातावेदनीय के बन्धक और तिर्यञ्चगति में ले जाने वाले हैं। **(रा.वा.उ. १)**

आर्त्तध्यान के स्वामी

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

तत्-अविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम्।

(तत्) वह आर्त्तध्यान (अविरतदेशविरत प्रमत्तसंयतानां) अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयतों के होता है।

अर्थ - ये आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत (संयतासंयत) और प्रमत्तगुणस्थान से युक्त संयतों के होते हैं।

---

१. आगे के लिए खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने आदि की चीजों को चाहना निदान है। चिन्ता का विषय होने से यह आर्त्तध्यान में गर्भित है। **(त.दी. ९/३३)**

१. प्रश्न : आर्त्तध्यान कौन से गुणस्थानों में होता है ?

उत्तर : यह आर्त्तध्यान उत्कृष्टता से पहले गुणस्थान में होता है, प्रमत्त नाम के छठे गुणस्थान में जघन्य होता है और शेष गुणस्थानों में मध्यम होता है। **(मू.प्र. २०१९)** आर्त्तध्यान असंयत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त (पहले से चौथा गुणस्थान तक), देशविरत के और पन्द्रह प्रमाद सहित क्रिया का अनुष्ठान करने वाले प्रमत्तसंयतों के होते हैं। **(रा.वा.१)**

अविरत एवं देशविरत जीवों के चारों ही प्रकार का आर्त्तध्यान होता है, क्योंकि ये असंयम रूप परिणाम से युक्त होते हैं। प्रमत्तसंयतों के तो निदान के सिवा बाकी के तीन (आर्त्तध्यान) प्रमाद के उदय की तीव्रतावश कदाचित् होते हैं। **(सर्वा. ८८६)**

२. प्रश्न : प्रमत्तसंयत के 'निदान' आर्त्तध्यान क्यों नहीं होता है ?

उत्तर : प्रमत्तसंयत के निदान नामक आर्त्तध्यान नहीं होता क्योंकि निदान शल्य होने से व्रतों की घातक है। **(रा.वा.१)**

रौद्रध्यान के भेद और स्वामी

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयो: ॥३५॥

हिंसा-अनृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्य: रौद्रं-अविरत-देशविरतयो:।

(हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्य:) हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह का संरक्षण ये (रौद्र) रौद्र ध्यान हैं। यह (अविरत देशविरतयो:) अविरत और देशविरत गुणस्थान में होता है।

अर्थ - हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द ये रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं, यह रौद्र ध्यान अविरत और देशविरत गुणस्थान में होता है ?

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : प्रथम अप्रशस्त आर्त्तध्यान का लक्षण, भेद, स्वामी आदि का कथन कर दिया, अब द्वितीय अप्रशस्त रौद्रध्यान का स्वभाव, संज्ञा, उत्पत्ति एवं स्वामी को कहने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३५)**

२. प्रश्न : हिंसानन्द रौद्रध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीवों का भेदना, छेदना, विदारण तथा प्राणहरण आदि दु:खोत्पत्ति के कारणों से एवं इसी प्रकार के अन्य भयंकर कारणों से हिंसा में रुचि होना हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है। **(आ.सा. १०/२०)**

हिंसा में आनन्द मानना, दूसरे की पीड़ा में आनन्द मानना, जीवों के छिन्न-भिन्न करने का संकल्प करना अथवा किसी ऐसे काम का संकल्प करना जिसमें जीवघात होता है। अथवा जीवों की राशि के घात होने पर आनन्द मानना, कलह में आनन्द मानना, युद्ध में जीत-हार का चिन्तन करना आदि रूप से जो

दुर्बुद्धियों के ध्यान होता है उसको हिंसानन्द नाम का ध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०२५-२६)** इस जगह जीवों का घात किस उपाय से हो, यहाँ घात करने में कौन चतुर है, घात करने में किसके अनुराग है, यह जीवों का समूह कितने दिनों में मारा जायेगा, इन जीवों को मारकर बलि देकर कीर्ति और शान्ति के लिए ब्राह्मण गुरुदेवों की पूजा करूँगा, इत्यादि प्रकार से जीवों की हिंसा करने में जो आनन्द हो उसे हिंसानन्दी रौद्रध्यान कहते हैं। **(ज्ञा. २६/७)**

नभचर पक्षी, जलचर मत्स्यादि और स्थलचर पशु आदि का खण्ड करने, दग्ध करने, बाँधने, छेदन करने, घातने आदि में यत्न करना तथा इनके चर्म, नख, हाथ, नेत्रादि के नष्ट करने में जो कौतूहल रूप परिणाम हो वही रौद्रध्यान है। 'युद्ध में इसका घात हो और इसकी जीत हो' इस प्रकार का स्मरण करना, जीवों के वध-बन्धनादि तीव्र दु:ख वा अपमान को सुनने, देखने व स्मरण करने में हर्ष होना रौद्रध्यान है। **(ज्ञा. २६/८-१०)**

'पूर्व काल के वैरी का अनेक प्रकार के घात से मैं किस समय बदला लूंगा' ऐसा विचार करना, फिर ऐसा विचार करना कि हम क्या करें ? शक्ति न होने के कारण शत्रु अभी तक जीते हैं, नहीं तो कभी के मार डालते, अस्तु इस समय नहीं तो न सही, परलोक में समय और शक्ति को प्राप्त होकर किसी समय अवश्य मारेंगे, इस प्रकार संकल्प करना रौद्रध्यान है। **(ज्ञा. २६/११-१२)**

३. प्रश्न : हिंसानन्द रौद्र ध्यान किसके होता है?

उत्तर : जो पुरुष निरन्तर निर्दय स्वभाव वाला हो तथा स्वभाव से ही क्रोध से प्रज्वलित हो तथा मद से उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पापरूप हो, तथा जो कुशीली हो, व्यभिचारी हो, नास्तिक हो, वह रौद्रध्यान का घर है। जीवों के हिंसाकर्म में प्रवीणता हो, पापोपदेश में निपुणता हो, नास्तिक मत में चातुर्य हो, जीव घातने में निरन्तर प्रीति हो तथा निर्दयी पुरुषों की निरन्तर संगति हो, स्वभाव से ही क्रूरता हो, दुष्ट भाव हो उसके हिंसानन्द रौद्रध्यान होता है। **(ज्ञा. २६/५-६)**

क्रूर होना, हिंसा के उपकरण-तलवार आदि को धारण करना, हिंसा की ही कथा करना और स्वभाव से ही हिंसक होना ये हिंसानन्द रौद्रध्यान के चिह्न हैं। **(म.पु. २१/४९)**

४. प्रश्न : मृषानन्द रौद्रध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मनुष्य असत्य कल्पनाओं के समूह पापरूप मैल से मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा करे उसे निश्चय करके 'मृषानन्द रौद्रध्यान' कहते हैं।

मैं अदोषियों में दोषसमूह को सिद्ध करके अपने असत्य सामर्थ्य के प्रभाव से अपने दुश्मनों का राजा के द्वारा वा अन्य किसी के द्वारा घात कराऊँगा, इस प्रकार चिन्ता करना रौद्रध्यान है।

मैं वचन की प्रवीणता के प्रयोगों से वांछित प्रयोजन की सिद्धि के लिए मूढ़ जनों को अनर्थ के संकट में डाल दूँ ऐसा चतुर हूँ इस प्रकार विचार करना रौद्रध्यान है।

जो ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी है, इनको ऊँचे चतुराई के वचनों से अभी ठग लेता हूँ मैं ऐसा चतुर हूँ। तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणता से बड़े अकार्यों में प्रवर्तेंगे ही, इसमें कुछ संदेह नहीं है इस प्रकार विचार करना रौद्रध्यान है। इस प्रकार अन्य भी अनेक प्रकार के असत्य संकल्पों से जो प्रमोद उत्पन्न हो उसे पुरातन पुरुषों ने रौद्रध्यान कहा है। **(ज्ञा. २६/१६-२३)**

श्रद्धान करने योग्य पदार्थों के विषय में अपनी कल्पित युक्तियों से दूसरों को ठगने का संकल्प करना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्र ध्यान है। **(हरि. ५६/२३)**

क्रोध तथा ईर्ष्या आदि से उत्पन्न असत्य वचनों के द्वारा दूसरे की हानि करने के लिए दु:खों की सन्तति की स्थानभूत 'असत्यप्रलाप' में रुचि होना मृषानन्द रौद्रध्यान है। **(आ.सा. १०/२०)**

दूसरों को ठगने में अत्यन्त चतुर पुरुष दूसरों को ठगने के लिए अपनी दुर्बुद्धि की कल्पना और युक्ति से जो मिथ्या वचन बोलते हैं अथवा कोई अन्य पुरुष कड़वे शब्दों से मिथ्यावचन कहते हैं, उसमें जो अनुमोदना करते हैं उस सबको मृषानन्द नामका रौद्रध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०२७-२८)**

५. प्रश्न : मृषानन्द रौद्रध्यान किसके होता है ?

उत्तर : जो पुरुष इस जगत् में समीचीन सत्य धर्म के मार्ग को छोड़ कर प्रवर्ते और मद से उद्धत हो इस प्रकार चिन्तन करे कि ठगाई के शास्त्रों को रचकर, असत्य दयारहित मार्ग को चलाकर, जगत् को उस मार्ग में तथा कष्ट आपदाओं में डाल कर अपने मनोवांछित सुख मैं ही भोगूँ तथा इस प्रकार विचारे कि मैं असत्य चतुराई के प्रभाव से लोगों से बहुत प्रकार से धन ग्रहण करूंगा तथा घोड़े, हस्ती, नगर, रत्नों के समूह, सुन्दर कन्यादिक रत्न ग्रहण करूंगा। इस प्रकार जो सद्धर्म मार्ग से च्युत होकर असत्य वचनों की ठग विद्या से अत्यन्त भोले जीवों को प्रवर्त्तन करावे, उस मदोद्धत पुरुष के मृषानन्द रौद्रध्यान होता है। **(ज्ञा. २६/१७-१९)**

६. प्रश्न : चौर्यानन्द रौद्रध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो चोरी के कार्यों के उपदेश की अधिकता तथा चौर्यकर्म में चतुरता तथा चोरी के कार्यों में ही तत्परचित्त हो वह चौर्यानन्द नामा रौद्रध्यान है। जीवों के चौर्यकर्म के लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चोरी कर्म करके भी निरन्तर अतुल हर्ष माने, आनन्दित हो तथा अन्य कोई चोरी के द्वारा परधन को हरे उसमें हर्ष माने, उसे निपुण पुरुष चौर्यकर्म से उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं। इस धरित्री में लोगों के धन अलभ्य है तथा बहुत काल के संचित किये हुए हैं, तो भी मैं बड़े-बड़े सुभटों की सेना की सहायता से तथा अनेक उपायों से तत्काल ही हर लाऊँगा ऐसा चोर हूँ। पर के द्विपद-चौपद में जो उत्तम है तथा धन, धान्य, श्रेष्ठ स्त्री सहित अन्य की जो वस्तुयें हैं सो मेरे चोरी-कर्म की सामर्थ्य से मेरे ही स्वाधीन है, इस प्रकार चोरी में जीवों के द्वारा जो अनेक प्रकार की वांछा की जाय वह चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। **(ज्ञा. २६/२४-२८)** बन्दी भाटगिरी आदि निन्द्य कार्यों के द्वारा दूसरों का धन प्राप्त कर आनन्द मानना तथा विभिन्न उपायों के द्वारा दूसरों का धन प्राप्त करने के लिए चित्त का अत्यन्त उत्सुक लालायित रहना स्तेयानन्द रौद्रध्यान है। **(आ.सा. १०/२१)**

७. प्रश्न : चौर्यानन्द रौद्रध्यान किसके होता है ?

उत्तर : जो लोभी वा चोर दूसरों की लक्ष्मी, स्त्री वा अच्छी वस्तुओं के हरण करने के लिए अपने चित्त में अशुभ संकल्प करते हैं अथवा कोई बहुत सा द्रव्य मार कर (चुराकर) लाया हो उसकी अनुमोदना करते हैं उसके पाप उत्पन्न करने वाला चौर्यानन्द रौद्रध्यान होता है। **(मू.प्र. २०२९-३०)**

८. प्रश्न : परिग्रहानन्द रौद्रध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : यदि मेरा द्रव्य कोई चुरायेगा तो मैं उसे मार डालूँगा, इस प्रकार से आयुध को हाथ में लेकर मारने का अभिप्राय करना परिग्रह संरक्षणानन्द रौद्रध्यान है । **(मू.आ. ३९६)** जगत् के अद्वितीय नाथ सर्वज्ञदेव ने मनुष्यों के आगे लिखे विचारों को विषयसंरक्षण के आनन्द से उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहा है। जैसे- मनुष्य विचारे कि मैं तीक्ष्ण बाणों के समूहों से धनुष को आरोपण करके उद्धताशय वैरियों के समूह को छेदन पूर्वक उनके ग्राम-श्रेष्ठ खानि आदि को दग्ध करके दूसरों के द्वारा साधने में न आवे ऐसे ऐश्वर्य व निष्कण्टक राज्य को प्राप्त होऊँगा। तथा जो वैरी इस समय मेरी पृथ्वी, कन्या आदि रत्नों और सुन्दर स्त्री को लुब्धचित्त हुए छीन कर लेते हैं उनके कुल रूपी वन को मैं दग्ध करूंगा।

अहो । देखो, जो समस्त भुवनों के जीवों से पूजनीय, सुभटों के समूह से सेवने योग्य, स्वजन धनादि से पूर्ण, रत्न और स्त्रियों से सुन्दर अमर्यादित विभव के सार ऐसे समस्त भोगों को अपने शत्रुओं के समूह का नाश करके मैंने पाया है।

मैंने पृथ्वी को भेदकर, जीवों के समूह को मारकर, दुर्ग में प्रवेश करके समुद्र का उल्लंघन करके, बड़े गर्व से उद्धत शत्रुओं के मस्तक पर पाँव देकर उदार स्वामित्व व राज्य किया है। तथा जल-अग्नि-सर्प-विषादि के प्रयोगों से विश्वास दिलाना, भेद करना, दूतभेद करना आदि प्रपंचों से शत्रुओं के समूह का नाश करके 'यह मेरा प्रबल प्रताप है सो स्फुरायमान है', ' मैं ऐसा ही प्रतापी हूँ ' इत्यादि विचार करना चौथा रौद्रध्यान है।

'ये पदार्थ, यह राज्य, यह सेना, यह स्त्री और यह सम्पत्ति सब मेरी है, जो दुरात्मा इसे हरण करेगा उसे मैं अपने पुरुषार्थ से मारूंगा', इस प्रकार दुर्बुद्धि लोग अपने पदार्थों की रक्षा करने के लिए अपने हृदय में संकल्प करते हैं, वह सब विषयसंरक्षणानन्द नाम का रौद्रध्यान है। **(मू.प्र. २०३१-३२)**

९. प्रश्न : परिग्रहानन्द रौद्र ध्यान किसके होता है ?

उत्तर : यह प्राणी रौद्र चित्त होकर बहुत आरम्भ-परिग्रहों के रक्षार्थ नियम से उद्यम करे और उसमें ही संकल्प की परम्परा को विस्तारे तथा रौद्र चित्त होकर ही महत्ता का अवलम्बन करके उन्नतचित्त होकर ऐसा माने कि मैं राजा हूँ, ऐसे परिणाम को निर्मल बुद्धि वाले महापुरुष संसार की वांछा करने वाले जीवों के चौथा रौद्रध्यान कहते हैं। **(ज्ञा. २६/२९)**

१०. प्रश्न : ये रौद्रध्यान किन गुणस्थानों में होते हैं ?

उत्तर : रौद्रध्यान अविरत अर्थात् प्रथम गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक तथा देशविरत अर्थात् पंचम गुणस्थान में भी होता है। **(त.सू. ३५)**

यह रौद्रध्यान पहले गुणस्थान में उत्कृष्ट और पंचम गुणस्थान में जघन्य होता है और दूसरे-तीसरे-चौथे में मध्यम होता है। **(मू.प्र. २०३६-३८)**

यह रौद्रध्यान प्रारम्भ के पाँच गुणस्थानों में होता है। **(आ.सा. १०/२३)**

११. प्रश्न : पाँचवें गुणस्थान में रौद्रध्यान कैसे हो जाता है ?

उत्तर : हिंसादि के आवेश और परिग्रह आदि के संरक्षण के कारण देशविरत के भी कभी-कभी रौद्रध्यान होता है। परन्तु यह देशविरत का रौद्रध्यान सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य से नरकगति आदि का कारण नहीं होता है। **(रा.वा.३)**

१२. प्रश्न : रौद्रध्यान मुनियों के क्यों नहीं होता ?

उत्तर : संयत के रौद्रध्यान नहीं होता क्योंकि रौद्रध्यान में संयतपने से च्युत हो जाते हैं वा हिंसादि के आवेश में संयम नहीं रह सकता। क्योंकि जब आत्मा रौद्रध्यान से युक्त होता है तब उसके संयम नहीं रह सकता। **(रा.वा. ४)**

धर्मध्यान के भेद

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय-धर्म्यम्।

अर्थ - आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय, ये धर्म-ध्यान के भेद हैं।

आज्ञा विचय - आगम प्रामाण्य से अर्थ की अवधारणा करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अपाय विचय - सन्मार्ग के उपाय का चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

विपाक विचय - कर्म प्रकृतियों के उदय और उदीरणा का विचार करना विपाक-विचय धर्मध्यान है।

संस्थान विचय - लोक के स्वभाव का चिन्तन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

१. प्रश्न : पूर्वोक्त (सू. २८ में)धर्मध्यान के चार एवं दस भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : धर्मध्यान के चार भेद-

(१) आज्ञा विचय स्मृति समन्वाहार (२) अपाय विचय स्मृति समन्वाहार (३) विपाक विचय स्मृति समन्वाहार (४) संस्थान विचय स्मृति समन्वाहार। **(रा.वा.२)**

धर्मध्यान के दस भेद-

(१) अपाय विचय (२) उपाय विचय (३) जीव विचय (४) अजीव विचय (५) विपाक विचय (६) विराग विचय (७) भव विचय (८) संस्थान विचय (९) आज्ञा विचय (१०) हेतु विचय। **(चा.सा. २३१)**

२. प्रश्न : आज्ञा विचय धर्म ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : इस काल में उपदेष्टा का अभाव है, बुद्धि मन्द है, कर्मों का उदय तीव्र है, पदार्थ सूक्ष्म हैं, उन सूक्ष्म पदार्थों की सिद्धि के लिए हेतु और दृष्टान्त मिलते नहीं हैं, अत: सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मानकर 'यह ऐसा ही है, जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं हो सकते', इस प्रकार गहन पदार्थों का श्रद्धान करके अवधारणा करना, उन पर दृढ़ विश्वास करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। **(रा.वा. ४)** स्वसमय, परसमय के ज्ञाता, सम्यग्दर्शन से विशुद्ध परिणामी सम्यग्दृष्टि के द्वारा सर्वज्ञ प्रणीत अतिसूक्ष्म अस्तिकायादि पदार्थों की अवधारणा करके अन्य के प्रति कथामार्ग और श्रुतज्ञान के सामर्थ्य से प्रतिपादन करने के इच्छुक स्वसिद्धान्त के अविरोधी हेतु प्रमाण, नय, दृष्टान्त आदि की सम्यग्योजना के द्वारा परवादियों के तर्कजाल का भेदन करके उन्हें अपने मत के प्रति सहिष्णु बनाने के लिए तर्क, नय और प्रमाण की योजना करने में तत्पर संयमी विद्वज्जन का भगवान की सर्व आज्ञा का प्रकाशन करने का जो चिन्तन है वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इसमें सर्वज्ञ की आज्ञा के प्रकाशन के लिए चिन्तन होने से आज्ञाविचय है। **(रा.वा.५)** जिस ध्यान में सर्वज्ञ की आज्ञा को अग्रेसर करके पदार्थों का सम्यक् प्रकार चिंतन किया जाता है वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। **(ज्ञा. ३३/२२)**

सर्वज्ञदेव की आज्ञा से जो कहा गया है वह मिथ्या नहीं है, इस प्रकार वस्तु, सूक्ष्म, अन्तरित, दूरवर्ती पदार्थ का विचार करना आज्ञाविचय नाम का पहला धर्मध्यान है। **(आ.सा. १०/२९)**

३. प्रश्न : आज्ञाविचय धर्मध्यान की क्या विशेषता है ?

उत्तर : यह ध्यान मिथ्या नयों के समूह से रहित है तथा सम्यग्ज्ञान का पवित्र उदय करने वाला है अथवा सम्यग्ज्ञान के द्वारा इसका उदय होता है।

४. प्रश्न : अपाय विचय धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनेक दु:खों का समुद्र ऐसे इस अनादि संसार में मैं तथा ये अन्य जीव अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण कर रहे हैं इसलिए ध्यान से अथवा तपश्चरण से मेरे अथवा अन्य जीवों के मन-वचन-काय से उत्पन्न होने वाले अशुभ कर्म शीघ्रता के साथ कब नष्ट होंगे इस प्रकार का चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है। **(मू.प्र. २०४६-४७)** जिनागम में कल्याण, सुख की प्राप्ति का जो उपाय बताया है उसका चिन्तन करना अथवा शुभ-अशुभ कर्मों का अभाव कैसे हो, शुभ-अशुभ कर्म इन जीवों का कितना अपाय कर रहे हैं, इत्यादि विचार करना अपाय विचय धर्मध्यान है। **(म.क. १७९७)**

पाप का त्याग करने वाला साधु राग-द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में विद्यमान जीवों के इहलोक और परलोक से अपाय का चिन्तन करे। **(ध. १३/७२)** मन, वचन और काय इन तीन योगों की प्रवृत्ति ही, प्राय: संसार का कारण है सो इन प्रवृत्तियों का मेरे अपाय अर्थात् त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभ लेश्या से अनुरंजित जो चिन्ता का प्रबन्ध है वह अपायविचय नाम का प्रथम धर्म-ध्यान माना गया है। पुण्य रूप योग प्रवृत्तियों को अपने आधीन करना उपाय कहलाता है, वह उपाय मेरे किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार के संकल्पों की जो सन्तति है वह अपाय विचय नाम का दूसरा धर्म्यध्यान है। **(हरि.पु. ५६/३९-४१)**

५. प्रश्न : विपाक विचय धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के कारण होने वाले फलानुभव का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है। **(रा.वा. ८)** एक और अनेक भवों में संचित हुए पुण्य-पाप कर्मों की उदय-उदीरणा, बन्ध, सत्त्व आदि का बुद्धिमान को विचार करना चाहिए। यह विचार विपाक विचय धर्मध्यान है। **(म.क. १७९८)**

गति आदि मार्गणाओं में जीवों के भावों के अनुसार जिनका उदय और उदीरणा होती है वे कर्म शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के हैं। जो इस जीव का क्लेशों के साथ सम्बन्ध कराता है, वह अशुभ कर्म है और जो सुखों का समूह प्राप्त कराता है वह शुभ कर्म है। ये दोनों कर्म असंख्यात लोक प्रमाण षट् स्थान पतित वृद्धि और हानि के स्थानों से सहित हैं, इस प्रकार कर्मों के विपाक का विचार करना विपाक विचय धर्म्यध्यान है। **(आ.सा. १०/३१)**

६. प्रश्न : संस्थान विचय धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : लोक के अवयव द्वीप, समुद्र आदि के स्वभाव का चिन्तन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है। **(रा.वा. १०)**

लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिन्तन संस्थान विचय धर्मध्यान है। **(सर्वा. ८९०)** योगी पुरुष अपने योग की सिद्धि के लिए, वैराग्य की वृद्धि के लिए और राग-द्वेष को नष्ट करने के लिए मोक्ष को देने वाली, राग-द्वेष का नाश करने वाली, वैराग्य को उत्पन्न करने वाली और अनन्त सुख को देने वाली अनित्य-अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का जो चिंतन करते हैं उसको संस्थान विचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०६०-६१)**

तीन लोकों के संस्थान, प्रमाण और आयु आदि का चिन्तन करना संस्थान विचय नाम का चौथा धर्मध्यान है। **(ध. १३/७२)**

७. प्रश्न : उपाय विचय धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष अपने मन-वचन-काय को शुद्ध करने के लिए यह

चिन्तन करते हैं कि किस ध्यान वा अध्ययन से मेरे मन-वचन-काय शुभ हो जायेंगे अथवा मेरे मन, वचन, काय से कर्मों का आस्रव कब रुक जायगा, इस प्रकार के चिन्तन करने को तथा श्रुताभ्यास आदि अनेक उपायों से योगों को शुद्ध करने का उपाय करना उपाय विचय धर्मध्यान कहलाता है। **(मू.प्र. २०४८-४९)**

८. प्रश्न : जीवविचय धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह जीव उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्म के सम्बन्ध से मूर्त्त है, गुणी है, समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट है, शुभ-अशुभ कर्मों का भोक्ता है और उन कर्मों का नाश होने से उसी समय में मोक्ष में जा विराजमान होता है। यह जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, असंख्यातप्रदेशी है और कर्मों के अधीन होकर इस जन्म-मरण रूप संसार में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकार जीवों के स्वरूप का चिन्तन करना जीवविचय नाम का धर्मध्यान है। **(मू.प्र. २०५०-५१)**

द्रव्यार्थिक नय से जीव अनादि-निधन है और पर्यायार्थिक नय से सादि सनिधन है, असंख्यात प्रदेशी है, उपयोग लक्षण स्वरूप है, शरीर रूप अचेतन उपकरण से युक्त है, और अपने द्वारा किये गये कर्म के फल को भोगते हैं, इत्यादि रूप से जीव का जो ध्यान करना है वह जीव विचय नाम का तीसरा धर्मध्यान है। **(हरि.पु. ५६/४२-४३)**

९. प्रश्न : अजीव विचय धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : योगी लोग धर्मध्यान की प्राप्ति के लिए अपने हृदय में जिनागम में कहे हुए धर्म-अधर्म-आकाश-काल और पुद्गल रूप अचेतन समस्त पदार्थों का स्वरूप उनके अनेक गुण-पर्यायों के द्वारा चिन्तन करते हैं अथवा उनके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुणों के द्वारा चिंतन करते हैं उसको अजीव विचय नाम का उत्कृष्ट धर्मध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०५२-५३)**

धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्यों के स्वभाव का चिन्तन करना सो अजीव-विचय नाम धर्मध्यान है। **(हरि.पु. ५६/४४)**

१०. प्रश्न : विराग विचय धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है, अत्यन्त निन्द्य है और विष्ठा का घर है तथा ये भोगों के समूह नरक के कारण हैं और इनसे कभी तृप्ति नहीं होती और यह संसार भी अनन्त दु:खों से भरा हुआ है और सुख से सर्वथा दूर है, इस प्रकार चिन्तन करते हुए सज्जनों के हृदय में जो संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है उसको विराग विचय धर्मध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०५६-५७)** शरीर अपवित्र है और भोग किंपाकफल के समान तदात्व मनोहर हैं, इसलिए इनसे विरक्त बुद्धि का होना ही श्रेयस्कर है, इत्यादि चिन्तन करना विराग विचय नाम का छठा धर्मध्यान है। **(हरि.पु. ५६/४६)**

११. प्रश्न : भवविचय-धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह संसार अनादि है, सुख से सर्वथा रहित है और अनन्त दु:खों से भरा हुआ है ऐसे इस संसार में कर्मों के जाल में फँसे हुए ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से सचित्त-अचित्त-मिश्र आदि

अनेक प्रकार की योनियों में निरन्तर परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार संसार के परिभ्रमण के दु:खों का बार-बार चिन्तन करना भवविचय धर्मध्यान है। **(मू.प्र. २०५८-५९)**

चारों गतियों में भ्रमण करने वाले इन जीवों को मरने के बाद जो पर्याय होती है वह भव कहलाता है। वह भव दु:ख रूप है। इस प्रकार का चिन्तन करना सो भवविचय नाम का सातवाँ धर्मध्यान है। **(हरि. पु. ५६/४७)**

१२. प्रश्न : हेतु विचय धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्याद्वाद नय को आलंबन कर हेतु, दृष्टान्त और युक्तियों से अथवा तर्क वा अनुमान से बुद्धिमान लोग पूर्वापर विरोध रहित भगवान सर्वज्ञदेव के कहे हुए पदार्थों को जो संसार भव में स्थापन कर देते हैं अथवा उनके यथार्थ स्वरूप को अपने हृदय में स्थापन कर लेते हैं उसको हेतु विचय धर्मध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०६४-६५)** तर्क का अनुसरण करने वाले पुरुष स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए समीचीन मार्ग का आश्रय करते हैं, इस प्रकार चिन्तन करना सो हेतु विचय नाम का दसवाँ धर्मध्यान है। **(हरि.पु. ५६/५०)**

१३. प्रश्न : आदि के तीन गुणस्थानों में किन-किन प्रकृतियों का उदय पाया जाता है ?

उत्तर : प्रथम गुणस्थान तक दस प्रकृतियाँ हैं-

(१) मिथ्यात्व (२) एकेन्द्रिय (३) द्वीन्द्रिय (४) त्रीन्द्रिय (५) चतुरिन्द्रिय जाति (६) आतप (७) स्थावर (८) सूक्ष्म (९) अपर्याप्तक (१०) साधारण।

इन दस प्रकृतियों का उदय प्रथम गुणस्थान में ही होता है, आगे नहीं।

द्वितीय गुणस्थान तक उदय होने वाली चार प्रकृतियाँ-

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ।

इनका उदय द्वितीय गुणस्थान के आगे नहीं होता।

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय तीसरे गुणस्थान में ही होता है, अन्य किसी में नहीं। **(रा.वा. ८)**

१४. प्रश्न : चौथे व पाँचवें गुणस्थान में किन-किन प्रकृतियों का उदय पाया जाता है ?

उत्तर : चतुर्थ गुणस्थान तक उदय योग्य प्रकृतियाँ-

(१) अप्रत्याख्यान क्रोध (२) अप्रत्याख्यान मान (३) अप्रत्याख्यान माया (४) अप्रत्याख्यान लोभ (५) नरकगति (६) देवगति (७) नरकायु (८) देवायु (९) वैक्रियिक शरीर (१०) वैक्रियिक शरीर अंगोपांग (११) मनुष्य गत्यानुपूर्वी (१२) देवगत्यानुपूर्वी (१३) तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी (१४) नरक गत्यानुपूर्वी (१५) दुर्भग (१६) अनादेय (१७) अयश:कीर्ति।

इन सत्रह प्रकृतियों का उदय चौथे गुणस्थान तक ही होता है।

नोट : तीसरे गुणस्थान में आनुपूर्वी का उदय नहीं है।

पंचम गुणस्थान तक उदय योग्य प्रकृतियाँ-

(१) प्रत्याख्यान क्रोध (२) प्रत्याख्यान मान (३) प्रत्याख्यान माया (४) प्रत्याख्यान लोभ (५) तिर्यञ्चायु (६) तिर्यञ्चगति (७) उद्योत (८) नीचगोत्र।

नोट : इन प्रकृतियों का उदय पंचम गुणस्थान तक ही होता है। **(रा.वा.८)**

१५. प्रश्न : छठे-सातवें गुणस्थान तक किन-किन प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर : प्रमत्त गुणस्थान तक उदय योग्य प्रकृतियाँ-

(१) निद्रा-निद्रा (२) प्रचला-प्रचला (३) स्त्यानगृद्धि।

इन तीन प्रकृतियों का उदय आहारक शरीर की निर्वृत्ति न करने वाले प्रमत्त-संयतों तक होता है आहारक शरीर और आहारक शरीर अंगोपांग नाम कर्म का उदय प्रमत्त-संयत नामक छठे गुणस्थान में होता है न ऊपर और न नीचे।

सम्यक् प्रकृति का उदय असंयत सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्त संयत पर्यन्त होता है, आगे भी नहीं पीछे भी नहीं।

(१) अर्धनाराच संहनन (२) कीलक संहनन (३) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

इन तीन प्रकृतियों का उदय अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान पर्यन्त होता है आगे नहीं। **(रा.वा.८)**

१६. प्रश्न : आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक किन-किन प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर : अष्टम गुणस्थान तक उदययोग्य प्रकृतियाँ -

(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा

इनका उदय अष्टम गुणस्थान के चरम समय तक होता है।

नवम गुणस्थान तक उदय योग्य प्रकृतियाँ-

(१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुंसक वेद (४) संज्वलन क्रोध (५) संज्वलन मान (६) संज्वलन माया।

इन छह प्रकृतियों का उदय नवम गुणस्थान तक होता है।

संज्वलन लोभ कषाय का उदय सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के चरम समय तक रहता है उसके ऊपर नहीं।

वज्र नाराच संहनन और नाराच संहनन का उदय उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है उसके ऊपर नहीं। **(रा.वा.८)**

१७. प्रश्न : बारहवें गुणस्थान तक किन-किन प्रकृतियों का उदय पाया जाता है ?

उत्तर : बारहवें गुणस्थान तक उदय योग्य प्रकृतियाँ-

(१) निद्रा (२) प्रचला (३) चक्षुदर्शन (४) अचक्षुदर्शन (५) अवधिदर्शन (६) केवल दर्शन (७) मतिज्ञानावरण (८) श्रुतज्ञानावरण (९) अवधि ज्ञानावरण (१०) मन:पर्यय ज्ञानावरण (११) केवलज्ञानावरण (१२) दानान्तराय (१३) लाभान्तराय (१४) भोगान्तराय (१५) उपभोगान्तराय (१६) वीर्यान्तराय।

१८. प्रश्न : सयोग एवं अयोग केवली के किन-किन प्रकृतियों का उदय पाया जाता है ?

उत्तर : सयोग केवली के उदय योग्य प्रकृतियाँ-

(१) साता या असाता वेदनीय (२) औदारिक शरीर (३) तैजस शरीर (४) कार्मण शरीर (५-१०) छह संस्थान (११) औदारिक शरीरांगोपांग (१२) वज्रवृषभनाराच संहनन (१३) प्रत्येक शरीर (१४) स्थिर (१५) अस्थिर (१६) शुभ (१७) अशुभ (१८) सुस्वर (१९) दु:स्वर (२०) निर्माण (२१) वर्ण (२२) गन्ध (२३) रस (२४) स्पर्श (२५) अगुरुलघु (२६) उपघात (२७) परघात (२८) उच्छ्वास (२९) प्रशस्त विहायोगति (३०) अप्रशस्त विहायोगति ।

इन तीस प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान तक ही होता है।

अयोग केवली के उदययोग्य प्रकृतियाँ-

(१) कोई एक वेदनीय (२) मनुष्यायु (३) मनुष्यगति (४) पंचेन्द्रिय जाति (५) त्रस (६) बादर (७) पर्याप्तक (८) सुभग (९) आदेय (१०) यशस्कीर्ति (११) उच्चगोत्र। इन ग्यारह प्रकृतियों का उदय अयोग केवली (चौदहवें गुणस्थान) तक पाया जाता है।

विशेष - तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति का उदय सयोग केवली और अयोग केवली इन दो गुणस्थानों में ही होता है, अन्य में नहीं। **(रा.वा. ८)**

१९. प्रश्न : धर्मध्यान किन-किन गुणस्थानों में होता है ?

उत्तर : धर्मध्यान अप्रमत्त-गुणस्थान में ही हो ऐसा नहीं है क्योंकि अप्रमत्त गुणस्थान में ही धर्मध्यान के अभाव का प्रसंग आता है। असंयत सम्यग्दृष्टि आदि के सम्यग्दर्शन के प्रभाव से धर्मध्यान होता है अत: वह असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्त संयत के भी होता है। **(रा.वा. १३)**

धर्मध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत जीवों के होता है। **(सर्वा. ८९०)**

२०. प्रश्न : इस ध्यान को धर्मध्यान क्यों कहते हैं ?

उत्तर : धर्म से युक्त हो, उसे धर्म्य कहते हैं। उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों से ओतप्रोत होने के कारण यह धर्मध्यान कहलाता है, क्योंकि यह ध्यान उत्तम क्षमादि दस प्रकार की धार्मिक भावना वालों के ही होता है। **(रा.वा. ११)**

२१. प्रश्न : अनित्य आदि अनुप्रेक्षा भी धर्मध्यान की जाति की होने से धर्मध्यान में अन्तर्भूत हो जाती है अत: भावनाओं का पृथक् निर्देश करना व्यर्थ है ?

उत्तर : अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं में जब उन भावनाओं में एकाग्र चिन्तानिरोध होकर चिन्तन धारा एक स्थान में केन्द्रित हो जाती है तब वे ध्यान कहलाती हैं अत: सविकल्प चिन्तन भावना है और निर्विकल्प ध्यान है, यह इन दोनों में भेद है। **(रा.वा. १२)**

२२. प्रश्न : संस्थान विचय धर्म ध्यान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संस्थान विचय धर्मध्यान चार प्रकार का होता है-

(१) पिण्डस्थ (२) पदस्थ (३) रूपस्थ (४) रूपातीत।

२३. प्रश्न : पिण्डस्थ ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : पिण्डस्थ ध्यान में श्री वर्धमान स्वामी से कही हुई पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती इन पाँच धारणाओं में संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसार रूपी पाश को काटता है। **(ज्ञा. ३७/२३)**

जिस पिण्डस्थ ध्यान में निर्दोष, नये अमृत से भीगी हुई चन्द्रमा की किरण सदृश गोरा वर्ण, श्रीमत् सर्वज्ञ भगवान समान तथा मेरु गिरि के तट वा शिखर पर बैठा, बीते हैं समस्त प्रपंच जिसके ऐसे तथा विश्वरूप समस्त ज्ञेय पदार्थों के आकार जिसमें प्रति-बिम्बित हो रहे हैं ऐसे देवन्द्रों के समूह से भी जिसका अधिक प्रभाव हो ऐसे आत्मा का जो चिन्तन किया जाय उसको जिन सिद्धान्त रूपी महासमुद्र के पार पहुँचने वाले मुनीश्वरों ने पिंडस्थ ध्यान कहा है। **(ज्ञा. ३७/३२)**

अपने नाभिस्थान में मेरुपर्वत की कल्पना करके उसके अधोभाग में अधोलोक का ध्यान करें, नाभि के पार्श्ववर्ती द्वितीय तिर्यग्विभाग में तिर्यग्लोक का ध्यान करे। नाभि से ऊर्ध्वभाग में ऊर्ध्व लोक का चिन्तन करे। स्कन्ध पर्यन्त भाग में कल्प विमानों का, ग्रीवास्थान पर नवग्रैवेयकों का, हनु (ठोड़ी) के स्थान पर नव अनुदिशों का, मुख प्रदेश पर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि का ध्यान करें। ललाट देश में सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमांग में लोकशिखर के तुल्य सिद्ध क्षेत्र को जानना चाहिए। इस प्रकार जो निज देह का ध्यान किया जाता है उसे भी पिण्डस्थ ध्यान जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. ४६०-६३)**

नोट : धारणाओं का वर्णन ज्ञानार्णव के ३७ वें सर्ग में देखना चाहिए।

श्वेत किरणों से विस्फुरायमान और अष्ट महा प्रातिहार्यों से परिवृत जो निज रूप अर्थात् केवली तुल्य आत्मस्वरूप का ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थ ध्यान जानना चाहिए। **(वखु.श्रा. ४५९)**

२४. प्रश्न : पदस्थ ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसको योगीश्वर पवित्र मन्त्रों के अक्षर स्वरूप पदों का अवलम्बन करके चिन्तन करते हैं उसको अनेक नयों के पार पहुँचने वाले योगीश्वरों ने पदस्थ ध्यान कहा है। **(ज्ञा. ३८/१)**

एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के पंच परमेष्ठी वाचक पवित्र मन्त्रपदों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. ४६४)**

२५. प्रश्न : पदस्थ ध्यान में किन-किन मन्त्रों का ध्यान करना चाहिए ?

उत्तर : एकाक्षरी मंत्र - 'अ' **(ज्ञा. ३८/५३),** अनाहत मंत्र 'हँ' **(ज्ञा. ३८/७-८)**

प्रणव मंत्र 'ॐ' **(ज्ञा. ३८/३१)** माया वर्ण 'ह्रीं' **(ज्ञा. ३८/६७)**

दो अक्षरी मंत्र

अर्हं **(म. पु. २१/२३१)** सिद्ध **(ज्ञा. ३८/५२)**

पंचाक्षरी मंत्र -

अ. सि. आ. उ. सा. **(वसु. श्रा. ४६६)** नमः सिद्धेभ्यः **(म.पु. २१/२३३)**

चार अक्षरी मंत्र - अरहंत **(ज्ञा. ३८/५१)**

छह अक्षरी मंत्र-

(१) 'अरहंत सिद्ध' **(ज्ञा. ३८/५०)** (२) अर्हद्भ्यो नमः **(म. पु. २१/२३२)**

(३) ॐ नमो अर्हते **(ज्ञा. ३८/६३)** (४) अर्हद्भ्यः नमोऽस्तु **(त.अ. १०० भावार्थ)**

(५) ॐ नमः सिद्धेभ्यः **(त. अ. १०० भावार्थ)** (६) नमो अर्हत्सिद्धेभ्यः **(त.अ. १०० भावार्थ)**

सप्ताक्षरी मंत्र-

(१) णमो अरहंताणम् **(ज्ञा. ३८/१०१)** (२) नमः सर्व सिद्धेभ्यः **(ज्ञा. ३८/११०)**

अष्टाक्षरी मंत्र-

नमोऽर्हत्परमेष्ठिने **(म.पु. २१/२३४)**

तेरहाक्षरी मंत्र-

'अर्हत्सिद्ध सयोग केवली स्वाहा।' **(ज्ञा. ३८/५८)** आधार से।

सोलहाक्षरी मंत्र-

'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः'। **(म.पु. २१/२३५)**

पैंतीस अक्षरी मंत्र-

'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं।' **(द्र.सं. टी. ४९)**

२६. प्रश्न : रूपस्थ ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : आकाश और स्फटिक मणि के समान स्वच्छ एवं निर्मल अपने शरीर की प्रभा रूपी सलिल निधि में निमग्न मनुष्यों और देवों के मुकुटों में लगी हुई मणियों की किरणों के समूह से अनुरंजित हैं चरण कमल जिनके ऐसे तथा श्रेष्ठ आठ महाप्रातिहार्यों से परिवृत समवसरण के मध्य में स्थित, परम अनन्त चतुष्टय से समन्वित, पवन मार्गस्थ और आकाश में स्थित अरहन्त भगवान का जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है। **(वसु. श्रा. ४७२-७५)**

अथवा - ऐसे ही अर्थात् उपर्युक्त सर्व शोभा से समन्वित किन्तु समवसरण आदि परिवार से रहित और क्षीरसागर के मध्य में स्थित अथवा उत्तम क्षीर सागर के समान धवल कमल के वर्ण के कमल की कर्णिका के मध्य देश में स्थित क्षीरसागर के जल की धाराओं के अभिषेक से धवल हो रहा है सर्वांग जिनका ऐसे अरहन्त परमेष्ठी का जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. ४७५)** हे मुने ! तू आगे लिखे हुए प्रकार से सर्वज्ञ देव का स्मरण कर कि जिस सर्वज्ञ देव के ज्ञान रूप निर्मल दर्पण के मण्डल में अनेक वस्तुओं से भरा हुआ चराचर यह जगत् प्रकाशमान है। दिव्य पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि बाजों तथा अशोक वृक्षों सहित विराजमान है, रागरहित है, प्रातिहार्य महालक्ष्मी से चिह्नित है परम ऐश्वर्य करके सहित है। अनन्त ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य-क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र इन नव लब्धि रूपी लक्ष्मी की जिससे उत्पत्ति है, तथा अपने आत्मा से ही उत्पन्न है और शुक्लध्यान रूपी महान् अग्नि में होम दिया है, कर्म रूप इन्धन का समूह ऐसा है। सर्वज्ञ है, सबका दाता है, सर्व हितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय है, नित्य है, अव्यय है, अव्यक्त है, पुरातन है इत्यादि अनेक सार्थक नाम सहित, सर्वगत, देवों का नायक, सर्वज्ञ जो श्री वीर तीर्थंकर है उसको हे मुने ! तू स्मरण कर। **(ज्ञा. ३९/१४-३१)**

२७. प्रश्न : रूपस्थ ध्यान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : रूपस्थ ध्यान दो प्रकार का है- (१) स्वगत (२) परगत।

स्वगत - जिसमें अपनी आत्मा को ध्याया जावे, वह स्वगत रूपस्थ ध्यान है।

परगत - जिसमें पंच परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है, वह परगत रूपस्थ ध्यान है। **(भा.सं. ६२४-२५)**

२८. प्रश्न : रूपस्थ ध्यान का क्या फल है ?

उत्तर : जिस सर्वज्ञ देव को आराधन करके संसार से निस्पृह मुनिगण मोक्ष को प्राप्त हुए हैं तथा मोक्षलक्ष्मी के संगम में उत्सुक भव्य जीव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं योगी उस सर्वज्ञ देव परम ज्योति को आलम्बन करके गुणग्रामों में रंजायमान होता हुआ मन में विक्षेप रहित होकर उसी स्वरूप को प्राप्त होता है। **(ज्ञा. ३९/३३-३४)**

२९. प्रश्न : रूपातीत ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : रूपस्थ ध्यान के पश्चात् रूप में स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये हैं विभ्रम जिसके ऐसा ध्यानी रूपातीत ध्यान में अमूर्त्त, अजन्मा, इन्द्रियों से अगोचर, ऐसे परमात्मा के ध्यान का प्रारम्भ करता है। जिस ध्यान में ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त्त, परमाक्षररूप आत्मा को आत्मा से ही स्मरण करे वह रूपातीत ध्यान माना गया है। **(ज्ञा. ४०/१५-१६)**

समस्त अवयवों से परिपूर्ण और समस्त लक्षणों से लक्षित ऐसे निर्मल दर्पण में पड़ते हुए प्रतिबिम्ब के समान प्रभावाले परमात्मा का चिन्तन करे। **(ज्ञा. ४०/२६)** वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित, केवलज्ञान, दर्शन स्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठी या शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है। **(वसु.श्रा. ४७६)**

३०. प्रश्न : धर्मध्यान में किस-किस का ध्यान करना चाहिए ?

उत्तर : जगत् के समस्त तत्त्व जो जिस रूप में अवस्थित हैं और जिनमें ये मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ, ऐसा संकल्प न होने से जो उदासीन रूप से विद्यमान हैं वे सब ध्यान के आलम्बन हैं **अथवा-**

संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद वाले आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। जो-जो पदार्थ जिस-जिस प्रकार से अवस्थित हैं उनको उसी-उसी प्रकार से निश्चय करने वाले तथा ध्यान के इच्छुक मोक्षाभिलाषी पुरुष के यह समस्त संसार आलम्बन है। **अथवा-** इस विषय में अधिक कहने से क्या ? संक्षेप में इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस संसार में अपनी-अपनी पर्यायों सहित जो-जो पदार्थ हैं वे सब आम्नाय के अनुसार ध्यान की कोटि में प्रवेश करते हैं, यह सब शुभ पदार्थक ध्यान है। **(म.पु. २१/१७-२२)**

सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य, नय, प्रमाण, जीव-अजीव आदि पदार्थ और सप्तभंगी न्याय से देदीप्यमान जिनवाणी-सिद्धान्तग्रन्थों की परिपाटी भी ध्यान करने योग्य है। शब्द, अर्थ और ज्ञान इस प्रकार तीन प्रकार का ध्येय है। पराकाष्ठा से युक्त, अनन्त ज्ञानादि स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी, समवसरण मण्डित अरहन्त परमेष्ठी आदि भी ध्यान करने योग्य हैं। **(म.पु. २१/१०७, १२१)**

३१. प्रश्न : आत्मतत्त्व का चिन्तन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : आत्मतत्त्व का चिन्तन ध्यान करने वाले जीव के उपयोग की विशुद्धि के लिए होता है। उपयोग की विशुद्धि होने से यह जीव बन्ध के कारणों को नष्ट कर देता है। बन्ध के कारण नष्ट होने से उसके

संवर और निर्जरा होने लगती है तथा संवर और निर्जरा के होने से इस जीव को नि:सन्देह मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। **(म.पु. २१/१७-१९)**

दो शुक्ल ध्यानों के स्वामी

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

शुक्ले-च-आद्ये-पूर्व-विदः।

(शुक्ले चाद्ये) आदि के शुक्ल ध्यान (पूर्वविदः) पूर्वविद् के होते हैं।

अर्थ - आदि के दो शुक्ल ध्यान पूर्वविद् के होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : तीन ध्यानों का कथन करके इस समय शुक्ल ध्यान का कथन करना चाहिए, उसके आगे चार भेद कहने वाले हैं, उनमें से आदि के दो भेदों के स्वामी का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ८९१)**

यदि धर्म्य ध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान पर्यन्त होता है, तो शुक्लध्यान किसके होता है ? ऐसा पूछने पर आगे कहे जाने वाले शुक्लध्यान के चार विकल्पों में प्रथम दो विकल्पों के स्वामियों का निर्देश करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. ३६ उ.)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'पूर्वविद्' का ग्रहण क्यों किया गया है ?

उत्तर : आदि के दो शुक्लध्यान धारण करने का सामर्थ्य सकल श्रुत के धारी के है, अन्य के नहीं। इस बात की सूचना देने के लिए पूर्वविद् विशेषण का ग्रहण किया गया है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' का क्या अर्थ है ?

उत्तर : पूर्व कथित धर्मध्यान के समुच्चय के लिए 'च' शब्द का उल्लेख किया है कि पूर्वविद् के आदि के पृथक् वितर्क वीचार और एकत्व वितर्क ये दो ध्यान होते हैं और धर्म ध्यान भी होता है। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : 'च' शब्द से धर्मध्यान को ग्रहण करने पर विषय का भेद नहीं रहेगा कि किसके धर्मध्यान होता है और किसके शुक्लध्यान ?

उत्तर : 'च' शब्द से धर्मध्यान को ग्रहण करने पर विषय के भेद का अभाव नहीं होता, क्योंकि धर्मध्यान श्रेणी-आरोहण के पहले होता है तथा श्रेण्यारोहण काल में शुक्ल ध्यान होता है, यह बात व्याख्यान से ज्ञात हो जाती है। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : वर्तमान में दश और चौदह पूर्व तक का श्रुतज्ञान नहीं होता अत: ध्यान कैसे हो सकता है ?

उत्तर : दश और चौदह पूर्व तक के श्रुतज्ञान से ध्यान होता है, यह भी उत्सर्ग वचन है। अपवाद व्याख्यान से तो पाँच समिति और तीन गुप्ति को प्रतिपादन करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान[१] और केवलज्ञान होता है। यदि ऐसा अपवाद व्याख्यान न हो, तो तुष-माष का उच्चारण करते हुए श्री शिवभूति मुनि केवलज्ञानी हो गये इत्यादि गन्धर्व आराधनादि ग्रन्थों में कहा हुआ कथन कैसे सिद्ध होवे। **(द्र.सं. ५७ टी.)**

६. प्रश्न : श्री शिवभूति मुनि के भाव-श्रुत तो पूर्ण था, द्रव्य श्रुत भले ही आठ प्रवचन मातृका मात्र था ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, क्योंकि यदि शिवभूति मुनि पाँच समिति और तीन गुप्तियों का कथन करने वाले द्रव्य श्रुत को जानते थे तो जिन्होंने 'मा तूसह मा रूसह' अर्थात् 'किसी में राग और द्वेष मत कर' इस एक पद को क्यों नहीं जाना। इस प्रकार से जाना जाता है कि पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन मातृका प्रमाण ही उनके भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था। यह व्याख्यान मैंने ही कल्पित नहीं किया है, किन्तु चारित्रसार आदि शास्त्रों में भी यह वर्णन हुआ है। **(द्र.सं. ५७ टी.)**

अन्तिम दो शुक्लध्यानों के स्वामी

परे केवलिनः ॥३८॥

(परे) अन्तिम के दो शुक्ल ध्यान (केवलिनः) केवलज्ञानी के होते हैं।

अर्थ - अन्तिम दो शुक्लध्यान केवलज्ञानी के होते हैं।

---

१. **प्रश्न :** श्री पूज्यपाद ने ही तो संयम श्रुत प्रतिसेवना आदि सूत्र के व्याख्यान में कहा है कि निर्ग्रन्थ को अर्थात् ११वें-१२वें गुणस्थान वाले मुनि को भी कम-से-कम ज्ञान आठ प्रवचन माताओं का होता है जेसा कि पुलाक वकुश... मातर इति। अब जब कि निर्ग्रन्थता छद्मस्थ वीतराग दशा ही आठ प्रवचन माताओं के ज्ञान मात्र में हो लेती है फिर श्रेणी चढ़ने के लिए द्वादशाङ्ग का ज्ञान चाहिए यह कैसे माना जाय?

उत्तर : सुनो, पुलाक मुनि के जो कम-से-कम आचारवस्तु का ज्ञान बतलाया है वह आचारवस्तु क्या है? क्या अपने आचरण करने योग्य अट्ठाईस मूलगुणों का नाम मात्र या आचाराङ्ग? नहीं, ये दोनों ही इसके वाच्य नहीं हैं। क्योंकि किसी भी हमारे पूर्वाचार्य ने इसे आचाराङ्ग या अपने आचरण करने योग्य आदि शब्दों में न कहकर अकलङ्क, विद्यानन्दी आदि सभी ने आचार वस्तु शब्द से कहा है, जो एक खास पारिभाषिक शब्द है। वह नवम पूर्व के तीसरे अध्याय विशेष का नाम है। जैसे कि कहा है – पुलायेण भन्ते के वतियं, सुयं अहिजिज्जा गोयमा।
जहण्णेण णवम पुव्वस्सातयियं आयारवत्थु॥
उक्कस्सेण णवम पुव्वाईं सम्पूण्णाईं। वकुस पडिसेवणा कुसीलणिग्गन्था जहण्णेण अट्ठ पवयण माया वो। उक्कस्सेण चउद्दस पुव्वाईं अहिजिज्जा इति। अब जबकि पुलाक के ही नवम पूर्व के तीसरे वस्तु का ज्ञान होता है तो फिर निर्ग्रन्थ के जो अष्ट प्रवचनमाताओं का ज्ञान बताया है वह उससे कुछ अधिक होना चाहिए। अत: सूत्र में जो पूर्वविद: पद है उसका अर्थ परिपूर्ण श्रुतज्ञान न लेकर नवम पूर्व की तीसरी वस्तु तक का जानकार ऐसा अर्थ करना चाहिए। **(त.दी. ९/३७)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि आदि के दो शुक्ल ध्यान उपशान्तकषायी और क्षीणमोही के नियम से होते हैं तो शेष दो शुक्लध्यान किसके होते हैं ? इसके उत्तर में यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. ३७ उ.)**

२. प्रश्न : 'केवली' शब्द से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : 'केवली' यह शब्द सामान्य है, अत: इस केवली शब्द से अचिंत्य विभूति रूप केवलज्ञान साम्राज्य का अनुभव करने वाले सयोग केवली और अयोग केवली इन दोनों का ग्रहण करना चाहिए। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : कौनसे केवली के कौनसा शुक्ल ध्यान होता है ?

उत्तर : सयोग केवली भगवान के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान होता है और अयोग केवली भगवान के व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। **(सर्वा. ८९४)**

शुक्ल ध्यानों के नाम

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरत-क्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

पृथक्त्व-एकत्व-वितर्क-सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति-व्युपरत-क्रिया-निवर्तीनि।

अर्थ - पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवृत्ति, ये चार शुक्ल ध्यान हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अन्धकार को मुष्टि से घात करने के समान इस शुक्लध्यान का अनुष्ठान करने वालों की प्रक्रिया के प्रति हमारी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उनके लक्षण विशेष के निर्देश की उपलब्धि नहीं होती, अत: इनके लक्षण विशेष का निर्देश करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. ३९)**

२. प्रश्न : पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान में अनेक द्रव्यों का वा अनेक प्रकार के द्रव्यों का ध्यान होता है। मन, वचन, काय तीनों योगों से होता है इसलिए इसे पृथक्त्व कहते हैं। 'वितर्क' का अर्थ श्रुतज्ञान है। इस ध्यान को नौ, दश या चौदह पूर्व को जानने वाला ही प्रारम्भ करता है। अर्थ, शब्द और योगों के संक्रमण को 'वीचार' कहते हैं। इस ध्यान में शब्दों से शब्दान्तर, योग से योगान्तर और अर्थ से अर्थान्तर का चिन्तन होता है। इसलिए 'सवीचार' है। आत्मा को जानने वाले जो मुनिराज पृथक्त्व वितर्क और वीचार के साथ-साथ ध्यान करते हैं उसको 'पृथक्त्ववितर्क वीचार' नामक शुक्लध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०८०-८१)**

३. प्रश्न : प्रथम शुक्ल ध्यान के नाम की क्या सार्थकता है ?

उत्तर : प्रथम शुक्लध्यान अपने विषय में पृथक्-पृथक् प्रवृत्ति करने से अनेक प्रकार का है।

इसमें सब द्रव्यों को विषय करने वाले उत्कृष्ट श्रुतज्ञान का, जिसे वितर्क कहते हैं, अर्थ, शब्द और तीनों योग रूपी वन में संचार होता रहता है इसलिए यह 'पृथक्त्व वितर्क वीचार' इस सार्थक नाम का स्थान है। **(आ.सा. १०/४८)**

४. प्रश्न : एकत्व वितर्क शुक्लध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मोहनीय कर्म को क्षय करने वाले जो मुनिराज शब्द, अर्थ और योग के संक्रमण से रहित तथा नौ, दस वा चौदह पूर्व श्रुतज्ञान के साथ-साथ किसी एक-एक ही द्रव्य का निश्चल ध्यान करते हैं उसको 'एकत्ववितर्क अवीचार' नामका शुक्लध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०८२)**

यह अन्तिम शुक्ल ध्यान वितर्क रहित है, वीचार रहित है, अनिवृत्ति है, क्रिया रहित है, शैलेशी अवस्था को प्राप्त है और योग रहित है। **(ध. १६/८७)**

५. प्रश्न : एकत्ववितर्क शुक्लध्यान किसके होता है ?

उत्तर : जिसके शुक्ल लेश्या है, जो निसर्ग (स्वभाव) से बलशाली है, निसर्ग से शूर है, वज्र-ऋषभ नाराच संहनन का धारी है, किसी एक संस्थान वाला है, चौदह पूर्वधारी है, दश पूर्वधारी है या नौ पूर्वधारी है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि है और जिसने समस्त कषाय वर्ग का क्षय कर दिया है। (ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही समस्त कषायों का क्षय करता है।) **(ध. १३/७९)**

उपशान्त कषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान होता है। **(ध. १३/८१)** पहले कहे हुए क्षीणकषाय के समय से बाकी बचे हुए समय में यह दूसरा शुक्लध्यान होता है। **(चा.सा. २७४)**

दूसरा शुक्ल ध्यान क्षीणकषाय गुणस्थान में सम्भव है। **(बृ.द्र.सं ४८ टी.)**

६. प्रश्न : उपशान्त कषाय में दूसरा शुक्लध्यान कैसे हो सकता है ?

उत्तर : ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपशान्त कषाय गुणस्थान में केवल पृथक्त्व वितर्कवीचार ध्यान ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। और क्षीणकषाय गुणस्थान काल में सर्वत्र एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान ही होता है, ऐसा भी कोई नियम नहीं है क्योंकि वहाँ योग परावृत्ति का कथन एक समय प्रमाण अन्यथा बन नहीं सकता। इससे क्षीणकषाय काल के प्रारम्भ में पृथक्त्व वितर्कवीचार ध्यान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है। **(ध. १३/८१)**

७. प्रश्न : दूसरे ध्यान को एकत्व वितर्क अवीचार क्यों कहते हैं ?

उत्तर : जिस कारण यह ध्यान श्रुत के एक वाक्य से उत्पन्न हुआ अन्य पर्याय को प्राप्त नहीं होता अथवा द्रव्य की किसी एक पर्याय के आलम्बन से उत्पन्न होता है। एक ही वस्तु में होता है, एक ही वचन में होता है और एक ही योग में होता है; अर्थ, शब्द और योगों के समूह से होने वाली चञ्चलता इसमें नहीं होती है इसलिए इसका एकत्ववितर्क अवीचार यह सार्थक नाम है। **(आ.सा. १०/४९)**

८. प्रश्न : सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्ल ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस समय सयोगी केवली भगवान अत्यन्त सूक्ष्म काययोग में निश्चल विराजमान होते हैं उस समय उनके निश्चल होने को उपचार से ध्यान कहते हैं, यह तीसरा सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान है। **(आ.सा.)**

९. प्रश्न : इस ध्यान को 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती' क्यों कहते हैं ?

उत्तर : तृतीय शुक्लध्यान में कृष्टिगत क्रिया सूक्ष्म रह जाती है तथा काययोग भी सूक्ष्म हो जाती है इसलिए यह सूक्ष्म क्रिया कहलाता है, इसके सिवाय यह अप्रतिपाती-अविनाशी होता है, इस तरह उसका सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती यह नाम सार्थक है। **(आ.सा. १०/५२)**

१०. प्रश्न : 'व्युपरत क्रियानिवृत्ति' नाम का शुक्लध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अयोग केवली भगवान क्रिया रहित और योग रहित होकर जिस ध्यान से मोक्ष-पद प्राप्त करते हैं उसको व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान कहते हैं। **(मू.प्र. २०८४)**

११. प्रश्न : इस ध्यान को 'व्युपरत क्रिया निवृत्ति' क्यों कहते हैं ?

उत्तर : इस ध्यान में योग नष्ट हो चुकता है इसलिए आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप सब क्रियाएँ समुच्छिन्न हो जाने से यह समुच्छिन्नक्रिय कहलाता है। साथ ही यह अप्रतिपाती होता है अत: यह ध्यान सार्थक नाम वाला है। **(आ.सा. १०-५३, मू. प्र.)**

१२. प्रश्न : इन चारों शुक्लध्यान का क्या फल है ?

उत्तर : पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान के फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमर सुख प्राप्त होता है, क्योंकि इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। **(ध. १३/७९)** मोहनीय कर्म की सर्वोपशामना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक शुक्लध्यान का फल है। **(ध. १३/८०)**

इस अचिन्त्य प्रभाववाले ध्यान के सामर्थ्य से जिसका चित्त शान्त हो गया है, ऐसा ध्यानी मुनि क्षण भर में मोहनीय कर्म का मूल से नाश करता है अथवा उसका उपशम करता है। **(ज्ञा. ४२/२०)**

तीन घातिया कर्मों का नाश करना एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान का फल है। **(ध. १३/८१)**

जिस प्रकार नाली द्वारा जल का क्रमश: अभाव होता है या तपे हुए लोहे के पात्र में क्रमश: जल का अभाव होता है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा योग रूपी जल का क्रमश: नाश होता है। ध्यान रूपी मन्त्र के बल से युक्त हुआ वह सयोग केवली जिन रूपी वैद्य बादर शरीर विषयक योगविष को पहले रोकता है और इसके बाद उसे निकाल फेंकता है। **(ध. १३/८६-८७)**

शैलेशी अवस्था के काल के क्षीण होने पर सब कर्मों से मुक्त हुआ यह जीव एक समय में सिद्धि को प्राप्त होता है। **(ध. १३/८८)**

१३. प्रश्न : प्रथम शुक्लध्यान कौनसे गुणस्थान में होता है ?

उत्तर : प्रथम शुक्लध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण उपशमक, अनिवृत्ति-करण उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक और उपशान्त कषाय, इन चार गुणस्थानों में होता है। क्षपक श्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक और सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक इन तीन गुणस्थानों में होता है। **(वृ. द्र.सं. ४८ टी.)**

चारों शुक्ल ध्यानों के अवलम्बन

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ।।४० ।।

त्रि-एक-योग-काययोग-अयोगानाम्।

अर्थ - प्रथम शुक्लध्यान तीन योगों से, दूसरा शुक्ल ध्यान एक योग से, तीसरा शुक्ल ध्यान काय योग से तथा चौथा शुक्लध्यान अयोगियों के होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि ये चार प्रकार के शुक्लध्यान हैं तो उनका आलम्बन क्या है ? विषय क्या है उसे कहने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ९-४०)**

२. प्रश्न : ये चारों शुक्ल ध्यान किस-किसके आलम्बन से होते हैं ?

उत्तर : तीनों योग वालों के पहला पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान, तीनों में से किसी एक योग वाले के दूसरा शुक्लध्यान, काययोग के तीसरा शुक्ल ध्यान एवं अयोगी के चौथा शुक्लध्यान होता है। **(रा.वा.२)**

पहले शुक्ल ध्यान की विशेषता

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।।४१ ।।

एक-आश्रये-सवितर्क-वीचारे-पूर्वे।

(पूर्वे) पूर्व के दो शुक्ल ध्यान (एकाश्रये) एक आश्रय (सवितर्क वीचारे) वितर्क सहित एवं वीचार सहित होते हैं।

अर्थ - पूर्व के दो शुक्ल ध्यान एक आश्रय से होते हैं और वितर्क तथा वीचार सहित होते हैं।

१. प्रश्न : इन दोनों ध्यानों का आश्रय क्या है ?

उत्तर : ये दोनों (पृथक्त्व वितर्कवीचार और एकत्ववितर्क अवीचार) शुक्लध्यान श्रुत-केवली के द्वारा प्रारम्भ किये जाते हैं अत: दोनों का आश्रय एक ही है। **(रा.वा.१)**

जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान प्रारम्भ किये जाते हैं। **(सर्वा. ९००)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'पूर्वे' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'पूर्वे' पद से पृथक्त्ववितर्क एवं एकत्ववितर्क ध्यान को ग्रहण करना चाहिए। **(सर्वा. ९००)**

'पूर्वे' इस द्विवचन के सामर्थ्य से आदि के दो शुक्ल ध्यानों को ग्रहण करना चाहिए। **(रा.वा.३)**

इसमें विशेष कहते हैं

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

(द्वितीयं) दूसरा शुक्लध्यान (अवीचारं) विचार से रहित है।

अर्थ - द्वितीय शुक्लध्यान वीचार रहित है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उन दोनों ध्यानों में ऐसा क्रमवर्ती अर्थ नहीं ग्रहण किया जाय कि सवितर्क पहला शुक्लध्यान होता है और सवीचार दूसरा शुक्लध्यान होता है, इस अनिष्ट क्रम की निवृत्ति के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. ४१ उ.)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'द्वितीयं' पद से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : पूर्व के दो ध्यानों में जो पूर्व है वह प्रथम है और द्वितीय शेष है। वह द्वितीय शुक्लध्यान में वितर्क तो है परन्तु वीचार से रहित है, ऐसा जानना चाहिए परन्तु पहला शुक्लध्यान वितर्क और वीचार सहित है। **(रा.वा.१)**

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

(श्रुतं) श्रुतज्ञान को (वितर्कः) वितर्क कहते हैं।

अर्थ - श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं।

१. प्रश्न : वितर्क किसे कहते हैं ?

उत्तर : विशेष रूप से तर्कणा-ऊहन को वितर्क कहते हैं। वितर्क का दूसरा नाम श्रुत है। **(रा.वा.१)**

वीचार का अर्थ

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

वीचारः अर्थ-व्यंजन-योग-संक्रान्तिः।

अर्थ - अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति (परिवर्तन) को वीचार कहते हैं।

संक्रान्ति - परिवर्तन को संक्रान्ति कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि वितर्क शब्द श्रुतज्ञानवाची है तो वीचार का अर्थ क्या है ? ऐसी पृच्छा होने पर वीचार का लक्षण इस सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(रा.वा.उ. ४४)**

२. प्रश्न : संक्रान्ति कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : संक्रान्ति तीन प्रकार की होती है-

(१) अर्थ संक्रान्ति (२) व्यंजन संक्रान्ति (३) योग संक्रान्ति।

अर्थ संक्रान्ति - द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना, इस प्रकार बार-बार ध्येय में परिवर्तन होना अर्थ संक्रान्ति है।

व्यञ्जन संक्रान्ति - श्रुतज्ञान के किसी शब्द को छोड़कर अन्य शब्द का अवलम्बन लेना और उसको छोड़कर पुन: अन्य शब्द को ग्रहण करना व्यञ्जन संक्रान्ति है।

योग संक्रान्ति - काययोग को छोड़कर मनोयोग वा वचनयोग का अवलम्बन लेना तथा उन्हें भी छोड़कर काययोग का अवलम्बन लेना योग संक्रान्ति है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : कैसे स्थान पर बैठकर ध्यान करना चाहिए ?

उत्तर : पर्वत, गुफा, वृक्ष की कोटर, नदीतट, श्मशान, जीर्ण उद्यान और शून्यागार आदि किसी ध्यान में व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के अगोचर, वहाँ के चलने-फिरने वाले चींटी आदि जन्तुओं से रहित, समशीतोष्ण, अति वायु से रहित, वर्षा आतप आदि से रहित तथा सर्वत्र बाह्य और मन को विक्षेप करने वाले कारणों से रहित पवित्र एवं अनुकूल स्पर्श भूमितल पर ध्यान करना चाहिए। **(रा.वा.२)** जो स्थान मनुष्यों के द्वारा किये गये गीत, नृत्य तथा वादित्र आदि के कोलाहल रहित हैं, स्थावर और त्रस जीवों से रहित हैं, पवित्र हैं, अत्यन्त समतल हैं, छिद्रों से रहित हैं, उपद्रव रहित हैं, चौड़ी शिलाओं तथा भूमि आदि से सहित हैं और सुखकर स्पर्श वाले हैं ऐसे स्थानों में स्थित ध्याता श्रेष्ठ ध्यान में लीन होता है। **(आ.सा. १०/२४)**

संयमी मुनि संसार की पीड़ा को शांत करने के लिए समुद्र के किनारे पर, वन में पर्वत के शिखर पर, नदी के किनारे, कमलवन, प्राकार, शाल वृक्षों के समूह में, नदियों के संगम स्थल पर, जल के मध्य में जो द्वीप है उनमें, प्रशस्त वृक्ष के कोटर में, पुराने वन में, श्मशान में, पर्वत की जीव रहित गुफा में, सिद्ध कूट तथा कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयों में जहाँ महाऋद्धि धारक, महा धीर-वीर योगीश्वर सिद्धि की वांछा करते हैं, मन को प्रीति देने वाले, प्रशंसनीय तथा जहाँ पर शंका, कोलाहल शब्द न हो ऐसे स्थान

में तथा समस्त ऋतुओं में सुख देने वाले रमणीक सर्व उपद्रव रहित स्थान में तथा शून्य घर, सूने ग्राम में तथा पृथ्वी के ऊँचे नीचे प्रदेश में, कदली गृह में नगर के उपवन की वेदी के अन्त में, वेदी पर के मंडप में तथा चैत्यवृक्ष के समीप आदि स्थानों में ध्यान करना चाहिए। **(ज्ञा. २८/२-७)**

४. प्रश्न : किन-किन स्थानों में ध्यान नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : ध्यान के समय छोड़ने योग्य स्थान-

(१) म्लेच्छ पापी जन के रहने का एवं दुष्ट राजा के अधिकार का स्थान।

(२) पाखंडी भेषियों के समूह से घिरा हुआ एवं महामिथ्यात्व का स्थान।

(३) कुलदेवता, योगिनी, रुद्र, नीच देवादिक का स्थान।

(४) जहाँ वेताल नाचते हों, चंडिका देवी के भवन का प्रांगण तथा व्यभिचारिणी का संकेतित स्थान।

(५) द्यूतक्रीड़ा करने वाले, मद्यपायी व्यभिचारी एवं बन्दीजनों का स्थान।

(६) नास्तिकों से सेवित, राक्षस, कामीजन, अग्निजीवी, रजस्वला, भ्रष्टचारित्री, नपुंसक एवं अंगहीनों का स्थान।

(७) जहाँ दु:शील खोटे पुरुषों ने अचिन्त्य साहसिक कार्य रचा हो, जमीदारी, जाति और कुल से उत्पन्न हुई शक्ति से 'यह हमारा स्थान है' ऐसे गर्व से प्रवेश का निषेध करते हों।

(८) क्रूरकर्म और अभिचार से पूर्ण स्थान।

५. प्रश्न : ध्याता में क्या-क्या गुण होने चाहिए ?

उत्तर : ध्याता के गुण-

(१) मुमुक्षु - (मोक्ष की इच्छा रखने वाला हो)

(२) संसार से विरक्त हो (३) क्षोभ रहित शान्तचित्त हो।

(४) वशी (जिसका मन अपने वश में हो)

(५) स्थिर हो (शरीर के अंगोपांग आसन में दृढ़ हो।)

(६) जिताक्ष (जितेन्द्रिय हो) (७) संवृत्त (संवर युक्त हो)

(८) धीर हो। ऐसे आठ गुणों से युक्त ही ध्याता के ध्यान की सिद्धि होती है। **(ज्ञा. ४/६)**

६. प्रश्न : मुनियों को ध्यान के समय कौनसा आसन लगाना चाहिए ?

उत्तर : मुनियों को ध्यान के समय मुख्य रूप से सुखासन लगाना चाहिए। पर्यंकासन और

कायोत्सर्ग ये दो सुखासन हैं। जो मुनि ध्यान के समय विषम (ऊँचे-नीचे) आसन से बैठता है उसके शरीर में अवश्य पीड़ा होने लगती है, शरीर में पीड़ा होने पर मन में पीड़ा होने लगती है और मन में पीड़ा होने से आकुलता उत्पन्न हो जाती है। आकुलता उत्पन्न होने पर कुछ भी ध्यान नहीं किया जा सकता इसलिए ध्यान के समय सुखासन लगाना चाहिए। इन दोनों सुखासनों में पर्यंकासन को अधिक सुखकर माना गया है। **(म.पु. २१/६९/७२)**

अथवा - शरीर की जो-जो अवस्था ध्यान का विरोध करने वाली न हो उसी-उसी अवस्था में स्थित होकर मुनियों को ध्यान करना चाहिए। चाहें तो वे बैठकर ध्यान कर सकते हैं, खड़े होकर कर सकते हैं और लेटकर भी ध्यान कर सकते हैं। **(म.पु. २१/७५)**

७. प्रश्न : आगम में सभी आसनों से मुक्ति मानी गयी है, वह कैसे ?

उत्तर : आगम में ऐसा भी सुना जाता है कि जिनका शरीर वज्रमयी है और जो महा शक्तिशाली हैं, ऐसे पुरुष सभी आसनों से विराजमान होकर ध्यान के बल से अविनाशी पद को प्राप्त हुए हैं। इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यंकासन का निरूपण असमर्थ जीवों की अधिकता से किया गया है। जो उपसर्ग आदि को सहन करने में अतिशय समर्थ हैं ऐसे मुनियों के लिए अनेक प्रकार के आसनों को लगाने में दोष नहीं है। **(म.पु. २१/७३-७४)**

८. प्रश्न : क्या ध्यान के समय देश, काल, आसन आदि का नियम आवश्यक है ?

उत्तर : ध्यान करने के इच्छुक धीर-वीर मुनियों के लिए दिन-रात और संध्या काल आदि काल भी निश्चित नहीं है क्योंकि वह ध्यान रूपी धन सभी समय में उपयोग करने योग्य है अर्थात् ध्यान इच्छानुसार सभी समयों में किया जा सकता है। क्योंकि सभी देश, सभी काल और सभी चेष्टाओं (आसनों) में ध्यान धारण करने वाले अनेक मुनिराज आज तक सिद्ध हो चुके हैं, अब हो रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे इसलिए ध्यान के लिए देश, काल और आसन वगैरह का कोई खास नियम नहीं है। जो मुनि जिस समय, जिस देश में, जिस आसन से ध्यान को प्राप्त हो सकता है उस मुनि के ध्यान के लिए वही समय, वही देश और वही आसन उपयुक्त माना गया है। **(म.पु.२१/८१-८३)**

९. प्रश्न : प्रथम शुक्लध्यान का ध्याता कौन होता है ?

उत्तर : एकाग्रचित्त होकर राग-द्वेष, मोह का उपशम जिसके हो गया है, ऐसा उपशान्त राग-द्वेष-मोही कुशलता से शारीरिक क्रियाओं का निग्रह करने वाला, मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेता हुआ, निश्चित लक्ष्य वाला और क्षमाशील मुमुक्षु बाह्य-अभ्यन्तर द्रव्य एवं पर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क के सामर्थ्य से युक्त हो अर्थ और व्यञ्जन, काय और वचन के पृथक्-पृथक् रूप से संक्रमण करने वाले और असीम बल और उत्साह से मन को सबल बनाकर अव्यवस्थित और भौंथरे (जिसकी धार तीखी नहीं है) शस्त्र के द्वारा वृक्ष छेदने के समान मोहकर्म की प्रकृतियों का उपशम एवं क्षय करने वाले पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान का ध्याता होता है। **(रा.वा.)**

१०. प्रश्न : प्रथम शुक्लध्यान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संसार में जीवादिक छह द्रव्य हैं। ज्ञान, वर्ण, गति सहकार, स्थिति सहकार, वर्तना और अवगाहन ये अनुक्रम से उन द्रव्यों के गुण हैं तथा उनके भेदों को पर्याय कहते हैं। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर संक्रमण करने को **अर्थान्तर** कहते हैं। एक गुण से दूसरे गुण पर **संक्रमण** करने को **गुणान्तर** कहते हैं और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर संक्रमण करने को **पर्यायान्तर** कहते हैं। इस प्रकार अर्थ-अर्थान्तर, गुण-गुणान्तर और पर्याय-पर्यायान्तर इन छहों में तीनों योगों के संक्रमण के द्वारा अठारह भेद होते हैं।

इसी तरह अर्थ से गुण-गुणान्तर, पर्याय-पर्यायान्तर इन चारों में तीनों योगों के संक्रमण के द्वारा बारह भेद होते हैं। तथा अर्थान्तर से गुण-गुणान्तर, पर्याय-पर्यायान्तर इन चारों में तीनों योगों के संक्रमण के द्वारा बारह भेद होते हैं, इस प्रकार सब मिलकर (१२+१८+१२) बयालीस भेद होते हैं। **(चा.सा. २७१)**

११. प्रश्न : प्रथम शुक्ल ध्यान का फल क्या है ?

उत्तर : यह शुक्लध्यान इष्ट सम्पत्ति को प्रदान करने वाला है। **(आ.सा. १०/४८)** यह ध्यान उपशान्तकषाय तथा क्षीणकषाय के भेद से स्वर्ग और मोक्षफल को देने वाला है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान वालों को स्वर्ग तथा बारहवें गुणस्थान वालों को मोक्ष देने वाला है। **(चा.सा. २७२)**

शक्ति की हीनता होने से योग से योगान्तर, व्यंजन से व्यञ्जनान्तर और अर्थ से अर्थान्तर को प्राप्त करता हुआ ध्यान के द्वारा मोहरज का विध्वंस करके इस ध्यान से निवृत्त हो जाता है अर्थात् मोह कर्म का नाश करना ही पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान का कार्य है। यह ध्यान यदि मोहकर्म का उपशमन करने वाला है तो छूट भी जाता है। **(रा.वा.)**

१२. प्रश्न : एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान किसके होता है ?

उत्तर : पृथक्त्व ध्यान से जिसने अपना चित्त जीत लिया है और जिसके कषाय शान्त हो गये हैं और जो कर्म रूप कक्ष अर्थात् तृण समूह अथवा वन के दग्ध करने को अग्नि के समान है ऐसा महामुनि एकत्व ध्यान के योग्य है। जिस समय इस ध्यानी का चित्त पृथक्त्व ध्यान के द्वारा कषाय मल से रहित होता है, तब इस ध्यानी का पराक्रम प्रगट होता है और तभी यह एकत्व ध्यान के योग्य होता है। जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है और जो पूर्व का जानने वाला है और जिसकी दीप्ति अपरिमित है, उस मुनि के अत्यन्त निश्चल ऐसा यह सवितर्क एकत्व ध्यान होता है। **(ज्ञा. ४२/२३-२५)**

जो समूल मोहनीय कर्म का दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धि विशेष को प्राप्त होकर बहुत प्रकार की ज्ञानावरण की सहायीभूत प्रकृतियों के बन्ध को रोक रहा है, जो कर्मों की स्थिति को न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञान के उपयोग से युक्त है, जो अर्थ व्यंजन और योग की संक्रान्ति से रहित है, निश्चल मन वाला है, क्षीण कषाय है और वैडूर्यमणि के समान निरुपलेप है वह ध्यान करके पुन: नहीं लौटता है। इस प्रकार उसके एकत्व-वितर्क शुक्ल ध्यान कहा गया है। **(सर्वा. ९०६)**

१३. प्रश्न : द्वितीय शुक्ल ध्यान का क्या फल है ?

उत्तर : योगी पुरुषों के अतिशय निर्मल एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीय ध्यान रूपी अग्नि के प्रकट होते हुए घातिया कर्म क्षण मात्र में नष्ट हो जाते हैं। ध्यानी मुनि इस दूसरे शुक्लध्यान रूपी अग्नि की ज्वाला से दर्शन और ज्ञान के आवरण करने वाले दर्शनावरण-ज्ञानावरण कर्म को और मोहनीय तथा अन्तराय कर्म को क्षण मात्र में नष्ट कर देता है। **(ज्ञा. ४२/२८-२९)** एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान से घातिकर्म का नाश करके, अपने आत्मलाभ को प्राप्त होता है और अत्यन्त उत्कृष्ट शुद्धता को पाकर केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करता है। वे ज्ञान और दर्शन दोनों अलब्धपूर्व हैं सो उनको पाकर उसी समय वे केवली भगवान समस्त लोक और अलोक को यथावत् देखते और जानते हैं। जिस समय केवलज्ञान की प्राप्ति होती है उस समय वे भगवान सर्वकाल में उदय रूप सर्वज्ञदेव होते हैं और अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि विभूति के प्रथम स्थान होते हैं। **(ज्ञा. ४२/३०-३२)**

१४. प्रश्न : सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती शुक्ल ध्यान किसके होता है ?

उत्तर : केवली भगवान के जब मोहनीय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन चार दुर्द्धर्ष घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब अवशेष चार अघाति कर्म व्यक्ति रूप से रहते हैं। कर्मों से रहित और केवलज्ञान रूपी सूर्य से पदार्थों को प्रकाशित करने वाले ऐसे वे सर्वज्ञ जब अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण आयु बाकी रह जाती है तब तीसरे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान के योग्य होते हैं। **(ज्ञा. ४२/४०-४१)** एकत्व वितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिसने घातिया कर्म रूपी ईंधन को जला दिया है, प्रज्वलित केवलज्ञान रूपी सूर्य से जो प्रकाशित है, मेघ समूह को भेद कर निकले हुए सूर्य की किरणों के समान देदीप्यमान है ऐसे भगवान तीर्थंकर तथा अन्य केवली तीन लोक के ईश्वरों के द्वारा अभिवन्दनीय, अर्चनीय और अभिगमनीय होते हैं तथा वे कुछ कम उत्कृष्ट एक कोटिपूर्व काल तक विहार करते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है तथा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहती है तब सभी मन-वचन और बादर काययोग को छोड़कर केवली भगवान सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ करते हैं। **(रा.वा.)**

१५. प्रश्न : यदि आयु कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त रहे और शेष कर्मों की अधिक रहे तो केवली भगवान क्या करते हैं ?

उत्तर : जब केवली भगवान के आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है और शेष तीन कर्मों की स्थिति आयु कर्म से अधिक रहती है तब योगी विशिष्ट आत्मोपयोग वाली परम सामायिक परिणत विशिष्टकरण महासंवर की कारणभूत शीघ्र ही कर्मों को पचाने वाली समुद्घात क्रिया करते हैं। **(रा.वा.)**

जब अरहंत परमेष्ठी के आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त्त अवशेष रह जाता है और अन्य तीनों की स्थिति अधिक होती है तब समुद्घात की विधि साक्षात् प्रथम ही प्रारम्भ करते हैं। **(ज्ञा. ४२/४३)**

१६. प्रश्न : केवली भगवान समुद्घात किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर : केवली जिन समुद्घात करते हुए पूर्वाभिमुख होकर या उत्तराभिमुख होकर कायोत्सर्ग से करते हैं या पल्यंकासन से करते हैं।

जिनके स्वमात्रा में कर्मों का परिपाचन हो रहा है ऐसे वे (केवली भगवान) अपने आत्मप्रदेशों के फैलने से कर्म रज को परिशातन करने की शक्ति वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं। **(सर्वा. ९०६)**

१७. प्रश्न : दण्ड समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसकी अपने विष्कम्भ से कुछ अधिक तिगुनी परिधि है ऐसे पूर्व शरीर के बाहल्य रूप अथवा पूर्व शरीर से तिगुने बाहल्य रूप दण्डाकार से केवली के जीवप्रदेशों का कुछ कम चौदह राजू उत्सेध रूप फैलने का नाम दण्ड समुद्घात है। **(ध. ४/२८)**

कायोत्सर्ग से दण्ड समुद्घात करने वाले केवली के मूल शरीर की परिधि प्रमाण कुछ कम चौदह राजू लम्बे दण्डाकार रूप से जीव प्रदेशों का फैलना दण्ड समुद्घात है। **(ज.ध. २२७८ फल)**। पश्चिम स्कन्ध, ९००-९०३ पेज, संभवत: १५-१६वीं पुस्तक में।

१८. प्रश्न : दण्ड समुद्घात में कुछ कम से कितना लेना चाहिए ?

उत्तर : यहाँ कुछ कम का प्रमाण लोक के नीचे और ऊपर लोक पर्यन्त वातवलय से रोका गया क्षेत्र होता है, ऐसा जानना चाहिए क्योंकि स्वभाव से ही उस अवस्था में वातवलय के भीतर केवली के जीवप्रदेशों का प्रवेश नहीं होता। इसी तरह पल्यंकासन से समुद्घात करने वाले केवली जिन के दण्ड समुद्घात कहना चाहिए। इतना विशेष है कि मूल शरीर की परिधि से उस अवस्था में दण्ड समुद्घात की परिधि तिगुनी हो जाती है। **(ज.ध. फल २२७८)**

१९. प्रश्न : कपाट समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैसे कपाट मोटाई की अपेक्षा अल्प ही होकर लम्बाई और चौड़ाई की अपेक्षा बढ़ता है, उसी प्रकार यहाँ भी मूल शरीर के बाहल्य की अपेक्षा अथवा उसके तिगुणे बाहल्य की अपेक्षा जीव प्रदेशों के अवस्था विशेष रूप होकर कुछ कम चौदह राजू प्रमाण आयाम की अपेक्षा तथा सात राजू प्रमाण विस्तार की अपेक्षा अथवा वृद्धि-हानिगत विस्तार की अपेक्षा वृद्धि को प्राप्त होकर स्थित रहता है, वह कपाट समुद्घात कहा जाता है, क्योंकि इस समुद्घात में स्पष्ट रूप से ही कपाट जैसा आकार पाया जाता है। **(ज.ध. फल. २२७९)**

दण्ड समुद्घात में बताये गये बाहल्य और आयाम के द्वारा (पूर्व पश्चिम में वातवलय से रहित) सम्पूर्ण क्षेत्र के व्याप्त करने का नाम कपाट समुद्घात है। **(ध. ४/२९)**

२०. प्रश्न : प्रतर समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : तीनों वातवलयों को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में आत्मप्रदेश जब फैलते हैं तब तृतीय समय वाला प्रतर समुद्घात होता है। **(का.अ. ४८७ टी.)**

केवली भगवान के जीव प्रदेशों का वातवलय से रुके हुए क्षेत्र को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने का नाम प्रतर समुद्घात है। **(ध. ४/२९)**

२१. प्रश्न : लोकपूरण समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : घन लोकप्रमाण केवली भगवान के जीव प्रदेशों का सर्व लोक के व्याप्त करने को लोक पूरण समुद्घात कहते हैं। **(ध. ४/२९)**

चतुर्थ समय में आत्मप्रदेश पूरे लोक में भर जाते हैं यही लोकपूरण समुद्घात है। **(का.अ. ४८६ टी.)**

२२. प्रश्न : तृतीय शुक्ल ध्यान का क्या फल है ?

उत्तर : केवली भगवान लोकपूरण प्रदेशों को पाकर ध्यान के बल से वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघाति कर्मों की स्थिति घटाकर आयु कर्म के समान कर लेते हैं। श्रीमान् केवली भगवान पुन: लोकपूरण प्रदेशों से उसी क्रम से चार समयों में लौटकर स्वस्थ होते हैं। जिनकी वह चेष्टा अचिन्त्य है ऐसे केवली भगवान उस समय बादर काय योग में स्थिति करके बादर वचन योग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं। पुन: वे भगवान काय को छोड़कर वचनयोग और मनोयोग में स्थिति करके बादर काययोग को सूक्ष्म करते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग में स्थिति करके, क्षण मात्र में उसी समय वचनयोग और मनोयोग दोनों का निग्रह करते हैं। तब यह सूक्ष्मक्रिया ध्यान साक्षात् ध्यान करने योग्य होता है और वह वहाँ पर सूक्ष्म एक काययोग में स्थित हुआ उसका ध्यान करता है। यही तृतीय सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान है। **(ज्ञा. ४२/४७-५१)**

२३. प्रश्न : चौथे शुक्लध्यान को समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती या व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान क्यों कहते हैं ?

उत्तर : चौदहवें गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ होता है। श्वासोच्छ्वास आदि सर्व मन-वचन और काय सम्बन्धी व्यापारों का निरोध होने से यह ध्यान समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति कहलाता है। **(रा.वा.)**

२४. प्रश्न : चौथे शुक्ल ध्यान का क्या फल है ?

उत्तर : समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति ध्यान में सर्व आस्रव-बन्ध का निरोध होकर समस्त कर्मों को नष्ट करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। इसके धारक अयोग केवली के संसार दु:खजाल के उच्छेदक,

साक्षात् मोक्षमार्ग के कारण परिपूर्ण यथाख्यात चारित्र, ज्ञान, दर्शन आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। वे अयोग केवली भगवान पुन: ध्यान रूपी अग्नि से समस्त कर्ममल कलंक बन्धों को जलाकर किट्ट कालिमा रहित सुवर्ण के समान परिपूर्ण स्वरूप लाभ करके निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। **(रा.वा.)**

निर्जरा के स्थान

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजक-दर्शन-मोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक-क्षीणमोहजिना: क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा: ॥४५॥

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरत-अनन्त-वियोजक-दर्शनमोहक्षपक-उपशमक-उपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिना: क्रमश: असंख्येय-गुणनिर्जरा:।

(सम्यग्दृष्टिश्रावक विरतानन्त वियोजक दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त मोह क्षपक क्षीणमोहजिना:) सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजक, दर्शनमोह का क्षपक, चारित्र मोह का उपशमक, उपशान्तमोह, चारित्रमोह का क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये (क्रमश:) क्रम से (असंख्येयगुणनिर्जरा:) असंख्यातगुणी निर्जरा वाले हैं।

अर्थ - सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजक, दर्शन मोह का क्षपक, चारित्र मोह का उपशमक, उपशान्त मोह, चारित्र मोह का क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रमश: असंख्यात गुणी-असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा करने वाले हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : परिषहों पर विजय और अन्तरंग-बहिरंग तपश्चरण करने से कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा कहा है, परन्तु यह नहीं जाना गया कि सब सम्यग्दृष्टियों के निर्जरा समान होती है कि उनमें कुछ विशेषता है ? ऐसी शंका होने पर आचार्य ने उत्तर रूप में यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. उ. ४५)**

२. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों की निर्जरा के कितने स्थान हैं ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि की निर्जरा के स्थान-

सम्यक्त्वोत्पत्ति (सातिशय मिथ्यादृष्टि), सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाला, दर्शनमोह का क्षय करने वाला, कषायों का उपशमक, उपशान्त कषाय, कषायों का क्षपक, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी दोनों प्रकार के जिनों में क्रमश: असंख्यात गुणी-असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। **(गो.जी. ६६-६७)**

सम्यक्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजक, दर्शनमोहक्षपक, कषायों का उपशमक, उपशान्तकषाय, कषायों का क्षपक, क्षीणकषाय और जिन इनके क्रमश: असंख्यात गुणी-असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

(१) सम्यग्दृष्टि - चतुर्थ गुणस्थानवर्ती (२) श्रावक - पंचम गुणस्थानवर्ती (३) विरत-छठे सातवें गुणस्थानवर्ती (४) अनन्त वियोजक - अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला। (५) दर्शनमोहक्षपक-दर्शनमोह की क्षपणा करने वाला। (६) उपशमक - चारित्रमोह की उपशमना करने वाला। (७) उपशान्त मोह - ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती (८) क्षपक - चारित्रमोह की क्षपणा करने वाला (९) क्षीणमोह - बारहवें गुणस्थानवर्ती (१०) जिन - जिनेन्द्र भगवान।

(१) सम्यक्त्वग्रहण काल में (२) देशव्रती के (३) महाव्रत ग्रहण करते समय (४) अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करते समय (५) मिथ्यात्वत्रिक (मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक प्रकृति) का क्षय करते समय (६) उपशांत मोह (७) क्षपक श्रेणी में (८) क्षीणमोह गुणस्थान में (९) सयोग केवली (१०) अयोग केवली। इन स्थानों में क्रमश: असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। **(पर. सा. १७७-७९)**

३. प्रश्न : सम्यग्दृष्टि के किससे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है ?

उत्तर : काललब्धि आदि की सहायता से जो परिणामों की विशुद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ऐसा भव्य पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक जीव क्रम से अपूर्वकरण आदि सोपान-पंक्ति पर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है। वही प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त मिलने पर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येय गुण कर्मनिर्जरा वाला होता है। **(सर्वा. ९०८)**

४. प्रश्न : सम्यग्दृष्टि से श्रावक आदि के असंख्यात गुणी निर्जरा कब होती है ?

उत्तर : वही जीव चारित्र मोहनीय के एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की प्राप्ति के समय विशुद्धि का प्रकर्ष होने से श्रावक होता हुआ सम्यग्दृष्टि से असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है। **(सर्वा. ९०८)**

पुन: वही प्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की विशुद्धि वश विरत संज्ञा को प्राप्त होता हुआ उससे असंख्येय गुणनिर्जरा वाला होता है।

पुन: वही दर्शनमोहनीयत्रिक रूपी तृण समूह को भस्मसात् करता हुआ परिणामों की विशुद्धि के अतिशयवश दर्शनमोह क्षपक संज्ञा को प्राप्त होता हुआ पहले से असंख्येय गुणनिर्जरा वाला होता है।

वही जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणी पर आरोहण करने के सम्मुख होता हुआ तथा चारित्र मोहनीय का उपशम करने के लिए प्रयत्न करता हुआ विशुद्धि के प्रकर्षवश उपशमकसंज्ञा का अनुभव करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

वही समस्त चारित्र मोहनीय के उपशम के निमित्त मिलने पर उपशान्त कषाय संज्ञा को प्राप्त होता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येय गुण निर्जरा वाला होता है। वही चारित्र मोहनीय की क्षपणा के लिए सम्मुख होता हुआ तथा परिणामों की विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होकर क्षपक संज्ञा का अनुभव करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येय गुण निर्जरा वाला होता है। वही चारित्र मोहनीय की क्षपणा के कारणों से प्राप्त हुए

परिणामों के अभिमुख होकर क्षीणकषाय संज्ञा को प्राप्त करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येय गुण निर्जरा वाला होता है।

वही द्वितीय शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिकर्म समूह का नाश करके जिन संज्ञा को प्राप्त करता हुआ, पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है। **(सर्वा. ९०८)**

निर्ग्रन्थों के भेद-

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातकाः निर्ग्रन्थाः।

अर्थ - पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन का सान्निध्य होने पर भी यदि असंख्येय गुण निर्जरा के कारण ये परस्पर में समान नहीं हैं तो क्या श्रावक के समान ये विरत आदिक भी केवल गुणभेद के कारण निर्ग्रन्थपने को नहीं प्राप्त हो सकते, इसलिए कहते हैं कि यह बात ऐसी नहीं है क्योंकि गुणभेद के कारण परस्पर भेद होने पर भी नैगमादि नय की अपेक्षा वे सभी निर्ग्रन्थ हैं, इसी बात को इस सूत्र के द्वारा कहा गया है। **(सर्वा. ९०९)**

२. प्रश्न : पुलाक मुनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिनका मन उत्तरगुणों की भावना से रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् व्रतों में भी परिपूर्णता को नहीं प्राप्त होते हैं , वे अविशुद्ध पुलाक के समान होने से पुलाक कहे जाते हैं। **(सर्वा. ९१०)**

जिनके मन में उत्तरगुणों के पालन करने की भावना नहीं है, मूलगुणों की भी कभी-कभी विराधना करते हैं, वे बिना पके वा जिसमें पूर्ण शुद्धि नहीं हुई है, उस पुलाक धान्य के समान व्रतों की शुद्धि न होने से पुलाक इस नाम को धारण करते हैं, अर्थात् पुलाक कहलाते हैं। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : बकुश मुनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो निर्ग्रन्थ यद्यपि मूलगुणों का अखण्ड रूप से पालन करते हैं, परन्तु शरीर और उपकरणों की सजावट में जिनका चित्त लगा है, यश और ऋद्धियों की जो कामना करते हैं, सात और गौरव से युक्त हैं, परिवार के ममत्व से जिनकी चित्तवृत्ति निवृत्त नहीं हुई है और छेद से जिनका चित्त शबल (चित्रित) है वे बकुश हैं, क्योंकि बकुश शब्द शबल का पर्यायवाची है। **(रा.वा.२)**

जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतों का अखण्ड रूप से पालन करते हैं, शरीर और उपकरणों की शोभा बढ़ाने में लगे रहते हैं, परिवार से घिरे रहते हैं और विविध प्रकार के मोह से युक्त हैं, वे बकुश कहलाते हैं। **(सर्वा. ९१०)**

४. प्रश्न : कुशील मुनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : कुशील मुनि दो प्रकार के होते हैं-

(१) प्रतिसेवना कुशील (२) कषाय कुशील।

प्रतिसेवना कुशील - जो परिग्रह से घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तर गुणों में परिपूर्ण हैं लेकिन कभी-कभी उत्तर गुणों की विराधना करते हैं वे प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं।

कषाय कुशील - जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषाय के अधीन हैं वे कषायकुशील कहलाते हैं।

५. प्रश्न : निर्ग्रन्थ मुनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार जल में लकड़ी से की गयी रेखा अप्रकट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रकट हो और जो अन्तर्मुहूर्त्त के बाद प्रकट होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करते हैं वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। **(सर्वा. ९१०)** जिनके अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह नष्ट हो चुके हैं वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। **(रा.वा.)**

६. प्रश्न : स्नातक मुनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के नाश हो जाने से जिनके केवलज्ञानादि अतिशय विभूतियाँ प्रकट हुई हैं, जो योग सहित हैं, सम्पूर्ण शीलों के स्वामी हैं, वा शैल पर्वत के समान अचल-अडोल अकम्प हैं, लब्धास्पद् (कृतकृत्य) हैं वे सयोग केवली स्नातक कहलाते हैं। अथवा 'स्नात्' धातु वेद और परिसमाप्ति में आती है, स्वार्थ में 'इकण्' प्रत्यय लगाकर स्नातक शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है, जिनके सर्व कार्य समाप्त हो चुके हैं, वे स्नातक हैं। **(रा.वा. ५)**

७. प्रश्न : जिस प्रकार गृहस्थ चारित्र के भेद से निर्ग्रन्थ नहीं कहलाता है उसी प्रकार पुलाक आदि में भी चारित्र का भेद होने से वे निर्ग्रन्थ कैसे कहला सकते हैं ?

उत्तर : जैसे- चारित्र, अध्ययन आदि का भेद होने पर भी सभी ब्राह्मणों में जाति की दृष्टि से ब्राह्मण शब्द का प्रयोग समान रूप से होता है, उसी प्रकार चारित्र आदि की अपेक्षा पुलाक, बकुश आदि भेद होने पर भी पुलाक आदि सभी मुनियों में समान रूप से निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग होता है। किञ्च- संग्रह और व्यवहार नय की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ हैं। यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा गुणहीनों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नहीं होता तथापि संग्रह और व्यवहार नय की अपेक्षा गुणहीन में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग सर्वसंग्रहार्थ कर लिया जाता है, अथवा, दृष्टि रूप सामान्य की अपेक्षा सब निर्ग्रन्थ हैं, भूषा, वेष और आयुध से रहित निर्ग्रन्थ रूप और शुद्ध सम्यग्दर्शन के कारण पुलाक आदि सभी मुनियों में निर्ग्रन्थता समान है, क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि हैं और भूषा, वेष, आयुध से रहित हैं, अत: इनमें निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग सकारण है।[१] **(रा.वा. ७-९)**

---

१. नैगम-संग्रह आदि नय की अपेक्षा ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ माने जाते हैं क्योंकि जिनमत की श्रद्धा और नग्न यथाजातपना ये दोनों बातें सबमें एक समान रूप से होती हैं, इसलिए सबकी निर्ग्रन्थ कहा जाता है। **(त.दी. ९/४६)**

८. प्रश्न : भग्नव्रतों में यदि निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग किया जाता है तो श्रावक में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग करना चाहिए अत: अतिप्रसङ्ग दोष आता है ?

उत्तर : हम निर्ग्रन्थ रूप को प्रमाण मानते हैं, अत: भग्न व्रत में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग करके भी श्रावकव्रत में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि श्रावक में निर्ग्रन्थरूपता नहीं है, इसलिए अतिप्रसंग दोष नहीं है। **(रा.वा. १०)**

९. प्रश्न : यदि भग्नव्रत में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग होता है तो नग्न मिथ्यादृष्टि में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग करना चाहिए ?

उत्तर : जिस किसी नग्न में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता है, जिनमें सम्यग्दर्शन सहित निर्ग्रन्थपना है वे ही निर्ग्रन्थ हैं, केवल नग्न रूप मात्र निर्ग्रन्थ नहीं है। **(रा.वा. ११)**

१०. प्रश्न : पुलाक आदि का वर्णन किसलिए किया गया है ?

उत्तर : चारित्र गुणों की उत्तरोत्तर प्रकर्षता बताने के लिए पुलाकादि का उपदेश है। **(रा.वा. १२)**

पुलाकादि मुनियों की विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पत: साध्या: ॥४७॥

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्या-उपपाद-स्थान-विकल्पत:साध्या:।

अर्थ - संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान के विकल्प से सिद्ध किये गये हैं।

१. प्रश्न : पुलाकादि मुनियों के कौन-कौन से संयम होते हैं ?

उत्तर : पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनि के सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो संयम होते हैं। कषायकुशील मुनि के सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि और सूक्ष्म साम्पराय ये चार संयम होते हैं।

निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनि के एक यथाख्यात संयम ही होता है। **(रा.वा. ४)**

२. प्रश्न : पुलाकादि मुनियों के कितना-कितना श्रुत होता है ?

उत्तर : पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना-कुशील मुनि उत्कृष्ट से अभिन्न अक्षर दशपूर्व के धारी होते हैं।

कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट से चौदह पूर्व के धारी होते हैं।

स्नातक मुनियों के श्रुतज्ञान नहीं होता है। (क्योंकि वे केवलज्ञानी होते हैं)

पुलाक का जघन्य श्रुत आचार वस्तु के ज्ञान तक सीमित है।[१]

बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थों का जघन्य श्रुत आठ प्रवचन मातृका तक होता है। **(रा.वा. ४)**

३. प्रश्न : पुलाकादि के प्रतिसेवना किन कारणों से होती है ?

उत्तर : पुलाक मुनि पाँच मूलगुण तथा रात्रिभोजनत्याग रूप षष्ठ व्रत में से, किसी पर के दबाव से प्रतिसेवना करने वाले होते हैं।

बकुश मुनि दो प्रकार के हैं-

(१) उपकरण बकुश (२) शरीर बकुश।

उपकरण बकुश - उपकरणों में जिनका चित्त आसक्त है, जो अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न परिग्रहों से युक्त हैं, जो सुन्दर, बहु, विशेष रूप से अलंकृत उपकरणों के आकांक्षी हैं तथा जो उन उपकरणों का संस्कार किया करते हैं अथवा उनके उपकरण सुन्दर, स्वच्छ दीखते रहें ऐसा उनका संस्कार पसन्द करते हैं ऐसे मुनि उपकरण बकुश कहलाते हैं।

शरीर बकुश- शरीर-संस्कार सेवी भिक्षु शरीर बकुश कहलाते हैं।

जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करने वाले हैं, परन्तु उत्तर गुणों में कभी-कभी विराधना करते हैं, वे प्रतिसेवना कुशील मुनि हैं।

कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के कभी भी व्रतों की विराधना नहीं होती अत: ये प्रतिसेवना से रहित हैं। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : तीर्थ और लिङ्ग की अपेक्षा पुलाकादि मुनियों में क्या विशेषता है ?

उत्तर : सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में पुलाकादि मुनि होते हैं।

भावलिङ्ग की अपेक्षा पाँचों ही निर्ग्रन्थ लिंगी होते हैं, परन्तु द्रव्यलिंग की अपेक्षा भाज्य हैं। **(रा.वा.४)**

५. प्रश्न : पुलाकादि मुनियों के कौन-कौन सी लेश्याएँ होती हैं ?

उत्तर : पुलाक मुनि के उत्तर की तीन (पीत-पद्म-शुक्ल) लेश्याएँ होती हैं।

बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्या होती हैं।[२]

---

१. इस पर शंका हो सकती है कि पुलाकपन के लिए भी जब आचार तक का ज्ञान होना अवश्यंभावी है तो कुन्दकुन्द आदि मुनि कौनसी जाति के मुनि थे क्योंकि उनके तो इतना ज्ञान था नहीं, तो फिर क्या वे निर्ग्रन्थपन से सर्वथा रहित थे? ऐसा है नहीं; हमारे कहने का यह मतलब नहीं जैसा कि उन्होंने समझ लिया है कि आचार वस्तु पर्यन्त का ज्ञान हुए बिना पुलाकपन ही नहीं होता, किन्तु मतलब यह है कि श्रेणी मांडने के लिए अथवा यों कहो कि शुक्लध्यान प्राप्त करने के लिए आचार वस्तु तक का ज्ञान जरूर प्राप्त कर लेना चाहिए तभी वे शुक्लध्यान कर सकते हैं। क्योंकि उस ध्यान के लिए वह अनिवार्य कारण है। **(त.दी. ९/४७)**

२. बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्याएँ ही हो जाया करती हैं क्योंकि ये दोनों मुनि उपकरणों में आसक्त हुआ करते हैं इसलिए आर्त्तध्यान हो जाने से खोटी लेश्या भी बन जाती है। **(त.दी. ९/४७)**

कषाय कुशील और परिहार विशुद्धि वाले के उत्तर की चार (कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल) लेश्या होती है।

सूक्ष्म साम्पराय, निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक शुक्ल लेश्या ही होती हैं। अयोग केवली लेश्या रहित होते हैं। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : बकुश और प्रतिसेवना कुशील में कृष्णादि तीन अशुभ लेश्या कैसे हो सकती हैं?

उत्तर : बकुश और प्रतिसेवना कुशील में उपकरणों के प्रति आसक्ति भाव की सम्भावना होने से कदाचित् आर्त्तध्यान सम्भव है और आर्त्तध्यान में कृष्णादि तीनों लेश्याओं का होना सम्भव है। **(सर्वा. दूसरी प्रति में)**

६. प्रश्न : पुलाकादि का उपपाद कहाँ तक होता है ?

उत्तर : पुलाक का उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों तक होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट रूप से उपपाद आरण-अच्युत कल्प में बाईस सागर की उत्कृष्ट स्थिति में होता है।

कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागर की स्थिति में उत्पन्न होते हैं। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ का उपपाद जघन्य रूप से सौधर्म-स्वर्ग में दो सागर की आयु वाले देवों में होता है।

स्नातक को तो उसी भव में निर्वाण पद की प्राप्ति होती है। **(रा.वा. ५)**

७. प्रश्न : पुलाकादि मुनियों के कितने-कितने संयम लब्धिस्थान होते हैं ?

उत्तर : कषाय के निमित्त से असंख्यात संयमस्थान होते हैं। उनमें कषायकुशील और पुलाक के सर्वजघन्य लब्धिस्थान होते हैं। वे दोनों आगे एक साथ असंख्यात-संयम स्थानों को प्राप्त होते हैं। उसके आगे पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती है। उसके आगे कषाय-कुशील असंख्यात संयम स्थानों को अकेला ही प्राप्त होता है। उससे आगे कषाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश एक साथ असंख्यात संयमस्थानों को प्राप्त होते हैं, उसके आगे बकुश रूप परिणामों की व्युच्छित्ति हो जाती है। उसके आगे भी असंख्येय संयम स्थान को प्राप्त होकर कषाय मन्द हो जाने से प्रतिसेवना कुशील रूप परिणामों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसके आगे अकषाय स्थान को प्राप्त होकर निर्ग्रन्थ हो जाता है। वह निर्ग्रन्थ भी असंख्यात संयमस्थानों को प्राप्त कर व्युच्छिन्न हो जाता है। उसके बाद निर्ग्रन्थ तथा स्नातक एक स्थान को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इनके संयम स्थान एक ही होता है, क्योंकि कषायों के अभाव में संयमस्थान नहीं होते। इस प्रकार इनके संयमलब्धि अनन्तगुणी होती है। **(रा.वा.३)**

इस प्रकार तत्त्वार्थ मञ्जूषा में नवम अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : दशम अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : ९ कुल प्रश्न : ९९

- ✦ प्रथम सूत्र में केवलज्ञान की उत्पत्ति का हेतु बताया है।
- ✦ दूसरे सूत्र में मोक्ष का लक्षण कहा है।
- ✦ तीसरे सूत्र में मोक्ष में न रहने वाले भावों की चर्चा है।
- ✦ चतुर्थ सूत्र में जिन भावों का सद्भाव है, उनका कथन है।
- ✦ पंचम सूत्र में कर्मक्षय के बाद जीव की स्थिति का वर्णन है।
- ✦ छठे सूत्र में जीव के ऊर्ध्वगमन के हेतु बताये हैं।
- ✦ सातवें सूत्र में ऊर्ध्वगमन के दृष्टान्त कहे है।
- ✦ आठवें सूत्र में लोकाकाश के आगे जीव के गमन का अभाव दर्शाया है।
- ✦ नौवें सूत्र में मुक्त जीवों में भेद होने के कारणों का उल्लेख है।

केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

मोह-क्षयात्-ज्ञान-दर्शनावरण-अन्तराय-क्षयात् च केवलम्।

(मोहक्षयात्) मोहनीय कर्म का क्षय होने से (ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च) ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से (केवलं) केवलज्ञान होता है।

अर्थ - मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से, ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है?

उत्तर : निर्जरा का वर्णन कर चुके हैं, अब मोक्ष का वर्णन करना चाहिए, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति केवलज्ञान की उत्पत्ति के बिना नहीं हो सकती अत: पूर्व में केवलज्ञान की उत्पत्ति जिससे होती है उसी का उपदेश देना चाहिए। अत: केवलज्ञान की उत्पत्ति के कारणों को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. १)**

२. प्रश्न : केवलज्ञान किन कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है ?

उत्तर : केवलज्ञान, संवर के द्वारा जिसकी परम्परा की जड़ काट दी गई है तथा सम्यग्चारित्र और ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिसकी सत्ता का सर्वथा लोप कर दिया गया है उस मोहनीय कर्म के मूल से क्षय हो जाने पर तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय होते ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है- केवलज्ञान उत्पन्न होता है। **(रा.वा.)** जब संसार का बीजभूत मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये तीन कर्म एक साथ सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार गर्भसूची के नष्ट होने पर बालक मर जाता है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर उक्त (ज्ञानावरणादि तीन कर्म) नष्ट हो जाते हैं। **(त.सा. ८/२२-२३)**

३. प्रश्न : मोहनीय कर्म का क्षय कैसे होता है ?

उत्तर : कोई जीव विशुद्धि के अध्यवसाय से अपूर्व उत्साह को धारण करते हुए अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

तदनन्तर बड़ी भारी विशुद्धि से क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर अध:प्रवृत्त आदि करणों के द्वारा अपूर्वकरण क्षपक अवस्था को प्राप्त कर उससे आगे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कषायों को नष्ट कर नपुंसक वेद और स्त्रीवेद को उखाड़ कर, छह नोकषायों को पुरुषवेद में क्षेपण कर, पुरुष वेद को क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में, मान संज्वलन को माया संज्वलन में, माया संज्वलन को लोभ संज्वलन में क्षेपण कर क्रम-क्रम से बादर कृष्टि विभाग से इनका क्षय करके अनिवृत्ति बादर साम्परायिक क्षपक नामक गुणस्थान को प्राप्त होता है। तदनन्तर लोभ

संज्वलन कषाय को सूक्ष्म कर दशम गुणस्थान को प्राप्त होता है। सूक्ष्म साम्पराय अवस्था का अन्तर्मुहूर्त तक अनुभव करके समस्त मोहनीय कर्म का समस्त भार उतार करके फेंक देता है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : केवलज्ञान कब होता है ?

उत्तर : क्षपक बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला कर्म का नाशकर अन्त समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्म का नाश कर अचिंत्यविभूतियुक्त केवलज्ञान एवं केवलदर्शन स्वभाव को निष्प्रतिपक्षी रूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त एवं निर्लेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य-पर्यायों के स्वभाव का ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनन्तदर्शनशाली निरवशेष पुरुषार्थ को प्राप्त, कृतकृत्य मेघ-पटलों से विमुक्त शरत्कालीन स्वकिरणकलापों से पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन तथा देदीप्यमान मूर्त्ति केवली हो जाता है। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : ''मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् केवलं'' ऐसे समासान्त पद की रचना करके लघु सूत्र क्यों नहीं बनाया ?

उत्तर : सूत्र में समास न करके मोहक्षय का पृथक् प्रयोग क्रमिक क्षय की सूचना देने के लिए है, क्योंकि प्रथम मोहनीय कर्म का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त तक क्षीणकषाय पद को प्राप्त करके तदनन्तर एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। **(रा.वा.१)**

६. प्रश्न : सूत्र में पंचमी विभक्ति का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : मोहनीय कर्म का क्षय ही मुख्यतया केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण है, यह बात बताने के लिए सूत्र में पंचमी विभक्ति से मोहक्षय की हेतुता का द्योतन किया है। **(रा.वा.२)**

ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय केवलज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है ऐसा जानकर हेतु रूप (पंचमी) विभक्ति का निर्देश किया है। **(सर्वा. ९२१)**

मोक्ष का लक्षण-

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

बन्ध हेतु-अभाव-निर्जराभ्यां-कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षः-मोक्षः।

(बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां) बन्ध के हेतुओं का अभाव और निर्जरा के द्वारा (कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः) सम्पूर्ण कर्मों के नाश हो जाने पर (मोक्षः) मोक्ष होता है।

अर्थ - बन्ध के कारणों का अभाव और निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों के नाश हो जाने को मोक्ष कहा है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : समस्त प्रतिबन्धी कर्मों से रहित एवं सम्यग्दर्शन, अनन्तवीर्य आदि गुणों से युक्त

केवलज्ञान होता है, यह तो कह दिया तथा केवलज्ञान का आत्मलाभ सकल कर्म के उच्छेद के कारण से स्वीकृत है। परन्तु मोक्ष का लक्षण क्या है ? किस कारण से मोक्ष होता है ? ये दो बातें अब करना चाहिए- ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. २)**

२. प्रश्न : मोक्ष किन कारणों से होता है ?

उत्तर : पूर्वोक्त कथित मिथ्यादर्शनादि रूप बन्ध के कारणों का निरोध (अभाव) हो जाने पर नूतन कर्मों का आना रुक जाता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है। पूर्वोक्त तप आदि निर्जरा के कारणों का सन्निधान होने पर पूर्व अर्जित कर्मों का विनाश हो जाता है। उन बन्ध हेतुओं का अभाव और निर्जरा में हेतु अर्थ पंचमी विभक्ति का निर्देश किया गया है, इन दोनों कारणों से भवस्थिति (आयु) के बराबर जिनकी स्थिति कर ली गई ऐसे वेदनीय आदि शेष कर्मों का युगपत् आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही सर्व कर्मों का नाश मोक्ष जानना चाहिए। **(रा.वा. १-२)**

३. प्रश्न : कर्मबन्ध सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिए ? क्योंकि जो अनादि होता है उसका अन्त नहीं होता तथा दृष्ट विपरीत की कल्पना करने पर प्रमाण का अभाव होता है ?

उत्तर : अनादि होने से अन्त नहीं होता ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे बीज और अङ्कुर की सन्तान अनादि होने पर भी अग्नि से अन्तिम बीज के जला देने पर उससे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के द्वारा अनादिकालीन मिथ्या-दर्शनादि कर्म बन्ध के कारणों को भस्म कर देने पर भवाङ्कुर का उत्पाद नहीं होता अर्थात् भवाङ्कुर नष्ट हो जाता है, यही मोक्ष है, इस दृष्ट बात का लोप नहीं कर सकते। कहा भी है- जैसे बीज के जल जाने पर अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्मबीज के जल जाने पर भवाङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है।'' **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से ही मोक्ष क्यों कहा है ?

उत्तर : कृत्स्न (सम्पूर्ण) कर्म का कर्म रूप से क्षय हो जाना कर्मक्षय है, क्योंकि'सत्' द्रव्य का द्रव्यत्व रूप से विनाश नहीं है किन्तु पर्याय रूप से उत्पत्तिमान होने से उनका विनाश होता है तथा पर्याय द्रव्य को छोड़कर नहीं है अत: पर्याय की अपेक्षा द्रव्य भी व्यय को प्राप्त होता है, ऐसा कह दिया जाता है। क्योंकि पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं अत: पर्याय रूप से द्रव्य का व्यय होता है। अत: कारणवशात् कर्मत्व पर्याय को प्राप्त पुद्गल द्रव्य का कर्मबन्ध के प्रत्यनीक कारणों के सन्निधान होने पर उस कर्मत्व पर्याय की निवृत्ति होने पर उसका क्षय हो जाता है, उस समय वह पुद्गल द्रव्य अकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है। इसलिए कृत्स्न कर्मक्षय को मुक्ति कहना युक्त ही है। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : कर्म का अभाव कितने प्रकार से होता है ?

उत्तर : कर्म का अभाव दो प्रकार से होता है-

(१) यत्न साध्य (२) अयत्न साध्य।

चरम शरीर के नरकायु, तिर्यञ्चायु और देवायु का अभाव अयत्न साध्य है, क्योंकि इनका स्वयं अभाव है।

शेष कर्मों का अभाव यत्नसाध्य है क्योंकि इनका अभाव किया जाता है। **(रा.वा. ४)**

६. प्रश्न : कौन-कौन से गुणस्थान में किन-किन प्रकृतियों का क्षय होता है ?

उत्तर : चौथे से सातवें तक के किसी भी एक गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति, इन सात कर्म प्रकृतियों का विषवृक्ष वन शुभ अध्यवसाय रूप तीक्ष्ण फरसे से समूल काटा जाता है।

अनिवृत्ति बादर साम्पराय में - (१) निद्रा-निद्रा (२) प्रचला-प्रचला (३) स्त्यानगृद्धि (४) नरकगति (५) तिर्यञ्च-गति (६) एकेन्द्रिय जाति (७) द्वीन्द्रिय जाति (८) त्रीन्द्रिय जाति (९) चतुरिन्द्रिय जाति (१०) नरक गत्यानुपूर्वी (११) तिर्यग्गत्यानुपूर्वी (१२) आतप (१३) उद्योत (१४) स्थावर (१५) सूक्ष्म (१६) साधारण। इन सोलह प्रकृतियों की सेना को एक साथ समाधि रूप चक्र से जीतता है।

इसी में अप्रत्याख्यान चतुष्क एवं प्रत्याख्यान चतुष्क, इन आठ का नाश करता है।

इसी में क्रमश: नपुंसक वेद एवं स्त्रीवेद का क्षय करता है।

इसी में - पुन: एक ही प्रहार में छह नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) का नाश करता है। इसमें- क्रमश: पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध-मान-माया का क्षय करता है।

सूक्ष्म साम्पराय में - दसवें गुणस्थान के अन्त में लोभ संज्वलन का क्षय होता है।

क्षीणकषाय में-क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ के उपान्त्य समय में निद्रा-प्रचला का नाश करता है।

इसी के अन्त में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय का नाश करता है।

अयोगी केवली के **चौदहवें गुणस्थान** के उपान्त्य समय में वेदनीय, देवगति, औदारिकादि पाँच शरीर, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच प्रशस्त वर्ण, पाँच अप्रशस्त वर्ण, दो गन्ध, पाँच प्रशस्त एवं पाँच अप्रशस्त रस, आठ स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, अपर्याप्तक, प्रत्येक शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग, सुस्वर- दु:स्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण और नीच गोत्र इन बहत्तर कर्मों का नाश होता है।[१]

अन्त समय में - (१) कोई एक वेदनीय (२) मनुष्यायु (३) मनुष्यगति (४) पंचेन्द्रिय

---

१. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** में प्रशस्ताप्रशस्त वर्ण एवं रस के स्थान पर ५ वर्ण और ५ रस को ही ग्रहण किया गया है तथा पाँच बन्धन और पाँच संघात को भी लिया गया है।

(५) मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, (६) त्रस (७) बादर (८) पर्याप्तक (९) सुभग (१०) आदेय (११) यशस्कीर्ति (१२) तीर्थंकर (१३) उच्च गोत्र। इन तेरह का नाश होता है। **(रा.वा. ४)**

७. प्रश्न : भगवान के कर्मों का क्षय पहले होता है या मोक्ष पहले ?

उत्तर : जिस प्रकार द्रव्यकर्म की उत्पत्ति का प्रारम्भ और विनाश साथ ही साथ होते हैं उसी प्रकार सिद्ध भगवान की मोक्ष विषयक गति संसार का क्षय होते ही साथ-ही-साथ होती है। जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति और अन्धकार का विनाश एक साथ होता है उसी प्रकार निर्वाण की उत्पत्ति और कर्म का विनाश एक साथ होता है। **(त.सा. ८/३५-३६)**

८. प्रश्न : संसारी जीवों को निरंतर कर्मों का बंध होता है, उसी प्रकार कर्मों का उदय भी होता है, शुद्धात्म भावना का प्रसंग नहीं है, तो मोक्ष किस प्रकार हो ?

उत्तर : जिस प्रकार कोई बुद्धिमान मनुष्य शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर विचार करता है कि यह मेरा मारने का अवसर है, तत्पश्चात् पुरुषार्थ करके शत्रु को नष्ट करता है, उसी प्रकार कर्मों की भी एकरूप अवस्था नहीं रहती है, जब कर्म की स्थिति और अनुभाग हीन होने पर वह लघु और क्षीण होता है, तब बुद्धिमान भव्य जीव आगमभाषा से क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि और अध्यात्म-भाषा से निज-शुद्धात्माभिमुख परिणाम नामक विशेष प्रकार की निर्मल-भावना रूप खड्ग से पुरुषार्थ करके कर्मशत्रु को नष्ट करता है। **(वृ.द्र.सं.टी. ३७)**

मोक्ष में जिन भावों का अभाव होता है उनका कथन

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ॥३॥

अर्थ - मोक्ष में औपशमिकादि भावों और भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : क्या इन पौद्गलिक द्रव्य कर्म प्रकृतियों का उच्छेद होना ही मोक्ष है अथवा भाव कर्मों का भी ? ऐसा पूछने पर मोक्षप्राप्ति पर जिन भावों का उच्छेद होता है उन्हें बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'भव्यत्व' भाव का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : भव्यत्व का ग्रहण अन्य पारिणामिक भावों की अनिवृत्ति के लिए है। पारिणामिक भावों में जीवत्व भाव की मोक्ष में अनिवृत्ति के लिए भव्यत्व भाव का ग्रहण किया गया है। अत: पारिणामिक भावों में भव्यत्व का तथा औपशमिकादि भावों का अभाव मोक्ष में हो जाता है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : इस सूत्र से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि कर्मद्रव्य का निरास होने से तन्निमित्तक भावों की निवृत्ति अपने आप हो जाती है ?

उत्तर : निमित्त के अभाव में नैमित्तिक का अभाव हो ही, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। फिर जिसका अर्थापत्ति से ज्ञान हो जाता है, उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति कराने के लिए और आगे के सूत्र की संगति बैठाने के लिए औपशमिकादि भावों का नाम लिया है। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : मोक्ष में किन-किन भावों का अभाव हो जाता है ?

उत्तर : मोक्ष में औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और भव्यत्व इन चार भावों का अभाव हो जाता है।

मोक्ष में कौन-कौन से भाव रहते हैं-

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञान-दर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ - मोक्ष में केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन चार भावों का क्षय नहीं होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि भावों की उपरति (अभाव) से मोक्ष होता है तो औपशमिकादि भावों की निवृत्ति के समान क्षायिकादि भावों की निवृत्ति हो जायेगी। ऐसा प्रश्न होने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.४)**

२. प्रश्न : सूत्र में अन्यत्र के स्थान पर 'अन्य' शब्द का ग्रहण क्यों नहीं किया ?

उत्तर : यद्यपि अन्य शब्द का ग्रहण करके भी पंचमी विभक्ति का निर्वाह हो सकता है तथापि 'त्र' प्रत्यय स्वार्थिक है। इसमें केवलसम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व से भिन्नता के लिए यह उक्त प्रकरण है अर्थात् इनसे भिन्न गुण इनमें नहीं है, क्योंकि यह उनका स्वभाव है या यह विधि है। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : सिद्धों में कौन-कौन से गुण पाये जाते हैं ?

उत्तर : अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व ये सिद्धों के आत्यन्तिक गुण हैं। **(भ.आ. २१५१)**

क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व ये सिद्धों के आठ गुण वर्णन किये गये हैं। **(ल.सि.भ. १)**

सम्यक्त्वादि आठ गुण मध्यम रुचि वाले शिष्यों के लिए हैं। विस्तार रुचि वाले शिष्य के प्रति विशेष भेद नय के अवलम्बन से गति रहितता, इन्द्रियरहितता, शरीर रहितता, योग रहितता, वेद रहितता, कषाय रहितता, नाम रहितता, गोत्र रहितता, तथा आयु रहितता आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण इस तरह जैनागम के अनुसार अनन्तगुण जानने चाहिए। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)**

उपर्युक्त आठ गुणों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार गुण और मिलाने पर बारह गुण माने गये हैं। **(ध. १३/६९)**

सिद्ध परमेष्ठी के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवल सौख्य, अमूर्त्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व आदि ऐसे स्वाभाविक गुण होते हैं। **(नि.सा. १८२)**

४. प्रश्न : कौन से कर्म के क्षय से कौनसा गुण प्रगट होता है[१] ?

उत्तर : ज्ञानावरण कर्म के क्षय से - केवलज्ञान।

दर्शनावरण कर्म के क्षय से - केवलदर्शन।

वेदनीय कर्म के क्षय से - अव्याबाधत्व गुण (सुख)।

मोहनीय कर्म के क्षय से - सम्यक्त्व।

आयु कर्म के क्षय से - अवगाहनत्व।

नाम कर्म के क्षय से - सूक्ष्मत्व।

गोत्र कर्म के क्षय से - अगुरुलघुत्व।

अन्तराय कर्म के क्षय से - अनन्तवीर्य। **(त.सा. ८/३७-४०)**

आयुकर्म के क्षय से सूक्ष्मत्व।

नामकर्म के क्षय से अगुरुलघु। अथवा गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघु गुण प्रकट होता है। **(प.प्र.टी. १/६१)**

५. प्रश्न : संक्षेपरुचि शिष्य की अपेक्षा सिद्धों के कितने गुण होते हैं ?

उत्तर : संक्षेपरुचि शिष्य के लिए विवक्षित अभेद नय की अपेक्षा चार गुण हैं–

(१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त सुख (४) अनन्त वीर्य।

अथवा - तीन गुण हैं- (१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त सुख।

अथवा - दो गुण हैं- (१) केवलज्ञान (२) केवलदर्शन।

अथवा - अभेद नय से एक शुद्ध चैतन्य गुण ही सिद्धों का है। **(वृ.द्र.सं.टी.१४)**

६. प्रश्न : सिद्धों में पाये जाने वाले केवलदर्शनादि के क्या लक्षण हैं ?

---

१. आयु कर्म के नाश ासे जन्म-मरण नामकर्म के नाश से स्पष्ट मूर्तपना, गोत्रकर्म के नाश से अनीचोच्छता तथा वेदनीय के नाश से इन्द्रियजन्य सुख का अभाव। **(त.दी. ९/४४)**

उत्तर : केवलज्ञान - लोक तथा अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुए विशेषों को जानने वाला 'केवलज्ञान' गुण है।

केवलदर्शन - लोकालोक के संपूर्ण पदार्थों के सामान्य को ग्रहण करने वाला 'केवलदर्शन' गुण है।

अव्याबाधत्व सुख - स्वाभाविक शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव से उत्पन्न तथा राग आदि विभावों से रहित सुखरूपी अमृत का जो एकदेश अनुभव पहले किया था उसी के फलस्वरूप अव्याबाध रूप 'अनन्त सुख' गुण सिद्धों में कहा गया है।

सम्यक्त्व - केवलज्ञान आदि गुणों का आश्रयभूत निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, इस प्रकार की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चरण की अवस्था में भावित किया था उसके फलस्वरूप समस्त जीव आदि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश से रहित परिणाम-रूप परम क्षायिक सम्यक्त्व गुण सिद्धों के कहा गया है।

अनन्त वीर्य - आत्मध्यान से विचलित करने वाले किसी अतिघोर परिषह तथा उपसर्ग आदि के आने के समय जो पहले अपने निरंजन परमात्मा के ध्यान में धैर्य का अवलम्बन किया उसी के फलरूप अनन्त पदार्थों के जानने में खेद के अभाव रूप 'अनन्तवीर्य' गुण है।

सूक्ष्मत्व - सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने के कारण सिद्धों के स्वरूप को सूक्ष्मत्व कहते हैं।

अवगाहन गुण - एक दीप के प्रकाश में जैसे अनेक दीपों का प्रकाश समा जाता है उसी प्रकार एक सिद्ध के क्षेत्र में संकर तथा व्यतिकर दोष से रहित जो अनन्त सिद्धों को अवकाश देने का सामर्थ्य है वह 'अवगाहन' गुण है।

अगुरुलघु - यदि सिद्ध स्वरूप सर्वथा गुरु हो तो लोहे के गोले के समान वह नीचे पड़ा रहेगा और यदि सर्वथा लघु हो तो वायु से प्रेरित आक की रुई की तरह वह सदा इधर-उधर घूमता रहेगा, किन्तु सिद्धों का स्वरूप ऐसा नहीं है इस कारण उनके 'अगुरुलघु' गुण कहा जाता है। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)**

७. प्रश्न : सिद्धों में सम्यक्त्वादि गुणों के संग्रह से तो वीर्यादि गुणों के अभाव का प्रसंग आता है ?

उत्तर : ज्ञान, दर्शन के अविनाभावी अनन्तवीर्यादि 'अनन्त' संज्ञक गुण भी गृहीत हो जाते हैं, क्योंकि अनन्तवीर्य से रहित व्यक्ति के अनन्तज्ञान नहीं हो सकता और न अनन्त सुख ही, क्योंकि सुख तो ज्ञानमय ही है। **(रा.वा.३)**

८. प्रश्न : घोड़े के समान जीव के भी एक बन्ध के उच्छेद हो जाने पर भी पुनः बन्ध का प्रसंग आता है ?

उत्तर : जैसे- घोड़ा एक बन्धन से छूटकर भी फिर दूसरे बन्धन से बँध जाता है, उसी प्रकार जीव में पुनर्बन्ध की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मिथ्यादर्शनादि कारणों के उच्छेद होने पर बन्धन रूप कार्य का सर्वथा अभाव हो जाता है। अर्थात् बन्ध के हेतुओं का अभाव होने से बन्ध रूप कार्य का भी अभाव होजाता है। **(रा.वा. ४)**

आग के ऊपर तपाया गया अथवा आग की लपटों से झुलसा हुआ बीज उर्वरा भूमि में बोये जाने पर भी जिस प्रकार अंकुर को उत्पन्न नहीं करता है उसी प्रकार उग्र तप रूपी ज्वाला से झुलसा गया कर्म रूपी बीज फिर कभी पुनर्जन्म रूपी अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। यदि ताल वृक्ष के ऊपर के पत्ते एक बार पूरे काट दिये जायें तो उसमें नूतन अंकुर की उत्पत्ति असंभव हो जाती है फलत: उसमें फिर डाल-पत्ते नहीं ही आते हैं, यही अवस्था एक बार पूर्ण रूप से क्षय हुए कर्मों की है। **(व.चा. १०/२५-२६)** जो आत्मा मोक्ष अवस्था को प्राप्त होकर निराकुलतामय सुख का अनुभव कर चुका है वह पुन: संसार में लौटकर नहीं आता, क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो सुखदायी स्थान को छोड़कर दु:खदायी स्थान में आकर रहेगा। **(यो.सा. ७/१८)**

जिस प्रकार एक बार कीट से रहित किया गया स्वर्ण पुन: कीटयुक्त नहीं होता है उसी प्रकार जो आत्मा एक बार कर्मों से रहित हो चुका है, वह पुन: कर्मों से संयुक्त नहीं होता। **(यो.सा. ९/५३)**

९. प्रश्न : सारे जगत् के दु:खी प्राणियों को देखने से भगवान को कारुण्य भाव उत्पन्न होता है और उससे बन्ध होता है ?

उत्तर : भक्ति, स्नेह, कृपा और स्पृहा आदि राग-विकल्पों का अभाव हो जाने से वीतराग के जगत् के प्राणियों को दु:खी और कष्ट में पड़े हुए देखकर करुणा और तत्पूर्वक बन्ध नहीं होता, क्योंकि उनके सर्व आस्रवों का परिक्षय हो गया है। **(रा.वा. ५)**

अथवा - अकस्मात् बन्ध भी नहीं होता, क्योंकि बिना कारण ही यदि मुक्त जीवों के बन्ध माना जाय तो कभी मोक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि मुक्ति के अनन्तर ही बन्ध होने लगेगा। **(रा.वा. ६)**

१०. प्रश्न : स्थान वाले होने से सिद्ध भगवान का अध: पतन होना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि वे अनास्रव होते हैं। आस्रव वाले यान-पात्र का ही अध:पतन देखा जाता है, मुक्तात्मा के आस्रव नहीं है अत: उसका अध:पतन नहीं है। **अथवा-** गौरव (भारीपना) का अभाव होने से भी मुक्तावस्था प्राप्त जीवों का अध: पतन नहीं होता, क्योंकि वजनदार ताड़फल आदि का प्रतिबन्धक डण्ठल संयोगादि के अभाव में पतन होता है, गुरुत्वशून्य आकाशप्रदेश आदि का नहीं। मुक्त जीव भी गुरुत्व रहित है। अत: इनके पतन का अभाव है। यदि मात्र स्थान वाले होने से पात हो तो सभी धर्म-द्रव्यादि पदार्थों का पात होना चाहिए। **(रा.वा. ७-८)**

११. प्रश्न : सिद्ध शिला छोटी है एवं सिद्ध अनन्त हैं अत: उनमें परस्पर अवरोध होगा ?

उत्तर : अवगाहन शक्ति के योग से मूर्त्तिमान् भी अनेक मणि प्रदीप प्रकाशों के अल्प आकाश में अवरोधी अवगाह की बाधा नहीं है तब अमूर्त्तिक अवगाहन शक्ति युक्त सिद्धों में तो परस्पर बाधा कैसे हो सकती है ? इसलिए अमूर्त्तिक होने से सिद्धों में जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों की बाधा नहीं है क्योंकि जिसकी मूर्त्ति (शरीर) है उसके ही जन्म-मरणादि पूर्वक प्रीति, परिताप आदि बाधाओं की सम्भावना है, अमूर्त्तिक मुक्तात्माओं में जन्म-मरण द्वन्द्वों के उपनिपात नहीं हैं अत: निर्व्याबाधत्व होने से सिद्ध परम सुखी हैं। **(रा.वा. ९, १०)**

१२. प्रश्न : सिद्ध लोक कैसा है ?

उत्तर : सिद्ध शिला (ईषत्प्राग्भार) पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार से संयुक्त है। उसका मध्य बाहल्य आठ योजन है और उसके आगे घटते-घटते अन्त में एक अंगुल प्रमाण है। अष्टम भूमि में स्थित सिद्ध क्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है। इसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक का विस्तार पूर्व-पश्चिम में रूप से रहित एक राजू प्रमाण है। **(ति.प. ८/६७६-८१)**

सिद्धों के आवासक्षेत्र का प्रमाण (क्षेत्रफल) $\frac{८४०४७४०८१५६२५}{८}$ यो. है। **(ति.पं. ९/४)**

१३. प्रश्न : आठ भूमियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : (१) नारक भूमि (२) भवनवासी (३) मानुष भूमि (४) ज्योतिषी (५) कल्पवासी (६) ग्रैवेयक (७) अनुत्तर विमान (८) मोक्ष। **(प.पु.)**

१४. प्रश्न : सिद्ध भगवान कहाँ विराजमान हैं ?

उत्तर : उस आठवीं पृथिवी के ७०५० धनुष ऊपर जाकर सिद्धों का आवास है। **(ति.प.९/३)**

सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के ध्वजदण्ड से १२ योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है। **(ति.प. ८/६७५)** सिद्ध भूमि 'ईषत् प्राग्भार' पृथिवी के ऊपर स्थित है। उस आठवीं पृथिवी के सात हजार पचास (७०५०) धनुष ऊपर जाकर सिद्धों का आवास है। **(ति.प.९/३)**

सिद्धभूमि 'ईषत्प्राग्भार' पृथिवी के ऊपर स्थित है। एक योजन में कुछ कम है। ऐसे निष्कम्प व स्थिर स्थान में सिद्ध प्राप्त होकर तिष्ठते हैं। **(भ.आ. २१२७)**

१५. प्रश्न : सिद्ध भगवान अनन्तकाल तक लोकाकाश के अन्त में कैसे ठहरते हैं ?

उत्तर : सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाश के प्रदेशों को अवगाहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकाय का माना गया है, क्योंकि जैसे जीव का स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीव का स्वभाव स्थिति नहीं है। **(भ.आ. २१३३)**

१६. प्रश्न : सिद्धशिला का आकार कैसा है ?

उत्तर : सिद्धशिला चाँदी एवं सुवर्ण के सदृश और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है। यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के सदृश आकार से सुन्दर है। **(ति.प. ८/६७९-८०)**

१७. प्रश्न : मोक्ष में कितने सिद्ध भगवान हैं ?

उत्तर : अतीत काल के सर्व समयों को पाँच सौ बानवे (५९२) रूपों से गुणित करके उसमें आठ समय अधिक छह मासों का भाग देने पर लब्ध राशि प्रमाण सब निवृत्त अर्थात् मुक्त जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। **(ति.प. ४/३००५)**

अतीत समयों की संख्या में छह मास और आठ समय का भाग देकर आठ कम छह सौ अर्थात् ५९२ से गुणा करने पर जो प्राप्त हो उतने ((अतीत समय : छह मास ८ समय) × ५९२) सिद्ध हैं। **(ति.प. ९/५)**

१८. प्रश्न : छह महीनों के बाद आठ समयों में कितने-कितने जीव मोक्ष जाते हैं ?

उत्तर : इन आठ समयों में क्रमश: उत्कृष्ट रूप से बत्तीस, अड़तालीस, साठ, बहत्तर, चौरासी, छ्यानवै और अन्तिम दो समयों में एक सौ आठ, एक सौ आठ तथा जघन्य रूप से एक-एक सिद्ध होते हैं। मध्यम प्रतिपत्ति से सब समयों में चौहत्तर-चौहत्तर जीव सिद्ध होते हैं। **(ति.प. ४/३००३-४)**

१९. प्रश्न : यदि इस प्रकार जीव मोक्ष जायेंगे तो संसार खाली हो जायेगा ?

उत्तर : अनन्त काल के बाद भी संसार खाली नहीं होगा क्योंकि-

(१) त्रस भाव को नहीं प्राप्त हुए अनन्त निगोद जीव सम्भव हैं।

(२) आय रहित जिन संख्याओं का व्यय होने पर सत्त्व का विच्छेद होता है वे संख्याएँ संख्यात और असंख्यात संज्ञावाली होती हैं। आय से रहित जिन संख्याओं का संख्यात और असंख्यात रूप से व्यय होने पर भी विच्छेद नहीं होता है उनकी अनन्त संज्ञा है। और सब जीव राशि अनन्त है, इसलिए वह विच्छेद को प्राप्त नहीं होती। अन्यथा उसके अनन्त होने में विरोध आता है।

(३) सब अतीत काल के द्वारा जो सिद्ध हुए हैं उनसे एक निगोद शरीर के जीव अनन्तगुणे हैं।

(४) सिद्ध जीव अतीत काल के प्रत्येक समय में यदि असंख्यात लोक प्रमाण सिद्ध होवें तो भी अतीत काल से असंख्यात गुणे ही होंगे। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि सिद्ध जीव अतीतकाल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही उपलब्ध होते हैं।

(५) अतीत काल में त्रसपने को प्राप्त हुए जीव यदि बहुत अधिक होते हैं तो अतीत काल से असंख्यात गुणे ही होते हैं। **(ध. १४/२३३-३५)** सर्व भव्य संसारी राशि अनन्त काल के द्वारा भी क्षय को प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि यह राशि अक्षयानन्त है। जो-जो अक्षयानन्त होता है, वह-वह अनन्तकाल के द्वारा भी क्षय को प्राप्त नहीं होता है, जैसे- कि तीनों कालों के समयों का परिमाण या सर्व द्रव्यों की पर्यायें अथवा अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार के अनुमान से प्राप्त तर्क प्रमाण है। **(गो.जी.जी. १९६)**

२०. प्रश्न : सिद्ध भगवान का आकार कैसा है ?

उत्तर : जहाँ एक धर्म द्रव्य है वहाँ तक जाकर लोक शिखर पर सब सिद्ध पृथक्-पृथक् मोम से रहित मूषक के अभ्यन्तर आकाश के आकार में सिद्ध हो जाते हैं। **(ति.प. ९/१६)**

पुरुषों के आकार वाले और लोकशिखर पर स्थित ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। मोम रहित मूस के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के समान पुरुष के आकार को धारण करने वाला है। **(वृ.द्र.सं.टी. ५१)**

२१. प्रश्न : सिद्ध भगवान की अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार दीर्घता और बाहल्य हो उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना है। **(ति.प. ९/१९)** वे सिद्ध चरम शरीर से कुछ छोटे होते हैं। वह जो किंचित् ऊनता शरीर व अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों की अपूर्णता (पोलाहट) के कारण से है। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)**

२२. प्रश्न : मुक्तात्माओं का आकार अन्तिम शरीर से कितना कम रहता है ?

उत्तर : सिद्ध भगवान चरम शरीर से कुछ छोटे होते हैं। वह जो किंचित् ऊनता है। सो शरीरोपाङ्ग से उत्पन्न नासिका आदि के छिद्रों के अपूर्ण होने से जिस समय सयोगी गुणस्थान के अन्त समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ उनमें शरीरोपाङ्ग कर्म का भी विच्छेद हो गया, अत: उसी समय किंचित् ऊनता हुई है। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)**

२३. प्रश्न : सिद्धों का ऐसा ही आकार क्यों बना रहता है ?

उत्तर : संसार अवस्था में कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के आकार में संकोच या विस्तार होता था, मुक्त होने पर संकोच-विस्तार का कारण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार नहीं होता है जैसा- अंतिम शरीर से आत्मा होता है वैसा आकार सिद्ध भगवान का स्थिर रहता है। **(तत्त्व सा. २३२)**

२४. प्रश्न : आत्मा में संकोच-विस्तार किस कर्म के उदय से होता है ?

उत्तर : नामकर्म के सम्बन्ध से प्रदीप और प्रकाश के समान आत्मा का संकोच-विस्तार धर्म है। जैसे प्रदीप का प्रकाश अवधृत परिमाण वाले सकोरे, घड़े, कोठे आदि द्रव्यों के अवलम्बन से महान् एवं अल्प होता है, उसी प्रकार जीव भी नामकर्म के सम्बन्ध से आत्म-प्रदेशों का गृहीत शरीर के अनुसार संकोच-विस्तार करता है, शरीर प्रमाण आत्मप्रदेश संकुचित और विस्तृत होते हैं। परन्तु नामकर्म के सम्बन्ध रूप कारण के अभाव में मुक्त जीव के आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार नहीं होता है। **(रा.वा. १४)**

२५. प्रश्न : प्रदीप का प्रकाश मूर्त्त है और आत्मा अमूर्त्त है अत: अमूर्त्त आत्मा के संकोच-विस्तार धर्मत्व के साध्य में मूर्त्त का दृष्टान्त लागू नहीं हो सकता ?

उत्तर : मूर्त्त दीपक का दृष्टान्त आत्मा में लागू हो जाता है क्योंकि आत्मा मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों रूप है, कहा भी है-

बन्ध की दृष्टि से शरीर और आत्मा में एकत्व होने पर भी लक्षण की दृष्टि से शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। अत: आत्मा में एकान्त से अमूर्त्त भाव नहीं है अत: आत्मा के कथञ्चित् मूर्त्त होने से दीपक का दृष्टान्त समान ही है अर्थात् दृष्टान्त के साथ साम्य है, विषम दृष्टान्त नहीं है। **(रा.वा. १५)**

२६. प्रश्न : जैसे बत्ती, तेल आदि सामग्री के अभाव में दीपक का अभाव हो जाता है उसी प्रकार रागद्वेषादि के अभाव में जीव का भी अभाव हो जायेगा ?

उत्तर : दीपक का निरन्वय नाश भी असिद्ध है क्योंकि दीपक पुद्गल है। वह पुद्गल जाति को न छोड़कर परिणाम (परिणमन) वश मषि (राख) भाव को प्राप्त होता है। अत: दीपक की पुद्गल जाति बनी रहती है, अत्यन्त विनाश नहीं होता है उसी प्रकार मुक्तात्मा का भी विनाश नहीं होता है। अथवा-प्रत्यक्ष भी निगड़ादि के वियोग होने पर देवदत्त आदि का अवस्थान के समान नाश नहीं है। जैसे- हथकड़ी बेड़ी आदि द्रव्य से विमुक्त देवदत्त आदि का स्वरूप-अवस्थान देखा जाता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध से छूट जाने पर भी मुक्तावस्था में आत्मा का अवस्थान पाया जाता है, इसका लोप नहीं किया जा सकता, अत: मुक्तावस्था में आत्मा का अभाव नहीं है। **(रा.वा. १७-१८)**

२७. प्रश्न : जहाँ आत्मा के कर्मबन्ध का अभाव होता है वहीं उसका अवस्थान होना चाहिए?

उत्तर : जहाँ कर्मबन्ध का उच्छेद होता है वहीं आत्मा का अवस्थान होना चाहिए। यह प्रश्न भी विचारणीय है। साध्य है कि मुक्तात्मा को वहीं ठहरना चाहिए या बन्ध का अभाव और अनाश्रित होने से गमन करना चाहिए। गौरव न होने से अधोगति तो उसकी नहीं होती, और योग न होने से तिरछी आदि भी गति नहीं है, अत: मुक्तात्मा को वहीं ठहरना चाहिए। इससे लोक के ऊपर मुक्तात्मा के अवस्थान की कल्पना की व्यावृत्ति हो जाती है। इस आशंका का निर्मूलन करने के लिए कहते हैं कि अनभिमत देश में (चारों गतियों आदि) गमन करने के निमित्त का अभाव होने से चारों गतियों आदि में गमन नहीं होता उसके समान ऊर्ध्वगमन के निमित्त का अभाव नहीं है, अपितु ऊर्ध्वगमन का कारण है, इसीलिए निरस्त कर्मभार आत्मा एक समय पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करता है, मुक्तात्मा का वहीं अवस्थान नहीं होता है। **(रा.वा. १९)**

किसी जीव की सांकल से छुटकारा होने पर उसी स्थान पर स्थिति देखी जाती है परन्तु मुक्त जीव का चूँकि ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इसलिए कर्मबन्धन से छुटकारा मिलने पर उसी स्थान पर स्थिति नहीं रहती है। **(त.सा. ८/१९)**

२८. प्रश्न : सिद्धों के सुख कितना है ?

उत्तर : आकाशप्रदेश के परिमाण के समान सिद्धों के सुख की उपमा भी नहीं है। जैसे परमाणु अवगाह क्षेत्र से आरम्भ करके एक-एक प्रदेश की वृद्धि के द्वारा कल्प्यमान सातिशय क्षेत्र को आकाश परिमाण कह दिया जाता है अर्थात् आकाश को अनन्त-प्रदेशी कह दिया जाता है, पुन: उसके उपमान अर्थ की कल्पना का अभाव होने से उसे अनुपमान कह देते हैं उसी प्रकार सुख शब्द का अर्थ भी प्रकर्षाप्रकर्ष के योग से संसारी जीवों का सुख सान्तर-सोपमान तथा प्रकर्ष-अप्रकर्ष वाला हो सकता है परन्तु सिद्धों का सुख परम अनन्त परिमाण वाला होने से निरतिशय और निरुपम है। **(रा.वा. ११)**

सिद्धों का सुख प्रमाण रहित है, अन्तरहित है, उपमा रहित है, आत्मोत्पन्न ही है, स्वर्गलोक और मनुष्य लोक सम्बन्धी त्रिकाल का इकट्ठा किया हुआ सुख है वह सिद्धों के एक क्षण के सुख के बराबर नहीं है। उनका सुख बाधारहित है, अनुपम एवं सर्वश्रेष्ठ है। अतिशय रहित है, उदार है, प्रविचार रहित, दिव्य एवं स्वभाव से ही मनोहर है। **(म.पु. ११/२१४-१८)**

२९. प्रश्न : सिद्ध भगवान निरुपम क्यों हैं ?

उत्तर : इस संसार में चन्द्रमा, समुद्र, सूर्य आदि की किसी अन्य पदार्थ के साथ तुलना नहीं की जा सकती है क्योंकि उनके लिए कोई उपमान नहीं मिलता है। इसी प्रकार परम पद में स्थित सिद्धों की उपमा भी किसी पदार्थ से नहीं की जा सकती है। इस संसार में किसी एक रंग की उपमा दूसरे रंग से, एक रस की दूसरे रस से, एक स्वर की दूसरे स्वरों से तुलना की जाती है किन्तु संसार से पूर्ण मुक्त, अतीन्द्रिय सुख के भोक्ता सिद्धों की उक्त प्रकार की तुलना भी संभव नहीं है। जो लोग सांसारिक बन्धनों से मुक्त सिद्धों को कोई उपमा देते हैं वे उपमा के रहस्य को नहीं समझते हैं, वे अज्ञ हैं। सिद्धों के समान दूसरा उपमान पृथ्वी पर है ही नहीं। यदि कोई उनका उपमान हो सकता है तो वे स्वयं हैं। **(व.चा. १०/५३-५५)**

३०. प्रश्न : सिद्धों का सुख निरुपम क्यों है ?

उत्तर : इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का भोग करने से जो सुख प्राप्त होता है उसकी तुलना मधु से लिपटी तलवार के चाटने के साथ की जाती है। भोगभूमियों के कल्पवृक्षों से प्राप्त ऐकान्तिक सुख है उन्हें भी विषमिश्रित मधुर पकवानों के समान आचार्यों ने कहा है। विक्रिया आदि से प्राप्त मनोवांछित आनन्द, सतत सर्वदा स्थायी कान्ति और दीप्ति के अधिपति इन्द्र और देवों के सुख-भोग तथा अन्य समस्त भोगों को इन्द्रियों द्वारा भोगने में जो रस आता है वह भी वैसा है जैसा कि जलने से हुए घाव पर चन्दन का लेप। किन्तु अनादि काल से बँधे आठों कर्मों के बन्धनों को खण्ड-खण्ड कर देने के कारण तीनों लोकों के चूड़ामणि के समान उन्नत स्थान पर विराजमान सिद्धों के जो अतीन्द्रिय सुख है उसकी कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती है। **(व.चा. १०/४३-४५)**

३१. प्रश्न : क्या मोक्षसुख सुप्तावस्था के समान है ?

उत्तर : मोक्षसुख सुप्तावस्था के समान नहीं है, क्योंकि मोक्षसुख में सुखानुभव रूप क्रिया होती

रहती है और सुप्तावस्था तो दर्शनावरणीय कर्म के उदय से श्रम, क्लम-मद, भय, व्याधि, काम आदि निमित्तों से उत्पन्न होती है और मोहोत्पत्ति का विकार है। **(रा.वा. ९/२८-२९ श्लोक)**

निर्वाण सुषुप्त अवस्था के तुल्य है, ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि मुक्त जीव क्रियावान है जबकि सुषुप्तावस्था में कोई क्रिया नहीं होती तथा मुक्त जीव के सुख की अधिकता है जबकि सुषुप्त अवस्था में सुख का रःामात्र भी अनुभव नहीं होता। सुषुप्तावस्था की उत्पत्ति श्रम, खेद, नशा, बीमारी और कामसेवन से होती है तथा उसमें दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से मोह की उत्पत्ति होती रहती है जबकि मुक्त जीव के यह सब सम्भव नहीं है। **(त.सा. ८/५०-५१)**

३२. प्रश्न : निर्वाण कहाँ है ?

उत्तर : जहाँ पर कर्म और नोकर्म भी नहीं हैं, चिन्ता भी नहीं है आर्त्त-रौद्रध्यान भी नहीं हैं तथा धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान भी नहीं हैं, वहीं पर निर्वाण है। **(नि.सा. १८१)**

जहाँ दुःख, सुख, पीड़ा नहीं है, बाधा नहीं है, मरण नहीं है तथा जन्म भी नहीं है वहीं पर निर्वाण है। जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं और उपसर्ग भी नहीं है, मोह और विस्मय भी नहीं है और निद्रा भी नहीं है, तृष्णा तथा क्षुधा भी नहीं है, वहीं पर निर्वाण है। **(नि.सा. १७९-८०)**

३३. प्रश्न : निर्वाण में कर्म-नोकर्म आदि क्यों नहीं हैं ?

उत्तर : सदा निरंजन रूप होने से सिद्धों के आठों कर्म नहीं हैं।

तीनों कालों में उपाधि रहित स्वरूप वाले होने से जो पाँच प्रकार के नोकर्म (शरीर) से रहित हैं।

मनरहित होने से जिन्हें चिन्ता नहीं है।

औदयिक आदि विभावभावों के अभाव से उनके आर्त्त-रौद्रध्यान नहीं हैं।

धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान के योग्य ऐसे चरमशरीर के अभाव होने से उनके धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी नहीं हैं। **(नि.सा.टी. १८१)**

३४. प्रश्न : मोक्ष में सुख-दुःख आदि क्यों नहीं हैं ?

उत्तर : सिद्ध भगवान के अशुभ परिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं है और अशुभ कर्म के अभाव से उनके दुःख भी नहीं है।

शुभ परिणति का अभाव होने से शुभ कर्म का अभाव है और शुभ कर्म का अभाव होने से उन्हें वास्तव में संसार-सुख भी नहीं है।

पीड़ा के योग्य यातना रूप शरीर के अभाव से उन्हें पीड़ा नहीं है।

असाता वेदनीय का अभाव होने से बाधा नहीं है। पाँच प्रकार के नोकर्म का अभाव होने से मरण

नहीं है। पाँच प्रकार के नोकर्म के लिए कारणभूत ऐसे कर्म पुद्गलों को स्वीकार न करने से उन्हें जन्म भी नहीं है।

बाह्य प्रपंचों से विमुख होने से विस्मय-आश्चर्य नहीं है। नित्य प्रगट रूप शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से निद्रा भी नहीं है।

असाता वेदनीय का समूल नाश हो जाने से क्षुधा-तृषा भी नहीं है। **(नि.सा.टी. १७९-८०)**

३५. प्रश्न : सिद्ध भगवान दिखते नहीं हैं अत: उनका सुख कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर : मुक्त जीवों का वह सुख अर्हन्त भगवान के प्रत्यक्ष है तथा उन्हीं के द्वारा उसका कथन किया गया है इसलिए 'वह है' इस तरह विद्वज्जनों के द्वारा स्वीकृत किया जाता है, अज्ञानी जीवों की परीक्षा से वह स्वीकृत नहीं किया जाता है। **(त.सा. ८/५४)**

३६. प्रश्न : निर्वाण और सिद्ध भगवान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है, ऐसा कहा गया है, क्योंकि कर्म से विमुक्त आत्मा ही लोक के अग्रभाग पर्यन्त जाता है। 'निर्वाणमेव सिद्धा:' निर्वाण ही सिद्ध है, ऐसा वचन पाया जाता है, सिद्ध भगवान सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, ऐसा व्यवहार है, निश्चय से भगवान अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं और इस हेतु से ''निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है'' इस प्रकार के क्रम से निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्द इन दोनों में एकत्व सफल हो गया। **(नि.सा.टी. १८३)**

३७. प्रश्न : सिद्ध भगवान को भोजन आदि पदार्थों के बिना सुख कैसे होता है ?

उत्तर : जिन्होंने राग आदि भावों को नष्ट कर दिया है उन्हें कपड़ों से क्या प्रयोजन ? जिनका क्षुधा वेदनीय कर्म सदा के लिए शान्त हो गया है भोजन उसके किस काम आयेगा ?

प्यास की ज्वाला जिनमें बुझ गयी है पानी उन पर क्या प्रभाव करेगा ?

समस्त रोगों को जिन्होंने दूर भगा दिया है औषधि उनके किस काम आयेगी ?

जिन्होंने गमन की क्रिया को छोड़ दिया है वाहन से उन्हें क्या प्रयोजन? जिन्हें किसी प्रकार की थकान ही नहीं होती है आसन उन्हें क्या सुख देगा ?

समस्त पदार्थों को हाथ पर रखे आँवले के समान देखने वालों को आँखों की क्या आवश्यकता?

भले-बुरे के विवेक के जो भण्डार हैं वे शंका, प्रश्न आदि करने का कष्ट क्यों करेंगे ?

जो सभी मलों (गन्दगी) से हीन हैं वे स्नान क्यों करेंगे ? जो स्वयं तेजपुञ्ज हो गये हैं वे बाह्य ओज और प्रकाश की अपेक्षा क्यों करेंगे ?

अपने समस्त कर्त्तव्यों को पूर्ण कर देने वाले योजनाएँ क्यों बनायेंगे ?

इच्छाओं के विजेता राग आदि को अपने अन्दर क्यों आने देंगे ? जो समस्त प्रकारके परिकर से मुक्त हो चुके हैं, उन्हें शीत, उष्ण, धूप आदि की बाधा कष्ट नहीं दे सकती है वे किसलिए गृह आदि आश्रय की चाह करेंगे ?

जो सब प्रकार से अलिप्त हैं उन्हें शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयों की इच्छा क्यों होगी ? **(व.चा.१०/४९-५२)**

रोगजनित पीड़ा का अभाव होने पर उस रोग को शमन करने वाली समीचीन/उत्तम औषधि की अप्रयोजनीयता के समान वा अन्धकार रहित स्थान में समस्त पदार्थों के दिखाई देने पर दीप की निरर्थकता के समान सिद्ध भगवन्तों के क्षुधा, प्यास का विनाश हो जाने से षट्रस मिश्रित भोजन व पेय आदि से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है।

अशुचिता से स्पर्श नहीं होने से सुगन्धित चन्दन, इत्र, फुलेल आदि व पुष्प मालाओं आदि से कोई प्रयोजन नहीं है। थकावट, निद्रा आदि का सर्वथा अभाव होने से निश्चय से कोमल शय्या से भी कोई प्रयोजन नहीं है। **(सि.भ. ८)**

३८. प्रश्न : निर्वाण होने के बाद भगवान के शरीर का क्या होता है ?

उत्तर : दिव्य गन्ध तथा पुष्प आदि से पूजित, तीर्थंकर आदि मोक्षगामी जीवों के शरीर क्षणभर में बिजली के समान आकाश को देदीप्यमान करते हुए विलीन हो गये। क्योंकि यह स्वभाव है कि तीर्थङ्कर आदि के शरीर के परमाणु अन्तिम समय में बिजली के समान क्षणभर में स्कन्ध पर्याय को छोड़ देते हैं। **(हरि.पु. ६५/१२-१३)** भगवान ऋषभदेव के मोक्ष कल्याणक के अवसर पर अग्निकुमार देवों ने भगवान के पवित्र शरीर को पालकी में विराजमान किया। तदनन्तर अपने मुकुटों से उत्पन्न की हुई अग्नि को चन्दन अगरु-कपूर केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों से बढ़ाकर उसमें उस शरीर का वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी। तदनन्तर भगवान वृषभदेव के शरीर की भस्म उठाकर अपने मस्तक पर चढाई। **(म.पु. ४७/३४३-५०)**

कर्मक्षय के पश्चात् आत्मा कहाँ जाता है, सो कहते हैं

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥

तत् अनन्तरं ऊर्ध्वं गच्छति आलोकान्तात्।

(तदनन्तरं) कर्मक्षय के पश्चात् आत्मा (ऊर्ध्वं) ऊपर (आलोकान्तात्) लोकाकाश पर्यन्त (गच्छति) जाता है।

अर्थ - कर्मों का उच्छेद होते ही आत्मा समस्त कर्मभार से रहित होने के कारण लोकाकाश पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करता है।

१. प्रश्न : कर्मों का नाश होने पर आत्मा कहाँ जाता है ?

उत्तर : लोक में सर्वत्र धर्मद्रव्य होने पर भी मुक्त जीव न नीचे जाता है न आठों दिशाओं में जाता है किन्तु ऊपर को ही जाता है क्योंकि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। **(तत्त्व सा. ७१)**

२. प्रश्न : सिद्धों का ऊर्ध्व-गमन ही क्यों होता है ?

उत्तर : जो छह अपक्रम से सहित हैं ऐसे संसारी जीवों के लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न है इसलिए वे सिद्ध भगवान ऊर्ध्वगामी हैं और सदा शिव-कल्याण रूप हैं। **(नि.सा. श्लो. २९३)**

जैसे वेग से पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यान के प्रयोग से आत्मा ऊपर को जाता है। **(भ.आ. २१२३)**

मुक्त जीवों के ऊर्ध्वगमन का कारण कहते हैं-

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

पूर्व-प्रयोगात्-असङ्गत्वात्-बन्धच्छेदात्-तथागति-परिणामात्-च।

(पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्) पूर्व के संस्कार से, कर्म के सङ्ग रहित होजाने से (बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च) बन्ध का नाश हो जाने से और ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

अर्थ - पूर्व के संस्कार से, कर्म के सङ्ग रहित हो जाने से, बन्ध का नाश हो जाने से और ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्तजीव ऊर्ध्वगमन करता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिसके ऊर्ध्वगमन के कारण नहीं कहे गये हैं, ऐसे मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन का निश्चय करना कैसे शक्य है, इस शंका का निराकरण करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. ६)**

२. प्रश्न : मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन किस कारण होता है ?

उत्तर : जैसे- जली हुई अग्नि ईंधन आदि उपादान न रहने पर बुझ जाती है उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने से आत्मा निर्वाण को प्राप्त हो जाती है, ऊर्ध्वगमन कर जाती है। जैसे- बीज के अत्यन्त जल जाने पर अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भवाङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकता है। कर्मक्षय के अनन्तर आत्मा पूर्वप्रयोग, असंगत्व,बन्धच्छेद और ऊर्ध्वगमन धर्म के कारण लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन करता है। **(रा.वा. ९/ श्लो. ७-८)**

३. प्रश्न : जीव-पुद्गल आदि की गति कैसी होती है ?

उत्तर : जिनेन्द्र भगवान ने जीव को ऊर्ध्वगौरवधर्मा तथा पुद्गल को अधोगौरव धर्मा कहा है।

जिस प्रकार लोष्ठ, वायु और अग्निशिखा स्वभाव से ही क्रमश: नीचे, तिरछे और ऊपर को जाती है, उसी प्रकार आत्मा की स्वभावत: ऊर्ध्वगति होती है। संसारी जीवों की जो विकृतगति पाई जाती है वह या तो प्रयोग से है या कर्मों के प्रतिघात से होती है। संसारी जीवों की कर्मजा गति अध:, तिरछे और ऊपर भी होती है, परन्तु क्षीणकर्मा जीवों की गति स्वभाव से ऊर्ध्व होती है। **(रा.वा. ९/श्लो. १३-१६)**

उपर्युक्त कारणों के लिए दृष्टान्त कहते हैं-

आविद्धकुलालचक्रवद्-व्यपगतलेपालाबूवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥

आविद्धकुलाल-चक्रवत्-व्यपगत-लेप-अलाबूवत्-एरण्ड-बीजवत्-अग्निशिखावत्-च।

(आविद्धकुलाल चक्रवत्) कुम्भकार के द्वारा घुमाये गये चाक के समान, (व्यपगतलेपालाबूवत्) लेप से रहित तूम्बी के समान, (अग्निशिखावच्च) और अग्नि की शिखा के समान जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

अर्थ - कुम्भकार के द्वारा घुमाये गये चाक के समान, लेप रहित तूम्बी के समान, एरण्ड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : बहुत से हेतु अर्थदृष्टान्त के समर्थन के बिना अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होते हैं अत: उपर्युक्त चार कारणों के दृष्टान्तों को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.७)**

२. प्रश्न : सूत्र में घुमाये गये चक्र का दृष्टान्त किसलिए दिया है ?

उत्तर : अपवर्ग की प्राप्ति के लिए बहुत बार प्रणिधान होने से हाथ से घुमाये हुए चक्र के समान ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे- कुम्भकार के प्रयोग से, उसके हाथ का दण्ड से और दण्ड का चाक से संयोग होने पर चाक का भ्रमण होता है, परन्तु जब कुम्भकार चाक पर दण्ड को घुमाना बन्द कर देता है तब भी पूर्वप्रयोग के कारण संस्कारक्षय पर्यन्त चक्र बराबर घूमता रहता है, उसी प्रकार संसारी आत्मा ने जो मोक्षप्राप्ति के लिए अनेक बार प्रणिधान और प्रयत्न किये हैं परन्तु अब मोक्षप्राप्ति के समय उद्योग के अभाव में भी उस संस्कार के आवेश पूर्वक पूर्वप्रयोग के कारण मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है। **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : लेपरहित तूम्बी का दृष्टान्त किस लिए दिया है ?

उत्तर : असङ्गत्व के लिए संगरहित होने से मुक्तजीव का ऊर्ध्वगमन होता है। जैसे- मिट्टी के लेप से वजनदार तूम्बी ज्योंही मिट्टी का लेप घुल जाता है तब शीघ्र ही पानी के ऊपर आ जाती है उसी प्रकार कर्मभार के आक्रान्त से वशीकृत आत्मा, कर्मवश संसार में इधर-उधर भ्रमण करती है, उसका अध: पतन होता है पर जैसे ही वह कर्मबन्धन से मुक्त होती है वैसे ही ऊपर आती है अर्थात् ऊर्ध्वगमन करती है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : एरण्ड बीज का दृष्टान्त किसके लिए दिया है ?

उत्तर : बन्ध का उच्छेद हो जाने से एरण्ड के बीज के समान आत्मा ऊर्ध्वगमन करता है। जिस प्रकार ऊपर के छिलके के हटते ही एरण्ड बीज ऊपर को ही जाता है उसी प्रकार मनुष्यादि भवों में भ्रमण कराने वाले गति नाम-कर्म आदि सर्वकर्मों के बन्ध का छेद हो जाने से मुक्त जीव का स्वाभाविक ऊर्ध्व-गमन ही होता है। **(रा.वा. ५)**

५. प्रश्न : 'अग्निशिखा' का दृष्टान्त किस लिए दिया है ?

उत्तर : अग्निशिखा के समान मुक्त जीव का भी स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन होता है। जैसे-तिरछी बहने वाली वायु के अभाव में प्रदीप-शिखा स्वभाव से ऊर्ध्व ही गमन करती है उसी प्रकार मुक्तात्मा भी नाना गतिविकार के कारणभूत कर्म के हट जाने पर ऊर्ध्वगति स्वभाव से ऊपर को ही जाता है। **(रा.वा.६)**

६. प्रश्न : असङ्गत्व और बन्धच्छेद इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है अत: इन दोनों का पृथक्-पृथक् कथन करने से पुनरुक्ति दोष आता है ?

उत्तर : बन्धत्व और सङ्गत्व इन दोनों में अनन्तर है, एकत्व नहीं है क्योंकि परस्पर प्रवेश होकर एकमेक हो जाना बन्ध है और परस्पर प्राप्ति मात्र का नाम सङ्ग है। अत: इन दोनों में भेद है। इसलिए क्रिया के कारणभूत पुण्य-पाप के नष्ट हो जाने पर भी मुक्त जीव के हेत्वन्तर ऊर्ध्वगमन होता है, ऐसा जाना जाता है। **(रा.वा. ७)**

७. प्रश्न : मुक्तात्मा के ऊर्ध्वगमन की सिद्धि में अलाबूद्रव्य का दृष्टान्त लागू नहीं होता है क्योंकि वायु और अलाबू में एकता है ?

उत्तर : अलाबू और वायु में एकता नहीं है, क्योंकि अलाबू और तूम्बी वायु के कारण ऊपर नहीं आती, यदि वायु में एकता होने से अलाबू ऊपर आती है तो वायु का तो तिरछा चलने का स्वभाव है, अत: अलाबू को भी तिरछा चलना चाहिए, ऊर्ध्व नहीं, परन्तु अलाबू सङ्ग रहित होने से ऊपर आती है, अत: मिट्टी के लेप के अभाव में ऊर्ध्वगमन मानकर अलाबू का दृष्टान्त संगत ही है। **(रा.वा. ८)**

८. प्रश्न : क्या सिद्ध भगवान का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करते रहना है ?

उत्तर : गत्यन्तर की निवृत्ति के लिए सूत्र में ऊर्ध्वगमन कहा है अर्थात् मुक्तात्मा का ऊर्ध्व ही गमन होता है, दिशान्तर में तिरछा नहीं। यह स्वभाव है न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना।

जैसे - ऊर्ध्वज्वलन स्वभावत्व होने पर भी अग्नि से वेगवान द्रव्य वायु के अभिघात से तिरछी ज्वाला निकलने पर भी उसका विघात नहीं देखा जाता है उसी प्रकार मुक्त जीव में ऊर्ध्वगमन स्वभावत्व होने पर भी लक्ष्य प्राप्ति के बाद ऊर्ध्वगमन न होने पर भी मुक्तात्मा का अभाव नहीं होता। **(रा.वा. ९-१०)**

मुक्त जीव लोकाकाश के आगे क्यों नहीं जाते, उसे कहते हैं-

धर्मास्तिकायाभावात् ।।८ ।।

धर्मास्तिकाय अभावात्।

अर्थ - धर्मास्तिकाय का अभाव होने से मुक्त जीव का लोकाकाश के बाहर गमन नहीं होता।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाली अग्नि के तो तिर्यक् पवन के संयोग से ऊर्ध्वगमन का अभाव माना जा सकता है, परन्तु मुक्तात्मा के तो स्वभाव गति के लोप (नष्ट करने वाले) के हेतु का अभाव होने से ऊर्ध्वगति उपरम (बन्द) नहीं होना चाहिए, पर सूत्र में लिखा है कि लोकाकाश पर्यन्त ही मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है। लोकाकाश से आगे मुक्तात्मा के गमन नहीं होने के कारण को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. ८)**

२. प्रश्न : मुक्तात्मा लोकाकाश के आगे क्यों नहीं जाते हैं ?

उत्तर : लोकाकाश के आगे गति-उपग्रह करने में कारणभूत धर्मास्तिकाय नहीं है। अत: मुक्तात्मा का गमन लोकाकाश के आगे नहीं होता है। यदि लोकाकाश में धर्मास्तिकाय का अभाव माना जाय या लोकाकाश के बाहर धर्मास्तिकाय का सद्भाव माना जाय तो लोक-अलोक के विभाग का अभाव ही हो जायेगा। **(रा.वा.)**

मुक्तात्माओं में भेद-व्यवहार के कारण-

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वत: साध्या: ।।९ ।।

क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञान-अवगाहना-अन्तर-संख्या-अल्पबहुत्वत:-साध्या:।

अर्थ - क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधित-बुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व, इन अनुयोगों के द्वारा सिद्धों में (साध्या:) भेद सिद्ध करना चाहिए।

१. प्रश्न : क्षेत्र की अपेक्षा कहाँ से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : सिद्ध क्षेत्र में वा कर्मभूमि में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्धक्षेत्र, स्वप्रदेश या आकाशप्रदेश में सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों में और संहरण की अपेक्षा मनुष्य लोक में सिद्धि होती है। **(रा.वा. २)**

२. प्रश्न : किस काल में सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : एक समय में सिद्ध होते हैं वा साधारण रूप से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में सिद्ध

होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में ही सिद्ध होता है, क्योंकि सिद्ध होने का काल तो एक समय ही है।

भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा दो भेद हैं-

(१) जन्म से (२) संहरण से।

जन्म की अपेक्षा - सामान्यत: उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सुषम-सुषमा के अन्त भाग में और दु:षम-सुषमा में उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुषमा-सुषमा में उत्पन्न हुआ जीव दुषमा में सिद्ध हो सकता है, परन्तु दुषमा में या प्रथम, द्वितीय काल में तथा सुषमा-सुषमा के प्रथम भाग में वा दुषमा-दुषमा काल में उत्पन्न हुआ कभी सिद्ध नहीं हो सकता है।

संहरण की अपेक्षा- सभी (उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) कालों में सिद्ध हो सकते हैं। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : किस गति से सिद्धि होती है ?

उत्तर : सिद्ध गति में मनुष्यगति में सिद्धि होती है। प्रत्युत्पन्न नय की दृष्टि से सिद्ध गति में सिद्धि होती है। भूतनय की अपेक्षा दो विकल्प हैं। (१) एकान्तर गति (२) अनन्तर गति।

एकान्तरगति की अपेक्षा चारों गतियों में सिद्धि होती है, अनन्तरगति भूतनय की अपेक्षा मनुष्य गति में ही सिद्धि होती है। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : किस लिङ्ग से मुक्ति होती है ?

उत्तर : अवेद से मुक्ति होती है या तीनों वेदों से मुक्ति होती है। वर्तमान नय की अपेक्षा- अवेद अवस्था में सिद्धि होती है। अतीत गोचर नय की अपेक्षा - साधारण रूप से तीनों वेदों से सिद्धि होती है।

तीनों लिङ्गों से सिद्धि भाववेद की अपेक्षा है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं क्योंकि द्रव्यवेद की अपेक्षा तो पुरुषलिंग से ही सिद्धि होती है दूसरे वेद से नहीं। **अथवा-**

लिंग के दो भेद हैं-

(१) सग्रन्थ लिङ्ग (२) निर्ग्रन्थ लिङ्ग।

प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा - निर्ग्रन्थ लिङ्ग से ही मुक्ति होती है।

भूतनय की अपेक्षा - विकल्प है। **(रा.वा. ५)**

५. प्रश्न : द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति क्यों नहीं होती है ?

उत्तर : द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति में बाधक कारण-

स्वभाव से उनकी परिणति प्रमादमयी होती है, इसलिए उन्हें प्रमदा कहा गया है और इसलिए वे प्रमाद बहुल कही जाती हैं।

स्त्रियों के मन में मोह, प्रद्वेष, भय, ग्लानि और विचित्र प्रकार की माया निश्चित होती है इसलिए उन्हें मोक्ष नहीं है।

इन दोषों से रहित परमात्मा के ध्यान को नष्ट करने वाले एक भी दोष के बिना स्त्री नहीं होती है तथा उसके अंग भी संवृत (ढके) नहीं है इसलिए उनके आवरण (वस्त्र) है। स्त्रियों के चित्त में चंचलता और उनमें शिथिलता-उसी भव में मोक्ष जाने के योग्य परिणामों के विषय में मन की दृढ़ता का अभाव होता है तथा अचानक (ऋतु समय में) रक्त प्रवाहित होता है और उनमें सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, आगम-ग्यारह अंग रूप सूत्र अध्ययन से भी सहित हो तथा घोर चारित्र-मासोपवास, पक्षोपवास आदि आचरण करती हो, तो भी स्त्री के सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा नहीं कही गई है।

दूसरी बात यह है कि जैसे प्रथम संहनन का अभाव होने से स्त्री सातवें नरक नहीं जाती है, उसी प्रकार स्त्री मोक्ष भी नहीं जाती है। **(प्र.सा.ता. २४६-५०)**

६. प्रश्न : यदि स्त्री को मोक्ष होना मानें तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि स्त्री को उसी भव में मोक्ष होता, तो सौ वर्ष पहले दीक्षिता आर्यिका द्वारा, आज के ही दिन दीक्षित साधु पूज्य कैसे होता? वे आर्यिकाएँ ही उन साधु द्वारा पहले से पूज्य क्यों नहीं होतीं। **(प्र.सा.ता. २५१)**

७. प्रश्न : मल्लिनाथ भगवान को स्त्री पर्याय में मोक्ष मानते हैं, यह कैसे ?

उत्तर : यदि मल्लिनाथ तीर्थंकर अथवा दूसरा कोई भी स्त्री होकर मोक्ष गया है तो (जो द्रव्य-स्त्री का मोक्ष मानते हैं) उनके द्वारा स्त्री रूप प्रतिमा की आराधना क्यों नहीं की जाती है ? मल्लिनाथ भगवान को स्त्री पर्याय से मोक्ष हुआ है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि पहले भव में सम्यग्दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनायें भाकर बाद में तीर्थंकर होते हैं। सम्यग्दृष्टि के स्त्रीवेद कर्म का बन्ध ही नहीं होता है, तब वे स्त्री कैसे हो गये ? **(प्र.सा.ता. २५१)**

८. प्रश्न : यदि स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता है तो उनके महाव्रतों का आरोपण किसलिए किया गया है ?

उत्तर : कुल व्यवस्था के निमित्त वह (महाव्रतों का) उपचार किया गया है और उपचार साक्षात् होने के योग्य नहीं होता है, 'यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है' इत्यादि के समान। कहा भी है- मुख्य का अभाव होने पर प्रयोजन और निमित्त में उपचार प्रवृत्त होता है। यदि कहो कि सीता, रुक्मिणी आदि स्त्रियाँ जिन-दीक्षा ग्रहण कर विशिष्ट तपश्चरण से सोलहवें स्वर्ग में गयीं तो वहाँ दोष नहीं है, उस स्वर्ग से आकर आगे पुरुष वेद द्वारा मोक्ष जायेंगी। उसी भव से मोक्ष नहीं है, अन्य भव में हो, यह कोई दोष नहीं है। **(प्र.सा.ता. २५१)**

९. प्रश्न : उपर्युक्त दोष क्या पुरुषों में नहीं होते हैं ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, (पुरुषों में भी उपर्युक्त दोष होते हैं) स्त्रियों के बहुलता से होते हैं। होने मात्र से समानता नहीं है। एक के विष की कणिका मात्र है और दूसरे के विष के पर्वत हैं, क्या दोनों में समानता है ? बल्कि पुरुषों के प्रथम संहनन के बल से दोषों को नष्ट करने वाला मुक्ति के योग्य विशेष संयम है। इन दोषों के कारण उनके (स्त्रियों के) संयम कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। **(प्र.सा.ता. २५०)**

१०. प्रश्न : यदि द्रव्य स्त्री के मोक्ष नहीं होता तो भावस्त्री के कैसे हो सकता है ?

उत्तर : उन भाव स्त्रियों के प्रथम संहनन होता है तथा द्रव्य स्त्रीवेद का अभाव होने से उसी भव में मोक्ष जाने वाले परिणामों को रोकने वाला तीव्र कामोद्रेक भी नहीं होता है। (अत: उन्हें मोक्ष होता है।) कहा भी है-

जो पुरुष भावपुरुष वेद का वेदन करते हुए अथवा शेष के उदय से अर्थात् भावस्त्री या नपुंसक वेद का वेदन करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ होते हैं, वे ध्यान में लीन मुनि सिद्ध होते हैं। **(प्र.सा.ता. २५१)**

११. प्रश्न : किस तीर्थ में मुक्ति होती है?

उत्तर : तीर्थसिद्धि दो प्रकार की होती है- (१) तीर्थंकर रूप से (२) तीर्थंकर भिन्न रूप से।

कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए और कोई तीर्थंकर न होकर सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं।

जो सामान्य सिद्ध हैं, वे दो प्रकार के हैं-

(१) उनमें कोई तो तीर्थंकरों के अस्तित्व में सिद्ध होते हैं।

(२) कोई तीर्थंकर की गैर मौजूदगी में सिद्ध होते हैं। **(रा.वा. ६)**

१२. प्रश्न : किस चारित्र से सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : चारित्र-अचारित्र के विकल्प से रहित अवस्था से या एक, चार, पाँच विकल्प वाले चारित्र से सिद्ध होते हैं।

चारित्र-अचारित्र के विकल्प रहित निर्विकल्प भाव से सिद्धि होती है।

भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा दो प्रकार है-

(१) अनन्तर (२) व्यवहित।

अनन्तर - भूत प्रज्ञापननय की दृष्टि से- यथाख्यात चारित्र से सिद्धि होती है। **व्यवधान** भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा - चार (सामायिक, छेदोस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात), पाँच (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात) चारित्रों को प्राप्त कर मुक्त होते हैं।

नोट : मुक्त होने के पूर्व चार चारित्र तो अवश्य होते हैं, परिहारविशुद्धि संयम भजनीय है। **(रा.वा.७)**

१३. प्रश्न : प्रत्येकबुद्ध और बोधितबुद्ध कौन होते हैं ?

उत्तर : स्वशक्ति और परोपदेश निमित्त ज्ञान के भेद से प्रत्येक-बुद्ध और बोधित-बुद्ध ये दो विकल्प होते हैं।

प्रत्येक बुद्ध - कुछ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध होते हैं जो परोपदेश के बिना स्वशक्ति से ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते हैं।

बोधित बुद्ध - कुछ बोधित बुद्ध होते हैं जो परोपदेशपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं। **(रा.वा. ८)**

१४. प्रश्न : कितने ज्ञानों से मुक्त होते हैं ?

उत्तर : ज्ञान की अपेक्षा कोई एक ज्ञान से, कोई दो ज्ञान से, कोई तीन ज्ञान से और कोई चार ज्ञान विशेष से सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक केवलज्ञान से ही सिद्धि होती है। भूत प्रज्ञापन नय की दृष्टि से मति, श्रुत इन दोनों से, मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से वा मति, श्रुत और मन: पर्यय इन तीन ज्ञानों से तथा मति-श्रुत-अवधि और मन: पर्यय इन चारों से सिद्धि होती है। **(रा.वा. ९)**

१५. प्रश्न : कितनी अवगाहना वाले सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : अवगाहना दो प्रकार की है-

(१) उत्कृष्ट अवगाहना (२) जघन्य अवगाहना।

उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण है। मध्य में अवगाहना के अनेक विकल्प होते हैं।

भूतप्रज्ञापन नयापेक्षा : उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष, जघन्य अवगाहना ३$\frac{१}{२}$ हाथ प्रमाण से और मध्य में अनेक विकल्पों से सिद्धि होती है। प्रत्युत्पन्न भावप्रज्ञापन नय-उत्कृष्ट कुछ कम ५२५ धनुष जघन्य ३ $\frac{१}{२}$ हाथ प्रमाण से मध्य में अनेक विकल्पों से सिद्धि होती है। **(रा.वा. १०)**

१६. प्रश्न : सिद्ध होने में कितना अन्तर पड़ता है ?

उत्तर : सिद्ध होने में जघन्य एक समय का एवं उत्कृष्ट छह मास का अन्तर पड़ता है। उसके बाद कोई-न-कोई जीव मोक्ष में अवश्य जाएगा। मनुष्य लोक में मुक्तिगमन का जघन्य अन्तर काल एक समय और उत्कृष्ट अन्तर दो-तीन समयादि से लेकर छह मास पर्यन्त है। इसके पश्चात् आठ समयों में जीव सिद्धि को प्राप्त करते हैं। **(रा.वा. १२)**

१७. प्रश्न : सिद्धों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : जितने जीव एक साथ मोक्ष जाते हैं उसे संख्या कहते हैं। एक समय में जघन्य से एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट से १०८ जीव एक समय में सिद्ध हो सकते हैं, ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा.१३)**

१८. प्रश्न : क्षेत्र की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्ध क्षेत्र में सिद्ध होते हैं अत: उनमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतपूर्व नय की अपेक्षा सिद्धक्षेत्र के दो भेद हैं-

(१) जन्म की दृष्टि से (२) संहरण की दृष्टि से।

संहरण सिद्ध अल्प हैं, जन्म सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं।

संहरण दो प्रकार का है-

(१) स्वकृत संहरण (२) परकृत संहरण।

स्वकृत संहरण - चारण विद्याधरों का स्वयं संहरण स्वकृत है।

परकृत संहरण - देवों के द्वारा एवं चारण विद्याधरों के द्वारा कृत संहरण परकृत है। **(रा.वा. १४)**

१९. प्रश्न : किस-किस क्षेत्र से कितने-कितने सिद्ध होते हैं ?

उत्तर : ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे स्तोक हैं, इनसे संख्यात गुणे अधोलोक सिद्ध हैं, इनसे संख्यात गुणे तिर्यग्लोक सिद्ध हैं। सबसे कम समुद्र सिद्ध हैं, इनसे संख्यातगुणे द्वीप से होने वाले सिद्ध हैं।

सबसे कम लवणसमुद्र से होने वाले सिद्ध हैं, उससे संख्यात गुणे कालोदधिसमुद्र से सिद्ध हुए हैं उससे संख्यात गुणे जम्बूद्वीप से सिद्ध हैं। जम्बूद्वीप सिद्ध की अपेक्षा धातकी खण्ड से सिद्ध हुए जीव संख्यातगुणे अधिक हैं, उससे संख्यातगुणे पुष्करार्धद्वीप से हुए सिद्ध हैं।

नोट : पर्वतादि ऊँचे स्थानों को ऊर्ध्व लोक एवं नीचे गड़े आदि स्थानों को अधोलोक कहते हैं। **(रा.वा. १४)**

२०. प्रश्न : काल की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : काल का विभाग तीन प्रकार का है-

(१) उत्सर्पिणी (२) अवसर्पिणी (३) अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी।

उत्सर्पिणी काल में सिद्ध हुए जीव सबसे कम हैं। अवसर्पिणी काल में सिद्ध उससे विशेषाधिक हैं, अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी (विदेहक्षेत्रों से) सिद्ध संख्यात गुणे अधिक हैं।

प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में सिद्ध होते हैं अत: अल्प बहुत्व नहीं है। **(रा.वा. १४)**

२१. प्रश्न : अन्तर की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : आठ समय के अनन्तर से सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम हैं। सात समय के अनन्तर से होने वाले सिद्ध उसमें संख्यातगुणे हैं, इस प्रकार दो समयानन्तर से होने वाले सिद्धों तक समझना चाहिए। अर्थात् आठ समय तक लगातार सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम हैं, सात समय तक लगातार सिद्ध होने वाले उससे संख्यातगुणे हैं। छह समय से कम में जाने वाले संख्यातगुणे हैं, इस प्रकार दो समय तक संख्यात-संख्यातगुणे समझना चाहिए।

सान्तरों में छह मास के अन्तर से सिद्ध होने वाले सबसे कम हैं। एक समयान्तर से सिद्ध होने वाले जीव उससे संख्यात गुणे हैं। यवमध्यान्तर सिद्ध संख्येयगुणे हैं। अधोयवमध्यान्तर सिद्ध संख्येयगुणे हैं और उपरियवमध्यान्तरसिद्ध विशेषाधिक हैं। **(रा.वा. १४)**

२२. प्रश्न : गति की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : गति की दृष्टि से प्रत्युत्पन्न की विवक्षा से सिद्ध गति में ही सिद्धि होती है। अत: इसमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा अनन्तरगति मनुष्यगति में ही सिद्धि होती है अत: इसमें भी अल्पबहुत्व नहीं है क्योंकि एक में अल्पबहुत्व नहीं होता है।

एकान्तरगति में तो अल्पबहुत्व है, सबसे स्तोक तिर्यञ्चगति से मनुष्य होकर सिद्ध होने वाले हैं। मनुष्यगति से आकर मनुष्य होकर सिद्ध होने वाले तिर्यञ्चगति वालों की अपेक्षा संख्यातगुणे अधिक हैं। इससे संख्यातगुणे नरक गति से आकर मनुष्य होकर सिद्ध होने वाले हैं, देवयोनि से आकर मनुष्य होकर सिद्ध होने वाले उनसे भी संख्यातगुणे हैं। **(रा.वा. १४)**

२३. प्रश्न : वेद की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा अवेद अवस्था में ही मुक्ति होती है, अत: इसमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतपूर्व नय की विवक्षा से सबसे कम नपुंसकवेद सिद्ध हैं। इससे संख्यातगुणे स्त्रीवेद सिद्ध हैं और इससे संख्यातगुणे पुरुषवेद सिद्ध हैं। यह वर्णन श्रेणी मांडने वाले भाववेद की अपेक्षा से है, द्रव्य से तो पुरुषवेद से ही सिद्धि होती है। **(रा.वा. १४)**

२४. प्रश्न : तीर्थ, प्रत्येकबुद्ध और बोधितबुद्ध की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : तीर्थंकर सिद्ध स्तोक हैं और इतर सिद्ध उससे संख्येयगुणे हैं। प्रत्येकबुद्ध कम हैं और बोधितबुद्ध संख्येय गुणे हैं। **(रा.वा. १४)**

२५. प्रश्न : चारित्र की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा निर्विकल्प चारित्र से सिद्ध होते हैं अत: इसमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतपूर्व नय के आश्रय से, अनन्तर चारित्र की दृष्टि से सभी यथाख्यात चारित्र से सिद्ध होते हैं अत: इसमें अल्पबहुत्व नहीं है। व्यवधान की दृष्टि से पञ्च चारित्र से सिद्ध बहुत कम होते हैं और चतुश्चारित्र सिद्ध संख्येयगुणे हैं। **(रा.वा. १४)**

२६. प्रश्न : ज्ञान की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : प्रत्युत्पन्न नय की दृष्टि से केवली ही सिद्ध होते हैं, अत: इसमें अल्पबहुत्व नहीं है।

पूर्वभाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा- द्विज्ञान (मति-श्रुत) से सिद्ध सबसे कम हैं, चतुर्ज्ञानसिद्ध उससे संख्यात गुणे हैं, त्रिज्ञान सिद्ध उससे भी संख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार विशेषता से मति-श्रुत-मन:पर्ययज्ञान सिद्ध अर्थात् 'जिनको केवलज्ञान के पूर्व में तीन ज्ञान हो चुके हैं, वे सबसे स्तोक हैं, मतिश्रुतज्ञान सिद्ध इनसे संख्येय गुणे हैं, मति श्रुत अवधि मन:पर्ययज्ञान सिद्ध संख्यात गुणे हैं और इनसे संख्यातगुणे मति श्रुत-अवधि-ज्ञान सिद्ध हैं। **(रा.वा. १४)**

२७. प्रश्न : अवगाहना की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : जघन्य अवगाहना सिद्ध सबसे कम हैं, उत्कृष्ट अवगाहना सिद्ध संख्यातगुणे हैं, यवमध्य (मध्यम अवगाहना) सिद्ध इससे संख्येयगुणे हैं, अधोयव सिद्ध (जघन्य अवगाहना के समीप अर्थात् चार हाथ, पाँच हाथ आदि अवगाहना से सिद्ध) संख्यातगुणे हैं और उपरियवसिद्ध (४००, ४५०, ४७५ धनुष आदि अवगाहना सिद्ध) अधोयवसिद्ध से विशेष अधिक हैं। **(रा.वा. १४)**

२८. प्रश्न : संख्या की अपेक्षा सिद्धों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : एक सौ आठ, एक सौ आठ एक साथ होने वाले सिद्ध सबसे स्तोक हैं, इनसे (एक सौ आठ से) लेकर पचास तक एक साथ सिद्ध होने वाले अनन्तगुणे हैं। इनसे असंख्यात गुणे उनचास से पच्चीस तक सिद्ध हैं। और इनसे चौबीस से लेकर एक तक एक साथ सिद्ध होनेवाले संख्यातगुणे हैं। **(रा.वा. १४)**

इस प्रकार तत्त्वार्थ मञ्जूषा में दशम अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

परिशिष्ट - १

卐 मंगलाचरण 卐

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नव-पदसहितं जीव-षट्कायलेश्याः।
पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः॥

इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

अन्वय - त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं-नव-पद सहितं जीव षट्कायलेश्याः पञ्च-अन्ये च अस्तिकायाः व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदाः। एतत्-त्रिभुवन-महितैः अर्हद्भिः ईशैः मोक्षमूलं प्रोक्तं यः मतिमान् प्रत्येति-श्रद्दधाति-स्पृशति च स वै शुद्धदृष्टिः इति।

शब्दार्थ - (त्रैकाल्यं) काल तीन हैं (द्रव्यषट्कं) द्रव्य छह हैं (नव पदसहितं) नौ पदार्थ हैं (जीव षट्कायलेश्या) छहकाय के जीव हैं और छह लेश्या हैं (पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रत समिति गति-ज्ञान-चारित्र भेदाः) पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच गति, पाँच ज्ञान, पाँच चारित्र के भेद हैं। (इत्येतत्) इस प्रकार से इन्हें (त्रिभुवनमहितैः) त्रैलोक्यपूजित (अर्हद्भिरीशैः) अर्हंतों के ईश तीर्थंकर भगवन्तों ने (मोक्षमूलं) मोक्ष का मूल (प्रोक्तं) कहा है।

अर्थ - त्रिभुवनपूज्य अर्हन्त भगवान ने तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, षट्काय के जीव निकाय, षट्लेश्या, पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच गति, पाँच ज्ञान और पाँच चारित्र को मोक्ष का मूल कहा है जो बुद्धिमान इनकी प्रतीति करता है, श्रद्धान करता है और स्पर्श करता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है।

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते।
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो॥

अन्वय - सिद्धे-जयप्पसिद्धे, चउव्विह-आराहणा-फलं पत्ते अरहंते वंदित्ता कमसः आराहणा वोच्छं॥२॥

शब्दार्थ - जो (सिद्धे) सिद्ध हैं (जयप्पसिद्धे) जगत में प्रसिद्ध हैं (चउव्विहाराहणाफलं) चार प्रकार की आराधना के फल को (पत्ते) प्राप्त हैं (अरहंते) उन अरहंतों को (वंदित्ता) नमस्कार करके (कमसो) क्रमशः (आराहणा) आराधनाओं को (वोच्छं) कहता हूँ।

अर्थ - जो सिद्ध हैं जगत् में प्रसिद्ध और चार प्रकार की आराधना के फल को प्राप्त सिद्धों और अरहंतों को नमस्कार करके क्रमशः आराधना का कथन करूंगा।

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसण-णाण-चरित्तं तवाणमाराहणा भणिया॥३॥

अन्वय - उज्जोवणं-उज्जवणं, णिव्वहणं-साहणं, णिच्छरणं च दंसण, णाण, चरित्तं, तवाणं, आराहणा, भणिया।

शब्दार्थ - (उज्जोवणमुज्जवणं) उद्योतन करता है, उद्यवन करता है, (णिव्वहणं) निर्वाह करता है, (साहणं च) और साधन करता है (णिच्छरणं) निस्तरण करता है वे (दंसण णाण-चरित्तं तवाणमाराहणा) दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चार आराधनायें (भणिया) कही गयी हैं।

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चारों के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण को आराधना कहा है।

अन्त्य मंगलाचरण

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं, व्यञ्जनसंधिविवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे॥

अन्वय - अक्षर-मात्र-पदस्वर-हीनं-व्यञ्जन-संधि-विवर्जित-रेफम् साधुभि:मम अत्र क्षमितव्यं शास्त्रसमुद्रे क: न विमुह्यति।

शब्दार्थ - (अत्र) यहाँ (तत्त्वार्थ सूत्र में) यदि मैंने (अक्षर मात्रपद-स्वरहीनं) अक्षर, मात्रा, पद, स्वर की हीनता की हो (व्यंजनसंधिविवर्जित-रेफं) व्यंजन, संधि, रेफ आदि को छोड़कर पढ़ा हो तो (साधुभि:) सज्जन पुरुष (मम) मुझे (क्षमितव्यं) क्षमा कर देवें। क्योंकि (शास्त्र-समुद्रे) शास्त्ररूपी समुद्र में (क:) कौन (न विमुह्यति) नहीं भूलता है अर्थात् भूलता ही है।

भावार्थ - इस तत्त्वार्थ सूत्र में मैंने अक्षर, मात्रा, पद, स्वर, व्यंजन, सन्धि और रेफ में हीनाधिकता की हो तो सज्जन पुरुष मुझे क्षमा करें क्योंकि शास्त्र रूपी समुद्र में कौन विमोहित नहीं होता है।

दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य, भाषितं मुनिपुङ्गवै:॥

अन्वय - दशाध्याये परिच्छिन्ने-तत्त्वार्थे पठिते सति उपवासस्य फलं स्यात् इति मुनिपुङ्गवै: भाषितं।

शब्दार्थ - (दशाध्याये) दशअध्यायों में (परिच्छिन्ने) विभक्त (तत्त्वार्थे) तत्त्वार्थ सूत्र के (पठिते सति) पढ़ने में (फलं स्यादुपवासस्य) एक उपवास का फल होता है, ऐसा (मुनिपुङ्गवै:) मुनिपुङ्गवों के द्वारा (भाषितं) कहा गया है।

भावार्थ - दशअध्याय से युक्त इस तत्त्वार्थ सूत्र को पढ़ने से एक उपवास का फल होता है, ऐसा मुनिपुङ्गवों ने कहा है।

तत्त्वार्थ-सूत्रकर्तारं, गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजात-मुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

अन्वय - तत्त्वार्थ सूत्र कर्तारं, गृद्ध पिच्छ-उपलक्षितं गणीन्द्र-संजातं उमास्वामी मुनीश्वरं (अहं) वन्दे।

शब्दार्थ - (गणीन्द्रसंजातं) आचार्यों के इन्द्र के समान हुए (तत्त्वार्थ सूत्रकर्तारं) तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता (गृद्धपिच्छोपलक्षितं) गृद्ध के पंखों से उपलक्षित (उमास्वामी मुनीश्वर) उमास्वामी मुनीश्वर को (वन्दे) नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ - तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता, गृद्धपिच्छ के धारी गणीन्द्र आचार्य उमास्वामी मुनि महाराज की मैं वन्दना करता हूँ।

पढम चउक्के पढमं, पंचमए जाण पुग्गलं तच्च।
छह सत्तमेहि आस्सव, अट्ठमे बंध णायव्वो॥

णवमे संवर णिज्जर, दहमे मोक्खं वियाणेहि।
इह सत्त तच्च भणियं, दह सुत्ते मुणिवरिंदेहिं॥

अन्वय - मुणिवरिंदेहिं-इह-दह-सुत्ते सत्त-तच्च भणियं पढम चउक्के पढमं-पंचमए पुग्गलं तच्चजाण-छह-सत्तमे हि आस्सव, अट्ठमे बंध णायव्वो-णवमे संवर णिज्जर-दहमें मोक्खं वियाणेहि।

शब्दार्थ - (मुनिवरिंदेहिं) मुनीन्द्रों ने। (दह सुत्ते) तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायों में से (पढम चउक्के पढमं) आदि के चार अध्यायों में पहले जीव तत्त्व को, (पंचमए) पाँचवें में (पुग्गलतच्चं) पुद्गल तत्त्व को (छह सत्तमेहि आस्सव) छठे सातवें में आस्रव को, (अट्ठमे) आठवें में (बन्ध) बन्धतत्त्व को, (णवमे) नवम में (संवर णिज्जर) संवर-निर्जरा को (दहमे) दसवें में (मोक्खं) मोक्ष को (वियाणेहि) जानना चाहिए। (इह) इस प्रकार (सत्त तच्च) सातत्त्व (भणिय) कहे हैं।

भावार्थ - तत्त्वार्थ सूत्र में आदि के चार अध्यायों में जीव तत्त्व का, पाँचवें में अजीव तत्त्व का, छठे-सातवें में आस्रव तत्त्व का, आठवें में बन्ध तत्त्व का, नवम में संवर और निर्जरा तत्त्व का एवं दसवें अध्याय में मोक्षतत्त्व को कहा गया है, ऐसा मुनिवरिन्द्रों ने कहा है।

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं॥

अन्वय - जं सक्कइ तं कीरइ-जं च ण सक्कइ-तहेव-सद्धहणं-सद्धहमाण: जीव: पावइ अजरं-अमरं ठाणं।

शब्दार्थ - (जं) जो (सक्कइ) समर्थ है (तं) वे (कीरइ) करें (जं च ण सक्कइ) और जो करने में समर्थ नहीं हैं (तहेव सद्दहणं) वे श्रद्धान करें (सद्दहमाणो जीवो) श्रद्धान करने वाला जीव (अजरामरं ठाणं) अजर-अमर स्थान को (पावइ) प्राप्त करता है।

भावार्थ - जो समर्थ हो वह करे और समर्थ न हो वह श्रद्धा करे क्योंकि श्रद्धा करने वाला भी अजर-अमर पद को प्राप्त करता है।

तवयरणं वयधरणं, संजमसरणं च जीवदयाकरणम्।
अन्ते समाहिमरणं, चउगइ-दुक्खं णिवारेइ॥

अन्वय - तवयरणं-वयधरणं-संजमसरणं जीवदयाकरणं अंते च समाहिमरणं चउगइ दुक्खं णिवारेइ।

शब्दार्थ - जो (तवयरणं) तप करता है, (वयधरणं) व्रतधारण करता है। (संजमसरणं) संयम पालन करता है, (जीवदयाकरणं) जीवों पर दया करता है, (अन्ते समाहिमरणं च) और अन्त में समाधिमरण करता है वह (चउगइ दुक्खं णिवारेइ) चारगति के दु:खों को दूर करता है।

भावार्थ - जो तप करता है, व्रतधारण करता है, संयम की शरण लेता है, जीवों पर दया करता है और अन्त में समाधिमरण करता है वह चारों गतियों के दु:खों का निवारण करता है।

कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव।
पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यामेतच्छ्रुतं पंचपदं नमामि॥

अन्वय - कोटीशतं द्वादश च एव कोट्य: लक्षाणि अशीति: त्रिअधिकानि च एव पंचाशत् अष्टौ सहस्रपंचपदं संख्यं च श्रुतं नमामि।

शब्दार्थ - (कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो) सौ करोड़ और बारह करोड़ अर्थात् एक सौ बारह करोड़ (लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव) और तीन अधिक अस्सीलाख अर्थात् तिरासी लाख (पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यं) अट्ठावन हजार और (पंचपदं) पाँच पदों वाले (एतच्छ्रुतं) ऐसे श्रुत को (नमामि) नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ - एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच पद प्रमाण सर्व श्रुत को मैं नमस्कार करता हूँ।

अरहंत भासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सव्वं।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवयं सिरसा॥

अन्वय - अरहंत भासियत्थं-गणहरदेवेहिं गंथियं सव्वं सुदणाण महोवयं भत्तिजुत्तो सिरसा पणमामि।

शब्दार्थ - (अरहंत) अरहंतदेव के द्वारा (भासियत्थं) कहा गया (गणहरदेवेहिं) गणधरों के द्वारा (गंथियं) गूंथा गया (सव्वं सुदणाण महोवहिं) संपूर्ण श्रुतज्ञान रूपी महासमुद्र को (भत्तिजुत्तो) भक्ति से युक्त (सिरसा) शिर झुकाकर (पणमामि) प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ - जो अरहंत भगवान के द्वारा कहा गया है और गणधरों के द्वारा गूंथा गया है ऐसे श्रुतज्ञानरूपी महासमुद्र को मैं शिर नमाकर प्रणाम करता हूँ।

गुरवः पांतु नो नित्यं, ज्ञान-दर्शन-नायकाः।
चारित्रार्णवगम्भीराः मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥

अन्वय - ज्ञानदर्शननायकाः चारित्र-अर्णवगम्भीराः मोक्षमार्ग-उपदेशकाः गुरवः नः नित्यं पांतु।

शब्दार्थ - (ज्ञानदर्शननायकाः) जो ज्ञान दर्शन के नायक हैं। (चारित्रार्णवगम्भीराः) समुद्र के समान गंभीरचारित्र को धारण करने वाले हैं, (मोक्षमार्गोपदेशकाः) तथा मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं ऐसे (गुरवः) गुरु महाराज (नः) हम सबको (नित्यं) नित्य ही (पांतु) पवित्र करें।

भावार्थ - जो ज्ञान दर्शन के नायक हैं, समुद्र के समान गंभीर चारित्र वाले हैं और मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं ऐसे गुरु महाराज हमें पवित्र करें, हमारी रक्षा करें।